॥ श्री शङ्खेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ॥

श्रीअमीसोम-जैनग्रन्थमाला ग्रन्थ नं. १

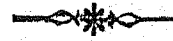


श्रीलोकप्रकाशाद्यनेकग्रंथप्रासादसूत्रणसूत्रधारैः
महामहोपाध्यायश्रीविनयविजयगणिपादैः
विरचितं

श्रीहैमप्रकाश-महाव्याकरणम्

टिप्पन्यनुक्रमणिकादिसमन्वितं

[पूर्वार्द्धम्]



हंहो कोविदकुञ्जराः किमु गिरामर्थेषु संशय्यते
वीक्षध्वे किमु साधुशब्दघटनापृच्छाविलक्षा वियत् ।
सूत्राणां विविधप्रयोगसजुषामन्वेषणे कः श्रमः
जागर्त्येष विशेषबोधकुशलो हैमप्रकाशो गुरुः ॥ प्रशस्तिगतः ॥

संपादकः
पूज्यपाद-गुरुवर्य-प्रखरवक्तृ-श्रीअमीविजयचरणचञ्चरीकः
उपाध्यायक्षमाविजयगणी

प्रकाशकः
मांगरोलनिवासी शाह हीरालाल सोमचंद, कोट, मुंबई.

विक्रमसंवत् १९९४] प्रतयः ५०० [वीरसंवत् २४६४

मूल्यम् ८ रूप्यकाः ।

॥ श्री अमीविजयगुरुभ्यो नमः ॥

प्रिंटरः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस २६–२८, कोलभाट स्ट्रीट, बंबई.

पब्लिशरः—शाह हीरालाल सोमचंद, ५७–५९ जुना मोदी स्ट्रीट, कोट, बंबई.

S'rī Amī-Soma Jaina Granthamālā No. 1

THE

ŚRĪ HAIMAPRAKĀŚA MAHĀVYĀKARAṆA

(BASED ON ŚRĪ SIDDHAHEMA ŚABDĀNUŚĀSANA)

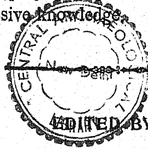
OF

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA ŚRĪ VINAYA VIJAYA GAṆI

WITH COPIOUS NOTES AND INDICES.

Part I

Hallow best of the proficient! why are you doubtful about the meanings of words! And why do you stare at the sky–you being non-plussed for making inquiries for formation of good (correct) words? Why (do you make) any exertion in finding out the sūtras accompanied with various uses (prayogas), when there exists this great *Haimaprakās'a.* which is capable of giving excessive knowledge.



EDITED BY

UPĀDHYĀYA KṢAMĀVIJAYA GAṆI

The editor of S'rī S'rutināna Amīdhārā etc.

PUBLISHED BY

SHĀH HIRĀLĀL SOMCHAND.

BOMBAY.

1937

Price Rs. 8-0-0

Printer:—Ramchandra Yesu Shedge, Nirnaya Sagar Press, 26-28, Kolbhat Street, Bombay

Publisher:—Shah Hiralal Somchand, House No. 57-59 Old Modi Street, Fort, Bombay.



महोपाध्याय श्रीविनयविजयगणिकृत श्रीहैमप्रकाश प्रसिद्ध करते हुए हमें अत्यन्त आनंद होता है.

महोपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराजकृत यह ग्रंथ कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य महाराजके महान् व्याकरण "श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन" की प्रक्रियारूपमें रची हुई सुबोध, सरल और सुविस्तृत टीका है.

व्याकरण यह साहित्यशास्त्रका मुख्य अंग है. विचारोंकी विपुलता होते हुए भी व्याकरणके नियमोंके विना जाने उच्चारण करनेसे अथवा लिखनेसे विचारशील पुरुष भी हंसीके पात्र होते हैं. इस लिए व्याकरणके विषयकी जानकारी अति जरूरी है. इसीसे यह व्याकरण विषयका महाग्रंथ महोपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराजने सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि अनेक व्याकरणोंका साररूप रचके संस्कृतवाणीके अभ्यासकी इच्छा रखनेवाले जिज्ञासुओंपर बहोत ही उपकार किया है.

पूज्य विनयविजयमहाराजकृत यह ग्रंथ बडा उपयोगी होनेपरभी अभीतक अप्रकाशित था इसलीए समर्थ विद्वान् उपाध्यायजी महाराज श्रीमद् क्षमाविजयजी महाराजनें इस ग्रंथका सुसंपादन किया है. और उसके प्रचारके लिए उपदेश दिया है. इसके प्रकाशनके लीए मेरे स्वर्गीय पिताके सन्मान्य ट्रस्टी शेठ नगीनदास करमचंद संघवी, शेठ देवकरण खुशाल वेरावळवाला और मेरी परमपूज्य गंगास्वरूप मातुश्री कस्तुरावंती बाईनें वसियतनामामें लिखी हुई शर्तके अनुसार सम्यग्ज्ञानका संवर्धन और संरक्षणके लिये जुदी रखी हूई भारी रकममेसे खर्चनेकी संमति दी इसके लिए मैं ट्रस्टीयोंका आभारी हूं.

उपाध्याय क्षमाविजयजीकी स्तुत्य प्रवृत्तियोंसे सारी जैनजनता जानकार है. इतनी छोटी उमरमें प्राप्त कीहुई विद्वत्ता, प्रभावशाली वक्तृत्वशक्ति और उनके साथ अत्युत्तम चारित्र्य केवल प्रशंसनीय ही नहीं किंतु अनुकरणीय है! जन्मसे पंजाबी होते हुएभी गर्वी गुजरातीभाषा ऊपर इनका पूर्ण अधिकार है. इनके गुरु पूज्यपाद सन्मार्गोपदेष्टा श्रीमद् अमीविजयजी महाराजके पास अभ्यासके समय इनको सिद्धहेमशब्दानुशासनके पढनेवालोंके लिए महामहोपाध्याय विनयविजयजीकृत हैमलघुप्रक्रियाकी अत्युपयोगिता मालुम हुई और उसकी स्वोपज्ञ टीका देखनेकी उत्सुकता हुई. उसकी (हैमप्रकाश) एक प्रति अमदाबादके जैन विद्याशालाके भंडारमें प्राप्त हुई और उसके आधारसे संशोधन करनेका विचार किया. यह काम चालू था ही, इस बीचमें हमारे भाग्योदयसे उपाध्यायजीका चातुर्मास बम्बईमें ही हुवा; और मेरे प्रार्थना करनेपर हमारे पूज्य पिताजीके संग्रह किये ज्ञानभंडारको देखनेके लिए उपाध्याय महाराज पधारे.

हमारे स्वर्गीय पिताश्रीनें पूज्यपाद अमीविजयजी महाराजके सदुपदेशसे और सम्यग्ज्ञानके प्रचारकी भावनासे यह ग्रन्थभंडार संग्रह किया है, और अपने देहावसानके समय किये हुए वसीयतनामामें ट्रस्टीयोंको ग्रन्थभंडारकी उचित व्यवस्था करनेका काम सोंपनेमें आया है.

इस ग्रन्थभंडारमें उपाध्यायजीको हैमप्रकाशकी एक सुवाच्य और शुद्ध प्रति संवत् १७४३ की लिखी हुई मिली. इसको, और साथही हैमप्रकाशके अभ्यासियोंको अत्यन्त उपयोगी जानकर दोनो टीकाओंके साथ अप्रकाशित हैमलिंगानुशासनकोभी प्रकट करनेकी प्रेरणा की. ऐसे अप्रकाशित अमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन सम्यग्ज्ञानके प्रचार और संवर्धनमें अत्यन्त उपयोगी होगा ऐसा जानकर सन्माननीय ट्रस्टीयोंकी शुभ संमतिसे यह ग्रंथ हमने प्रकट किये हैं.

इस ग्रंथकी विक्रीसे जो रकम आयगी वह उपर्युक्त ज्ञानखातेमें जमा की जायगी. वीलकी शर्तके अनुसार सम्यग्ज्ञानका प्रचार और संवर्धनमें इसका उपयोग होगा.

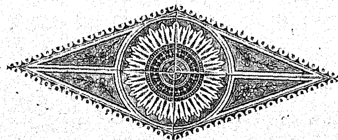
ग्रन्थ-प्रकाशनका काम बाहिरसे जितना सीधा लगता है उतना सीधा नहीं है. किंतु बहोत कठिन है. पुस्तकोंके प्रकाशनके लिये हस्तलिखित प्रतियोंका संग्रह करना, उनका मिलान करके प्रामाणिक प्रतियोंसे शुद्ध पाठका निर्णय करना, अन्य प्रतियोंके आधारसे सुधारना, संशयास्पद और गहन स्थलोंका वाचकोंको सरल होवे इसके लिये टिप्पन लगाना, इन सब कामोंमें समय शक्ति और तुलनात्मक बुद्धी जितनी खर्च होवें उतनी थोडी है. और प्रैसमेंसे आये हुए प्रुफोंके संशोधनका कार्य और भी कठिन है. जिस किसीने छोटे या बडे ग्रंथके संशोधनका काम किया हो वोही इस परिश्रमको जान सकता है. प्रकाशनसंबधी ये सब कठिनाइयाँ परमोपकारी क्षमाविजयजी महाराजनें उठाईं हैं, इसके लिए मैं उनका बडा आभारी हूं. आपने अस्वस्थ होते हुए भी अनेक ग्रन्थोंका आलोडन करके यह व्याकरण जैसा गूढ और गहन विषय अभ्यासियोंके लिए सरल और रसप्रद हो जावे ऐसी व्यवस्थित रीतिसे और सूक्ष्मदृष्टिसे प्रूफोंका संशोधनमें जो मेहनत की है वह इसके पाठकही समझ सकेंगे.

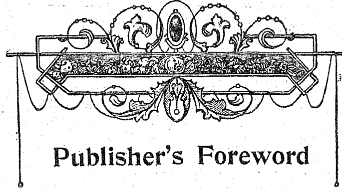
हमारे कुटुंबके अनन्य उपकारक और अनेक आत्माओंको धर्ममार्गमें लगानेवाले पूज्य अमीविजय महाराज तथा मेरे स्वर्गीय पिताके जीवनका परिचय कराके यत्किंचित् ऋणमुक्त होना चाहता हूं. इसीही वजहसे यह ग्रंथमाला मेरे दोनो पूज्योंके नामसे निकाली है, जिसका यह ग्रन्थ प्रथम पुष्प है. इन दोनों ग्रंथोंकी महत्ता वाचकोंको ग्रंथ हाथमें लेतेही मालुम होवे इसके लिए उनका संक्षिप्त परिचय अलायदा दिया जाता है.

भवदीय,

आश्विनशुक्ल सप्तमी सं. १९९३ }

हीरालाल सोमचन्द.





Publisher's Foreword

I really feel proud to place before the public this unique work on Sanskrit Grammar by Mahamahopadhyaya Shree Vinaivijaijee Maharaj. The book is a commentary, in the form of Prakriyā, on the great Grammatical publication "SIDDH HEM SHABDANUSHASAN" by the renowned Acharya Shree Hem Chandra Maharaj and makes the subject much smoother for the Sanskrit learing public.

Importance of grammar is well appreciated. A person having vast ideas at his command will simply put himself to ridicule if he betrays his ignorance of this important subject. With the object of making this subject easy to be grasped by people with common intellect, the author has tried to make it clear and has rightly steered the course of this difficult subject.

I shall be failing in my duty if I do not show my indebtedness to those who are really responsible for the publication of this great work. Personally I am not a scholar to appreciate the sterling value of the Editor of this book, Upadhyaya Shree Kshma Vijaijee Maharaj, famous in Jain community for his learning, eloquence and character, who took great pains in compiling and editing this work. He is a Punjabi by birth, but has a wonderful mastery over the Gujarati Language. It was he who impressed upon me the usefulness of this work and another book "HEMLINGANUSHASAN" with two commentaries (now in the press) which was also unpublished.

It was while taking his lessons from his Guru Shree Amivijaijee that the talented Upadhyayajee realised the value and importance of the publication of the books. During his stay at Ahmedabad, he procured a copy of the work from Jain Vidyashala and set to his work. Next year he came to Bombay and at my request visited our Gnān Mandir. My father was very fond of rare books and Manuscripts and had made a nice collection of them in the form of a private library, which he had left in the charge of the trustees. It was during the inspection of these manuscripts that Upadhyayajee came across a nice manuscript of Hemprakash copied in Samvat 1743. He decided to place the book before the public with the help of this copy.

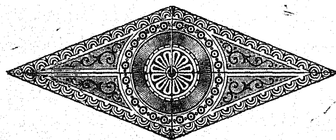
To publish a book from a manuscript is no easy task. Procuring various manuscripts, adopting the correct version, and finally the proof-reading are some of the many difficulties an editor has to face. Upadhyayajee, though not keeping good health, spared no pains to make the book as correct and useful as humanly possible and I must thank him sincerely.

My thanks are also due to the trustees of my father's will, Seth Nagindas Karamchand Sanghavi, Seth Devkaran Kushal Veravalwala and my revered mother Bai Kasturavantibai who, out of the fund set apart by my father in his will for the purpose of propagation and protection of Samyag-gnan, consented to advance the necessary amount for the publication of this book. It is not unnecessary to add here that all proceeds realised by the sale of this book will go to this fund for the purposes mentioned above.

Last, but not the least, I must thank all those who have directly or indirectly helped me in the successful publication of this work.

To keep afresh the memory of our great-Guru Shree Amivijaijee Maharaj and my father Seth Somchand Uttamchand, the series has been named as "*Shree Ami-Soma Jain Granthamala*" of which the present book is the first flower.

HIRALAL SOMCHAND.





પ્રકાશકનું વક્તવ્ય

મહામહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજીગણિકૃત શ્રી હૈમપ્રકાશ પૂર્વાર્ધ પ્રસિદ્ધ કરતાં મને અત્યંત આનંદ થાય છે.

આ ગ્રંથ મહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી મહારાજે, કલિકાળસર્વજ્ઞ ભગવાન્ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્ય મહારાજના મહાન વ્યાકરણ "શ્રીસિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસન"ની પ્રક્રિયારૂપે રચી, વિસ્તૃત ટીકા સાથે શોભાવ્યો છે.

વ્યાકરણ એ સાહિત્યનું મુખ્ય અંગ છે. વિચારોની વિપુલતા હોવા છતાં વ્યાકરણના નિયમો જાળવ્યા વગરના ઉચ્ચાર અથવા લખાણો વિચારશીલને પણ હાંસીપાત્ર બનાવે છે. એટલે, અતિ જરૂરી એવા વ્યાકરણના વિષય ઉપરનો આ મહાગ્રંથ મહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી મહારાજે સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસનના સર્વસ્વ દોહનરૂપે રચી સંસ્કૃતગિરાનો અભ્યાસ કરવા ઇચ્છતા જીજ્ઞાસુઓને બહુજ આભારી કર્યા છે.

પૂજ્ય વિનયવિજયજીકૃત આ ગ્રંથ અદ્યાપિ અપ્રસિદ્ધ હોવાથી અને તેનું પઠન ઘણુંજ ઉપયોગી હોવાથી, સમર્થ વિદ્વાન ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રીમદ્ ક્ષમાવિજયજી મહારાજે મને આ પુસ્તકના સુયોગ્ય પ્રચાર માટે ઉપદેશ આપ્યો. આમ કરવા મેં રજા માંગતાં, અમારા મર્હુમ પિતાશ્રીના ટ્રસ્ટીઓ શેઠ નગીનદાસ કરમચંદ સંઘવી, શેઠ દેવકરણ ખુશાલ વેરાવળવાળા, અને મારા ગંગાસ્વરૂપ પૂજ્ય માતુશ્રી કસ્તુરાવંતીબાઈએ વીલમાં દર્શાવેલી ઇચ્છાને અનુસરીને મારા પિતાજીએ સમ્યગ્જ્ઞાનના સંવર્ધન અને સંરક્ષણને માટે જુદી કાઢેલી મોટી રકમમાંથી જોઈતી રકમ ખર્ચવાની સંમતિ આપી તે માટે હું તેઓનો અત્યંત ઋણી છું.

ઉપાધ્યાયજી ક્ષમાવિજયજી મહારાજની પ્રવૃત્તિથી સારીએ જૈન જનતા વાકેફ છે. આટલી લઘુ વયમાં તેમણે પ્રાપ્ત કરેલી વિદ્વત્તા, પ્રભાવશીલ વકતૃત્વ અને તે સાથે અત્યુત્તમ ચારિત્ર પ્રશંસનીય અને અનુકરણીય છે. જન્મે પંજાબના હોવા છતાં ગરવી ગુર્જરી ભાષા ઉપરનો તેમનો કાબુ કોઈને પણ મુગ્ધ કરવા માટે પુરતો છે.

પોતાના ગુરુ પૂજ્યપાદ સન્માર્ગોપદેષ્ટા શ્રીમદ્ અમીવિજયજી મહારાજ પાસેના અભ્યાસ દરમિયાન સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસનના અભ્યાસીઓને માટે મહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજીકૃત હૈમલઘુપ્રક્રિયાની અત્યુપયોગિતા તેમને જણાઈ અને તે સાથે તે પરની સ્વોપજ્ઞ ટીકા જોવાની તાલાવેલી લાગી. તેની એક પ્રત અણધારી રીતે અમદાવાદના જૈનવિદ્યાશાલાના જ્ઞાનભંડારમાંથી મળી આવવાથી તે પ્રત સંશોધિત કરી પ્રસિદ્ધ કરવાનો વિચાર કર્યો.

એ કાર્ય ચાલુ હતું તે દરમિયાન અમારા ભાગ્યોદયે તેઓશ્રીનું મુંબઈમાંજ ચાતુર્માસ થયું, અને અમારી વિનંતિથી અમારા સ્વર્ગવાસી પિતાશ્રીએ સંગ્રહ કરેલો જ્ઞાનભંડાર જોવા માટે પધાર્યા.

અમારા મર્હુમ પિતાશ્રીએ પૂજ્યપાદ અમિવિજયજી મહારાજના સદુપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાનના પ્રચારની ભાવનાથી અને એ આશયથી આ જ્ઞાનભંડારનો સંગ્રહ કર્યો છે, અને પોતાના દેહવિલય વખતે કરેલા વીલમાં પણ ટ્રસ્ટીઓને તે જ્ઞાનભંડારની ઉચીત વ્યવસ્થા કરવાનું કામ સોંપી ગયા છે.

એ જ્ઞાનભંડારમાંથી મહારાજ સાહેબને હૈમપ્રકાશની સંવત્ ૧૭૪૩ની લખેલી એક શુદ્ધ પ્રત મળી આવી. આ હેમપ્રકાશના અભ્યાસીઓને ઘણોજ ઉપયોગી ગ્રંથ જાણી પૂ૦ ઉપધ્યાયજી ક્ષમાવિજયજી મહારાજે બે ટીકાઓ સાથેના અપ્રસિદ્ધ હૈમલિંગાનુશાસનને પણ પ્રકટ કરવા પ્રેરણા કરી. એવા અપ્રકટ અમૂલ્ય ગ્રંથોનું પ્રકાશન સમ્યગ્જ્ઞાનના પ્રચારરૂપ હોઈ અત્યંત ઉપયોગી નિવડશે એવું લાગવાથી ટ્રસ્ટીઓની સંમતિથી અમે એ ગ્રંથ પણ પ્રકટ કર્યો છે.

આ ગ્રંથના વિક્રયમાંથી જે કંઈ પણ રકમ આવશે તે ઉપર જણાવેલા જ્ઞાનખાતામાં જમા કરવામાં આવશે અને વીલની કલમને અનુલક્ષીને સમ્યગ્જ્ઞાનના પ્રચારમાંજ વપરાશે.

ગ્રંથપ્રકાશનનું કામ જેટલું દેખાય છે તેટલું સહેલું નથી. પુસ્તકના પ્રકાશન માટે હસ્તલિખિત પ્રતો શોધવી અને એ બધીમાંથી વિશ્વાસપાત્ર કઈ કઈ છે એ બીજી પ્રતો જોડે મેળવીને નક્કી કરવું, મૂળ લખાણમાં રહી ગયેલી ભૂલો બીજી પ્રતો ને ગ્રંથો પરથી સુધારવી, સંશયાસ્પદ બાબતોમાં વાચકોને સરલ થાય તે માટે ટિપ્પણ આપવું; એ બધામાં પ્રકાશક જેટલાં સમય, શક્તિ અને તુલનાત્મક બુદ્ધિ ખર્ચે એટલાં ઓછાં છે. અને મુદ્રણાલયમાંથી આવેલા પ્રુફોના સંશોધનનું કામ તો બધા કામોમાં સૌથી વધુ તકલીફનું છે. જેણે નાનો કે મોટો કોઈ ગ્રંથ એક વખત પણ પ્રકટ કર્યો હોય તેનેજ આ બધા પરિશ્રમોનો ખ્યાલ આવી શકે.

પ્રકાશકને ઉઠાવવી પડતી આ બધી મુશ્કેલીઓમાંથી પરમઉપકારી ઉપાધ્યાય શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજે મને ઉગારી લીધો છે, એ માટે હું એમનો જેટલો આભાર માનું એટલો ઓછો છે. નાદુરસ્ત તબિયેત હોવા છતાં પણ એમણે અનેક ગ્રંથોનું મંથન કરીને આ વ્યાકરણ જેવો ગૂઢ અને ગહન વિષય અભ્યાસીને સરળ અને રસપ્રદ થઈ પડે તેવી રીતે વ્યવસ્થીત કરવામાં અને બારિકીથી પ્રુફો તપાસવામાં કેટલી મહેનત લીધી છે એ ગ્રંથના પાઠકને ખબર પડશેજ. આ પ્રકાશનકાર્યમાં જે જે વ્યક્તિઓ પ્રત્યક્ષ અથવા પરોક્ષ રીતે મદદગાર થઈ છે તેઓનો પણ હું આભાર માનું છું.

અમારા કુટુંબના અનન્ય ઉપકારક અને અનેક આત્માઓને ધર્મમાર્ગે યોજનાર પૂજ્ય ગુરુદેવ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ તથા મારા પૂજ્ય પિતાશ્રીનો જીવનપરિચય કરાવી યત્કિંચિત્ પણ ઋણમુક્ત થવું યોગ્ય ધાર્યું છે. અને તે આશયને અનુલક્ષીને ઉપરોક્ત પ્રકાશનો પણ તેમના બન્નેના નામાભિધાનની ગ્રંથમાળાના આરંભના પુષ્પો તરીકે પ્રસિદ્ધ થાય છે.

આ મહાગ્રંથોની મહત્તા દરેક વાંચકને હસ્તમાં લેતાંજ સમજાય એ આશયથી ઉપરોક્ત બન્ને ગ્રંથોનો સંક્ષિપ્ત પરિચય છુટો આપીયે છીએ.

આસો સુદ સાતમ,
વિ. સં. ૧૯૯૩.

હીરાલાલ સોમચંદ

परिचय
श्रीहैमप्रकाश पूर्वार्द्ध

छोटी और बडी टीका से अलंकृत इस ग्रंथरत्नके कर्ता महामहोपाध्याय **श्रीविनयविजयजी** गणी हैं. आप श्रेष्ठितेजःपाल की अभ्युदयशालिनी पत्नी **श्रीराजश्री** के पुत्ररत्न थे. आपश्रीने महोपाध्याय **श्रीकीर्तिविजय** महाराज के करकमलों से दीक्षा अंगीकार करके अपने गुरुवर्यके सहोदर और वृद्ध गुरुभ्राता महोपाध्याय **श्रीसोमविजयजी** महाराज के पास विद्याभ्यास करके अपूर्व योग्यता पाई थी. आप **श्रीलोकप्रकाश** आदि अनेक बडे, और **शांतसुधारसादि** अनेक छोटे ग्रंथरत्नोंके रचयिता हैं. इतना ही नही परंतु महाशास्त्र **श्रीकल्पसूत्रादि** अनेक ग्रंथोंके टीकाकार भी हैं. आप का समय १७ मी १८ मी विक्रम शताब्दीका है. आप न्यायविशारदादि अनेकबिरुदधारक स्वनामधन्य महोपाध्याय **श्रीयशोविजयजी** महाराज के सहचारी और प्रेमपात्र थे।

आपका रचा हुआ यह ग्रंथरत्न, गुर्जरसम्राट् श्रीसिद्धराज-कुमारपालादि अनेकभूपतिप्रतिबोधक, कलिकालसर्वज्ञ **श्रीहेमचन्द्राचार्यवर्यकृत**, **श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासन**नामक महाव्याकरण (जिस को डॉ० एफ् किल्हॉर्न (Kielhorn) भी "The be t Grammar of Indian middle ages." अर्थात् आर्यावर्त का मध्यकालीन सर्व श्रेष्ठ व्याकरण बताते है) आदि अनेक व्याकरणो का दोहनरूप है. इसमें सूत्र तो हैम व्याकरण के ही हैं, परंतु टीकाएं तो प्राचीन अर्वाचीन सर्व व्याकरणो के सरल सुबोध सार से भरी पडी हैं. शुद्ध संस्कृत लिखने बोलने की इच्छा वालों को ऐसा सुगम सुबोध विशाल व्याकरण और कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकेगा. गीर्वाण भाषा के प्रेमी शीघ्र ही हिन्दुस्तान के सर्वश्रेष्ठ निर्णयसागरमुद्रणालय में सुन्दर पत्रों पर अतिसुन्दर अक्षरों से मुद्रित इस व्याकरण को अपनाकर अपने संस्कृत ज्ञान को शुद्ध, समृद्ध बनाने का प्रयत्न करें.

मुद्रणालयमें "श्रीहैमलिंगानुशासन विवरण"

पूर्व और पश्चिम के विद्वानों में प्रसिद्ध, धन्धूका वासी मोढ ज्ञाति के भूषण चाचिग की पत्नी पाहिनी देवी के कुक्षिरत्न, श्वेतांबराग्रणी **श्रीदेवचन्द्रसूरि** के शिष्यरत्न, जैनशासन नभोदिवाकर, कलिकालसर्वज्ञ **श्रीहेमचन्द्र सूरीश्वर** की यह प्रशंसनीय कृति है. आपने अविद्यान्धकार को दूर करने के लिए जिस महाव्याकरण को रचा, उसी का उत्तम अंश रूप यह ग्रंथ है. मूल तो छंदसंख्या सिर्फ १३९ है. परंतु स्वोपज्ञ विवरण और फिर उस पर का वल्लभवाचककृतदुर्गप्रदप्रबोध तो ६००० श्लोक प्रमाण हैं. संस्कृत भाषा की लिंगव्यवस्था जैसी विशाल है, वैसी ही अनेक मतांतरों से युक्त और जटिल भी है. सैंकडो दुर्बोध ग्रंथो को हृदयंगम करके विद्यार्थिगण को उन का विषय सरलतापूर्वक समझाना तो कलिकाल के अल्पमति जीवों पर करुणा के धारण करने वाले कलिकालसर्वज्ञ महर्षिश्रीहेमचन्द्र का ही सिद्धहस्त कर्तव्य है. जो आपने इस ग्रंथ में भी कर दिखाया है. दुर्बोध विद्यार्थिगण और वैद्यवर्यों के लिए उपयुक्त श्रीवल्लभवाचककृत दुर्गपदप्रबोध भी साथ में ही दिया गया है. एक साथ अनेक विषयों को अभ्यास करने के कारण किसी भी विषयमें पूरा समय देने में असमर्थ मॅट्रिक और कालिजों के विद्यार्थि गण, किसी भी शब्द की लिंग की निःसंशय जानकारी के शीघ्र अभिलाषी पंडितगण, मात्र रेफरन्स के लिए अनेक ग्रंथों का उपयोग करने वाले प्रोफेसरगण, और संस्कृत शब्दों के प्रतिरूप प्राचीन लौकिक भाषा के शब्दों के जिज्ञासु भाषा शास्त्रिगण के उपयुक्त अकारादि अनुक्रमणिकाएं भी दी गई हैं. जो बालविद्यार्थियों से लेकर महान् विद्वानों तक के लिए अत्यावश्यक और उपकारक हैं.

प्रकाशक.

INTRODUCTION

The author of this work having two commentaries (1) big and (2) small, is Mahopādhyāya S'rī Vinaya Vijaya Gaṇi. He is the son of Rājas'rī wife of the S'resṭhin Tejahpāla. Mahopādhyāya S'rī Kīrtivijaya is his dikṣāguru and Mahopādhyāya S'rī Somavijaya a fellow-brother of his dīkṣāguru is his Vidyāguru. Vinayavijaya is an author of several works such as Lokaprakās'a, S'āntasudhārasa etc. Over and above he is a commentator of Kalpasūtra etc. He has flourished in the 17th to 18th centuris of Vikrama era. He is a colleague of Mahopādhyāya Yas'ovijaya endowed with titles such as Nyāyavis'ārada etc., who cherished affection for him.

This Haimaprakās'a is an essence of several grammars, chief of them being *Siddhahemas'abdānus'āsana* composed by Kalikālasarvajña Hemacandra Sūri who gave right instrucsions to Siddharāja and Kumārapāla, the kings of Gujarat and various other rulers. In this grammar these are sūtras of Siddhahema but the commentaries form a digest of several grammars ancient and modern. It is not possible to come across a grammar simpler and more instructive than this. So students interested in Sanskrit should study this grammar printed at the excellent Nirnaya-sāgar Press on handsome paper.

Now we shall say a few words about Haimalingānus'asana which is in press. It forms a part and parcel of Siddhahaima composed by Kalikālasarvajña S'rī Hemacandra Sūri, pupil of S'rī Devacandra Sūri. It comprises 139 verses. This work will be soon published along with the Svopajnavivaraṇa and Durgapadaprabodha of S'rī Vallabhavācaka. In the end it is furnished with alphabetical indices very useful to students, one dealing with words in Vernaculars and the other with words noted in the text.

પરિચય

"શ્રી હૈમપ્રકાશ"

આ ગ્રંથરત્ન, જેને નાની અને મોટી ટીકાથી સુશોભીત કરવામાં આવ્યો છે, તેના કર્તા મહામહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી ગણી છે. શ્રીમાન શેઠ તેજપાલની સૌભાગ્યશાલિની પત્ની શ્રીમતિ રાજશ્રીના તેઓશ્રી પુત્ર હતા. મહોપાધ્યાય શ્રી કીર્તિવિજયજી મહારાજના વરદ હસ્તે દીક્ષા અંગીકાર કરી તેઓશ્રીએ પોતાના ગુરુદેવના સંસારી-પણાના સગા ભાઈ તેમજ દીક્ષીત અવસ્થાના મોટા ગુરુભાઈ પાસે વિદ્યાભ્યાસ કરી અપૂર્વ યોગ્યતા પ્રાપ્ત કરી હતી. તેઓશ્રી "લોકપ્રકાશ" આદિ અનેક મહાન ગ્રન્થો તેમજ "શાંતસુધારસ" આદિ અનેક નાના ગ્રંથોના કર્તા છે એટલુંજ નહીં પરંતુ મહામંગળકારી શ્રીકલ્પસૂત્ર આદી અનેક ગ્રંથો ઉપર તેઓએ વિદ્વત્તાભરી ટીકા રચી છે. વિક્રમ યુગની ૧૭ અને ૧૮ મી સદીમાં તેઓએ આર્યાવર્તમાં જૈનધર્મની આણ વર્તાવી હતી. ન્યાયવિશારદ આદી અનેક બિરૂદોના ધારક મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજીના તેઓ સહયોગી હતા. પોતાની અદ્ભુત બુદ્ધિપ્રભા અને નિર્મળ ચારિત્ર્યથી તેઓ શ્રીમાને મહોપાધ્યાયજીનો ખૂબ પ્રેમ સંપાદન કરી લીધો હતો.

આ "હૈમપ્રકાશ" ગ્રંથ અનેક વ્યાકરણોના દોહનરૂપ છે. એમાંથી મુખ્ય આધાર, ગુર્જર સમ્રાટ્ શ્રી સિદ્ધરાજ, કુમારપાલ તેમજ બીજા શાસનકર્તાઓને પ્રતિબોધ પમાડનાર કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રસૂરીજીકૃત શ્રી "સિદ્ધહૈમશબ્દાનુશાસન" (જેને સંસ્કૃત ભાષાના પ્રખર અભ્યાસી અને મહાનવિદ્વાન્ ડૉ. એફ. કીલ્હોર્ને "The best grammar of indian middle ages" તરીકે વર્ણવ્યો છે એ)માંથી લેવામાં આવ્યો છે. આ વ્યાકરણગ્રંથમાં સૂત્રો તો "સિદ્ધહૈમ"નાજ લેવામાં આવ્યા છે પરંતુ ટીકાઓ પ્રાચીન તેમજ અર્વાચીન અનેક વ્યાકરણ ગ્રંથોમાંથી સારરૂપે બહુજ સરળતાપૂર્વક લેવામાં આવી છે. જેમને સંસ્કૃતભાષાનો ઉંડો અભ્યાસ કરવો હોય તેમને માટે આ વ્યાકરણનું પુસ્તક અતિ આવશ્યક અને અનિવાર્ય છે. સંસ્કૃત વ્યાકરણ જેવા ગહન વિષયમાં આવું સરળ અને ઉત્તમ પુસ્તક બીજે ક્યાંય મળવું દુર્લભ છે. ગીર્વાણભાષાના પ્રેમીઓ અને ખાસ કરી વિદ્યાર્થીઓને નિર્ણય-સાગર પ્રેસમાં સુંદર કાગળો ઉપર સુંદર અક્ષરોમાં છપાયેલા આ બહુમૂલ્ય વ્યાકરણગ્રંથનો અભ્યાસ કરવાની અમો ખાસ ભલામણ કરીએ છીએ.

"શ્રી હૈમલિંગાનુશાસન"

આ સ્થળે અમો "હૈમલિંગાનુશાસન" જે અત્યારે પ્રેસમાં છપાય છે તેના વિષે બે શબ્દો કહેવાની ઇચ્છાને રોકી શકતા નથી. શ્રી દેવચંદ્રસૂરીજીના પ્રખર વિદ્વાન શિષ્ય કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રસૂરીનો રચેલો "સિદ્ધ-હૈમ"ના ઉત્તમ અંશરૂપે તે એક ભાગ બને છે. એમાં મૂળ ફક્ત ૧૩૯ શ્લોકો છે જેકે "સ્વોપજ્ઞવિવરણ" અને શ્રી વલ્લભવાચકના "દુર્ગપદપ્રબોધ"માં ૬૦૦૦ શ્લોકોનું પ્રમાણ છે. સંકૃસ્તભાષાની લિંગવ્યવસ્થા જેટલી વિશાળ છે તેટલીજ તે મતમતાંતરોથી ભરચક છે. એટલે અલ્પબુદ્ધિ જીવો અને વિદ્યાર્થીઓને તે બહુજ સુગમતાથી અને સરળતાથી સમજાય તે માટે કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રસૂરીએ સેંકડો કઠિન ગ્રંથોમાંથી સાર ઉદ્ધૃત કરીને અદ્ભુત ગ્રન્થ રચ્યો છે. આ ગ્રન્થને "સ્વોપજ્ઞવિવરણ" અને શ્રી વલ્લભવાચકના "દુર્ગપદપ્રબોધ" સાથેજ પ્રગટ કરવામાં આવશે.

મેટ્રીક અને કોલેજના વિદ્યાર્થીઓ, કે જેઓને એક સાથે અનેક વિષયોનો અભ્યાસ કરવાનો હોય છે અને તેથી જેઓ અમુક એકજ વિષયનો ઉંડો અભ્યાસ કરવા માટે પુરતો સમય ફાજલ પાડી શકતા નથી, તેઓને બહુ ટુંક સમયમાં ગીર્વાણભાષાનો ઉંડો અભ્યાસ કરવા માટે આ ગ્રંથ અમૂલ્ય છે. ઉપરાંત સંસ્કૃત પંડિતો અને પ્રોફેસરોને "રેફરન્સ" માટે આ ગ્રંથ બહુ ઉપયોગી થઈ પડશે. કોઈપણ બાબત જોવા માટે બહુજ સરળ થઈ પડે તે માટે છેવટે અકારાદિ અનુક્રમણિકા પણ આપવામાં આવી છે.

सादर समर्पण.

विश्वहित-बोधिदायक-गुरुवर्य-श्रीअमीविजयपादाः

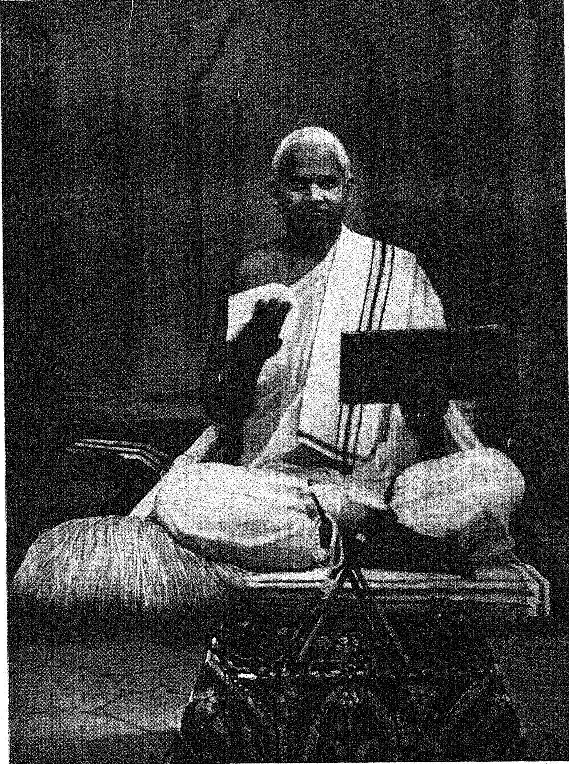
पूज्यश्री! आपनेही मेरे को गृहस्थावस्था में महामंत्र-श्रीपंचपरमेष्ठि-नमस्कारमन्त्र का जापक बनाकर उदयवंत किया. गृहस्थावस्था में भी जैन स्याद्वादशैली से वंचित न रहूं इस लिए पैंतीस बोलका थोकडा उर्दू में सिखाया. आपनेही मेरे आत्महितचिंतक बन कर उपमितिभवप्रपंचाकथा का हिन्दी रूपांतर वांचने के लिए मेरे को उद्यत किया. आपनेही मेरी पालिका मातामही की सेवा करनी मेरे को सिखाई. सुरुचिपूर्वक तैयार करके दीक्षित भी आपनेही किया. मिथ्यामति पण्डितो को न सौंप कर शुद्ध शिक्षित भी आपनेही बनाया. सकल विद्यामें प्रवेश करने के लिए कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर को शरण्य स्वीकारना आपनेही सिखाया. महोपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराज आदि महापुरुषो के प्रति सुरुचि आपनेही प्रयत्नपूर्वक मेरे हृदय में उत्पन्न करी. इत्यादि अगणित उपकारों के भार से दबे हुए, आप ही के शुभ प्रयत्नों द्वारा किंचिज्ज्ञ बने हुए इस सेवक के इस प्रारंभिक प्रयत्न को दिव्य दृष्टि बरसाते हुए स्वीकार करने की कृपा कीजिए.

चरणसेवक

उपाध्याय क्षमाविजय गणी.

न्यायाम्भोनिधि श्रीमद् विजयानंदसूरिश्वरना शिष्यरत्न श्रीमच्चारित्रविजयजी
विनेयरत्न समर्थ वक्ता शासनप्रभावक श्रीअमीविजयजी महाराज.

MUNIMAHARAJ SHREE AMIVIJAYAJI MAHARAJ



मुनिमहाराज श्री अमीविजयजी महाराज

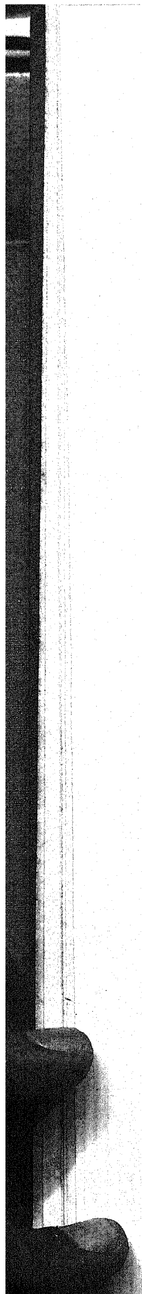
જન્મ-વિ. સં. ૧૯૨૯
શ્રાવણ વદી ૧૨
ચાણોદ (મારવાડ)

દીક્ષા-વિ. સં. ૧૯૫૦
જેઠ વદી ૧૩
જામનગર (કાઠીયાવાડ)

વડી દીક્ષા-વિ. સં. ૧૯૫૧
મહા સુદી ૫
પાલીતાણા (કાઠીયાવાડ)

સ્વર્ગવાસ-વિ. સં. ૧૯૮૭
શ્રાવણ વદી ૪
પાલી (મારવાડ)

PREMIER ART PRINTING WORKS
FORT, BOMBAY



પ્રખરવક્તા શાસનપ્રભાવક

મુનિ મહારાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ

આ હૈમપ્રકાશ મહાવ્યાકરણ પુસ્તકના સંપાદક ઉપાધ્યાયજી શ્રીક્ષમાવિજયજી મહારાજના ગુરૂવર્ય શાંતમૂર્તિ શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ હતા. એ પ્રભાવક ગુરૂના પ્રતાપે તેમની પાસે વર્ષોસુધી રહીને ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રીક્ષમાવિજયજી મહારાજે અનેક જૈન શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કર્યો હતોઃ પણ તેઓ સ્વભાવે શાંત અને આત્મભાવમાં મસ્ત રહતા હતા તેથી તેમના પરિચયના આવનાર ચોક્કસ વર્ગ શિવાય બીજાઓ તેમના વિષે બહુ થોડું જાણેછે. એ કારણથી સમસ્ત શ્રદ્ધાળુ વર્ગની જાણ માટે એ ગુરુવર્યનું ટુંક જીવનચરિત્ર અત્રે અપાય છે.

જન્મ-દેશ-બાલ્યાવસ્થા.

મુનિમહારાજ શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજનો જન્મ મરૂભૂમિ-મારવાડમાં, મુંબઈમાં ધીરધારનો ધંધો કરનાર વીસા ઓસવાલ શ્રાવક શ્રેષ્ઠી શ્રીજોધરાજજીને ત્યાં ચાણોદ નામના ગામમાં સંવત ૧૯૨૯ ના શ્રાવણ વદ ૧૧ ની રાત્રે થયો હતો. ચાણોદ ગામ જોધપુર રાજ્યના ભાયાત્ ઠાકોરનું ગામ છે. તેમાં આશરે શ્રાવકોના ૨૦૦-૨૫૦ ઘર છે. તેમાં મોટી નીશાળ નથી. નાની ગામઠી નીશાળ છે. એ ગામ રાણી સ્ટેશનથી સાત ગાઉ દૂર આવેલું છે. એ ગામમાં ગાડામાં બેસી જવું પડેછે.

શ્રીઅમિવિજયજીનું જન્મ નામ "અચલદાસ" હતું. તેમના પિતાનું નામ જોધરાજજી હતું. તેમની માતાજીનું નામ નવલબાઈ હતું. તેમના બ્હેનનું નામ શૃંગારબહેન હતું. તેમના મોટાભાઈનું નામ સેસમલજી હતું. કુટુંબ સુખી હતું અને મુંબઈમાં પિતાજીની ધીરધારની દુકાન હતી. જન્મ બાદ પાંચ છ વર્ષની ઉમરે અચલદાસ ગામની નીશાળમાં ભણવા બેઠો. એ ગામઠી નીશાળના મેહતાજી આંખે અપંગ છતાં ગામના બાળકોને પાટી ઉપર ધુળ નાંખીને લખતાં વાંચતાં શીખવતા. અચલદાસ એ ગુરૂપાસે નવ વર્ષની ઉમરસુધી રહ્યો અને વાંચતાં લખતાં શીખ્યો. તે ગુરુનું બહુમાન કરતો, તેના કામકાજ કરીને તેનો પ્રેમ જીતતો અને જેટલું મળે તેટલું જ્ઞાન મેળવવા પ્રયાસ કરતો. એ છતાં અચલદાસ આ બાળ ઉમરે તોફાની બહુ હતો એમ પણ જણાય છે. તે છોકરાઓ સાથે મારામારી કરતો—છાપરે છાપરે છોકરાઓને દોડાવતો-અને કેટલીક વખત પોતાની માતાની શિક્ષાથી બચવા તે નાશી પણ જતો-માતા નવલબાઇને જણાયું કે આ બચ્ચું તોફાની છતાં ચંચલ છે અને કોઈથી હારીને પાછો આવે એવો નથીઃ એને જો મુંબઈ મોકલાય તો તે વધુ જ્ઞાન મેળવી શકે અને પોતાના પિતાની સાથે દુકાનમાં રહી ધંધાનું જ્ઞાન પણ મેળવી શકે. આ આશાથી માતાએ એ બાળકને મુંબઈ મોકલવા નક્કી કર્યું.

મુંબઈમાં.

અચલદાસને વેપારી બનાવવા માતા નવલબાઇએ માત્ર દસ વરસની ઉમરે શ્રીજોધરાજજી સાથે મુંબઈ મોકલ્યો. એ બાળક માત્ર દસ વર્ષની ઉમરે મુંબઈ આવવાં છતાં, તેને જૈનધર્મનું જ્ઞાન મેળવવા તાલાવેલી થઈ. નળબજારની શરાફી દુકાનપરથી દરરોજ પાયધુણી ઉપર આવેલી શ્રીશાંતિનાથજી મહારાજના દેરાસર પાછળ આવેલી વિદ્યાશાળામાં અચલદાસ શિખવા જતો. એ વિદ્યાશાળામાં તે વખતે એક બ્રાહ્મણ પંડિત નામે શ્રીપ્રજારામ બાળકોને જૈનધર્મનું પ્રાથમિક જ્ઞાન આપતાં હતાંઃ પંડિતજીનો સ્વભાવ સરલ હતો. અચલદાસ એ પંડિતપાસે પાંચપ્રતિક્રમણ શિખ્યો. ચૌદ વર્ષની ઉમ્મરે તેણે જૈનધર્મના પ્રખ્યાત આચાર્ય શ્રીવિજયાનંદસૂરિજીના કેટલાક ગ્રંથો વાંચ્યા અને કેટલીક વખત શ્રીશાંતિનાથજી મહારાજના ઉપાશ્રયમાં બિરાજતા યતિ શ્રીજ્ઞાનચંદજી મહારાજના વ્યાખ્યાન પણ સાંભળ્યા.

મદ્રાસમાં.

આ રીતે અચલદાસ ૧૪-૧૫ વર્ષની ઉમ્મરનો થયો અને શરાફી ધંધાનો અનુભવ પણ મેળવ્યો. તેની હોંશિયારી જોઇને તેના પિતાશ્રી જોધરાજજીએ સંવત ૧૯૪૪ માં તેને મદ્રાસ ખાતે દુકાનના કામ-

કાજ માટે મોકલ્યો. ત્યાં તેણે દેવકીજીના છ પુત્રોનો રાસ વાંચવામાં આવતાં વૈરાગ્યની પ્રબળ ભાવના થઈ અને આ અસાર સંસારમાં આત્મસાધન કરવા ઇચ્છા થઈ. આ વૈરાગ્ય ભાવના, રાસ વાંચવાથી અને વિજયાનંદસૂરિકૃત્ ગ્રંથો મનન કરવાથી થઈ હતી. એ વખતે મદ્રાસમાં તેમજ મુંબઈમાં સાધુઓનું આગમન થયું ન હતું. વળી મુનિરાજોની સંખ્યા આખા દેશમાં પણ બહુ થોડી હતી. ગામે ગામ એ વખતે યતિઓ સ્થિરતા કરતાં અને શ્રાવકો તેમને પર્યુષણપર્વ વખતે અમુક નાણાની રકમ આપીને પર્યુષણ ઉજવતાં–તે છતાં માત્ર રાસ વાંચવાથી, મુનિરાજના પરિચય વગર શ્રી અચલદાસને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થયો એ બિના ભાવિ કેટલું બળવાન છે, તેજ દેખાડે છે.

પંજાબમાં.

માત્ર સોળ વર્ષની વયે શ્રીઅચલદાસને વૈરાગ્ય ભાવના ઉપજી અને તે મદ્રાસથી મુંબઈ આવ્યો. તેણે મુંબઇના ગ્રાન્ટરોડના સ્ટેશનપરથી બારોબાર પંજાબના "માલર કોટલા" જવાનો નિશ્ચય કર્યો અને પોતાના પિતાને ખબર આપ્યા વગર તે માલર કોટલા જવા નિકળ્યો. એ શહેરમાં તે વખતે આચાર્ય દેવ શ્રીવિજયાનંદ સૂરિજી બીરાજતા હતા. તેઓએ અચલદાસની ઇચ્છા જાણ્યા બાદ ધર્મનો વધુ અભ્યાસ કરવા તેને સલાહ આપી અને મુંબઈમાં તેના પિતાશ્રીને અચલદાસ માલેર કોટલા આવેલ હતો, તેની ખબર આપી. આથી શ્રીજેધરાજજી અચલદાસને લેવા માલર કોટલા ગયા અને તેને સમજાવીને મુંબઈ પાછા લાવ્યા. પણ અચલદાસને શરાફી ધંધો ન રૂચ્યો. બીજી વખત તક મળતાં તે ફરીથી પંજાબ ગયો અને એક વધુ વખત તેના પિતાશ્રી તેને પાછો લાવ્યા. આ વખતે અચલદાસને ચાણોદ લઇ જવામાં આવ્યો. જ્યાં તે અઢાર વર્ષની ઉમરનો થતાં, તેની નાની બેન વિધવા થઈ. બ્હેનનું દુખ અને વૈધવ્ય જોઈ અચલદાસને એ ભાવના થઈ કે બ્હેનને ધર્મનું જ્ઞાન આપવું અને તે ધર્મનું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે તે બાદ બ્હેનને સાધ્વી દિક્ષા અપાવી, અને પોતે પણ મુનિ દિક્ષા લેવી. આ ઇચ્છા પાર પાડવા તેણે પોતાની બ્હેનને સતત ધર્માભ્યાસ કરાવવા માંડ્યો અને પોતાની વીસ વર્ષની ઉમર થતાં સુધી તેમને ધર્માભ્યાસ કરાવ્યો. એ પછી તે સાધુ દીક્ષા લેવા તૈયાર થયો. તેણે એ સમયે શ્રી સમેત શિખરની જાત્રા કરી અને શ્રીમદ વિજયાનંદસૂરિજીને ખબર આપી કે હવે તો તે કોઈ પણ રીતે મુનિદીક્ષા લેવા માગે છે.

જામનગરમાં મુનિદીક્ષા.

શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજીએ જ્યારે ઢુંઢક મત છોડી શુદ્ધ જૈનધર્મમાં સંવેગી સાધુ દીક્ષા લીધી, ત્યારે તેમની સાથે સોળ મુનિરાજો હતાં, જેઓ પણ ઢુંઢક મત છોડી શુદ્ધ ચરિત્રવાન બની શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી સાથે સામેલ હતા. એ મુનિરાજોમાંના એકનું નામ ઢુંઢક મતમાં તેઓ હતા ત્યારે સલામત રાયજી હતું. તેઓએ સંવેગીદીક્ષા લીધા બાદ તેમનું નામ શ્રી ચારિત્રવિજયજી મહારાજ રાખવામાં આવ્યું હતું. એ મુનિરાજ તે વખતે જામનગરમાં હતાં. શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીજીએ અચલદાસના પત્રના જવાબમાં જણાવ્યું કે જો તે સાધુ દીક્ષા લેવા માંગતો હોય તો તેણે જામનગર જઇને શ્રીચારિત્ર વિજયજી પાસે દીક્ષા લેવી. એ વખતે શ્રીચારિત્રવિજયજી મહારાજને એક શિષ્ય હતા અને તેમનું નામ શ્રીકલ્યાણ વિજયજી હતું. શ્રીઅચલદાસ ઉપલો જવાબ મળતાં માત પિતાની આજ્ઞા લઈ જામનગર ગયા અને ગુરુ મહારાજને દીક્ષા આપવા વિનંતિ કરી. એ વખત કેટલાક ઢુંઢક મતાનુયાયીઓએ નામદાર જામ સાહેબને ખબર આપી કે એક જુવાન શ્રાવક દીક્ષા લેવા જામનગર આવેલ છે અને તેને શ્રીચારિત્રવિજયજી મુનિદીક્ષા આપનાર છે. નામદાર જામસાહેબે આથી અચલદાસને બોલાવ્યા અને તેમને શા કારણથી દીક્ષા લેવા ઇચ્છા થઈ હતી તે વિષે સવાલો પૂછ્યા. આ સવાલોના જવાબ યોગ્ય માલમ પડતાં નામદાર જામ સાહેબે તેમને દીક્ષા લેવા રજા આપી અને દીક્ષા અગાઉના વરઘોડા માટે રાજ્યના નિશાન, ડંકા, હાથી, સોનાની અંબાડી, સિપાઇઓની પલટણ વીગેરે આપ્યા. આ પછી અચલદાસે ૧૯૫૦ ના જેઠ વદ ૧૩ ને દિને મુનિરાજ શ્રી ચારિત્રવિજયજી પાસે જૈન સાધુ દીક્ષા લીધી અને તેમનું નામ શ્રીઅમિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું.

મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી.

મુનિરાજ શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજે ૧૯૫૦ નું ચોમાસુ જામનગરમાં કર્યું અને ધર્માભ્યાસ સાથે વ્યાકરણનો અભ્યાસ ચાલુ કર્યો. તેઓએ જામનગરમાં એક બ્રાહ્મણ પંડિતને ત્યાં જઈ ચંદ્રપ્રભાવ્યાકરણ શીખવા માંડ્યું અને તે બાદ મુનિરાજશ્રી કલ્યાણવિજયજીએ પણ અભ્યાસમાં તેમને મદદ આપવા માંડી. સંવત ૧૯૫૧ માં તેઓ શ્રીસિદ્ધાચલજીની યાત્રાએ પધાર્યા અને ત્યાં વડિ દીક્ષા માટે જોગ વહ્યા. પાલીતાણામાં શ્રીમદ્ બુટેરાયજી મહારાજના શિષ્ય અને શ્રીમદ્ વિજયાનંદ સૂરીશ્વરજીના ગુરૂભાઈ પન્યાસજી મહારાજ શ્રીઆણંદ વિજયજી મહારાજ પાસે તેઓએ ૧૯૫૧ ના મહાશુદિ પાંચેમના દિને વડી દીક્ષા ગૃહણ કરી. આ પછી તેઓએ શ્રીસિદ્ધાચલજીની યાત્રાઓ કર્યા બાદ વિહાર કર્યો અને સંવત ૧૯૫૧ માં મોરબીમાં ચાતુર્માસ કર્યું. એ બધો વખત તેમનો વ્યાકરણનો અભ્યાસ ચાલુ હતો.

અભ્યાસ દરમિયાન ચાતુર્માસ.

સંવત્ ૧૯૫૨ માં જામનગરમાં, સંવત્ ૧૯૫૩ માં ધ્રોળમાં અને સંવત્ ૧૯૫૪ માં મ્હેસાણા મુનિરાજ શ્રીઅમિવિજયજીએ ચાતુર્માસ કર્યાં. એ વખતે તેમનો અભ્યાસ ચાલુજ હતો. મ્હેસાણામાં અભ્યાસ માટેની વધુ અનુકૂળતા જણાતા તેઓએ વ્યાકરણ, કાવ્ય વિગેરેનો અભ્યાસ આગળ વધાર્યો અને સંવત ૧૯૫૫ માં અને સંવત ૧૯૫૬ માં પણ મ્હેસાણામાંજ ચાતુર્માસ કર્યાં અને વ્યાકરણ અને કાવ્યનો અભ્યાસ સંપૂર્ણ કર્યો.

સાદડીમાં કન્યાશાળા.

આ પછી તેઓએ વિહાર કરવા માંડ્યો અને સંવત ૧૯૫૭ માં સાદડી—મારવાડમાં ચોમાસુ કર્યું. ત્યાં તેઓના ઉપદેશથી આખા મારવાડમાં પહેલી કન્યાશાળાની સ્થાપના થઈ અને તેમાં મારવાડની જૈન બાઇઓએ અને કન્યાઓએ ધર્માભ્યાસ કરવા માંડ્યો. એ પછી છોકરાઓને શિખવવા માટે પાઠશાળાની પણ સ્થાપના થઈ. સાદડીથી રાણકપુરની જાત્રા કરીને મુનિરાજ શ્રી કેશરિયાજીની જાત્રાએ ગયા હતા, જે વખતે સાદડીના ઘણા શ્રાવકો તેમની સાથે ગયા હતા. આ વર્ષમાં મુનિરાજના સંસારી બ્હેને સાધ્વીશ્રી તિલક શ્રી પાસે દીક્ષા લીધી અને તેમનું નામ જડાવશ્રી રાખવામાં આવ્યું.

રતલામમાં પાઠશાળા.

મુનિરાજે મારવાડમાં જોયું કે સર્વત્ર અજ્ઞાન છે. પુરૂષો માત્ર કામ પુરતું નામું શીખે છે અને હિસાબનું જ્ઞાન મેળવે છે. કન્યાઓ અને સ્ત્રિઓ તો એવી દશામાં છે કે જે પશુ જેવીજ ગણાય. આ સ્થિતિ તેમણે પોતે પણ અનુભવી હતી. પોતાની બ્હેન વિધવા થતાં તે બ્હેનને ધર્માભ્યાસ કરવાથી કેટલો બધો લાભ થયો તે તેઓએ પોતે જોયું હતું. આ કારણથી પોતે સાત વર્ષોના સતત અભ્યાસ બાદ સાદડી પધાર્યા ત્યારે તેઓએ કન્યાઓ અને સ્ત્રિઓ માટે શાળા સ્થાપવા ઉપદેશ આપ્યો અને તેનું ફળ સારૂં આવ્યું તે તેઓએ નજરે જોયું. સાદડીથી વિહાર કરતાં સંવત્ ૧૯૫૮ માં તેઓ રતલામ પહોંચ્યા અને ત્યાં પણ તેઓએ જ્ઞાનાભ્યાસ અને ધર્માભ્યાસ કરવા માટે ઉપદેશ આપ્યો. પરિણામે રતલામમાં એક પાઠશાળા સ્થપાઈ. રતલામમાં તેઓ હતાં ત્યારે તેમને જૈનધર્મ સારી રીતે સમજવા માટે અને સ્યાદ્વાદ શૈલી સમજવા માટે ન્યાયશાસ્ત્રનો અભ્યાસ કરવાની જરૂર જણાઈ.

કાશી—બનારસ—માં ન્યાયશાસ્ત્રનો અભ્યાસ.

આ વિચાર આવતાંજ તેઓએ કાશી—બનારસ—તરફ સંવત્ ૧૯૫૯ માં વિહાર કર્યો. તેઓએ સંવત્ ૧૯૫૯, સંવત્ ૧૯૬૦ અને સંવત્ ૧૯૬૧ માં પોતાનો અભ્યાસ કાશીમાંજ વધાર્યો અને તેમનો ન્યાયશાસ્ત્રનો અભ્યાસ એટલો બધો પરિપકવ થયો કે ઘણા વિદ્યાર્થીઓ તેમની પાસે ન્યાયનો અભ્યાસ કરવા આવવા લાગ્યા. તેઓએ તેમને પણ એ અભ્યાસ બહુ સારી રિતે કરાવ્યો અને એ લાભ લેનાર ઘણા ભાઈઓ હજી પણ તેમને મળેલા લાભ માટે મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજીને યાદ કરેછે. આ દેશમાં શ્રીમદ્ અમિવિજયજી મહારાજ પોતાના ગુરૂદેવની આજ્ઞાથી રહ્યા હતા એમ જણાવવાની જરૂરછે.

એ પછી તેઓ સંવત્ ૧૯૬૨ માં વિહાર કરી માળવામાં વડનગરમાં પધાર્યા અને ત્યાં ચાતુર્માસ કર્યા બાદ રતલામની વિનતિ આવતાં સંવત ૧૯૬૩ માં રતલામમાં પધાર્યા.

આચાર્ય દેવશ્રી વિજયકમળસૂરિજી સાથે.

[1]મુનિરાજશ્રી અમિવિજયજી મહારાજનો ઉપકાર મારવાડ અને માળવા દેશો ઉપર મોટો હતો, તે ઉપર આપેલી વિગતો ઉપરથી જણાશે. પણ તેમનો બહુ મોટો ઉપકાર તો પંજાબના શ્રાવકો ઉપર હતો. તેમના ગુરૂવર્યશ્રી ચારિત્રવિજયજી મહારાજ સાથે પંજાબમાં હતાં. સંવત્ ૧૯૬૪ માં આચાર્ય શિરોમણી શ્રીવિજય કમળ સૂરીશ્વરજી આચાર્યસમ્રાટ શ્રીમદ વિજયાનંદ સૂરીશ્વરજીના અનન્ય પટ્ટધર બંગાલમાંથી વિહાર કરતાં, પંજાબ નિવાસિ જૈન જનતાની વિનંતિથી પંજાબ તરફ વિચરી રહ્યાં હતાં. તેઓ શ્રીને લેવાને કેટલાક ગાઉ સુધી ઘણા પંજાબી જૈનો આગલ ગયાં હતાં. અને તેમનો પ્રવેશ પ્રથમ અંબાલામાં થનાર હતો. એ વિહાર ચાલતો હતો ત્યારે સંવત્ ૧૯૬૩ નું ચાતુર્માસ પૂરૂં થતાં સંવત્ ૧૯૬૪ ની શરૂઆત બાદ કેટલાક દિવસો પછી શ્રી અમિવિજયજી મહારાજે પોતાના ગુરુવર્યની સેવા અર્થે પોતાનો વિહાર રતલામથી પંજાબ તરફ લંબાવ્યો. એ વખતે શ્રીમદ વિજયકમળસૂરીશ્વર અંબાલા શહેરમાં પધારી ચૂકયા હતા અને તેમની સાથે શ્રીમદ્લબ્ધિવિજયજી મહારાજ, શ્રીમદ્ વીરવિજયજી મહારાજ આદિ બહોલો મુનિસમુદાય હતો. આચાર્યદેવને અંબાલાની જૈન જનતાએ આખા શહેરને ધ્વજા પતાકા અને તોરણોથી શૃંગારી જેવું માન આપ્યું હતું, તેવું માન બીજા થોડાક મુનિરાજોને આપ્યું હશે. અનેક પ્રકારના વાદ્યો–વાજીંત્રો–અને મંડળીઓથી સુશોભિત સરઘસ કાઢી એ સૂરીશ્વરને અંબાલામાં જ્યારે જૈન જનતાએ પ્રવેશ કરાવ્યો ત્યારે અન્યદર્શનીઓ પણ ગુરૂસેવા જોઇને આશ્ચર્ય ચકિત થયા હતા. એ વખતે રતલામથી વિહાર કરીને શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ, આચાર્ય દેવ શ્રીવિજયકમળસૂરીશ્વરજીના બહોલા મુનિસમુદાય સાથે જોડાયા અને ક્રમેકરી પોતાના ગુરુવર્ય શ્રીચારિત્રવિજયજીને મળ્યા. શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ સાથે એ વખતે બીજા આઠ મુનિઓ હતા. શ્રીવિજયકમળ સૂરીશ્વરજી મહારાજે અંબાલામાં કેટલોક વખત સ્થિરતા કરીને અનેક જીવોને ધર્મ દેશના આપી ધર્મમાં સ્થિરતા કરાવી. એ શહેરમાં વીસેક દિવસ ધર્મોપદેશ સંભળાવ્યા બાદ તેઓશ્રી બધા પરિવાર સાથે આસપાસના ગામોમાં વિચરતાં વિચરતાં લુધિઆના પધાર્યા. એ શહેરમાં પંદરેક દિવસ ધર્મદેશના સંભળાવવામાં આવી. તે પછી બધા ફિલોર, ફગવાડા આદિ ગામોમાં વિચરી જલંધર, અમૃતસર, લાહોર આદિ–શહેરોમાં પધાર્યા અને ત્યાંની જનતાએ તેમનું બાદશાહી સ્વાગત કર્યું. એ પછી ગુજરાનવાળાની જૈન જનતાએ આચાર્ય દેવને વિનંતી મોકલી કે તેઓશ્રીએ આચાર્ય સમ્રાટ શ્રીવિજયાનંદ સૂરીશ્વરજીના પાદકમળની પ્રતિષ્ઠા કરવા ગુજરાનવાળા પધારવા કૃપા કરવી અને ધર્મોપદેશ સંભળાવી જનતાની તરસ છીપાવવી. આચાર્યદેવ આથી ગુજરાનવાળા તરફ બધા સમુદાય સાથે પધાર્યા. ઉપલા બધા ગામોમાં વિહાર દરમિયાન તેમને સનાતનીઓ, આર્યસમાજીસ્ટો અને ઢુંઢકો ઘણી વખત મળવા આવતા હતા અને મૂર્તિપૂજાવિષે વેદવિષે, પૂરાણોવિષે અનેક પ્રશ્નો પૂછતાં હતાં. એ પ્રશ્નોતર થતાં હતાં ત્યારે આચાર્ય દેવને માલમ પડ્યું કે ન્યાય અને વ્યાકરણમાં શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ પ્રવિણ હતાં અને તેઓ શાસ્ત્રોના પ્રશ્નોનું નિરાકરણ સારી રિતે કરી શકતા હતા. આથી જ્યારે ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણેના અન્ય દર્શનીઓ આવતાં હતાં ત્યારે આચાર્યદેવ શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજને કેટલીક વખત શંકા સમાધાન કરવાનું કામ સોંપતા અને તેઓ તે સારી રિતે કરતાં.

શ્રી અજ્ઞાન તિમિર ભાસ્કર અને સનાતનિઓ.

પંજાબના પાટ નગર જેવું જૈન પૂરિ ગણાતું ગુજરાનવાળા શહેર એ વખતે મુનિરાજોની મોટી સંખ્યાથી હલમળી રહ્યું હતું અને પુજ્ય આચાર્ય સમ્રાટ શ્રીમદ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજીની સમાધિની પ્રતિષ્ઠા થવાની હોવાથી આખા પંજાબનો જૈન માનવ સમુદાય ગુજરાનવાળામાં સંવત્ ૧૯૬૪ ના વૈશાખ માસમાં મહોત્સવ ઉજવવા ગયો હતો. એ વખતે પંજાબ ઉપરાંત મારવાડ, મહારાષ્ટ્ર, ગુજરાત, બંગાલ, માળવા આદિ દેશોમાંથી પણ સેંકડો શ્રીમંતો પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવમાં ભાગ લેવા પધાર્યા હતા. હમેંશા સાધર્મિક વાત્સલ્ય, ઉત્તમ પ્રભાવનાઓ અને પૂજા અને ભાવનાનો દોર ચાલુ હતો. વૈશાખ શુદ ૬ ના દિવસે

---

૧ ગુરુમહારાજનો પંજાબના વિહારાદિ સંબંધી વૃત્તાન્ત લુધિયાના (પંજાબ) નિવાસી લાલા શિબ્બૂમલના પુત્ર લાલા હુકમચંદજીએ પૂરો પાડેલ છે. તેમનો એક પત્ર પણ આ જીવનવૃત્તાન્તને છેડે આપવામાં આવેલ છે.

આચાર્ય દેવની પાદુકાની પ્રતિષ્ઠા આચાર્યશ્રી વિજયકમળસૂરીશ્વરજીએ હજારો જૈનો અને જૈનેતરોની હાજરીમાં કરી. આ અપૂર્વ મહોત્સવ જોઈ ગુજરાનવાળાના અને પંજાબના બીજા ભાગોના ઢુંઢકોને દુખ થયું અને આચાર્ય દેવનું અહિત કરવા એક માર્ગ શોધી કાઢયો. પૂજ્ય આચાર્યદેવશ્રીવિજયાનંદસૂરીશ્વરજીએ રચેલા અને વેદમાં હિંસા દર્શાવતાં પુસ્તકો શ્રીઅજ્ઞાનતિમિર ભાસ્કર અને જૈનતત્વાદર્શ તરફ ઢુંઢકોએ સનાતનિઓનું ધ્યાન ખેંચ્યું અને જણાવ્યું કે વેદની નિંદા કરનાર શ્રીવિજયાનંદસૂરિજીના શ્રીવિજયકમળ સૂરીશ્વરજી પટ્ટધર હોવાથી તેમની પાસે તેનો ખુલાસો માગો. આ સ્થિતિ સમજાતાં સનાતનિઓ એ શ્રીવિજયકમળસૂરીશ્વરજીને ચેલેંજ મોકલી કે શ્રી અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કરમાં અને શ્રીજૈનતત્ત્વાદર્શમાં જે શ્લોકો વેદમાં હિંસા દર્શાવનાર પૂરાવારૂપે રજુ કરવામાં આવ્યાં હતાં તે પાઠો પૂરવાર કરવા તેઓએ તૈયાર થવું અને તે પૂરવાર કરી આપવા. શ્રીમદ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજીએ ઉપલા પુસ્તકોમાં વેદના પાઠો રજુ કરીને એ બિના સાબિત કરી હતી કે વેદમાં પશુયજ્ઞ કરવાનું અને શ્રાદ્ધની ક્રિયામાં પશુમાંસ ખાવાનું વિધાન છે. સ્થિતિ એટલી બધી વિફરી હતી કે સનાતનીઓએ આચાર્યદેવ ઉપર કાયદાસર ઉપાયો યોજી ઉપલા વિધાનો પૂરવાર કરવા પગલાં ભર્યા અને ગુજરાનવાલાના જજ સરદાર જવાલા સહાય મિશ્ર સમક્ષ એ બાબતની તપાસ શરૂ થઈ. આ વખતે આચાર્ય દેવે કમાલ કરી. તેઓએ વેદના અનેક પુસ્તકો મેળવ્યા અને અજ્ઞાનતિમિર ભાસ્કરમાં અને જૈનતત્વાદર્શમાં આપેલા પાઠો સાથે એ પુસ્તકોના પાઠો સરખાવ્યા. ત્યાર બાદ તેઓશ્રીએ એ સર્વે પાઠો સમજાવવા શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજને જજ સરદાર જવાલાસહાય મિશ્ર સમક્ષ મોકલ્યા. સરદાર સાહેબ પોતે સંસ્કૃતના ભારે વિદ્વાન હતા. મુનિ અમિવિજયજી મહારાજે પ્રતિપાદન શૈલીથી સરદાર સાહેબને બધા પાઠો સમજાવ્યા અને તેઓની ખાત્રી થઈ કે શ્રીઅજ્ઞાનતિમિર ભાસ્કરમાં અને જૈન તત્વાદર્શમાં જે હકિકત છપાઈ હતી તે ખરી હતી. આથી સનાતનિઓની વિરૂદ્ધ ચુકાદો આવ્યો અને તેઓની ખાત્રી થઈ કે વેદમાં હિંસાના વિધાન છે. આ રિતે શ્રીવિજયકમળસૂરીજીનો પોતાના ગુરુદેવના પુસ્તકો સંબંધમાં વિજય થતાં આખા પંજાબમાં મોટો આનંદ ફેલાયો અને તેઓશ્રીએ ૧૯૬૪ માં ગુજરાનવાલામાં ચાતુર્માસ કર્યું. એ વખતે શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ તેમની સાથેજ હતા. અને પાછલથી શ્રીવલ્લભવિજયજી મહારાજ પણ લાહોરથી આવીને ગુરુદેવ સાથે જોડાયા હતા.

પંજાબમાં સંખ્યાબંધ ચાતુર્માસ કર્યા.

સંવત ૧૯૬૪નું વર્ષ પુરૂ થતાં, મુનિરાજશ્રી અમિવિજયજી અન્ય મુનિરાજો સાથે રહીને આચાર્ય દેવ જ્યાં જ્યાં વિચરતાં, ત્યાં ત્યાં પોતે પણ જતાં. તેઓ ગુજરાનવાળાથી એ રિતે ઘણા ગામોમાં વિચર્યા અને લાહોર થઈ જંડીયાલા ગામમાં સંવત્ ૧૯૬૫ માં પધાર્યા. અહિં આચાર્ય દેવસાથેજ તેઓએ ચાતુર્માસ કર્યું. એ ચાતુર્માસ પૂરૂ થતાં પાછો વિહાર શરૂ થયો અને આચાર્યદેવશ્રી બીકાનેરતરફ વિહાર કરી ગયા અને શ્રીમદ લબ્ધિવિજયજી મહારાજ અને બીજી મુનિરાજોને પંજાબમાં મૂકતા ગયા. શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ એ રિતે પંજાબમાં રહ્યા અને સંવત્ ૧૯૬૬નું ચાતુર્માસ તેઓએ જીરા ગામમાં કર્યું.

સ્થાનકવાસી કુટુંબને શુદ્ધ જૈનદર્શનની દિક્ષા.

જીરા ગામમાં સ્થાનકવાસી જૈનોની મોટી વસ્તી છે. શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ જીરામાં હતાં તે વખતે મુનિરાજના વ્યાખ્યાનમાં શ્રોતા વર્ગની મોટી સંખ્યા જતી હતી. એ શ્રોતાવર્ગમાં કેટલાક સ્થાનકવાસીઓ જીજ્ઞાસુબુદ્ધિથી તેમજ પરીક્ષકબુદ્ધિથી જતા હતાં અને મૂર્તીપૂજા શાસ્ત્રોક્ત હોવા વિષે શંકા ઉઠાવતાં હતા. શ્રોતાવર્ગમાં જીરાના નામાંકિત શેઠ લાલા શંકરદાસ નવલખા તેમનાં પત્ની અને તેમના ભત્રીજા લાલા ખેતૂરામ પણ હતા. તેઓએ મૂર્તીપૂજા વિષેની ચર્ચા અનેક વખત સાંભળ્યા બાદ તેમની ખાત્રી થઈ કે તીર્થંકરોની મૂર્તીની પૂજા કરવી એ શાસ્ત્રોક્ત છે અને તે પણ મુક્તિનો માર્ગ છે. આથી તેઓએ મહારાજશ્રી પાસે શાસ્ત્રાભ્યાસ કરવાં માંડ્યો અને શંકા સમાધાન થતાં તેઓ ચૂસ્ત મૂર્તીપૂજક જૈન બન્યા. લાલાશંકરદાસે પોતાની ધર્મપત્ની સાથે જીંદગી પર્યંત બ્રહ્મચર્યવ્રત અંગીકાર કર્યું. મહારાજશ્રીના

ઉપદેશની અસર લાલા શંકરદાસની પત્ની ઉપર પણ મોટી થઈ અને તેઓએ કેટલાક વર્ષોપછી સાધ્વી દીક્ષા ગ્રહણ કરી. આ વખતે જીરાના ઘણા જૈનોએ નવપદજીની ઓળીના તપનું આરાધન વિધિસર કર્યું, અને એક જગ્યાપર જૈનોની મોટી સંખ્યા આયંબિલ કરવા ભેગી થતી હતી. એ ઉપરાંત મહારાજ શ્રીના ઉપદેશથી જીરા અને પંજાબના બીજા ગામોના ઘણા જૈનો સિદ્ધાચલજીની યાત્રાએ ગયા અને યાત્રા કર્યા બાદ પોતાને થયેલો આનંદ મહારાજ શ્રી પાસે આવીને જણાવ્યો. એ પછી જીરામાં એક ઓસવાલ જૈને મુનિ દિક્ષા લીધી અને તેનું નામ શ્રીરામવિજય રાખવામાં આવ્યું.

દિલ્હીમાં ચાતુર્માસ.

સંવત્ ૧૯૬૭ માં જીરાનું ચાતુર્માસ પૂરૂ થયું. કાર્તિક પૂર્ણિમા આવી પહોંચી. મુનિરાજ શ્રીઅમિ-વિજયજી શિષ્ય પરિવાર સહિત વિહાર કરવા તૈયાર થયાં. એ વખતે જીરાની જૈન જનતા મહારાજશ્રીને વળાવવા લાંબે સુધી તેમની સાથે ગઈ અને આંખમાં આશ્રુ સહિત છુટી પડી. મહારાજ શ્રી જીરાથી લુધિયાના પધાર્યા. લુધિયાનામાં તેઓના વીસ દિવસના વસવાટ દરમિયાન ઘણાઓએ જૈનધર્મનું સાચું સ્વરૂપ સાંભળ્યું અને ઘણાઓએ તેમને વધુ રહેવા વિનંતિ કરી. પણ મહારાજ શ્રી લાભાલાભનો વિચાર કરી, આસપાસના ગામોમાં વિચર્યા અને ધર્મોપદેશ આપવાનું ચાલુ રાખ્યું. અહિં તેઓને સમાચાર મળ્યા કે તેમના ગુરુવર્ય શ્રી ચારિત્રવિજયજી મહારાજ ગુજરાનવાળામાં અતિ બિમાર હતા. આથી તેઓ શ્રી ગુજરાનવાળા પધાર્યા અને વયોવૃદ્ધ ગુરુ મહારાજની વૈયાવચ્ચ અતિ શ્રદ્ધા પૂર્વક કરી. પણ "તુટી તેની બુટી નથી". ગુરુવર્યની આયુષ્ય દોરી તુટી અને અતિ દિલગિરિ સાથે અમિવિજયજી મહારાજે પાછો પંજાબમાં વિહાર શરૂ કર્યો. કેટલાક ગામો વટાવ્યા બાદ તેઓએ હસ્તિનાપુરની યાત્રા કરી અને ત્યાંથી દિલ્હી પધાર્યા. દિલ્હીમાં સંવત ૧૯૬૭ નું ચાતુર્માસ, જૈન જનતાની વિનંતિથી તેઓ શ્રીએ કર્યું અને દરરોજ વ્યાખ્યાન આપી ઘણા જૈનોને જૈન ધર્મમાં પાબંદ કર્યા. દિલ્હીના ઝવેરી લાલા પન્નાલાલજીને મહારાજ શ્રીના વ્યાખ્યાનનો એટલો બધો નાદ લાગ્યો કે મહારાજ શ્રી જ્યાં સુધી આ ભૂમિપર વિચરતાં હતાં, ત્યાંસુધી, તેઓ શ્રી જ્યાં ચાતુર્માસ કરતાં, ત્યાં ઝવેરી લાલા પન્નાલાલજી પહોંચી જતાં અને વર્ષ દરમિયાન થયેલા પાપાચારનું પ્રાયશ્ચીત લેતાં.

લુધિયાનામાં પ્રતિષ્ઠામહોત્સવ.

દિલ્હીમાં ચાતુર્માસ પૂરૂ થયું તે અગાઉ લુધીયાનાના ઘણા જૈનો મહારાજ શ્રી પાસે ઘણી વખત આવતા હતા અને પાછા લુધિયાના પધારવા વિનંતિ કરતાં હતાં. એ શ્રદ્ધાળુ જૈનોએ સંવત્ ૧૯૬૭ માં લુધિયાનાના જૈન દેરાસરમાં પ્રતિષ્ઠા કરવા માટે લુધિયાના પધારવા મહારાજ શ્રીને વિનંતિ કરી. આવી વિનંતી વધુ વખત થતાં લાભાલાભ જોઈ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ લુધિયાના ખાતે પધાર્યા, અને ત્યાં પ્રતિષ્ઠા ક્રિયા ઘણી ધામધુમ પૂર્વક કરાવી. એ વખતે લુધિયાનામાં આખા પંજાબના જૈનો આવ્યાં હતાં અને અગાઉ ગુજરાનવાળામાં સનાતનીઓ સાથેના કેસનો ચૂકાદો આપનાર જજ સાહેબ શ્રી જવાલા સહાયમિશ્ર પણ લુધિયાના બદલી થતાં, લુધિયાનામાં રહેતાં હોવાથી, મહારાજશ્રીને મળવા આવતાં હતાં. લુધિયાનાથી મહારાજશ્રીએ પ્રતિષ્ઠા બાદ વિહાર કર્યો અને ફિલ્લોર, ફગવાડા, નકોદર, મ્યાની વિગેરે ગામોમાં ધર્મોપદેશ આપતાં જાલન્ધર જઈ પહોંચ્યાં. જાલંધરમાં મહારાજશ્રીએ કેટલોક વખત સ્થિરતા કરી અને શ્રદ્ધાળુ જનતા વ્યાખ્યાનમાં મોટી સંખ્યામાં આવતી. જાલંધરમાં લાલા પહાડિયામલના પુત્ર-વધુ બાઈ ઈન્દ્રકોરે વરસીતપની અને જ્ઞાનપંચમીના તપની તપશ્ચર્યા ઉચરી અને બીજા ભાઇઓએ અને બ્હેનોએ બીજા વ્રત ઉચ્ચર્યા.

હોસિયારપૂરમાં ચાતુર્માસ.

જાલંધરથી મહારાજશ્રી આસપાસના ગામોમાં વિચરતા વિચરતાં હોસિયારપૂરની વિનંતિ આવતાં, **હોસિયાર**પૂર ગયા. **સંવત્ ૧૯૬૮નું** ચાતુર્માસ આ ગામમાં થયું. અહિં ચાતુર્માસ દરમિયાન ઘણા જૈનોએ વ્રત, પચ્ચકૂખાણ અને તપશ્ચર્યા કર્યા અને ધર્મોપદેશ શ્રવણ કરી મનુષ્ય જન્મનો લાભ ઉઠાવ્યો.

સંવત્ ૧૯૬૯ માં લુધિયાનામાં ચાતુર્માસ.

હોસિયારપૂરમાં ચાતુર્માસ વિતતાં સંવત્ ૧૯૬૯ની શરૂઆત થઈ અને મહારાજ શ્રી અમિવિજયજીએ વિહાર શરૂ કર્યો. તેઓ ગામેગામ વિચરતાં અમૃતસર ગયા અને નારોવાલની વિનંતિ આવતાં ત્યાં પ્રતિષ્ઠા કરવા પધાર્યા. નારોવાલના જૈન દેરાસરમાં પ્રતિષ્ઠા થઈ ત્યારે દેશ પંજાબના અને ગુજરાતના જૈનો પણ ત્યાં પધાર્યા હતાં. એ ગામમાં પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ થયા બાદ મહારાજ શ્રીએ વિહાર શરૂ કર્યો અને નાના ગામોમાં વિચરવા લાગ્યા. પાછી લુધિયાનાની વિનંતી આવી. પરિણામે તેઓ ચૌમાસાપહેલા લુધિયાના પહોંચ્યા અને પર્યુષણપર્વ લુધિયાનાની જનતાએ ઘણા આનંદપૂર્વક ઉજવ્યા. શ્રી મહાવીર સ્વામીના જન્મદિવસે, લુધિયાનાના ઉપાશ્રયમાં સ્વપ્નો ઉતારવામાં આવ્યાં ત્યારે તેની ઉપજ આશરે આઠસો રૂપિયા થઇ. એ રૂપિયાના લુધિયાનાના જૈનોએ ચાંદીના સ્વપ્નો બનાવ્યાં અને તે હજીસુધી ત્યાં ઉપયોગમાં લેવાય છે. આ પર્યુષણપર્વમાં પંજાબની દસ બાઇઓએ પંચમીનું તપ ઉચર્યું. લુધિયાનાથી મહારાજ શ્રીએ એ પછી સંવત્ ૧૯૭૦ માં વિહાર શરૂ કર્યો અને જુદે જુદે ગામ ઉપદેશ આપતાં આગળ વધ્યા. વચ્ચે જાલન્ધર ગામ આવ્યું. ત્યાં અગાઉ જણાવેલા બાઇ ઇન્દ્રકોર બાઇએ મોટા પાયા પર ઉદ્યાપન (ઉજમણુ) મહોત્સવ ઉજવવા તૈયારી કરી હતી. જાલંધરમાં મહારાજશ્રીએ ઉદ્યાપન મહોત્સવ અતિ ઉત્સાહપૂર્વક કર્યો અને એ મહોત્સવમાં પણ દેશ પરદેશના અનેક જૈનો આવ્યાં હતાં. અહિંથી મહારાજ શ્રી અમૃતસર પધાર્યા. આ અમૃતસર શહેરમાં લાલા હરિશ્ચંદે ઉદ્યાપન મહોત્સવની મોટી તૈયારી કરી હતી. તેમાં મહારાજ શ્રીએ ભાગ લીધો અને ઘણા જૈન ભાઇઓ અને બ્હેનોએ ઘણા વ્રત ઉચર્યા. અહિંથી મહારાજશ્રી જંડિયાલા પધાર્યા. જ્યાં લાલા હરિશ્ચન્દ્ર બ્રહ્મચારી તરફના ઉદ્યાપન મહોત્સવમાં તેઓશ્રીએ ભાગ લીધો. લાલા હરિશ્ચન્દ્ર એ મહોત્સવ વિષે એમ કહેતા હતા કે "આજ મારો વિવાહ મહોત્સવ છે."

સંવત્ ૧૯૭૦માં જમ્મુમાં ચાતુર્માસ.

જંડીયાલાથી ગામે ગામે વિહાર કરતાં સંવત્ ૧૯૭૦માં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ કાશમિર તરફ ગયા અને રાજ્યધાનીના શહેર જંમુમાં પહોંચ્યા. હાલના ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજનો જન્મ જંમુમાં થયો હતો. જંમુમાં સનખતરાના નિવાસી ઉદેચંદજી તે વખતે પોલીસખાતામાં હતા. તેમની મદદ અને ગુરૂમહારાજના ઉપદેશથી પર્યુષણના વરઘોડામાં રાજ્ય તરફથી હાથી, ઘોડા, પલટણ વિગેરેની મદદ મળવાથી, વરઘોડો મોટા ઠાઠથી નીકળ્યો હતો. કહેવાય છે કે એવો વરઘોડો અગાઉ કદિ નીકળ્યો ન હતો. જંમુમાં જૈનોનો વરઘોડો રાજસાહી ઠાઠ સાથે જાહેર રસ્તાઓ ઉપર ફરવાનો તેનો પહેલોજ પ્રસંગ હતો. આહિં લાલા સાંઇદાસે નવપદજીની ઓળી ઉચરી. આ ગૃહસ્થ એ વરસપછી, મહારાજશ્રી વિહારમાં જે ગામમાં હોય ત્યાં ચૈત્રનીઓળી કરવા દરવરસે જતાં હતાં. એ વર્ષમાં જંમુમાં દસ સ્થાનકવાસી કુટુંબો મૂર્તીપૂજામાં શ્રદ્ધા ધરાવતાં થયાં.

સંવત્ ૧૯૭૧માં જીરામાં ચાતુર્માસ.

જંમુમાં ચાતુર્માસ પૂરૂ થતાં, જીરાની વિનંતી આવતાં મહારાજ શ્રી જીરા ગામ પધાર્યા અને ત્યાં ચાતુર્માસ કર્યું. અહિં લાલાશંકરદાસજીની ધર્મ પત્નીને વૈરાગ્ય ભાવના મોટા પ્રમાણમાં જાગી અને સાધ્વી દીક્ષા માટે તે ઇચ્છા કરવા લાગી. મહારાજશ્રીએ તે છતાં તેની દીક્ષા માટેની ઇચ્છા વધુ પરિપકવ થાય ત્યાંસુધી તેને દિક્ષા ન આપી અને સંવત્ ૧૯૭૩માં ભાવનગરમાં તે બાઇએ ભાવનગર જઇને સાધ્વીજીશ્રી દેવશ્રીજીપાસે સાધ્વી દીક્ષા લીધી. જીરામાં જ્ઞાનપંચમીનું ઉજમણું અતિ ધામધુમથી થયું હતું અને બહાર ગામથી વરઘોડામાં હાથી અને ચાંદિના રથ મંગાવવામાં આવ્યા હતાં. આ રથમાં ભગવાનને પધરાવવાની બોલીના રૂ. ૧૭૫૦ ઉપજ્યા હતા.

સંવત ૧૯૭૨–માલર કોટલામાં ચાતુર્માસ.

સંવત્ ૧૯૭૨ ની શરૂઆતમાં જીરાનું ચાતુર્માસ પૂરૂ થતાં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ, બીજા મુનિરાજો સાથે વિહાર કરવા લાગ્યા અને માલેર કોટલા પહોંચ્યાં. અહિં લાલા દેવીચંદજી માલેરાએ મહા-

રાજશ્રીનાં ઉપદેશથી રૂ. ૨૫૦૦ શુભ માર્ગે ખર્ચ્યાઃ ઘણા ભાઇઓ અને બહેનોએ તપસ્યા કરી અને વ્રત ઉચર્યાં. લાલા ગઝ્ઝામલના પુત્ર શ્રી અમરનાથે, સ્થાનકવાસી માર્ગમાં શંકા થતાં મહારાજશ્રી પાસે કેટલાક ખુલાશા પૂછ્યા અને તે ખુલાશા મળતાં તેઓ શ્રી મૂર્તી પૂજામાં શ્રદ્ધાળુ થયાં. એ વખતે પાછી લુધિઆનાથી વિનંતિ આવી અને ત્યાં અગાઉ પંચમી તપ કરનાર તરફથી ઉદ્યાપન (ઉજમણુ) મહોત્સવ કરવાની જાહેરાત થતાં મહારાજ સાહેબ લુધિયાના પધાર્યા. અહિંયા ઉદ્યાપનમહોત્સવ દરમિયાન એક ભાઇને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થતાં તેમને મુનિ દિક્ષા આપવામાં આવી અને તેમનું નામ શ્રી રતનવિજય રાખવામાં આવ્યું. લુધિયાનાથી મહારાજ શ્રી માલર કોટલાની વિનંતિ આવતાં માલર કોટલા પધાર્યા અને ત્યાંજ ચાતુર્માસ કર્યું. માલર કોટલામાં પર્યુષણ પ્રસંગે ભગવાનના રથનો વરઘોડો અગાઉ કોઇ જૈને કાઢયો ન હતો. મહારાજશ્રીના ઉપદેશથી તેમના ચાતુર્માસ દરમિયાન ભગવાનના રથનો વરઘોડો નીકળ્યો અને વ્યાખ્યાનમાં આવતાં વૈષ્ણવો અને સ્થાનકવાસીઓમાંથી કેટલાકોએ શુદ્ધ મૂર્તીપૂજક શ્વેતાંબર જૈન ધર્મ સ્વીકાર્યો. તુલશીરામજી માલેરી નામના એક સનાતની જૈને પચીસ વર્ષથી સ્થાનકવાસી માર્ગ સ્વીકાર્યો હતો. તેઓએ પણ મહારાજ શ્રીની ધર્મદેશના સાંભળી શુદ્ધ મૂર્તીપૂજક શ્રદ્ધા સ્વીકારી, અને નવપદજીની ઓળી કરી. શ્રી અમિવિજયજી મહારાજના આ રિતે નવ ચોમાસા પંજાબમાં થયા, તે દરમિયાન અનેક જીવોને મુનિરાજે ધર્મ પમાડ્યો હતો, સ્થાનકવાસીઓને શાસ્ત્રપાઠોની સાક્ષી આપી મૂર્તીપૂજક બનાવ્યા હતા અને સેંકડોને શ્રીસિદ્ધક્ષેત્ર—પાલીતાણાની—જાત્રા કરવા ઉપદેશ આપ્યો હતો. આથી ઘણા શ્રાવકોએ શ્રીસિદ્ધક્ષેત્રની જાત્રા કરવા બાધા લીધી હતી અને બાધા પ્રમાણે તેઓએ જાત્રા કરી હતી. તેઓના ઉપદેશથી ઘણા જીવોએ પ્રભુ પુજા કરવાની, દર્શન કરવાની સામાયિક કરવાની, કંદમૂળ ન ખાવાની, અભક્ષ્યના ત્યાગની અને નવલક્ષ નવકાર ગણુવાની બાધા લીધી હતી અને પાકા જૈન બન્યા હતા. એમ કહેવાય છે કે તેમનાજ ઉપદેશથી પંજાબના જૈનોના પચાસ ટકા જેટલા જૈનોએ શ્રીસિદ્ધક્ષેત્ર પાલીતાણાની જાત્રા કરી હતી.

મુનિરાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ.

હાલના ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ વિષે અત્રે કેટલીક બાબતો જણાવવાની જરૂર પડેછે. શ્રીક્ષમાવિજયજી મહારાજનો જન્મ કાશ્મીરના પાટનગર જંમુ શહેરમાં ખંડેલવાડ કુટુંબમાં સંવત્ ૧૯૫૯માં થયો હતો. તેઓના પિતાનું નામ શ્રી રામલાલ હતું અને તેઓના વડવાઓ મારવાડથી દિગંબરમૂર્તિઓ સાથે લાવ્યા છતાં પંજાબમાં આવ્યા પછી ઢૂંઢક મતના રાગી થયાં હતાં, પરંતુ તેઓ તો શ્રીમદ્ વિજયાનંદ સૂરીશ્વરના ઉપદેશથી પાછા મૂર્તીપૂજાના રાગી થયાં અને શ્રી કાશ્મીરીલાલ અને શ્રી રીખવદાસ નામના તેમના બે પૂત્રો પણ તે મત પાળવા લાગ્યાં. જાલંધરમાં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ વિચરતાં હતાં ત્યારે કાશ્મીરીલાલે શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ પાસે જૈનધર્મનો અભ્યાસ કરવા માંડ્યો. મહારાજશ્રીએ તેમને ૪૫ બોલના થોકડા ઉર્દૂમાં લખી આપી, તે સમજાવ્યા ને તેઓને આગલ અભ્યાસ શરૂ કર્યો. એ પછી મહારાજશ્રી તો વિહાર કરી ગયા, પણ લુધિઆનામાં શ્રી કાશ્મીરીલાલ તારખાતાનું કામ શીખવા ગયા ત્યારે તેમનો ફરી મેળાપ થયો અને શ્રી "ઉપમિતિ ભવપ્રપંચ" ગ્રંથનો પ્રથમ પ્રસ્તાવ, મહારાજશ્રીએ શ્રી શાદીલાલ નામના શ્રાવક પાસે અપાવતાં, શ્રી કાશ્મીરીલાલે તે ગ્રંથ વાંચતાં તેમને વૈરાગ્યની ભાવના જાગી. માલર કોટલામાં શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજનું ચાતુર્માસ થતાં શ્રીકાશ્મીરીલાલ ત્યાં ગયા. તેઓએ ગુરુ દેવને મુનિદીક્ષા આપવા વિનંતી કરી પણ તે વખતે ચાતુર્માસ હોવાથી ગુરુશ્રીએ તેમને દીક્ષા ન આપી. એ પછી ગુરુદેવે માલર કોટલાથી વિહાર કરતાં તેઓ પણ તેમની સાથે પગપાળા વિહાર કરવા લાગ્યા અને પોતાના ભાઈ શ્રી રીખવદાસને પણ પોતાની સાથે રાખ્યા. સંવત્ ૧૯૭૩ માં માહ મહિનામાં બધા બીકાનેર આવી પહોંચ્યા અને બિકાનેરમાં ગુરુદેવે સ્થિરતા કરી. આ વખતે શ્રી કાશ્મીરીલાલે એક વધુ વખત ગુરુદેવને દીક્ષા માટે આગ્રહ કર્યો અને તેમનો ભાવ જોઈ તેમને શ્રી અમિવિજયજી મહારાજે અશાડ શુદ બીજને દિવસે બીકાનેરમાં મુનિદીક્ષા આપી. આ વખતે શ્રી બીકાનેર રાજ્યે વરઘોડામાં હાથી, ઘોડા, પલટણ વગેરે રાજ્યનો રસાલો આપ્યો હતો અને આખા બિકાનેરમાં દીક્ષા લેનાર શ્રીકાશ્મીરીલાલનો વરઘોડો ઘણી ધામધૂમ પૂર્વક ફર્યો હતો. ચોમાસુ ઉતરતાં બિકાનેરમાંજ

મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજીના સંસારી પક્ષે માસી બાઈ ઇંદ્રકુંવરે સાધ્વીજી શ્રી તીલકશ્રીજીના શિષ્યા શ્રી જડાવશ્રીના શિષ્યા તરિકે સાધ્વી દીક્ષા લીધી અને તેમનું નામ શ્રી લાભશ્રીજી રાખવામાં આવ્યું. સંવત્ ૧૯૭૪ માં માહ શુદ દસમના દિવસે ૪૦૦ યાત્રિકો ૪ મુનિરાજ અને ૭૫ સાધ્વીજીઓ સાથેનો એક સંઘ–છરી પાલતો સંઘ–શ્રી અમિવિજયજી મહારાજશ્રીના ઉપદેશથી સંઘવી શેઠ લક્ષ્મીચંદજી કોચરે કાઢ્યો અને બધાએ શ્રી જેસલમેર તીર્થની જાત્રા કરી.

રતલામમાં ચાતુર્માસ.

જેસલમેરથી વિહાર કરતાં મહારાજશ્રી આગલ વધતાં હતાં ત્યારે રતલામના શ્રીસંઘે મહારાજ શ્રીને રતલામ પધારવા વિનંતિ કરી. રતલામમાં જે પાઠશાળા અગાઉ સ્થાપાઈ હતી તે પાઠશાળામાં શિક્ષક સંબંધી વાંધો પડ્યો હતો અને પાઠશાળા બંધ થઈ હતી. રતલામના શ્રી કેશરીમલજી લુનિયાએ, બે શ્રાવકોને, જ્યારે ઉપલો સંઘ બીકાનેરથી નીકળી પોકરણ ફળોધી આવ્યો હતો ત્યારે વિનંતિ કરવા એક વધુ વખત મોકલ્યા અને તેઓએ મહારાજશ્રીને રતલામ ચાતુર્માસ કરવા પધારવા વિનંતી કરી. આથી ઉપલા શ્રાવકો સાથે મહારાજશ્રીએ રતલામ તરફ વિહાર કર્યો અને ત્યાં જઈ ચાતુર્માસ કર્યું. ચાતુર્માસ દરમિયાન ઉપર જણાવેલી પાઠશાળા ફરી ઉઘડી અને સંઘનો કુસંપ દૂર થયો. વળી પોતાના ગુરુશ્રીની યાદમાં રતલામમાં શ્રીચારિત્રવિજયજી જૈન જ્ઞાનભંડાર ઉઘડ્યો, જે જ્ઞાનભંડાર રતલામમાં ચાતુર્માસ કરનાર સાધુ–સાધ્વીઓને ઘણો ઉપયોગી જણાયો. રતલામનું ચોમાસુ ઉતરતાં રતલામનિવાસી શ્રી રતિચંદજી બોરાણા અને શ્રી નીહાલચંદજી તલેરાએ મહારાજશ્રીના ઉપદેશથી ૩૦૦–૩૫૦ જૈનો સાથે શ્રી કેશરીયાજીનો સંઘ કાઢયો અને બધાએ શ્રી કેશરીયાજીની યાત્રા કરી.

શ્રીક્ષમાવિજયજી મહારાજની વડીદીક્ષા.

રતલામથી બધા મુનિરાજો વિહાર કરતાં મહેસાણા આવ્યાં. મહેસાણામાં એ વખતે વયોવૃદ્ધ પન્યાસજી મહારાજ શ્રીસિદ્ધિવિજય મહારાજને આચાર્ય પદ્વિ આપવાની મંત્રણા ચાલી રહી હતી અને મહેસાણાના સંઘે પન્યાસજી મ૦ સિદ્ધિવિજયજીને મહેસાણામાં રોકયા હતા. એ વખતે બધા મુનિરાજો મહેસાણા જઈ પહોંચ્યાં અને મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજે પન્યાસજી શ્રી સિદ્ધિવિજયજી પાસે જોગ વહ્યાં એ વખતે મહેસાણામાં ૩ર મુનિરાજો અને ઘણા સાધ્વીજીઓ હતાં. મહાશુદી પાંચમે પન્યાસજી મ૦ સિદ્ધિવિજયજી મહારાજને મોટી ધામધુમ સાથે આચાર્ય પદ્વિ અપાઈ અને મહાશુદ દસમના દિવસે શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજની વડી દીક્ષાની ક્રિયા થઈ. એ પ્રસંગે કેટલાક મુમુક્ષુ જનોએ મુનિદીક્ષા પણ લીધી.

સંવત ૧૯૭૫ વેરાવળમાં ચાતુર્માસ.

સંવત્ ૧૯૭૬ માં સ્થંભતિર્થ(ખંભાત)માં મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજીનું ચાતુર્માસ થયું.

સંવત્ ૧૯૭૫માં મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજીનું ચાતુર્માસ વેરાવળમાં થયું. વેરાવળમાં ચાતુર્માસમાં ૪૫ પીસ્તાલીસ આગમની તપ આદિ ક્રિયાઓ બહુ ધામધુમ સાથે થઈ હતી અને ચાતુર્માસ ઉતરતાં વેરાવળથી શ્રદ્ધાળુ શેઠ શ્રી જયપાલ પાનાચંદે શ્રીસિદ્ધગિરિની યાત્રાનો એક સંઘ કાઢ્યો. એ સંઘ પાલીતાણામાં ફાગણ શુદિમાં પહોંચ્યો અને સંઘે શ્રી શત્રુંજયની યાત્રા કરી. વેરાવળમાં મહારાજશ્રીના ઉપદેશથી સાધારણ ખાતાની એક ટીપ થઈ હતી. જેમાં રૂ. ૧૦૦૦૦ દસ હજાર ભરાયા હતાં.

સંવત ૧૯૭૬. પાલીતાણામાં ચાતુર્માસ.

પાલીતાણામાં શ્રી સિદ્ધક્ષેત્રની યાત્રા ચાલુ હતી, એટલામાં મહારાજશ્રીને આંખોમાં દર્દ થયું અને તેની પીડા ઘણી વધી. દિન પર દિન આંખનું દર્દ વધતું ચાલ્યું અને મહારાજશ્રી તે દર્દ શાંતિથી ભોગવવા લાગ્યા. પાલીતાણાના દાકટરની દવા કરી. તેથી પણ દર્દ ન મટયું. એમ માલમ પડયું કે મહારાજશ્રીને ઝામરાનું દર્દ થયું હતું.

મુંબઈમાં મુનિરાજશ્રી અમિવિજયજીનો પ્રવેશ.

ઝામરાનું દર્દ પાલીતાણામાં વધતું ચાલ્યું અને મહારાજશ્રીના ભક્તોને ચિંતા થવા લાગી. માંગરોલ નિવાસી શ્રદ્ધાળુ જૈન શ્રી સોમચંદ ઉતમચંદ એ વખતે પાલીતાણામાં ચાતુર્માસ અર્થે આવ્યાં હતાં. તેઓએ

મહારાજશ્રીનું દર્દ જોયું અને તેમને લાગ્યું કે મહારાજશ્રીનું દર્દ મુંબઈના નિષ્ણાત તબીબોની સારવાર વગર દૂર થાય એમ ન હતું. તેઓશ્રીએ મહારાજશ્રી પાસે બાર વ્રત ધારણ કર્યાં અને જૈન ધર્મનો ઉપદેશ શ્રવણ કરવા માંડયો. કેટલાક દિવસો બાદ તેઓએ મહારાજશ્રીને વિનંતિ કરી કે તેઓશ્રી જો મુંબઈ પધારે તો મુંબઈની જનતાને તેમના વ્યાખ્યાનોનો લાભ મળે અને તેમની આંખના દર્દ માટે હોશીયાર તબીબોની સલાહ મળે: એ માટે તે ઓશ્રીએ મુંબઈ પધારવું. મહારાજશ્રીએ આ વિનંતિ સાંભળી. એટલામાં સંવત્ ૧૯૭૭નું ચાતુર્માસ પૂરૂં થયું અને સંવત્ ૧૯૭૮ની શરૂઆત થઈ.

કાર્તિક પૂર્ણીમાની યાત્રા કર્યા બાદ મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ, શિષ્યરત્ન શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ આદિ મુનિરાજોએ પાલીતાણાથી વિહાર કર્યો અને કાઠિયાવાડ અને ગુજરાતના અનેક ગામોની સ્પર્સના કરતાં કરતાં સંવત્ ૧૯૭૮ ના મહાસુદ પાંચેમના દિવસે મુંબઈમાં પ્રવેશ કર્યો. તેઓશ્રીને શ્રી ગોડીજી મહારાજના દેરાસર પાછલ આવેલા ઉપાશ્રયમાં લઈ જવામાં આવ્યાં અને ત્યાં તેઓશ્રીએ પાંચ દિવસ સ્થિરતા કરી. એપછી કોટના ઉપાશ્રયના ટ્રસ્ટિઓ અને શ્રી સોમચંદ ઉત્તમચંદના આગ્રહથી ધામધૂમ પૂર્વક મહાશુદ ૧૦ દસમના દિને સામૈયા સાથે શ્રી કોટના દેરાસરના ઉપાશ્રયે મહારાજશ્રી શિષ્યો સાથે પધાર્યા. ત્યાં સ્થિરતા થયા બાદ તેઓશ્રીનું આંખનું ઓપરેશન ડોકટર ડગન પાસે કરાવવામાં આવ્યું હતું, જે ફતેહમંદ નિવડ્યું હતું. અહિં શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ પણ સાથેજ હતા. તેઓશ્રી પોતાનો અભ્યાસ ગુરુદેવ પાસે વધાર્યા જતાં હતાં અને ગુરુસેવા કર્યે જતાં હતાં. આ વર્ષમાં માલવા-મેવાડના જૈન દેરાસરોના જીર્ણોદ્ધારની ટીપ થતાં એક લાખથી વધુ રકમ ભરાઈ હતી. વળી મુંબઈના શ્રી વર્દ્ધમાન તપ આયંબીલ ખાતાની સ્થાપના પણ તેમના ઉપદેશથી થતાં શ્રી રણછોડદાસ શેષકરણે તેમાં પ્રથમ રકમ રૂ. ૫૦૦૦ની ભરી હતી, જે પાછલથી વધીને રૂ. ૪૦૦૦૦ જેટલી થઈ હતી.

અંધેરીમાં.

શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજ, ચોમાસું ઉતરતાં શ્રી કોટના ઉપાશ્રયેથી શ્રી આદિશ્વરજીની ધર્મશાળામાં અને તે બાદ શ્રી અંધેરી ખાતે શ્રીભોગીલાલ લહેરચંદની વિનંતિથી તેમને બંગલે પધાર્યાં. અહિં શ્રી ભોગીલાલ લહેરચંદે મુમુક્ષુ શ્રી ગોરધનદાસ નાથાભાઈને મુનિદીક્ષા આપવા માટે મોટો ખર્ચ કરી તેમને ગુરુદેવ પાસે મુનિદીક્ષા અપાવી. એ દીક્ષા મુંબઈ–અંધેરી–માં પહેલી હતી અને તેમાં આશરે ૧૦૦૦૦ જૈનોએ ભાગ લીધો હતો. શ્રીભોગીલાલે એ વખતે નોકારશી જમણનો મોટો ખર્ચ કર્યો હતો. શ્રીગોરધનદાસે દીક્ષા લીધા બાદ તેમનું નામ શ્રીગુણવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. અહિંથી વિહાર કરતાં કરતાં સુરત પધાર્યા જ્યાં ઝવેરી સવેચંદ સૂરચંદે તેઓશ્રીનો પ્રવેશ તેમના મોટા ગુરુભાઈ શ્રી કલ્યાણવિજયજી મહારાજ સાથે ગોપીપુરામાં ઠાઠથી કરાવ્યો હતો. ત્યાંથી મુનિમહારાજશ્રી શિષ્યમંડળ સાથે દરાપરા પધાર્યા. દરાપરામાં આચાર્ય શ્રી વિજયાનંદસૂરિજીના પટ્ટધર શ્રીવિજયકમળ સૂરીશ્વરજી બિરાજતાં હતાં. મુનિમંડળે તેમને વાંદ્યા. દરાપરાથી મુનિરાજશ્રી અમદાવાદ, ભેયાયણીજી, સંખલપૂર અને તે બાદ શ્રી શંખેશ્વર પધાર્યા અને છેલ્લે ઠેકાણે ચૈત્રી ઓળી કરી.

પાટણમાં.

ચૈત્રી ઓળી ઉતર્યા બાદ મુનિરાજ શ્રી શિષ્યવર્ગસાથે વિહાર કરતાં ચૈત્રવદ ૧૦ ને દિવસે યાત્રાર્થે પાટણ પધાર્યા અને તે બાદ શ્રી નગીનદાસ કરમચંદની આગ્રહભરી વિનંતિથી તેમના દહેલામાં ચાતુર્માસ કર્યું. ચોમાસું ઉતરતાં સંવત્ ૧૯૮૦ માં શ્રી નગીનદાસ કરમચંદે મુનિરાજશ્રી સાથે ચારૂપનો સંઘ કારતકવદ ૧ને દિને કાઢયો, જેમાં લગભગ ૧૨૦૦–૧૫૦૦ શ્રાવકો અને શ્રાવિકાઓ હતાં. ચારૂપથી વિહાર કરતાં તે બાદ સર્વે પેથાપૂર તરફ આગલ વધ્યા. પેથાપૂર પાસેના રાંધેજી ગામના રહિશ શ્રી કેશવલાલ લલુભાઈ, કેટલાક વર્ષોથી મુનિદીક્ષા લેવા આગ્રહ રાખતાં હતાં. પેથાપૂર પહોંચતાં માગશરશુદ પાંચમે શ્રી કેશવલાલની દીક્ષાનો વરઘોડો હાથીના ઓહ્દા સાથે નિકળ્યો હતો, જેમાં પેથાપૂરના બન્ને પક્ષોએ ભાગ લીધો હતો. માગશર શુદ ૬ના દિવસે શ્રી કેશવલાલને હજારો માણસોની હાજરીમાં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજે મુનિદીક્ષા આપી, અને તેમનું નામ શ્રી ભક્તિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. પેથાપૂરથી

સર્વે મુનિરાજો રાંદેજા વગેરે ગામો સ્ફર્સતાં કોબા ગામે પધાર્યા હતાં, અને મુનિ શ્રી ગુણવિજયજી મહારાજે તેમજ મુનિશ્રી ભક્તિવિજયજી મહારાજે ત્યાં પન્યાસજી મહારાજ શ્રી ઉમંગવિજયજી મહારાજ પાસે વડિ દીક્ષાના જોગ વહ્યા ત્યાં એ બન્ને મુનિરાજોને પોષ વદ ૬ ના દિવસે વડી દીક્ષા આપવામાં આવી.

સંવત ૧૯૮૦ શ્રીપાલનપૂરમાં ચાતુર્માસ.

મહારાજશ્રી પછી મારવાડ તરફ વિહાર કરવાની ઇચ્છાથી આગલ વધ્યા. મારવાડમાં મુનિવિહારની મોટી જરૂર હતી એમ સર્વત્ર બોલાતું હતું. મારવાડમાં ધર્મનો અને જ્ઞાનનો અભાવ હતો એમ જણાયું હતું. આથી મહારાજશ્રીની ઇચ્છા એવી હતી કે મારવાડના અનેક ગામોમાં સ્થિરતા કરી જૈન જનતાને ધર્મજ્ઞાન આપવું. વિહાર કરતાં કરતાં મારવાડની અને ગુજરાતની સરહદ પર આવેલ પાલનપૂર શહેરમાં સંવત્ ૧૯૮૦ ના ફાગણશુદ ૧૩ના દિને સર્વે મુનિરાજોએ પ્રવેશ કર્યો. ફાગણશુદ ૧૪થી પાલનપુરમાં ગુરુદેવનું વ્યાખ્યાન શરૂ થયું અને ઘણા શ્રદ્ધાળુ જીવોથી શ્રોતાવર્ગની સંખ્યા દિનપરદિન વધવા લાગી. થોડા દિવસો બાદ મુનિરાજો ત્યાંથી વિહાર કરનાર હતાં પણ શ્રદ્ધાળુ જૈનોએ ગુરુદેવને ચાતુર્માસ કરવા અતિ આગ્રહ ભરી વિનંતિ કરી જેથી મહારાજશ્રીએ સંવત્ ૧૯૮૦ નું ચાતુર્માસ પાલન પૂરમાં કર્યું. એ ચાતુર્માસ માટે પાલનપૂરના શ્રાવકોએ, ખાસ છાણી જઈને આચાર્યશ્રી વિજયાનંદસૂરિજીના પ્રથમ પટ્ટધર શ્રીમદ વિજયકમલસૂરીશ્વરની આજ્ઞા મેળવી હતી, કેમકે મુનિરાજશ્રી તેમની આજ્ઞામાં હતાં. પાલનપુરમાં શ્રીભગવતી સૂત્રનું વાંચન થયું હતું, જે વખતે સાચા મોતીનો એક સાથીઓ આશરે ૧૫૦૦ના ખર્ચે શ્રીમલુકચંદ બાદરમલે કર્યો હતો. એ વખતે શ્રોતાવર્ગની સંખ્યા ઘણી વધી જવાથી ચેલા મ્હેતાની ધર્મશાળાના ચોકમાં ખાસ મંડપ બાંધવામાં આવ્યો હતો, જ્યાં ધર્મવ્યાખ્યાન થતાં હતાં. એ વખતે પાલનપૂરમાં વર્ધમાનતપઆયંબીલ ખાતાની સ્થાપના ગુરુદેવના ઉપદેશથી થઈ.

બેડામાં ચાતુર્માસ.

પાલનપૂરથી સંવત્ ૧૯૮૧ના કારતકવદી ૧૦ના દિવસે મુનિરાજશ્રી અમિવિજયજીએ વિહાર કર્યો ત્યારે સેંકડો જૈનો તેમને કેટલાક ગાઉસુધી વળાવવા ગયા હતા. એ રીતે શ્રીમુનિરાજો વિહાર કરતાં, શ્રી કુંભારીયાજી શ્રીઆબુજી વિગેરેની યાત્રાએ પધાર્યા. આબુજીની યાત્રા બાદ ગુરુદેવે મારવાડ તરફ વિહાર કર્યો. એ વખતે તેમની પાસે દીક્ષા લેવાની ઇચ્છા રાખનાર મુંબઈના પ્રસિદ્ધ ભાવનગરનિવાસી શ્રીનરોતમદાસ ભગવાનદાસ શાહના પુત્ર શ્રીજગજીવનદાસ એક વધુ વખત મુનિદીક્ષા લેવા આવ્યા. અગાઉ તેઓ પાલનપુરમાં દીક્ષા લેવા આવ્યા હતા અને ફરીથી તેઓ આબુ આવ્યા. તેઓએ ગુરુદેવને મુનિદીક્ષા આપવા ઘણી આગ્રહભરી વિનંતિ કરી. એ વખતે વિહાર ચાલુ હતો અને શ્રી જગજીવનદાસ પણ વિહારમાં સાથે રહ્યા. આખરે બધા વિહાર કરતાં બામણવાડામાં પધાર્યા. ત્યાં પોષવદ ૬ના દિને દિક્ષાનો વરઘોડો અતિ ધામધૂમ પૂર્વક ચઢાવવામાં આવ્યો અને તે બાદ શ્રી જગજીવનદાસને મુનિદીક્ષા અપાતાં તેમનું નામ શ્રી જયંતવિજય રાખવામાં આવ્યું. અને તેઓ શ્રીને મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજીના શિષ્ય કરવામાં આવ્યાં. બામણવાડામાં એ પ્રસંગે પાલનપૂરના શ્રીહાથીભાઈ ભણસાળી તરફથી નોકારશી જમણ થયું હતું. બામણવાડાથી વિહાર કરતાં મુનિરાજોએ અનેક ગામોને ધર્મ-ઉપદેશનો લાભ આપ્યો હતો-અને કેટલેક ઠેકાણે સ્થિરતા પણ કરી હતી. છેવટે બધા નાણામાં પધાર્યા અને ત્યાં વ્યાખ્યાન વાંચવાનું ચાલુ હતું. ત્યાં મુનિરાજ કલ્યાણવિજયજી બાપજીની તબિયત બગડી અને તેઓએ ચૈત્ર વદ પાંચેમને દિવસે નાણામાં કાળ કર્યો. તેમતા અગ્નિસંસ્કાર બાદ નાણામાં ઘણા ધર્મના કામ થયાં હતાં. ત્યાં બેડાના મહાજન તરફથી વિનતિ આવતા મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ વૈશાખ શુદ ૩ના દિવસે બેડા પધાર્યા. એ વખતે બેડા નિવાસિ શ્રાવકોએ બહુ ધામધૂમ પૂર્વક સામૈયું કર્યું હતું. બેડામાં અતિ શાંતિપૂર્વક ચાતુર્માસ કર્યાબાદ મુનિરાજશ્રી મારવાડના અનેક ગામોની જાત્રા કરવાની ઇચ્છાથી વિહાર કરતાં હતાં અને સેંકડો ગામોની અપૂર્વ જાત્રા કરી હતી, અને સંવત્ ૧૯૮૨નું ચાતુર્માસ મારવાડના લુણાવા ગામમાં કરીને મારવાડની જનતાને અપૂર્વ લાભ આપ્યો. ૧૯૮૨નું ચાતુર્માસ પૂરૂ થતાં ૧૯૮૩માં ગુરુદેવે મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજને મુનિશ્રી જયંતવિજયજીને જોગ કરાવવા ગુજરાત મોકલ્યા. મુનિશ્રી

ક્ષમાવિજયજી લુણાવાથી વિહાર કરતાં વિજયસિદ્ધિસૂરિજી પાસે જોગ વહાવા પાટણમાં ૧૯૮૩માં પધાર્યા અને ત્યાંજ ચાતુર્માસ કર્યું. ગુરુદેવ શ્રી અમિવિજયજી લુણાવેથી અનેક ગામોમાં વિચરતાં ગર્ભ-શ્રીમંત શ્રી ઓટરમલજીને દીક્ષાનો ભાવ થતાં, ગુરુદેવ શ્રીનાણા પધાર્યા અને શ્રીઓટરમલજીએ હજારો રૂપિયા ખર્ચીને અને સારે માર્ગે વાવરીને સંવત્ ૧૯૮૩ ના મહાશુદ પાંચેમે નાણાંમાં અતિ ધામધુમ પૂર્વક મુનિદીક્ષા લીધી. એ મુનિરાજનું નામ શ્રી ભાવવિજયજી રાખવામાં આવ્યું હતું. નાણાની સર્વે વિહાર કરવાના હતા તે વખતે સાલદેરીથી શ્રાવકોએ આવીને સાવદેરી પધારવા વિનંતિ કરી. આથી સર્વે સાવદેરી ગયા એને ત્યાં ચાર તડ હતા, તેને સમજાવીને ગુરુદેવે એકત્ર કરતાં ગામમાં સંપ થયો. આથી સાવડેરીના શ્રાવકોમાં અતિ ઉત્સાહ ફેલાયો અને ગામમાં દહેરાસરમાં વરસોથી મુલતવી રહેલી પ્રતિષ્ઠા કરાવવા ગામલોકોએ નિશ્ચય કર્યો. એ નિશ્ચય પાર પડયો. દેરાસરમાં પ્રતિષ્ઠા થઈ અને દેવદ્રવ્યમાં રૂપીયા એક લાખ એંશી હજારની ઉપજ થઈ.

શ્રીવિજયકમળસૂરીશ્વરજીનો કાળધર્મ.

મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ સાવદેરીથી વિહાર કરતાં ખુડાલા પધાર્યા ત્યારે ૧૯૮૩ ના મહાશુદ ૯ ના દિવસે સૂરત જીલ્લામાં આવેલા જલાલપૂર ગામમાં આચાર્ય શ્રી વિજયાનંદસૂરિજીના પટ્ટધર શ્રીવિજકમળસૂરીશ્વરજીએ કાળ કર્યાની ખબર તારથી મળી. આથી તેઓ ઘણા દિલગીર થયાં અને ખુડાલામાં દેવવંદનની ક્રિયા કરી. એ દરમિયાન મુનિશ્રી ભાવવિજયજી મહારાજ પાટણમાં શ્રી ક્ષમાવિજયજી પાસે થઈ ધીણોજ પધાર્યા, અને ત્યાં તેઓએ પન્યાસજી પદ્મવિજયજી મહારાજ પાસે ૧૯૮૩ ના ચૈત્ર વદ ૭ના દિવસે વડી દીક્ષા લીધી.

જન્મભૂમિમાં ચાતુર્માસ.

ખુદાલામાં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજનું વ્યાખ્યાન ચાલતું હતું તે વખતે તેમની જન્મભૂમિ ચાણોદથી અને આસપાસના ગામોમાંથી ઘણા જૈનો એ આવી ચાતુર્માસ પોતાના ગામમાં કરવા મુનિ-રાજને વિનંતિઓ કરી. આથી મહારાજ સાહેબ લગભગ ત્રીસ વરસોબાદ પોતાની જન્મભૂમિમાં, બીજા ગામોમાંથી વિહાર કરતાં કરતાં ૧૯૮૩ નાં ફાગણવદ ૧૩ ને દિને પધાર્યા. ત્યાં સ્થિરતા કર્યાબાદ તેઓએ આસપાસના ગામોમાં ફરીને ધર્મદેશના આપવા માંડીઃ ચાણોદ ગામના લોકોએ તેમને પ્રવેશ વખતે ધામધુમ પૂર્વક માન આપ્યું હતું અને તેમનું વ્યાખ્યાન સાંભળવા આખા ગામના લોકો રાજના મોટા દિવાનનસુધી આવતાં હતાઃ તેઓએ ચાણોદની આસપાસના ગામોમાં વિહાર કરવા માંડયો તે પછી ચાણોદમાં તેઓએ ચૈત્ર માસની ઓળી કરાવી હતી. સાચોરીમાં એક બાઇને સાધ્વીદીક્ષા આપી હતી. અને એંદરા નાગડાના જૈનોને કંદમૂળ ખાવાની બાધા આપી હતી. એ ગામમાં બધા લોકો કંદમૂળ–કાંદા–લસણ–વિગેરે ખાતા હતા, પણ મુનિરાજના ઉપદેશથી ૧૪ આની લોકોમાં સુધારો થયો હતોઃ વળી પાલીમાં એક બાઇને સાધ્વીદીક્ષા આપી હતી. તે બાદ તેઓશ્રી ૧૯૮૩ ના આશાડશુદ બીજને દિને ફરીથી ચાણોદ પધારતાં ઘણી ધામધૂમ થઈ હતી અને એ સાલનું ચાતુર્માસ ત્યાં થયું. એ વખતે ચાતુર્માસ ઉતર્યા બાદ સંવત્ ૧૯૮૪ માં મુનિરાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ અને મુનિરાજ શ્રી ભાવવિજયજી મહારાજ ગુજરાતમાંથી વિહાર કરી ચાણોદ પધાર્યા અને ગુરૂમહારાજ સાથે સ્થિરતા કરી. ચાણોદના તેરાપંથી શ્રાવકોએ એ દરમિયાન પાસેના ગામ કુરનાના દેરાસરમાં તેરાપંથી સાધુઓને ઉતારો આપી ઘણી આશાતનાઓ કરાવી હતી, તેથી ચાણોદના જૈનોએ તેમની સાથેનો વ્હેવાર બંધ કર્યો. ચાણોદના ચાતુર્માસ દરમિયાન મુંબઈથી શ્રી સોમચંદ ઓતમચંદ વિગેરે તેમજ પંજાબથી ઘણા શ્રાવકો મહારાજશ્રીને વાંદવા પધાર્યા હતા. ચાતુર્માસ ઉતર્યાબાદ મુનિરાજે આસપાસના ઘણા ગામોમાં પધાર્યા હતાં અને સર્વેને વ્યાખ્યાનનો લાભ આપ્યો હતો. તેઓ ૧૯૮૪ ના વૈશાખ માસમાં ફરી વિનંતિ થતાં ચાણોદના દેરાસરને ધ્વજદંડ ચઢાવવાની ક્રિયા થનાર હતી તે વખતે પાછા પધાર્યા અને ધ્વજાદંડ ચઢાવવાની ક્રિયા કરાવી. એ ધ્વજાદંડ શાહ ઇદાજી સેરાજીએ રૂ. ૫૦૦૧ ની બોલીથી ચઢાવ્યો હતો, અને દેરાસરને લગભગ અગીયાર હજાર રૂપીયાની આવક થઈ હતી. એ વખતે

મહારાજશ્રીએ મરણ પાછળ થતાં જમણો બંધ કરવા ઉપદેશ આપતાં એ રિવાજ ઘણી ગામોમાં બંધ થયો હતો અને મરણ થતાં અમુક રકમ દેરાસરમાં અને અમુક રકમ સાધારણ ખાતામાં આપવાનો રિવાજ ચાલુ થયો હતો. ચાણોદથી વિહાર કરતાં મહારાજશ્રી તખતગઢ પધાર્યા ત્યારે વ્યાખ્યાન વાંચતાંજ જેઠશુદ ૯ના દિવસે તેમને લકવાની બીમારી જણાઇ અને તેઓશ્રીની યાદશક્તિ પણ ઘેરાઈ ગઈ. આ બિમારી કેટલેક અંશે વાલીથી બોલાવેલા શ્રાવક ડાકટરની દવાથી દૂર થતાં અને દુજાણા વીગેરેની વિનંતિ આવતાં મહારાજ સાહેબ અને મુનિરાજોએ અશાડ શુદ બીજને દિવસે તખતગઢથી વિહાર કર્યો. અહિં તેમનું ૧૯૮૪ના સાલનું ચાતુર્માસ થયું. આ વખતે શ્રી અમિવિજયજી મહારાજની બિમારીની ખબર પડતાં આસપાસના ગામોના, મારવાડના, ગુજરાતના અને પંજાબના સેંકડો જૈનો દુજાણા ખબર પુછવા આવ્યા હતા અને તેઓને માટેની સઘળી સગવડ શ્રી કસ્તૂરચંદ કોઠારીએ કરી હતી. આ વખતે મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજી વ્યાખ્યાન વાંચતાં હતાં.

પાલીતાણાની જાત્રાના સાઠહજારના ફંડમાં મદદ.

દુજાણાનાં ચાતુર્માસ પહેલાં સંવત્ ૧૯૮૪ના જેઠ મહિનામાં શ્રી સિદ્ધક્ષેત્ર શ્રી પાલીતાણાની જાત્રા ખુલ્લી થવાના ખબર મળ્યા અને શેઠ આણંદજી કલ્યાણજીએ દર વરસે રૂપિયા સાઠ હજાર ભરવા માટે ફંડ ઉઘરાવવા માણસો મોકલ્યા. એ વખતે મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજના ઉપદેશની અસર થતાં ભારૂંદાવાળા શ્રી રામાજી પન્નાજીએ પ્રથમ રકમ રૂ. ૧૦૦૦૦ની ભરી હતી. અને બીજી રકમો પણ ભરાણી હતી. એ રીતે શેઠ આણંદજી કલ્યાણજી ઉપર એક મોટી રકમ મોકલાઈ હતી.

જોધપુર–કાપરડા–પીપાડ.

સંવત્ ૧૯૮૫માં ચાતુર્માસ ઉતરતાં ગુરુમહારાજ સાથે શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ વિગેરેએ વિહાર કર્યો અને ઘણા ગામોની જાત્રા કરીને તેરાપંથ અને ઢુંઢક પંથમાંથી, ઘણા શ્રાવકોને પાછા જૈન બનાવ્યા. તેઓ જોધપૂરમાં બે માસ રહ્યા અને ત્યાંના આગળ વધેલા વિચારના કેળવાયલા જૈનોને જૈન ધર્મનું રહસ્ય સમજાવ્યું. એ બાદ તેઓએ શ્રી કાપરડાજીના સાત માલના દહેરાસરની જાત્રા કરી અને તે બાદ અનેક ગામોને લાભ આપતાં બીલાડા ગામે પધાર્યા. ત્યાં ગુરુમહારાજ સાથે મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજીએ બે માસ સ્થિરતા કરી. આ બધી વખત મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજની તબિયત સારી ન હોવાથી તેમની સેવા-ચાકરી બધા સાધુઓ કરતાં હતાં અને શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજ વ્યાખ્યાન વાંચતા હતાં. આ પછી બધા વિહાર કરતાં હતાં. પીપાડ સીટીના જૈનોની વિનંતિ આવી કે ચાતુર્માસ પીપાડ સીટી (મોટી મારવાડ)માં કરવા પધારવું. આથી વિહાર તે તરફ થયો અને વૈશાખ શુદ ૪ના દિવસે પીપાડ સીટીમાં પ્રવેશ કર્યો. ત્યાં ચાતુર્માસ પૂરૂં થયા પછી ચાણોદના એક શ્રાવક ત્રણ થોઈની મુનિ દીક્ષા લઇને શ્રી હરિવિજયજી થયા; બાદ તે યોગ્ય ન લાગવાથી મુનિરાજને કહેડાવ્યું કે મારે ચાર થોઇની દીક્ષા લેવી છે. ગુરુમહારાજે તે દીક્ષા આપવા હા પાડી–ગુરુમહારાજ શિષ્યો સાથે ચાતુર્માસ ઉતરતાં સંવત્ ૧૯૮૬ ના કારતક વદ ૩ને દિવસે પીપાડથી વિહાર કરી સોજત પધાર્યા. ત્યાં ઉપલા મુનિ શ્રી હીરવિજયજી આવી પોંચ્યાં. અહિં તેમને માગસર શુદ ૬ને દિને ચાર થોયની મુનિ-દીક્ષા આપવામાં આવી અને તેમનું નામ હિમ્મતવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. એ પછી બધા મુનિરાજો વિહાર કરતાં કરતાં લુણાવા પધાર્યા. ત્યાં સાદડીના ભાઇઓએ અતિ આગ્રહ ભરી વિનંતિ કરવાથી ગુરુ-મહાજ અને બીજા મુનિરાજોએ સાદડી તરફ વિહાર કર્યો.

સાદડીમાં ચાતુર્માસ.

આ રીતે સંવત્ ૧૯૮૬નું ચાતુર્માસ મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજે બીજા મુનિરાજો સાથે સાદડીમાં કર્યું. અહિં જુવાન પક્ષે મુનિરાજોને હેરાન કરવા અનેક ઉપાયો યોજ્યા છતાં શ્રદ્ધાળુ વર્ગની મોટી સંખ્યા હોવાથી પર્યુષણપર્વ અને ચાતુર્માસ સારી રીતે પૂર્ણ થયા. પણ ગુરુમહારાજને અહિં શરદી લાગુ પડી અને તાવની બિમારી પણ શરૂ થઈ. સંવત્ ૧૯૮૭ના કારતકવદમાં સાદડીથી બધા

મુનિરાજોએ વિહાર કર્યો અને અનેક ગામોની સ્ફર્સના કરતાં સંવત્ ૧૯૮૭માં બધા પાલી પધાર્યા. અહિં ગુરુમહારાજને તાવ વધ્યો અને અનેક વૈદ્યોની દવા કરવા છતાં તેમની તબિયત ન સુધરી. પાલીની હોસ્પીટલમાં જોધપૂરના ડોકટર જવેરીલાલ હતાઃ તેઓ શ્રાવક હતાંઃ તેઓએ પણ તેમની દવા અતિ ભક્તિપૂર્વક કરી. આટલી બધી તજવીજ છતાં ગુરુમહારાજની તબીયત સુધરી નહિ અને તેથી પાલીના અને આસપાસના ઘણા ગામના શ્રાવકો તેમની ખબર પુછવા આવવા લાગ્યા. જ્યારથી તબીયત બગડી ત્યારની ગુરુમહારાજ દરરોજ ૧૦થી ૧૫ બાંધી નોકારવાલી ગણતા હોવાથી તેઓએ એ મુદત દરમિયાન ૬થી ૭ લાખ નવકાર મંત્રનો જાપ કર્યો હતો એમ ધારવામાં આવે છે.

પાલીમાં ચાતુર્માસ.

એ વખતે પણ આસપાસના ગામોમાંથી ચાતુર્માસ માટે ઘણી વિનંતિઓ થઈ પણ પાલીના સંઘના આગ્રહથી સંવત્ ૧૯૮૭નું ચાતુર્માસ પાલીમાંજ થયું. એ ચાતુર્માસમાં મુનિરાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજે વ્યાખ્યાન વાંચવાનું ચાલુ રાખ્યું અને ગુરુભક્તિ અતિઉત્સાહથી કરી ગુરુમહારાજની સેવા ચાકરી કરી. એ ઉપરાંત બીજા મુનિરાજો પણ આખો દિવસ સેવામાં ઉભે પગે હાજર હતાં. દવાદારૂ ઘણા કર્યા પણ દવાની ટીકી ન જ લાગીઃ ગુરુમહારાજની તબિયત દિવસે દિવસે વધુ બગડતી ગઈ. આખરે તેમને ક્ષય લાગુ પડયો. આ બધો વખત ગુરુમહારાજ નવકાર મંત્રનો જાપ કર્યા કરતાં અને અતિ શાંતિથી શરીરના વ્યાધીને સહન કરતાં હતાં. તેઓ બહુજ શાંત ચિત્તથી બધા સાથે પોતાનો સમય ગાલતાં અને વખતો વખત ધર્મદેશના પણ સંભળાવતા. આખરે શ્રાવણ વદ ૩ની રાત્રે આશરે વીસ દિવસ સંથારા પર રહ્યા બાદ, પ્રતિક્રમણ કર્યા બાદ અને સંથારાપોરસી ભણાવ્યા બાદ નવકારમંત્રનો જાપ કરતાં કરતાં રાત્રે સાડા નવ વાગે તેઓશ્રીએ પ્રાણ ત્યાગ કર્યો. એ વખતે મુનિશ્રી ક્ષમાવિજયજી આદિ મહારાજો તેમની સાથેજ હતાં અને તેઓએ પણ તેમને નવકાર મંત્ર સંભળાવ્યા હતા. અને પાલીના ભાવિક શ્રાવકોએ તેમની અંતિમક્રિયા તથા તે પછી અઠ્ઠાઈ-ઓચ્છવ આદિ ઉજવી પોતાની લક્ષ્મીને સાર્થક કરી હતી.

ગુરુજીના ઉપકાર વિષે પંજાબી વલી હુકમચંદજીનો પત્ર.

પંજાબથી વલી શ્રીહુકમચંદજી એક પત્રમાં નીચે પ્રમાણે લખે છેઃ—

અમિવિજયજી મહારાજ સંવત ૧૯૭૩ માં માલર કોટલા પધાર્યા હતાં ત્યારે સંઘના અતિ આગ્રહથી તેઓએ ચાતુર્માસ માલર કોટલામાંજ કર્યું. પર્યુપણપર્વમાં ગુજરાતી શ્રાવણવદિ ૧૪ને દહાડે શ્રી કલ્પસૂત્રનો વરઘોડો કાઢવામાં આવ્યો હતો તે વરઘોડો મોતીબજારમાં થઈ ગામમાં ફરી લાલા રામપ્રસાદ કિશોરીલાલ માલેરીને ત્યાં ઉતર્યો હતો. માલર કોટલામાં આવો વરઘોડો પ્રથમ હોવાથી મોટી ધામધુમથી એ વરઘોડો કાઢવામાં આવ્યો હતો અને તેમાં ગામના ઘણા સજ્જનોએ ભાગ લીધો હતો. એ દિવસે રાત્રે જાગરણ કરવામાં આવ્યું હતું અને આખી રાત્રી, પ્રભુસ્તુતિ અને સ્તવનો ગાવામાં જનતાએ પસાર કરી હતી.

બીજે દિવસે લાલા શ્રી રામપ્રસાદ માલેરીને ઘેરથી કલ્પસૂત્રનો વરઘોડો ઉપાશ્રયે જવા નીકળ્યો હતો, તે વખતે મોટી ધામધુમ થઈ હતી. એ વરઘોડામાં પ્રભુપુજાની સામગ્રી મોટા થાળોમાં રાખીને, અને ચૌદ સુપનો માથે ઉંચકીને સ્ત્રીઓ ચાલતી હતી. જ્યારે શ્રાવકોનાં ભજનમંડળ વાજીંત્ર અને વાદ સાથે ગાતાં બજાવતાં હતાં. આસપાસના ગામોના ઘણા સ્ત્રીપુરુષો એ વરઘોડામાં જોડાવા આવ્યા હતા.

વીસસ્થાનકની પૂજા.

દહેરાસર આગળ વરઘોડો ઉતર્યા બાદ સર્વે અંદર પધાર્યા હતાં અને વીસ સ્થાનકની પૂજા ભણાવવામાં આવી હતી. એ પૂજા બાદ પ્રભાવના થઈ હતી. સંવત્સરીનો દિવસ પણ મહોત્સવ પૂર્વક ઉજવવામાં આવ્યો હતો. બીજે દિવસે લાલા રામપ્રસાદ કીશોરીલાલ તરફથી સ્વામીવત્સલ કરવામાં આવ્યું હતું અને સંવત્સરી બાદનાં પારણા વ્રતધારીઓએ કર્યા હતા.

ગામનો કુસંપ દૂર કર્યો.

ચાતુર્માસ દરમિયાન અમિવિજયજી મહારાજે શ્રાવકોને પ્રેમભર્યો ઉપદેશ આપવાના પરિણામે ગામના શ્રાવકો વચ્ચે ચાલતો વરસોનો કુસંપ દૂર થયો હતો: દહેરાસરના ચોપડાઓનો હિસાબ ચોકખો કરવમાં આવ્યો હતો અને પર્યુષણપર્વની તથા સુપનની તથા પારણાની રીતે ઉપજ થઈ હતી. પારણાના દિવસે રાત્રિજાગરણ પણ થયું હતું.

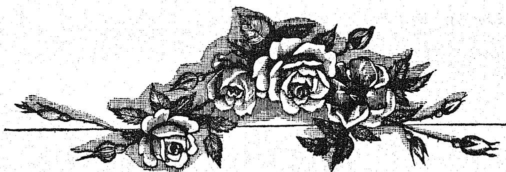
સિદ્ધિગિરિનો પટ.

ચાતુર્માસ પૂરૂં થયું. કાર્તિકી પૂનમ આવી પ્હોંચી અને કુટીમાલેરીયામાં બાંધવામાં આવેલા શ્રી-સિદ્ધિગિરિના પટના દર્શન કરવા સંઘ, બેન્ડ સાથે મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજી પધાર્યા હતા. એ વખતે થયેલો ઠાઠ અનુપમ હતો.

મુસલમાનો અને અન્યદર્શનીઓ જૈન થયાં.

શ્રી અમિવિજયજી મહારાજના ચાતુર્માસમાં દરરોજ વ્યાખ્યાન વખતે શ્રોતાઓની મોટી ઠઠ જામતી હતી અને તેમાં વૈષ્ણવો, અગ્રવાલો વિગેરે પણ આવતાં હતાં. ખાસ ધ્યાન ખેંચનારી બિના એ હતી કે મહારાજશ્રીના વ્યાખ્યાનમાં મુસલમાનો પણ આવતાં હતાં. તેમના પર મહારાજશ્રીના વ્યાખ્યાનની અજબ અસર થતાં, તેઓ જૈનધર્મપ્રેમી બન્યા હતા. અગ્રવાલ વૈષ્ણવ શ્રી પાલામલ કુન્દનલાલ, શુદ્ધ મૂર્તીપૂજક જૈન બન્યા હતા અને અગ્રવાલો શ્રીરાયનમલ અને ગેંડામલ સ્થાનકવાસી શ્રદ્ધા છોડી મૂર્તીપૂજક જૈન બન્યા હતા.

મુનિશ્રીના ઉપદેશથી દહેરાસરમાં લગ્નપ્રસંગે સારી રકમો મોકલવાની ગોઠવણ થઈ હતી અને તેથી દેહરાસરમાં સારી ઉપજ થઈ હતી.



વંશવૃક્ષ.

વિજયાનંદસૂરિજી મહારાજ 卐

દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૩૨

ચારિત્રવિજયજી મહારાજ 卐 દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૩૨

૨ અમીવિજયજી મહારાજ 卐 દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૫૦

૧ કલ્યાણવિજયજી મહારાજ 卐

૩ મયાવિજયજી મહારાજ 卐

(અમીવિજયજી મહારાજના શિષ્યો:)

૧ ક્ષમાવિજયજી મહારાજ દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૭૩

૨ ગુણવિજયજી મહારાજ દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૭૯

૩ ભક્તિવિજયજી મહારાજ દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૮૦

૪ ભાવવિજયજી મહારાજ દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૮૩

૫ હિંમતવિજયજી મહારાજ 卐 દીક્ષા. વિ. સં. ૧૯૮૬

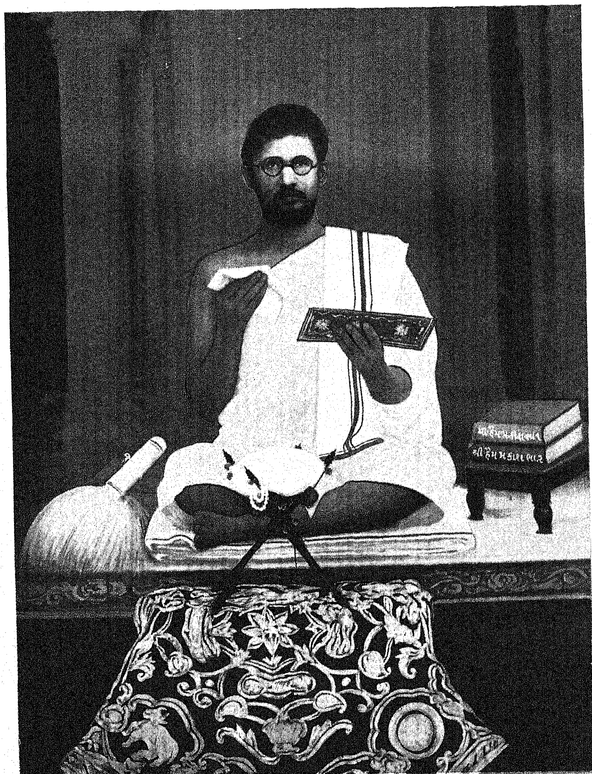
(ક્ષમાવિજયજી મહારાજના શિષ્યો:)

૧ લાભવિજયજી મહારાજ વિ. સંવત્ ૧૯૮૯
૨ માણેકવિજયજી મહારાજ ,, ૧૯૯૧
૩ અરૂણવિજયજી મહારાજ ,, ૧૯૯૨
૪ નાગેન્દ્રવિજયજી મહારાજ ,, ૧૯૯૩

卐 કાળ ધર્મ પામ્યા છે.

ન્યાયામ્ભોનિધિ શ્રીમદ્ વિજયાનંદ સૂરિશ્વરજી શિષ્યરત્ન શ્રીમચ્ચારિત્રવિજયજી
વિનેયરત્ન શ્રીઅમીવિજયજી મહારાજ શિષ્યરત્ન પરમપૂજ્ય ઉપાધ્યાયજી
મહારાજશ્રી ક્ષમાવિજયજી ગણિવર.

UPADHYAYAJI SHREE KSHAMAVIJAYAJI GANI



श्रीमत् उपाध्यायजी महाराज क्षमाविजयजी गणी

જન્મ–વિ. સં. ૧૯૫૮
માગશર સુદી
જંમુ (પંજાબ)

દીક્ષા–વિ. સં. ૧૯૭૩
અસાડ સુદી ૨
બીકાનેર (મારવાડ)

પન્યાસપદ–વિ. સં. ૧૯૯૦
ફાગણ સુદી ૪
રાજનગર (અમદાવાદ)

ઉપાધ્યાયપદ–વિ. સં. ૧૯૯૨
વૈશાખ સુદી ૬
(મુંબઈ)

PREMIER ART PRINTING WORKS
FORT, BOMBAY

ઉપોદ્ઘાત

विश्वहितबोधिदायकश्रीअमीविजयगुरुभ्यो नमः ।

'**परोपकाराय सतां विभूतयः**' એ કહેવતને જૈનો ઠેઠ અસંખ્યકાળ પહેલાં થએલાં પ્રથમ તીર્થંકર આદીશ્વર પ્રભુથી ચરિતાર્થ કરતા જ આવ્યા છે. જેમ તે પ્રભુએ જગતમાંથી અજ્ઞાન દૂર કરી આ લોક ને પરલોકમાં હિતકારી યાવત્ મોક્ષ પમાડનાર જ્ઞાન ભવ્યજીવોને આપ્યું; તેમજ તેઓશ્રીના ગુણવંત ગણધરોએ તથા તે પ્રભુના પુત્રરત્ન ભરત ચક્રવર્તીએ પણ પ્રજાનું ધાર્મિક તથા નૈતિક જીવન ઉચ્ચ ધોરણનું અને તેમાટેના જ્ઞાનનો પ્રચાર [1]દ્વાદશાંગી તથા [2]આર્યવેદો રૂપે કર્યો. તે પછીના તીર્થંકર ગણધરાદિ મહાપુરૂષો પણ એવી જ રીતે પાછલા થનારાઓમાટે ઉત્તમ સામગ્રી મૂકતા ગયા.

આ બધોએ ઉપકાર [3]શ્રુતજ્ઞાન દ્વારાજ થઈ શકે છે, કેમકે મનુષ્યો પાસે એક બીજાને પોતાના અભિપ્રાય જણાવવાનું મુખ્ય સાધન લખાતી અથવા બોલાતી ભાષાજ છે. તે ભાષા જેટલી શુદ્ધ તથા વ્યવસ્થિત હોય તેટલી જ અધિક લાભ આપનારી નીવડે છે. ભાષાને વ્યવસ્થિત રાખનાર સૌથી મુખ્ય સાધન વ્યાકરણજ છે કે જે અનેક મનુષ્યોને એકજ વ્યવસ્થિત ઢબે બોલવાની તથા લખવાની ફરજ પાડે છે: અને તે ઢબને ઉલંઘનાર ભોટ અને નિરક્ષર કહેવાય છે:

એટલા ખાતર જ એક પ્રાચીન પુરુષે પોતાના પુત્રને ભલામણ કરી છે કે—

'यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्' ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—હે પુત્ર જો તું બહુ ન ભણે તોપણ વ્યાકરણ ભણ જેથી સ્વજન (સંબંધી) શ્વજન (કુતરાનો વર્ગ), સકલ (સંપૂર્ણ) શકલ (ટુકડો), સકૃત્ (એકવાર) શકૃત્ (વિષ્ટા) ન થઈ જાય. અર્થાત્ ઉપરના ત્રણે શબ્દોમાં જો દન્ત્ય સકારને સ્થાને તાલવ્ય શકાર બોલાઇ જાય તો અર્થનો અનર્થ થઇ જાય છે અને તે જાતની ભૂલોથી બચાવનાર વ્યાકરણ જ છે.

લીલાવતીકાર ભાસ્કરાચાર્યે સિદ્ધાન્ત શિરોમણિમાં કહ્યું છે કે—

यो वेदवेदवदनं सदनं हि सम्यक् ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान् शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—જેણે વેદના મુખરૂપ સરસ્વતીના ઘર વ્યાકરણને સારી રીતે જાણ્યું, તે વેદ પણ જાણી ગયો: બીજા શાસ્ત્રોની વાત જ શી કરવી? આમ વસ્તુસ્થિતિ હોવાથી વ્યાકરણ જાણ્યા પછી જ બુદ્ધિમાન્ બીજા શાસ્ત્રો સાંભળવાનો અધિકારી થઈ શકે છે. આથી જણાઈ આવશે કે શ્રોતા તરીકેની યોગ્યતા મેલવવા માટે પણ વ્યાકરણ ભણવાની આવશ્યકતા છે, એમ મતાંતરોએ પણ સ્વીકારેલું છે.

તથા [4]પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્રમાં સત્ય કેવી રીતે બોલવું તેના ઉત્તરમાં નામ આખ્યાત વગેરે વ્યાકરણના વિભાગોના યથાર્થ ઉપયોગ–પૂર્વક સત્ય બોલવાનું શ્રીમહાવીર ભગવાને ફરમાવેલ છે. આમ લૌકિક અને લોકોત્તર બંન્ને માર્ગમાં વ્યાકરણના જ્ઞાનની આવશ્યકતા છે. એથીજ વ્યાકરણને મોક્ષના સાધન રૂપે ઓલખાવ્યું છે.

व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिश्चयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—વ્યાકરણથી [5]પદની સિદ્ધિ થાય છે, પદ સિદ્ધિથી અર્થનો (કર્તા આદિનો) નિશ્ચય થાય છે, અર્થ નિશ્ચયથી તત્ત્વનું જ્ઞાન થાય છે, તત્ત્વજ્ઞાનથી પરમ શ્રેય–પરમ કલ્યાણ મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે.

---

૧ આચારાંગ આદિ અગ્યાર અંગો તથા બારમા અંગમાં ચૌદ પૂર્વ તથા દૃષ્ટિવાદનો સમાવેશ થાય છે.

૨ રીખવદેવજી ભગવાને પુરૂષોની બોત્તેર કલા, સ્ત્રીઓની ચોસઠ કલા, તથા પ્રજાને આવશ્યક શિલ્પાદિ શીખવી પોતાનું રાજ્ય પોતાના સો પુત્રોને દેશવાર ભળાવી દીક્ષા લીધી, તે પછી તેમના મુખ્ય પુત્ર ભરતે છ ખંડમાં વ્હેંચાએલ ભરત ક્ષેત્રના બત્રીશ હજાર દેશો ઉપર પોતાની રાજ્યસત્તા પ્રસરાવી. પ્રજાને એક છત્ર નીચે સુખ ભોગવતી કરી, અને તે પ્રજામાં સત્ય જ્ઞાનના પ્રચારાર્થે ધર્મ અર્થ કામ અને મોક્ષ એ ચારે પુરૂષાર્થોને યથાર્થ રીતે ઓલખાવનાર ચાર આર્ય વેદો પ્રસરાવ્યા. હિંસક અનાર્ય વેદો તો વીશમા તીર્થંકરના થયા પછી જ પ્રચાર પામેલ છે.

૩ બોલાતી અથવા લખાતી ભાષા દ્વારા જે જ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે તે.

૪ ગણધર શ્રી સુધર્માસ્વામીએ ગુંથેલી દ્વાદશાંગી પૈકીનું દશમું અંગ.

૫ વર્ણમાલાના અક્ષરો, તથા અક્ષર સમુદાયો વિભક્તિ આદિ લાગી પદરૂપ બને છે ત્યારેજ અર્થ આપનાર થાય છે.

પ્રશ્નવ્યાકરણટીકામાં બાર પ્રકારના સત્યની વ્યાખ્યાના પ્રસંગે બાર પ્રકારની ભાષા આ પ્રમાણે સૂચવેલ છે.

प्राकृतसंस्कृतभाषा मागधपैशाचीशौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ १ ॥

ભાવાર્થ—પ્રાકૃત ૧ સંસ્કૃત ૨ માગધી ૩ પૈશાચી ૪ શૌરસેની ૫ અને દેશ વિશેષોના ભેદના કારણે અનેક ભેદવાલી છઠ્ઠી અપભ્રંશ ભાષા છે. ઉપર જણાવેલ છ ભાષાઓમાં દરેકના ગદ્ય અને પદ્ય એવાં બેબે વિભાગ પાડવામાં આવે એટલે ભાષાના બાર ભેદો થઇ જાય છે.

પ્રશ્નવ્યાકરણ સૂત્રમાં જણાવેલ ૧૨ પ્રકારની ભાષાઓમાં સંસ્કૃત ભાષા ઉપર અનેક વ્યાકરણો ઉપલબ્ધ છે, અને પ્રાકૃતાદિ ભાષાઓ ઉપર પણ છુટા છવાયા વ્યાકરણ મલે છે. પરંતુ તે બધી ભાષાઓનું સંપૂર્ણ સાંગોપાંગ સરલ વ્યાકરણ બનાવનાર તથા તેને કોશો (અભિધાનચિંતામણિ–અનેકાર્થ–પરિશિષ્ટ–નિઘંટુ–લિંગાનુશાસન–દેશીનામમાલા) કાવ્યાનુશાસન–છન્દોનુશાસન પ્રમાણમીમાંસા આદિથી સમૃદ્ધ કરનાર જો કોઈ વિદ્વાન્ થયા હોય તો તે મહર્ષિ હેમચંદ્રસૂરિ મહારાજજ થયા છે કે જેમણે સિદ્ધરાજ જયસિંહના ખેદને દૂર કરવા સાથે ગુજરાતનું મુખ ઉજ્વલ બનાવ્યું છે, એટલુંજ નહીં પરંતુ પૂર્વ તથા પશ્ચિમ દરેક દેશના વિદ્યાભિલાષિઓ માટે એટલી બધી સુગમતા કરી છે કે વર્ણમાલાના જ્ઞાનથી લઇ મહાવિદ્વાન્ થવા માટે ફક્ત એમનું જ શરણું લેવામાં આવે તો બીજા કોઇની પાસે શિક્ષણ લેવા જવાની જરૂર ન રહે. મહર્ષિ હેમચંદ્રને વ્યાકરણાદિ રચવાનો પ્રસંગ આ રીતે સાંપડે છે ([1]પ્રભાવક ચરિત્ર ભાષાન્તર–પૃષ્ટ ૨૯૧–૨૯૨).

શ્રીહૈમવ્યાકરણની ઉત્પત્તિ વિગેરે.

“પછી એકદા માલવદેશને જીતીને સિદ્ધરાજ પોતાની રાજધાનીમાં આવ્યો ત્યારે બધા દર્શનીઓએ તેને આશિષ આપીઃ એટલે કલાના ભંડાર એવા શ્રી હેમચંદ્રસૂરિ ત્યાં અવ્યગ્રમતિથી અત્યંત શ્રવણીય કાવ્યથી આશિષ આપતા બોલ્યા કે—હે કામધેનુ! તું તારા ગોમયરસથી ભૂમીને લીંપી કહાડ, હે રત્નાકર તું મોતીઓથી સ્વસ્તિક પુરી દે, હે ચંદ્રમા તું પૂર્ણ કુંભ બની જા, હે દિગ્ગજો, તમે પોતાના કર–સૂંઢ સીધા કરી કલ્પવૃક્ષના પત્રો લઇને તોરણો બનાવો, કારણ કે સિદ્ધરાજ પૃથ્વીને જીતીને આવે છે. એ પ્રમાણે પોતાના ચારિત્રની જેમ વ્યાખ્યાથી વિભૂષિત તે શ્લોક સાંભળવાથી સંતુષ્ટ થએલ સિદ્ધરાજ તેમને વારંવાર પોતાના રાજભવનમાં બોલાવવા લાગ્યો.”

“એકદા અવંતીના ભંડારમાં રહેલા પુસ્તકો ત્યાંના નિયુક્ત પુરૂષોએ બતાવતાં તેમાં એક લક્ષણશાસ્ત્ર-વ્યાકરણ રાજાના જોવામાં આવ્યું. એટલે તેણે ગુરુને પૂછ્યું કે આ શું છે? ત્યારે આચાર્ય મહારાજ કહેવા લાગ્યા કે એ ‘ભોજવ્યાકરણ’ શબ્દશાસ્ત્ર તરીકે પ્રવર્તમાન છેઃ વિદ્વાનોમાં શિરોમણી એ માલવપતિએ શબ્દશાસ્ત્ર, અલંકાર, નિમિત્ત, અને તર્કશાસ્ત્ર રચેલાં છે. તેમજ ચિકિત્સા, રાજ, સિદ્ધાંત, વૃક્ષ, વાસ્તુ ઉદય, અંક, શકુન,, અધ્યાત્મ, અને સ્વપ્ન, તથા સામુદ્રિક શાસ્ત્રો પણ અહીં છેઃ અને નિમિત્ત શાસ્ત્ર, વ્યાખ્યાન અને પ્રશ્નચૂડામણિ ગ્રંથો છે, વળી મેઘમાળા અને અર્થશાસ્ત્ર પણ છે; અને એ બધા ગ્રંથો તે રાજાએ બનાવેલ છે.”

“એ પ્રમાણે સાંભળતાં સિદ્ધરાજ બોલ્યો કે “આપણા ભંડારમાં શું એ શાસ્ત્રો નથી? સમસ્ત ગુર્જર દેશમાં શું કોઇ વિદ્વાન્ નથી? ત્યારે બધા વિદ્વાનો મલીને શ્રી હેમચંદ્રસૂરિને જોવા લાગ્યાઃ એટલે મહાભક્તિથી રાજાએ નમ્રતા પૂર્વક પ્રભુને વિનંતી કરી કે હે ભગવન્! એક વ્યાકરણશાસ્ત્ર બનાવીને તમે અમારા મનોરથ પુરા કરો. હે મહર્ષિ! તમારા વિના એ મનોરથ પૂરવાને કોણ સમર્થ છે? વલી આ સમયમાં પ્રવર્તમાન થયેલ એ વ્યાકરણ સંક્ષિપ્ત છે, તેમ તેમાં શબ્દોની નિષ્પત્તિ પણ તેવી નથીઃ તથા પાણિનિનું વ્યાકરણ છે તે વેદના અંગરૂપ મનાય છે, તેથી બ્રાહ્મણ ગર્વ લાવીને એ વ્યાકરણપર ઈર્ષ્યા કરે છે. કદાચ તે વિપ્રો નારાજ થાય તો તેથી શું? માટે હે મુનીશ્વર! વિશ્વજનોના ઉપકાર માટે એક નવું વ્યાકરણ બનાવો કે જેથી મને યશ મળે, અને તમને કીર્તિ તથા પુણ્ય પ્રાપ્ત થાય.”

“એમ સાંભળીને બુદ્ધિનિધાન શ્રી હેમચંદ્રસૂરિ બોલ્યા કે—કાર્યોમાં અમને જે પ્રેરણા કરવી, તે તમારે કેવળ યાદ કરાવવા માટેજ છે; પરંતુ વ્યાકરણના આઠ પુસ્તકો છે, તે શ્રી ભારતી દેવીના ભંડારમાં છે તો તમારા માણસો મોકલીને તે કાશ્મીર દેશથકી મંગાવો કે જેથી વ્યાકરણશાસ્ત્ર સારી રીતે રચી

---

૧ શ્રી પ્રભાચંદ્રસૂરિએ રચેલ અનેક પ્રભાવક જૈન આચાર્યોના ગૌરવયુક્ત કાર્યો ઐતિહાસિક માહિતી સાથે વર્ણવનાર આ એક અપૂર્વ સંસ્કૃત કાવ્ય ગ્રંથ છે, જેનું ભાષાન્તર શ્રી આત્માનંદજૈનસભા (ભાવનગર) એ છપાવેલ છેઃ જેમાંનો ઉપયુક્ત ભાગ અત્રે આભાર સાથે અપાય છે તથા મૂલ નિર્ણયસાગર પ્રેસ (મુંબઈ) માં છપાયેલ છે.

શકાય. ગુરુનું એ વચન સાંભળતાં રાજાએ તરત જ પોતાના પ્રધાન પુરુષોને કાશ્મીર દેશમાં મોકલ્યા. તેઓ પ્રવર નામના નગરમાં પહોંચ્યા અને ભારતી દેવીને ચંદનાદિકથી પૂજીને સ્તુતિ પાઠ કરવા લાગ્યા. એટલે સંતુષ્ટ થયેલ દેવીએ પોતાના અધિષ્ઠાયકોને આદેશ કર્યો કે 'શ્રી હેમચંદ્ર શ્વેતાંબર મારા પ્રસાદપાત્ર છે. એટલું જ નહિ પણ જાણે મારી બીજી મૂર્તિ રૂપે હોય એવા છે. માટે તેમના નિમિત્તે પ્રેષ્ય વર્ગને પુસ્તકો આપીને વિદાય કરો.' પછી ભારતી દેવીએ તે પ્રધાન પુરૂષોનો સારો સત્કાર કરી તેમને પુસ્તકો અપાવ્યાં અને ઉત્સાહપૂર્વક વિદાય કર્યા. એટલે દેવીના પ્રસાદથી ભારે હર્ષથી રોમાંચિત થતા તે અલ્પ સમયમાં પોતાના નગરમાં આવી પહોંચ્યા. ત્યાં એકનિષ્ઠાવાલા શ્રી હેમચંદ્રપ્રભુપર દેવીનો કેવો આદર અને સંતોષ છે તે તેમણે રાજાને નિવેદન કર્યું, જે સાંભળતાં ચમત્કાર પામેલ રાજા કહેવા લાગ્યો કે—અહો! હું અને મારો દેશ ધન્ય છે કે જ્યાં આવા સુજ્ઞ શિરોમણી ગુરુ બિરાજમાન છે. પછી શ્રી હેમચંદ્રસૂરિએ પણ તે આઠે વ્યાકરણોનું અવલોકન કરીને શ્રી સિદ્ધહેમ નામે નવું અદ્ભૂત વ્યાકરણ બનાવ્યું કે જે આઠ અધ્યાયના બત્રીશ પાદથી સંપૂર્ણ—ઉણાદિ, ધાતુપાઠ, લિંગાનુશાસન, સૂત્ર, સદ્વૃત્તિ, નામમાલા અને અનેકાર્થના પાઠથી રમણીય છેઃ વલી સર્વે વ્યાકરણોમાં જે મુગટ સમાન અને સમસ્ત વિદ્વાનોને આદર પાત્ર છે. પ્રથમના વ્યાકરણો બહુ વિસ્તીર્ણ હતાં, તેથી સમસ્ત આયુષ્યભરમાં પણ શીખી શકાય તેવાં નહોતાં અને તેથી પુરુષાર્થ સાધવામાં સ્ખલના પમાડનાર હતાં તેમજ કેટલાક સંક્ષિપ્ત, દુર્બોધ અને દોષના સ્થાનરૂપ હતાં. તેથી આધુનિક વિદ્વાનોએ એ વ્યાકરણને પ્રમાણ કર્યું. તેના દરેક પાદને અંતે એક એક શ્લોક છે, કે જેમાં મૂલરાજ તથા તેના પૂર્વજ રાજાઓનું વર્ણન કરવામાં આવેલ છે અને સર્વ અધ્યાયને અંતે ચાર શ્લોક છે તેમજ પાંત્રીશ શ્લોકમાં તેની પ્રશસ્તિ કરવામાં આવેલ છે. નગરનાં વિદ્વાનોએ તથા રાજાના પુરોહિતોએ તેનું ત્રણ વર્ષ સુધી વાંચન કર્યું. પછી તે પુસ્તક લખાવવાને માટે રાજાના નિયુક્ત પુરુષોએ સર્વસ્થાનો થકી ત્રણસેં લેખકોને બોલાવ્યાઃ ત્યાં રાજાએ તેમનો સારો સત્કાર કર્યો, એટલે પુસ્તકો લખાવતાં સર્વ દર્શનોના પ્રત્યેક અભ્યાસીને તે આપવામાં આવ્યાં. જેથી અંગ, બંગ, કલિંગ, લાટ, કર્ણાટક, કોંકણ, મહારાષ્ટ્ર, સૌરાષ્ટ્ર, વત્સ, કચ્છ, માલવ, સિંધુ, સૌવીર, નેપાલ, પારસીક, મુરંડક, ગંગા પારે હરદ્વાર, કાશી, ચેદિ, ગયા, કુરુક્ષેત્ર, કાન્યકુબ્જ, ગૌડ, શ્રી કામરૂપ, સપાદલક્ષ, જાલંધર, ખસ, સિંહલ, મહાબોધ, બોડ કૌશિક, ઇત્યાદિ બધા દેશોમાં તે વ્યાકરણ ખૂબ વિસ્તાર પામ્યું. વલી રાજાએ ઉપનિબંધ સહિત વીશ પુસ્તકો બત્યાદર પૂર્વક કાશ્મીર દેશમાં મોકલ્યાંઃ ત્યાં તે ભંડારમાં રાખવામાં આવ્યાં, કારણ કે સર્વ લોકો પોતાના વચનનો નિર્વાહ કરે છે તો દેવીની શી વાત કરવી?"

"હવે પોતાના કુલને શોભાવનાર એવો કાકલનામે એક કાયસ્થ હતો કે જે આઠ વ્યાકરણનો અભ્યાસી અને પોતાની પ્રજ્ઞાથી શેષનાગને જીતનાર હતોઃ તેને જોતાંજ આચાર્યે એ શાસ્ત્રના તત્ત્વાર્થને જાણનાર એવા તેને તરતજ અધ્યાપક બનાવ્યો. પછી પ્રતિમાસે જ્ઞાન પંચમીના દિવસે તે પ્રશ્નો પૂછી લેતો અને ત્યાં અભ્યાસમાં પ્રવૃત્ત થએલા વિદ્યાર્થીઓને રાજા કંકણાદિથી વિભૂષિત કરતોઃ એમ એ શાસ્ત્રમાં નિષ્પન્ન તૈયાર થયેલા જનોને રાજા રેશમી વસ્ત્રો, કનકભૂષણો, સુખાસન અને આતપત્રથી અલંકૃત કરતો હતો."

ઉપરની હકીકતથી જણાશે કે મહર્ષિ હેમચન્દ્રે સિદ્ધરાજની પ્રાર્થનાથી અનેક વ્યાકરણોનું દોહન કરીને આ ઉત્તમ સરલ સંપૂર્ણ વ્યાકરણની રચના કરી અને સિદ્ધરાજે બ્રાહ્મણોની ઈર્ષ્યાની દરકાર કર્યા વગર સારી રીતે તેનો પ્રચાર કરાવ્યો.

સિદ્ધરાજ પછી કુમારપાલ ગાદીએ આવતાં તેના રાજ્યમાં એ વ્યાકરણનો પ્રચાર સારી રીતે વૃદ્ધિ પામતો જણાય છે, કેમકે હેમચંદ્ર સૂરીશ્વરે સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસન ભણવાવાલાઓ વિશેષ વ્યુત્પન્ન બને તે ખાતર [1]દ્વયાશ્રયકાવ્ય કુમારપાલના રાજ્યમાં રચ્યું છે—એટલુંજ નહીં પણ સંસ્કૃત ભાષાના વિદ્વાન્ થઇ શૃંગારાદિ રસોથી પૂર્ણ કાવ્યો ભણી પોતાના જીવન બગાડવાને બદલે પ્રજાજનો આદર્શ સંસ્કૃતિવાલાં બને તે ખાતર યોગશાસ્ત્ર અને ત્રિષષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર જેવા મહાન્ આદર્શ [2]ગ્રન્થો રચી સન્માર્ગમાં વિચરવા ઇચ્છનાર વિદ્વાનો ઉપર મ્હોટો ઉપકાર કર્યો છે.

---

૧ જેમાં ક્રમે કરી છએ ભાષા શીખવનાર ઉપરોક્ત વ્યાકરણના સૂત્રોના ઉદાહરણની સાથે સાથે જ ચૌલુક્ય વંશનું ઉત્તમ વર્ણન પણ સલંગ આવે છે.

૨ મહર્ષિ હેમચંદ્રે રચેલ સાહિત્ય એટલું વિશાલ હતું કે સંવત્ ૧૩૩૪ ની ચૈત્ર માસની શુકલ સપ્તમી પુનર્વસુ નક્ષત્ર શુક્રવારના દિવસે પૂર્ણ કરેલ પ્રભાવક ચરિત્રમાં તેના કર્ત્તા પ્રભાચંદ્રસૂરિજી વર્ણવે છે (પૃષ્ઠ ૩૧૪) કે, "તેમણે બનાવેલ ગ્રંથો કેટલા છે તેની સંખ્યા મલવી મહા મુશ્કેલ છે તો મ્હારા જેવા મંદબુદ્ધિ તે ગ્રંથોના નામ પણ ક્યાંથી

પણ ગુજરાતના અને પરંપરાએ આખા હિંદુસ્તાનના દુર્ભાગ્યે ઇતિહાસ અજબ પલટો ખાય છે. સિદ્ધરાજે વ્યાકરણ તૈયાર કરાવતી વખતે જે બ્રાહ્મણોની ઈર્ષ્યા સામે બાથ ભીડી, તથા કુમારપાલે પણ જેને મચક ન આપી સાચા ગુણવાન્ મહર્ષિની શક્તિઓનો પૂર્ણ લાભ પોતે લીધો તથા રાષ્ટ્રને અપાવ્યો, તે ઈર્ષ્યાલુઓ સહન કરી શકયા નહીં અને તેઓને પડખે ચડેલા કુલકલંકી અજયપાલે કુમારપાલ મહારાજને ઝેર આપી મરાવ્યા; એટલુંજ નહીં પણ પોતાની ત્રણ વર્ષની ટુંકી રાજકારકીર્દીમાં કુમારપાલ મહારાજે કરાવેલાં ઉત્તમ કાર્યો નાશ કર્યાં, ગુજરાતના ગૌરવરૂપ અનેકશતનિબંધો રચી સંસ્કૃત સાહિત્યને સમૃદ્ધ બનાવનાર હૈમીય બૃહન્ન્યાસની જોડનો લઘુન્યાસ ૩૫૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચનાર રામચંદ્ર સૂરિને, અને મંત્રિઓમાં મુકુટ સમાન કપર્દીમંત્રિ આદિને કમોતે મરાવ્યાઃ એવા અનેક પાપો કરી અજયપાલ પોતાનાજ પ્રતિહારની છરીનો ભોગ થઇ પરલોક સિધાવ્યોઃ પરંતુ તેણે પોષેલા દ્વૈધીભાવે પાટણની રાજગાદીને હચમચાવી મૂકી અને થોડા વર્ષમાં પાટણ ગુજરાતની રાજગાદી રૂપે મટી ગયું. વીરધવલ રાજાએ પોતાની રાજગાદી ધોલકામાં સ્થાપીઃ મંત્રીશ્વર વસ્તુપાલે તથા વીરશિરોમણિ તેજપાલે અનેક ઉત્તમ કાર્યો અને પરાક્રમો કરી ગુજરાતનું ગૌરવ સાચવ્યુંઃ પરંતુ વીરધવલ રાજા પરલોક સિધાવતાં તેના કૃતઘ્ની [1]વારસદારે તેઓના ઉપયોગીપણાને ન ઓળખી ઈર્ષ્યાલુઓના છંદે ચડી તેમને છેલ્લી અવસ્થામાં અપમાનીત કર્યાઃ તેઓ પોતાનું ગૌરવ સાચવી શકયા, પરંતુ ગુજરાતમાં તથા એવીજ રીતે બીજા પ્રાંતોમાં ગુણવાનોના સ્થાનો ખુશામતિયોના હાથમાં જવાને લીધે હિંદુસ્તાન પરાધીનતાની બેડીમાં જકડાયું.

આવી સ્થીતિમાંએ આવા ગ્રંથરત્નોના રક્ષણ માટે પ્રયત્ન કરનાર તથા ઈર્ષ્યાના બદલામાં ઈર્ષ્યાને આધીન [2]નહીં થનાર અને વિઘ્નોથી બેદરકાર જૈન મુનિવરો તથા જૈન સદ્ગૃહસ્થોને ધન્યવાદ આપ્યા વગર રહેવાતું નથી કે જેમાં મુનિમંડલે અભ્યાસ પૂર્વક યથાશક્તિ એ ગ્રંથોને સાચવ્યાઃ તથા વૈભાગિક ગ્રંથો રચી સમૃદ્ધ બનાવ્યા અને સુશ્રાવકોએ તે તે આચાર્યાદિના સદુપદેશથી તે તે ગ્રંથરત્નોની પ્રતિયો [3]લખાવી ખરી જ્ઞાનભક્તિ કરી દેશના ગૌરવરૂપ વિદ્યા ધનને સાચવ્યુંઃ ઉપર વર્ણવાયેલા પ્રયત્નોના પ્રતાપે જે કાંઇ સાહિત્ય સિદ્ધ હેમશબ્દાનુશાસન સંબંધી અત્યારે પણ મલી આવે છે તે મારી જાણ પ્રમાણે નીચે નોંધવામાં આવે છે.

(૧) મહર્ષિ હેમચંદ્રસૂરિએ પૂર્વવ્યાકરણોની ક્લિષ્ટતા તથા સંકુચિતતા પરિહરી કરેલી હેમ વ્યાકરણની સૂત્રરચના, જે એવી ઉત્તમ છે કે અલ્પબુદ્ધિવાલા મનુષ્યો પણ કાંઇક પ્રયત્ન કરી મૂલ સૂત્રોને ગુરુગમથી ધારી લે તો તેઓ પણ (શ્રીહેમસૂરિએ બનાવેલ) હૈમધાતુપાઠાદિ સાધનોના યોગે સંસ્કૃત ભાષામાં ચંચુ પ્રવેશ કરી શકે (આ વિભાગ છપાઇ ગએલ છે); તેમાં પણ સોનામાં સુગંધી પ્રસરાવતી સૂત્રો ઉપરની (૨) લઘુ વૃત્તિ ૬૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચી છે (એની બે આવૃત્તિઓ છપાઈ ગઈ છે); (૩) કોઈ વિદ્વાને ઉદ્ધરેલ મધ્યમ વૃત્તિ ૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ છે (તેના ઉપર કોઇ વિદ્વાને રચેલી અવચૂરિ–સરલ ટીકા સાથે મુંબઈના લાલબાગ તરફથી છપાય છે); (૪) બૃહદ્વૃત્તિ ૧૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ છે જેની બીજી આવૃત્તિ છપાય છે એમ સાંભલ્યું છે); (૫) હૈમલિંગાનુશાસન અવચૂરિ સાથેનું પણ છપાએલ છે; (૬) મોટી ટીકા તથા દુર્ગપદ પ્રબોધાદિ સાથેનું શેઠ હીરાલાલ સોમચંદ તરફથી છપાય છે, તથા સુરતમાં વૈદ્યરાજ વિનોદચંદ્ર મોહનલાલ પાસેથી પણ, મૂળ હૈમલિંગાનુશાસનના અભ્યાસીઓને ઉપયોગી, એક હૈમલિંગાનુશાસનની અતિ સંક્ષિપ્તઅવચૂરિસાથેની પ્રત મલી છે જે પણ શીઘ્ર પ્રકાશિત કરવાનો ઇરાદો છે; (૭) હૈમધાતુ પારાયણ સટીક પણ છપાએલ છે; (૮) હૈમઅનેકાર્થ–ટીકામાંથી ચૂંટેલા વિભાગો સહિત છપાએલ છે; (૯) હૈમી નામમાલા–અનેક રૂપમાં મૂલ તથા ટીકા સાથે છપાએલ છે;

જાણતા હોય?" ચૌદમી સદીના વિદ્વાનોની આ સ્થિતિ હોય તો અત્યારે વીસમી સદીના તે પછીના અનેક આક્રમણોથી લુપ્ત તથા અવ્યવસ્થિત થએલ સાહિત્યના વારસદાર થએલા વિદ્વાનો એ કૃતિઓના જ્ઞાનથી વંચિત હોય એ સહજ છે.

૧ જે મંત્રિ વસ્તુપાલ તેજપાલના સુપ્રયત્નોથી જ રાજગાદી મેળવી શકયો હતો.

૨ આ વાતની સાક્ષી વર્તમાનમાં બચી રહેલા જૈન ભંડારોમાનાં દરેક મતના તાત્વિક ગ્રંથો તથા અનેક વિદ્વાન જૈનાચાર્યોએ રચેલ અન્યમતિ ગ્રંથોપરની ટીકાઓ પૂરે છે.

૩ અત્યારે પણ અનેક જૈન સંસ્થાઓ તથા ભારત વર્ષના પ્રાચીન વિદ્યા સાહિત્ય પ્રત્યે લક્ષ આપનાર સરકારી સંસ્થાઓ વિગેરે તરફથી જૈન સાહિત્યને વ્યવસ્થિત રીતે સાચવવા તથા વર્તમાન મુદ્રણકલાનો ઉપયોગ કરી છપાવવાના પ્રયત્નો ચાલુ છે. પ્રાયે દરેક વરસે કોઇને કોઈ અપૂર્વ ગ્રંથ વિદ્વાનોના કરકમલોને અલંકૃત કરે છે તે છતાં પણ વિદ્વાન જૈન મુનિઓનો સહકાર સાધી હજી પણ ઘણું સાહિત્ય ઉદ્ધૃત કરવા જેવું છે તથા છપાએલ પણ વ્યવસ્થિત કરવા જેવું છે, તે લક્ષ બહાર ન રહેવું જોઈએ.

(૧૦) હૈમ ઉણાદિ સટીક છપાએલ છે; (૧૧) દુર્ભાગ્યે હૈમ બૃહન્ન્યાસ પૂર્ણ મલતો નથી: જેટલો મલે છે, તે છપાવવાના પ્રયત્નો ચાલુ છે; (૧૨) હૈમ લઘુન્યાસ રામચંદ્રસૂરિકૃત મલતું નથી; (૧૩) લઘુન્યાસ ઉપરની દુર્ગપદ વ્યાખ્યા છપાઇ છે; બીજી આવૃત્તિ છપાય છે એમ સાંભળ્યું છે; (૧૪) દ્વયાશ્રય કાવ્ય છ ભાષામય સંપૂર્ણ છપાઈ ગએલ છે; (૧૫) કાવ્યાનુશાસન સટીક બે આવૃત્તિઓ છપાઇ ગઈ છે; (૧૬) પ્રમાણમીમાંસા સટીક બે આવૃત્તિઓ છપાઇ ગઈ છે; (૧૭) છંદોનુશાસન સટીક બીજી આવૃત્તિ છપાય છે; (૧૮) દેશી નામમાલા ત્રીજી આવૃત્તિ છપાય છે; (૧૯) ઉણાદિ સટીક છપાઈ ગયું છે; (૨૦) સટીક યોગશાસ્ત્ર; તથા (૨૧) ત્રિષષ્ટીશલાકા પુરુષનાં ગ્રંથો પણ છપાઈ ગયાં છે.

આતો મહર્ષિ હેમચંદ્ર સૂરિજીના પોતાના રચેલા તથા પોતે ટીકાથી સમૃદ્ધ બનાવેલા ગ્રંથોની કાંઇક વાત થઈ. હવે તે પછીના મહાપુરુષોએ કેવા પ્રયત્નો કર્યા તે જોઈએ. (૧) ૧૩ મી ૧૪ મી સદીમાં થએલ મહાકવિ અમરચંદ્ર સૂરિએ 'સ્યાદિશબ્દસમુચ્ચય' જેમાં સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસનમાં સાધેલા છએ લિંગના શબ્દોનો સંગ્રહ કરવામાં આવ્યો છે તેની રચના કરી. તેના ઉપર તેપછી થએલા શ્રીજયાનંદસૂરિએ (જેમણે હૈમલિંગાનુશાસન ઉપરની મોટી ટીકાને પણ સંક્ષિપ્ત રૂપમાં ઉદ્ધૃત કરી જણાય છે). પોતાના શિષ્ય દેવરત્નના ભણવા માટે ટીકા રચી છે (આ ગ્રંથ છપાઇ ગએલ છે). (૨) અનેક ગ્રંથ રચનાર દિવ્યગુણધારી ગુણરત્નસૂરીશ્વરજીએ સંવત્ ૧૪૬૬ માં હૈમવ્યાકરણમાં કથેલ ઘણા ઉપયોગી ધાતુઓના રૂપોને સફલતાથી સમજાવનાર 'ક્રિયારત્ન સમુચ્ચય'ની રચના કરી છે (આ પણ છપાઈ ગયેલ છે). (૩) અનેક વિદ્યાઓમાં પારંગત લોક ભાષાથી લઇને ગીર્વાણ ભાષા સુધીમાં અનેક ગ્રંથો રચી લોકોપકારક થએલા હેમહંસગણિએ હૈમવ્યાકરણમાં સાક્ષાત્ વર્ણવેલા અથવા સૂચવેલા વ્યાકરણ સંબંધી ન્યાયોને વિસ્તૃત રૂપે સમજાવનાર 'ન્યાયાર્થ મંજુષા'ની સંવત્ ૧૫૧૫ માં, તથા તે પછી તે ઉપર ન્યાસની પણ રચના કરી છે. સૌત્ર ધાતુઓનો અર્થ સાથેનો વિસ્તૃત સંગ્રહ આ ગ્રંથ સિવાય ભાગ્યેજ બીજા ગ્રંથમાં મલી શકશે. (આ પણ છપાઈ ગએલ છે.) (૪) શ્રીમેઘવિજયજીગણિએ સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસનના સૂત્રોને સિદ્ધાંતકૌમુદીની ઢબે ગોઠવી તે ઉપર લઘુ મધ્યમ બૃહદ્વૃત્તિઓ રચી છે. (બૃહત્-ટીકા યુક્ત આ ગ્રંથ ચંદ્રપ્રભા (હૈમકૌમુદી) નામે છપાઈ ગએલ છે.) (૫) તે સિવાય પણ અનેક અજ્ઞાત-નામ મહાત્માઓએ તથા શ્રીસિદ્ધચંદ્રગણિએ રચેલ અવચૂરિઓના અંશો પાટડી, મોહનલાલજી લાયબ્રેરી મુંબઈ તથા બીજે સ્થલે પણ લિખીત રૂપે મળે છે. એટલુંજ નહીં પણ કોઇ મહાપુરૂષે તો આ વ્યાકરણ અલ્પબુદ્ધિવાલા ફક્ત ગુજરાતી ભાષા જાણનાર પણ ભણી શકે તે ખાતર તેના ઉપર ગુજરાતી અર્થો તથા સમજુતી આપી છે: જેનો અમુક ભાગ અત્યારે પણ દેવચંદ લાલભાઇના પુસ્તકાલય સુરતમાં ઉપલબ્ધ છે: કોઈ મહાન્ આચાર્યોએ વ્યાકરણના આઠે અધ્યાયોપર મહર્ષિ હેમચંદ્રની ટીકામાં દર્શાવેલા ઉદાહરણોને સંપૂર્ણ રીતે સમજાવનાર બૃહત્ તથા લઘુ ઢુંઢિકા નામે ટીકાઓ પણ રચેલી છે જે મલી શકે તો ખાસ પ્રકાશ કરવા લાયક છે. સોલમી સદીમાં હર્ષકુલગણિએ હૈમધાતુપાઠને અર્થ સાથે કવિતા રૂપે ગુંથીને તેને યથાર્થ 'કવિકલ્પદ્રુમ' એવું નામ આપી જનતાને ઉપકૃત કરી છે. હૈમ વિભ્રમાદિ ગ્રંથો પણ તે તે કાલે મહા ઉપકારી પુરુષોએ રચ્યા છે: હૈમ બૃહન્ન્યાસ તથા બૃહદ્વૃત્તિના કેટલાક ભાગો શ્રી સોમસુંદરસૂરિ મહારાજ આદિના ઉપદેશથી લખાએલા મલે છે. વલી અકબર પ્રતિબોધક જૈનશાસનનભોમણિ જગદ્ગુરુ વિજયહીરસૂરીશ્વરજીએ તો કાલ પ્રભાવે વિશૃંખલ થએલ સિદ્ધહેમ પરની વિસ્તૃત તત્ત્વપ્રકાશિકા નામની બૃહદ્વૃત્તિને વ્યવસ્થિત કરવા સ્તંભતીર્થ (ખંભાત) નિવાસી વૃદ્ધ શાખા તથા ઉકેશ જ્ઞાતિના સંઘપતિ ઉદયકરણ સોમકરણને ઉપદેશ આપી તેની સહાયતા દ્વારા શ્રી સોમવિજય ઉપાધ્યાયને ભૂધી નામના ભટ્ટ (કે જે મહાભાષ્યાદિ મહાવ્યાકરણોના અખંડ અભ્યાસી હતા) ની પાસે ભણાવ્યા અને તે મહોપાધ્યાયજી શ્રી સોમવિજયજી મહારાજે સારી રીતે અભ્યાસ પૂર્વક સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસન બૃહદ્વૃત્તિ વ્યવસ્થિત કરી તપગચ્છના ઘણા ગીતાર્થમુનિઓને ભણાવી: એટલુંજ નહીં પણ તેના પ્રતાપે સિદ્ધહેમ વ્યાકરણને યથાર્થ રીતે પ્રકાશનાર એક મહાપુરૂષ પણ ઉત્પન્ન કર્યા.

હૈમપ્રકાશના કર્તા તથા તેમનાં દીક્ષાગુરુ અને વિદ્યાગુરુ.

મહોપાધ્યાય શ્રી સોમવિજયજી મહારાજના સંસારી અવસ્થાના સગા ભાઇ અને દીક્ષિત અવસ્થામાં ગુરુભાઇરૂપે શ્રી કીર્તિ વિજયજી મહારાજ મહોપાધ્યાય થયા: તે મહોપાધ્યાય કીર્તિવિજયજી મહારાજના

શિષ્ય મહોપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી થયા; તેમણે વિદ્યાગુરુ રૂપે મહોપાધ્યાય શ્રી સોમવિજયજી મહારાજને સ્વીકાર્યા અને તેઓશ્રીની પાસે વિદ્યાભ્યાસ કરીને લોકપ્રકાશ જેવો અજોડ સિદ્ધાંતદોહન-રૂપ ગ્રંથ તથા મહાશાસ્ત્ર શ્રી કલ્પસૂત્ર ઉપર અત્યાર સુધી એકજ ધારાએ દરેક ઠેકાણે વંચાતી સુબોધિકા વૃત્તિ તથા વિદ્વદ્ભોગ્ય તથા સામાન્ય જનતાને પણ ઉપકારક શાંત સુધારસ, શ્રીપાલરાસ, સ્તવનાદિ અનેક ગ્રંથરત્નો રચ્યાઃ એટલુંજ નહીં પણ વ્યાકરણ વિષયમાં જાણે, મહર્ષિ હેમચંદ્રના જ અવતાર એવા સોમવિજય મહારાજને વિદ્યાગુરુરૂપે પામી, શ્રી હેમચંદ્ર મહારાજે પૂર્વવ્યાકરણોના દોહન-રૂપ વ્યાકરણસૂત્રોની રચના કરી હતી તેમ વિનયવિજયજી મહારાજે પ્રથમ તો જેઓ ગામડીઆ જેવી બુદ્ધિવાલા હોવાને લીધે હૈમવ્યાકરણરૂપી રત્નને અંગીકાર ન કરી શકતા હોય તેમને હૈમવ્યાકરણરૂપ મહાવ્યાકરણમાં પ્રવેશ કરાવનાર, તથા હૈમવ્યાકરણમાં અષ્ટાધ્યાયીના ક્રમના લીધે કાંઈ પણ ક્લિષ્ટતા જણાતી હોય તો તેને પણ સર્વથા દૂર કરનાર[1] હૈમલઘુપ્રક્રિયાનામના સરલ વ્યાકરણની સંવત્ ૧૭૧૦ માં રાધનપુરમાં રચના કરીઃ તેપછી સંવત્ ૧૭૩૭ માં તે હૈમલઘુ પ્રક્રિયા ઉપર, જેમ મહર્ષિ હેમચંદ્રે પોતાના વ્યાકરણ ઉપર વ્યાકરણના દરેક વિષયને તલસ્પર્શીરીતે ચર્ચનાર બૃહન્ન્યાસની રચના કરી હતી તેમ, હૈમ લઘુપ્રક્રિયાપર મોટી ટીકાની રચના કરી, અને તેને યથાર્થ વિનય સાચવનાર વિનયવિજયજી-મહારાજે પોતાને નામે ન ચડાવતાં મહર્ષિ હેમચંદ્રના વ્યાકરણને યથાર્થ પ્રકાશ કરનાર 'શ્રીહૈમપ્રકાશ'-રૂપેજ પ્રસિદ્ધ કરીઃ સદ્ભાગ્યે તેનો (હૈમપ્રકાશ—મહાવ્યાકરણનો) પૂર્વાર્દ્ધ છપાઈ—ગયો છે, જેને અવલોકતાં એમ જણાઈ આવેછે કે વિનયવિજયજી મહારાજે જડબુદ્ધિવાલા જીવોને માટે હૈમવ્યાકરણ-રૂપ મહાપ્રાસાદનો પ્રવેશદ્વાર રચવાની સાથે તે વ્યાકરણની સંપૂર્ણતાનો પ્રકાશ જનતા આગલ કર્યો છે અને હૈમલઘુપ્રક્રિયા જેવા નાના વ્યાકરણને પણ મહાવ્યાકરણની કોટીએ લાવી મુકયું છે.

હૈમપ્રકાશના જુદા જુદા સત્તર વિભાગોમાં સ્ફુટ કરેલા વિષયો.

૧ હૈમપ્રકાશ પૂર્વાર્દ્ધના પ્રથમ સંજ્ઞાપ્રકરણમાં હૈમલઘુપ્રક્રિયામાં જે સ્વર વ્યંજનાદિ સંજ્ઞાઓમાં કેટલીક સંજ્ઞાઓ કઠિન હોવાને લીધે [2]એમને એમજ બતાવી દેવામાં આવી હતી તે એવી સ્પષ્ટ રીતે સમજાવવામાં આવી છે કે જેથી તે ભણનાર સંજ્ઞાઓના જાણકાર થવાની સાથે હૈમવ્યાકરણના પ્લુત પ્રકરણ તથા પરિભાષા વિભાગ જેવા કઠિન વિભાગોનો વેત્તા થાયછે, એટલુંજ નહિ પણ શ્રીહેમહંસગણિએ રચેલા 'હૈમન્યાય મંજુષા' જેવા કઠિન ગ્રંથના ભાવાર્થને પણ સરલતા પૂર્વક સમજી પછી તે મૂલ ગ્રંથનો પણ અભ્યાસી થઈ શકે છેઃ આ વિભાગે સુપરરોયલ ૮ પેજી ગ્રંથના ૬૧ પેજ રોકેલ છેઃ તેમાં કેટલાક અપૂર્વ ઐતિહાસિક સત્યો પણ જાણવાને મળેછે.

૨ સ્વરસંધિવિભાગમાં સંસ્કૃત ભાષામાં સ્વરો એક બીજાની નજીક આવતા કયારે ભેગા થાયછે, થાય તો કેવી રીતે અને કયા અર્થોમાં તે જણાવવાની સાથે હૈમલઘુપ્રક્રિયામાં કઠિન જાણીને છોડી દીધેલા વિષયોને પણ સુગમતાથી ચર્ચવામાં આવ્યા છે.

૩ અસંધિવિભાગમાં સંસ્કૃત ભાષામાં કયારે કેવી રીતે કેવા અર્થોમાં સ્વરો એક બીજાની પાસે આવવા છતાં અલગ રહેછે તે સવિસ્તર સમજાવવા સાથે હૈમવ્યાકરણમાં ઉદાહરણરૂપે આપેલ શબ્દોના અર્થો બહુજ ખુબીથી સમજાવવામાં આવેલ છે.

૪ વ્યંજનસંધિવિભાગમાં સંસ્કૃત ભાષાના વ્યંજનો પરસ્પર નજીકમાં આવતા તથા કેટલાક વ્યંજનો બે સ્વરોની વચ્ચે આવતા, વિદ્યાર્થીઓને જે ગુંચવણમાં મૂકી દે છે તે ગુંચવણનો ઉકેલ બહુજ સરલતાથી અને પદ્ધતિસર કરવામાં આવ્યો છે કે જેથી અભ્યાસ કરનાર વિદ્યાર્થી કદી પણ વ્યંજન-સંધિમાં ભૂલ કરનારો ન થાય.

૫ રેફસંધિવિભાગમાં કે જે વિભાગ સંસ્કૃતવ્યંજનોમાં સંધિ વિભાગના ઘણાજ સૂત્રો રોકી વિદ્યાર્થીઓને ગુંચવણમાં મુકે છે તેને કેવી રીતે કાબુમાં લેવો તે શીખવવામાં આવ્યું છેઃ સાથેજ હૈમપ્રકાશના ૭ મા પાદમાં વર્ણવેલ 'ષત્વ' પ્રકરણના સ્યાદિમાં આવશ્યક વિભાગને કુશલતાથી ગુંથી તે વિષયના જ્ઞાનથી

---

૧ કે જેમાં સુગમતાની દૃષ્ટીએ પૂર્વાર્દ્ધ અને ઉત્તરાર્દ્ધ એવા બે વિભાગો કરી તે વિભાગોના પ્રવેશક દૃષ્ટીએ પોતપોતામાં પૂર્ણતાવાલા નાના પેટા વિભાગો રચી વિદ્યાર્થીઓને સરલતા કરી આપી છે.

૨ જેમ નાની ઉમરના બાલકોને ગુણાકાર આદિ કેમ થાયછે તે જણાવ્યા વગર ભવિષ્યમાં ઉપયોગી જાણી ગુણાકાર ગોખાવવામાં આવે છે અને મોટી ઉમરના સમજદાર બાલકોને તે ગુણાકારોની યથાર્થતા સમજાવવામાં આવેછે.

પણ વિદ્યાર્થીઓને વંચિત રહેવા દીધા નથીઃ રેફસંધિ સંસ્કૃતપદો તથા સંસ્કૃત કવિતાપર પણ જે અસર કરે છે તે પણ સ્પષ્ટતાથી વર્ણવાયું છેઃ આ પાંચે પ્રકરણોમાં સંસ્કૃત વ્યાકરણરૂપી ચણતરના મૂલ પાયારૂપ પંચસંધિની રચના પૂર્ણ થાયછે. તે પછી વિભક્તિ નામનો સંસ્કૃતના ષટ્‌લિંગ (પુલિંગ સ્ત્રીલિંગ નપુંસકલિંગ પુંસ્ત્રીલિંગ પુન્નપુંસકલિંગ સ્ત્રીનપુંસકલિંગ)ના શબ્દો ઉપર કાબુ મેળવવા શીખવનાર વિભાગ પેજ ૮૭ થી શરૂ થાયછે. તેના પણ બાલવિદ્યાર્થીઓની સુગમતા ખાતર ૬ પેટા વિભાગ પાડવામાં આવ્યા છે.

૬ સ્વરાંત પુંલ્લિંગ વિભાગનો જાણકાર ગમે તે કોઈ પણ સ્વર જેની અંતમાં આવે એવા સ્વરાંત સંસ્કૃત પુંલ્લિંગ શબ્દોના સાતે વિભક્તિઓનાં તથા સંબોધનના રૂપો સુગમતાથી બનાવી શકે છે. આ વિભાગમાં સર્વાદિ (સર્વનામો) ને તેના યથોચિત અર્થ સહિત સમજાવી વિનયવિજયજી મહારાજે હદજ કરી છે.

૭ સ્વરાંત સ્ત્રીલિંગ શબ્દોના રૂપો કેમ કરવા તે શીખવ્યું છે.

૮ સ્વરાંત નપુંસકલિંગ શબ્દોના રૂપો કરી બતાવ્યાં છે.

૯ વિદ્યાર્થીઓને વ્યંજનાંત પુલ્લિંગ શબ્દો સાધતા શીખવ્યા છે.

૧૦ વ્યંજનાન્ત સ્ત્રિલિંગ શબ્દોના સાતે વિભક્તિઓનાં રૂપો દાખવ્યા છે.

૧૧ વ્યંજનાન્ત નપુંસકલિંગ શબ્દોના રૂપો પણ એવીજ સુગમતાથી કરતા શીખવ્યા છે.

દરેક વિભાગ એવી રીતે વ્યવસ્થિત કરવામાં આવ્યો છે કે જેથી તે તે વિભાગના જાણકાર વિદ્યાર્થીને તે પછી આવતો વિભાગ અડધો તો ગુરુની સહાયતા વગર પણ બેસી શકેઃ

ષટ્‌લિંગની વ્યાખ્યામાં જણાવેલ પાછલના ત્રણ જાતના શબ્દો બે બે જાતના રૂપને પામે છેઃ કેટલાક શબ્દો ત્રણે લિંગોમાં પણ વપરાય છેઃ તે બધાનાં રૂપોપણ સ્વરાંત શબ્દ હોય તો ૬, ૭, ૮ વિભાગના બલથી અને વ્યંજનાંત શબ્દ હોય તો ૯, ૧૦, ૧૧ વિભાગના બલથી આ વ્યાકરણનો કોઈ પણ સાચો અભ્યાસી કરી શકે છે.

૧૨ યુષ્મદ્ અને અસ્મદ્ એ બે શબ્દો ત્રણે લિંગમાં એક સરખાં રૂપો ધારણ કરનાર હોવા છતાં પણ ઘણીજ વિલક્ષણ રૂપરાશિને પામે છે એમ જાણી મહોપાધ્યાયશ્રીએ તેમને આ પ્રકરણમાં સ્વતંત્રજ રાખી પૂરી રીતે સમજાવ્યા છે.

૧૩ સંસ્કૃતમાં કેટલાક એવાં નામો છે કે જે દરેક લિંગમાં, દરેક વિભક્તિમાં, દરેક વચનમાં કોઈ પણ જાતના ફેરફાર સિવાય એકજરૂપે રહી વિભક્તિ માત્રના અર્થને આપેછેઃ જ્યારે કેટલાક સાતે વિભક્તિઓને બદલે અમુક વિભક્તિઓમાં અથવા અમુક અર્થમાંજ એ વિશિષ્ટતાને ધારણ કરેછેઃ તે બધા આ અવ્યયપ્રકરણમાં ફક્ત નામનિર્દેશમાત્ર નહીં પણ તેઓના અર્થો તથા પ્રયોગોસહિત ઓળખાવવામાં આવ્યા છેઃ અર્થની સ્પષ્ટતા ખાતર પ્રૌઢમનોરમા તથા હૈમબૃહન્ન્યાસ જેવા મહાન્ ગ્રંથોનો યથોચિત ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છેઃ દરેક જાતની ક્લિષ્ટતા દૂર કરીને હૈમવ્યાકરણના અષ્ટાધ્યાયીક્રમના યોગે વિખરાએલ અવ્યય સંબંધી જ્ઞાનને એકજ સ્થળે વ્યવસ્થિત રીતે ગોઠવ્યું છે. ધાતુઓ પૂર્વે ખૂબજ ઉપયોગમાં આવતા ઉપસર્ગો (અવ્યયોનો એક વિભાગ) ના વિસ્તૃત અર્થો આ ગ્રંથ સિવાય ભાગ્યેજ બીજા ગ્રંથમાં મલી શકે છે. આ અર્થો હૈમબૃહન્ન્યાસમાં મહર્ષિ હેમસૂરિએ દર્શાવેલા છે ત્યાંથી ઉપાધ્યાયશ્રીએ વિદ્યાર્થીઓના ઉપકાર ખાતર લીધા છે.

આ વિભાગ સુધી તો હૈમલઘુપ્રક્રિયામાં આવેલ દરેક સૂત્રની વ્યુત્પત્તિ પણ હૈમપ્રકાશમાં દેખાડવામાં આવેલ છે, જે વિદ્યાર્થીને વ્યુત્પન્ન થએલ જાણી તે પછીથી પડતી મુકવામાં આવીછે.

૧૪ માં સંસ્કૃત શબ્દોના વિશેષલિંગના જ્ઞાનમાટે સ્ત્રીલિંગ શબ્દો પુલ્લિંગ શબ્દોપરથી કેવી રીતે અથવા કેવા અર્થમાં બને છે તે સ્પષ્ટતાથી બતાવવામાં આવ્યું છે. આ પ્રકરણના અભ્યાસથી ઘણા ઉપયોગી શબ્દોની (જે મોટા ગ્રંથોમાંથી પણ સહેજે ન જડી શકે) [1]જાણકારી મલી શકેછે. હૈમપ્રકાશમાં ૧૩ અને ૧૪ મા ભાગની પ્રશસ્તિ ભેગીજ આપી છે.

ઉપાધ્યાયજી મહારાજ દરેક વિભાગના છેડે પ્રશસ્તિ આપેછે જેમાં પોતાના નામમાં યથાર્થપણે રહેલ વિનય ગુણને પ્રકટ કરતા હોય તેમ પોતાના સંસારીપણાના ઉપકારી માતાપિતા **રાજશ્રી** તથા **તેજપાલ** અને સંસારથી તારનાર ગુરુમહારાજ વાચક**કીર્ત્તિવિજય** મહારાજનું તેતે ઉપકારી રીતે સ્મરણ કરી દરેક પ્રકરણની સમાપ્તિ સૂચવે છે.

---

૧ તે શબ્દોની જાણકારી ખાસ ઉપયોગી જાણી પ્રકાશિત ગ્રંથમાં હૈમબૃહદ્‌વૃત્તિ આદિના અનુસારે ફૂટનોટમાં તે તે ઠેકાણે ઉચિત ટિપ્પની આપવી યોગ્ય ધારી છે અને તે કાર્ય ગ્રંથના અંત ભાગ સુધી યથાસ્થાન ટિપ્પનીઓ આપી ચાલુ રાખવામાં આવ્યું છે.

૧૫ કારક વિભાગમાં તો ગ્રંથકર્ત્તાએ આ વિભાગની કઠિનતા અને વિશાલતા બતાવવા સાથે કઠિન વિષયોને પણ પોતાની સરલતાપૂર્વક અને હૃદયંગમ ભાષાથી પરિચય કરાવવાની શક્તિ દેખાડી આપી છે આ ભાગનો અભ્યાસ કરવાથી કઈ કઈ વિભક્તિઓ ક્યા ક્યા અર્થમાં ક્યારે ક્યારે વપરાય છે તે જાણવાની સાથે તે તે વિષય સંબંધી પ્રાચીનપ્રામાણિક ભર્તૃહરિના વાક્યપદીયથી માંડી ગ્રંથકર્ત્તાની નિકટમાં રચાએલ વૈયાકરણભૂષણસારાદિ વ્યાકરણગ્રંથોના અભિપ્રાયો પણ સ્પષ્ટતાપૂર્વક નામ નિર્દેશસાથે અપાએલ છે. સિદ્ધાંતકૌમુદી વાક્યપ્રકાશાદિ ગ્રંથોનો પણ તેતે સ્થળે ઉદારતા પૂર્વક નામનિર્દેશસાથે ઉપયોગ કરવામાં આવેલ છે. દુષ્પ્રાપ્ય એવા હૈમબૃહન્ન્યાસના કારક સંબંધી વિષયને એવા સરલરૂપે ગોઠવ્યો છે કે મૂલ હૈમબૃહન્ન્યાસ સાથે ઉપાધ્યાયશ્રીએ કરેલ તેના સંક્ષિપ્ત સુંદર સ્વરૂપને સરખાવતાં ચિત્ત પ્રફુલ્લિત થાય છે. વ્યાકરણ જેવા લુખ્ખા વિષયને પણ વિદ્વાનો કેવો રસમય બનાવી શકે છે તેનો ચિતાર આંખ આગલ ખડો થાયછે તથા તે મહાપુરૂષની ઉપકારક અને તાત્વિક દ્રષ્ટિ આગલ માથું નમે છે.

૧૬ સમાસના લક્ષણથી ચાલુ કરી સમાસના વિભાગો અને તે વિભાગોના પેટા વિભાગો ખૂબજ વિસ્તૃતરીતે સમજાવવામાં આવ્યા છે. સમાસના જુદા જુદા વિષયો કે જે હૈમલઘુપ્રક્રિયામાં વિદ્યાર્થીને પ્રવેશ કરવા પૂરતા શીખવવામાં આવ્યા હતા તે હૈમપ્રકાશમાં સંપૂર્ણ સાંગોપાંગ ચર્ચી વિદ્યાર્થીઓને મહાકાવ્યોમાં પણ પ્રવેશ કરાવી શકે એવી રીતે સમજાવવામાં આવ્યા છે, જે વાંચતા જાણે હૈમબૃહદ્‌વૃત્તિનું સરળ રૂપાંતર વાંચતા હોઇએ તેવો આનંદ અનુભવાય છે.

૧૭ તદ્ધિત વિભાગ કે જે પૂર્વાર્દ્ધમાં છેલ્લો હોવા છતાં પણ પ્રકાશિત ગ્રંથના ખીચોખીચ ભરેલા આશરે ૧૪૬ પૃષ્ઠ જેટલા વિભાગને રોકે છે. તદ્ધિત વિષયમાં મહર્ષિ હેમચંદ્રે પોતાના મહાવ્યાકરણના બે અધ્યાય રોકેલા છે તેનો અત્યુપયોગી સંક્ષિપ્ત પરિચય હૈમલઘુપ્રક્રિયામાં આપવામાં આવેલ છે: પણ હૈમ-પ્રકાશમાં તેના સંપૂર્ણ સૂત્રોને એવી વ્યવસ્થિત રીતે ગોઠવી ટીકા આદિથી એવા તો સુગમ બનાવવામાં આવ્યાં છે કે જેથી આ વ્યાકરણના અભ્યાસીઓ તદ્ધિતમૂઢાવૈયાકરણા એ ઉકિતને બદલે તદ્ધિતકુશલાવૈયા-કરણા એ ઉકિતના પાત્ર બને છે. એ તદ્ધિત પ્રકરણને પણ ઉપાધ્યાયજીએ અનેક વિભાગોમાં વ્હેંચી તે તે વિભાગોમાં તત્તદ્ગત વિષયોને સરલતા અને સુબોધતા પૂર્વક ચર્ચ્યા છે.

હૈમશબ્દાનુશાસનની મોટી ટીકામાં આપેલ ગણપાઠો પણ યથાસ્થાન શબ્દસંખ્યાપૂર્વક આપવામાં આવ્યા છે: સમાસ પ્રકરણ આદિમાં આવેલા ગણપાઠો પણ એવીજ રીતે યથાસ્થાન આપવામાં આવ્યાછે અને આમ કરીને ભાષાના ક્રોડ રજ્જુરૂપે ગણાતા વાકયના વિશેષણવિભાગ જેને ઈંગ્લીશ ગ્રામરોમાં સબ્જેક્ટરૂપે ઓલખવામાં આવે છે તેની સમજુતીરૂપ પૂર્વાર્દ્ધ પૂર્ણ કરી ત્રણવૃત્તિરૂપે વ્હેંચાએલ વ્યાકર-ણની પ્રથમ વૃત્તિ પૂર્ણ કરી છે. ઉત્તરાર્દ્ધ પ્રકાશિત થએ બીજી બે વૃત્તિઓમાં આખ્યાત અને કૃદંતના વિષયો કેવી ખૂબીથી ઉપાધ્યાયજી મહારાજે વિદ્યાર્થીઓના ઉપકાર અર્થે છણ્યા છે તે જાણવા મળશે: હાલતો તેની ઝાંખી પ્રકાશિત થએલ હૈમલઘુપ્રક્રિયાના ઉત્તરાર્દ્ધથીજ કરાવી શકાય એમ છે. સંપૂર્ણ ગ્રંથ સંબંધમાં એટલુંજ કહેવું બસ થશે કે જેમ મહર્ષિ હેમચંદ્રે પ્રાપ્ત થએલ સંપૂર્ણ વ્યાકરણ સામગ્રીનો યથાર્થ ઉપયોગ કરી નવીન સરલ શબ્દશુદ્ધિકારક વ્યાકરણ જનતાને અર્પ્યું, તેવીજ રીતે [1]ઉપાધ્યાયજીશ્રી વિનયવિજયજી મહારાજે તેમના જેવા સંક્રમકાલમાં જે સામગ્રી મલી તેનો યથાર્થ ઉપયોગ કરી અનેક મહાન્ ગ્રંથ રચના ક્રિયોદ્ધાર આદિ મહા પ્રયત્નોમાંથી પોતાના અમૂલ્ય ટાઈમને ફાજલ પાડી હૈમવ્યાકરણના પ્રકાશને સર્વદેશીય બનાવી સર્વ જનતા ઉપકૃત કરીછે. ઇતિ શમ્

उपाध्याय क्षमाविजय गणी
(पंजाबी).

---

૧ આ મહાપુરૂષનું સંપૂર્ણ જીવનચરિત્ર તથા તેમના ગ્રંથોનો વિસ્તૃત પરિચય ઉત્તરાર્ધ પ્રકાશિત થયે આપવાની અભિલાષા છે. આ કાર્યમાં સહાયભૂત થનારા સાધનોની માહિતી આપવા સાક્ષરવર્ગને પ્રાર્થના છે.

માંગરોલ નિવાસી શા. સોમચંદ ઓતમચંદ



જન્મ સં. ૧૯૨૮
જેઠ વદ ૭

સ્વર્ગ સં. ૧૯૮૩
ભાદરવા વદ ૦)૦)
અમાસ

PREMIER ART PRINTING WORKS
FORT, BOMBAY

સ્વર્ગવાસી શાહ સોમચંદ ઓતમચંદના
જીવનની ટુંક રૂપરેખા.

જે શેઠ સોમચંદ ઓતમચંદની જ્ઞાનરુચિના પ્રતાપે આ પુસ્તક પ્રગટ કરી શકાયું છે તેમના જીવનની ટુંક રૂપરેખા નીચે આપવામાં આવે છે.

જન્મસ્થળ અને કુટુંબ.

મુંબઇના શેર બજારમાં શેર દલાલોની મોટી સંખ્યા માંગરોલના જૈનોની છે. એ માંગરોલ બંદર કાઠિયાવાડમાં આવેલું છે અને ત્યાં હાલમાં નવાબ સાહેબનો રાજ્ય અમલ છે. એ માંગરોલ બંદર, રાજા કુમારપાલના વખતમાં મંગળાપૂરીના નામથી પ્રખ્યાત હતું, અને અનેક સાહસિક વેપારીઓનું એ જન્મસ્થલ હતું.

એ માંગરોલમાં સંવત્ ૧૯૨૮ ના જેઠવદ ૭ના દિવસે પિતાશ્રી ઓતમચંદ ઠાકરસીને ત્યાં માતા શ્રી માનકોરબાઈની કુખે શેઠ સોમચંદભાઈનો જન્મ થયો હતો. તેઓ જ્ઞાતે દશા શ્રીમાલી જૈન વાણિયા હતા અને ધર્મે મૂર્તિ પૂજક હતા. શેઠ ઓતમચંદને નીચે પ્રમાણે છ પુત્રો હતા, જેમાં શેઠ સોમચંદ પાંચમા હતા:—

શેઠ શેષકરણભાઈ	શેઠ સૌભાગચંદભાઈ	શેઠ સોમચંદભાઈ
શેઠ ગુલાબચંદભાઈ	શેઠ સુંદરજીભાઈ	શેઠ સવચંદભાઈ

ઉપલા છ ભાઇઓ વચ્ચે એક બ્હેન પણ હતાં, જેમનું નામ દેવકોરબેન હતું. સૌથી મોટાભાઈ શેષકરણ, માસ્તર તરીકે પ્રખ્યાતી પામ્યા હતા. સુંદરજીભાઈ પોતાની ઉદારવૃત્તિ માટે જાણીતા થઈ છગન બાપા તરીકે ઘણાઓના પ્રેમપાત્ર બન્યા હતા અને મુંબઈના શેર બજારના દલાલ તરીકે સારી નામના મેળવી હતી. સૌથી નાના ભાઈ સવચંદભાઈ દિલના એટલા બધા માયાળુ અને પરોપકારી હતા કે ઘણાઓ તેમને "રાજા" કહી બોલાવતા અને તેમણે પોતાના જીવનનો ઘણો ભાગ અરબસ્તાન બાજુ ગાળ્યો હતો.

બાલ્યકાળ તથા મુંબઈમાં આગમન.

સંવત ૧૯૨૮માં શેઠ સોમચંદનો જન્મ થયો હતો. તે વખતે માંગરોલમાં શેઠ ઓતમચંદ ઠાકરસી ધંધો કરતાં હતાં અને પ્રમાણિકપણે પોતાના મોટા કુટુંબનું પાલન પોષણ કરતાં હતાં. શેઠ સોમચંદને શેઠ ઓતમચંદે પ્રાથમીક ગુજરાતી ભાષાની કેળવણી માંગરોલમાં આપી હતી. પણ તે એવી ન હતી કે જે ઉંચા પ્રકારની કહી શકાય થોડુંક હિસાબનું જ્ઞાન, નામું લખવાનું જ્ઞાન અને થોડુંક વ્યવહારિક જ્ઞાન, એ જ શેઠ સોમચંદની બાલ્યકાળની કેળવણી હતી. આર્થીક સ્થિતિ શ્રીમંત ન હોવાના કારણે માત્ર ૧૪ વર્ષની ઉમરે શેઠ સોમચંદે માંગરોળ છોડ્યું અને મુંબઈ તરફ રવાના થયા. ત્યાં તેઓ માંગરોલ નિવાસી જૈનધર્માભિમાની શેઠ કરમચંદ કલ્યાણજીની મુળજી જેઠા મારકેટમાં આવેલી કાપડની દુકાનમાં માસિક રૂપીયા ચારના પગારથી નોકરીપર ચઢ્યા અને પોતાના કિસ્મતનો આગળ આવવાનો માર્ગ ખુલો કર્યો. આ કાપડની દુકાનપર તેઓ સવારે વહેલા જઈ દુકાન સાફ કરી ગાદી તકિયા બિછાવતા અને તે બાદ આખો દિવસ કાપડના તાકા આપવા લેવાનું કાર્ય કરતાં. દુકાનના કામ માટે તેઓને કરાંચીમાં સવા વરસ જવું પડયું હતું. માસિક રૂપીયા ચારનો પગાર તેમના શરીર નિર્વાહ પૂરતો ન હતો તેથી તેઓ કેટલીક વખત દિવસમાં એક ટંક પણ જમતા અને પોતાનું જીવન નિભાવતાં.

એમ કરતાં વર્ષો વિતવા લાગ્યાં; કાપડની દુકાનની નોકરીમાં તેઓએ જોયું કે ભવિષ્ય બહુ સારૂં ન હતું. એ કારણથી તેઓએ બીજી નોકરીની શોધ કરવા માંડી.

શેર બજારમાં.

એ વખતે શેર બજારમાં દલાલોને ત્યાં સારી દલાલી થતી હોવાથી તેઓએ શેર બજાર તરફ નજર દોડાવી. શેર બજારમાં શેઠ પ્રેમચંદ ગીરધર એક સારા દલાલ હતા. તેમને ત્યાં તેઓ નોકરી રહ્યા. જે દરમીયાન તેઓના શેઠનું ચાંદી બજારનું કામ પણ કરવું પડતું અને પોતે ઝવેરાતની દલાલી પણ કરતા હતા. આ પ્રમાણે શેર બજારમાં અનુભવ મેળવ્યો. એ અનુભવના પરિણામે શેઠ સોમચંદે, સંવત્ ૧૯૬૨ માં શેર બજારનું કાર્ડ મેળવ્યું અને સ્વતંત્ર દલાલીનું કામ શરૂ કર્યું. એ દલાલીનું કામ તેઓએ પોતાની અંતની ઘડી સુધી ચાલુ રાખ્યું હતું.

શેર બજારની દલાલી મોટી હતી, પણ તે સાથે જોખમ પણ મોટું રહેતું હતું. શેઠ સોમચંદે પ્રમાણીકપણે શેરોની દલાલી કરતાં સુરત, અમદાવાદ, કરાંચી, વીસનગર, વડનગર, ઉદેપુર, મુંબઈ વીગેરે શહેરોના ગ્રાહકો મેળવ્યાં અને દલાલી પણ દરરોજ સારી થવા લાગી. પરિણામે તેઓ ગરીબી-માંથી સારી સ્થિતિમાં આવ્યાં. પણ ઘણી વખત શેરની દલાલી ભારે થઈ પડતી. એ સ્થિતિમાં મૂશ્કેલી આવતાં તેઓએ કેટલીક વખત દાગીના વેચીને પણ પોતાની પ્રમાણીકતા અખંડ જાળવી હતી.

ગૃહસ્થાશ્રમ.

શેઠ સોમચંદના બે વખત લગ્ન થયાં હતાં. પ્રથમ લગ્નથી તેમને એક પુત્ર શ્રી કેશવલાલ થયાં હતાં, જેમના લગ્ન વખતે સંવત ૧૯૭૬ માં શ્રી સોમચંદભાઈના વડીલ પુત્ર શ્રી કેશવલાલના લગ્ન શ્રી માંગરોલમાં થયાં હતાં તે વખતે તેઓશ્રીએ આખી જ્ઞાતિમાં ઘર દીઠ પાંચ રૂપિયાનું લહાણું અને એક પીતળની થાળી અને સવાશેર સાકર મોકલ્યાં હતાં. એવી પહેલ કરનાર તેઓ શ્રી એકલાજ હતા. એ લહાણામાં જમણવાર કરતાં ત્રણ ચાર ગણો વધુ ખર્ચ થયો હતો.

તેઓ શ્રી અમદાવાદના શેર બજારના પણ જીંદગી પર્યંતએક દલાલ હતાં. ભાઈ કેશવલાલ પચીસ વર્ષની ભર જુવાન વયે સ્વર્ગવાસ પામ્યા હતા અને તેમના એક પુત્ર શ્રીચીમનલાલ હૈયાત છે.

શેઠ સોમચંદના બીજા લગ્ન માંગરોળ નિવાસી શા. જીવણચંદ માણેકચંદના પુત્રી બાઈ કસ્તૂરાવંતી સાથે થયા હતા. જેઓમાંના શ્રી હીરાલાલ સોમચંદ હૈયાત છે.

મુનિરાજ શ્રીઅમિવિજયજીની મુલાકાત.

લક્ષ્મી વધવા છતાં શેઠ સોમચંદ એ બિના સારી રીતે સમજી ગયા હતા કે લક્ષ્મીનો ઉત્તમ ઉપયોગ દાન કરવામાં છે અને જે લક્ષ્મીપરથી મોહ ઉતારે છે તેજ તેનો ખરો ઉપયોગ કરી શકે છે. સંવત્ ૧૯૭૬ માં તેમને આ બાબતની બરોબર પ્રતિતિ થઈ. તેઓ સખત બીમાર પડ્યા અને મોટા મોટા ડાકટરો તેમની બિમારીને દૂર કરી શકયા નહિ. એ વખતે તેમને સંકલ્પ કર્યો કે જો આ બિમા-રીમાંથી ઉઠાય તો શ્રીશત્રુંજય તીર્થે જઇને દસ હજાર રૂપિયા શુભ માર્ગે વાપરવા. શુભ કર્મના ઉદયથી એક મદ્રાસી દેશી વૈદના ઔષધથી તેમની બિમારી દૂર થઈ અને સંવત્ ૧૯૭૭ માં તેઓ શ્રી તીર્થ શીરો-મણી શ્રીશત્રુંજયની જાત્રા કરવા ગયા. ત્યાં તેઓએ ચોમાસું કર્યું અને ત્યાં ચાતુર્માસ કરી રહેલા પુજ્ય શાંતમૂર્તિ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજના વ્યાખ્યાનનો લાભ લેવા લાગ્યા. તેઓએ જોયું કે એ મુનિરાજ નિસ્પૃહી, દયાળુ અને શાંત સ્વભાવના હતા અને તેમના હૃદયમાં દયાનો અખુટ ઝરો વ્હેતો હતો. તેમની મધુરી વાણીના શ્રવણથી તેઓએ એજ વર્ષમાં સમકિત મૂલ બારવૃત ઉચર્યા અને તે જીંદગી પર્યંત મક્કમપણે પાળ્યા. શ્રીમદ અમિવિજયજી મહારાજના ઉપદેશથી તેમનાં જીવનમાં અદ્‌ભૂત પલટો થયો. આ સંસાર તેમને નિરસ લાગ્યો, સંસારનો મોહ તેમને ખોટો જણાયો. પાલીતાણામાં તેથી તેઓએ સાધર્મી ભાઇઓની અને સાધુ સાધ્વીઓની ભક્તિ અને સેવા કરવા માંડી અને કોઈ પણ દુખી ભાઇને દેખી તેને બનતી મદદ આપવા તત્પર રહેતા. એ સેવાભાવના પરિણામે તેઓએ, અન્ન, વસ્ત્ર, દવા વિગેરેમાં પાલીતાણામાં આશરે દસ હજાર રૂપિયા સંવત્ ૧૯૭૭ ના ચાતુર્માસમાં ખર્ચ્યા.

મુનિરાજ શ્રીઅમિવિજયજી મુંબઈમાં.

પાલીતાણામાં એ વખતે શ્રી અમિવિજયજી મહારાજને આંખમાં ઝામરવાનું દર્દ વધ્યું હતું. એ દર્દ જોઇને શ્રીસોમચંદ શેઠને વિચાર આવ્યો કે આવા કલ્પવૃક્ષસમાન શાંતમૂર્તિ સાધુરાજને જો મુંબઈ લઈ જઇને કોઈ નિષ્ણાત ડાકટર પાસે તેમની આંખની તપાસ કરાવવામાં આવે તો, તેમનું આંખનું દર્દ દૂર કરવાનો કોઈ ઉપાય સાંપડે અને ધર્મપસાયે તેમનું દર્દ દૂર થાય. આ વિચારથી તેઓએ મુનિરાજને મુંબઈમાં પધારવા આગ્રહભરી વિનંતિ કરી અને તેઓએ તે સ્વિકારી. તેઓશ્રી પોતાના શિષ્યો શ્રીક્ષમા-વિજયજી આદિ સાથે વિહાર કરતાં સંવત ૧૯૭૮ માં મુંબઈમાં પધાર્યા અને પહેલાં શ્રી ગોડીજીના ઉપાશ્રયે જઈને મંગળાચરણ કર્યાબાદ શ્રીકોટના જૈન ઉપાશ્રયે અતિધામધૂમ પૂર્વક પધાર્યા. એ ઉપાશ્રયે પધાર્યા બાદ શેઠ સોમચંદે આંખના બાહોશ ડાકટર દગન પાસે મુનિરાજની આંખોની તપાસ કરાવી અને તેની સલાહ મળતાં, તેમની આંખનું ઓપરેશન, ડૉક્ટર દગનને રોકી, તેનીપાસે ઉપાશ્રયમાંજ પોતાના ખરચે કરાવ્યું. એ ઓપરેશન ફત્તેહમંદ નિવડયું અને તે બાદ શ્રી અમિવિજયજી મહારાજે કોટના ઉપાશ્રયમાંજ સંવત્ ૧૯૭૮ નું ચાતુર્માસ શ્રીક્ષમાવિજયજી સાથે કર્યું. ચાતુર્માસમાં શેઠ સોમચંદે પ્રભુ ભક્તિ, મહારાજશ્રીની અને સાધર્મી ભાઇઓની ભક્તિ અપૂર્વ રીતે કરી અને આશરે દસ હજાર રૂપીયા ખર્ચ્યા. મુનિરાજના ઉપદેશથી અનેક જૈન ભાઇઓને અપૂર્વ લાભ થયો. શેઠ સોમચંદભાઈએ ઘણા જીવોનને ધર્મમાર્ગમાં જોડ્યા હતાં તેઓ હજી પણ એ મુનિરાજને તથા શેઠ સોમચંદને એ કારણથી યાદ કરે છે.

ધાર્મિક જીવન.

શેર બજારની દલાલી કરતાં લક્ષ્મી વધતી ગઈ અને શેઠ સોમચંદનું જીવન પણ ધાર્મિક બનતું ગયું. તેઓએ એ વખત આખા હિન્દુસ્તાનના જૈન તીર્થોની જાત્રા કરી હતી. તેઓએ નવપદની આયંબિલની ઓળી સંપૂર્ણ કરી હતી અને એ વૃત્તના દિવસોમાં તેઓ કોટના ઉપાશ્રયમાં નવે દિવસ રાતદિવસ રહેતા અને ધર્મકરણી કરતાં. એ દિવસો દરમિયાન તેઓ ઘરનો સર્વથા ત્યાગ કરતા. એક આયંબિલની ઓળી વખતે તેમની તબીયત બગડતાં સખત તાવ આવ્યો હતો પણ તેઓએ ઘરે જવા અને ઓળીનું વૃત તોડવા મક્કમતાથી ના પાડી હતી. તેઓ મહીનામાં બારતીથીના દિવસોમાં આયંબિલ, ઉપવાસ, છઠ્ઠ, અઠ્ઠમ વિગેરેની તપસ્યાઓ કરતાં અને ત્યાગ વૃત્તિ ખીલવતાં.

પોતાના સાધર્મી બંધુને દુઃખી જોઈ તેમનું હૃદય કંપી ઉઠતું. તેઓ પોતાના દુખી બંધુઓને પોતાને ત્યાં નોકરીએ રાખતાં, બીજાને ત્યાં નોકરી અપાવતાં અને પોતે તેમને આર્થિક મદદ પણ આપતાં તેમને આયંબિલ તપ પર બહુ શ્રદ્ધા હોવાથી તેઓએ વર્ધમાન તપ આયંબિલ ખાતાની સ્થાપના કર-વામાં, મુંબઈમાં આગેવાની ભર્યો ભાગ લીધો હતો, અને મુંબઈમાં વર્ધમાન તપ આયંબિલ ખાતાના અને પાલીતાણાના આયંબિલ ખાતાના છેવટ સુધી ટ્રસ્ટી તરીકે રહ્યા હતા. તેઓની ધાર્મિક વૃત્તિથી રાજી થઈ શ્રી વેણીચંદ સુરચંદે તેમને મહેસાણાની શ્રીયશોવિજયજી જૈન પાઠશાળાના ટ્રસ્ટિ તરીકે નીમ્યા હતા, જે પદ પર તેઓ છેવટ સુધી હતા. તેઓ ગુપ્ત દાન પણ ઘણુંજ કરતા.

જ્ઞાનભંડાર.

મુનિરાજ શ્રીઅમિવિજયજીના ઉપદેશથી શ્રી સોમચંદ શેઠને જ્ઞાન ઉપર સારી રુચિ થઈ અને મુનિરાજ શ્રી ક્ષમાવિજયજી મહારાજે પ્રેરણા કરતાં તેઓએ પોતાના કોટના મકાનમાં એક જ્ઞાનભંડાર સ્થાપ્યો. એ જ્ઞાનભંડારમાં હાલમાં આશરે પાંચ હજાર ધાર્મિક પુસ્તકો, પ્રતો અને પ્રાચીન હસ્તલેખિત પ્રતો છે. અને હેમપ્રકાશની શુદ્ધપ્રત પણ તેમનાજ ભંડારમાંથી મળી છે.

સિદ્ધપુર પાટણમાં.

દિનપર દિન શેઠ સોમચંદની પ્રીતિ અને રુચિ શ્રીઅમિવિજયજી મહારાજના વ્યાખ્યાનશ્રવણ તરફ વધતી ગઈ તેઓએ તેમની સાથે સંવત્ ૧૯૭૭ માં અને સંવત્ ૧૯૭૮ માં પાલીતાણામાં અને મુંબઈમાં

અનુક્રમે રહીને ચાતુર્માસના વ્યાખ્યાનો શ્રવણ કર્યા હતાં. સંવત્ ૧૯૭૯ માં મુનિરાજે વિહાર કરી સિદ્ધપૂર પાટણમાં ચાતુર્માસ કર્યું. એ વખતે તેઓ પાટણ ગયા અને ત્યાં ચાતુર્માસમાં વ્યાખ્યાન શ્રવણ કર્યાં.

એ પછી શેઠ સોમચંદે એવો અભિગ્રહ કર્યો કે અમિવિજયજી મહારાજ જ્યાં હોય ત્યાં વરસમાં એક વખત વંદન કરવા તો જવું જ.

આચાર્ય શ્રીવીરવિજયજીમહારાજ.

૧૯૮૦ માં શ્રી ગોડીજીમાં બિરાજતાં આચાર્ય શ્રીવીરવિજયજી મહારાજે મુંબઈમાં કાળ કર્યો. એ દિવસ શ્રાવણ શુદ પાંચેમનો હતો. શેઠ સોમચંદે મુનિરાજની અગ્નીસંસ્કાર ક્રિયા કરવામાં આગેવાની ભર્યો ભાગ લીધો અને રૂ. ૫૫૧ બોલી તેમને અગ્નિસંસ્કાર કર્યો.

જ્યારે પાટણના દાનવીર શેઠ નગીનચંદ કરમચંદે કચ્છ ભદ્રેશ્વરનો છરી પાલતો સંઘ કાઢ્યો હતો. તે વખતે શેઠ સોમચંદ માંગરોલ ગયા અને સંઘને માંગરોલમાં નોતરીને આગેવાની ભાગ લઈ સંઘ સેવાનો લાભ લીધો.

એ પછીના વર્ષો દરમિયાન તેમની તબિયત બગડતી ચાલી તે છતાં તેઓ પોતાના અભિગ્રહ પ્રમાણે મુનિરાજ શ્રી અમિવિજયજીના વંદનાર્થે દર વરસે જતાં હતાં. સંવત્ ૧૯૮૩માં એજ અભિગ્રહ પૂરો કરવા માટે તેઓ પોતાની તબિયત નાદુરસ્ત હોવા છતાં આઠેક સાધર્મિ ભાઇઓ સાથે ભાદરવા મહિનામાં જે મારવાડના ગામ ચાણોદમાં શ્રી અમિવિજયજી મહારાજ બિરાજતાં હતાં, તે ગામમાં ગયા અને મુનિરાજને વાંદ્યા. ચાણોદ જતા રસ્તામાંજ તેમને સરદી લાગુ પડી. તેઓ મહામૂશ્કેલીએ તે છતાં પોતાના મુંબઇના કોટમાં આવેલા મોદીખાનાવાળાં મકાનમાં આવી શકયા. એપછી તેઓ નવ દિવસ બિમાર રહ્યા અને ઘણા ઔષધો અને દવા કરવા છતાં તેમની તબિયત ન જ સુધરી: એ વખતે કોટના ઉપાશ્રયમાં શ્રીમદ્‌વિજયધર્મસૂરિજીના શિષ્ય ઉપાધ્યાયજી મહારાજ શ્રીમંગળવિજયજી બીરાજતા હતા. તેઓ તેમને ધર્મોપદેશ સંભળવવા ઘરે આવતાં હતાં.

આખરે તેઓએ ભાદરવા વદ ૦)) અમાસના દિવસે સાંજના ચાર કલાકે શાંતિપૂર્વક વૃતપચ્ચખાણુ સાથે પરમાત્માનું ધ્યાન ધરતાં અને નવકારમંત્રનું શ્રવણ કરતાં, પોતાનો દેહ છોડ્યો.

તેમના આત્માને શાંતિ મળો એજ પ્રાર્થના.



संपादकीयनिवेदनम् ।

यदा श्रीमद्विजयानंदसूरिभिः स्वजन्म-विहारादिना पवित्रिते पञ्चनददेशे मालेरकोटलामध्ये सद्गुरवः मुनिप्रवरश्रीअमीविजयमहोदयाः चातुर्मासीं स्थिताः, तदाऽहं मुमुक्षुभावेन तेषां समीपे आगतः सर्वथा संस्कृतभाषाज्ञानविकलोऽभूवम् । श्रीगुरुभिरेव शास्त्रवाटिकादर्शनचक्षुःकल्पं व्याकरणमध्यापयितुमिच्छुभिः श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनस्य लघुवृत्तिः पाठयितुं प्रारब्धा । तस्याः पादद्वयमितेऽधीते श्रीगुरवः चतुर्मासपूर्त्यनन्तरं शीघ्रमेव मरुदेशं प्रति विहृतवन्तः, मयाऽपि गृहस्थावस्थास्थितेनैव तैः सार्द्धं पादविहारं कृत्वा बीकानेरः समाश्रितः । विहारमध्ये पठनं शिथिलं जातम् । तच्च बीकानेरमध्ये पुनः प्रारब्धम् । पादत्रयमितेऽभ्यस्ते दीक्षोत्सवादिव्याक्षिप्तस्य मम व्याकरणपठने पुनः शिथिलादरो जातः । दीक्षादानानन्तरं साधुक्रियां शिक्षयित्वा पुनः व्याकरणे नियोजितः सुगुरुभिः । षट्पादमितेऽभ्यस्तेऽपि मतिमान्द्यात् न काचिदपि स्फूर्तिरजायत । एतादृशं जडस्वभावं मामवधार्य श्रीपरमोपकारैकप्रधानैः श्रीगुरुभिः श्रीलक्ष्मीचन्द्रकोचरात् महामहोपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितं श्रीहैमलघुप्रक्रियापूर्वार्द्धं समासाद्य आदितः पाठयितुं प्रारब्धम्, तच्च अन्धस्य लोचनमिव समासाद्य मम मन्दबुद्धेरपि व्याकरणपठने आदरः समजनि । प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिविहितशब्दानुशासनस्य च साधुशब्दरत्नपिटकरूपताऽवधारिता । पूर्वार्द्धकरणबलेन उपरि वर्णितलघुवृत्तेः सार्द्धद्वयाध्यायादिमितो विभागो बुद्धिदर्पणे संक्रान्तः । हैमलिङ्गानुशासनमप्यधीतम् । तदनन्तरं श्रीगुरुभिः श्रीहैमलघुप्रक्रियाया उत्तरार्द्धं पाठितः, तत्प्रभावेन समग्राऽपि लघुवृत्तिः परिचिता इव जातेति सुष्ठु तथाऽभ्यस्ता । सा च हैमकोशाभ्यासबलयुता बृहद्वृत्तेरपि विलोकने मामुत्साहितवती । उपर्युक्तश्रीहैमलघुप्रक्रियाध्यापनावसरे श्रीसद्गुरुभिर्ज्ञापितोऽभूवम् यत् परोपकारप्रवीणैः श्रीविनयविजयोपाध्यायवर्यैः न केवलं श्रीसिद्धहेममहाव्याकरणप्रासादप्रवेशद्वाररूपा श्रीहैमलघुप्रक्रियैव विहिता, अपि तु एतादृशलघुप्रक्रियाऽध्येतारोऽपि तादृशीं योग्यतामासाद्य श्रीसिद्धहेमव्याकरणाद्यनेकव्याकरणपरिचिता भूयासुरित्युपकारभावनां हृद्यवधार्य हैमलघुप्रक्रियाया उपरि बृहट्टीकाऽपि विरचिता । महोपाध्यायश्रीविनयविजयमहोदयप्रसादादेव प्राप्तव्याकरणदृष्टेर्मम तद्बृहट्टीकावलोकनोत्कस्यापि श्रीसद्गुरुविद्यमानतायां सा न कुत्रापि दृष्टिपथमवतीर्णा । श्रीसद्गुरुस्वर्गवासानन्तरं संवत् १९८८ मध्येऽहं पूज्यमहोपाध्याय(इदानीमाचार्यवर्य्य) श्रीप्रेमविजयादिवन्दनार्थं पाटणनगरे समागतः । तत्र तैः संपूर्णयोगोद्वहनकरणे प्रेरितः । रतलामनगरगमनोत्सुकोऽपि श्रीमहानिशीथयोगोद्वहनार्थं तैः सार्द्धमुषितः । योगारम्भादनु विहारे जाते श्रीराधनपुरनगरे श्रीमहानिशीथयोगसमाप्तिं विधाय श्रीसिद्धगिरियात्रार्थं प्रस्थितः । तां विधाय रतलामार्थं प्रस्थितोऽपि भवितव्यतावशेन महोपाध्यायैः प्रेरितश्च स्वर्गीयसकलागमरहस्यवेद्यादिबिरुदसत्यापकपूज्याचार्यश्रीविजयदानसूरिभिः खंभातनगरे मिलितः । तैरेव सार्द्धं चातुर्मासी वढवाणमध्ये कृता । तदनन्तरं द्वितीया चातुर्मासी महोपाध्यायैः सह राजनगरे विहिता । तत्र महोपाध्यायैः अहं मुनिवर्य्य (संप्रत्युपाध्यायप्रवर) श्रीजम्बूविजयश्च एकस्मिन् शुभप्रयत्ने प्रोत्साहितौ । सोऽयं प्रयत्नः—प्राचीनपुस्तकभाण्डागारेषु अनेकाः प्रतयः श्रीनिशीथभाष्यस्य केवलस्य श्रीनिशीथचूर्णेः केवलायाश्च समासाद्यन्ते । चूर्णिः भाष्यार्थविस्ताररूपा सत्यपि भाष्यगाथाद्यपदादिप्रतीकमात्रयुतैव सर्वत्रोपलब्धा, न तु संपूर्णभाष्यगाथायुता । तदवधार्य श्रीमहोपाध्यायैः अनेकप्रतिसम्मीलनपूर्वकसंपूर्णभाष्यगाथायुतचूर्ण्यादर्शविधापने प्रोत्साहितौ आवाम् । तदारम्भानन्तरं एकस्मिन् दिने पूज्यपादश्रीविजयमेघसूरयो विद्याशालायां (अस्माकं तादात्विके निवासस्थाने) समागताः । तैः तदादर्शविलोकनसंतुष्टैर्ज्ञापितौ—यदेका निशीथचूर्णेः संपूर्णा शुद्धा च प्रतिरस्या विद्याशालाया लिखितपुस्तकभाण्डागारे विद्यते, साऽपि युवाभ्यां प्रयोज्या । तैरुक्तस्या-

वधारणानन्तरं न मया केवलं तत्प्रतिरेव समासादिता, किन्त्वहं प्रातःस्मरणीयगुरुगुणगरिष्ठश्रीविजयसिद्धि-
सूरीश्वरप्रसादात् तद्ग्रन्थरत्नभाण्डागारस्याधिकारीव जातः। अन्यासामपि प्रतीनां व्यापारणेऽहं कृपालुना
प्रसादितः। मयाऽपि तत्कृपासफलीकरणोत्सुकेन तद्ग्रन्थभाण्डागारस्य संपूर्णा सूचिरभ्यस्ता। व्याकरणविभा-
गावलोकने श्रीहैमप्रकाशो विभागद्वयात्मकः तत्र सूचितो दृष्टः। कोऽयं ग्रन्थ इति पृच्छन्नहं 'स
ग्रन्थस्त्वया निष्कास्य स्वयमेव विलोकनीयः' इत्याज्ञप्तः कृपालुभिः। तैराज्ञप्तेन तद्ग्रन्थावलोकनानन्तरं
यद्धर्षोऽनुभूतः तं ज्ञान्येव जानाति। यस्मात् अनेकवर्षपर्यन्तं हृदि सङ्गृहीता हैमलघुप्रक्रियाबृहट्टी-
कादर्शनाभिलाषा साफल्यमासादितवती। तद्ग्रन्थमङ्गलाचरण-उपोद्धात-ग्रन्थरचनाकारण-परमोपकारिमहो-
पाध्यायवर्यश्रीसोमविजय-जैनशासननभोमणिश्रीविजयहीरसूरीश्वर-सङ्घपतिउदयकरणसोमकरणादिवृत्तान्त-
ग्रन्थसारल्यार्थमहत्त्वाद्यवलोकयन् सर्वथा ग्रन्थप्रकाशनसंपादनकार्याद्यनभिज्ञोऽपि एतद्ग्रन्थरत्नप्रकाशनाय
लालायितोऽभूवम्। एतस्मिन्नवसरे सर्वथाऽपरिचितस्यापि मम समीपे विवेकिधुर्यो रावसाहेबेत्युपाधिभूषितो
वाडीलालात्मजो मोहनलालः स्वर्गीयगुरुवर्यादिप्रेरित इव समागतः। 'किमपि कार्यमाज्ञापयतु भवान्' इति
तेन विज्ञप्तेन मया स ग्रन्थस्तस्मै दर्शितः, तत्प्रकाशनाभिलाषा च व्यक्तीकृता। तेनापि सुविवेकिना
एतद्ग्रन्थरत्नावलोकनानन्तरं संपूर्णप्रेसकॉपीव्ययः स्वीकृतः। तद्व्ययबलात् प्रेसकॉपीकरणे च मया नरोत्तम-
दासनामाऽध्यापको प्राचीनलिप्यादिवाचनां शिक्षयित्वा नियोजितः। प्रत्यन्तरगवेषकेन मया 'अस्या
एका प्रतिर्भावनगरस्थभाण्डागारे वर्त्तते' इति तदा खंभातनगरस्थपूज्यपादश्रीविजयदानसूरीश्वरसकाशात्
ज्ञातम्। तस्याश्च प्रत्या अर्द्धांशमितो विभागो महोपाध्यायश्रीप्रेमविजयानां प्रसादात् समासादितः।
प्रेसकॉपीकार्यारम्भानन्तरं प्रस्तुतप्रकरणे समागते प्रत्योर्महदव्यवस्थावशादुद्विग्नहृदयेनाऽपि मया पश्चात् साधना-
न्तरसहायेन सुस्थं करिष्ये इत्याशया प्रयत्नो न विघटितः। अत्रान्तरे श्रीगिरिनारतीर्थोद्धारे दत्तसफलोप-
देशानां श्रीविजयनीतिसूरीणां सकाशात् कुत्राप्यनुपलभ्यमानस्य केनापि प्राचीनसहृदयविदुषाऽतीव-
सूक्ष्माक्षरैर्लिखितस्य मध्यमवृत्त्यवचूरिभ्यामलङ्कृतस्य श्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनस्य प्रतेरर्द्धांशमितो भाग
उपलब्धः। तदनन्तरं श्रीविजयदानसूरीणामाज्ञावशात् मोहमय्यां चातुर्मासीकरणार्थं समागतः।
तत्र मद्गुरुभ्रातृमुनिश्रीभक्तिविजयादीनां उपदेशपीयूषप्रीणितैः पुनमचन्दगोमाजीत्यादिश्रावकैः खण्डशः
श्रीहैमप्रकाशप्रकाशनार्थं व्ययस्वीकारेण प्रोत्साहितः। सुरतस्थजैनानन्दपुस्तकालयाधिकारिणाऽमरचन्द्रेण
निर्णयसागरप्रेसकार्यवाहकः सम्मेलितः, प्रकाशनकार्यं चारब्धम्। सर्वथा संपादनकार्यानभिज्ञतया प्रथमाष्ट-
पृष्ठमितं विभागं मुद्रितमपि बहुशुद्धमिति ज्ञात्वा पंन्यासपदभूषितानां श्रीजम्बूविजयगणिनां पार्श्वे शुद्धीकरणार्थं
प्रेषितम्, तैश्च तत् सपरिश्रमं संशोध्य संशोधनविधिचिह्नादिसूचनासमन्वितं विधाय प्रकाशनमार्गः सरली-
कृतः। तासां सूचनानामनुसारेण सावधानतया प्रुफसंशोधनव्यग्रोऽपि यत्र यत्र स्खलितस्तत्र तत्र
निर्णयसागरमुद्रणालयस्थशास्त्र्यादिभिः पुनः पुनः सारित इति तेषामप्युपकारं न विसर्तुमुत्सहे।
प्रस्तुतप्रकरणमासाद्य आदर्शप्रत्योर्बहुस्खलनायुतत्वेन कार्यं स्थगितं, कथमिदं ग्रन्थरत्नं प्रकाशमानयिष्ये
इति चिन्ताक्रान्तः कोट(मुंबई)स्थ श्रेष्ठिहीरालालेन स्वपितृसोमचन्द्रश्रेष्ठिसङ्गृहीतपुस्तकरत्नानां विलोक-
नार्थमामन्त्रितः, तत्र गतेन तत्रस्थपुस्तकानां मध्ये लिखितपुस्तकेषु हैमप्रकाशस्यातीव प्राचीना ग्रन्थरचनायाः
पश्चात् षष्ठे वर्षे लिखिता प्रतिरुपलब्धा। स्वपितृभाण्डागारे एतद्ग्रन्थरत्नस्य विद्यमानत्वेऽपि किमहं न
ज्ञापित इत्युपालभ्य श्रीहीरालालः सम्पूर्णग्रन्थप्रकाशनाय प्रेरितः। तेनापि स्वट्रस्टीनामनुमत्या पूर्वार्द्धस्य

१ निशीथचूर्ण्यादर्शविधानकार्यं तु मां हैमप्रकाशप्रकाशनव्यग्रमवधार्य श्रीजम्बूविजयैः केवलैरेव अन्या अपि प्रतीः सम्प्राप्य सुसम्पादितमस्तीति विदाङ्कुर्वन्तु सज्जनाः।

प्रकाशनमङ्गीकृतं, तद्योजनानुसारेणैवास्य पूर्वार्द्धस्य प्रकाशनं शक्यं जातम् । सोमचन्द्रश्रेष्ठिभाण्डागारस्थ-प्राचीनप्रत्याहृत्याहमप्यधिकोत्साहवान् जातः । संशोधनकर्मण्युपयुक्ता अन्येऽपि मुद्रितश्रीसिद्धहेमशब्दानुशासनबृहद्वृत्त्यादयो ग्रन्थाः संगृहीताः । पूर्वोक्ता श्रीविजयनीतिसूरीणां प्रतिः संशोधनकर्मण्यतीवोपयुक्ता समजनि । तस्याः शेषोऽप्यंशः श्रीविजयनीतिसूरीणां पार्श्वात् समासादितः ।

पुनरपि हैमप्रकाशस्य प्रकाशनं अव्ययप्रकरणं प्राप्य तथाविधसाधनानामभावे स्खलितम् । तानि च साधनानि मुद्रितरूपाणि वाक्यपदीयादीनि हीरालालद्वारा, लिखितरूपाणि तु राधनपुरीयसङ्घविजीवतलालप्रतापसीद्वारा समासाद्य द्विमासानन्तरं तत्कार्यं पुनः प्रारब्धम् । एतस्मिन्नवसरे लालबागस्थश्रावकाणामत्याग्रहेण श्रीविजयदानसूरीश्वराणामाज्ञाधीनतया हैमप्रकाशशीघ्रप्रकाशनलोलुपेन च द्वितीयाऽपि चातुर्मासी मोहमय्यामेव स्वीकृता । शेषकार्याणि स्थगयित्वा अस्य पूर्वार्द्धप्रकाशनव्यग्रेण चातुर्मास्यनन्तरमुपधानपूर्त्यवसरे मूलपूर्वार्द्धप्रकाशनकार्यं समापितम् । अनुक्रमणिकादिकरणार्थं मुद्रितविभागं गृहीत्वा मुम्बईतो विहृतोऽपि स्पर्शनावशात् पूज्यपादविजयप्रेमसूरीश्वराणामाज्ञानुसारेण श्रीगोडीजीत्युपनामकोपाश्रये स्थितः । परं पूर्वकर्मवशात् शिरोऽर्तिचक्षुर्वेदनादिव्यग्रेणास्यां चातुर्मास्यां न किमपि कार्यं कृतम् । सूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिकाऽपि व्याख्यानवाचस्पति-आचार्य-श्रीविजयरामचन्द्रसूरिविनेयैः मुनिश्रीमनकविजयैः संशोधिता । शुद्धिपत्रकमपि सौभाग्यनिधिभिर्बाल्यावस्थाप्राप्तसंयमैः स्वपरानेकव्याकरणकुशलैस्तैरेव निर्मितमिति विदाङ्कुर्वन्तु सज्जनाः । एतावद्विद्याप्रियैः कृतेऽपि महति प्रयत्ने यद्यस्मिन् ग्रन्थे काश्चनाशुद्धयो विदुषां दृष्टिपथमायान्ति तदा तैः प्रकाशकद्वारेण स्मारणीयोऽयमल्पज्ञ इति प्रार्थना । अतः पूर्वं प्रकाशितानां हैमबृहद्वृत्त्यादिग्रन्थानामनुसारेणैव त्रुटितादिपाठाः संशोध्य यत्र तत्र न्यस्ता इति तेषां प्रकाशकमहोदया अपि धन्यवादमर्हन्ति । अन्येषामपि यथावसरे दत्तसाहाय्यानां साधुश्रावकादीनामुपकारं न विस्मरामि । सम्पादकीया प्रशस्तिस्तु सर्वथा कवित्वगुणवर्जिताऽपि शीघ्रकार्यसमाप्तिहर्षसूचिकैवेत्युपेक्षणीया सद्भिः । हैमप्रकाशोत्तरार्द्धादिग्रन्था अपि समुचितप्रस्तावनादियुताः शीघ्रं प्रकाशमाप्नुयुरित्याशया विरमामि विस्तरतः ।

सूरत
अक्षयतृतीया
वीरसंवत् २४६३

पूज्यगुरुवर्याणाम् श्रीअमीविजयमहोदयानां
चरणरेणुः
उपाध्यायः क्षमाविजयो गणी



१ एतदपि ग्रन्थरत्नमतीवोपयुक्तमलभ्यं च विभाव्य तस्यापि प्रकाशने अमदावादस्थ जवेरी मोतीलाल डाह्याभाईत्यादिभिर्व्ययस्वीकारेण प्रोत्साहितः, तदनुसारेणेदमपि ग्रन्थरत्नं श्रीलालबागजैनोपाश्रयद्वारा मुद्रयमाणं वर्त्तते ।

२ श्रीजीवतलालेन बृहन्न्यासप्रतीः श्रीलिम्बडीप्राचीनभाण्डागारस्था आनायिताः परं भाण्डागारिकैर्व्यवस्थानुसारेणार्द्धांशरूपा एव प्रेषिताः । ताभिः यथाविभागं प्रेसकॉपीं संशोध्य ताः प्रेष्य पुनः शेषांशरूपा मार्गयित्वा शेषांशरूपेण यथावद्विभागः संशोधितः । एतस्मिन् शोधनकर्मणि वाक्यपदीयादिमेलनादिभिश्चैतावान् कालो व्यतीतः ।

३ स्वोपज्ञविवरणदुर्गपदप्रबोधादियुतं श्रीहैमलिङ्गानुशासनं तु हीरालालेन मुद्राप्यमानमल्पैरेव मासैः प्रकाशमासादयिष्यति ।

४ गुर्जरगिरायां त्वत्रापि किञ्चित्प्रस्तुतम् । मुद्यमाणोऽप्येतद्ग्रन्थः कतिभिर्मुनिभिरभ्यस्त इति तेषामध्यापकस्य सम्मतिरनन्तरपृष्ठेऽवलोक्या ।

॥ ॐ ॥

मदीया सम्मतिः ।

नाविदितमस्ति विदितवेदितव्यानां शेमुषीजुषां सुरसरस्वतीप्रणयिनां पण्डितप्रवराणां, शारदासमुपासकानामन्तेवासिनाञ्च यत् "शब्दशास्त्रापारशब्दसन्दोहाऽकूपारमवजिगमिषुभिर्मनोज्ञधिषणाधिष्ठितैर्मनीषिनिवहैः स्वस्वान्तसुखाय परोपकाराय च विरचितानि नैकानि शब्दशासनानि, प्रोल्लासयितुं विद्वत्कदम्बनयनकुमुदानि चन्द्रिका इव सन्तीति"

तेषु शब्दशास्त्रेषु परिप्रथितयशोराशिधवलिताखण्डमण्डलैरनितरसाधारणपाण्डित्यप्रकर्षपूर्णैर्व्याकरणकाव्यतर्काद्यनेकशास्त्रपारङ्गतैर्मुनिप्रवरश्रीहेमचन्द्राचार्यसूरिभिर्विरचितस्य "हैमशब्दानुशासनस्य" नास्ति तिरोहितं प्राशस्त्यमध्यापनपरैरन्यैश्च दत्तावधानैर्मनीषिभिः ।

"तस्यैव हैमशब्दानुशासनस्य शब्दसाधनक्रमेण संपूर्णसूत्रसङ्कलनात्मकं" हैमप्रकाशाख्यं व्याकरणं सारस्वतं सर्वमनोमोदकमतीव रम्यं महामहोपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितमावर्जयति चेतश्चकितचेतसाम् ।

तच्च "हैमप्रकाशाख्यं" सारल्यस्वरूपैरविप्लुतब्रह्मचारिभिः स्वसिद्धान्तविद्भिः "श्रीक्षमाविजयोपाध्यायैः" सश्रमं सुसम्पाद्यातीवोपकृतं सुरवाग्विभवस्य साधुसार्थस्येति समेषां धन्यवादार्हास्ते मुनिमणयः ।

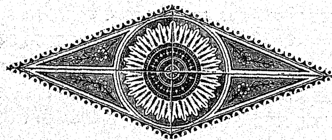
अस्मिन् ग्रन्थरत्नेऽक्षराणां सौष्ठवं, पत्राणां मसृणता बहिरङ्गभूषासमारम्भोऽन्तरङ्गसंस्काराश्चानुरूपा एवेत्येवं सुवर्णे सौरभ इव सर्वगुणसाहित्यतरां चेतश्चमत्करोति ।

एतच्च सम्पादनं सारवत्तया सोत्साहमध्ययनशीलानामाशुव्युत्पत्तिविधायकमिति लाभलोभेनास्मिन्नवश्यं साधुभिरन्यैश्च प्रवर्तितव्यमिति विनिवेदयन्ते—

ग्राम वरैनी
पो. कच्छवा–मिर्जापुर
मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्थी
विक्रम सम्वत् १९९३

श्रीशिवनाथोपाध्यायाः

"व्याकरणशास्त्राचार्याः" हिन्दुविश्वविद्यालयीयाः



श्रीहैमप्रकाशमहाव्याकरणपूर्वार्धगतसिद्धहेमसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

ध

न

हैमप्रकाशे स्पष्टीकृतन्यायानामनुक्रमणिका ।

शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२	११	"अलघो-	"लघो-
२	२६	द्वौरवा-	द्वौरला-
	२९	त्वेवं सीला	त्वेवंशीला
४	३२	गमे०	*गमे०
४	३३	ज्या	ज्वा
५	२५	॥ ९ ॥	॥ १ ॥
७	२	न्याय्यत्वम्,	न्यायत्वात् ।
७	२६	दूरामन्त्रणे	दूरादामन्त्रणे
१०	१४	किमिति	किमिदमिति ।
१०	२७	अभिवादयेऽहं	अभिवादये स्थाल्यहं
११	३३	ऽनादेशो,	अनादेशः,
१२	२	शिष्योः	शिस्योः
१३	२९	वर्गः	वर्ग्गः
,,	३२	वर्गः	वर्ग्गः
,,	३३	वर्ग	वर्ग्ग,
१४	३१	आद्यः	आद्याः
१६	१४	यथापूर्वोक्ता	यथा पूर्वोक्ता
,,	३४	ङ्ञनमा	ङञणनमा
,,	३४	नासिकस्थाना-	नासिकास्थाना
१८	२३	पदसंज्ञा फलं	पदसंज्ञाफलं
२०	५	लोकते	लोक्यते
२०	१४	सत्वासत्वा-	सत्त्वासत्त्वा-
२२	२७	देशाविकृत-	देशविकृत
२३	१५	नुनसिकाभ्यां	नुनासिकाभ्यां
२३	२१	भिक्षयोषित्	भिक्षयोषित
२४	५	जस्भ्यां ये	जस्भ्यांये,
२४	१५	शिष्योः'	शिस्योः'
२४	१९	स्योपोद्य-	स्यापोद्य-
२४	२८	'आसन्नदूरा-	'आसन्नादूरा-
,,	३२	तथा लुनातीति	तथा नयति लुनातीति
२९	५	ङी सद्भूतः	ङीः सद्भूतः
२९	७	ङी लुकः	ङी लुकः,
३२	२१	'त्र्यन्तस्वरादेः'	'त्र्यन्त्यस्वरादेः'
३८	२२	विदिभुवि-	विदिभुजि-
४१	२०	अंशी	अंशि
४३	१६	युजादेर्न वा	युजादेर्नवा
४९	८	तद्व् किलस्य	तत्किरत्वस्य
५०	२७	कुटयलुटि	कुटयस्लुटिः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
५१	१०	सिद्ध ।	सिद्धः ।
५२	८	कण्वादे-	कण्ड्वादे-
५५	११	त्वनुसारे	त्वनुस्वारे
५८	३३	दरन्छश०	दरन्छ०
६२	१३	तौमुमौ	तौ सुमौ
६२	२३	ॠॡतो	ऌऋतो
६३	३	ॠस्वयो०	समानानामि०
६३	१३	निपतस्यमानं	निष्पतस्यमानं
,,	,,	कार्यौ	कार्यं
६४	२०	ईष्टे	ईष्टे इत्येवंशीलः
,,	२१	ध्यण् प्र०	त्यण् प्र०
६५	८	ओंकारे	ओकारे
६५	८	वा स्यात्	स्यात्
,,	१६	लुप् वा	लुग्वा
,,	३२	अकारलुप्	अकारलुक्
६७	२५	"द्विर्धातु०	"स्वरादे०"
६८	३१	गोरक्षि	गोअक्षि
७०	२६	अच्लोपे	असलोपे
,,	३१	इति लोपे	इति च्लोपे
७१	१९	ऐन्द्रतः	एन्द्रतः
७४	१९	'स्थुडत्	'थुडत्
,,	२९	चतुःपदम्	चतुष्पदम्
७९	१७	अनेनेव	अनेनैव
८२	१०	करोत्युक्ते	करोतीत्युक्ते
८२	३४	रोर्निलं	रोर्निलं
८६	१७	पादाइदं	पादायइयं
९०	३३	सेक	सेक्
९२	२८	नामार्थौ	नागमार्थौ
९३	२६	"पुनरेषाम्"	पुनरेकेषाम्
९४	१८	टित्त्वात्	टित्त्वात्
९६	६	सिलात्	सित्त्वात्
९७	१२	निर्जर्	निर्जर
,,	१५	निर्जरसैन	निर्जरसिन
१०२	१५	नोन्ताभावे	नोन्ताभावः
१०६	२१	योऽधिति	य्वोः प्वय् व्यञ्जने लुक्
१०९	२३	रे परे	औ परे
११२	४	"प्र० शच्छः"	"प्र० शश्छः"
११५	४	अनाम्यद्विः	अनाम्यद्विः
११८	९	[सि० ३।२।६]	[सि० १।४।५९]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११८	२२	ओऽतो	ओऽन्तो
१२१	२८	स	स्
१२२	३०	अन्त्यस्वरादेः	व्यन्त्यस्वरादेः
१२३	९	णिक्घुटो	णिक्यघुटो
१२५	५	दृषद्ची	दृषची
१२५	८	पितृची	पितृची
,,	,,	पितृश्ची	पित्रश्ची
१२६	१८	क्षुदादौ	क्षुडादौ
१२७	३१	ऋदित्वात्	ऋदित्त्वात्
,,	३३	न्सम०	नस्म०
१२८	५	ब्याबृर्थ	व्यावर्थः
१२९	२०	अन्यादेशभावे	अन्वादेशाभावे
,,	३३	अथो एतेन	अथो एनेन
१३०	३२	"नोर्मादिभ्यः"	नोर्म्यादिभ्यः
१३३	१५	नामस्रो०	नागमस्रो०
१३४	२४	ऱ् च न् च ष्	ऱ् च ष् च न
,,	२५	पचन्	पञ्चन्
१३४	३४	प्रियपञ्जः	प्रियपञ्चः
१३५	५	अत्वे	आत्वे
,,	२३	नेरनिढि	णेरनिटि
१३६	१	प्रेयेयं	प्रियेयं
१३६	३१	१-४-३४	१-४-४
१३८	२१	सादेशे	रुसादेशे
१३८	२३	दशष्टक्	दशाष्टक्
१४०	१३	किले	कित्वे
१४०	१८	षत्व-	षत्वे
१४०	३३	श्रेयान्	श्रेयान्स्
१४१	१७	इत्यन्त्यस्वादि०	इत्यन्त्यस्वरादि०
१४४	८	अनुड्वन्	अनड्वन्
१४६	३०	ग्रहणान्न्य०	ग्रहणान्य०
१४८	१०	ङसा	ङसा
१५०	६	०तौ"	०तौ (२।१।८५)
१५२	७	काष्ठं तक्ष्णी	काष्ठतक्ष्णी
१५२	१५	मगमत्	मगमन्
१५४	२८	पूर्वाऽक्	पूर्वोऽक्
१६०	२४	सदः शीखा	सदःशिखा
१६१	१६	वेय	चेय
१६१	१७	पचन्त	पचत
१६२	२७	पापार्थे...व्या०	(पापार्थे)
१६३	१	यथालक्षम०	यथालक्ष्यम०
१६५	१०	तद्वत्तै-	तद्वत्ते-
१६६	१४	सुप्ना	सुप्ना
१६६	१५	[सि० २।२।८९]	[सि० ७।२।८९]
१६७	३३	किमादेशः	किमादेः
१६८	८	०सर्वैकान्त्यात्०	०सर्वैकान्यात्०
१७१	२८	दिग्	दिक्
१७३	२	प्रागतत्तत्वे	प्रागतत्तत्त्वे
१७३	१०	तत्त्वेन	तत्तत्त्वेन
,,	१६	तत्तत्वे	तत्तत्त्वे
,,	२१	देयोऽपा०	देयोपा०
,,	२५	सप्तम०	सप्तम्य०
१७४	१४	सङ्ख्यैकादि०	सङ्ख्यैकार्थादि०
,,	१७	एकैकमेकैकं	एकैकमेकैकं
,,	,,	श्योर्द्वयोः	द्वयोर्द्वयोः
१७५	१९	क्रियार्थमिदं	अक्रियार्थमिदं
,,	२६	तुल्यादिकत्वे	तुल्यदिकत्वे
१७६	४	डा च	डाच् च
१७६	१७	भ्यस्ति । च	भ्वस्ति च
,,	१९	प्रागतत्त्वम्,	प्रागतत्तत्त्वम्,
,,	२१	प्रागतत्त्व०	प्रागतत्तत्त्वम्०
१८०	२१	समन्ताद	समन्ताद्
१८४	२६	प्रकाश्यते	
१८५	८	तिरस्कृत्वा	तिरःकृत्वा
१८६	१३	नितिपातना	निपातना
१८६	१७	तावदुद्दादे	तावदुद्वाहे
१८७	२५	नित्याभेलम्	नित्याभेत्वम्
१८८	८	कश्चिच्चि	कश्चि
१८८	१८	यावयवौ	यावयवौ
१८९	२८	खट्वादेर्डीः	खट्वादेर्डीः
१९२	१०	तद्धितस्येति	तद्धितस्येति
,,	१७	क्वचिनाम्रि	क्वचिन्नाम्नि
१९५	२४	मादेः	मानादेः
२०१	२२	पङ्गः	पङ्गू
२०१	३४	अर्थकथमिदं	अर्थकथनमिदं
२०३	९	विशेषण	विशेषण-
२११	३०	सत्कार्यलाद	सत्कार्यत्ववाद
२१२	२०	"व्याप्तेकेनः"	"व्याप्त्येकेनः"
२१३	२०	यद्विकाराणान्तरा०	यद्विकारान्तरा०
२१६	५	भिक्षतेगां	भिक्षयते गां
,,	६	शतं दण्डयन्ताम्	शतं दण्ड्यन्ताम्
२१६	१५	इति	इति
२१७	६	संश्रियमाणत्वात्	संश्रीयमाणत्वात्
,,	१८	०र्दिग्मात्रम०	०र्दिङ्मात्रम०
,,	२१	वा कर्मका०	वाऽकर्मका०
२२२	१२	मातरथ्येति	मातरमभ्येति
२२३	८	उत्कथ	उत्काथ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२२४	१३	वत	वृत
२२७	१	०निःपाद्यत्वा०	०निष्पाद्यत्वा०
२३१	२७	पन्था	पथा
२३४	२६	कर्त्रा	कर्ता
२३६	७	मैत्रायेर्षितव्यं	मैत्रायेष्यितव्यं
२३७	१३	दृष्टमनिष्ठा	दृष्टमिष्ठा
२३८	१८	विधेहिति	पिधेहीति
२३९	७	मनतेराप्ये	मन्यतेराप्ये
२३९	२५	कर्त्ता	कर्ता
,,	,,	सम्भोगाय	'सम्भोगाय
२४०	२४	क्रियाश्रयत्वाद	क्रियानाश्रयत्वाद
२४०	३२	प्रदीपे	पदीये
२४१	१३	वाक्यप्रदीपे	वाक्यपदीये
२४१	२२	विराम प्रमादेषु	प्रमादविरामेषु
२४३	१९	०शब्दोऽपादा०	०शब्दोपादा०
२४४	२८	प्रदीपे	पदीये
२४७	१४	सूर्योऽभ्युदयं	सूर्येऽभ्युदयं
२४८	१७	सम्बन्धीभूत्	सम्बन्धी अभूत्
२५१	३२	राज्ञा	राज्ञां
२५४	२१	फल्गुन्यौ	फाल्गुन्यौ
२५५	२४	घटो	घटौ
२५६	४	यत्र	यत्र
२५८	२	संज्ञाप्राप्ता	संज्ञाऽप्राप्ता
२५८	१६	खादताड	खादता
२५८	१५	जस्तति	जस्यति
,,	२१	एकपद्यादिक	ऐकपद्यादिक
२५८	२१	संज्ञा	संज्ञां
२६०	२३	शिंशिपं	शिंशपं
२६२	१	निःकौशाम्बि	निष्कौशाम्बि
२६३	२३	इडविड्	ऐडविड्
२६३	२९	द्रोण्यादि	द्रुण्यादि
२७१	९	पश्चाद तुरथं	पश्चादतुरथं
२७२	१०	"प्रन्थाते"	"प्रन्थान्ते"
,,	११	सकल	सकलं
२७३	१९	प्रकृतार्थौ	प्रस्तुतार्थौ
२७३	२१	प्रस्तुतार्थौप्रदर्शने-	प्रस्तुतार्थोपदर्शने
२७३	२९	इयं परिमा०	इदं परिमा०
२७३	३२	नोदना	नौदना
२८०	४	आत्मना पञ्चमः	आत्मनापञ्चमः
,,	,,	आत्मना षष्ठः	आत्मनाषष्ठः
,,	,,	आत्मनः पूरण	आत्मनःपूरण
२८२	१७	पर शतादिः	परःशतादिः
,,	२८	च्छेशे	च्छेषे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२८३	५	०र्हणोत्पत्तौ	०र्हणोत्पत्तौ
,,	१९	राज्ञा ज्ञातः	राज्ञां ज्ञातः
,,	२९	गौशब्दमि०	गोशब्दमि०
२८४	१३	मन्यन्ते	मन्यते
,,	२९	"अमो०	"अमा(?)
२८५	३	क्षीये	क्षीयते
,,	४	०चं दुः०	०चर्क दुः०
,,	१६	जरत्यर्थः	जरत्यर्धः
२८८	१३	आहार	आहर
२८८	२२	सैहियाहिरा	सैहिरेयाहिरा
२९१	१३	नचेत्ताव्ययौ	न चेत्तावव्ययौ
२९२	६	अदधिरिति	उदधिरिति
२९३	२०	जलथलः	जलपथः
२९६	१९	श्वश्रेयसम्	श्वःश्रेयसम्
२९७	७	सुधू	सुधूः
२९८	१३	एकषर्यः	एकर्षयः
३००	१८	सन्निःप्रतिभ-	सन्निष्प्रतिभ
३०३	१	ःजवृन्दारकेति	०जवृन्दारिका
३०३	१	औशिज वृन्दारका	औशिज वृदारिका
३०८	१२	अग्निरि	अग्नेरि
३०९	१	गार्ग्यौ	गार्ग्यौ
३०९	१५	गार्ग्यौ	गार्ग्यौ
३१४	३४	त्रियामपि	त्रियामापि
३१७	१६	लुब् भवति	लुब् न भवति
३२०	५	"निष्पागे०	"निष्प्राग्रे०
३२१	३	यवागुः	यवागूः
३२७	११	सुपर्ग्वा	सुपग्वपत्य
३२९	९	सुबाष्कयिः	सौबष्कयिः
३२९	१०	यजन्दा	यजन्ता
३२९	१४	इत्यन्त	इत्यन्त्य
३२९	१४	आश्वत्थामः	अश्वत्थामः
३३०	३	त्रैहिशाला	त्रैहिशाकलाः
३३०	२१	प्यौपगवः	प्यौपगविः
३३४	२४	अकञ्	इञ्
३३५	१२	दक्षिः	दाक्षिः
,,	२५	ऋषिरन्नृषि	ऋषिरनृषिः
३३६	१९	सलोप	सलोप
३३८	२२	इन्द्रद्रु	इन्द्रहू
३४०	५	०र्ज्ञान्यः"	०र्ज्ञायन्यः"
३४९	२४	०द्वैधिकरण्ये	वैयधिकरण्ये
३५०	२८	"चणका०	"चटका०
३५८	१	अजादीनाम०	अजादानाम०
३६०	२१	क्षौद्रकामालवी	क्षौद्रकमालवी

श्रीहैमप्रकाशपूर्वार्द्धस्य स्थूलानुक्रमणिका ।

अतिसूक्ष्मसूचिका तु प्रत्येकपृष्ठद्वयस्योपरिभागेऽवलोकनीया

शुद्धिपत्रकशेषः ।

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६१	३	वानरहस्तिकं	वानरहास्तिकं	४२८	१०	त्वादिः	त्त्वादिः
,,	२२	निश्रेणिः	निःश्रेणिः	४२८	२२	ध्यणादि०	त्यणादि०
,,	२४	लित्वाभा०	लित्त्वाभावा०	४२८	२७	स्थावर	स्थविर
३६६	९	शाल्मयो	शाल्मलो	,,	२८	अपाठव०	अपाटव०
३६६	१५	प्रत्ययमयोगात्	प्रत्यययोगात्	४३१	२८	क्रियी	क्रिया
३७५	१८	दिश्यः	दिश्यः ।	४३२	१६	(७।१।७७)	(७।१।७०)
३८३	३४	णित्वं	णित्त्वं	४३६	८	पश्चादनुगुः	पश्चादनुगु
३८५	६	पैप्लादाः	पैप्पलादाः	४३९	१०	अवकुटः	अवकटः
३८५	२७	देव वच्च–	वेद वच्च–	४४२	२७	टित्वात्	टित्त्वात्
३८६	२५	(६।३।१८६)	६।३।१९६	,,	३०	पूरणं	पूरणः
३८७	१८	दिग्मात्र	दिङ्मात्र	४४४	१	पटिष्टा	पटिष्ठा
३८८	६	६–३–१०४	६–३–२०४	४४८	२५	सामान्यात्रा०	सामान्यमात्राभि०
३९३	५	वृद्धेऽञः	वृद्धेञः	४५२	२६	विष्वग्भतानि	विष्वग्गतानि
३९४	३४	नापिक	नापित	४५२	३५	कृषितक्षेत्रम्	कृषिक्षेत्रम् ?
३९७	११	०लक्षणे णि०	०लक्षणेऽणि०	४५७	११	दिग्मात्र	दिङ्मात्र
३९७	३२	श्वरणः	श्वरणाः	४५७	१४	। आढ्या	आढ्या–
३९८	११	अस्माकः	आस्माकः	४५८	२	स्थलकः	स्थूलकः
३९९	७	दिनणादय	दिनण्णादय	४६६	१७	०नर्थक्यात्	०ऽऽनर्थक्यात्
४०७	१७	एकदशान्यिकः	एकादशान्यिकः	४६९	३२	"उतो	"उतोऽ–
४०८	५	याञ्चया	याञ्ञया	४७०	२३	दिग्मात्रम्	दिङ्मात्रम्
४१३	१९	०समीपनीयम्	०समापनीयम्	४७०	२३	इकण	इकण्
४१५	५	शुक्लं	शुल्कं	,,	३३	हुङ्कति	हुङ्कृतिः
४१५	७	शुक्लं	शुल्कं	१	१/२९	२४०	२४४
४१९	५	नेकरलोप	नेकारलोपः	१	३/३८	अपीलवा०	अपील्वा०
४२०	१४	पञ्चशाणम्	पञ्चशाण्यम् पञ्चशाणम्	७	३/२१	इनः	इतः
४२०	३४	यत्व०	यत्त्व०	८	३/२४	दामन्य-	दामन्या-
४२२	२५	प्रतिजनीनः	प्रातिजनीनः	१०	३/१९	निवृत्ते	निर्वृत्ते
४२७	२९	गोजतेर्भावो	गोजातेर्भावो	१७	२/३८	कृतादि	कृतार्थैः

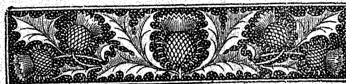
पृ० १५१ पं. १७ गत 'शारीरः प्रत्यङ्गविशेष' इत्यस्य स्थाने 'धातुविशेषः' इति मूलप्रतिषु दृश्यते ।

पृ० ४७२ तमगतप्रशस्त्यां द्वितीयपङ्क्तौ 卐 विजयन्तु इत्यस्य स्थाने 卐 विजयन्ताम् । प्रथमश्लोके 'आत्मारामेति ख्यातानां विजयानन्दसूरीणाम्' इत्यस्य स्थाने 'आत्मारामेति ख्यातस्य विजयानन्दसद्गुरोः' । दशमे श्लोके 'विजयतु' इत्यस्य स्थाने 'विजयतां' इति च वाच्यम् सुधीभिः ॥

श्रीहैमप्रकाशपूर्वार्द्धगतगणानामकाराद्यनुक्रमणिका ।

विशिष्टस्थलानामनुक्रमणिका ।

अन्या अपि विषयाः बृहन्न्यासाद्यनुसारेण कारकप्रक्रियायां चर्चितास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः । समासतद्धितादिविषया अपि यथाक्रमं सविस्तरं व्याख्याताः प्रत्येकपृष्ठद्वयावलोकनेन ज्ञेयाः ।



मूलप्रतिषु कथमप्यनुलब्धे द्वे विशिष्टसूत्रे सिद्धहेमबृहद्वृत्तितः संगृहीते

द्विदण्ड्यादिः [सि० ७।३।७९ ॥]

द्विदण्डि इत्येवमादयः समासा इजन्ताः साधवो भवन्ति । द्वौ दण्डावस्मिन्प्रहरणे द्विदण्डि प्रहरति, एवं द्विमुसलि । उभादन्ति उभयादन्ति । उभाबाहु उभयाबाहु । उभौ हस्तावस्मिन्पाने उभाहस्ति पिबति, एवमुभयाहस्ति । *उभापाणि उभयापाणिः । उभाञ्जलिः उभयाञ्जलिः । उभौ कर्णावस्मिन्श्रवणे उभाकर्णि शृणोति, एवमुभयाकर्णि । अन्ते वासोऽस्मिन्स्थानेऽन्तेवासि तिष्ठति । अन्तेवासी गुरोरिति ताच्छीलिकान्तोऽन्य एव शब्दः । संहितानि पुरुषान्यस्मिन् सरणे संहितपुच्छि धावन्ति । एकः पादोऽस्मिन्गमने एकपदि गच्छति । समानौ पादावस्मिन्सपदि गच्छति । आच्यपादौ आच्यपदि शेते । एवं प्रोह्यपदि हस्तिनं वाहयति । निकुच्यकर्णौ निकुच्यकर्णि धावति, तिष्ठद्ग्वित्वादव्ययीभावः । उभाबाहु उभयाबाह्वित्यत्र निपातनादिच्लुपि स्थानिवद्भावादिजन्तत्वेनाव्ययीभावसंज्ञा विभक्त्यलुक् पादस्य पद्भावः समानस्य सभावश्चेत्यादि सर्वं निपातनात् सिद्धम् । क्रियाविशेषणाच्चान्यत्र न भवति । द्वौ दण्डावस्यां शालायां द्विदण्डा, द्विमुसला ॥ ※ उभस्य उभयोऽद्वित्वे इत्यनुपदकारसूत्रं ततः उभयः पाणिः उभये वा पाणयो यस्मिन्नित्येकत्वे बहुत्वे एव वाक्यं कार्यम् एवमन्यत्रापि ॥

संख्यादेः पादादिभ्यो दानदण्डे चाऽकल्लुक् च [सि० ७।२।१५२] संख्यायाः प्रकृत्यावयवात् परे ये पादादयस्तदन्तान्नाम्नो दानदण्डे चकाराद्वीप्सायां च विषयेऽकल् प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे च प्रकृतेरन्तस्य लुग्भवति । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति । त्रिपदिकां ददाति । द्वे शते विसृजति द्विशतिकां विसृजति । द्विमोदकिकां त्रिमोदकिकां त्यजति । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । एवं त्रिपदिकां द्विशतिकां त्रिशतिकां द्विमोदकिकां त्रिमोदकिकाम् । वीप्सायाम्—द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते, त्रिपदिकां द्विशतिकां त्रिशतिकां द्विमोदकिकां त्रिमोदकिकाम् । संख्यादेरिति किम् ? पादं ददाति, पादं दण्डितः, पादं पादं भुङ्क्ते । पादादिभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ माषौ ददाति । दानदण्डे चेति किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते । चकारो वीप्साया अनुकर्षणार्थः । लकारः स्त्रीत्वार्थः । लुग्वचनमनिमित्तलुगर्थम् (नन्वकलि 'अवर्णेवर्णस्य' इति प्रकृत्यन्तस्य लुप् भविष्यति, किमर्थं लुग्वचनमित्याशङ्का), तेन पादः पद्भावो भवति । परनिमित्तायां तु लुचि स्थानिवद्भावो न स्यात् । पादादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ॥





॥ विश्वहितबोधिदायकश्रीअमीविजयगुरुभ्यो नमः ॥

महामहोपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितं

श्रीहैमप्रकाशाख्यं महाव्याकरणम्

। अथ पूर्वार्धम् ।

॥ ॐ नमः । श्रीगुरुभ्यो नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः । श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

प्रणम्य पार्श्वविश्वेशं शङ्खेश्वरपुरस्थितम् ।
स्वोपज्ञप्रक्रियावृत्तिस्तन्यते विदुषां मुदे ॥ १ ॥

इह हि श्रीसिद्धराजजयसिंहदेवप्रभृतिपरःशतक्षितिपालमौलिमाणिक्यमालोत्तेजितक्रमनखसहस्रपादाः, प्रत्यक्षसरस्वतीचक्रेश्वर्यादिदेवताचतुष्टयकृताह्लादाः, व्याकरणकाव्यालङ्कारच्छन्दस्तर्काद्यनेकशास्त्रनिर्माण-कृतसकलकोविदप्रसादाः, **श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः**, परपरिगृहीतपाणिनीयादिव्याकरणाध्ययने तेषां विनयादिविधाने च **जैनयतयो** मा स्म खिद्यन्तीति तेषां कृपया, **श्रीसिद्धराजप्रार्थनया** च, सकल-व्याकरणोपनिषद्भूतमलौकिकसूत्ररचनाप्रधानं, विविधविशेषार्थनिधानं, **श्री[सिद्ध]हेमचन्द्राभि-धानं** महाव्याकरणं विरचयाञ्चक्रुः । तस्मिंश्च रत्नाकर इवातिगम्भीरेऽनुवृत्त्याद्यानुकूल्येन सूत्ररचनाञ्चिते शब्दव्युत्पत्तौ व्यस्तसूत्रतां विलोक्य केचनाल्पमतयो ग्राम्या इव माणिक्यपरिग्रहेऽलसायन्ते । ततस्तेषा-मस्मिन्महाव्याकरणे प्रवेशोपायभूतां शब्दसाधनक्रमेण कतिपयहैमसूत्रसङ्घटनात्मिकां **हैमलघुप्रक्रियां** चिकीर्षुर्ग्रन्थकारः शिष्टाचारप्रतिपालनाय विघ्नविघाताय च मङ्गलाचरणं प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधेयप्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिणश्च प्रथमपद्येन प्रकटयति—

प्रणम्य परमात्मानं बालानां बोधसिद्धये ।
करोमि प्रक्रियां सिद्धहेमचन्द्रानुसारिणीम् ॥ १ ॥

'प्रणम्येति', अहं प्रक्रियां करोमीत्यन्वयः, प्रकृतोपयोगिसूत्रसङ्घटनेन प्रकरणं शब्दव्युत्पादनं प्रक्रिया, ताम् । **केचित्तु** प्रक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनयेति प्रक्रियेत्यूचुस्तत्र "स्त्रीखलना अलो बाधकाः, स्त्रियाः खलनौ" इति न्यायात् शं बाधित्वा अनःप्रवृत्तौ प्रकरणीति रूपप्रसङ्गः । किंविशिष्टां प्रक्रियाम् ? 'सिद्ध-हेमचन्द्रानुसारिणीम्', सिद्धहेमचन्द्राभिधानं महाव्याकरणमनुसरतीति सिद्धहेमचन्द्रानुसारिणी ताम्, एतेन सम्यग्दृष्टिप्रणीतव्याकरणानुसारितयास्याः प्रक्रियायाः कौमुद्यादिभ्यो विशिष्योपादेयतां स्वकपोल-कल्पितशङ्कानिरासेन सम्प्रदायशुद्धतां चाह । कस्यै ? 'बोधसिद्धये', बोधः सर्वोपाधिशुद्धं शब्दज्ञानम्, तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तस्यै । केषाम् ? 'बालानाम्' बालाः शब्दापशब्दविवेकविकलास्तेषाम् । अत एव व्युत्पत्तिलक्षणस्य फलस्य परगामितया 'करोमी'त्यत्र परस्मैपदम् । किं कृत्वा ? प्रणमनम्, पूर्वं 'प्रणम्य' मनोवाक्कायप्रह्वीभावगोचरीकृत्य । कम् ? 'परमात्मानं'—परा प्रकृष्टा 'मा' लक्ष्मीः कान्तिर्यस्य स परमः, परैर्योगिभिर्मीयते ज्ञायते इति वा परमः, परान् शत्रून् रागादीन्मीनाति हिनस्तीति वा परमः, यद्वा 'मानं' मा, परा प्रकृष्टा मा—ज्ञानं यस्य स परमः । 'अत सातत्यगमने' अतति—सातत्येन गच्छति ताँस्तान् ज्ञानादिपर्यायानित्यात्मा । परमश्चासावात्मा च परमात्मा । तं परमात्मानं, परमेश्वरमित्यर्थः ।

अत्र 'प्रणम्ये'त्यादिना मङ्गलाचरणमाचरितम् । 'प्रक्रियामि'त्यनेन चाभिधेयमभिहितं शब्दव्युत्पादनस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् । 'बालानां बोधसिद्धये' इत्यनेन प्रयोजनमधिकारिणश्चाभिहिताः । तत्र प्रयोजनं द्विविधं, ग्रन्थकर्तुर्ग्रन्थपठितुश्च । पुनरेकैकं द्विधा, अनन्तरपरम्परभेदात् । तत्र ग्रन्थकर्तुरनन्तरप्रयोजनं बालानुग्रहादि । ग्रन्थपठितुश्च शब्दज्ञानादि । परम्परप्रयोजनं तूभयोरपि निःश्रेयसावाप्तिस्तथोक्तम्, "व्याकरणात्पदसिद्धिः, पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति । अर्थात्तत्त्वज्ञानं, तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः" ॥ १ ॥ इति । अधिकारिणश्च व्युत्पित्सवो बालाः । सम्बन्धश्च शब्दशास्त्रयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव इति ।

अथ साधनिका लिख्यते—

'णमं प्रह्वत्वे' णम्, "पाठे धात्वादेर्णो नः" इति णस्य नः, "धातोः पूजार्थे"ति प्रपूर्वः, प्रणमनं पूर्वं प्रणम्य "प्राक्काले" इति क्त्वाप्रत्ययः । प्रस्य "ऊर्याद्यनुकरणे"त्यादिना गतिसंज्ञायां "गतिक्वन्यस्तत्पुरुष" इति समासः, "अनञः क्त्वो यप्" इति क्त्वाप्रत्ययस्य यबादेशः, "अदुरुपसर्गान्तरो णहिनुमीनाने"-रिति नस्य णत्वं **प्रणम्य** १-१, "क्त्वातुमम्" इति क्त्वान्तस्याव्ययत्वात् "अव्ययस्ये"ति सिलुप् । परमात्मन् २-१, "सन्महत्परमोत्कृष्टं पूजायामि"ति कर्मधारये "कर्मणी"ति द्वितीयायां—"नि दीर्घ" इति दीर्घे **परमात्मानम्** । बाल ६-३ आम्-"ह्रस्वापश्चे"ति नाम्, "दीर्घो नाम्यतिसृचतसृष्र" इति दीर्घे **बालानाम्** । 'बुधिं मानिं च ज्ञाने' बुध्, बोधनं बोधः, "भावाकर्त्रो"र्घञ्, "अलघोरुपान्त्यस्ये"ति उपान्त्यगुणे बोधः । "षिधू गत्यां" षिध्, "षः सोऽष्टैष्ठिवष्वष्कः"–सिध्, सेधनं सिद्धिः- "स्त्रियां क्तिः", "अधश्चतुर्थात्तथोर्धः" इति तस्य धत्वं, "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" इति पूर्वधस्य दः सिद्धिः, बोधस्य सिद्धिः—"षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" इति षष्ठीतत्पुरुषः, "ऐकार्थ्ये" इति षष्ठीलुक् बोधसिद्धि ४-१ "ङित्यदिति" इति इकारस्य एत्वे, "एदैतोऽयाय्" इति अयादेशे **बोधसिद्धये** । 'डुकृंग् करणे' कृ, वर्तमाना मिव्, "कृग्तनादेरुः" इति उप्रत्ययः, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" इति कृधातोर्गुणः, "उश्नो"रिति उप्रत्ययस्य गुणः, **करोमी**ति सिद्धम् । प्रपूर्वः 'डुकृंग् करणे' कृ, प्रकरणं प्रक्रिया कृगः शप्रत्ययः "रिः शक्याशीर्ये" इति ऋकारस्य रिः "संयोगा"दितीयादेशे शप्रत्ययस्य क्यधिकारविहितत्वात् "आत्" इति आप्रत्ययः, प्रक्रिया २-१अम्, "समानादमोतः" इत्यकारलुप् **प्रक्रियाम्** । 'षिधू गत्यां' षिध्, सिध्यति स्म सिद्धः, "क्तक्तवतू" इति क्तप्रत्ययः शेषं प्राग्वत् । 'हिंट् गतिवृद्ध्योः' हिनोति स्वतेजसा वृद्धिमाधत्ते "क्षुहिभ्यां वे"ति मप्रत्ययः, "नामिनो गुणोऽक्ङिती"ति गुणे हेमः । 'चदु दीप्त्याह्लादयोः' चद्, "उदितः स्वरान्नोन्त" इति नोन्ते चन्दत्याह्लादयति लोकानिति "भीवृधि" इति रप्रत्ययः चन्द्रः । हेमवद्गौरवाद्धेमः चन्द्रवदाह्लादकत्वाच्चन्द्रः, हेमश्चासौ चन्द्रश्च हेमचन्द्रः—हेमचन्द्राचार्य इत्यर्थः । "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" 'सिद्ध' इति सिद्धराजजयसिंहदेवः ततश्च सिद्धराजेन कारितत्वात् सिद्धं, हेमचन्द्रेण कृतत्वात् हैमचन्द्रं, सिद्धं च तद्धेमचन्द्रं च सिद्धहेमचन्द्रमित्यस्य व्याकरणस्य नाम । सिद्धहेमचन्द्र २-१ अम्, अनुपूर्वकं 'सृं गतौ', सिद्धहेमचन्द्रमनुसरतीत्येवं शीला "अजातेः शीले" इति णिन्, "गतिकारकङस्युक्तानां कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समास" इति न्यायात् "ङस्युक्तं कृते"ति सूत्रेण विभक्त्युत्पत्तेः प्राक् समासः, "ऐकार्थ्ये" इत्यमलुप्, "नामिनोऽकलिहलेरि"ति वृद्धिः, "स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङी"रिति ङीः—ई, "रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्यालचटतवर्गशसान्तरे" इति णत्वे सिद्धहेमचन्द्रानुसारिणी, २-१अम्, "समानादमोत" इत्यकारलुपि **सिद्धहेमचन्द्रानुसारिणीम्** ॥

ननु नत्वेत्यनेनापि सिध्यति प्रोपसर्गोपादानं किमर्थम् ? अत्रोच्यते—प्रोपसर्गो वाक्कायमनसां प्रह्वीभावप्रकर्षं द्योतयति, उपहासनमस्कारसंशयं च निराकरोति, **अन्यथा** "नमस्यं तत्सखि प्रेम घण्टा-

रसितसोदरम् । क्रमकृशिमनिस्सारमारम्भगुरुडम्बरम्" ॥ २ ॥ इत्यादिवदुपहासनमस्कारभ्रमोऽपि स्यादिति । मङ्गलार्थं च प्रशब्दोपादानम्, **तथोक्तम्**, "प्रशब्दश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" ॥ ३ ॥ **ननु** प्रणम्येत्यत्र क्त्वाप्रत्ययः कर्मणि भावे वा ? कर्मणि चेत्तर्हि कर्मण उक्तत्वात् कर्मणि प्रथमा प्राप्नोति, अथ चेद्भावे तर्हि "भावोक्तौ कर्म नो भवे-दि"ति कर्म न स्यादिति; **अत्रोच्यते** भाव एव "क्त्वातुमम् भावे" इति वचनात्, **किन्तु** "सकर्मकाणामुत्पन्नस्त्यादिर्भावविवक्षया । अपाकरोति कर्मार्थं स्वभावान्न पुनः कृतः" ॥ ४ ॥ इति कर्म भवत्येव । **ननु** प्रणम्येत्यत्र 'प्रणम् क्त्वा' इति स्थिते प्रकृत्याश्रितत्वेन "अहन्पञ्चमस्य क्विङिति" इति दीर्घोऽन्तरङ्गः, प्रत्ययाश्रितत्वेन यबादेशो बहिरङ्गो, "बहिरङ्गाच्चान्तरङ्गं बलीय" इति पूर्वं दीर्घे ततो यबादेशे 'प्रणाम्ये'ति रूपं कुतो न स्यादिति; **अत्रोच्यते**; प्रजग्ध्येत्यत्र "यपि चादो जग्ध्"–तादौ किति प्रत्यये यपि चादेर्जग्ध् स्यात्–इत्यन्तरङ्गत्वात् यबादेशात् प्रागेव जग्धादेशे सिद्धे यब्ग्रहणमन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते इति ज्ञापनार्थम्, **तथाहुः**–"तादौ किति जग्धि सिद्धे यपि चेति यदुच्यते । ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां यपा भवति बाधनम्" ॥ ५ ॥ **न चैवं** कृतेऽपि यबादेशे "स्थानीवावर्णविधौ" इति आदेशस्य स्थानिवद्भावेन दीर्घः प्राप्नोतीति वाच्यम्, "न सन्धिङीयक्विद्विदीर्घासद्विधावस्क्लुकी"ति दीर्घविधौ स्थानिवद्भावाभावात् "सकृद्गते स्पर्धे बाधितं बाधितमेवे"ति न्यायाद्वा न दीर्घः । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोश्च लक्षणमिदम्—

"प्रकृतेराश्रितं यत्स्याद्, यद्वा पूर्वं व्यवस्थितम् । यस्य चाल्पनिमित्तानि अन्तरङ्गं तदुच्यते" ॥६॥
"प्रत्ययस्याश्रितं यत्स्याद्, बहिर्वा यद् व्यवस्थितम् । बहूनि वा निमित्तानि बहिरङ्गं तदुच्यते" ॥७॥१॥

अथ ग्रन्थारम्भादिशुभकार्ये स्वोपकारिणः स्मर्तव्या इति तदर्थमुपक्रमते—

ओँ नमो हेमचन्द्राय हैमव्याकरणाय च ।
शब्दपाथोधिसोमाय जगद्विख्यातकीर्तये ॥ २ ॥

'ओँ नम' इति । हेमचन्द्राय नमोऽस्तु इत्यन्वयः । किंविशिष्टाय हेमचन्द्राय ? ओँ अवतीत्योँ रक्षकायेत्यर्थः । **'ओँ नम'** इति मातृकादौ पठितः पाठसिद्धः सारस्वतमन्त्रो ज्ञेयः । 'च'–पुनः । हैमव्याकरणाय नमोऽस्तु । किंविशिष्टाय हेमचन्द्राय हैमव्याकरणाय च ? 'शब्दपाथोधिसोमाय' शब्दाः पाथोधिरिव शब्दपाथोधिः, सोम इव सोमः, शब्दपाथोधौ सोमः शब्दपाथोधिसोमः, तस्मै, शब्दज्ञानोल्लासकारिणे इत्यर्थः । पुनः कथम्भूताय हेमचन्द्राय हैमव्याकरणाय च ? 'जगद्विख्यातकीर्तये' । जगति विख्याता प्रसिद्धा जगद्विख्याता, जगद्विख्याता कीर्तिर्यस्य स तथा तत्तथा वा, तस्मै । **अथवा** शब्दपाथोधिसोमाय नमोऽस्तु । शब्दानां पाथोधिः शब्दपाथोधिः–शब्दरत्नरत्नाकर इति यावत्, स चासौ सोमश्च **श्रीसोमविजयोपाध्याय**स्तस्मै । किंविशिष्टाय 'हेमचन्द्राय' ? । हेमचन्द्र इव हेमचन्द्रस्तस्मै, अस्मिन् कलिकालेऽपि श्रीहेमचन्द्राचार्यवत् प्रौढप्रभावाय निरवद्यव्याकरणविद्याह्लादाय च । पुनः किंविशिष्टाय 'हैमव्याकरणाय' ? । हैमं व्याकरणं स्वभ्यस्तं यस्य स हैमव्याकरणस्तस्मै । **तथा** श्रूयते हि कालानुभावतस्**तत्त्वप्रकाशिकाख्याया** हैमव्याकरणबृहद्वृत्तेः सम्प्रदाये व्युच्छिन्नप्राये सति **जगद्गुरु**श्रीहीरविजयसूरिनिर्देशात् **स्तम्भ**तीर्थवास्तव्यवृद्धशाखीयोकेशज्ञातीय**सङ्घपति**–उदयकरणसोमकरणसाहाय्याच्च, बहुशः परिपठितमहाभाष्यादिमहाव्याकरणात् **भूधी**भट्टात् सम्यगवगम्य, महोपाध्याय**श्रीसोमविजयगणि**भिस्तत्त्वप्रकाशिका तपागच्छे बहूनां गीतार्थानां पाठिता । ततोऽद्यापि

सम्प्रदायशुद्धा सा प्रवर्तते इत्येतद्विशेषणं युक्तमेवेति । **पुनः किंवि० ।** अभङ्गवैराग्यरङ्गसुधारससरसदेशनाद्यभिरामगुणग्रामरामणीयकत्वेन जगति विख्याता कीर्तिर्यस्य स तथा तस्मै । **अथवा** 'जगद्विख्यातकीर्तये नमोऽस्तु' । स्वविरचित**विचाररत्नाकरहीर**प्रश्नोत्तरादिग्रन्थप्रथितयशोभरत्वेन, **स्वशिष्य**विरचित**लोक**प्रकाशकल्पसुबोधिकावृत्ति**जिन**शतकबृहद्वृत्ति**हैम**प्रक्रियातद्वृत्तिप्रभृतिग्रन्थाग्रजाग्रन्नामधेयत्वेन, जगति विख्यातः प्रसिद्धः, स चासौ कीर्तिश्च—**श्रीकीर्तिविजयोपाध्याय**स्तस्मै । किंवि० 'हेमचन्द्राये'त्यादि प्राग्वत् । **अत्र च** राजप्रतिबोधविधायकत्वेन अलौकिकव्याकरणाद्यनेकमहाशास्त्रविधायित्वेन च सकलजिनशासनोपकारित्वात् ग्रन्थकारस्यापि सुतरामुपकारीति प्रथमं श्रीहेमचन्द्राचार्यनमस्करणं न्याय्यमेव । **श्रीहैमव्याकरणस्यापि** नमस्करणीयत्वमत्यन्तमुचितमेव, सम्यग्दृष्टिप्रणीतत्वेन श्रुतज्ञानत्वात् सकलशास्त्रव्युत्पत्तिहेतुत्वेन लोकेऽपि महोपकारितया प्रतीतत्वाच्च । तथाह लीलावतीकारो भास्करः **सिद्धान्तशिरोमणौ**—"यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यक् ब्राह्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् । यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान् शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी" ॥ ८ ॥ **सत्य**व्रतविशुद्ध्याधायित्वेन निर्जराहेतुतया सिद्धान्तेऽप्यभिहितत्वाच्च, तथोक्तं **प्रश्नव्याकरणाङ्गे**—"अह केरिसयं पुणाइ सच्चं तु भासिअव्वं जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं सिप्पेहिं आगमेहिं य नामक्खायनिवायउवसग्गतद्धिअसमाससंधिपदहेतुजोगियउणाइकिरियाविहाणधातुसरविभत्तिवण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहंमि"त्यादि । व्याकरणनमस्कारेण च **सरस्वत्या** अपि नमस्कारः कृतो भवति, सरस्वतीरूपत्वात् व्याकरणस्य । **श्रीहीरविजयसूरि**शिष्यमुख्ययोः सोदरयोः सतीर्थयोश्च महोपाध्यायचक्रवर्त्तिनोः पितृव्यगुरुतया स्वगुरुतया च परमोपकारित्वान्नमस्करणं समुचितमेवेति द्वितीयश्लोकेन चत्वारोऽप्युपकारिणः स्मृता इति तत्त्वम् ।

ओँ ४-१, 'अव्ययस्ये'ति विभक्तिलुप्, । **नमः** १-१, 'अव्ययस्ये'ति, विभक्तिलुप् । हेमचन्द्र ४-१, "शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः" इति चतुर्थी, "ङेङस्योर्यातौ" य "अत आः स्यादौ जस्भ्यां ये" इत्यात्वे **हेमचन्द्राय ।** हेम्नो—हेमचन्द्राचार्यस्येदं "तस्येदम्" इत्यण्—हैमन् अ—"नोऽपदस्य तद्धिते" इत्यन्त्यस्वरादिलुप्, "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते" इति वृद्धौ हैमं, वि आङ्पूर्वक 'डुकृंग् करणे' कृ, व्याक्रियते अनेनेति व्याकरणं, "करणाधारे" इत्यनट् "नामिनो गुणोऽक्ङिती"ति गुणे व्याकरणं, हैमं च तद् व्याकरणं च "विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्चे"ति कर्मधारये **हैमव्याकरण**४-१, प्राग्वत् **हैमव्याकरणाय ।** च१-१ 'अव्ययस्ये'ति विभक्तिलुप् । 'शपीं आक्रोशे' शप्, शपति—आक्रोशति कूटोच्चारकमिति "शाशपिमनिकनिभ्यो दः" इति दप्रत्ययः, "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" इति पस्य बत्वे शब्दः, शब्दते इति वा । पाथस् १-३, 'डुधांग्क् धारणे चे'ति धाधातुः, पाथांसि धीयन्तेऽस्मिन्निति "व्याप्यादाधारे" इति किः, "इडेत्पुसिचातो लुक्" इत्यकारलुकि, "ङस्युक्तं कृते"ति तत्पुरुषसमासे, "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुपि पाथोधिः, शब्दाः पाथोधिरिव "उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ" इति कर्मधारये विभक्तिलुपि शब्दपाथोधिः, सोम इव सोमः, अभेदोपचारः, शब्दपाथोधौ सोमः "सिंहाद्यैः पूजायामि"ति सप्तमीतत्पुरुषः विभक्तिलुप् शब्दपाथोधिसोम ४-१, प्राग्वत् **शब्दपाथोधिसोमाय ।** 'गम्लं गतौ' । "गमेर्डिद्द्वे च"—अस्मात् डित्कत्द्वेचास्य रूपे स्याताम्, जगत्—स्थावरजङ्गमो लोकः । यद्वा गच्छतीति जगत् "विद्युद्दज्जगज्जुहूवाक्प्राड्धीश्रीद्रुस्रूज्वायतस्तूकटप्रूपरिव्राड्भ्राजादयः क्विप्" इति निपातनात् जगत् इति । विपूर्वः 'ख्यांक् प्रकथने' विख्यायतेस्म विख्याता, जगति विख्याता जगद्विख्याता, "सिंहाद्यैः पूजायामि"ति समासः । 'कृतण् संशब्दने' कीर्तनं कीर्त्तिः, "सातिहेतियूतिजूतिज्ञप्तिकीर्तिः" इति सूत्रेण निपातः । जगद्विख्याता कीर्तिर्यस्य—"एकार्थं

चानेकं चे"ति समासः—स जगद्विख्यातकीर्तिस्तस्मै **जगद्विख्यातकीर्तये** । व्याकरणविशेषणे तु परतः क्लीबत्वात् "वान्यतः पुमांष्टादौ स्वरे" इति पुंवद्भावपक्षे जगद्विख्यातकीर्तये इति सिद्धम् ॥ २ ॥

आदौ विघ्नविघाताय शिष्टाचाराच्च शास्त्रकृत् ।
परमेष्ठिनमस्कारं कुरुते भावमङ्गलम् ॥ ३ ॥

महाव्याकरणप्रतिष्ठितप्रथमसूत्रप्रस्तावनाकारिका स्पष्टा । 'आदावि'ति, परं 'शास्त्रकृदि'ति—श्रीहेमसूरिः । 'भावमङ्गलमिति—उपयुक्तस्यार्हन्नमस्कारादिकं भावमङ्गलम् । शेषं तु दधिदूर्वादिकम्, अनुपयुक्तस्यार्हन्नमस्कारादिकं च, द्रव्यमङ्गलम् **"अनुपयोगो द्रव्यम्"** इति वचनादिति ॥ ३ ॥

अथ श्रीसूरिपादैर्महामाङ्गलिकतया व्याकरणादावुपन्यस्तं **प्रथमसूत्रं** प्रक्रियाकारोऽपि मङ्गलार्थं प्रथममुपन्यस्यति—

अर्हँ ॥ १ ॥ [सि०—१।१।१]

'अर्ह मह पूजायाम्' अर्हति त्रिभुवनकर्तां पूजां इत्यर्हन्, "अच्" इति अप्रत्ययः, "पृषोदरादयः" इत्यनेन अर्हम् इति निपातः, **अर्हम्** १-१ 'अव्ययस्य' इति सिलोपः ॥ १ ॥

अत्र च संज्ञाधिकारे प्रक्रियाकारः प्रतिसूत्रं कारिका विधास्यतीत्यस्य सूत्रस्य कारिकामाह 'अर्हमित्यक्षरमिति'—

अर्हमित्यक्षरं ध्येयं परमेश्वरवाचकम् ।
शास्त्रादौ पठतां क्षेमव्युत्पत्त्यभ्युदयप्रदम् ॥ ४ ॥

'अर्हमित्यक्षरं' शास्त्रादौ 'ध्येयं'—प्रणिधानविषयीकार्यमित्यन्वयः । प्रणिधानं चानेन आत्मनः सर्वतः सम्भेदस्तदभिधेयेन चार्हता सह आत्मनोऽभेदः । अर्हदभिन्नमर्हंकारेण सर्वतो वेष्टितमात्मानं ध्यायेदिति भावः । किंवि० अर्हँ ? 'अक्षरं'—न क्षरति स्वस्मात् स्वरूपादित्यक्षरम् । पुनः किं० ? 'परमेश्वरवाचकम्'—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुरूपेषु पञ्चसु परमेष्ठिषु मध्ये शेषपरमेष्ठिचतुष्टयोपदर्शकत्वेन मुक्तिमार्गोपदेशकत्वेन च प्रकृष्टस्य परमेश्वरस्य अर्हद्रूपस्याभिधायकम् । पुनः किं० ? 'पठतां' क्षेमं—कल्याणं विघ्नाभाव इति यावत्, व्युत्पत्तिः—शब्दार्थपरिज्ञानम्, अभ्युदयः—ऐश्वर्यं पाण्डित्यप्रतिष्ठाद्यभीष्टप्राप्तिरिति यावत्, तान् प्रकर्षेण ददातीति 'क्षेमव्युत्पत्त्यभ्युदयप्रदम्' ।

अथ व्याकरणस्य सर्वपार्षदत्वेन पराभिप्रायेणापि अर्हमित्यक्षरं परमेश्वरवाचकं भवति, **तथाहुः**—"अकारेणोच्यते विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः । हकारेण हरः प्रोक्तस्तदन्ते परमं पदम्" ॥९॥ इति ॥४॥

ननु शब्दव्युत्पादनमिदमारभ्यते, शब्दं च प्रति विप्रतिपद्यन्ते विद्वांसः, केचिन्नित्यं केचिदनित्यं केचिन्नित्यानित्यं मन्यन्ते तदत्र कं पक्षमाश्रित्येदमुपक्रम्यत इत्याह—

सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ २ ॥ [सि०—१।१।२]

'सिद्धि' १-१ स् "सो रुः" र् "रः पदान्ते विसर्गस्तयोः" सिद्धिः । स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । "वद व्यक्तायां वाचि" वद् वदनं वादः—'भावाकर्त्रोः' घञ् अप्रत्ययः, "ञ्णिति" इति वृद्धौ—वादः । ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमः ॥२॥ अत्र कारिका—

शब्दानां ज्ञप्तिनिष्पत्ती स्यातां स्याद्वाददर्शने ।
शब्दे ह्येकान्ततो नित्येऽनित्ये वा तद्द्वयं कुतः ॥ ५ ॥

'शब्दानामिति'। ज्ञप्तिर्ज्ञानं, निष्पत्तिश्च प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन निष्पादनम्, एतदुभयं शब्दानां स्याद्वाददर्शने जैनमते एव स्यान्नान्यमतेऽघटमानत्वात्। तत्र हेतुमाह—'शब्दे हीत्यादि'। एकान्तेन शब्दे नित्ये स्वीकृते एकान्तेन च क्षणिके स्वीकृते तद्द्वयं—ज्ञप्तिनिष्पत्तिलक्षणं कुतः स्यात्? कथमपि न स्यादित्यर्थः। तथाहि—एकान्तेन नित्यानां शब्दानामुच्चारणावसरे स्थानप्रयत्नादिना कश्चिद्विशेषो जन्यते नवा? जन्यते चेन्नित्यत्वहानिः, न जन्यते चेत्तर्हि प्रागवत्तदापि ज्ञानं न स्यात्सर्वदा वा स्यात्, न चानुच्चारिताः शब्दा ज्ञायन्ते, तदेवमेकान्तनित्यत्वे शब्दानां ज्ञप्तिर्न घटते। प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण निष्पत्तिस्तु नित्यत्वपक्षे दूरापास्तैव, ततश्च साधुष्वसाधुषु च शब्देषु स्वत एव नित्येषु सत्सु व्याकरणारम्भप्रयासोऽपि व्यर्थ एव। किञ्च एकान्तेनानित्यत्वेऽपि टकारोच्चारणकाले एव घकारे नष्टे कथं घटशब्दज्ञप्तिः स्यात्, उच्चारितमात्रायामेव प्रकृतौ नष्टायां मृतमण्डनन्यायेन कः प्रत्ययादिना विशेष्यते इति निष्पत्तिरपि दुर्घटा, ततश्च प्रागवत् व्याकरणारम्भो व्यर्थ एव। संस्काररूपेण वर्णास्तिष्ठन्तीति चेत्? एकान्तानित्यत्वपक्षक्षतिः। तदेवं द्रव्यार्थिकनयेन शब्दानां नित्यत्वे पर्यायार्थिकनयेन चानित्यत्वे स्वीकृते न कोऽपि दोषः, न च व्याकरणवैयर्थ्यम्। व्याकरणज्ञानसंस्कृतप्रतिभो हि शब्दद्रव्याणि शब्दत्वेन परिणमय्य सत्यवाग्योगेन मुञ्चन् साधुशब्दवादी भवति, ते चाक्षणिकाः साधुशब्दाः सत्यं शाब्दबोधं जनयन्तीति न काप्यनुपपत्तिः। नचैकस्मिन्नित्यत्वमनित्यत्वं च दुर्वचनं तत्तदपेक्षयैकस्मिन् पुंसि पितृपुत्रमातुलभागिनेयादिव्यपदेशवत्तस्य लोके सुप्रतीतत्वादिति दिक्। किञ्च वैयाकरणानां स्याद्वादाश्रयणमेव शरणमन्यथा विकल्पबाहुलकादिनिरूपणं "सुरैः स्तूयमानो जिनो जयती"त्यादिवदेकस्मिन्कारकेऽनेककारकसमावेशश्च दुर्घट इति। **तथा** वादात् विविक्तसाधुशब्दप्रयोगात्सिद्धिर्निःश्रेयसं स्यादिति प्रयोजनपरतयाप्येतत्सूत्रं व्याख्येयमिति ॥ ५ ॥

अथ संज्ञासूत्रप्रस्तावना—

तत्रादौ व्यवहाराय संज्ञां दिशति शास्त्रकृत्।

'तत्रादाविति' कारिकार्द्धं स्पष्टम्। 'व्यवहारायेति' यथालोके सन्धिविग्रहप्रेषणाध्येषणादिव्यवहारश्चैत्रमित्रादिसंज्ञां विना न प्रवर्तते तथात्र सन्धिविश्लेषादिव्यवहारः स्वरव्यञ्जनादिसंज्ञां विना न सम्भवतीति संज्ञाविधानमावश्यकमिति भावः।

अथ जलधरदिनकरादिवत्सर्वोपकारिणः **श्रीसूरयः** प्रत्याहारपरिगणनादिक्लिष्टपद्धतिं परित्यज्य प्राञ्जलेन पथा सकलशास्त्रव्यवहारं प्रवर्तयिष्यन्तोऽनादिकालसिद्धमातृकापाठक्रमेणैव संज्ञा निर्दिशन्ति—

औदन्ताः स्वराः ॥ ३ ॥ [सि०–१।१।४]

'औदन्ताः'। औत् अन्ते येषां ते औदन्ताः, "उष्ट्रमुखादय" इति बहुव्रीहिः। औदन्त १-३, "अत आः स्यादौ०" आ, पुनः "समानानां तेन०" इति दीर्घे "सोरुः" "रः पदान्ते०" **औदन्ताः**। स्वयं १-१ "राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ" राज्, स्वयं राजन्ते इति स्वराः। "क्वचित्" इति डःप्रत्ययः, "डित्यन्त्यस्वरादेः" इत्यन्त्यस्वरादिलोपे "पृषोदरादय" इति स्वयंशब्दस्य स्वभावे स्वर १-३. प्रागवत्**स्वराः**। द्विपदमिदं सूत्रम्। 'औदन्ता' इत्यत्र तपरकरणं विस्पष्टार्थमन्यथा आवन्ता इति कृते दुर्बोधता स्यादिति ॥ ३ ॥

अत्र कारिका (उत्तरार्द्धम्)—

औकारान्ता अकाराद्याः स्वरा वर्णाश्चतुर्दश ॥ ६ ॥

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ–१४

'औकारान्ता' इति। कुत आरभ्येत्याकाङ्क्षायामाह 'अकाराद्या' इति। 'चतुर्दशेति', न तु नव। दुध्यानयेत्यादौ प्रतिपदमुपयोगित्वेन दीर्घाणां पृथक् स्वरेषु गणनाया न्याय्यत्वम्, प्लुतानां तु "सम्मत्य-सूये"त्यादिसूत्रैर्विधीयमानत्वेन स्वतःसिद्धत्वाभावात्तथा प्रायः कार्येष्वनुपयोगाच्च न स्वरेषु पृथग्गणना। 'औदन्ता' इति बहुवचनेन तेषां सङ्ग्रहात् स्वरसंज्ञा भवति। तथाहुः—"औदन्ता, इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां प्लुतानां सङ्ग्रहार्थमि"ति॥ ६॥ ह्रस्वदीर्घप्लुतस्वरलक्षणमाह—

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः॥ ४॥ [सि०—१।१।५]

एका च द्वे च तिस्रश्च एकद्वितिस्रः। "सर्वादयोऽस्यादौ" इति पुंवद्भावः। एकद्वितिस्रो मात्रा येषां ते "गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशि समासेयो बहुव्रीहौ" इति ह्रस्वत्वे एकद्वित्रिमात्र १-३, "अत आः स्यादौ०" "समानानां०" "सोरुः", **एकद्वित्रिमात्राः**। 'तुस ह्रस ह्लस रस शब्दे' ह्रसधातुः। ह्रसत्यपचितो भवति लटिखटि० इति वप्र० ह्रस्वः। 'दृश् विदारणे' दृणाति—विदारयत्युच्चार्यमाणो मुखमिति "मघाघङ्काघदी-र्घोदयः" इति निपातः। 'च्युंङ् ज्युंङ् जुंङ् प्रुंङ् प्लुंङ् गतौ' प्लवते मात्राधिक्यमिति प्लुतः "पित्ते"त्यादिना निपातः। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च "चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ" इति द्वन्द्वसमासः ह्रस्वदीर्घप्लुत १-३, प्राग्वत् **ह्रस्वदीर्घप्लुताः**। "अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसन्धिरि"ति रुलुक्। एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः द्विपदं सूत्रम्॥ ४॥

मात्रा—कालविशेषः—मात्राशब्देन किमुच्यत इत्याह—कालविशेष इति। अत्र लोकसम्मतिमाह—

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
प्लुतः स्वरस्त्रिमात्रः स्याद्व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्॥ ७॥
अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इति ह्रस्वाः। आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए,-
ऐ, ओ, औ इति दीर्घाः। आ ३, ई ३, इत्यादि प्लुताः।

'एकमात्र०' इति (स्पष्टम्)। तथा—"चाषो वदत्येकमात्रं द्विमात्रं वायसो वदेत्। त्रिमात्रं तु शिखी ब्रूयात् नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम्"॥ ८॥ कुक्कुटस्तु कु कू कू ३ इति क्रमेण त्रीनपि ब्रूते॥ ७॥

अथ प्लुतानां प्रदेशानाह—

दूरादामन्त्रणे प्रश्ने प्रश्नाख्याने च भर्त्सने।
सम्मत्यसूयाकोपादौ यथायोगं स्वराः प्लुताः॥ ८॥

'दूरादामन्त्रणे' इति। योगाः—सूत्राणि, योगानामनतिक्रमेण यथायोगं स्वराः प्लुताः स्युः। सप्तमा-ध्यायपर्यन्तप्रोक्तसूत्रानुसारेण स्वराः प्लुता भवन्तीति भावः। तथाहि—**दूरामन्त्रणे** इति।

अत्र सूत्रम्—"**दूरादामन्त्र्यस्य गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत्**"। [सि० ७।४।९९] यत्र प्राकृतात् प्रयत्नात् प्रयत्नविशेषे आश्रीयमाणे सन्देहो भवति, अयं श्रोष्यति न वेति, तद्दूरम्। वाक्यस्य यः स्वरेष्वन्त्यःस्वरो दूरादामन्त्र्यस्य पदस्य सम्बन्धी गुरुर्वानन्त्योऽपि ऋकारवर्जितः स्वरो लकारश्चैको दूरादामन्त्र्यस्यैव सम्बन्धी स प्लुतो वा स्यात्। आगच्छ भो माणवकपिलक ३। आगच्छ भो देवदत्त ३। **पक्षे** प्लुतरहितं रूपं सर्वत्र वा वचने ज्ञेयम्। आगच्छ भो इन्द्रभूते ३, आगच्छ भो क्लृप्तशिख ३ पक्षे प्राग्वत्। 'गुरुर्वैकोऽनन्त्योऽपि लनृत्'। सक्तून् पिब दे ३ वदत्त, पक्षे०। आगच्छ दे३वदत्त, पक्षे०। **अनृदित्यत्र** ह्रस्वऋकारवर्जनात् दीर्घऋकारोऽनन्त्यः प्लुतः स्यात्—आगच्छ भो ऋ३षभ २। **लृकारस्त्वनन्त्यः** प्लुतः स्यात्—आगच्छ भो क्लृ३प्तशिख २। महाविभाषयैव प्लुतविकल्पे सिद्धे वाग्रहणं

न विकल्पार्थं किंत्वन्त्यप्लुतेन सह गुरोरसमावेशार्थम्, तेन कृ३ष्णशिख३ इति न भवति। दूरादिति किम्? शृणु देवदत्त। आमन्त्र्यस्येति किम्? आगच्छतु देवदत्तः। प्रधाने कार्यसंप्रत्ययादिह न भवति आगच्छ भो माणवकपिलक३, अत्र माणवेति कपिलक इत्यस्य विशेषणमित्यप्रधानता ततोऽस्य न प्लुतत्वम्। गुरुरिति किम्? अनन्त्यस्य लघोर्माभूत्। एक इति किम्? अनेकस्य गुरोर्यौगपद्येन मा भूत्। अनन्त्योऽपीति किम्? अन्त्यस्यैव मा भूत्। लृकारग्रहणमनृदिति प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम्। अथ ऋतः प्रतिषेधे लृकारस्य कः प्रसङ्गः? उच्यते—'इदमेव ज्ञापकम्—'ऋवर्णग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणं भवती'ति। तेनाचीकॢपदित्यादौ ऋवर्णकार्यं लृवर्णस्यापि सिद्धं भवति। अनृदिति किम्? कृष्णमि३त्र कृष्णमित्र ३। अनृदिति गुरुर्विशिष्यते न स्वरेष्वन्त्यस्तेनेहापि भवति—आगच्छ भोः कर्तृ ३, आगच्छ भोः कर्तृ। वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यःप्लुतः इत्यनुवृत्तेरिह न भवति—देवदत्त अहो आगच्छ [बृहद्वृत्तावयं विशेषः। अभिपूजितेऽपि दूरादामन्त्र्यस्यैव प्लुत इष्यत इति अभिपूजिते चेति नारम्भणीयम्। शोभनः खल्वसि माणवक३ शोभनः खल्वसि माणवक]

अत्रायं विशेषः—"हेहैष्वेषामेव" [सि० ७।४।१००] दूरादामन्त्र्यस्य सम्बन्धिनौ यौ हेहैशब्दौ—कौ च तौ? यौ तदामन्त्रणे वर्तेते—तयोः प्रयुज्यमानयोः—तयोरेव वाक्ये यत्रतत्रस्थयोरन्त्यःस्वरः प्लुतो वा स्यात्। हे३ देवदत्त आगच्छ। आगच्छ हे३ देवदत्त। आगच्छ देवदत्त हे३। एवं हैशब्दप्रयोगेऽपि। हेहैष्वित्यवधारणस्य विषयार्थम्। एषामिति स्थानिनिर्देशार्थम्। बहुवचनं 'ह इ हे, ह ए है' इति लाक्षणिकयोरपि परिग्रहार्थम्। एवकारोऽन्यस्य प्लुतत्वव्युदासार्थः। अत एव चैवकाराद्यत्रतत्रस्थयोः प्लुतो विज्ञायते।

प्रश्ने प्रश्नाख्याने चेति, अत्र सूत्रम्। "प्रश्ने च प्रतिपदम्" [सि० ७।४।९८] प्रश्ने चकारात् प्रश्नाख्याने वर्त्तमानस्य वाक्यस्य सम्बन्धिनः पदस्य स्वरेष्वन्त्यःस्वरः प्लुतो वा स्यात्। अगमः ३ पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ न् मैत्र ३। पक्षे प्लुताभावः सर्वत्र। प्रश्नाख्याने अगम ३ म् पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ न् चैत्र ३, पक्षे प्लुताभावः। प्रश्ने चेति किम्? देवदत्त ग्रामं गच्छ। प्रतिपदमिति किम्? वाक्यस्यैवान्त्यः स्वरः प्लुतो माभूत्।

अत्रायं विशेषः। "हेः प्रश्नाख्याने" [सि० ७।४।९७] प्रश्नस्याख्याने पृष्टप्रतिवचने वर्त्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यःस्वरो हिशब्दसम्बन्धी प्लुतो वा स्यात्। अकार्षीः कटं देवदत्त? अकार्षं हि ३ अकार्षं हि। हेरिति किम्? अकार्षीः कटं चैत्र? करोमि ननु। प्रश्नग्रहणं किम्? कटं देवदत्ताकार्षं हि, अप्रश्नपूर्वके आख्याने न भवति। आख्यानग्रहणं किम्? देवदत्त कटमकार्षीर्हि। "प्रश्ने च प्रतिपदम्" इति सूत्रेण सिद्धे नियमार्थं वचनम्, हेः प्रश्नाख्याने एव, वाक्यस्वरेष्वन्त्य एव प्लुत, इति च।

किञ्च। "प्रश्नार्चाविचारे च सन्धेयसन्ध्यक्षरस्यादिदुत्परः" [सि० ७।४।१०२] सन्धेयः सन्धियोग्यः यः कश्चित् स्वरे परे विकारमापद्यते। प्रश्नेऽर्चायां विचारे प्रत्यभिवादे च वर्तमानस्य वाक्यस्य सम्बन्धिनः स्वरेष्वन्त्यस्वरस्य सन्धेयसन्ध्यक्षरस्य प्लुतो भवन् आकार इदुत्परः प्लुतो भवति, स च प्रत्यासत्त्या एकारैकारयोरिकारपरः, ओकारौकारयोरुकारपरो भवति। प्रश्ने अगमः ३ पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ नग्निभूता ३ इ। अदास्तस्मा ३ इ। अपचा ३ इ। पटा ३ उ। अहौषी ३ रग्ना ३ उ। "प्रश्ने च प्रतिपदमि"ति प्लुतः। अर्चा पूजा तस्यां "दूरादामन्त्र्यस्ये"ति प्लुतः। शोभनः खल्वसि अग्निभूता ३ इ। पटा ३ उ। विचारे, वस्तव्यं किं निर्ग्रन्थस्य सागारिका३इ उतानगारिका३इ। प्रत्यभिवादे आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ। पटा ३ उ। आयुष्मन्तौ भूयास्तां चैत्रमैत्रा ३ उ। प्रश्नार्चाविचारे चेति

किम् ? आगच्छ भो अग्निभूते ३ । **सन्**ध्येयग्रहणं किम् ? क्वचित् ३ कुशल ३ म् भवत्योः ३ कन्ये ३ । अगमः ३ पूर्वा ३ न् ग्रामा ३ नहो ३ भद्रकासि गौः ३ । आयुष्मानेधि भोः ३ । **सन्**ध्यक्षरस्येति किम् ? भद्रिकासि कुमारि ३ । **वाक्यस्य स्वरे**ष्वन्त्यस्वर इति विज्ञानादिह न भवति । अगमः ३ पूर्वौ ३ ग्रामौ ३ देवदत्त ३ ।

"तयोर्य्वौ स्वरे संहितायाम्" [सि० ७।४।१०३] तयोः प्लुताकारात्परयोरिदुतोः स्थाने स्वरे परे संहितायां विषये यथासङ्ख्यं यकारवकारावादेशौ भवतः । अविरामः संहिता । अगमः३अग्निभूता३ यत्रागच्छ । अगमः३अग्निभूता३यिहागच्छ । अगमः३पटा३वत्रागच्छ । अगमः३पटा३ वुदकमानय । स्वे दीर्घत्वस्य अस्वे स्वरे ह्रस्वत्वस्य बाधनार्थं वचनम् । **स्वर** इति किम् ? अग्ना३इ । पटा ३ उ । **सं**हितायां इति किम् ? अग्ना३इ इन्द्रं । पटा३उ उदकम् । अग्ना३इ अत्र । पटा३उ अत्र । **केचि**दैदौतोश्चतुर्मात्रं प्लुतमिच्छन्ति । ऐ४ तिकायन औ४ पगव ।

भर्त्सने इति । अत्र सूत्रम् **"भर्त्सने पर्यायेण"** [सि० ७।४।९०] भर्त्सनं कोपेन दण्डाविष्करणम्, **तत्र** द्विर्वचनं 'सम्मत्यसूया०' इत्यादि सूत्रेण सिद्धमेव, प्लुतार्थं आरम्भः । भर्त्सने वर्तमानस्य वाक्यस्य यदामन्त्र्यं पदं तद्द्विरुच्यते । तत्र पर्यायेण पूर्वस्यामुत्तरस्यां वोक्तौ स्वरेष्वन्त्यःस्वरः प्लुतो वा भवति । चौर ३ चौर, चौर चौर ३ घातयिष्यामि त्वां, पक्षे प्लुतरहितं रूपम् ।

अत्रायं विशेषः । **"त्यादेः साकाङ्क्षस्याङ्गेन"** [सि० ७।४।९१] वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः प्लुतो वेत्यनुवर्त्तते भर्त्सने इति च । भर्त्सने वर्त्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरस्त्याद्यन्तस्य पदस्य वाक्यान्तराकाङ्क्षस्य अङ्ग इत्यनेन निपातेन युक्तस्य सम्बन्धी प्लुतो वा भवति । अङ्गकूज ३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म, पक्षे अङ्गकूज० । अङ्ग व्याहर ३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म, पक्षे अङ्ग व्याहर० । **त्या**देरिति किम् ? अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि । **सा**काङ्क्षस्येति किम् ? अङ्ग पच, नैतदपरमाकाङ्क्षति । **अङ्ग**नेति किम् ? देवदत्त कूज इदानीं ज्ञास्यसि । **भर्त्सने** इत्येव अङ्गाधीष्व मोदकं ते दास्यामि ।

अस्यापरोऽयं विशेषः । **"क्षियाशीःप्रैषे"** [सि० ७।४।९२] क्षिया आचारभ्रेषः, आशीः प्रार्थनाविशेषः, प्रैषोऽसत्कारपूर्विका व्यापारणा, एतेषु वर्त्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यःस्वरस्त्याद्यन्तस्य पदस्य वाक्यान्तराकाङ्क्षस्य सम्बन्धी प्लुतो वा भवति । **क्षि**यायां, स्वयं ह रथेन याति ३ उपाध्यायं पदातिं गमयति, पक्षे० । **आ**शिषि, पुत्रांश्च लप्सीष्ठाः ३ धनं च तात, पक्षे० । **प्रै**षे, त्वं ह पूर्वं ग्रामं गच्छ ३ चैत्रो दक्षिणं, पक्षे० । **त्या**देरित्येव, भवता खलु कटः कर्त्तव्यः ग्रामश्च गन्तव्यः । **सा**काङ्क्षस्येत्येव, दीर्घं ते आयुरस्तु ।

सम्मत्यसूयेत्यादि । अत्र सूत्रम्—**"सम्मत्यसूयाकोपकुत्सनेष्वाद्यामन्त्र्यमादौ स्वरेष्वन्त्यश्च प्लुतः"** [सि० ७।४।८९] कार्येष्वाभिमत्यं सम्मतिः पूजनं वा, परगुणासहनमसूया, कोपः क्रोधः, कुत्सनं निन्दा, एते प्रयोक्तृधर्मा नाभिधेयधर्माः, एतेष्वर्थेषु वर्त्तमानस्य वाक्यस्यादिभूतमामन्त्र्यमामन्त्रणीयार्थं पदं द्विरुच्यते, तत्र द्विर्वचने आदौ पूर्वोक्तौ स्वरेषु स्वराणां मध्ये योऽन्त्यस्वरः स प्लुतो वा भवति । **सम्मत्यसूयाकोपकुत्सने**ष्विति बहुवचनात् द्विर्वचने विकल्पो न सम्बध्यते । **सम्म**तौ; माणवक ३ माणवक, अभिरूपक ३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि । **अ**सूयायां; माणवक ३ माणवक । **को**पे; अविनीतक ३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । **कु**त्सने; शक्तिके ३ शक्तिके यष्टिके ३ यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः । **सम्म**त्यादिष्विति किम् ? देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन । **आ**दीति किम् ? शोभनः खल्वसि माणवक । **आमन्त्र्य**मिति किम् ? उदारो देवदत्तः । **आ**दाविति किम् ?

उत्तरोक्तौ मा भूत् । स्वरेष्विति किम्? व्यञ्जनान्तस्यापि यथा स्यात् । **अन्त्य** इति किम्? आदिर्मध्यो वा मा भूत् ।

कारिकायां कोपादावित्यत्रादिशब्दग्रहणात्—

"चितीवार्थे" [सि० ७।४।९३] इवार्थे उपमायां चिदिति निपाते प्रयुज्यमाने वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा स्यात्; अग्निश्चिद्भाया ३ त्, राजाचिद्भाया ३ त्, अग्निरिव राजेवेत्यर्थः । **चितीति** किम्? अग्निरिव भायात् । **चितीति** रूपसत्ताश्रयणादप्रयोगे न भवति, अग्निर्माणवको भायात् । **इवार्थ** इति किम्? कर्णवेष्टकांश्चित्कारय कर्णवेष्टकानेवेत्यर्थः । कथञ्चिदाहुः कृच्छ्रेणाहुरित्यर्थः ।

"प्रतिश्रवणनिगृह्यानुयोगे" [सि० ७।४।९४] प्रतिश्रवणं परोक्तस्याभ्युपगमः स्वयंप्रतिज्ञानं श्रवणाभिमुख्यं च; निगृह्य स्वमतात्प्रच्याव्यानुयोगो निग्रहपदस्याविष्करणं निगृह्यानुयोग उपालम्भ इति यावत्; एतयोर्वर्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यः स्वरः प्लुतो वा भवति । **अभ्युपगमे**, गां मे देहि भोः! हन्त ते ददामि ३ हन्त ते ददामि । **स्वयंप्रतिज्ञाने**, नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३ पक्षे० । **श्रवणाभिमुख्ये**, भो देवदत्त किं मार्षे ३, पक्षे० । **मार्षेति** श्रवणाभिमुख्यद्योतको निपातः । **निगृह्यानुयोगे**, अद्य श्राद्धमित्यात्थ ३, पक्षे० । अद्य श्राद्धेति वादी युक्त्या स्वमतात्प्रच्याव्यैवमुपालभ्यते ॥

"विचारे पूर्वस्य" [सि० ७।४।९५] । किमिदं स्यात् किमिति निरूपणं विचारः संशय इति यावत् । तस्मिन्विषये संशय्यमानस्य यत्पूर्वं तस्यान्त्यःस्वरः प्लुतो वा स्यात् । अहिर्नु३ रज्जुर्नु । अहिर्नु रज्जुर्नु ॥

"ओमः प्रारम्भे" [सि० ७।४।९६] । प्रणामादेरभ्यादाने वर्त्तमानस्य ओम्शब्दस्यान्त्यःस्वरः प्लुतो वा भवति । ओ३म् ऋषभं पवित्रम्, ओम् ऋषभं पवित्रम् । एवं ओ३म् ऋषभमृषभगामिनं प्रणमत । ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम् । **प्रारम्भ** इति किम्? ओम् ददामि, **ओम**त्राभ्युपगमे ॥

"अस्त्रीशूद्रे प्रत्यभिवादे भोगोत्रनाम्नो वा" [सि० ७।४।१०१] । यदभिवाद्यमानो गुरुः कुशलानुयोगेनाशिषा वा युक्तं वाक्यं प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादस्तस्मिन्नस्त्रीशूद्रविषये वर्त्तमानस्य वाक्यस्य स्वरेष्वन्त्यःस्वरो भोःशब्दस्य गोत्रस्य नाम्नो वा आमन्त्र्यस्य संबन्धी प्लुतो वा भवति । अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि भोः३ आयुष्मानेधि भोः आयुष्मानेधि देवदत्त भोः ३ । **गोत्र**, अभिवादये गार्ग्योऽहं भोः! कुशल्यसि गार्ग्य ३ । **राजन्य**विशोरपि गोत्रत्वमेव । अभिवादयेऽहमिन्द्रवर्म्मा भोः! आयुष्मानेधीन्द्रवर्म्मन् ३ । अभिवादये इन्द्रपालितोऽहं भोः! आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३ । **नाम**, अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त३, पक्षे सर्वत्र प्लुताभावः । **स्त्री**शूद्रवर्जनं किम्? अभिवादये गार्ग्यहं भोः, आयुष्मती भव गार्गि । अभिवादये तुषजकोऽहं भोः, आयुष्मानेधि कुशल्यसि तुषजक, नात्र प्लुतः । **प्रत्यभिवादे** इति किम्? अभिवादयेऽहं भोः, आयुष्मानेधि स्थालि ३, अभिवादयिताह, खरकुटीवन्न ममेकारान्ता संज्ञा, का तर्हि, दण्डिवन्नकारान्ता, पुनर्गुरुराह, आयुष्मानेधि स्थालि३न्, स पुनराह, ईकारान्तैव मम संज्ञा, स प्रत्युच्यते, असूयकस्त्वमसि जाल्म, न प्रत्यभिवादमर्हसि, भिद्यस्व वृषलस्थालि । **भोगोत्रनाम्न** इति किम्? देवदत्त कुशल्यसि ।

एवं **प्लुतप्रकरणं** यथाशास्त्रं निरूपितम् ।
शास्त्रान्तराण्यनुसृत्य विशेषः शेष ऊह्यताम् ॥ १ ॥

सारस्वतप्रक्रियायां तु "दूरादाह्वाने गाने रोदने विचारे च दैः प्लुतो भवती"त्युक्तम् । **टिरिति** तत्रान्त्यस्वरादेः शब्दस्य संज्ञा ॥ ८ ॥ **स्वराणामेव** प्रतिभेदानाह—

स चैकैकस्त्रिधोदात्तोऽनुदात्तः स्वरितोऽपि च ।
षोढा च सानुनासिकनिरनुनासिका इति ॥ ९ ॥

स चैकैक इति । उदात्तानुदात्तस्वरितभेदाच्च स एकैको ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्च त्रिधा त्रित्रिभेदो भवति, षोढा चेति स एव चैकैकः षोढा भवति कथमित्याह, **सा**नुनासिकनिरनुनासिका इति, त्रयो भेदाः सानुनासिकास्त्रयो भेदा निरनुनासिका इति । यथा ह्रस्व उदात्तः सानुनासिकः १, ह्रस्वोऽनुदात्तः सानुनासिकः २, ह्रस्वः स्वरितः सानुनासिकः ३, ह्रस्व उदात्तो निरनुनासिकः ४, ह्रस्वोऽनुदात्तो निरनुनासिकः ५, ह्रस्वः स्वरितो निरनुनासिकश्चेति ६ । एवं दीर्घः६प्लुतो६पीत्यष्टादश ॥ ९ ॥ **अथ** प्रसङ्गत उदात्तादीनां लक्षणान्याह—

उच्चैर्नीचैः समवृत्त्योच्चार्यमाणाः स्वराः क्रमात् ।
उदात्ताश्चानुदात्ताश्च स्वरिताश्च भवन्त्यमी ॥ १० ॥

उच्चैरिति स्पष्टम्, अयमभिप्रायः, तालवादिषु सभागेषु ऊर्ध्वभागे निष्पन्नः स्वर उदात्तसंज्ञः स्यात्, यथा आयः । नीचैरनुदात्तः, यथा अर्वाङ् । उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् स स्वरितः, यथा 'क१वोश्वाः' इत्यादि, अत्र क इत्यस्यादितोऽर्धमुदात्तमुत्तरार्धं त्वनुदात्तमिति **सिद्धान्तकौमुद्याम्** ॥ १० ॥ **सा**नुनासिकनिरनुनासिकलक्षणमाह—

मुखनासोच्चार्यमाणो वर्णः स्यात्सानुनासिकः ।
मुखेनैवोच्चार्यमाणः ख्यातो निरनुनासिकः ॥ ११ ॥

मुखनासेति कण्ठ्यम् । केवलं, **ना**सिकामनुगतो यो वर्णधर्मः सोऽनुनासिकस्तेन सह वर्त्तमानः सानुनासिकः । **निः**क्रान्तोऽनुनासिकान्निरनुनासिक इति । **वर्ण**शब्देन च स्वरा व्यञ्जनानि चेत्युभयमप्युच्यते ततश्च स्वराः सर्वेऽपि द्विधा भवन्ति, व्यञ्जनेष्वपि यलवा द्विधा भवन्ति । ङ्ञणनमाश्च सानुनासिका एवेत्यत्र वर्णग्रहणम् ॥ ११ ॥ **अथ** स्वराणां भेदसङ्कलनामाह—

प्रत्येकमित्यवर्णाद्याः पञ्चाष्टादशधा स्मृताः ।
सन्ध्यक्षरं द्वादशधा ह्रस्वषड्भेदवर्जितम् ॥ १२ ॥

अ इ उ ऋ ऌ पञ्चापि प्रत्येकमष्टादशभेदास्ततश्च समानानां नवतिर्भेदा भवन्ति । ए ऐ ओ औ एतानि सन्ध्यक्षराणि च प्रत्येकं द्वादशविधानि; कुत इत्याह, **ह्रस्वषड्भेदवर्जितमिति**, एषां ह्रस्वा न सन्ति इति ह्रस्वसम्बन्धिनः षड्भेदा अत्र न गण्यन्ते इति सन्ध्यक्षराणामष्टचत्वारिंशद्भेदाः । सर्वे च सङ्कलिताः स्वरभेदा **अष्टात्रिंशांशतं** भवन्तीति तत्त्वम् ॥ १२ ॥ अत्रैव मतान्तरमाह—

दीर्घषड्भेदवर्जितलकारोऽपि द्वादशधेति पाणिनीयाः—

दीर्घेति फक्किका स्पष्टा । पाणिनीया हि ऌकारं दीर्घं न मन्यन्ते ततश्च तन्मते दीर्घऌकारषड्भेदवर्जने चतुरशीतिः समानानां भेदा भवन्ति, **द्वात्रिंशांशतं** सर्वे स्वरभेदा भवन्ति इति भावः । **अथ** प्रकृतस्वराणामेव **संज्ञाविशेषानाह**—

अनवर्णा नामी ॥ ५ ॥ [सि०–१।१।६]

न विद्यतेऽवर्णो येषु ते अनवर्णाः "अन् स्वरे" इति नञोऽनादेशो, अनवर्ण १-३ "अत आः स्यादौ०" "समानानां०" "सोरुः" अनवर्णाः । 'णमं प्रह्वत्वे शब्दे' णम्, "पाठे धात्वादेर्णो नः", नमनं नामः, "आ-

वाकर्त्रो"र्घञ्प्रत्ययः "ञ्णिति" इत्युपान्त्यवृद्धौ नामः, नामोऽस्यास्तीति नामी–"अतोऽनेकस्वराद्" इति इन्प्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्ये"ति अलोपे नामिन् १-१, "इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योरि"ति दीर्घे "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे "अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसन्धिरि"ति रुलोपे; अनवर्णा नामी । द्विप० । **ननु** संज्ञिसामानाधिकरण्येन संज्ञानिर्देशे सति "औदन्ताः स्वरा" इत्यादिवन्नामीत्यत्र बहुवचनं युज्यते, **सत्यं,** वचनभेदेन संज्ञां कुर्वन्नेवं बोधयति, यत्र नामिनः कार्यं विधीयते तत्र कार्याद्यदि कार्यी स्वरो न्यूनो भवति तदा नामिसंज्ञा प्रवर्तते, **तेन** ग्लायतीत्यादौ न गुणः, **अत** एव तत्राह–"ऐकारोपदेशबलान्नामित्वाभावाद्गुणाभाव" इति, **अन्यत्र** तु सेषु सुहैषु गोषु ग्लौषु इत्यादौ नामिसंज्ञा भवत्येव ॥ ५ ॥

अवर्णवर्जिताश्चैते स्वरा द्वादश नामिनः ।

अवर्णवर्जिताश्चेति कारिकार्द्धं स्पष्टम् ।

लृदन्ताः समानाः ॥ ६ ॥ [सि०–१।१।७]

लृत् अन्ते येषां ते लृदन्त, १-३, "अत आः स्या०" "समानानां०" "सोरुः" "रः पदान्ते०" लृदन्ताः । समानं तुल्यं मानं परिमाणं येषां ते "समानस्य धर्मादिषु" इति सूत्रेण समानस्य सभावे समान, १-३, प्राग्वत् समानाः । द्विप० ॥ ६ ॥

लृकारान्ता अकाराद्याः समानाख्याः स्वरा दश ॥ १३ ॥

लृकारान्ता इति श्लोकार्द्धं सुगमम्, केवलं लृकारान्ता इत्युक्ते किमादय इत्याकाङ्क्षायां [आह] अकाराद्या इति ॥ १३ ॥

ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ ७ ॥ [सि०–१।१।८]

एश्च ऐश्च ओश्च औश्च "चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ" इति द्वन्द्वसमासे ए ऐ ओ औ, सूत्रत्वाल्लोपः । सम्पूर्वक 'डुधांग्क् धारणे' धा, सन्धानं सन्धिः "उपसर्गाद्दः किरि"ति इप्रत्ययः "इडेत्पुसि चातो लुक्" इत्यालुकि सन्धिः, 'क्षर संचलने' न क्षरति [न] चलति प्रधानत्वात् इत्यक्षरं "अच्" इति अप्रत्ययः, सन्धावक्षरं सन्ध्यक्षरं १-१ "अतः स्यमोऽम्", "समानादमोत०" इत्यकारलोपे ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् । द्विपदं सूत्रम् । सन्धिना वर्णसन्धानेन जातानि अक्षराणि सन्ध्यक्षराणि यतः, अवर्णेवर्णसन्धौ एकारः, अवर्णैकारसन्धावैकारः अवर्णोवर्णसन्धावोकारः अवर्णौकारसन्धावौकारः ॥ ७ ॥

सन्ध्यक्षराख्याश्चत्वार ए ऐ ओ औ इमे स्वराः ।

सन्ध्यक्षराख्याश्चत्वार इति श्लोकार्द्धं कण्ठ्यम् । **एवमेभिः** सूत्रैः स्वराणां संज्ञाः सम्पूर्णा इति भावः । **वर्णविशेष**संज्ञामाह—

अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ ८ ॥ [सि०–१।१।९]

अं च अश्च अं अः १-२, सूत्रत्वाल्लोपः । अनुपूर्वक 'औस्वृं शब्दोपतापयोः' अनुस्वर्यते संलीनमुच्चार्यते इति, "भावकर्त्रो"र्घञ् अप्रत्ययः "नामिनोऽकलिहलेः" इति वृद्धौ अनुस्वारः । विपूर्वक 'सृजंत् विसर्गे' विसृज्यते इति "व्यञ्जनाद्घञ्" अप्र० "क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति" इति जस्य गत्वे "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणे "ह्रादर्हस्वरस्यानु नवा" इति गस्य द्वित्वे विसर्ग्गः । अनुस्वारश्च विसर्गश्च "चार्थे द्वन्द्व०" इति समासे 'ऐकार्थ्ये' इति विभक्तिलुपि 'उक्तार्थानामप्रयोग' इति चलोपे अनुस्वारविसर्ग, १-२–"ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः" इति औत्वे, अं अः अनुस्वारविसर्गौ । द्विपदं सूत्रम् । बिन्दुमात्राभिव्यङ्ग्यो नासिक्यो वर्ण-

विशेषोऽ**नुस्वारः**, केवलबिन्दुद्वयाभिव्यङ्ग्यः कण्ठ्यो वर्णविशेषो **विसर्गः**। घटाद्यमत्रं विना जलमिवैतावपि स्वरोपधानं विना दुरुच्चारौ, इकाराद्युपधानसम्भवेऽपि अकारस्यैव प्राथम्येन प्राधान्यादकारातिक्रमे हेत्वभावाच्च अकारावेवात्र सूत्रे उपहितौ ॥ ८ ॥ एतत्सर्वं मनसिकृत्य श्लोकार्द्धमाह—

अकारावेतयोर्मध्ये सुखोच्चारणहेतुकौ ॥ १४ ॥

अकाराविति स्पष्टम् ॥ १४ ॥ **वर्णविशेषाणामेव** संज्ञामाह—

कादिर्व्यञ्जनम् ॥ ९ ॥ [सि०–१।१।१०]

क आदिर्यस्यासौ कादिस्, १-१-"सोरुः" कादिर्, विपूर्वक 'अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' अञ्जूधातुः, व्यज्यते अर्थोऽनेनेति "करणाधारे" इत्यनट्, "ङ्‍ञां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते" इति नस्य ञत्वे व्यञ्जन१-१-"अतः स्यमोऽम्" सेरम् कादिर्व्यञ्जनम् । द्विपदं सूत्रम् । **यथौ**दनादीनां नानास्वादाभिव्यञ्जकत्वेन दधिसूपशाकादि व्यञ्जनमभिधीयते तथैतान्यपि स्वरोपहितानि नानार्थाभिव्यञ्जकानीति व्यञ्जनान्युच्यन्ते, **यथा** अ अ इत्यकारद्वये विहिते न काचित्प्रकृतार्थव्यक्ति**स्त**त्रैव च घकारटकारयोगे भवत्यर्थाभिव्यक्तिर्घट इति, **त**त्रैव पकारटकारयोगे पट इति । **कादिरित्यत्र** सामीप्यव्यवस्थाप्रकारावयवादिवृत्तिरप्यादिशब्दोऽवयववृत्तिर्ज्ञेयः, । ककार आदिरवयवो यस्य वर्णसमुदायस्य स कादिः, अत एवेह तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । **कस्यादिः** कादिरिति व्याख्याने व्यवस्थावाच्योऽप्यादिशब्दः, **तेन** स्वराणां न व्यञ्जनसंज्ञा, अनुस्वारविसर्गयोस्तु भवति; **ततो**ऽनुस्वारस्य व्यञ्जनसंज्ञायां संस्कर्तेत्यत्र "स्सटि समः" इत्यनेन सकारभवनेऽनुस्वाररूपव्यञ्जनात्परस्य 'धुटो धुटि स्वे वा' इत्यनेन सलुक् सिद्धः, **विसर्गस्य** तु व्यञ्जनत्वे सुपूर्वस्य दुःखायते क्विपि णिलुकि सेश्च लुकि "पदस्य" इति विसर्गरूपसंयोगान्तस्यस्य खस्य लुक्सिद्धस्ततश्च प्रागुक्तव्याख्यानेन विसर्गस्य "अपञ्चमान्तस्थो धुट्" इति धुट्त्वे "धुटस्तृतीय" इति स्थान्यासन्नगत्वे च सुदुगिति सिद्धम् ॥ ९ ॥ अत्र कारिकार्द्धम्—

व्यञ्जनाख्यास्त्रयस्त्रिंशद्वर्णा हान्ताश्च कादयः ।
क ख ग घ ङ १ च छ ज झ ञ २ ट ठ ड ढ ण ३ त थ द ध न ४
प फ ब भ म ५ य र ल व श ष स ह ।

व्यञ्जनाख्या इति । च भिन्नक्रमः पूर्वसमुच्चये । कादयश्च त्रयस्त्रिंशद्वर्णाः, व्यञ्जनं आख्या येषां ते व्यञ्जनसंज्ञा भवन्ति । किम्पर्यन्ता इत्याकाङ्क्षायामाह हान्ता इति । एतान्यपि केवलानि दुरुच्चाराणि इति प्रागुक्तन्यायेन अकारोपहितानि पठ्यन्ते, अकारश्च कार्यकाले जलामत्रवत् स्वतो निवर्तत इति ।

अथ व्यञ्जनानां संज्ञाविशेषानाह, **तत्रापि** वर्गादिसंज्ञाज्ञानं विना वक्ष्यमाणधुडादिसंज्ञोपयोगिवर्गपञ्चमादिज्ञानं न स्यादिति सूत्रक्रममुल्लङ्घ्य प्रथमं वर्गादिसंज्ञामाह—

पञ्चको वर्गः ॥ १० ॥ [सि०–१।१।१२]

पञ्चन्शब्दात् पञ्चेति संख्या मानमस्य "संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः" इति कप्रत्यये "नामसिदय्व्यञ्जने" इति पदसंज्ञायां "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे पञ्चक, १-१, स्, "सोरुः" र् । 'वृग्ट् वर्णे' वृधातुः व्रियते बहुभिरासज्यते "गम्यमिरम्यजिगद्यदि" इति गे "नामिनो गुणोऽक्ङिति" इति गुणे "र्हादर्हे"ति द्वित्वे वर्ग, १-१, स्, "सोरुः" "रः पदान्ते" । "घोषवती"ति रोः उत्वे "अवर्णस्ये"त्यादिना ओत्वे पञ्चको वर्गः । द्विपदमिदं सूत्रम् । **व्रीहिः** संपन्न इत्यादिवद्वर्ग इत्यत्र जातावेकवचनं तेन वीप्सा लभ्यते ॥ १० ॥ **अत्र** कारिका—

मान्तेषु कादिवर्णेषु कचटतपसंज्ञकाः ॥ १५ ॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्वर्णैर्वर्गाः पञ्च प्रकीर्तिताः ।

मान्तेष्विति । कादिषु मपर्यन्तेषु पञ्चविंशतौ वर्णेषु पञ्चभिः पञ्चभिर्वर्णैः क च ट त प संज्ञकाः पञ्च वर्गा भवन्ति ॥ १५ ॥ अयं भावः, अत्र वर्णपञ्चविंशतौ प्रथमे पञ्च वर्णाः कवर्गसंज्ञास्ततः परे पञ्च चवर्गसंज्ञास्ततः परे पञ्च टवर्गसंज्ञास्ततः परे पञ्च तवर्गसंज्ञास्ततःपरे पञ्च पवर्गसंज्ञा इति ।

यरलवा अन्तस्थाः ॥ ११ ॥ [सि०–१।१।१५]

यश्च रश्च लश्च वश्च यरलव, १-३-''अत आः स्यादौ०'' ''समानानां०'' ''सोरुः'' र् । अन्तस्था १-३ ''समानानां०'' ''सोरुः'' ''रः पदान्ते०'' । मध्ये 'रोर्यः' ''स्वरे वा'' यस्य लुक् । यरलवा अन्तस्थाः । द्विपदं सूत्रम् । सूत्रस्यातिस्पष्टत्वादत्र कारिका नास्ति । अन्तस्थाशब्दो बाहुलकात् स्त्रीलिङ्गः, अन्यथा शिट्धुट्शब्दवद्विषयनामत्वात्पुंस्त्वं स्यात् 'मानद्रुमाद्रिविषयाशुगशोणमास' (पुं० ३।३) इति लिङ्गानुशासनवचनात् । यरलवा इत्यत्र **बहुवचनं** सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् ॥ ११ ॥

अपञ्चमान्तस्थो धुट् ॥ १२ ॥ [सि०–१।१।११]

पञ्चन्शब्दात् ''नो मट्'' इति मप्रत्ययः, ''नामसि०'' इति पदसंज्ञायां ''नाम्नो नो०'' इति न्लोपे च पञ्चमः । अन्तस्था १-३-'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' ष्ठाधातुः, ''षः सोऽष्ट्यैष्ठिवष्वष्कः'' इति षः सः 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव' इति ठस्य थत्वे स्था, अन्ते तिष्ठन्ति इति अन्तस्थाः ''स्थापास्नात्रः कः'' इति कप्रत्ययः ''इडेत्पुसि०'' इत्यालुक् ''आत्'' इत्यापि अन्तस्थाः । पञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्थाः, न विद्यन्ते पञ्चमान्तस्था यत्र ''गोश्चान्ते०'' इति ह्रस्वः, ''नञत्'' इति नस्य अः, अपञ्चमान्तस्थ १-१-''सोरुः'' र् । 'धुक्षि धिक्षि संदीपने' धुक्षधातुः धुक्षते इति धुट्, क्विप्प्रत्ययः, १-१ ''दीर्घङ्याब्''ति सिलुक्, ''अप्रयोगीत्'' क्विब्लोपः ''संयोगस्यादौ स्कोर्लुग्'' इति क्लुक्, ''धुटस्तृतीय०'' इति षस्य डः ''विरामे वा'' डस्य टः, ''घोषवति'' रो उः ''अवर्णस्ये०'' ओ, अपञ्चमान्तस्थो धुट् । द्विपदमिदं सूत्रम् ॥ १२ ॥

अवर्गपञ्चमान्तस्थास्ते चतुर्विंशतिर्धुटः ॥ १६ ॥
क ख ग घ । च छ ज झ । ट ठ ड ढ । त थ द ध ।
प फ ब भ । श ष स ह ।

वर्गेषु पञ्चमा वर्गपञ्चमाः । वर्गाणां पञ्चमा इति षष्ठीतत्पुरुषस्तु ''तृप्तार्थपूरणाव्ययातृशशत्रानशे''ति निषेधान्न भवति । ततश्च, वर्गपञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च वर्गपञ्चमान्तस्थाः, न विद्यन्ते वर्गपञ्चमान्तस्था येषु ते अवर्गपञ्चमान्तस्थाः । वर्गपञ्चमाः पञ्च, ङञणनमा इति, अन्तस्थाश्च चतस्रो, यरलवा इति, एभिर्नवभिर्वर्जितास्ते पूर्वोक्तास्त्रयस्त्रिंशद्व्यञ्जनाख्याश्चतुर्विंशतिर्धुटो धुट्संज्ञा भवन्तीति भावः ॥ १६ ॥

आद्यद्वितीयशषसा अघोषाः ॥ १३ ॥ [सि०–१।१।१३]

आद्य० । आङ्पूर्वक 'डुदांग्क् दाने' आदीयत इति ''उपसर्गाद्दः किः'' इति किप्रत्ययः, ''इडेत्पुसि'' इत्यालुक् आदिः, आदौ भवा ''दिगादिदेहांशाद्यः'' इति यप्र० 'अवर्णेवर्णस्य०' इति इलोपे आद्यः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः, ''द्वेस्तीय'' इति तीयः । आद्याश्च द्वितीयाश्च आद्यद्वितीयाः १-३ । शश्च षश्च सश्च शषसाः १-३ । आद्यद्वितीयाश्च शषसाश्च आद्यद्वितीयशषसाः १-३ । ''अत आः स्यादौ०'' ''समानानां०'' ''सोरुः'' र् । 'घुषृ शब्दे' घुषृधातुः, घोषणं घोषः ''भावाकर्त्रोः'' घञ्, अप्र०, ''लघोरुपान्त्यस्य'' इति

गुणः । न विद्यते घोषो घण्टानिर्ह्रादवदनुस्वानो येषां ते "नञत्" नञ अ, अघोष १-३ । प्राग्वत् "रोर्यः" "स्वरे वा" यस्य लुक् आद्यद्वितीयशषसा अघोषाः । द्विपदमिदं सूत्रम् ॥१३॥ कारिकार्द्धम्—

आद्यद्वितीया वर्गाणामघोषाः शषसा अपि ।

आद्यद्वितीयत्वं त्वापेक्षिकमिति केषामित्याकाङ्क्षायामाह—वर्गाणामिति, पञ्चानामपि वर्गाणामाद्याः पञ्च द्वितीयाः पञ्च त्रयश्च शषसा इत्येते त्रयोदश अघोषसंज्ञा भवन्ति । ते चामी क ख । च छ । ट ठ । त थ । प फ । श ष स । १३ ।

अन्यो घोषवान् ॥ १४ ॥ [सि०—१।१।१४]

'अन श्वसक्' प्राणने, अन्धातुः अनिति परभावोऽत्रेति "स्थाच्छामासासूमन्यनि०" इति यप्र० अन्य १-१, "सोरुः" घोषोऽस्यास्ति "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" । घोषमत् "मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्गान्म-तोर्मो वः" इति मस्य वः "ऋदुदितः" इति नोन्तः "अभ्वादेरत्वसः सौ" इति दीर्घः "दीर्घङ्याब्-व्यञ्जनात्सेः" इति सिलुक् "पदस्य" इति तलुक् । "घोषवति" "अवर्ण०", अन्यो घोषवान् । द्विपदमिदं सूत्रम् ॥ १४ ॥ अथ कारिकार्द्धम्—

अन्ये स्युर्गादयो वर्णा घोषवन्तश्च विंशतिः ॥ १७ ॥
ग घ ङ । ज झ ञ । ड ढ ण । द ध न । ब भ म ।
य र ल व । ह ।

अन्ये च अघोषव्यतिरिक्ता गादयो विंशतिर्वर्णा घोषवन्तो भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अं अः ᳵक ᳶप शषसाः शिट् ॥ १५ ॥ [सि०—१।१।१६]

अं च अश्च ᳵकश्च ᳶपश्च शश्च षश्च सश्च अंअःᳵकᳶपशषस १-३, "अत आः०" "समाना०" "सोरुः" "रः पदान्ते०" । 'शिष्लृंप् विशेषणे' शिष्धातुः शिनष्टीति क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विब्लोपः, १-१ "दीर्घङ्याब्०" सिलुक् "धुटस्तृतीय०" इति षस्य डः "विरामे वा" डस्य टः । अं अःᳵकᳶप-शषसाः शिट् । द्विपदमिदं सूत्रम् ॥ १५ ॥ [अथ कारिका]

शिट्संज्ञका अमी सप्त तत्र ᳵकः कुलिशाकृतिः ।
गजकुम्भाकृतिः ᳶपश्च कपावुच्चारणार्थकौ ॥ १८ ॥

एषु सप्तसु आद्यौ प्राग्व्याख्यातौ, अन्त्यास्त्रयश्च प्रतीता एव, ततः शेषौ द्वौ लक्षयति । तत्रेति । कुलिशं वज्रम् । वज्राकृतिमात्रव्यङ्ग्यो जिह्वामूलोच्चार्यो वर्णविशेषो जिह्वामूलीयापरनामा ᳵक इति, गजकु-म्भाकृतिमात्रव्यङ्ग्यं उपध्मानीयापरनामा ओष्ठोच्चार्यो वर्णविशेषः ᳶप इति । एतौ च केवलौ उच्चारयि-तुमशक्यौ यथाक्रमं क ख, प फ, योगे निष्पद्येते तदुपहितावेव च पठ्येते, तत्रापि कपयोरेव मुख्य-त्वात्तदुपहितौ सूत्रे उपात्तौ, एतत्सर्वं स्फुटीकर्तुमाह—कपावुच्चारणार्थकौ इति ॥१८॥ अथ स्वसंज्ञामाह—

तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः ॥ १६ ॥ [सि०—१।१।१७]

'तुलण् उन्माने' तुल्धातुः, तोलनं "तुलाभिदादयः" इति निपातः, तुलया सम्मितस्तुल्यः "हृद्यप-द्यतुल्यमूल्यवश्यपथ्यवयस्यधेनुष्यागार्हपत्यजन्यधर्म्यम्" इति सूत्रेण निपातः । 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' ष्ठा "षःसो०" 'निमित्ता०' स्था, स्थीयतेऽस्मिन्निति "करणाधारे" अनट् स्थानम् । यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्ण-भावापत्तिस्तत्स्थानं कण्ठादि । 'असूच् क्षेपणे' अस् धातुः, अस्यति क्षिपति वर्णानिति "शिक्यास्य०" इति

यप्रत्ययदीर्घे आस्यम् । ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात्कण्ठमणेः । प्रपूर्वः 'यतैङ् प्रयत्ने' प्रयतनं "यजिस्वपिरक्षियतिप्रच्छो नः" इति नप्रत्ययः । आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः आन्तरः संरम्भः । स्थानं च आस्यप्रयत्नश्च स्थानास्यप्रयत्नौ । तुल्यौ वर्णान्तरेण सदृशौ स्थानास्यप्रयत्नौ यस्य स तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः १-१ । स्व १-१ "सोरुः" "रः पदान्ते०" । द्विप० सूत्रम् ॥ १६ ॥ अत्र कारिका—

स्थानकास्यप्रयत्नाभ्यां तुल्या वर्णाः स्वसंज्ञकाः ।

यो वर्णो यं वर्णं प्रति स्थानकास्यप्रयत्नाभ्यां तुल्यः स वर्णस्तं वर्णं प्रति स्वसंज्ञो भवति, **सवर्ण**संज्ञकश्च लोके । आस्यग्रहणं बाह्यप्रयत्ननिवृत्त्यर्थम्, ते हि "**आसन्न**" इत्यत्रैवोपयुज्यन्ते नतु सवर्णविधौ, तत्रापि महाप्राणस्यैवावकाशोऽन्येषां तु वेदे प्रयोजनम् । सवर्णसंज्ञाप्रयोजनं च तद्मानमित्यादौ "तृतीयस्य पञ्चमे" इत्यनुनासिके सवर्णत्वात् दकारस्य नकारो यथा भवति तन्मानमिति । अत्र दृष्टान्तद्वारेण सर्वानपि मिथः स्वान् वर्णान् सार्द्धश्लोकेन निर्दिशति—

अकारादि स्वराणां स्वाः स्वस्वभेदा यथा मिथः ॥ १९ ॥
पञ्चपञ्चैकवर्गस्था वर्णाः स्वाः स्युः परस्परम् ।
यलवाः सानुनासिकनिरनुनासिका अपि ॥ २० ॥

'अकारादी'ति यथापूर्वोक्ता ह्रस्वादयोऽष्टादशभेदा अवर्णस्य ते सर्वे कण्ठस्थाना विवृतकरणाः परस्परं स्वा इति, एवमन्येऽपि, रेफोष्मणां त्वन्यः तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः कोपि नास्ति इति स्वा न भवन्ति । **स्थान**ग्रहणं किम्? कचटतपानां तुल्यास्यप्रयत्नानामपि भिन्नस्थानानां स्वसंज्ञा मा भूत्, तथात्वे तु तप्तां इत्यत्र "धुटो धुटि स्वे वा" इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात् । **आस्यप्रयत्न**ग्रहणं किम्? चवर्गयशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नास्यप्रयत्नानां स्वसंज्ञा मा भूत्तथात्वे हि अरुक्ष्च्योततीत्यत्र "धुटो धुटि स्वे वा" इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात् । स्वसंज्ञायां स्थानमुक्तम् किं तत् **स्थान**मित्याह—

स्थानं कण्ठादि । तथाहुः ।

स्थानं कण्ठादीति । तथाहुरिति पूर्वप्रसिद्धं श्लोकमाह—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ २१ ॥

अथ एषु स्थानेषु स्थानिनो वर्णान् सार्द्धश्लोकत्रयेणाह—

विसर्गोऽथाकुहाः कण्ठ्यास्तालव्या इचुयाश्च शः ।
उपूपध्मानीया ओष्ठ्या मूर्धन्या ऋटुषाश्च रः ॥ २२ ॥
दन्त्या लृतुलसा एऐ कण्ठतालुसमुद्भवौ ।
ओ औ कण्ठोष्ठजौ ज्ञेयौ वो दन्तौष्ठ्यः प्रकीर्तितः ॥ २३ ॥
जिह्वयश्च जिह्वामूलीयोऽनुस्वारो नासिकोद्भवः ।
स्वस्थाननासिकास्थानाः स्युर्ङञणनमा इति ॥ २४ ॥
स्यादुरस्यो हकारस्तु सहान्तस्थः सपञ्चमः ।

विसर्गोऽथेति० । विसर्गः अथ अकुहा अवर्ण-कवर्ग-हकाराः कण्ठे भवाः **कण्ठ्या** भवन्ति; कु इत्यत्र उकारस्य पञ्चमस्वरत्वेन पञ्चसंख्यासूचकत्वात्, पञ्चवर्णात्मकः कवर्गो गृह्यते, एवं चकारादिष्वपि । ङञणनमाः स्वस्थाननासिकस्थाना इति, स्वस्थानं कण्ठादि नासिका च ताभ्यामुच्चार्यन्ते । ङकारः-

कण्ठनासिकास्थान एवमन्येऽपि ॥ २२-२३-२४ ॥ उरस्येति० हकारस्तु सहान्तस्थाभिर्वर्त्तमानः सहान्तस्थः सह पञ्चमैर्वर्त्तमानः सपञ्चमः उरस्यः स्यात्, यथा ह्ह् ह्म इत्यादि, केवलस्तु कण्ठ्य एव ।

सर्वमुखस्थानमवर्णः । हविसर्गौ उरस्यौ । कवर्गौ जिह्वामूल इत्यन्ये । रेफो दन्तमूल इत्येके । ए ऐ ताल्व्यौ, कण्ठताल्व्यावित्यन्ये । ओ औ औष्ठ्यौ, कण्ठोष्ठ्यावित्यन्ये । वो दन्त्यौष्ठ्यः, सृक्कस्थान इत्यन्ये । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः, कण्ठ्य इत्यन्ये । नासिक्योऽनुस्वारः, कण्ठनासिक्य इत्यन्ये । अथावसरप्राप्ता-नास्यप्रयत्नानाह—

आस्यप्रयत्नाः स्पृष्टाद्या विवाराद्यास्तु बाह्यकाः ॥ २५ ॥

आस्यप्रयत्ना इति । प्रयत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्र चतुर्विध **आभ्यन्तरप्रयत्न**स्तथाहि, स्पृष्टता १ ईषत्स्पृष्टता २ विवृतता ३ ईषद्विवृतता ४ **केचित्** संवृताख्यं पञ्चमं प्रयत्नं मन्यन्ते । **एषां** कण्ठादिस्थानाभिघाते भावात् आभ्यन्तरत्वं, विवारादीनां तु वायुना कोष्ठेऽभिहन्यमाने प्रादुर्भावाद्बाह्यत्वम् । **अथवा** स्पृष्टतादीनां वर्णनिष्पत्तिकाले भावादान्तरत्वं, विवारादीनां तु वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वं वायुवशेन भवनाद्बाह्यत्वम् । **स्पृष्टता**दयो वर्णानामुत्पादका **विवारा**दयस्तु संस्कारका इति विवेकः । **करणं** तु जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्ररूपं स्थानास्यप्रयत्नतुल्यत्वे सति नातुल्यं भवति इति पृथग् नोक्तम्, कथमिति; जिह्वामूलेन जिह्व्यानां, जिह्वामध्येन ताल्व्यानां, जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानां, जिह्वाग्राधःकरणं वा ? जिह्वाग्रेण दन्त्यानां, शेषाः स्वस्थानकरणाः । **बाह्यप्रयत्न**स्त्वेकादशविधस्तथाहि—विवार १ संवारौ २ श्वास ३ नादौ ४ घोषवद् ५ अघोषता ६ अल्पप्राणता ७ महाप्राणता ८ उदात्त ९ अनुदात्तः १० स्वरितश्च ११ इति । **एषामुत्पत्तिं** चैवमाहुः—नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन्स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति, तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते आकाशे, सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः । **तत्र** वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा **स्पृष्टता** १ यदा ईषत्स्पृशन्ति सा **ईषत्स्पृष्टता** २ यदा सामीप्येन स्पृशन्ति सा **विवृतता** ३ यदा दूरेण स्पृशन्ति सा **ईषद्विवृतता??** ४ । एषोऽन्तःप्रयत्नः । **इदानीं** बाह्यप्रयत्नः, यदा प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तः कोष्ठमभिहन्ति तत्र कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठबिलस्य विवृतत्वाद् **विवारः** १ संवृतत्वात् **संवारः** २ । तत्र यदा कण्ठबिलं विवृतं भवति तदा **श्वासो** ३ जायते, संवृते तु **नादः** ४ तावनुप्रदानमाचक्षते । **अन्ये** तु ब्रुवते, 'अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादवत्' इति । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद्**घोषो** ५ जायते । यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद**घोषो** ६ जायते । अल्पे वायावल्**पप्राणता** ७ । महति वायौ **महाप्राणता** ८ जायते, महाप्राणत्वादूष्मत्वम् । यदा सर्वगात्रानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठबिलस्य चाणुत्वं स्वरस्य वायोश्च तीव्रगतित्वाद्रौक्ष्यं भवति त**मुदात्त** ९ माचक्षते । यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य वायोश्च मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति त**मनुदात्त** १० माचक्षते । उदात्तानुदात्तस्वरसंनिपातात् **स्वरित** ११ इति ।

तत्र स्पृष्टं करणं [स्पर्शानाम्, स्पर्शा वर्ग्याः] वर्ग्याणाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् । ईषद्विवृतं शषसहानां । एते चान्यत्र **ऊष्माण** इत्युच्यन्ते । विवृतं स्वराणां, स्वरेषु ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामपि ऐ औ, ताभ्यामप्यवर्णः । अकारः संवृतः इत्यन्ये । **इत्याभ्यन्तरप्रयत्नविभागः ।** वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः । वर्गाणां तृतीयचतुर्थ-

पञ्चमाः अन्तस्था हकारानुस्वारौ च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा अन्तस्थाश्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः। **इति बाह्यप्रयत्नविभागः** ॥ २५ ॥

अथ प्रस्तुतोपयोगिनीः कतिचित्संज्ञा आह—

उक्ते वर्णे सवर्णोऽपि ग्राह्यः कारे च केवलः।
संयोगः स्याद् व्यञ्जनानि स्वराव्यवहितान्यहो ! ॥ २६ ॥

उक्ते०। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्। संयोगः स्यादिति। अहो इति सम्बोधने, अहो शिष्य ! स्वरेण अव्यवहितानि अनन्तरितानि व्यञ्जनानि संयोगः स्यात्। यथा धानाभ्रस्ज् इत्यत्र "संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्", इति सकारलुग् भवति ॥ २६ ॥

अप्रयोगीत् ॥ १७ ॥ [सि०–१।१।३७]

अप्र०। प्रपूर्वक 'युजूंपी योगे' युज्, प्रयोजनं प्रयोगः, "भावाकर्त्रोः", घञ्, अप्रत्ययः। "क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति" इति जस्य गः "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणः, प्रयोगः। प्रयोगोऽस्यास्तीति "अतोऽनेकस्वरात्" इति इन्प्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" इति अलुक् प्रयोगिन् १-१ "इनहन्पू०" "दीर्घङ्या०" सिलुक्। "नाम्नो नो०" नलुक्, प्रयोगी, "नञत्" नस्य अः। इत् १-१ "दीर्घङ्या०", अप्रयोगीत्। द्विपदं सूत्रम् ॥ १७ ॥ अत्र कारिका—

वर्णो वर्णसमूहो वा पाठे समुपलभ्यते।
न दृश्यते प्रयोगे यः स इत्संज्ञक इष्यते ॥ २७ ॥

वर्णो वर्णसमूहो वेति। एको वर्णो, द्वित्र्यादिवर्णात्मको वर्णसमुदायो वा, यः कस्मैचित् कार्याय पाठकाले उच्चार्यते ततश्च प्रयोगकाले एति-निवर्त्तते स इत्संज्ञो भवति। तत्रैकवर्णो यथा 'एधि वृद्धौ' अत्र इकार आत्मनेपदार्थः। वर्णसमूहो यथा 'डुपचींष पाके' इत्यत्र पच्धातुः शेषाः सर्वे इत इति ॥२७॥

"स्यादिस्त्यादिर्विभक्तिः" (१।१।१९) स्याद् "विभक्त्यन्तं भवेत्पदम्" (१।१।२०)।
"सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" (१।१।२६) मित्रवदागमः ॥ २८ ॥

स्यादि०। [2]सि औ जस् इत्यादि स्यादिविभक्तिः। [3]तिव् तस् इत्यादि त्यादिविभक्तिः तदन्तं च पदं यथा देव इत्यादि स्याद्यन्तं पदम्, भवतीत्यादिकं च त्याद्यन्तं पदमिति। पदसंज्ञा फलं च पदस्य संयोगान्तस्य लुक् स्यात् इत्यादि। सविशेषणमित्यादि प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा विशेषणैः सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यं स्यात्, यथा धर्मो वो रक्षतु। अप्रयुज्यमानविशेषणं यथा, लुनीहि ३ पृथुकांश्च खाद। अप्रयुज्यमानमाख्यातं यथा शीलं ते स्वमिति। अर्थात्प्रकरणाद्वाऽऽख्यातादेर्गतावप्रयोगः। लोकादेव वाक्यसिद्धौ साकाङ्क्षत्वेऽप्याख्यातभेदे वाक्यभेदार्थं वचनम्, आख्यातमित्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वात्; तेन ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यति इत्यादौ श्रूयमाणे गम्यमाने वाऽऽख्यातान्तरे भिन्नवाक्यत्वाद्वस्नसादयो न स्युः। लौकिके तु वाक्येऽङ्गीक्रियमाणे आख्यातभेदेऽप्येकवाक्यत्वाद्वस्नसादयः प्रसज्येरन्। कुरु कुरु नः कटमित्यादौ तु कृते द्विर्वचनेऽर्थाभेदादेकमेवाख्यातमित्येकवाक्यत्वाद्वस्नसादयः स्युरिति। वाक्यसंज्ञाफलं च पदाद् युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्नसाविति। मित्रवदिति, यः स्थान्यनुपघातेन मित्रवदागच्छति स आगम इत्युच्यते। अयं चात्र शास्त्रे अन्तशब्दोपलक्षितो भवति, यथा वारीणि इत्यत्र "अनामस्वरे नोऽन्तः" इति। प्रत्ययोऽपि स्थान्यनुपघातेन मित्रवदागच्छति परं

१ स्वसंज्ञो इति पाठान्तरम्। २ (सि० १।१।१८) इत्यत्र दर्शिता। ३ (सि० ३।३।६) इत्यादिषूपदर्शिता।

स (१।१।३८) पञ्चम्यर्थाद्विहितोऽन्तशब्दनिर्दिष्टश्च न भवति, यथा देवः इत्यत्र "नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ" इति प्रथमैकवचनं सिः। उपलक्षणत्वाचात्र प्रत्ययोऽपि सङ्गृहीतो बोद्धव्यः ॥ २८ ॥

अवसानं विरामः स्यादादेशः शत्रुवद्भवेत्।
त्रयो लुक् लुप् च लोपश्च वर्णादर्शनवाचकाः ॥ २९ ॥

अव०। अग्रे वर्णानामनुच्चारणं विलम्बेनोच्चारणमुच्चारणाभावश्च अवसानं विरामश्च भवति। अयं भावः, सातत्येनोच्चारणे 'जिनो जयती'त्यत्र सन्धिर्भवति, अत्रैव मध्ये विलम्बेनोच्चारणे विरामे सति "न सन्धि"रिति वक्ष्यमाणनिषेधात्सन्धिर्न भवति, 'जिनः जयती'ति। वाक्यादिसमाप्तौ अग्रे उच्चारणाभावे विरामो भवति। यथा 'प्रथमं भवति मङ्गलम्म्', अत्र विरामत्वाद् "अदीर्घाद्विरामे"ति मकारस्य द्वित्वम्। **आदेशः** शत्रुवदिति, स्थान्युपमर्देन प्रवर्त्तमानत्वात्, यथा "जस इः" "टाङसोरिनस्यौ" इत्यादि। **त्रय** इति लुक्लुप्लोपाख्ययोऽप्येते वर्णस्य अदर्शनं वदन्ति। **परं** त्वेषामयं विशेषः; लुकि स्थानिवद्भावो भवति, लुपि तु स न भवति, यथात्रैव वक्ष्यते; हे वारि १-१, "नामिनो लुग्वा" इति सिलुकि, लुकि च स्थानिबद्भावाल्लुप्तप्रत्ययनिमित्तं कार्यं स्यादिति सिना सह गुणे हे वारे। पक्षे "अनतो लुप्" इति सिलुपि स्थानिवद्भावाभावाद्गुणाभावः, हे वारि इति। **लोप**शब्देन तु लुक् लुप् च द्वयमप्युच्यते इति सामान्यवाची लोपशब्दः, यथा 'सर्वेभ्यो लोपः' इति न्याये उभयमपि गृह्यते इति ॥ २९ ॥

दीर्घो विसर्गानुस्वारयुक् संयोगपरो गुरुः।
असंयोगपरो ह्रस्वो विसर्गाद्युज्झितो लघुः ॥ ३० ॥

दीर्घो, विसर्गश्च अनुस्वारश्च विसर्गानुस्वारौ, विसर्गानुस्वारौ युनक्तीति विसर्गानुस्वारयुक्। ततश्च आ ई ऊ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ एते नव दीर्घस्वराः, विसर्गयुक्, अनुस्वारयुक्, संयोगः परो यस्मात् स संयोगपरः यथा वप्र इति वकारः, एते सर्वे गुरुसंज्ञा भवन्ति। गुरुसंज्ञाप्रयोजनं "गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः" इत्यादौ। असंयोगपर इति, न संयोगपरः असंयोगपरः, यथा नयन इत्यत्र; तथा अ इ उ ऋ ऌ इति पञ्च ह्रस्वाः स्वराः तथा विसर्गानुस्वाररहिताश्च, एते सर्वे लघुसंज्ञा भवन्ति। लघुसंज्ञाप्रयोजनं "लघोरुपान्त्यस्य०" इत्यादौ ॥ ३० ॥

अरेदोतो [सि० ३।३।२] गुणसंज्ञा ऋ इ उ स्थानभाविनः।
वृद्धिसंज्ञाः [सि० ३।३।१] स्मृता आ आर् ऐदौच स्वरसम्भवाः ॥ ३१ ॥

अरेदोत इति। ऋवर्णेवर्णोवर्णस्थानभाविनः अर् एत् ओत् एते गुणसंज्ञा भवन्ति, यथा "ह्रस्वस्य गुणः" इति गुणे हे पितः, हे मुने, हे साधो इति। वृद्धिसंज्ञा इति; स्वरस्थानभाविनः आ आर् ऐत् औत् एते वृद्धिसंज्ञा भवन्ति; अकारस्थाने य आ, ऋवर्णस्थाने य आर्, इवर्णैकारस्थाने य ऐत्, उवर्णौकारस्थाने य औत्, एते सर्वे वृद्धिसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः, यथा "वृद्धिः स्वरेष्वादौ ञ्णिति तद्धिते" इति वृद्धौ आश्वम् आर्षम् जैनं दैव्यं पौत्रः सौम्यः। स्वरसम्भवा इति प्रायिकं स्वाभाविकानामपि आम्रगुप्तायनिरित्यादौ वृद्धिसंज्ञादर्शनात् ॥ ३१ ॥

स्यमौजसः स्यु[सि० १।१।२९]र्घुट्संज्ञाः पुंस्त्रियोः शि[सि० १।१।२८]र्नपुंसके।
विना सम्बोधनार्थं सिं शेषघुट्[सि० १।४।८२ वृ०] संज्ञका अमी ॥ ३२ ॥

स्यमौ०। पुंस्त्रियोः पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गयोः स्यमौजसो घुटः स्युः, तत्र प्रथमायाः स्यौजसो नामार्थाः सम्बोधनार्थाश्चेति, द्वितीयाया अम् औ चेति। तथा नपुंसकलिङ्गे जस्शसादेशः शिः, तत्र जसादेशः शिर्नामार्थसम्बोधनार्थभेदाद्द्वेधा, शसादेशः शिश्च। एवं च जात्यपेक्षया षट्सु व्यक्त्यपेक्षया च एकोन-

विंशतौ घुद्सु, सम्बोधनार्थं प्रथमैकवचनं जात्यपेक्षयैकविधं व्यक्त्यपेक्षया द्विविधं सिं मुक्त्वा, अन्ये अमी पूर्वोक्ताः शेषघुदसंज्ञका भवन्ति । सिशब्दस्य विषयनामत्वात्पुंस्त्वं "मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनामन्त्र्ये" इति पुंस्त्वनिर्देशाच्च ॥ ३२ ॥

लोकात् ॥ १८ ॥ [सि०-१।१।३]

लोका० । 'लोकृङ् दर्शने' लोकधातुः, लोकते इति लोकः । "व्यञ्जनाद् घञ्" अप्रत्ययः, लोक "ङेङस्योर्यातौ" इत्यात्, "समाना०" लोकात् । एकपदं सूत्रम् ॥ १८ ॥ अत्र कारिका—

यदत्र संज्ञा न्यायादि वर्णाम्नायादि नोदितम् ।
तद्वैयाकरणादिभ्यो लोकेभ्यो बुध्यतां बुधैः ॥ ३३ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्त्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां
हैमलघुप्रक्रियायां संज्ञाधिकारः समाप्तः ।

यदत्र० । **अत्र संज्ञेति** संज्ञाः स्वरव्यञ्जनाद्याः, क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसङ्ख्याऽपत्यवीप्सादीनां च, तथा **न्यायाः** "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इत्यादयः, अत्रा**दि**शब्दात् "पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य" इत्यादयः परिभाषा ग्राह्याः । **वर्णाम्नायादीति** वर्णानामाम्नायः सम्प्रदायाधिगम्यः स्थान-प्रयत्नादिविवेकः, अत्रा**दि**शब्दात्सत्वासत्त्वादिकं ग्राह्यम् । **एतेषु** मध्ये यदत्र शास्त्रे उक्तं तदितो ज्ञेयं यच्चात्र शास्त्रे विस्तरभयान्नोक्तं तत्सर्वं वैयाकरणतार्किकादिलोकेभ्यो ज्ञेयमिति भावः ॥ ३३ ॥ तत्र **संज्ञाः** प्रकृतोपयोगिन्यः काश्चिदुक्ताः काश्चिच्च यथास्थानं वक्ष्यन्ते; वर्णाम्नायादिकत्वमप्युक्तम् ।

॥ न्यायास्त्वेवम् ॥

नीयते सन्दिग्धोऽर्थो निर्णयमेभिरिति न्यायाः । "न्यायावाय०" (५।३।१३४) इत्यादिसूत्रेण घञि निपातनान्न्यायाः स्वेष्टसाधनानुगुणा युक्तयः । **तथाहुः श्रीसूरयो न्यायसूत्रप्रक्रमे** । "अथ ये तु शास्त्रे सूचिता लोकप्रसिद्धाश्च न्यायास्तदर्थं यत्नः क्रियते" इति । **न्यायशब्दश्च** दृष्टान्तेऽपि रूढो यथा **सूचीकटाहन्यायः, काकाक्षिगोलकन्यायः, डमरुकमणिन्यायः, घण्टालालान्याय** इत्यादि, **नच** तेऽत्राधिकृतास्तेषामपरिमितत्वात् । **ये तु** शास्त्रे व्याकरणादिग्रन्थे सूचिता वैयाकरणादिलोकप्रसिद्धाश्च तेऽत्राधिक्रियन्ते इति । **सूत्राणि** प्रतिव्याकरणं भिद्यन्ते न्यायास्तु चिरन्तनत्वात् सर्वव्याकरणेष्वेक-रूपा एवेति ज्ञेयम् ।

तत्र श्रीसूरिभिः **सप्तपञ्चाशन्न्यायाः** श्रीहेमचन्द्रव्याकरणप्रान्ते निरूपितास्ते प्रथममभिधीयन्ते ।

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥ १ ॥

इह व्याकरणे शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं यदि तच्छब्दस्वरूपं कस्यापि संज्ञा न स्यात्, यथा "समः ख्यः" (५।१।७७) इत्यत्र 'ख्यांक् प्रकथने' इति धातुः, चक्षादेशश्च ख्यांग् इति द्वयमेव ख्यारूपं गृह्यते, नत्वधिकं-व्याकरणे कस्यापि ख्येति संज्ञाया अकरणात्, तेन गाः सङ्ख्याति सङ्ख्ष्टे वा "समः ख्यः" इति डे गोसङ्ख्य इति सिद्धम् । यत्र तु शब्दसंज्ञा तत्र तु शब्दरूपं न ग्राह्यं किन्तु संज्ञिनो ग्राह्याः, यथा "उपसर्गादः किः" (५।३।८७) इत्यत्र "अवौ दाधौ दा" (३।३।५) इति कृतदा-संज्ञानां ग्रहणम् । **स्वं** रूपं शब्दस्येत्यंशस्य ज्ञापकं "नदीभिर्नाम्नि" (३।१।२७) इत्यत्र बहुवच-नम्, अन्यथानेन न्यायेन नदीशब्दस्वरूपग्रहणे "सङ्ख्यासमाहारे" (३।१।२८) इत्युत्तरसूत्रेण पञ्चानां नदीनां समाहारः पञ्चनदमित्यत्रैवाव्ययीभावः स्यान्नतु नदीविशेषवाचिभिः द्वियमुनं त्रिगङ्गमित्यादौ ।

अशब्द्संज्ञेत्यस्य ज्ञापकं "स्वरादुपसर्गाद्दस्तिकित्यधः" (४।४।९) इत्यत्र धावर्जनम् अन्यथा दाग्रहणे धावर्जनमनर्थकमिति ॥ १ ॥

सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य ॥ २ ॥

ये दिग्वाचकत्वेन रूढाः शब्दास्तेऽर्थान्तरवृत्तयोऽपि दिग्वाचिसादृश्याद्दिक्शब्दा एव ततो जनपदवाचिनो यो विधिः स सुसर्वार्द्धदिक्शब्दपूर्वस्य जनपदान्तस्यापि स्यात्। 'ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधि'रिति न्यायस्यापवादोऽयं न्यायः, एवमुत्तरोऽपि । यथा मगधेषु भवो मागधकः तथा सुमागधकः सर्वमागधक अर्द्धमागधकः पूर्वमागधक इत्यादौ "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञ् सिद्धः । **सु**मागधकादिषु च त्रिषु "सुसर्वार्द्धाद्राष्ट्रस्य" (७।४।१५) इत्यनेन, पूर्वमागधक इत्यत्र तु "अमद्रस्य दिशः" (७।४।१६) इत्यनेनोत्तरपदवृद्धिः । **सु**सर्वादिभ्य इत्येव, ऋद्धमगधेषु भवः आर्द्धमगध इति; अत्र "भवे" (६।३।१२३) इत्यणेव न तु "बहुविषयेभ्य" इत्यकञ् 'ग्रहणवते'ति न्यायेन तदन्तविधेनिषेधात् । **ज्ञापकं** च आभ्यां सूत्राभ्यामुत्तरपदवृद्धिरेव अन्यथा 'ग्रहणवते'ति न्यायात्तदन्तविधिनिषेधात्स्वादिपूर्वाज्जनपदान्तात् ञ्णित्प्रत्ययनिषेधे उत्तरपदवृद्धेरेवासम्भव इति ॥ २ ॥

ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवेभ्यः ॥ ३ ॥

यस्मिन् परे वृद्धिप्राप्तिः स ञ्णित्प्रत्ययो वृद्धिमानिह गृह्यते । ऋतुवाचकात् ञ्णित्प्रत्ययविधौ कर्तव्ये तदवयवपूर्वादृत्वन्तादपि स विधिः स्यात्, तेन यथा वर्षासु भवं वार्षिकमित्यत्र "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।८०) इतीकण्, तथा पूर्वः प्रथमोऽवयवो वर्षाणां पूर्ववर्षाः "पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना" (३।१।५२) इत्यंशितत्पुरुषः, **यद्वा** पूर्वावयवयोगात्पूर्वाः प्रथमा इत्यर्थः ताश्च ता वर्षाश्च पूर्ववर्षाः तासु भवं पूर्ववार्षिकमिति, अत्र वर्षान्तादपि "वर्षाकालेभ्यः" इतीकण् । यथा शिशिरे भवं शैशिरमित्यत्र "भर्तुसन्ध्यादेरण्" (६।३।८९) इत्यण् [वृद्धिः], तथा पूर्वशैशिरमित्यत्रापि "अंशादृतोः" (७।४।१४) इत्युत्तरपदवृद्धिः । **वृद्धिमद्विधा**विति किम् ? "प्रावृष एण्यः" (६।३।९२) इत्येण्यस्य विधौ पूर्वप्रावृषि भवः पूर्वप्रावृषेण्य इति मा भूत् । **अवयवेभ्य** इति किम् ? पूर्वा ऋत्वन्तरैर्व्यवहिता वर्षास्तासु भवं पौर्ववार्षिकं पौर्वशिशिरकं, उभयत्रापि "वर्षाकालेभ्य" (६।३।८०) इति काललक्षण एवेकण् । **इह** च पूर्वशब्दो न ऋतोरेकदेशं ब्रूते किं तर्हि ? व्यवहितत्वमिति । "अंशादृतोः" इत्यनेनोत्तरपदवृद्ध्यप्राप्तेः "वृद्धिः स्वरेष्व०" (७।४।१) इत्याद्यस्वरस्यैव वृद्धिः । **ज्ञापकं** त्वस्य "अंशादृतोः" इत्युत्तरपदवृद्धिविधानमेव अन्यथा 'ग्रहणवते'ति न्यायात्तदन्तविधिनिषेधे अवयवपूर्वादृत्वन्तात् ञ्णित्प्रत्ययाभावे इदमुत्तरपदवृद्धिविधानं निर्विषयं स्यादिति ॥ ३ ॥

स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥ ४ ॥

ह्रस्वाद्यादेशाः स्वरस्यैव स्थाने स्युः, न तु व्यञ्जनस्येत्यर्थः । स्थानविशेषानुक्त्या स्वरवद्व्यञ्जनस्यापि ह्रस्वाद्यादेशप्रसङ्गे प्रतिषेधार्थोऽयं न्यायः । **ह्रस्वो** यथा, सश्रि कुलमित्यादौ "क्लीबे" (२।४।९७) इति स्वरस्यैव ह्रस्वो न तु तत् इत्यादौ व्यञ्जनस्य, अन्यथात्राप्यासन्नत्वात्तकारस्य ऌकारो ह्रस्वः प्राप्नोति । **प्रतीच** इत्यादावचश्चत्वे पूर्वस्थस्येकारस्य दीर्घः, न तु दृषच्च इत्यादौ व्यञ्जनस्य, अन्यथात्राप्यचश्चत्वं प्राक्स्थितस्य दस्य प्राग्वदासन्नो **दीर्घ**ॡकारः प्राप्नोति । **प्लुतो** यथा चैत्र३ एहि । **व्यञ्जनस्य** तु प्लुतत्वसम्भव एव नास्ति स्वरस्यैव प्लुतादेशोक्तेः । **बोधकं** त्वस्य 'क्लीबे' इत्यादि ह्रस्वदीर्घविधायकसूत्रेषु स्थान्यनुपादानमेव । **यद्यप्यत्र** न्याये प्लुतग्रहणं नोपयुक्तं प्लुतविधौ [प्लुतस्य] स्वरस्यैव स्थानित्वेनोक्तेस्तथापि ह्रस्वदीर्घसाहचर्यात् स्थानपूर्त्तयेऽनुवादमात्रमेतत् ॥ ४ ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ ५ ॥

यत्रैक एव वर्णो नाम वास्ति, कार्यं तु तदादिकस्य तदन्तस्य वोक्तं तत्र तदेवैकमादित्वेनान्तत्वेन च प्रकल्प्य तत्कार्यं कार्यम्। अप्राप्तप्रापणार्थोऽयं न्यायः, एवमुत्तरोऽपि। तत्रादित्वेन वर्णकल्पनं यथा ईहाञ्चक्रे इत्यादौ धातोर्गुरुनाम्यादित्वेन "गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः" (३।४।४८) इति परोक्षाया आम् स्यात्, तथा 'ईङ् च गतौ' अयाञ्चक्रे इत्यादौ नामिमात्रस्यापि धातोर्नाम्यादित्वकल्पनया परोक्षाया आमादेशः सिध्यति। **नाम्नो** यथा "इन्द्रे" (१।२।३०) इत्यस्य "सप्तम्या आदिः" (७।४।११४) इति परिभाषया 'इन्द्रादौ शब्दे परे' इति न्यासकारव्याख्यानात् इन्द्रयज्ञशब्दे परे गवेन्द्रयज्ञ इत्यादावेवादेशः प्राप्नोति, परं गवेन्द्र इत्यत्रापि इन्द्रादित्वकल्पनादवादेशः सिद्धः। **अन्तत्वेन वर्ण**कल्पनं यथा, जेता इत्यादौ धातोर्नाम्यन्तत्वेन "विशेषणमन्तः" (७।४।११३) इति परिभाषया "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (४।३।१) इति गुणः स्यात्, तथा एता इत्यादौ नामिमात्रस्यापि धातोर्नाम्यन्तत्वकल्पनात् "नामिनो गुणोऽक्ङिती"ति गुणः सिद्धः। **नाम्नो** यथा "सर्वादेः स्मैस्मातौ" (१।४।७) इत्यत्र सर्वादेरित्यस्य स्याद्यधिकाराक्षिप्तनामविशेषणत्वात् "विशेषणमन्तः" इति परिभाषया 'सर्वाद्यन्तस्य नाम्न' इति न्यासकारव्याख्यानात् परमसर्वस्मै इत्यादावेव स्मायादयः प्राप्नुवन्ति, परं सर्वस्मै इत्यादावपि सर्वशब्दस्य सर्वाद्यन्तत्वकल्पनात् स्मायादयः स्युः। **ज्ञापकं** त्वस्य यन्तीत्यादावियुबाधनार्थं "ह्विणोरप्विति व्यौ" (४।३।१५) इति इणो यत्वविधानम्, तद्धि 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये' (२।१।५०) इति इयादेशापवादः, इयादेशश्च इण इवर्णान्तत्वकल्पनयैवेति ॥ ५ ॥

प्रकृतिवदनुकरणम् ॥ ६ ॥

अनुकार्यं धात्वादिकं प्रकृतिः, अनुकरणेऽपि प्रकृतिवत्कार्यं कार्यम्; यथा "परिव्यवात् क्रियः" (३।३।२७) इत्यत्र धात्वनुकरणस्य क्री इत्यस्य धातुवद्भावाद्धातुकार्यं "संयोगात्" (२।१।५२) इतीयादेशः। वत्करणाच्च सर्वथा धातुत्वाभावान्न त्यादयः। **ज्ञापकं** त्वस्य 'क्रिय' इति सूत्रनिर्देश एव। **अनित्य**त्वाच्चास्य "परावेर्जेः" (३।३।२८) इत्यादौ नेयादेशः ॥ ६ ॥

एकदेशविकृतमनन्यवत् ॥ ७ ॥

'छिन्नाङ्गुलिकोऽपि स एव चैत्र' इतिवदेकस्मिन्प्रदेशे वैसदृश्ये नान्यत्वं गण्यते, किन्तु तथाविधस्यापि यथोक्तं कार्यं क्रियत इत्याशयः; लक्ष्यमाणवैसदृश्यापह्नवार्थोऽयं न्यायः, एवमुत्तरत्रापि। यथा अतिजरसा कुलेनेत्यादौ "क्लीबे" इति ह्रस्वे कृते अतिजरशब्दस्यापि "जराया जरस्वा" (२।१।३) इति जरसादेशः स्यात्। **एकदेशे**त्यस्योपलक्षणत्वात् क्वचिदनेकदेशविकृतमप्यनन्यवत्, यथा "यमिरमि०" (४।२।५५) इति न्लोपे प्रणिहत इत्यादावेकदेशाविकृतस्येव प्रणिघ्नन्ति इत्यादौ हनेः "गमहन०" (४।२।४४) इत्यल्लोपे "हनो ह्नो घ्नः" (२।१।११२) इति घ्नादेशे ह्नो घे च कृते अनेकदेशविकृतस्याप्यनन्यत्वात् तस्मिन् परे "नेर्ङ्गादापतपद०" (२।३।७९) इति नेर्नो णः सिद्धः। **ज्ञापकं** त्वस्य "सख्युरितोऽशावैत्" (१।४।८३) इत्यत्र इत इति वचनम्। तद्धि सखीशब्दस्य ऐत्वनिषेधार्थम्, एतन्न्यायाभावे च सखीशब्दस्य ऐत्वप्राप्तिरेव नास्ति, सूत्रे सखिशब्दस्यैवोक्तेरिति। **अनित्य**त्वाच्चास्य "सङ्ख्याहर्दिवा०" (५।१।१०२) इति सूत्रे लिपिलिब्योर्ग्रहणम्, अस्य न्यायस्य नित्यत्वेऽन्यतरग्रहणेनापि सिध्येत् ॥ ७॥

भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः ॥ ८ ॥

यथा ह्यस्तन्यादौ प्रण्यहन् इत्यादौ साक्षाद् हनौ परे नेर्नो णः तथा अद्यतन्यादौ प्रण्यवधीदित्यादौ हनादेशस्य वधेर्भूतपूर्वहनरूपत्वोपचारात्तस्मिन्नपि "नेर्ङ्गादा" (२।३।७९) इति सूत्रेण नेर्नो णः

सिद्धः । **ज्ञापकं** त्वस्य "नेर्ङ्गादे"ति सूत्रे वपेरग्रहणमन्यथोक्तसूत्रे वपेरगृहीतत्वात् प्रण्यवपीदित्यादौ नेर्नो णो न सिध्यति ॥ ८ ॥

भाविनि भूतवदुपचारः ॥ ९ ॥

यथा नृणामित्यादौ निष्पन्ने पदे "रषृवर्णान्नो ण०" (२।३।६३) इति णत्वं, तथा रवणं तक्षणमित्यादौ यद्यपि पदत्वं स्याद्युत्पत्त्यनन्तरं भावि तथापि भाविनः पदत्वस्य भूतवदुपचारान्नामावस्थायामपि "रषृवर्णे"ति कृतणत्वानामेव रवणादिशब्दानां न्यासः । **ज्ञापकं** त्वस्य "रषृवर्णे"ति सूत्रे पद एव णत्वविधानमिति ॥ ९ ॥

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १० ॥

सङ्ख्यया एकद्व्यादिवचननिर्देशेन चेति द्विधापि मिथः समानां पूर्वेषां परेषां पदानां सङ्ख्यानतिक्रमेणैवानुकूलं देशनमनुदेशः कार्यः, आद्यमाद्येन द्वितीयं द्वितीयेनेत्यादिरीत्यैव योजना कार्या, नत्वन्यथेत्यर्थः, योजनाया याद्दच्छिककत्वे प्रसक्ते नियमार्थोऽयं न्यायः । यथा "ङेङस्योर्यातौ" (१।४।६) इत्यादौ स्थानिनोरादेशयोश्च द्विद्विसङ्ख्यत्वेन द्विवचननिर्दिष्टत्वेन च समत्वाद्यथासङ्ख्यं योजना सिद्धा । समानामिति किम् ? "नमस्पुरसो गतेः कखपफि रः सः" (२।३।१) इत्यत्र नमस्पुरसोः कखाद्यैः सह समानवचननिर्देशेऽपि यथासङ्ख्यं न, [सङ्ख्यया तुल्यत्वाभावात् । तथा "तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ" (१।३।१४) इत्यत्र मुमयोरनुस्वारानुनसिकाभ्यां सह समसङ्ख्यत्वेऽपि यथासङ्ख्यत्वं न] वचननिर्देशेन तुल्यत्वाभावादिति ॥ १० ॥

विवक्षातः कारकाणि ॥ ११ ॥

भवन्ति न भवन्ति अन्यथा भवन्ति चेति शेषः । कारकनैयत्यनिषेधार्थोऽयं न्यायः । तत्र **भवनं** यथा, भिक्षा वासयतीत्यादौ भिक्षादेर्निर्व्यापारत्वेन हेतुमात्रत्वात्तत्त्वतोऽकारकत्वेऽपि स्वतन्त्रतया वासनादिव्यापारविवक्षया कर्तृकारकत्वं सिद्धम्, न च तत्त्वतोऽकारकत्वं नास्तीति वाच्यम्, अकारकत्वादेव भिक्षयोषित् इत्यादौ "कारकं कृता" (३।१।६८) इति प्राप्तसमासाभवनात् । **अभवनं** यथा माषाणामश्नीयादित्यादौ माषादीनां कर्मत्वे सत्यपि तदविवक्षणात् सम्बन्धमात्रे षष्ठी सिद्धा । **अन्यथाभवनं** यथा, ओदनः स्वयं पच्यते, असिश्छिनत्तीत्यादावोदनास्योः कर्मकरणयोरपि स्वातन्त्र्यविवक्षया कर्तृत्वं सिद्धमिति ॥ ११ ॥

अपेक्षातोऽधिकारः ॥ १२ ॥

अपेक्षा इष्टता, तत एवाधिकारः प्रवृत्तिमान्निवृत्तिमांश्च ज्ञेयो, नतु तत्र किञ्चिज्ज्ञापकमपेक्ष्यमिति भावः । यथा "णषमसत्परे स्यादिविधौ च" (२।१।६०) इत्यतः सूत्राद्**सत्परे** इत्यधिकारो "रात्सः" (२।१।९०) इति यावदनुवर्तते नोर्ध्वम्; **स्यादिविधौ** च इत्यधिकारस्तु "नोर्म्यादिभ्यः" (२।१।९९) इति यावत्, [इत्येषोऽर्थो ज्ञापकं विनापि सिद्धः] । **'विशेषातिदिष्टो विधिः, प्रकृताधिकारं न बाधते'** इत्यपि न्यायोऽस्ति, यथा, "धातोरिवर्णोवर्ण०" (२।१।५०) इत्यतोऽनुवर्तमानो धातोरित्यधिकारो "भ्रूश्नोः" (२।१।५३) इत्यादि सूत्रत्रये विशेषोक्त्यानुक्तोऽप्येतन्न्यायेन "योऽनेकस्वरस्य" (२।१।५६) इत्यत्र पुनः प्रादुर्भूतः, **परमिदं** प्रकृतन्यायेनापि सिध्यतीति सोऽत्रैवान्तर्भूतः । **'मण्डूकप्लुतिन्यायो'**ऽप्यस्यैव प्रपञ्चस्तथाहि—यत्र पूर्वसूत्रस्थोऽधिकारः कतिचित्सूत्राणि मुक्त्वा मण्डूकवदग्रे याति तत्रायं न्यायो, यथा "अञ्वर्गात्स्वरे वोऽसन्" (१।२।४०) इति सूत्रस्थोऽसन्नित्यधिकारो "अ इ उ वर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः" (१।२।४१) इति सूत्रमन्तराले

मुक्त्वा "तृतीयस्य पञ्चमे" (१।३।१) "प्रत्यये च" (१।३।२) इति सूत्रयोर्गतस्तेन हि ककुम्मण्डलम् अम्मयम् इत्यादौ समासान्तर्वर्तिविभक्त्या पदान्तस्थस्यापि मस्यासत्त्वात् "तौ मुम०" (१।३।१४) इति अनुस्वारानुनासिकौ मा भूताम् । **अत्रा**प्यधिकारप्रवृत्तिनिवृत्त्योरपेक्षात एव सिद्धिरिति ॥ १२ ॥

अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः ॥ १३ ॥

परिणामः परावर्तः, कार्य इति शेषः । यथा "अत आः स्यादौ जस्भ्यां ये" (१।४।१) इत्यतोऽनुवर्तमानस्य षष्ठ्यन्तस्यापि अत इति पदस्य "भिस ऐस्" (१।४।२) इत्यत्र पञ्चम्यन्ततया परिणामः । **अस्यानित्यत्वात्** 'तृतीयस्य पञ्चमे' (१।३।१) इत्यतोऽनुवर्तमानस्य तृतीयस्येति पदस्य पञ्चम्यन्ततया परिणामनासिद्धावपि "ततो हश्चतुर्थः" (१।३।३) इत्यत्र तत इत्युक्तम् ॥ १३ ॥

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥ १४ ॥

सम्भवति, ग्रहणं, कार्यमिति त्रयः शब्दा अत्राध्याहार्याः । अर्थवतः प्रत्ययादेर्ग्रहणे सम्भवति सत्यनर्थकस्य ग्रहणं न कार्यम् । शब्दसारूप्यादुभयोर्ग्रहणे प्रसक्तेऽयं न्यायः, एवमग्रेतनेऽपि वाच्यम् । तत्र **प्रत्ययस्य** यथा, "तीयं ङित्कार्ये वा" (१।४।१४) इत्यत्र "द्वेस्तीयः" (७।१।१६५) इति सार्थकस्य तीयप्रत्ययस्यैव ग्रहणं, नतु जातीयर्प्रत्ययगतस्यानर्थकस्य तीयस्य, तेन द्वितीयशब्दस्यैव स्मायादिविकल्पो न तु पटुजातीयशब्दस्य । **प्रकृते**र्यथा, प्लीहा प्लीहानौ इत्यादौ हनो निरर्थकत्वात् "इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः" (१।४।८७) इति सूत्रोक्तनियमाभवनेन "नि दीर्घः" (१।४।८५) इति दीर्घः । **ज्ञापिकं** चास्य "तृस्वसृ०" (१।४।३८) इति सूत्रे नप्त्रादीनां पृथगुपादानम्, तद्धि नप्त्रादीनां पृथगुपादानमौणादिकतृप्रत्ययान्तानामपि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' इति न्यायात् अव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दत्वेन तृशब्दस्यानर्थकत्वाद् ग्रहणं न स्यादिति तेषां पृथग्ग्रहणम् । **अनित्य**श्चायम् । 'अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ती'ति न्यायेनास्योपोद्यमानत्वादिति ॥ १४ ॥

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥ १५ ॥

सम्भवतोरिति शेषः । यत् सामान्येन लिङ्गमात्रं निर्दिश्य विहितं तल्लक्षणं, लक्षणेन चरति "चरति" (६।४।११) इति इकणि लाक्षणिकमप्येतदुच्यते, यत्तु नामग्राहं विहितं तत्प्रतिपदोक्तम् । तत्रोभयोर्ग्रहणे सम्भवति प्रतिपदोक्तं ग्राह्यं न तु लाक्षणिकम्, यथा "नोऽप्रशानो०" (१।३।८) इत्यनेन त्वन्तत्रेत्यादौ नस्य सो न स्यात्, अयं हि नः "तौ मुम०" (१।३।१४) इत्यनेनानुनासिक इति सामान्येनैव विहितः, परं वह्न्यादिच्छन्नदेशे ककुदं दृष्ट्वा गवात्र भाव्यमितिवत्तकारं पुरो दृष्ट्वा तकारस्य स्वानुनासिकेन नकारेण भाव्यमिति युक्त्या लक्षणाच्चिह्नादागत इत्यतो लाक्षणिकः । प्रतिपदोक्तस्य तु नस्य सः स्यात् । यथा भवांस्तत्र, अत्र हि नोऽन्त इति नकारमेवोक्त्वा विहितत्वात् प्रतिपदोक्तः । **ज्ञापकं** त्वस्य "एकार्थं चानेकं च" (३।१।२२) इत्यनेनैव सिद्धेऽपि बहुव्रीहौ "आसन्नदूराधिक०" (३।१।२०) इत्यादि प्रतिपदोक्तं बहुव्रीहिविधानम्, तद्धि "प्रमाणीसङ्ख्याड्डः" (७।३।१२८) इति डप्रत्ययविधौ तद्बहुव्रीहिग्रहणार्थम्, तेन आसन्नदशा इत्यत्रैव डः; "एकार्थं चानेकं चे"ति विहिते तु बहुव्रीहौ डो न स्यात्, यथा प्रिया दश येषां ते प्रियदशान इति । **अनित्यत्वा**च्चास्य यथा "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" (१।४।३५) इत्यत्र सेः गोः इत्यादौ प्रतिपदोक्तयोरेदोतोर्ग्रहणम्, तथा लुनातीति विचि गुणे ङसिङसोः परयोर्नेलोः इत्यादावपि "एदोद्भ्यां ङसिङसोरः" समजनि । अस्य नित्यत्वे तु गुणलक्षणकृतत्वादेदोतौ लाक्षणिकाविति ङसिङसो रत्वं न प्राप्नोति, । **अस्य** कचिल्लक्षणेन व्याकरणेन निष्पन्नं लाक्षणिकं, अव्युत्पन्नं तु प्रतिपदोक्तमित्यप्यर्थो दृश्यते, यथा हनो ह्यस्तनीदिवि अहन् इत्यस्य लाक्षणिकत्वात्

"अह्नः" (२।१।७४) इति नस्य रुर्न स्यात् किन्तु अव्युत्पन्नस्यैव दिनार्थस्याहन्शब्दस्येति, **सो**ऽपि पूर्वव्याख्ययैव सङ्गृहीतो द्रष्टव्य इति ॥ १५ ॥

नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥ १६ ॥

नाममात्रनिर्देशे स्त्रीत्वादिलिङ्गविशिष्टमपि नाम ग्राह्यम् । शब्दार्थभेदादप्राप्तग्रहणस्य प्रापणार्थोऽयं न्यायः, **एवमुत्तरन्यायेऽपि** वाच्यम्, यथा "त्यदामेनदेतद०" (२।१।३३) इति सूत्रे त्यदामिति नाममात्रनिर्देशेऽपि त्यदाद्यधिकारे सर्वत्र स्त्रीत्वादिविशिष्टानामपि त्यदादीनां ग्रहणात् सा स्या इत्यादौ "तः सौ सः" (२।१।४२) इति से कर्तव्ये त्यदादेः सेश्च आपा व्यवधानं न स्यात्, **आबन्तो**ऽपि त्यदादिस्त्यदादिरेवेति । **नाममात्रग्रहणे** इति किम् ? यत्र सलिङ्गनिर्देशस्तत्र तल्लिङ्गविशिष्टस्यैव ग्रहणं यथा स्यात्, तेन "अतः कृकमिकंस०" (२।३।५) इति सूत्रे कुशानिर्देशात् अयःकुश इत्यत्र रः सो न स्यात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "राजन्सखेः" (७।३।१०६) इत्यत्र राजन्निति नान्तनिर्देशः, स हि स्त्रीलिङ्गेऽनकारान्ते राजन्शब्दे अट्समासान्तनिषेधाय, यथा महती चासौ राज्ञी च महाराज्ञी इत्यत्रानेन न्यायेन अट्प्राप्तोऽपि नान्तनिर्देशेन निषिध्यते । **अनित्य**त्वाच्चास्य "सर्वादिविष्वग्०" (३।२।१२२) इति डद्रिर्विषूचीशब्दान्न स्यात् [तथा सति विषूचद्र्यङ् इत्यनिष्टरूपापत्तेः] ॥ १६ ॥

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम् ॥ १७ ॥

यस्मात् यः प्रत्ययो विधीयते सा तस्य प्रकृतिः, सा चात्र धातुरूपैव ग्राह्या, यङ्लुबन्तत्वस्यान्यत्रासम्भवात्, **एवमुत्तरन्यायेऽपि** । यस्य धातोर्यत्कार्यमुक्तं तत्तस्य यङ्लुबन्तस्यापि स्यात्, तेन यथा प्रणिदत्ते इत्यत्र नेर्नो णः तथा प्रणिदाद इत्यत्रापि स्यात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "एकस्वरादनुस्वारेतः" इति बृहत्सूत्ररचनम् । तथाहि—यद्यपि अनुस्वारेतः कृगादिधातवः सर्वेऽप्येकस्वरा एव तथापि यङ्लुबन्तीकृता एते चर्कृ इत्यादिरूपा बहुस्वराः स्युस्ते एतेन न्यायेन कृगादिग्रहणेन गृहीता अनुस्वारेतश्च स्युः । तेषां, स्थानिवत्तयाऽनुस्वारेतो बहुस्वरस्य हनादेशस्य वधधातोश्चेड्निषेधनिवृत्तये एकस्वरादिति वचनं सार्थकम्; तेन चर्करिता, अवधीत् इत्यादाविड्निषेधनिवृत्तिर्बभूवेति । **अनित्यत्वं** चास्याग्रेतनेनापोद्यमानत्वादिति ॥ १७ ॥

तिवा१ शवा२ऽनुबन्धेन३ निर्दिष्टं यद्गणेन ४ च ।
एकस्वरनिमित्तं५ च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥ १८ ॥

निर्दिष्टमिति तिवादिषु चतुर्ष्वपि योज्यं, शेषं स्पष्टम् । **तिवा** निर्दिष्टं द्विधा, अलुप्तेन लुप्तेन च । **तत्रालुप्तेन** यथा "न कवतेर्यङः" (४।१।४७) इति कस्य चत्वनिषेधः, अयं कोकूयते इत्यादौ स्याच्चोकवीतीत्यादौ तु न, **लुप्तेन** यथा, "ङे पिबः पीप्य्" (४।१।३३) इति पीप्यादेशः पिबतेः केवलस्य स्याद्यथा अपीप्यत्, यङ्लुबन्तस्य तु न, यथा अपापयत् । १ । **शवा** निर्दिष्टं यथा, "निसस्तपेऽनासेवायाम्" (२।३।३५) इति निसः सस्य षत्वं निष्टपतीत्यादौ स्यात्, निस्तातपीतीत्यादौ तु न । २ । **अनुबन्धेन** यथा, "गापास्थासादामाहाकः" (४।३।९६) इत्येत्वम् हेयादित्यादौ स्यात्, जहायादित्यादौ तु न । ३ । **गणेन** निर्दिष्टं त्रिधा, सङ्ख्यया, आदिशब्देन, बहुवचनेन च, तत्र **सङ्ख्यया** यथा, "रुत्पञ्चकाच्छिदयः" (४।४।८८) इति इट् स्वपितीत्यादौ स्यात् सोषोप्तीत्यादौ तु न स्यात्; **आदिशब्देन** यथा, "दिवादेः श्यः" (३।४।७२) अयं दीव्यतीत्यादौ स्यात्, देदिवीतीत्यादौ तु न; **बहुवचनेन** यथा "द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्" (३।३।४४) इत्यात्मनेपदविकल्पः, सोऽद्युतत् अद्योतिष्ट इत्यादौ स्यात्, अदेद्योतीदित्यादौ तु न । आदिशब्देन बहुवचनेन **चेत्युभाभ्यां** यथा, "तेर्ग्रहादिभ्यः" (४।४।३३)

इति इटोऽनुज्ञाविधिः भणितिरित्यादौ स्यात्, न तु बम्भाण्टि इत्यादौ । ४ । **एकस्वरनिमित्तं** यथा "एकस्वरादनुस्वारेतः" (४।४।५६) इतीड्निषेधः शक्त इत्यादौ स्यात् शाशकित इत्यादौ तु न; **नचात्र** बहुस्वरत्वान्नेड्निषेध इत्याशङ्कनीयं, पूर्वोक्तन्यायेन शकिग्रहणेन गृहीतत्वादेकस्वरत्वमेवेति 'एकस्वरनिमित्तं यङ्लुपि न' इतीड्निषेधो न । ५ । **ज्ञापकं** त्वस्य तत्तत्सूत्रेषु तिवादिनिर्देशा एव । **अनित्यत्वं** चास्याद्ये पञ्चमे वांशे न दृश्यते शेषेषु तु दृश्यते, तत्र **द्वितीये** यथा अपात् इत्यादाविव अपापादित्यादावपि "पिबैतिदा०" (४।३।६६) इति शब्निर्दिष्टोऽपि सिचो लुबिड्निषेधश्चाभूताम्, **तृतीये** यथा नृत्त इत्यादाविव नरीनृत्त इत्यादावपि "डीयश्व्यैदितः" (४।४।६१) इत्यनेनानुबन्धनिर्दिष्टोऽपीड्निषेधोऽजनि, **तुर्ये** यथा, स्प्रष्टेत्यादाविव स्पृशेर्यङ्लुपि रागमे तिवि पर्स्प्रष्टि इत्यादावपि "स्पृशादिसृपो वा" (४।४।११२) इति गणनिर्दिष्टोऽप्यदागम आगात् ॥ १८ ॥

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥ १९ ॥

सन्निपतति सङ्गच्छते कार्यमस्मिन्निति सन्निपातो निमित्तं तल्लक्षणं चिह्नं यस्य कोऽर्थः-स्वनिमित्ताद्‌द्भूतः, सविधिस्तस्य प्रस्तावात् स्वनिमित्तस्य विघाताय न भवति, **लोके** पितृघातकपुत्रादौ कार्यादपि कारणविघातस्य दर्शनाद् व्याकरणे तथात्वनिषेधार्थोऽयं न्यायः । यथा पपाचेत्यादौ णवा जातमनेकस्वरत्वं "धातोरनेकस्वरादाम्०" (३।४।४६) इत्यामादेशसम्पादनेन णवो विघाताय न भवति । **ज्ञापकं** त्वस्य "धातोरनेकस्वरादाम्०" इत्यत्र सामान्येनानेकस्वरत्वाभिधानं, तद्धि अनेन न्यायेन पपाचेत्यादावनेकस्वरत्वस्य णव्निमित्तत्वादाम् भविष्यति, चकासाञ्चकारेत्यादौ स्वाभाविकानेकस्वरत्वाद्भविष्यति इत्यभिप्रायेणेति । **अनित्यश्चायं**, तेनातिजरसैरित्यत्र अतिजरशब्दस्यादन्तत्वेन निष्पन्नो "भिस ऐस्" (१।४।२) जरसादेशहेतूभवनेन स्वहेतोरदन्तस्य विघाताय जातः । **अनित्यत्वज्ञापकं** च एस्करणेऽपि देवैरित्यादिप्रयोगसिद्धावपि ऐस्करणमतिजरसैरिति प्रयोगसिद्ध्यर्थम्, स च प्रयोगोऽस्य न्यायस्य नित्यत्वे न सम्भवतीति प्रागेवोक्तमिति ॥ १९ ॥

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ २० ॥

प्रकृतेराश्रितं यत्स्याद्यद्वा पूर्वं व्यवस्थितम् ।
यस्य वाल्पनिमित्तानि अन्तरङ्गं तदुच्यते ॥ १ ॥
प्रत्ययस्याश्रितं यत्स्याद्बहिर्वा यद्व्यवस्थितम् ।
बहूनि वा निमित्तानि यस्य तद्बहिरङ्गकम् ॥ २ ॥

बहिरङ्गं कार्यमन्तरङ्गे विधौ कर्त्तव्येऽसिद्धमसदिव स्यात् । बहिरङ्गदौर्बल्यख्यापनार्थोऽयं न्यायः; । यथा गिर्योरित्यादौ प्रत्ययाश्रितत्वाद्बहिर्व्यवस्थितत्वाद्वा बहिरङ्गस्य यत्वस्य प्रकृत्याश्रितत्वात्पूर्वव्यवस्थितत्वाद्वाऽन्तरङ्गे "भ्वादेर्नामिन०" (२।१।६३) इति दीर्घे कर्तव्येऽसिद्धत्वाद्दीर्घो नाभूत् । **ज्ञापकं** त्वस्य "न सन्धिङी०" (७।४।१११) इति सूत्रे सन्धिविधित्वेनैव द्वित्वविधौ स्थानिवद्भावनिषेधे सिद्धेऽपि द्विग्रहणम्, तथाहि दद्ध्यत्रेत्यादौ "अदीर्घाद्विरामै०" (१।३।३२) इति सूत्रेण धस्य द्वित्वे क्रियमाणे "स्वरस्य परे प्राग्विधौ" (७।४।११०) इति यत्वस्य स्थानिवद्भावो विघ्नीभवन् "न सन्धि०" इति सूत्रे सन्धिग्रहणेन निषिद्धः । द्वितीयतृतीयपादयोः सन्धिविधी हि क्रमेण स्वरव्यञ्जनसन्धी उच्येते, एवं स्थितेऽपि यत् "न सन्धि०" इति सूत्रे सन्धितः पृथग् द्विग्रहणं, तदनेन न्यायेन यत्वस्य स्थानिवद्भावो मा भूदित्यभिप्रायेणेति । द्वित्वं हि पूर्वव्यवस्थितत्वादन्तरङ्गं यत्वं च बहिर्व्यवस्थितत्वाद्बहिरङ्गमिति ॥ २० ॥

न स्वरानन्तर्ये ॥ २१ ॥

स्वरयोरानन्तर्ये सति यदन्तरङ्गं कार्यं क्रियते, तस्मिन्कर्तव्ये बहिरङ्गमसिद्धं न स्यात्, **पूर्वस्या**पवादोऽयं न्यायः, यथा इयेष, बभूवुषा, अत्र बहिर्व्यवस्थितत्वाद्बहिरङ्गोऽपि इषधातोर्गुणः कसोरुषादेशश्च पूर्वव्यवस्थितत्वादन्तरङ्गे यथाक्रमं "पूर्वस्यास्वे स्वरे०" (४।१।३७) इतीयादेशे "धातोरिवर्णस्ये०" (२।१।५०) इत्युवादेशे च कर्तव्येऽसिद्धो नाभूत्, स्वरयोरानन्तर्यसद्भावात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "वृत्त्यन्तोऽसषे" (१।१।२५) इति निर्देशस्तथाहि, अत्र "अतोऽति रोरुः" (१।३।२०) इत्यनेन कृतस्य उत्वस्य पदान्तरस्थाकारसापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्य, "अवर्णस्येवर्णादि०" (१।२।६) इति सूत्रेण प्राक्स्थिताकारेण सह ओत्वे एकपदापेक्षत्वेनान्तरङ्गे कर्त्तव्ये, पूर्वन्यायेन यद्यसिद्धत्वं स्यात्तदा ओत्वस्याभवनात् "वृत्त्यन्तोऽसषे" इति निर्देशो न सम्भवतीति ॥ २१ ॥

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ॥ २२ ॥

यथा "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (४।३।१) इत्यत्र मुख्यधातोरेव ग्रहणं तेन नीभ्यां लूभ्यां इत्यादौ क्विबन्तत्वेन गौणधातोर्गुणो न स्यात् । **अनित्य**त्वाच्चास्य "धातोरिवर्णोवर्णस्य" इत्यत्र गौणस्यापि ग्रहणम्, तथाहि वस्विच्छतः वसूयतस्ततः क्विपि "अतः" (४।३।८२) इत्यलुकि "योऽशिति" (४।३।८०) इति यलुकि वस्वौ वस्व इत्यादौ वत्वसिद्ध्यर्थं "स्यादौ वः" (२।१।५७) इति सूत्रं कृतम्, वत्वं च "इवर्णादेरस्वे स्वरे०" (१।२।२१) इत्यनेनापि सिद्ध्येत् परं '**वार्णात्प्राकृतमि**'तिन्यायात्परत्वाच्च "इवर्णादेरि"ति वत्वं बाधित्वा "धातोरिवर्णे"त्युवेव प्रवर्तते इति तद्बाधनार्थं "स्यादौ वः" इति सूत्रम्, ततोऽस्य न्यायस्यानित्यत्वात् "धातोरिवर्णे"त्यत्र गौणस्यापि धातोर्ग्रहणमिति । **"प्रधानानुयायिनो व्यवहारा"** इत्यपि न्यायोऽस्ति, यथा मुनीन् इत्यादौ इकारस्य शसोऽकारस्य चेत्युभयोः स्थानित्वेऽपि षष्ठ्या निर्दिष्टत्वेन मुख्यस्थानिन इकारस्यैवासन्न ईकारो दीर्घः स्यात्, नत्वकारस्यासन्न आ, "शसोऽता०" (१।४।४९) इति सहार्थनिर्देशेनाकारस्य गौणत्वादिति । **परमयमपि** न्यायोऽत्रैवान्तर्भूत इति । '**प्रधानानुयाय्यप्रधान**'मित्यपि न्यायोऽस्ति, यथा नीलोत्पलमित्यत्रोभयोरपि पदयोर्व्यभिचारित्वेनान्यव्यवच्छेदकत्वाद्विशेषणसम्भवे "विशेषणं विशेष्येण०" (३।१।९६) इति कर्मधारये उत्पलनीलमित्यपि स्यात्तथापि 'द्रव्याश्रयी गुण' इति न्यायाद्गुणवाचिनो नीलशब्दस्याप्रधानत्वं द्रव्यवाचिन उत्पलशब्दस्य प्रधानत्वमिति स एव पुरोभूयावतिष्ठमानः क्रियान्वयित्वं लभते इति । **अयमपि** न्यायोऽत्रैवान्तर्भूतः । **मुख्ये** एव कार्यसम्प्रत्यय इति क्रियान्वयित्वलक्षणं कार्यं मुख्ये एव भवतीति ॥ २२ ॥

कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे ॥ २३ ॥

कृत्रिमं परिभाषानिष्पन्नं, तच्च **गौण**मौपाधिकत्वात् । ततोऽन्यदकृत्रिमं लोकप्रसिद्धं तच्च **मुख्य**मनौपाधिकत्वात् । तयोर्मध्ये कृत्रिमे कार्यं कार्यम्, पूर्वेणाकृत्रिमस्य ग्रहणे प्राप्ते तदपवादोऽयं न्यायः; यथा "असहनञ्०" (२।४।३८) इत्यादिसूत्रेषु, "अविकारो द्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु" ॥ १ ॥ इति **पारिभाषिकमेव** स्वाङ्गं ग्राह्यं तेन दीर्घमुखा शालेत्यत्र स्वाङ्गत्वाभावात् ङीर्न स्यात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च" (३।३।८६) इत्यत्र स्वाङ्गशब्दयोर्व्यस्ताभिधानम्, इदं हि आयच्छति पादौ मैत्रस्य चैत्र इत्यादौ पारिभाषिकाङ्गलक्षणे सत्यपि मैत्रपादयोश्चैत्रस्य स्वावयवत्वाभावादात्मनेपदं मा भूदित्येवमर्थम् । स्वाङ्ग इति समस्ताभिधाने तु स्वाङ्गलक्षणसद्भावादेतन्न्यायादत्रात्मनेपदमभविष्यदेवेति । **अनित्यत्वं** त्वस्योत्तरेण दर्शयिष्यते ॥२३॥

क्वचिदुभयगतिः ॥ २४ ॥

क्वचित् कृत्रिममकृत्रिमं चेत्युभयमपि ग्राह्यम्, **यथा** "नाडीतन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे" (७।३।१८०) इत्यनेन 'बहुनाडिः कायो', 'बहुतन्त्री ग्रीवे'त्यत्र कृत्रिमस्वाङ्गवृत्त्योः नाडीतन्त्रीशब्दयोर्यथा कच् निषिध्यते, **तथा** 'बहुनाडिः स्तम्बो', 'बहुतन्त्री वीणे'त्यादावपि कच् निषिध्यते, **अत्र** हि नाडीतन्त्र्योरप्राणिस्थत्वात् न कृत्रिमं स्वाङ्गत्वम् । **न च** स्तम्बस्यैकेन्द्रियत्वात्कथमप्राणिस्थत्वमित्याशङ्कनीयम्, "प्राण्यौषधिवृक्षेभ्य" (६।२।३१) इत्यत्र वृक्षौषधीनां प्राणिभ्यः पृथङ्निर्देशेनेह शास्त्रे प्राणिशब्देन त्रसा एव ग्राह्या नतु स्थावरा इति । **अनित्य**श्चायं क्वचिदित्युक्तेः ॥ २४ ॥

सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥ २५ ॥

नैरर्थक्यशङ्कानिरासार्थोऽयं न्यायः, यथा दण्डीत्यादौ "नि दीर्घः" (१।४।८५) इति दीर्घे सिद्धेऽपि "इन्हन्पूषा०" (१।४।८७) इति सूत्रारम्भो नियमार्थ एव । नियमश्चायं–इनादीनां शिस्योरेव दीर्घो नान्यघुटीति, तेन दण्डिनावित्यादौ "नि दीर्घ" इत्यनेनापि दीर्घो न स्यात् । **ज्ञा**पकं त्वस्य पुनः सूत्रारम्भ एव । **अ**नित्यत्वाच्चास्य पूजार्हे इत्यादौ "लिहादिभ्यः" (५।१।५०) इत्येवाचि सिद्धे "अर्होऽच्" (५।१।९१) इत्यादि षट्सूत्रारम्भो लिहादिप्रपञ्चार्थो नतु नियमार्थ इति ॥ २५ ॥

धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम् ॥ २६ ॥

यत्कार्यं धातोः स्वरूपमुच्चार्य प्रत्यये परे उक्तं तत्तस्य धातोरेव सम्बन्धिनि प्रत्यये परे स्यात् न तु क्विबन्तत्वेन नाम्नोऽपि सम्बन्धिनि, यथा दुष्यन्तं प्रयुङ्क्ते दूषयतीतिवत् दोषणं दुट् क्विप् तां करोतीति णिजि दुषयति, अत्र "ऊदुदुषो णौ" (४।२।४०) इत्यनेन उत ऊर्न, यतोऽत्र 'क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते' इति धातुत्वनामत्वोभयसद्भावः । **ज्ञा**पकं त्वस्य "ऊदुषो णावि"-त्यादि सूत्रेषु विशेषणानुक्तिरेव ॥ २६ ॥

नञुक्तं तत्सदृशे ॥ २७ ॥

यत्पदं नञा योगान्निषिध्यते, तत्र तत्सदृशमेवापरं ग्राह्यं नत्वसदृशम्, यथा "व्यक्ये" (१।२।२५) इत्यत्र क्यप्रत्ययेन नञुक्तेन क्यसदृशस्य यकारादेरपि प्रत्ययत्वनियमनात् गां नावं वेच्छति क्यनि गव्यति नाव्यतीत्यत्रवद् गोयानं नौयानमित्यादाववावौ न । **अ**नित्यत्वाच्चास्य पर्युदासे प्रवृत्तिर्न प्रसज्ये । उक्तं च–'पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृदि'ति, ततश्च "अनतो लुप्" (१।४।५९) इत्यत्र प्रसज्यनञ्सद्भावादकारसदृशस्य केवलस्य स्वरस्यैव न ग्रहणम्, किन्त्वकारवर्जसर्वस्वराणां व्यञ्जनानां च ग्रहणम्, तेन पय इत्यादौ व्यञ्जनान्तादपि स्यमोर्लुप् सिद्धा । एवं च निषेधमात्रपर्यवसायिनः प्रसज्यनञः प्रतिकूलोऽयं न्यायः ॥ २७ ॥

उक्तार्थानामप्रयोगः ॥ २८ ॥

उक्तः प्रत्यायितोऽन्यैः प्रत्ययाद्यैरर्थो येषां तेषां द्वितीयादि विभक्त्यादीनां ? प्रयोगो न कार्यः, यथा क्रियते कटोऽनेनेत्यादौ कर्मादिषूत्पन्नैरात्मनेपदाद्यैः कर्मादिशक्तयः प्रत्यायिता इति न तत्प्रत्यायनाय कटादेर्द्वितीयादि, ततः परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमेति ॥ २८ ॥

निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः ॥ २९ ॥

निमित्तनिवृत्तौ नैमित्तिकं तज्जातं कार्यमपि निवर्त्तते इति भावः, लोके कुम्भकाराभावेऽपि घटो दृश्यते, इह तु नैवमिति व्यतिकरोऽयं न्यायः । यथा बिम्बशब्दाज्जातिविशेषविवक्षायां स्त्रीत्वे गौरादित्वात् ङ्याम्, "अस्य ङ्यां लुक्" (२।४।८६) इति बिम्बाकारलुकि च बिम्बी, तदनु बिम्ब्याः फलं बिम्बम्, अत्र

'हैमादित्वादञ्' "फले" (६।२।५८) इति तल्लुपि, "ङ्यादेर्गौणस्य०" (२।४।९५) इति ङी-निवृत्तौ, "अस्य ङ्यां लुक्" (२।४।८६) इति ङीजाताया अल्लुकोऽपि निवृत्त्या अकारः प्रत्यावृत्त इति । अस्य **ज्ञापकं** तु "न सन्धि०" (७।४।१११) इति सूत्रे ङीलुकोऽल्लुकि कार्ये स्थानिवद्भावनिषेधोक्तिः, तथाहि—"न सन्धि०" इति सूत्रवृत्तौ ङीपरे विधिर्ङीविधिस्तस्मिन् अल्लुग्लक्षणे ङीविधौ कर्त्तव्ये ङीलुग्लक्षणः स्वरस्यादेशः स्थानिवन्न भवति, यदि च लुप्रूपस्य स्वरादेशस्य स्थानिवद्भावेन ङी सद्भूतः स्यात् तदा पुनरपि "अस्य ङ्यां लुक्" इत्यकारलुकि बिम्बमिति न सिद्ध्यति, ततो "न सन्धिङी" इति सूत्रे ङी लुकः स्थानिवद्भावो निषिद्धः, ततोऽनेन न्यायेन ङीनिवृत्तौ अल्लुको निवृत्तौ बिम्बमिति सिद्धम् । **अनित्यत्वाच्चास्य** "दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषः" (१।४।४७) इति दीर्घे कृते ह्रस्वनाशेऽपि ह्रस्वजो नाम् न नष्टः ॥ २९ ॥

सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यपायः ॥ ३० ॥

सन्नियोगः सहोक्तिस्तेन शिष्टानामुक्तानामेकस्याभावेऽन्यस्याप्यभाव इति भावः । **अभावश्च** द्विधा, भूत्वा निवर्त्तनं मूलतोऽप्यभवनं च । **तत्राद्यं** यथा, पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः, अत्र "देवता" (६।२।१०१) इत्यणि "द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः" (६।१।२४) इत्यणुलुपि "ङ्यादेर्गौणस्य०" (२।४।९५) इति ङीनिवृत्तौ "वरुणेन्द्ररुद्र०" (२।४।६२) इति ङीसन्नियोगशिष्ट आनपि निवृत्तः, **द्वितीयं** यथा, एतान् गाः पश्येत्यत्र गोरोतः शसोऽता सह "आ अम्शसोऽता" (१।४।७५) इत्यात्वे शसो अकारस्याभावात् "शसोऽता सश्च नः पुंसि" (१।४।४९) इति दीर्घस्याभवनात्तेनैव सूत्रेण दीर्घसन्नियोगे उक्तं नत्वमपि नाभूत् । **ज्ञापकं** त्वस्य आन्निवर्त्तनाय नत्वनिषेधाय च यत्नाकरणमिति ॥ ३० ॥

नान्वाचीयमाननिवृत्तौ प्रधानस्य ॥ ३१ ॥

अप्राधान्येन विधीयमानमन्वाचीयमानं, तन्निवृत्तौ प्रधाननिवृत्तिर्न भवति, किन्तु 'मुख्यस्याभावे गौणस्याप्यभाव' इत्येव स्यात्, पूर्वेण यदृच्छायां प्राप्तायां नियमार्थोऽयं न्यायः; यथा बुद्धीः धेनूः, अत्र पुंस्त्वाभावात् "शसोऽता" इत्यनेन शसः सस्य नत्वाभावेऽपि प्रधानतयोक्तो दीर्घः स्यादेव । **ज्ञापकं** त्वस्य "शसोऽता सश्च०" इति सूत्रे नत्वविधेः 'सश्च नः' इत्यन्वाचयार्थेन चेन निर्देशः । **यतो** गौणत्वेन समुच्चयस्तावदन्वाचय उच्यते, गौणत्वस्य चैतावानेव विशेषो यद्गौणस्य निवृत्तौ मुख्यं न निवर्तत इति । [अनियमस्त्वस्य न प्रतिभासते] ॥ ३१ ॥

निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥ ३२ ॥

कार्यं स्यादितीहोत्तरत्र च विशेषः । निरनुबन्धं कञ्चनशब्दं सूत्रे उच्चार्य यत्कार्यं विहितं, तत्कार्यं तस्य शब्दस्य निरनुबन्धस्य ग्रहणे सम्भवति सानुबन्धकस्य न स्यात्, अविशेषोक्त्योभयोर्ग्रहणे प्राप्ते तदपवादोऽयं न्यायः । यथा "येऽवर्णे" (३।२।१००) इत्यत्र "तस्मै हिते" (७।१।३५) इत्यादि विहिते निरनुबन्ध एव ये नासिकाया नसादेशः स्याद्यथा नासिकायै हितं नस्यं घृतम् । सानुबन्धे तु ये ञ्यादिरूपे न स्यात्, यथा नासिकात्रास्ति "सुपन्थ्यादेर्ञ्यः" (६।२।८४) इति चातुरर्थिके ञ्ये नासिक्यं नगरम् । **ज्ञापकं** त्वस्य "न यि तद्धिते" (२।१।६५) इत्यत्र ये इत्यकरणम्, तथाहि—य् इति व्यञ्जनमात्रोपादाने तादृशस्य यप्रत्ययस्यासम्भवादेतन्न्यायाप्रवृत्तेर्निरनुबन्धसानुबन्धयोर्ग्रहणं कर्त्तुं शक्यते, अकारसहितोपादाने तु तादृशस्य निरनुबन्धस्य यप्रत्ययस्य सम्भवात्सानुबन्धस्य यादेः प्रत्ययस्य ग्रहणमेतन्न्यायात्कर्त्तुं न शक्यते, अतः सानुबन्धस्यापि यस्य ग्रहणार्थं यिति व्यञ्जनमात्रोपादानं कृतं, ये इति तु न कृतमिति ॥ ३२ ॥

एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ॥ ३३ ॥

सूत्रोक्तस्यैकानुबन्धस्य ग्रहणे सम्भवति सति तत्सूत्रकार्यं द्व्यनुबन्धकस्योपलक्षणात्त्र्याद्यनुबन्धकस्य न स्यात्, यथा "य्यक्ये" (१।२।२५) इत्यत्र एकानुबन्धस्य क्यस्य वर्जनात् द्व्यनुबन्धके क्यनि क्यङि चावावौ स्यातामेव, यथा गव्यति गव्यते, नाव्यति नाव्यते। ज्ञापकं त्वस्य "दीर्घश्च्वि०" (४।३।१०८) इति सूत्रे बहुवचनम्, इदं हि क्यन्क्यङ्क्यङ्षामविशेषेण ग्रहणार्थम्, यदि चायं न्यायो न स्यात्तदा जातिविवक्षया एकवचनेनापि सर्वेषां ग्रहणं सिध्यतीति किमर्थं बहुवचनं क्रियेतेति ॥ ३३ ॥

नानुबन्धकृतान्यसारूप्यानेकस्वरत्वानेकवर्णत्वानि ॥ ३४ ॥

असारूप्यं मिथो विसदृशरूपत्वं तथाऽनेकस्वरत्वमनेकवर्णत्वं चानुबन्धवशान्न स्युः। यथा अणो डेनासरूपत्वं नास्तीत्यतो गोद इत्यत्र "आतो डो ऽह्वावामः" (५।१।७६) इति डविषये "कर्मणोऽण्" (५।१।७२) इत्यण् "असरूपोपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः" (५।१।१६) इत्यनेनानुमतत्वान्न स्यात्। अणि हि गोदाय इत्यनिष्टं रूपं स्यादिति। **तथा** 'डुपचींष् पाके' इत्यस्य धातोरनुबन्धवशादनेकस्वरत्वाभावात्पपाचेत्यत्र परोक्षाया "धातोरनेकस्वरादाम्०" (३।४।४६) इत्यामादेशो न स्यात्। **तथा** अनुबन्धवशादनेकवर्णत्वाभावात् "वन्याङ्पञ्चमस्य" (४।२।६५) इत्याङादेशस्य ङित्वेनानेकवर्णत्वाभावात् 'घुणि भ्रमणे', 'वन भक्तावि'त्याभ्यां "मन्वन्क्वनिप्०" (५।१।१४७) इति वनि घ्वावा, वावा इत्यत्र "षष्ठ्याऽन्त्यस्य" (७।४।१०६) इति परिभाषया पञ्चममात्रस्यैवाङादेशो नतु "अनेकवर्णः सर्वस्य" (७।४।१०७) इति परिभाषया पञ्चमान्तस्य सर्वस्य धातोरिति ॥ ३४ ॥

समासान्तागमसंज्ञाज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टान्यनित्यानि ॥ ३५ ॥

एतानि षट् अनित्यानि अनियतानि, यथासूत्रं क्वचिन्न स्युः क्वचिदन्यथा स्युरित्यर्थः। समासान्तादीनां नित्यत्वे प्राप्ते तन्निषेधार्थोऽयं न्यायः। तत्र **समासान्तो** यथा बह्वाम्पि, बह्वम्पि, सरांसि इत्यत्र "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" (७।३।७६) इत्यत् समासान्तः प्राप्तोऽपि न स्यात्। **ज्ञापकं** त्वस्य "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" इति निर्देश एव, अत्समासान्तो हि पथ्यपादिति स्यात्। **आगमो** यथा पट्वा पटिता अत्र पटेः सेट्त्वात् नित्यं प्राप्तोऽपि वेट्, पक्त्वा पचिता, आस्कन्तव्यम् आस्कन्दितव्यमित्यत्र पचिस्कन्दोरनिट्त्वेऽपि वेट्, तथा धावेरूदित्त्वाद्वेट्त्वेपि गतौ क्तयोर्नित्यमिट् धावितः धावितवान्, शुद्धौ तु नेट् धौतः धौतवान्, तथा जभेस्तिवि जम्भतीत्यत्र "जभः स्वरे" (४।४।१००) इति नागमः, जञ्जभीति इत्यत्र तु अनित्यत्वात् न; तथा कमेर्णिङि आनशि मागमे कामयमानः, अनित्यत्वान्मागमाभावे कामयान इत्यपि। **ज्ञापकं** तु इड्नागममागमादिविकल्पयत्नाकरणम्। **संज्ञानिर्दिष्टं** यथा, परोक्षेति संज्ञानिर्दिष्टो "धातोरनेकस्वरादाम्०" (३।४।४६) इत्याम् चकासामासेत्यादौ स्यात्, ददरिद्रौ इत्यादौ न स्यात्। **ज्ञापकं** त्वस्य "आतो णव औः" (४।२।१२०) इत्यत्र ओकारेणैव पपौ इत्यादि सिद्धावपि औविधानम्, तद्धि ददरिद्रौ इति सिध्यर्थं कृतम्, अन्यथा "अशित्यसन्णकच्णकानटि" (४।३।७७) इत्यालोपे ददरिद्रा इति रूपं प्रसज्यते, यदि च दरिद्रेर्णव आम् ऐकान्तिकः स्यात्तदा दरिद्राञ्चकार इत्येव भवनादौत्वस्यानवकाशत्वादौत्वं नाकरिष्यदिति। **ज्ञापकं–सौत्रनिर्देशगणपाठादि** तन्निर्दिष्टं यथा "दशैकादशादिकश्च" (६।४।३६) द्वितीयान्ताद्दशैकादशशब्दात् गृह्णाति इत्यर्थे इक इकट् च स्यात्, दशभिरेकादश दशैकादशाः तान् गृह्णातीति दशैकादशिकः, दशैकादशिकी स्त्री, अत्र सौत्रनिर्देशेन दशैकादशशब्दस्यादन्तत्वप्राप्त्या दशैकादशान् गृह्णातीति वाक्यम्, **सौत्रनिर्देशसिद्धस्यादन्तत्वस्यानित्यत्वाच्च** दशैकादश गृह्णातीत्यप्यबाधितमेव; **ज्ञापकं** त्वस्य "पूर्वपदस्थान्ना-

ऋयगः" (२।३।६४) इत्यत्राग इति, तच्च ऋगयनमित्यत्र णत्वनिषेधार्थं, तन्निषेधश्च "शिक्षादेश्चाण्" (६।३।१४८) इति सूत्रे शिक्षादिगणे ऋगयनमिति नान्तपाठरूपाज्ज्ञापकात् सिध्यति । परं गणपाठनिर्दिष्टस्यानित्यत्वं सम्भाव्य प्रागुक्तसूत्रे अग इत्युक्तमिति । **नञ्निर्दिष्टं** यथा क्रुङ् उ आस्ते क्रुङ्ङ्वास्ते, किम् उ आवपनं किम्वावपनं, अत्र वस्य "अञ्वर्गात्स्वरे वोऽसन्" (१।२।४०) इत्यसत्त्वात् स्वरे परे "ह्रस्वान्ङणनो द्वे" (१।३।२७) इति ङस्य द्वित्वं जातं मस्य तु पुरो व्यञ्जनाभावात् "तौ मुम०" (१।३।१४) इत्यनुस्वारानुनासिकौ नाभूताम्, असद्भावस्य नञ्निर्दिष्टत्वेनानित्यत्वात्तु तद् उ अस्य मतं तद्वस्य मतमित्यादौ "ततोऽस्याः" (१।३।३४) इति वस्य द्वित्वम्; **ज्ञापकं** त्वस्य, "व्याप्तौ स्सात्" (७।२।१३०) इति द्वितीयः सः, अयं हि अग्निसादित्यादौ षत्वनिषेधाय, तन्निषेधस्तु "वृत्त्यन्तोऽसषे" (१।१।२५) इत्यत्र वृत्त्यन्तः पदसंज्ञो न स्यात्, परमसषे सस्य षत्वे कर्तव्ये पदमेवेति 'सात्' इत्यस्य पदसंज्ञत्वात्पदादित्वादेव पदान्तर्भावी षो न भविष्यति, परं त्वस्य नञ्निर्दिष्टत्वेनानित्यत्वं सम्भाव्य प्रागुक्तसूत्रे द्वितीयसकारग्रहणं कृतम् । **अनित्यत्वा**चास्य केचिदेव समासान्तादयोऽनित्यत्वाद्यथाप्रयोगदर्शनं क्वचिद् भवन्ति क्वचिन्न भवन्ति च, अन्ये तु समासान्तादयः षडपि स्वविषयं प्राप्य स्युरेवेति नित्या एवेति ॥ ३५ ॥

पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ३६ ॥

पूर्वमुक्तानि बाधकानि वक्ष्यमाणबाध्यमध्येऽनन्तरान् विधीन्प्रतिषेधन्ति न तु व्यवहितान्, तेषामपि निषेधे प्राप्तेऽयं न्यायः । यथा "श्लिषः" (३।४।५६) इति सक् अनन्तरं पुष्याद्यङं बाधते न तु व्यवहितं भावकर्मञिचं तेन आश्लिक्षत्कन्यां चैत्र इत्यत्राङ् न स्यात्, आश्लेषि कन्या चैत्रेणेति ञिच् स्यादेव । **ज्ञापकं** त्वस्य सक्अङ्ञिच्सूत्राणामेवमुपन्यासक्रम एव ॥ ३६ ॥

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ३७ ॥

वर्त्तमाना इति शेषः । उक्तवक्ष्यमाणबाध्यमध्ये वर्त्तमानानि बाधकसूत्राणि प्राग्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, तेषामपि बाधकत्वे प्राप्तेऽयं न्यायः, यथा "ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप्" (५।१।१६१) इत्यनेन भूतकाले विहितः क्विप् ब्रह्महतवान् ब्रह्महा इत्यादौ प्रागुक्तान् "कर्मणोऽण्" (५।१।७२) इत्यणं "ब्रह्मादिभ्यः" (५।१।८५) इति टकं "हनो णिन्" (५।१।१६०) इति णिनं च बाधते न तु वक्ष्यमाणं "क्तक्तवतू" (५।१।१७४) इति क्तवतुं तेन भूतेऽर्थे वाच्ये ब्रह्मघातः ब्रह्मघ्नः ब्रह्मघातीति प्रागुक्तसूत्रप्रत्ययानि न स्युः । ब्रह्महतवानिति क्तवतुरूपं तु स्यादेव । **ज्ञापकं** त्वस्येदृक्प्रयोगा एवेति ॥ ३७ ॥

यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते ॥ ३८ ॥

यस्य सूत्रस्य यत्र प्रवर्त्तने किञ्चित् फलं नास्ति तत्सूत्रं तत्र बाध्यते न प्रवर्त्तते इत्यर्थः, यथा 'तनित्यजियजिभ्यो डद्' (उणा० ८९५) इत्यौणादिके डद्प्रत्यये तद् त्यद् यद् अत्र दस्य पुनः "धुटस्तृतीयः" (२।१।७६) इति प्राप्नोति, परं निष्फलत्वान्न क्रियते, तथा संचस्कारेत्यत्र स्कृ स्कृ इति द्वित्वे "अघोषे शिटः" (४।१।४५) इत्याद्यस्सटो लुकि तत्स्थाने पुनः स्सट् तल्लुक् च प्राप्नुतः परं व्यर्थत्वात्तौ न क्रियेते निष्फले हि कृते क्रियानुपरमप्रसङ्ग इति ॥ ३८ ॥

यस्य तु विधेर्निमित्तमस्ति नासौ विधिर्बाध्यते ॥ ३९ ॥

यथा तच्चारु इत्यादौ दस्य तृतीयविधिः क्रियते एव न तु बाध्यते निमित्तसत्त्वात्, तथाहि—"धुटस्तृतीयः" इत्यसदधिकारविहितस्य दत्वस्य "चजः कगम्" (२।१।८६) इति परकार्ये कर्त्तव्ये असत्त्वात्तत्स्थाने "तवर्गस्य श्चवर्ग०" (१।३।६०) इति कृतं जत्वमप्यसत् तत्स्थाने "अघोषे प्रथमोऽ-

शिटः" (१।३।५०) इति कृतं चत्वमप्यसद्भूत्तथा च गत्वकत्वे नाभूताम् । ज्ञापकं त्वस्येदृग्रूपसिद्धिरेवेति ॥ ३९ ॥

येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः ॥ ४० ॥

येन विधिना नाप्राप्तं किन्तु प्राप्तमेव-तस्मिन्सति यस्यैकान्तेन प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः यो बाधकविधिरारभ्यते स तस्यैवैकान्तेन प्राप्तिमतो विधेर्बाधकः स्यात्, यस्तु क्वचित् प्राप्नोति क्वचिन्न तस्य प्राप्यप्राप्तिमतो विधेर्बाधको न स्यादित्यर्थः । यथा उखास्रद् पर्णध्वद् विद्वत्कुलमित्यादौ "सोरुः" (२।१।७२) इति रुत्वं, स्वनडुत्कुलमित्यादौ "हो धुट् पदान्ते" (२।१।८२) इति ढत्वं च प्राप्नोत्येव, एवं सति "स्रंस्ध्वंस्क्वस्०" (२।१।६८) इति दत्वसूत्रं प्रारब्धं तदेकान्तप्राप्तिमती रुत्वढत्वे एव बाधते न तु प्राप्ताप्राप्तं "पदस्य" (२।१।८९) इति संयोगान्तलोपम्, यतः संयोगान्तलोपो विद्वानित्यादौ प्राप्नोति, विद्वत्कुलमित्यादौ च न प्राप्नोति, तेन विद्वान् अनड्वान् इत्यादौ संयोगान्तलोपः स्यादेव न तु "स्रंस्ध्वंस्" इति दत्वसूत्रेण बाध्यते । ज्ञापकं त्वस्य क्वसः सिति विशेषणम्, तथाहि क्वसः सो दविधिर्यदि रुत्वमिव संयोगान्तलोपमपि बाधते तदा क्वसः सन्तत्वं न व्यभिचरति किमर्थं सिति विशेषणं क्रियते, यत्तु कृतं तज्ज्ञायते दत्वविधिः संयोगान्तलोपं प्राप्ताप्राप्तत्वान्न बाधते, ततो यत्र संयोगान्तलोपस्तत्र क्वसोः सन्तत्वं नास्तीति तन्निरासाय क्वसोः सिति विशेषणं सार्थकमिति ॥ ४० ॥

अतः परं सप्तदश बलाबलोक्तिन्याया उच्यन्ते ।

बलवन्नित्यमनित्यात् ॥ ४१ ॥

यद्यस्मिन् कृतेऽप्यकृतेऽपि च प्राप्नोति तत्तदपेक्षया नित्यम्, यत्तु अकृते प्राप्नोति नतु कृते तदनित्यं, तयोर्युगपत्प्राप्तौ नित्यं कार्यमनित्याद्बलवदिति प्रथमं प्रवर्त्तते, यथा अकार्ष्टेत्यादौ "धुड्ह्रस्वात्०" (४।३।७०) इति सिज्लुकः प्रथमं नित्यत्वात् "सिचि परस्मै" (४।३।४४) इति वृद्धिस्ततश्च ह्रस्वाभावान्न सिज्लुक् । ज्ञापकं त्वस्य "नामिनोऽकलिहलेः" (४।३।५१) इत्यत्र कलिहलिवर्जनम्, तच्च कलिहल्योरेतन्न्यायात् कलिं हलिं वा आख्यदिति ङपरे णौ अन्त्यस्वरादिलुगो नित्यत्वात्पूर्वं "त्र्यन्तस्वरादेः" (७।४।४३) इतीकारलोपे समानलोपित्वेन सन्वद्भावाभावात् अचकलत्, अजहलत्, इति सिद्ध्यति । कलिहलिवर्जानां अन्येषां पटुलघ्वादिशब्दानां तु णावनित्यामप्यन्त्यस्वरवृद्धिं पूर्वं कृत्वैव पश्चान्नित्याप्यन्त्यस्वरादिलुक् कार्या, ततश्चासमानलोपित्वात्सन्वद्भावेन अपीपटत्, अलीलघदित्यादि सिद्ध्यतीत्यभिप्रायेणेति दिक् ॥ ४१ ॥

अनित्याश्चैते बलाबलोक्तिन्याया यथासंभवमुत्तरोत्तरैर्बाध्यमानत्वात्—

अन्तरङ्गं बहिरङ्गात् ॥ ४२ ॥

बलवदिति शेषः, एवमग्रेऽपि सर्वत्र । यथा त इन्द्रं वृक्ष इन्द्रं इत्यत्र क्रमेण जस इत्वे ङौ च कृते "समानानां तेन०" (१।२।१) इति इन्द्रेकारेण सह जसो ङेश्चेकारस्य प्राप्तात्पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गाद्दीर्घात्प्रथमं "अवर्णस्य०" (१।२।६) इत्येत्वमेव स्यात्, एकपदापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् । ज्ञापकं त्वस्य "वृत्त्यन्तोऽसषे" (१।१।२५) इति निर्देश एव, तथाहि अत्र वृत्त्यन्तशब्दपुरःस्थरोः उत्वे कृते उभयं प्राप्नोति, पूर्वेण सह उत्वं परेण अकारेण सह वत्वं च, तत्र पदद्वयाश्रयत्वाद्बहिरङ्गं वत्वं बाधित्वैकपदापेक्षत्वादन्तरङ्गमुत्वं यन्निर्दिष्टं तदेतन्न्यायादेवेति ॥ ४२ ॥

निरवकाशं सावकाशात् ॥ ४३ ॥

निर्सहशब्दावत्राल्पबह्वर्थौ, निर्धन, सधन इतिवत्, ततश्चाल्पविषयं कार्यं बहुविषयात्कार्याद्बलवदिति कोऽर्थः—तद्बाधित्वा स्वयं प्रवर्त्तते, यथा "एद्बहुस्भोसि" (१।४।४) इत्यस्य भिसि भ्यसि च

विषयः, "भिस ऐस्" (१।४।२) इत्यस्य तु भिस्येव । ततो देवैरित्यत्र परमपि "एद्बहुस्भोसि" इति बाधित्वा निरवकाशत्वात् "भिस ऐस्" प्रवर्त्तते "एद्बहुस्०" इत्यस्य देवेभ्य इत्यत्र सावकाशत्वात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "भिस ऐस्" इति सूत्रमेव अन्यथैतत्सूत्रं व्यर्थं स्यादिति ॥ ४३ ॥

वार्णात्प्राकृतम् ॥ ४४ ॥

प्रकृतिरत्र धातुरूपा ग्राह्या न नामरूपा, तत्कार्याणां वार्णेष्वेवान्तर्भावात् । वर्णमुच्चार्य विहितात् कार्यात् प्रकृतिमुच्चार्य विहितं कार्यं बलवदिति । यथा ऊवतुः ऊवुरित्यत्र "यजादिवचेः०" (४।१।७९) इति य्वृति द्वित्वे च उकारद्वयावस्थाने प्रकृत्याश्रितत्वेन पूर्वव्यवस्थितत्वेन चान्तरङ्गादपि समानदीर्घलक्षण-वर्णकार्यात् प्रागेव बहिर्व्यवस्थितत्वेन प्रत्ययाश्रितत्वेन च बहिरङ्गोऽपि पूर्वं "धातोरिवर्णोवर्ण०" (२।१।५०) इत्युव् स्यात् पश्चात् समानदीर्घत्वम् । **ज्ञापकं** तु "ह्विणोरप्विति व्यौ" (४।३।१५) इति व्यत्वविधानम् । तथाहि—यद्येष न्यायो न स्यात्तदा वार्णाभ्यामिवर्णादेरिति यत्ववत्वाभ्यां यन्ति जुह्वति इति सिद्ध्यत्येवेति किमर्थं "ह्विणो"रिति सूत्रं विदध्यात् । परमेतन्न्यायात्प्राकृताभ्यां धातोरियुवूभ्यां यत्ववत्वे बाधिष्येते इति तत्प्रतिप्रसवार्थं "ह्विणो"रिति सूत्रं कृतमिति ॥ ४४ ॥

य्वृद् य्वृदाश्रयं च ॥ ४५ ॥

य्वृद् य्वृदाश्रयं च कार्यं वार्णमपि प्राकृताद्बलवत् । यथा उपशूयेत्यत्र क्त्वो यपि "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" (४।४।११३) इति तागमं ह्रस्वान्तप्रकृत्याश्रितत्वात्प्राकृतमपि बाधित्वा सस्वरान्तस्थारूपवर्णाश्रितत्वाद् वार्णमपि "यजादि०" (४।१।७९) इति य्वृद्भूत् । तदन्वपि तागमं बाधित्वा य्वृतो "दीर्घमवोऽन्त्यम्" (४।१।१०३) इति दीर्घ एवाभूत् य्वृदाश्रितकार्यत्वात् । **ज्ञापकं** त्वस्येदृक्प्रयोगा एव ॥४५॥

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिः ॥ ४६ ॥

बलवतीति योगः । यथा नमस्यति देवानित्यत्र "शक्तार्थवषड्नमःस्वस्ति०" (२।२।६८) इति नमोयोगलक्षणां चतुर्थीं बाधित्वा कर्मकारकलक्षणा "कर्मणि" (२।२।४०) इति द्वितीया स्यात् । **अनित्य-श्चायम्**, "क्रुद्द्रुहेर्ष्या०" (२।२।२७) इति सूत्रे यस्मै कोप इत्यनिर्दिश्य यं प्रति कोप इति निर्देशात्, अन्यथा "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (२।२।३७) इति प्रतियोगविहितां द्वितीयामुपपदविभक्तिं विजित्य "क्रुद्द्रुहेर्ष्ये"ति सूत्रविहितसम्प्रदानसंज्ञकाद्यच्छब्दाच्चतुर्थी कारकविभक्तिरेव यदि प्राप्नोति तदा यस्मै इत्येव निर्दिश्येतेति ॥ ४६ ॥

लुबन्तरङ्गेभ्यः ॥ ४७ ॥

अपिरत्राध्याहार्यः । बहिरङ्गोऽपि लुप् अन्तरङ्गानपि विधीन्बाधित्वा बलवत्त्वात् प्राक् प्रवर्तते । यथा गर्गस्य वृद्धापत्यानि "गर्गादेर्यञ्" (६।१।४२) इति यञि गर्गाः । अत्र प्रकृत्याश्रितत्वेनान्तरङ्गामपि "वृद्धिः स्वरेष्वादेः०" (७।४।१) इति वृद्धिं बाधित्वा प्रत्ययाश्रितत्वाद्बहिरङ्गोऽपि "बहुष्वस्त्रियाम्" (६।१।१२४) इति यञो लुबेव प्रथमं स्यात्, पश्चात् प्रत्ययस्य लुब्भवनान्न वृद्धिः । **ज्ञापकं** त्वस्य "त्वमौ प्रत्ययोत्तरपद०" (२।१।११) इति सूत्रे त्वदीयः, मत्पुत्र इत्यादिसिद्ध्यर्थं प्रत्ययोत्तरपदग्रहणम् । तथाहि—युष्मद् ६-१ अस् ईय स् अस्मद् ६-१ अस् पुत्रः इति स्थिते विभक्तिद्वारेणैव पूर्वं त्वमादेशे कृते पश्चात् "ऐकार्थ्ये" (३।२।८) इति विभक्तिलोपे पूर्वोक्तं प्रयोगद्वयं सिद्ध्यतीति । **तथा**नेन न्यायेन विभक्तिमात्राश्रितत्वेनान्तरङ्गादपि त्वमादेशात्पूर्वमेव द्वयोः पदयोरेकार्थापेक्षत्वेन बहिरङ्गोऽपि विभक्तिलुप् प्रवर्त्तते, ततश्च विभक्त्यभावात्त्वमादेशौ न स्यातामिति प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं सफलमिति ॥ ४७ ॥ ३४

सर्वेभ्यो लोपः ॥ ४८ ॥

लोपशब्दस्य लुप्लुको वाचकत्वेऽपि लुपः पूर्वन्याये उक्तत्वाल्लोपशब्देनात्रादर्शनमात्ररूपो लुक् ग्राह्यो, गोबलीवर्दन्यायात् । ततश्चायमर्थः–सर्वविधीन्बाधित्वा बलवत्त्वात् लुग्विधिः प्राक् प्रवर्तते । यथा अबुद्धेत्यत्र "धुड्ह्रस्वात्०" (४।३।७०) इति सिचः सर्वेभ्यः प्रथमं लोपे "गडदबादे०" (२।१।७७) इत्यादेश्चतुर्थत्वं न । न च लुप्तस्यापि सिचः स्थानित्वेनादेश्चतुर्थत्वं करिष्यते इति वाच्यम्, चतुर्थत्वविधेः सकारादिप्रत्ययाश्रितत्वेन वर्णविधित्वात्तस्मिन् स्थानिवद्भावाप्राप्तेः । तथा शं सुखं तत्र तिष्ठतीति शंस्थाः, अत्र स्थाधातोराकारस्य "ईर्व्यञ्जनेऽयपि" (४।३।९७) इति ईर्न; क्विपः अदर्शनस्य सर्वकार्येभ्यः प्रथमं भवनात्, ईत्वसूत्रे च व्यञ्जनशब्दस्य साक्षाद्व्यञ्जनप्रतिपत्तये ग्रहणादिति ॥ ४८ ॥

लोपात्स्वरादेशः ॥ ४९ ॥

लोपशब्दोऽत्रापि लुग्वाची पूर्वापवादत्वादस्य। श्रीर्देवताऽस्य "देवता" (६।२।१०१) इत्यणि श्रायं हविरित्यत्र परमपि "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इति ईकारलुकं बाधित्वा स्वरादेशो वृद्धिरभूत् । **ज्ञापकं** त्वस्य वृद्धिसूत्रस्य "अवर्णेवर्णस्ये"ति सूत्रात्प्राग्विधानम्, लुक्सूत्रादनु वृद्धिसूत्रे कृते हि परत्वादेव वृद्धिः सिद्ध्येत् । परन्तु यत्तथा न कृतं तदेतन्न्यायाशयैवेति ॥ ४९ ॥

आदेशादागमः ॥ ५० ॥

यथा अर्पयतीत्यत्र ऋधातोर्णौ वृद्धिमादेशरूपां बाधित्वा प्रथमं प्वागमस्ततः "पुस्पौ" (४।३।३) इति गुणरूप आदेशः । **ज्ञापकं** त्वस्यैतदर्थं यत्नाकरणम् । **अनित्यत्वा**चास्य द्वयोः कुलयोरित्यत्र द्विशब्दात् "अनाम् स्वरे नोऽन्तः" (१।४।६४) इति नागमं बाधित्वा "आद्वेरः" (२।१।४१) इत्यदादेश इति ॥ ५० ॥

आगमात्सर्वादेशः ॥ ५१ ॥

पूर्वापवादोऽयम् । यथा प्रियतिसृणः कुलात्, अत्र सर्वादेशे तिसरि कृते सति नागमः सिद्धः । **ज्ञापकं** त्वस्य "ऋतो रः स्वरेऽनि" (२।१।२) इत्यत्र तिस्रादिऋतो रत्वविधावनीतिशब्देन नकारविषयवर्जनोक्तिस्तथाहि–**यद्ययं** न्यायो न स्यात्तदा स्वरादौ स्यादौ परे प्राग्न्यायेन पूर्वं नागमस्यैव भवनात्तद्व्यवधाने च तिस्राद्यादेशाभवनात् कस्य ऋतो रत्वविधौ नकारविषयो वर्ज्येतेति ॥ ५१ ॥

परान्नित्यम् ॥ ५२ ॥

"स्पर्धे" (७।४।११९) इति परिभाषापवादोऽयम् । यथा युष्मान् अस्मान् वा आचक्षाणेन युष्या अस्या अत्र युष्मदस्मद्भ्यां णिजि "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (७।४।४३) इत्यद्लुकि क्विपि "अप्रयोगीत्" (१।१।३७) इति तल्लुकि "णेरनिटि" (४।३।८३) इति णिज्लुकि टाप्रत्यये पराभ्यामपि त्वमादेशाभ्यां प्रागेव नित्यत्वात् "टाड्योसि यः" (२।१।७) इति मस्य यत्वं सिद्धम् । यत्वं हि प्रथमं युष्म् अस्म् इत्येतयोर्मस्य प्राप्नोति, त्वमादेशकरणानन्तरं तु त्वमयोरकारस्य यत्वं प्राप्नोतीत्यतो यत्वस्य नित्यत्वम् ॥ ५२ ॥

नित्यादन्तरङ्गम् ॥ ५३ ॥

अनित्यमपीति शेषः । यथा प्रेजुः प्रोपुरित्यत्र यज्वपोः 'य्वृद् य्वृदाश्रयं च' इति न्यायात्प्रथमं य्वृति द्वित्वे पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गान्नित्यादप्येत्वादोत्वाच्च प्रथममेवाऽनित्योऽप्येकपदाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वादीर्व एव स्यात् । **ज्ञापकं** त्वस्य "आशीः०" (३।३।१३) इति सूत्रनिर्देशस्तथाहि–अत्र तावत्सेर्लोपे आशिस्

इति स्थिते सो रुत्वे विसर्गः प्राप्नोति "पदान्ते" (२।१।६४) इति दीर्घश्च, तत्रैतन्न्यायान्नित्यमपि विसर्गं बाधित्वा पूर्वव्यस्थितत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रथमं दीर्घस्ततो विसर्ग इति ॥ ५३ ॥

अन्तरङ्गाच्चानवकाशम् ॥ ५४ ॥

बहिरङ्गमपीति शेषः। यथा त्वं, अहं अत्र प्रकृतिमात्रादेशत्वेनान्तरङ्गाभ्यामपि त्वमादेशाभ्यां प्रागेव प्रकृतिप्रत्ययादेशत्वाद्बहिरङ्गावपि त्वमहमादेशौ निरवकाशत्वात् स्याताम्। **ज्ञापकं** त्वस्य "त्वमहं सिना०" (२।१।१२) इति सूत्रकरणमेव, एतन्न्यायाभावे निर्विषयं सूत्रं कुतः कुर्यादिति ॥ ५४ ॥

उत्सर्गादपवादः ॥ ५५ ॥

यथा आपचन्त्यस्मिन्निति आपाकः, अत्रौत्सर्गिकस्य "पुंनाम्नि घः" (५।३।१३०) इति घस्यापवादो "व्यञ्जनाद् घञ् (५।३।१३२) इति घञेव बलवत्त्वात्स्यात्। **ज्ञापकं** त्वस्य गोचरादीनां "गोचर-संचर" (५।३।१३१) इति सूत्रेण निपातनम्। तद्धि निपातनाभावे एतन्न्यायादौत्सर्गिकं घं बाधित्वा अपवादत्वाद् घञेव मा प्रसाङ्क्षीदिति कृतमिति ॥ ५५ ॥

अपवादात्क्वचिदुत्सर्गोऽपि ॥ ५६ ॥

'मख गतौ' मखन्ति स्वर्गं गच्छन्त्यनेनेति मखः। 'मठ निवासे' मठन्ति निवसन्ति छात्रा अत्रेति मठः इत्यादौ "व्यञ्जनाद् घञ्" (५।३।१३२) इति घञमपवादमपि बाधित्वा एतन्न्यायेन बलवत्त्वादौत्सर्गिकः "पुंनाम्नि०" (५।३।१३०) इति घः स्यात्। क्वचिदित्युक्तेश्चायमनित्यः ॥ ५६ ॥

नाऽनिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः ॥ ५७ ॥

शास्त्रस्येति सूत्रस्य न्यायस्य वाऽनभिप्रेतार्थसिद्ध्यै प्रवृत्तिर्न कार्या। शिष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थमेव तत्सद्भावात्। तत्र **सूत्रस्य** यथा, नयतेर्गित्त्वात्फलवत्कर्तरि विवक्षायामात्मनेपदे सिद्धेऽपि "कर्तृस्थामूर्त्ताप्यात्" (३।३।४०) इति यत्सूत्रं कृतं तन्नियमार्थम्, नियमश्चायं—कर्तृस्थामूर्त्ताप्यादेव नयतेरात्मनेपदं स्यात्, यथा श्रमं विनयते शमयतीत्यर्थः। कर्तृस्थामूर्त्ताप्यत्वाभावे तु फलवत्कर्त्तर्यपि न स्यात्, यथा चैत्रस्य मन्युं विनयति, गडुं विनयति, बुद्ध्या विनयतीति। अयं च नियमः "कर्तृस्थेति" सूत्रे अर्थविशेषानुक्तावपि शमयतिक्रियार्थस्यैव ज्ञेयो नत्वन्यार्थस्य इत्थमेव शिष्टानामिष्टत्वात्। तेन शमयतिक्रियातिरिक्तार्थे नियमाभावाद् गित्वविहिते उभे अप्यात्मनेपदपरस्मैपदे भवतः। यथा स्वप्रज्ञां वृद्धिं नयति नयते। **न्यायस्य** यथा, 'लोपात्स्वरादेश' इति न्यायः चिकीर्ष्यते इत्यादौ सनो "दीर्घश्च्वि०" (४।३।१०८) इति दीर्घरूपाय स्वरादेशाय नोत्सहते, दीर्घस्य शिष्टानामनिष्टत्वात्; ततश्च "अतः" (४।३।८२) इत्यल्लोप एव स्यादिति ॥ ५७ ॥

इति श्रीसूरिभिः समुच्चिताः सप्तपञ्चाशन्न्यायाः समाप्ताः।

❀ अथ व्याकरणे सूचिता अपि तैरसमुच्चिताः **पञ्चषष्टिर्न्याया** उच्यन्ते ❀

प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम् ॥ १ ॥

अस्य न्यायस्य **सूचनं** त्वेवम्—अनेन न्यायेन सर्वस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादिशब्दानां सर्वादित्वे प्राप्ते नियमार्थं डतरडतमोपादानम्। नियमश्चायं—यदि स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वं स्यात् तदा डतरडतमान्तानामेव नान्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानाम्। तेन प्रकृष्टार्थे स्वार्थिकतमपि सर्वादित्वाभावात्सर्वतमायेत्येव स्यादिति ॥ १ ॥

प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ॥ २ ॥

ग्रहणमिति शेषः । यथा "कालात्तनतरतमकाले" (३।२।२४) इति सप्तम्यलुब्विधायिसूत्रे पूर्वाह्णेतरामित्यादौ तरतमौ प्रत्ययौ ग्राह्यौ, न तु तरति ताम्यति इत्यचि व्युत्पन्ने नाम्नी ॥ २ ॥

अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ॥ ३ ॥

यथा "उपान्वध्याङ्वसः" (२।२।२१) इत्यत्र वस्तेर्व्युदासेन वसतिरेवाग्राहि ॥ ३ ॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्राकरणिकस्यैव ॥ ४ ॥

यथा "इञ इतः" (२।४।७१) इति ङीसूत्रे "यञो डायन् च वा" (२।४।६७) इत्यतः प्रारब्धात्तद्धिताधिकारात्तद्धितीय एवेञ् ग्राह्यो न तु "प्रश्नाख्याने वेञ्" (५।३।११९) इति कृत्सूत्रोक्तः । तेन सुतङ्गमेन निर्वृत्ता "सुतङ्गमादेरिञ्" (६।२।८५) इतीञि सौतङ्गमीत्यत्र ङीः स्यात्, प्रश्नाख्यानयोस्तु-हे चैत्र कां त्वं कारिमकार्षीः ? सर्वां कारिमकार्षमिति कारिशब्दादिञन्तात् ङीर्न स्यात् ॥ ४ ॥

निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन ॥ ५ ॥

ग्रहणमिति शेषः । यथा स्वः कः इत्युभयत्र "रः पदान्ते०" (१।३।५३) इति रस्य रोश्च विसर्गः सिद्धः ॥ ५ ॥

साहचर्यात्सदृशस्यैव ॥ ६ ॥

ग्रहणमिति वर्तते । अव्यभिचारिणा व्यभिचारी यन्नियम्यते तत्साहचर्यम् । यथा "क्त्वातुमम्" (१।१।३५) अत्र क्त्वातुमोः साहचर्यात् कृदम् ग्राह्यो न तु द्वितीयैकवचनम् ॥ ६ ॥

वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥ ७ ॥

यथा-रंरम्यते इत्यादौ रमेरकारपरैकानुनासिकान्तत्वे सति यथा "मुरतोऽनुनासिकस्य" (४।१।५१) इति म्वागमस्तथा हम्मतेर्यङि जंहम्म्यते इत्यादावनुनासिकजातिग्रहणादनुनासिकद्वयान्तत्वेऽपि म्वागमः सिद्धः ॥ ७ ॥

वर्णैकदेशोऽपि वर्णग्रहणेन गृह्यते ॥ ८ ॥

ऋकारमध्येऽर्धमात्रो रेफोऽग्रे पश्चाच्च तुरीयः स्वरभागोऽस्ति, एवं ऌकारेऽर्धमात्रो ल् इत्यादि इति वृद्धाः प्राहुः ततोऽनेन न्यायेन प्रलीयमानमित्यादिवत्प्रकॢप्यमानमित्यादावपि ऌकारव्यवधाने तदेकदेशभूतलकारेणापि व्यवधानात् अलचटतेति निषेधेन "स्वरात्" (२।३।८५) इति प्राप्तं णत्वं नाभूदिति ॥ ८ ॥

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ ९ ॥

आदिप्रत्यये एकस्मिन्ननेकस्मिन्वान्तःपतितेऽपि सति धात्वादेर्यथोक्तं कार्यं स्यादेव । **तत्रैकस्मिन्** यथा, अरुणत् अत्र श्नेन्तःपतितेऽपि रुधेः प्रागट् सिद्धः । **अनेकस्मिन्** यथा अतृणेट् अत्र श्ने इति चान्तःपतितेऽपि तृहेः प्रागट् । **ज्ञापकं** त्वस्य "त्वमहं सिना०" (२।१।१२) इत्यत्र प्राक्चाक इति । तच्च त्वकं अहकमित्यत्राक्श्रवणार्थम्, अन्यथैतन्न्यायात्साकोरपि युष्मदस्मदोस्त्वमहमादेशेऽक्श्रवणं न स्यादिति ॥ ९ ॥

आगमा यद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥ १० ॥

आगमा ये आदिशब्देनान्तशब्देन वा निर्दिष्टाः । यथा "अड्धातोरादि०" (४।४।२९) इति, "अनाम् स्वरे नोऽन्तः" (१।४।६४) इत्यादि, ते यस्यावयवीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते, केवलस्य यत्कार्यमुक्तं तत्तस्य सागमस्यापि स्यादित्यर्थः । **तत्रैको** यथा प्रण्यपतत् इत्यत्राड्सहितेऽपि पतौ "नेर्ङ्गादा०"

(२।३।७९) इति नेर्नो णः सिद्धः । **द्वौ** यथा प्रण्यपनीपतत् इत्यादौ अड्नीसहितस्यापि पतेर्नो णः सिद्ध इति । अत्र द्वित्वजपकारेणाव्यवधानं त्वग्रेतनन्यायेन समाधास्यते इति मा त्वरिष्ठाः । **त्रयो** यथा प्रनिपूर्वस्य यमेर्यङ्लुपि अद्य० दि, प्रण्ययंयंसीत्यादावडागमस्वागमसहितेऽपि यमो परे "अकखाद्यषान्ते पाठे वा" (२।३।८०) इत्यनेन नेर्नो ण इति ॥ १० ॥

स्वाङ्गमव्यवधायि ॥ ११ ॥

स्वमङ्गं द्वित्वादिकं धात्वादेर्निजाङ्गिनः कार्ये कर्त्तव्ये व्याघातं न कुर्यात्, यथा सञ्चस्कारेत्यत्र सम् कृ इति स्थितेऽन्तरङ्गत्वात्प्रथमं स्सटि, ततः "स्सटि समः" (१।३।१२) "लुक्" (१।३।१३) इति सूत्रे बाधित्वा परत्वान्नित्यत्वाद्धातुमात्राश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च णवि तदाश्रिते [द्वित्वादौ च कृते संचस्कृ इति स्थिते] एतन्न्यायात् धात्वङ्गेन द्वित्वजचकारेण समोऽव्यवधाना'न्निमित्ताभाव' इति न्यायप्राप्ता स्सटो निवृत्तिर्नाजनि ॥ ११ ॥

उपसर्गो न व्यवधायी ॥ १२ ॥

"धातोः पूजार्थ०" (३।१।१) इति सूत्रेणोपसर्गस्य प्राक्त्वं नियमितं नत्ववयवत्वमिति पूर्वेण न सिद्ध्यति । यथा 'उक्षां प्रचकुर्नगरस्य मार्गान्' इत्यत्र "गुरुनाम्यादेः०" (३।४।४८) इत्यामादेशे कृते आमन्तस्य कृगश्च प्रेण न व्यवधानमिति ॥ १२ ॥

येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् ॥ १३ ॥

यत्र येन वर्णादिनावश्यं व्यवधानं स्यान्नत्वव्यवधानं तत्र तद्व्यवधानेऽपि तत्कार्यं स्यादेव । यथा चार्वी, गुर्वीत्यादौ स्वरोकारयोर्व्यञ्जनान्तरितत्वेऽपि "स्वराद्धतो गुणादखरोः" (२।४।३५) इति ङीः सिद्धः । स्वरातपरस्याव्यवहितस्य उतो गुणवाचिशब्देष्वसम्भवादिति ॥ १३ ॥

ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि ॥ १४ ॥

यथा कृपौङः सनि "वृद्भ्यः स्यसनोः" (३।३।४५) इति परस्मैपदे चिक्लृप्सति । अत्र निर्निमित्तत्वात्प्रथमं "ऋर लृलं०" (२।३।९९) इति ऋत लृत्वे पश्चाद् द्वित्वे "ऋतोऽत्" (४।१।३८) इति लृतोऽप्यत् सिद्धः ॥ १४ ॥

सकारापदिष्टं कार्यं तदादेशस्य शकारस्यापि ॥ १५ ॥

यथा 'षस्व् गतौ' अस्य "षः सोऽष्ट्यै०" (२।३।९८) इति षस्य से "सस्य शषौ" (१।३।६१) इति स्चः सस्य शे यङ्लुपि दिवि "व्यञ्जनादेः०" (४।३।७८) इति तल्लुक्येतन्न्यायात् "संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्" (२।१।८८) इति सकारादेशस्य शस्य लुकि चस्य कत्वे च असासक् इति सिद्धम् ॥१५॥

ह्रस्वदीर्घापदिष्टं कार्यं न प्लुतस्य ॥ १६ ॥

तत्र **ह्रस्वापदिष्टं** यथा । हे राज३निह । अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च "दूरादामन्त्र्यस्य०" (७।४।९९) इत्यनेन पूर्वं प्लुते तस्मात्परस्य नस्य "ह्रस्वाद् ङणन०" (१।३।२७) इति न द्वित्वम् । **दीर्घापदिष्टं** यथा "अदीर्घाद्विराम०" (१।३।३२) इत्यनेन दीर्घादित्युक्तावपि दीर्घस्थाननिष्पन्नप्लुतस्यैतन्न्यायबलेन वर्जनाऽभवनात् हे गो३त्रात, हे गो३त्रात इत्यत्र दीर्घस्थाननिष्पन्नप्लुतादपि परस्य तकारस्य "अदीर्घाद्विरामैक०" (१।३।३२) इत्यनेन वा द्वित्वं सिद्धम् ॥ १६ ॥

संज्ञोत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्यैव ग्रहणं न तदन्तस्य ॥ १७ ॥

संज्ञेति संज्ञासूत्राणि, तत्र **संज्ञाधिकारे** यथा "स्यादिर्विभक्तिः" (१।१।१९) इत्यत्र स्याद्यन्तं विभक्तिरित्यर्थो न। **ज्ञापकं** त्वस्य "तदन्तं पदम्" (१।१।२०) इति सूत्रेऽन्तग्रहणम्। एतन्न्यायस्याभावे 'प्रत्ययः प्रकृतिमाक्षिपति' इति 'सा पदम्' इत्युक्तेऽप्यन्तविधिर्लभ्यत एवेति। **उत्तरपदाधिकारे** यथा "न नाम्येकस्वरात्०" (३।२।९) इति सूत्रादनुवर्त्तमानोत्तरपदाधिकारस्थे "कालात्तनतर०" (३।२।२४) इति सूत्रे तनाद्याः प्रत्ययाः स्वरूपेणैव ग्राह्या न तु तदन्तनामानि ॥ १७ ॥

ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ॥ १८ ॥

निर्देशे सतीति शेषः। साक्षान्नामग्रहणेन यस्य यत्कार्यमुक्तं तत्तस्य नाम्नः समासादिना समुदायान्तभूतस्य सतो न स्यात्, यथा सूत्रप्रधानो नडस्तस्यापत्यम् "अत इञ्" (६।१।३१) इतीञि अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धौ सौत्रनाडिरित्यत्र सूत्रनडशब्दात् "नडादिभ्य०" (६।१।५३) इत्यायनण् नाभूत्। **ज्ञापकं** त्वस्य "मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि०" (२।४।१०२) इति सूत्रेऽन्तेऽपीति ग्रहणमेतन्न्यायाभावे अन्तविधिनापि मालभारीतिवदुत्पलमालभारीत्यत्रापि ह्रस्वः सिद्ध्यत्येवेत्यन्तेऽपीतिग्रहणं व्यर्थं स्यादिति। **'उपपदविधिषु न तदन्तविधिः'** इत्यपि न्यायोऽस्ति, यथा योगक्षेमौ करोतीति शीला योगक्षेमकरी, अत्र क्षेमशब्दस्य समासान्तगतत्वात् "क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाण्" (५।१।१०५) इत्यनेन क्षेमोपपदकृगो विहितौ खाणौ न, किन्तु "हेतुतच्छीलानुकूले०" (५।१।१०३) इति ट एव, खाणोर्भवने तु योगक्षेमंकरा योगक्षेमकारीति च स्यात्। **परमयमपि** 'ग्रहणवता नाम्ना' त्यत्रैवान्तर्भूत इति ॥ १८ ॥

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥ १९ ॥

अनाद्यन्तानां चतुर्णां कार्ये सार्थकवदनर्थका अप्येते ग्राह्या इत्यर्थः, 'अर्थवद्ग्रहणे०' इत्यस्यापवादोऽयम्। तत्र **सार्थकोऽन्।** यथा राजेः "उक्षि तक्षि" (उणा० ९००) इत्यौणादिकेऽनि राजा, **अनर्थकः**— अश्नोतेः "षप्यशौभ्याम्" (उणा० ९०३) इति तनि अष्टन्। शसादौ स्वरे उभयत्रापि "अनोऽस्य" (२।१।१०८) इत्यनोऽल्लोपे राज्ञः प्रियाष्ट्णः पश्येति सिद्धम्। **सार्थक इन्** दण्डोऽस्यास्तीति "अतोऽनेकस्वरात्" (७।२।६) इतीनि दण्डी, **अनर्थकः** तपोऽस्यास्तीति "अस्तपो मायामेधा०" (७।२।४७) इति विनि तपस्वी, उभयत्रापि "इन्हन्पूष०" (१।४।८७) इति दीर्घः। **सार्थकोऽस्** "विश्वाद्विदिभूजिभ्याम्" (९५६) इत्यौणादिकेऽसि विश्ववेदाः **अनर्थकः**—यथा खरस्येव नासिकाऽस्य "खरखुरान्नासिकाया नस्" (७।३।१६०) इति खरणाः, उभयत्रापि "अभ्वादेः" (१।४।९०) इति दीर्घः। **सार्थको मन्** "स्यतेरी च वा" (उणा० ९१५) 'षोंच् अन्तकर्मणी' त्यस्मान्मनि स्यतेरात ईत्वे च सीमा, **अनर्थकः**, महतो भावः "पृथ्वादेरिमन्वा" (७।१।५८) इति इमनि महिमा तमतिक्रान्ता अतिमहिमा स्त्री, उभयत्रापि "मनः" (२।४।१४) इति ङीनिषेधः। उपलक्षणत्वात् **अतुप्रत्ययो**ऽपि सार्थकवदनर्थको ग्राह्यः, तत्र **सार्थको** यथा। किं प्रमाणमस्य "इदं किमोऽतुरियूकियू चास्य" (७।१।१४८) इत्यतुप्रत्यये किमः कियादेशे च कियान्, **अनर्थकः**—गावोऽस्य सन्ति "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" (७।२।१) इति मतौ गोमान्, उभयत्रापि "अभ्वादेः०" (१।४।९०) इति दीर्घः ॥ १९ ॥

गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥ २० ॥

तत्र **गाग्रहणे** 'गाङ् गतौ' 'गै शब्दे' इत्येतयोर्द्वयोरपि यङ्लुपि आशीः क्याति जागेयाद्ग्रामं गीतं वा, अत्रोभयोरपि "गापास्थासा०" (४।३।९६) इत्येत्वं सिद्धम्, अन्यथा गायतेर्गारूपस्य लाक्षणिकत्वात् 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः' इति गातेरेव ग्रहणं प्राप्नोति। **माग्रहणे** मांकूमाङ्मेङ् एषां क्तयोर्मितः मितवान्, "दोसोमास्थ इः" (४।४।११) इति इः। अन्यथा 'अदाद्यनदाद्योरि'ति 'कृत्रिमाकृत्रिमयोरि'ति वा

मेङ् एव ग्रहणं प्राप्नोति । **दाग्रहणे** यथा "प्राज्ज्ञश्च" (५।१।७९) इति सूत्रे ज्ञारूपसाहचर्यादत्र दारूपमेव ग्राह्यं न तु दासंज्ञा इत्येतावदेव दारूपमेव संसाध्य तदन्वेतन्न्यायबलादविशेषेण षड्भ्यो दारूपेभ्यो डःकृतो, डुदांग्क् दाम् वा धनप्रदः, दों, वृक्षप्रदः, देङ् पुत्रप्रदः, दांवक् केदारप्रदः, दैंव् भाजनप्रद इति । अन्यथा 'अदाद्यनदाद्यो'रिति दांग्क्दांवक्वर्जनाच्चतुर्णामेव, **यद्वा** 'लक्षणप्रतिपदोक्तयो'रिति दोंदेङ्दैंव्वर्जानां त्रयाणामेव, **यद्वा** 'कृत्रिमाकृत्रिमयो'रिति दांङ्क्दांवक्दाम्वर्जानां त्रयाणामेव ग्रहणं प्राप्नोतीति ॥ २० ॥

श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान् ॥ २१ ॥

श्रुतः सूत्रे साक्षाच्छब्देनोक्तः । अनुमितः परिभाषया पूर्वानुवृत्ताधिकारादिना वा आरोपितः । यथा "ॠतां क्ङितीर्" (४।४।११६) तीर्णम्, अत्र श्रुतस्य ॠत एव ईर् न तु "अनेकवर्णः सर्वस्य" (७।४।१०७) इति परिभाषया ॠदन्तधातोः सर्वस्य, यत ॠदन्तत्वमॄतामित्यस्य धातुविशेषणत्वेन "विशेषणमन्तः" (७।४।११३) इति परिभाषयारोपितमित्यनुमितमिति ॥ २१ ॥

अन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते ॥ २२ ॥

प्रत्ययाश्रितत्वात्पदद्वयापेक्षत्वाच्च बहिरङ्गोऽपीति शेषः । यथा प्रणम्येत्यत्र "अहन्पञ्चमस्य०" (४।१।१०७) इति प्रकृत्याश्रितत्वादेकपदाश्रितत्वाच्चान्तरङ्गमपि दीर्घत्वं बाधित्वा पूर्वं यप्, पश्चात्तु धुडादिप्रत्ययाभावान्न दीर्घत्वम् । **ज्ञापकं** त्वस्य प्रजग्ध्येति सिद्ध्यै "यपि चादो जग्ध्" (४।४।१६) इत्यत्र यपि चेति वचः, यदि क्त्वापरे जग्धादेशः पश्चाच्च यप् क्रियते तदापि प्रजग्ध्येति सिद्ध्यति, तथापि यपि चेति यदूचे तदेतन्न्यायाद्यपः सर्वकार्येभ्यः पूर्वभवनादेव । **आहुश्च**–"तादौ क्किति जग्धि सिद्धे यपि चेति यदुच्यते । ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां यपा भवति बाधनम्" ॥१॥ इति ॥ २२ ॥

सकृद् गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव ॥ २३ ॥

गते इति धातूनामनेकार्थत्वाज्जाते 'गत्यर्था ज्ञानार्था' इति ज्ञाते वा । द्वयोर्विध्योरन्यत्र सावकाशयोरेकत्रोपनिपातः स्पर्द्धः । द्वयोः स्पर्द्धे सति यत्सूत्रं केनापि हेतुना बाधितं तद्बाधितमेव बाधकसूत्रप्रवृत्त्यनन्तरमपि न प्रवर्तते, यथा द्वयोः कुलयोरित्यत्र द्वि ओस् इति स्थिते 'आदेशादागम' इतिन्यायात्प्रथमं "अनाम् स्वरे०" (१।४।६४) इति नोऽन्तः प्राप्तः, स च परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च "आद्वेरः" (२।१।४१) इत्यत्वेन बाधितस्तत "एद्बहुस्भोसि" (१।४।४) इत्येत्वे कृते पुनः प्राप्तोऽपि नोऽन्तो न स्यात् ॥२३॥

द्वित्वे सति पूर्वस्य विकारेषु बाधको न बाधकः ॥ २४ ॥

द्वित्वे सति यः पूर्वोऽवयवस्तस्य विकारेषु कर्त्तव्येषु यो बाधको विधिः स स्वं बाध्यविधिं बाधितुं न प्रभवति । 'स्पर्द्धे परः' 'बलवन्नित्यमनित्यात्' इत्याद्यपवादोऽयम् । अचीकरदित्यत्र "लघोर्दीर्घ" (४।१।६४) इति दीर्घविधिः परोऽपि नित्योऽपि सन्वद्भावं बाधित्वा पूर्वं न प्रवर्तते । प्रवृत्तौ त्वचाकरदित्यनिष्टं रूपं स्यादिति ॥ २४ ॥

कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद् वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च ॥ २५ ॥

वृद्धिरिति सामान्योक्तावप्यत्राडागमबाधिका "स्वरादेस्तासु" (४।४।३१) इति विहितैव ग्राह्या । अन्यथाऽटस्तद्बाध्यत्वानुपपत्तेः । 'बलवन्नित्यमनित्यात्' 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गात्' इत्याद्यपवादोऽयम् । तत्र **वृद्धिर्**यथा 'ऋक् गतौ' ह्य० अन् ऐयरुः । अधिपूर्व 'इंङ्क् अध्ययने' ह्य० अन्त अध्यैयत, अत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यापि वृद्धिः "धातोरिवर्ण०" (२।१।५०) इतीयादेशं कृत्वैव क्रियते । पूर्वं वृद्धौ हि आयरुः अध्यायतेति स्यात् । **अट्** यथा अचीकरत् इत्यादौ प्रागुक्तहेतुना नित्योऽप्यल्पनिमित्तत्वा-

दन्तरङ्गोऽपि चाऽडागमो "लघोर्दीर्घ०" (४।१।६४) इति दीर्घं कृत्वैव क्रियते, पूर्वमटि हि स्वरादित्वाद्दीर्घो न स्यादिति ॥ २५ ॥

पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं कार्यं पश्चात्सन्धिकार्यम् ॥ २६ ॥

तत्र **पूर्वपदकार्यं** यथा, अग्निश्चेन्द्रश्च अग्नेन्द्रौ अत्र पूर्वपदस्याग्नेरितो "वेदसहश्रुतावायुदेवतानाम्" (३।२।४१) इत्यात्वं कृत्वैव पश्चाद्, "अवर्णस्येवर्णादिना०" (१।२।६) इत्येत्वं कृतम् । **उत्तरपदकार्यं** यथा, परमश्चासावयं च परमायमित्यत्रोत्तरपदस्येदम "अयमियं पुंस्त्रियोः सौ" (२।१।३८) इत्ययमादेशः पुंलिङ्गापेक्षत्वेन बहिरङ्गोऽपि पूर्वं क्रियते न तु तदनपेक्षत्वेनान्तरङ्गमपि "अवर्णस्येवर्णादिना०" (१।२।६) इत्येत्वरूपं सन्धिकार्यम् । पश्चाच्च यथाप्राप्तं समानदीर्घरूपं सन्धिकार्यं क्रियते इति ॥ २६ ॥

संज्ञा न संज्ञान्तरबाधिका ॥ २७ ॥

यथा प्रस्थ इत्यत्र प्रस्य गत्युपसर्गसंज्ञयोः सद्भावाद्, "गतिकन्य०" (३।१।४२) इति तत्पुरुषः "उपसर्गादातो डोऽश्वः" (५।१।५६) इति डश्च युगपदभूतामिति ॥ २७ ॥

सापेक्षमसमर्थम् ॥ २८ ॥

पदान्तरसापेक्षं पदं समासादिपदविधीन् प्राप्तुं नालम् । यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः इत्यत्र राजशब्दस्य ऋद्धविशेषणसापेक्षत्वात्पुरुषशब्देन सह न समासः ॥ २८ ॥

प्रधानस्य तु सापेक्षत्वेऽपि समासः ॥ २९ ॥

यस्य क्रियया सामानाधिकरण्यं तत्प्रधानम् । यथा राजपुरुषोऽस्ति दर्शनीय इत्यादौ समासात् प्रागवस्थायां पुरुषशब्दस्य स्वविशेषणदर्शनीयशब्दसापेक्षत्वेऽपि राजशब्देन तत्पुरुषः ॥ २९ ॥

तद्धितीयो भावप्रत्ययः सापेक्षादपि ॥ ३० ॥

यथा काकस्य कृष्णस्य भावः काकस्य कार्ष्ण्यमित्यादौ कृष्णशब्दात्काकशब्दसापेक्षादपि "पतिराजान्त०" (७।१।६०) इति ट्यण् सिद्धः । **ज्ञापकं** त्वस्य "पुरुषहृदयादसमासे" (७।१।७०) इत्यत्र 'असमासे' इति । तद्धि परमस्य पुरुषस्य भावः परमपौरुषमित्यणूभावार्थमिति ॥ ३० ॥

गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्यन्तानामेव कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासः ॥ ३१ ॥

यद्यपि "नाम नाम्नैकार्थ्ये०" (३।१।१८) इति सूत्रेण नाम्नो नाम्ना समास उक्तस्तथाप्यैकार्थ्ये इति समासान्तर्वर्तिविभक्तिलुप्करणाज्ज्ञापितं यदुत विभक्त्यन्तानामेव समास इति । ततश्चोभयोरपि पदयोर्विभक्त्यन्तत्वे प्राप्ते गत्यादीनामुत्तरपदस्य कृदन्तस्याविभक्त्यन्तत्वनियमार्थोऽयं न्यायः । तत्र **गते**र्यथा, विकिरति पक्षाविति विष्किरी इत्यादौ पक्ष्यर्थमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रथमं "वौ विष्किरो वा" (४।४।९६) इति स्सटि विस्स्किर इति स्थिते "ऊर्याद्यनुकरण०" (३।१।२) इति कृतगतिसंज्ञस्य वेः "नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः" (५।१।५४) इति कप्रत्ययान्तेन स्किर इत्यनेन सह "गतिकन्य०" (३।१।४२) इति तत्पुरुषस्ततो "असोङसिवूसहस्सटाम्" (२।३।४८) इति स्सटः सस्य षत्वे विष्किरः पक्षी, ततः स्त्रीत्वविवक्षायामदन्तत्वात् "जातेरयान्त०" (२।४।५४) इति ङीः सिद्धः, यदि त्वेतद्न्यायानपेक्षणाद्विभक्त्यन्तेन स्किरेत्यनेन समास इष्यते तदा कर्मादिशक्तिसङ्ख्याद्यपेक्षत्वेन बहिरङ्गाया विभक्तेरुत्पत्तेः प्रागेव स्त्रीत्वमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गस्याप: प्राप्तावदन्तत्वाभावात् ङीर्न स्यात् ॥ १ ॥ **कारकस्य** यथा चर्मणा क्रीयते स चर्मक्रीती इत्यादौ चर्मन् टा क्रीत इति स्थिते करणकारकस्य "कारकं कृता" (३।१।६८) इति तत्पुरुषः, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां "क्रीतात्करणादेः" (२।४।४४) इति क्रीत-

शब्दाददन्तात् ङीः सिद्धः; यदि तु विभक्त्यन्तेन क्रीतेन समास इष्यते तदा प्राग्वदन्तरङ्गत्वाद्विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेवापः प्राप्तावदन्तत्वाभावात् ङीर्न स्यात्, पूर्वपदस्य तु विभक्त्यन्तत्वनियमाच्चर्मक्रीतीत्यत्र पदत्वान्नस्य लोपः ॥ २ ॥ कृत्प्रत्ययविधायिसूत्रे ङसिनेत्येकदेशस्य समुदायोपलक्षणत्वात्पञ्चम्यन्तेनोक्तं **ङस्युक्तम्**, तत्र ङसिनैवोक्तस्य यथा कच्छं पिबतीति कच्छपीत्यादौ कच्छ अम् प इति स्थिते "नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः" (५।१।१३१) इत्यतोऽधिकृतान्नाम्नः परस्य स्थादिधातोर्विहितो यः "स्थापास्नात्रः कः" (५।१।१४२) इति कप्रत्ययस्तदन्तेन पेत्यनेन सह कच्छशब्दस्य "ङस्युक्तं कृता" (३।१।४९) इति तत्पुरुषः, कच्छशब्दस्य नाम्न इति ङसिनोक्तत्वात्, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां "जातेरयान्त०" (२।४।५४) इत्यनेन कच्छपशब्दाददन्ताद् ङीः, यदि तु विभक्त्यन्तेन पेत्यनेन समासः स्यात्तदा प्राग्वदापः प्राप्तावदन्तत्वाभावाद् ङीर्न स्यात्। **पञ्चमी**भ्यस्युक्तमप्युक्तयुक्त्या ङस्युक्तमेव, तस्य यथा विषं धरतीति विषधरीत्यादौ विष अम् धर इति स्थिते विषशब्दस्य "आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः" (५।१।९४) इति सूत्रे भ्यसुक्तस्यापि ङस्युक्तत्वादच्प्रत्ययान्तेन धरेत्यनेन [सह 'ङस्युक्तं कृता' इति तत्पुरुषस्ततः स्त्रीत्वविवक्षायां 'जातेरयान्त०' (२।४।५४) इति ङीः। यदि तु विभक्त्यन्तेन धरेत्यनेन] समासः स्यात्तदा प्राग्वदन्तत्वाभावाद् ङीर्न स्यात् ॥ ३१ ॥

समासतद्धितानां वृत्तिर्विकल्पेन वृत्तिविषये च नित्यैवापवादवृत्तिः ॥ ३२ ॥

परार्थाभिधानं वृत्तिः। सा च त्रिधा, समासतद्धितान्तनामधातुभेदात्। राजपुरुषः, औपगवः, पुत्रकाम्यतीति। समासवृत्तौ समस्यमानपदानि शेषवृत्त्योस्तु प्रकृतिप्रत्ययौ सम्भूयार्थं ब्रुवन्तीति स्वार्थातिरिक्तसमुदायार्थाभिधायित्वात्परार्थाभिधायित्वं, तत्र वाक्येनाभिधाने प्राप्ते वृत्तिरारभ्यमाणा 'येन नाप्राप्ते०' इति न्यायाद्वाक्यस्य बाधिका स्यादिति विकल्पेन तस्यानुज्ञार्थोऽयं न्यायः; तथा वृत्तिपक्षे उत्सर्गापवादरूपयोर्वृत्त्योः सम्भवे उत्सर्गस्य नित्यमेव बाधश्चानेनोच्यते। तत्र **समासवृत्ति**र्यथा, कायस्य पूर्वोऽशः पूर्वकायः। अत्र "पूर्वापर०" (३।१।५२) इत्यनेनांशीतत्पुरुषो वाक्यं च; न तु "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" (३।१।७६) इत्यौत्सर्गिकः कायपूर्व इति षष्ठीसमासः। **तद्धितवृत्ति**र्यथा। गर्गस्यापत्यं वृद्धं गार्ग्यः। अत्र "गर्गादेर्यञ्" (६।१।४२) इति यञ् वाक्यं च। नत्वौत्सर्गिको गार्गिरिति "अत इञ्" (६।१।३१) इतीञ् ॥ ३२ ॥

एकशब्दस्यासङ्ख्यात्वं क्वचित् ॥ ३३ ॥

एकशब्दस्य सङ्ख्यात्वप्रसिद्धेः क्वचिन्निषेधार्थोऽयं न्यायः। यथैकमह इत्यत्रैकस्यासङ्ख्यात्वात् "अह्नः" (२।१।७४) इत्यद्समासान्ते "नोऽपदस्य तद्धिते" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलोपे "अहर्निर्यूहकलहाः" (लिङ्गानु० पुं० १५।३) इति पुंस्त्वे प्राप्तेऽपि 'अहः सुदिनैकतः' (लिङ्गानु० न० ८।२) इति विशेषविधिना क्लीबलिङ्गत्वे एकाहमिति सिद्धम्, सङ्ख्यात्वे तु "सर्वांशसङ्ख्याव्ययात्" (७।३।११८) इत्यनेनादि अनेनैव चाह्नादेशे 'अर्धसुदर्शनदेवनमह्ना' (लिङ्गानु० पुं० ११।१) इति पुंस्त्वे च एकाह्न इत्यनिष्टं रूपं प्रसज्येत। **ज्ञापकं** त्वस्य "सङ्ख्यातैकपुण्य०" (७।३।११९) इति सूत्रे चकारेण "सर्वांशसङ्ख्याव्ययात्" इतिसूत्रात्सङ्ख्यानुवृत्तावपि पृथगेकशब्दग्रहणम् ॥ ३३ ॥

आदशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्येये वर्त्तते न सङ्ख्याने ॥ ३४ ॥

अयं भावः—अष्टादशावधि सङ्ख्या सङ्ख्येयेन सह सामानाधिकरण्येन प्रयोज्या। यथैको द्वौ त्रयो वा यावदष्टादश घटाः न तु घटानामिति। **आदशभ्य** इति किम्? एकोनविंशत्यादिसङ्ख्या तु सङ्ख्येये सङ्ख्याने च प्रवर्त्तते। यथैकोनविंशतिर्घटा घटानां वा, यावन्नवनवतिशतं सहस्रं लक्षं कोटिर्वा घटा, घटानां वेत्यादि ॥ ३४ ॥

णौ यत्कृतं कार्यं तत्सर्वं स्थानिवद्भवति ॥ ३५ ॥

णाविति निमित्तसप्तमी। यथा स्फुरत् णौ सनि, पुस्फारयिषति, अत्र "चिस्फुरोर्नवा" (४।२।१२) इति आत्वस्य णौ निमित्ते सति कृतस्य स्थानिवद्भावात् स्फु इति द्वित्वं सिद्धम् ॥ ३५ ॥

द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति ॥ ३६ ॥

यदर्थं व्याकरणधातुपाठादौ प्रयत्नद्वयं कृतं तत्सुबद्धमव्यभिचारि भवति। यथा 'असूच् क्षेपे' अद्य० दि, आस्थत्। अत्राङो न व्यभिचारः, अस्यतेः "शास्त्यसूवक्ति०" (३।४।६०) इति सूत्रे पुष्यादौ च पाठात्। अन्येषां तु तद्व्यभिचारोऽपि यथा 'भगवन्मा कोपी'रिति बालरामायणे, अत्र पुष्यादित्वेऽप्यङ् न ॥ ३६ ॥

आत्मनेपदमनित्यम् ॥ ३७ ॥

यथाशिष्टप्रयोगं क्वचित्प्राप्तमपि न स्यात्, क्वचिच्चाप्राप्तमपि स्यात्। एवमुत्तरत्र न्यायचतुष्केऽपि यथा-योगमनित्यशब्दार्थो व्याख्येयः, । यथा—"सम्यक् प्रणम्य न लभन्ति कदाचनापि" 'डुलभिष् प्राप्तौ' "परार्थे क्लिश्यतः सतः" 'क्लिशिंच् उपतापे' "नरपतिं सेवन्ति किं मानिनः" 'षेवृङ् सेवने' "मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे" 'भाषि व्यक्तायां वाचि' 'तर्जिण् सन्तर्जने' तर्जयति। 'भर्त्सिण् सन्तर्जने' भर्त्सयति। 'भलिण् आभण्डने' भालयति । 'शमिण् आलोचने निशामने' निशामयति। 'कुत्सिण् अवक्षेपे' कुत्सयति। 'वञ्चिण् प्रलम्भने' वञ्चयति । 'विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु' वेदयति। इत्यादिषु धातूनामिङ्त्त्वेऽपि नात्मनेपदम् 'षसूज् गतौ' "प्रकृतिगुणकर्मसु सज्जमानकार्येषु" अत्रेङित्त्वाभावेऽप्यात्मनेपदम्। **ज्ञापकं** त्वस्य 'एजृङ् भ्रेजृङ् भ्राजि दीप्तौ' इति भ्राजेरात्मनेपदेषु पाठेऽपि 'राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ' इत्युभयपदिष्वात्मनेपदित्वेन पुनः पाठः। अयं हि द्विर्बद्धं सुबद्धमिति न्यायेनास्यात्मनेपदाव्यभिचारज्ञप्त्यर्थः, तज्ज्ञानं चानेन न्यायेनान्येषां धातूनामात्मनेपदव्यभिचारशङ्कायां सार्थकमिति ॥ ३७ ॥

क्विपि व्यञ्जनकार्यमनित्यम् ॥ ३८ ॥

तत्राख्यातक्विपि यथा। राजेवाचरति "कर्तुः क्विप्०" (३।४।२५) इति क्विपि राजनतीत्यादौ क्विप्सत्कवकारव्यञ्जनद्वारप्राप्तस्य "नामसिदय्व्यञ्जने" (१।१।२१) इति पदत्वस्याभवनात् "नाम्नो नोऽनह्नः" (२।१।९१) इति नस्य लुग् नाभूत्। **कृत्**क्विपि यथा गीर्यते इति "क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप्" (५।३।११४) इति क्विपि गिरौ गिरः, अत्र प्राग्वत्प्राप्तपदत्वाभवनात् "पदान्ते" (२।१।६४) इति दीर्घो न ॥ ३८ ॥

स्थानिवद्भाव[1]पुंवद्भावै[2]कशेष[3]द्वन्द्वैकत्व[4]दीर्घ[5]त्वान्यनित्यानि ॥ ३९ ॥

क्वचिदिति शेषः, एवमुत्तरन्यायेऽपि। द्वन्द्वैकत्वं समाहारद्वन्द्वः, दीर्घत्वं "भ्वादेर्नामिनः०" (२।१।६३) इति सूत्रविहितं ग्राह्यम्, ततः पञ्चैतान्यनित्यानि । तत्र **स्थानिवद्भावो** यथा । स्वाद्वकार्षीत् णिजि असिस्वददित्यत्र उकारस्य वृद्धावन्त्यस्वरादिलुकि तस्य स्थानिवद्भावाभवनेनाकारस्योपान्त्यत्वात् "उपान्त्यस्यासमान०" (४।२।३५) इति ह्रस्वः। १। **पुंवद्भावो** यथा। दक्षिणस्यां भवो "दक्षिणापश्चात्०" (६।३।१३) इति त्यणि दाक्षिणात्यः, अत्र "सर्वादयोऽस्यादौ" (३।२।६१) इति प्राप्तोऽपि पुंवद्भावो न, **ज्ञापकं** त्वस्य "कौण्डिन्यागस्त्ययोः०" (६।१।१२७) इति सूत्रनिर्देशः। अयं हि कौण्डिन्यशब्दः पुंवद्भावानित्यत्वं विना न सिद्ध्यति । तथाहि—'कुडुङ् दाहे' इत्यस्मात् "अजातेः शीले" (५।१।१५४) इति णिनि स्त्रीत्वे ङ्यां कुण्डिनी, ततो वृद्धापत्यार्थे यञि "जातिश्च-

णितद्धितयस्वरे" (३।२।५१) इति प्राप्तः पुंवद्भावो यदि स्यात्तदा ङीनिवृत्तौ "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इति इन्लोपे कौण्ड्य इति प्राप्नोति । २ । **एकशेषो** यथा । "तदतदात्मकं तत्त्वमातिष्ठन्ते जैनाः" अत्र "त्यदादिः" (३।१।१२०) इति प्राप्तत्तच्छब्दैकशेषो न । ३ । **द्वन्द्वैकत्वं** यथा शङ्खदुन्दुभिवीणाः अत्र "प्राणितूर्याङ्गाणाम्" (३।१।१३७) इति प्राप्तोऽपि समाहारद्वन्द्वो न, **ज्ञापकं** त्वस्य "प्राणितूर्याङ्गाणा-मि"ति सूत्रे बहुवचनमेव । ४ । **दीर्घत्वं** यथा 'कुर्दि क्रीडायां' कुर्दते "रम्यादिभ्यः कर्त्तरि" (५।३।१२६) इत्यनेन कुर्दनः, 'गुर्वै उद्यमे' "णिन् चावश्यका०" (५।४।३६) इति णिनि ङ्यां गुर्विणी इत्यादौ "भ्वादेर्नामिनः०" (२।१।६३) इति दीर्घो न, **ज्ञापकं** त्वस्य स्फूर्ज ऊर्ज इत्यादीनां कृतदीर्घाणामेव धातुषु पठनं न तु हुर्च्छामुर्च्छादीनामिवाकृतदीर्घाणां, तच्च स्फूर्जादीनां दीर्घत्वाव्यभिचा-रद्वारेणान्येषां तद्व्यभिचारज्ञापनार्थमिति । ५ । ॥ ३९ ॥

अनित्यो णिचुरादीनाम् ॥ ४० ॥

सर्वत्र भवन्नपि यथाप्रयोगदर्शनं क्वचिन्न स्यादपीत्यर्थः । यथा चुरण् चोरति । चितुण् चिन्तति । छदण् छदनम् । तुलण् "भिदादयः" (५।३।१०८) इत्यङि तुला इत्यादि सिद्धम् । **ज्ञापकं** त्वस्य चुरादिषु ऋदित्त्वम्, तद्धि "ऋदिच्छ्विस्तम्भू०" (३।४।६५) इत्यङि, अघुषदित्यादिरूपसिद्ध्यर्थं कृतं, णिच ऐकान्तिकत्वे तु विशेषविधित्वात् "णिश्रिद्रुस्रु०" (३।४।५८) इति ङस्यैव प्राप्तेरजूघुषदित्याद्येव भवनेनाङोऽवकाशस्यैवाभावात्, अस्यानित्यत्वाच्च युजादिवर्जानामेव चुरादीनां यथाशिष्टप्रयोगमनियतो णिच्, युजादीनां तु "युजादेर्न वा" (३।४।१८) इति नियत एव णिज्विकल्पः ॥ ४० ॥

णिलोपोऽप्यनित्यः ॥ ४१ ॥

क्वचिदित्यध्याहार्यं, यथाप्राप्ति सर्वत्र भवन्नपि क्वचिन्न भवतीत्यर्थः । यथा "मघवो युधि सुप्रक-म्पयाः", अत्र सुप्रपूर्वात् ण्यन्तात्कम्पेः खलि, णेर्लुबोऽनित्यत्वादभवनेऽयादेशः सिद्धः ॥ ४१ ॥

णिच्सन्नियोगे एव चुरादीनामदन्तता ॥ ४२ ॥

चुरादीनामिति सामान्योक्तेऽप्यङ्कादीनां कुहण्यन्तानामिति ज्ञेयं नान्येषां; तेषामदन्तत्वस्यैवासम्भवात्। प्राग् णिचः सर्वत्र यथादर्शनमदन्तत्वोक्तेर्णिजभावपक्षे अङ्कादीनामदन्ततानिषेधार्थोऽयं न्यायः । यथा जगणतुरित्यादौ णिजभावपक्षेऽनदन्तत्वेनानेकस्वरत्वाभावादामादेशो नाभूत् ॥ ४२ ॥

धातवोऽनेकार्थाः ॥ ४३ ॥

ततो धातुपाठेऽनुक्तोऽप्यर्थो लक्ष्यानुसारात्तेषां प्रयोज्य इत्यर्थः । यथा 'विधत् विधाने' । अयं व्यधार्थेऽपि, यथा वेधः शब्दवेधी । एधि वृद्धौ । अयं दीप्त्यर्थेऽपि, "पुरश्चक्रं तवैधते", प्राप्त्यर्थेऽपि औपवस्त्रफलमेधते । 'शुच् शोके' अयं पावित्र्येऽपि शुचिः । मननं मतं मतशब्दः साम्येऽपि । यथा "मतीकृता क्षेत्रभूः", समीकृतेत्यर्थः । **ज्ञापकं** त्वस्य "तक्षः स्वार्थे वा" (३।४।७७) इत्यत्र स्वार्थे इति विशेषणं तेनेहार्थान्तरे श्रुतं–"संतक्षति वाग्भिः शिष्यं", निर्भर्त्सयतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

गत्यर्था ज्ञानार्थाः ॥ ४४ ॥

धातव इति योगः । यथा "गमयति शब्दोऽर्थं", ज्ञापयतीत्यर्थः । ज्ञापकं त्वस्य "णावज्ञाने गमुः" (४।४।२४) इत्यत्रेणोऽज्ञान इति विशेषणमेतन्न्यायाभावे गत्यर्थस्येणो ज्ञानार्थत्वासम्भवेऽज्ञानार्थेत्युक्ति-र्व्यर्थैव स्यादिति ॥ ४४ ॥

नाम्नां व्युत्पत्तिरव्यवस्थिता ॥ ४५ ॥

नामान्यनेकधा व्युत्पाद्यन्त इत्यर्थः । यथा अश्वस्याम्बा वडवा, असृगालेढि सृगालः, मह्यां रौति

मयूरेत्यादि पृषोदरादित्वात् सिद्धम् । पुनः 'वड आग्रहणे' इति सौत्रधातोः "वडिवटि०" (उणा० ५१५) इत्यवे वडवा, सृधातोः "सर्तेर्गोऽन्तश्च" (उणा० ४७८) इति कित्याले गागमे च सृगालः। मीनातेः "मीमसि०" (उणा० ४२७) इत्यूरे मयूर इत्युणादिसूत्रैरपि साधितम् । तथा सूर्यशब्दः क्वति "कुप्यभिद्य०" (५।१।३९) इति सूत्रेण सृधातोः क्यपि संज्ञायां निपातितः, पुनस्तद्धिते सूरशब्दस्य "मर्त्तादिभ्यो यः" (७।२।१५९) इति यप्रत्यये साधितः । **अनित्यत्वा**चास्य रूढनाम्नामेव व्युत्पत्तिरव्यवस्थिता न तु यौगिकानां नीलकण्ठादीनामिति ॥ ४५ ॥

उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि ॥ ४६ ॥

अवयवावयविनोरभेदोपचारादुणादय इत्युणादिप्रत्ययान्तानि । अयं भावः—"कृवापाजिस्वदि०" (उणा० १) इत्यादिना पञ्चोत्तरसूत्रसहस्रेण "उणादयः" (५।२।९३) इति सूत्रसूचितेन कारुवायुपाय्वादीनि नामानि व्युत्पादितानि तत्प्रकृतिप्रत्ययविभागेन वर्णानुपूर्वीनिर्ज्ञानार्थमेव न तु कर्त्तेत्यादि क्रियाशब्दवदन्वर्थदर्शनार्थमिति। तत्त्वतस्तान्यव्युत्पन्नान्येव तेषां रूढिशब्दत्वेन व्युत्पत्तेरकिञ्चित्करत्वात्। यथा, वींक्धातोः "पटिवीभ्याम्०" (उणा० ५७९) इति डिसे विसं, तत्त्वतोऽस्याव्युत्पन्नत्वेन सस्य कृतत्वाभावात्षत्वं न स्यादिति, **अनित्यत्वा**चास्य वपेरौणादिके "रुद्यर्त्ति०" (उणा० ९९७) इत्युसि वपुषेत्यादौ कृतत्वात्सस्य षः सिद्धः । **अनित्यत्वज्ञा**पकं त्वस्य "तृस्वसृ०" (१।४।३८) इति सूत्रे अस्य न्यायस्यानित्यत्वात् तृग्रहणेनैव नप्त्रादिग्रहणे सिद्धे नियमार्थं नप्त्रादीनां पृथग्ग्रहणं, नियमश्चायम्—औणादिकतृप्रत्ययान्तानां नप्त्रादीनामेवार् तेन मातरौ, पितरौ इत्यत्रार् न स्यात् ॥ ४६ ॥

शुद्धधातूनामकृत्रिमं रूपम् ॥ ४७ ॥

धातुपाठपठितरूपा धातवः कृता इति नोच्यन्ते । यथा 'मुसच् खण्डने', उणादौ किलले मुसलम्। अत्र सस्य कृतत्वाभावात्षत्वं न स्यात् ॥ ४७ ॥

क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते ॥ ४८ ॥

धातुत्वमिति नामार्थसंवलितधात्वर्थाभिधायित्वाद्गौणधातुत्वं तत एव शब्दत्वं च उपचाराद् वृक्षादिवन्नामत्वं च प्रतिपद्यन्ते, धातुत्वनामत्वयोः कार्यं लभन्ते इत्यर्थः । यथा नियौ लुवौ इत्यादौ धातुत्वादियुवौ, नामत्वात्स्यादयश्च ॥ ४८ ॥

उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशभाक् ॥ ४९ ॥

यथा आङ्, 'ईषि गतौ' आ ईष्यः एष्यः। ततः प्रेण योगे आङ् ईतो स्थानजस्य एतोः यदा आङादेशत्वं तदा "ओमाङि" (१।२।१८) इत्यल्लोपे प्रेष्य इति स्यात्, धात्वादेशत्वे च "उपसर्गस्यानिणेधेदोति" (१।२।१९) इत्यल्लोपः स्यात्, परं तं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् "प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण" (१।२।१४) इत्यैत्वे प्रैष्य इति सिद्धम् । **अनित्यत्वा**चास्य राजानमाख्यदरराजदित्यत्रान्त्यस्वरादिलोपस्य अनुरूपस्वरव्यञ्जनोभयस्थाननिष्पन्नत्वेऽपि स्वरादेशतैव व्यपदेश्या न तु व्यञ्जनादेशता, तद्व्यपदेशे ह्यसमानलोपित्वादुपान्त्यह्रस्वस्य सन्वद्भावादेश्च सिद्धावरीरजदिति स्यात् ॥ ४९ ॥

अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायमपि विशिनष्टि चेत्तं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति ॥ ५० ॥

यथा 'कुस्मिण् कुस्मयने' अस्मात् "चुरादिभ्यो णिच्" (३।४।१७) इति णिचि कुस्मयते । चित्रशब्द आश्चर्यार्थे ङित्, चित्रं करोतीति वाक्ये "नमोवरिवश्चित्रङोऽर्चासेवाश्चर्ये" (३।४।३७) इति क्यनि चित्रीयते । 'महीङ् पूजायां' कण्ड्वादिः, "धातोः कण्ड्वादेर्यक्" (३।४।८) इति यकि महीयते इत्यादौ;

कुस्म्यादीनामिङ्क्त्वेन णिचूक्यन्यगन्तसमुदायस्यापि इङ्क्त्वादात्मनेपदम्; कुस्म्यादीनां णिचाद्यन्तसमुदायेनाव्यभिचारित्वात् । **चेत्तं** समुदायमित्यादि किम् ? कुस्म्यादीनां णिचाद्यागमादनु प्रयोक्तृव्यापारार्थणिगन्तानां समुदायङित्त्वहेतुकमात्मनेपदं मा भूत् । णिगः प्रयोक्तृव्यापारे सत्येवोत्पत्तेः, कुस्म्यादीनां णिगन्तसमुदायव्यभिचारित्वादिति ॥ ५० ॥

येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येवोपसर्गसंज्ञाः ॥ ५१ ॥

तदन्यधात्वादियोगे उपसर्गकार्यं न स्यादित्यर्थः । यथा प्रच्छेक इत्यत्र प्रगता ऋच्छका यस्मादिति वाक्ये गतार्थमन्तर्भाव्य प्रवर्त्तमानेन प्रेण णकप्रत्ययस्यैवार्थः कर्त्ता विशेष्यते न तु ऋच्छिप्रकृतेरर्थः । ये ऋच्छन्ति कर्तृरूपास्ते प्रगताः तदेवं प्रस्य ऋच्छिना सह सम्बन्धाभावादनुपसर्गत्वाद् "ऋत्यारुपसर्गस्य" (१।२।९) इत्यार् न ॥ ५१ ॥

यत्रोपसर्गत्वं न सम्भवति तत्रोपसर्गशब्देन प्रादयो लक्ष्यन्ते न तु सम्भवत्युपसर्गत्वे ॥ ५२ ॥

यथा प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथ इत्यादौ प्रस्यानुपसर्गत्वेऽपि "उपसर्गादध्वनः" (७।३।७९) इत्यत् समासान्तः । प्रस्यानुपसर्गत्वं तु उपसृत्य धातुमर्थविशेषं सृजतीत्यन्वर्थानाश्रयणात् ॥ ५२ ॥

शीलादिप्रत्ययेषु नासरूपोत्सर्गविधिः ॥ ५३ ॥

आदेर्धर्मसाध्वर्थयोर्ग्रहः । प्राप्तप्रतिषेधार्थोऽयं न्यायः **एवमुत्तरोऽपि** । यथा अलङ्करिष्णुः कन्यामित्यादौ "भ्राज्यलङ्कृग्निराकृग्०" (५।२।२८) इति इष्णुरेव स्याद् न तु "तृन् शीलधर्मसाधुषु" (५।२।२७) इत्यनेन तृन् । तेन शीलाद्यर्थेऽलङ्कर्त्तेत्यादिप्रयोगो न साधुः ॥ ५३ ॥

त्यादिष्वन्योन्यं नासरूपोत्सर्गविधिः ॥ ५४ ॥

यत्रोत्सर्गरूपायास्त्यादिविभक्तेर्विषयेऽपवादरूपा त्यादिविभक्तिः प्राप्नोति, तद्विषये औत्सर्गिकी त्यादिविभक्तिः "असरूपोऽपवादे०" (५।१।१६) इत्यनेन प्राप्ताप्येतन्न्यायेन निषिध्यते । यथा स्मरसि चैत्र कश्मीरेषु वत्स्याम इत्यादौ "अयदि स्मृत्यर्थे०" (५।२।९) इति भविष्यन्ती, तद्विषये "अनद्यतने ह्यस्तनी" (५।२।७) इत्यौत्सर्गिकी विभक्तिर्न स्यात् । त्यादिविभक्तीनामेवान्योन्यमसरूपोत्सर्गविधिर्निषिध्यते प्रत्ययेन तु समं त्यादिविभक्तीनां सोऽस्त्येव, तेनोपशुश्राव इत्यादौ "श्रुसद्वस्भ्यः परोक्षा वा" (५।२।१) इति परोक्षावत्तद्विषये उत्सर्गभूताः क्तादयोऽपि स्युरेव, यथा उपश्रुतः उपश्रुतवान् । **ज्ञापकं** त्वस्य "श्रुसद०" इत्यत्र वाग्रहणम् । तद्धि पक्षे यथाकालमद्यतनीह्यस्तन्यर्थम् । ते चैतन्न्यायाभावे सरूपत्वात् सिद्धे एवेति ॥ ५४ ॥

स्त्रीखलना अलो बाधकाः स्त्रियाः खलनौ ॥ ५५ ॥

स्त्रीति स्त्र्युक्ताः; अन् इति चानट्प्रत्ययः । "असरूपोपवादे०" (५।१।१६) इत्यनेन क्तेः प्राग् ये प्रत्ययास्तेषु पाक्षिकोऽसरूपविधिर्व्यवस्थापितस्तदग्रेतनप्रत्ययानां तु स्पर्द्धे सति व्यवस्थार्थोऽयं न्यायः । यथा चयनं चितिरित्यादौ "स्त्रियां क्तिः" (५।३।९१) "युवर्ण०" (५।३।२८) इत्याभ्यां क्रमात् क्त्यलोः प्राप्तौ परत्वात् क्त्येव । दुःखेन चीयते दुश्चयमित्यादौ "दुःस्वीषतः०" (५।३।१३९) "युवर्ण०" इत्याभ्यां क्रमात् खललोः प्राप्तौ परत्वात् खलेव । पलाशानि शात्यन्तेऽनेनेति पलाशशातनो दण्ड इत्यादौ "करणाधारे" (५।३।१२९) "युवर्ण०" इत्याभ्यां क्रमादनडलोः प्राप्तौ परत्वादनडेव । "स्पर्द्धे" (७।४।११९) इति परिभाषायाः प्रपञ्चोऽयम् । **अनित्यत्वाचास्य** जय इत्यादौ

"स्त्रियां क्तिः" "युवर्ण०" इत्याभ्यां क्रमात्क्त्यलोः प्राप्तावलेव । शिरसोऽर्दनं शिरोऽर्त्तिरित्यादौ च अर्दतेः "स्त्रियां क्तिः" "अनट्" (५।३।१२४) इत्याभ्यां क्रमात्क्त्यनटोः प्राप्तौ क्त्येव ॥ ५५ ॥

यावत्सम्भवस्तावद्विधिः ॥ ५६ ॥

यथाप्राप्तस्य सूत्रस्य न्यायस्य वा यावतो वारान्प्रवृत्तेः सम्भवः स्यात्तावतो वारांस्तस्य प्रवृत्तिः कार्यैव नत्वेकवारं कृतेति बुद्ध्याऽधिकवारं सम्भवे सत्यपि न क्रियत इति। सम्भवे व्याहते च प्रवृत्तिर्न कार्यैव । 'यस्य तु विधेर्निमित्तमस्ति' इत्यादि न्यायस्य प्रपञ्चोऽयं न्यायः। तत्र **सूत्रस्य** त्वक् इत्यादौ प्रथमं विरामे परे "अदीर्घात्०" (१।३।३२) इत्यनेन कस्य द्वे रूपे क्रियेते त्वक्क्, पुनरनेनैव एकव्यञ्जने परे सूत्रप्रवृत्तेः सम्भवस्य सद्भावादाद्यकस्य द्वे रूपे क्रियेते यथा त्वक्क्क्। ततः परं तु मध्यमकस्य "धुटो धुटि स्वे वा" (१।३।४८) इति लुकि पुनराद्यकस्य "अदीर्घात्" (१।३।३२) इति द्वे रूपे प्राप्नुतः परं न क्रियेते, तथाकरणे क्रियानुपरमप्रसङ्गाद्, 'यं विधिं प्रति' इति न्यायेन व्यर्थविधिनिषेधेन प्रवृत्तेः सम्भवस्य व्याहतत्वात् [न्यायस्य यथा–ब्रूगः कृतवचादेशस्य प्रण्यवोचतेत्यादौ भूतपूर्वकन्यायस्य प्रथमवारं प्रवर्त्तनेन वोचस्य वचत्वोपचाराद्द्वितीयवारं प्रवर्त्तनेन च वचस्यापि ब्रूत्वोपचारात्तस्मिन् परे "अकखादि०" (२।३।८०) इत्यनेन नेर्नो णः । नन्वत्र भूतपूर्वन्यायस्य द्वे अपि प्रवृत्ती किमर्थं क्रियेते; वोचे एव हि परे नेर्णः करिष्यते । मैवम् । वोचस्य धातुष्वपठितत्वात् । "अकखादि०" (२।३।८०) इत्यत्र च पाठविषयस्यैव धातोर्ग्रहणात्] ॥ ५६ ॥

सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवत् ॥ ५७ ॥

यत्र विशेष्ये विवक्षितविशेषणस्य न सम्भवो नापि सम्भवासम्भवरूपो व्यभिचारस्तत्र तद्विशेषणोपन्यासो व्यर्थत्वान्न कार्य इत्यर्थः । 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थक०' इति न्यायस्य प्रपञ्चोऽयं न्यायः– अनेनापि व्यर्थविशेषणोपन्यासविधेरेव निषिध्यमानत्वात्। यथा "तौ मुम०" (१।३।१४) इत्यत्र 'पदान्त' इति विशेषणं स्वागमस्य न योज्यते असम्भवात्, मस्य तु योज्यते त्वन्तरसीत्यादौ सम्भवेन, रंरम्यत इत्यादावसम्भवेन च पदान्तस्थत्वस्य व्यभिचारित्वात् ॥ ५७ ॥

सर्वं वाक्यं सावधारणम् ॥ ५८ ॥

एवस्याप्रयोगेऽपि सर्ववाक्येष्वेवोऽवधारणार्थो लभ्यते, "सिद्धिः स्याद्वादात्" (१।१।२) इत्युक्त्या सर्वत्र स्याद्वादाश्रयणे प्रसक्ते क्वचित्तदनाश्रयणार्थोऽयं न्यायः। यथा "समानानां तेन०" (१।२।१) इत्यत्र दीर्घः स्यादेवेति वाक्यस्यावधारणाद्दण्डाग्रमित्यत्र दीर्घोऽभूदेव । **ज्ञापकं** त्वस्य "ऋलृति ह्रस्वो वा" (१।२।२) इत्यादौ विकल्पोक्तिस्तथाहि–एतन्न्यायाभावे ह्रस्वः स्यादित्युक्तेऽपि ह्रस्वः स्याच्च न स्याच्च । "विधिनिमन्त्रणा०" (५।४।२८) इति सूत्रेण कामचारेऽपि सप्तम्या विहितत्वात् तथाप्येतन्न्यायान्नित्यं ह्रस्वे प्राप्ते विकल्पवचनं सफलम् । **वाक्यस्योपलक्षणत्वात्क्वचित्पदमपि** सावधारणं यथा "लुगस्यादेत्यपदे" (२।१।११३) इत्यत्रापदे एदेत्यपदादिस्थे एवादेति परे इत्यवधारणात् दण्डाग्रमित्यत्र "वृत्त्यन्तोऽसषे" (१।१।२५) इति वृत्त्यन्तस्य पदत्वनिषेधेनाग्रशब्दस्यापदत्वात्तस्याकारे परे प्राप्तोऽप्यल्लुग् न भवति, यतोऽग्रशब्दस्य वृत्त्यवस्थायां पदत्वाभावेऽपि पूर्वं पदत्वमासीत्ततोऽवधारणं नास्ति । यत्त्वेकान्ततत्वेनापदादिस्थ एवाकारस्तस्मिन् परे "लुगस्या०" (२।१।११३) इत्यल्लुक् स्यादेव, यथा पचन्ति–अत्र शवोऽकारस्यान्तिपरे लुग् ॥ ५८ ॥

परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतं विनापि वदर्थं गमयति ॥ ५९ ॥

यथा "वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरे" (१।४।६२) इत्यत्र पुमानित्यस्य पुंवदित्यर्थः । अत्र हि परार्थो

नपुंसकस्तत्र च प्रयुक्तः पुंशब्दस्ततो नपुंसकोऽपि सन् पुंस्त्वकार्याणि लभते इति भावः । यथा मृदवे कुलाय इत्यादौ मृदुशब्दस्य पुंवद्भावान्नपुंसकत्वलक्षणो "अनाम् स्वरे नोऽन्तः" (१।४।६४) इति नागमो नाभूत् ॥ ५९ ॥

द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ६० ॥

नञावित्यर्थप्रधानो निर्देशस्ततो द्वौ निषेधौ विधिमेव ब्रूतः । यथा "न नाम्येकस्वरात्०" (३।२।९) इति सूत्रस्थो नञ्शब्दः पुरः पुरोऽनुवर्त्तमानो यावत् "नेन्सिद्धस्थे०" (३।२।२९) इति सूत्रस्थद्वितीयनञा मिलितस्तावता विभक्तिलुपो विधिमेवाह स्म । **ज्ञापकं** त्वस्य "न नाम्येक०" (३।२।९) इत्यतो विभक्तिलुब्निषेधार्थे नञ्यनुवर्त्तमानेऽपि विभक्तिलुब्विध्यर्थं "नेन् सिद्ध०" इत्यत्र पुनर्नञ्ग्रहणम्। "नमो नमस्ते सततं नमो नमः" इत्यादौ नमःशब्दादीनामसकृत्प्रयोगे स्वार्थद्रढनमेव दृश्यते, ततो नञोऽपि तथैव प्रसक्ते सति तन्निषेधार्थोऽयं न्यायः । इह च द्वाविति समसङ्ख्योपलक्षणं, तेन चतुःषडादयोऽपि नञो विधिगमका एव, एकद्वित्र्यादिविषमसङ्ख्यास्तु निषेधगमका एवेत्यूह्यम् ॥ ६० ॥

चकारो यस्मात्परस्तत्सजातीयमेव समुच्चिनोति ॥ ६१ ॥

चस्याविशेषेण समुच्चयमात्रार्थत्वाद्विजातीयस्यापि समुच्चये प्रसक्तेऽयं न्यायः । तत्रोपसर्गादुपसर्गं यथा "प्रतेश्च वधे" (४।४।९४) **१** । प्रकृतेः प्रकृतिं यथा "एतदश्च व्यञ्जने ऽनग्नञ्समासे" (१।३।४६) **२** । प्रत्ययात्प्रत्ययं यथा "अडौं च" (१।४।३९) **३** । आदेशादादेशं यथा "आ च हौ" (४।२।१०१) **४** । आगमादागमं यथा "अश्च लौल्ये" (४।३।११५) **५** । अर्थादर्थं यथा "अतिरतिक्रमे च" (३।१।४५) **६** । वाक्यार्थाद्वाक्यार्थं यथा "तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात्" (६।३।१४२) इत्यादि **७** । **एषु** क्रमेणोपादिति १ तद इति २ घुटीति ३ इरिति ४ स्सोऽन्त इति ५ पूजायामिति ६ तत्र भवे ७ इत्येषां समुच्चयः । **एकपदरूपोऽर्थः पदद्वयादिमयस्तु** वाक्यार्थ इत्यनयोः (अर्थवाक्यार्थयोः) भेदः ॥ ६१ ॥

चानुकृष्टं नानुवर्त्तते ॥ ६२ ॥

समुच्चय एव हि बलात्कारपूर्वकोऽनुकर्षणमुच्यते अतश्चेनानुकृष्टं पुरो न यातीति युक्तमेव समुच्चयानुकर्षणयोर्विशेषज्ञापनार्थोऽयं न्यायः । यथा "सदोऽप्रतेः परोक्षायां त्वादेः" (२।३।४४) इत्येतावद्वाक्यं "स्वञ्जश्च" (२।३।४५) इति सूत्रे चेनानुकृष्टं तेन स्वञ्जेः परोक्षायां द्वित्वे कृते आदेरेव सस्य षः स्यान्न तु द्वितीयस्य, यथा परिषस्वजे। एतच्च "परिनिवेः सेवः" (२।३।४६) इत्युत्तरसूत्रे नानुवर्त्तते, तेन सेवेः परोक्षायामुभयोरपि सयोः षः स्यात् । यथा परिषिषेवे इति ॥ ६२ ॥

चानुकृष्टेन न यथासङ्ख्यम् ॥ ६३ ॥

यथा "वौ व्यञ्जनादेः सन्चाय्वः" (४।३।२५) इत्यत्र सन्क्त्वोर्वावित्यनेन अय्व इत्यनेन च सङ्ख्याया वचननिर्देशस्य च साम्ये सत्यपि यथासङ्ख्यं नास्ति त्तवश्चानुकृष्टत्वात् । वौ इत्यादेरयमर्थः— वौ इत्युकारे इकारे वा उपान्त्ये सति व्यञ्जनादेर्धातोः परौ सेटौ क्त्वासनौ प्रत्येकं किद्वद्वा स्याताम् । यथा मुदित्वा मोदित्वा, मुमुदिषते मुमोदिषते, लिखित्वा लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति । अय्व इति यकारान्ताद्वकारान्ताच्च न भवति यकारान्त० विश्च य् च वियू वियिवाचरति क्विप्, लुक्, वेयनं पूर्वं क्त्वायां वेयित्वा । वकारान्त० देवित्वा दिदेविषति ॥ ६३ ॥

व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिः ॥ ६४ ॥

यथा करीषगन्धेरपत्यं वृद्धं स्त्री "ङसोऽपत्ये" (६।१।२८) इत्यणि "अनार्षे वृद्धे०" (२।४।७८)

इत्यनेनाणः ष्यादेशे "अणञेकण्०" (२।४।२०) इत्यणन्तलक्षणो ङीः प्राप्नोति, परं न स्यात् । तत्राणः स्वरूपस्थस्य ग्रहणात्, इह चाणः ष्यरूपीभवनात् । एतच्च "अणञेये०" इत्यत्र व्याख्यानत एव लभ्यते ज्ञापकान्तराभावात् । ततश्च ङ्यभावेऽदन्तत्वात् "आत्" (२।४।१८) इत्यापि कारीषगन्ध्येति स्यात् ॥६४॥

यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते ॥ ६५ ॥

यत्रेति वाक्याङ्गभूतपदसमुदाये इति विशेष्यमध्याहार्यम् । अस्तिना च भवतिर्विद्यतिरित्यादयोऽपि लक्ष्या एकार्थत्वात् । भवन्ती वर्त्तमाना, प्रकरणादिवशात्सप्तम्यादिपरोऽपि प्रयुज्यते । आख्यातं विना वाक्यं न स्यादिति पदसमुदायस्य वाक्यीकरणार्थोऽयं न्यायः । यथा 'जम्बूद्वीपस्तत्र सप्तवर्षाणि' । अत्रास्ति, सन्तीति । पञ्चम्याशिष्यौ यथा, 'देवो मुदे वो वृषभः परे च' अत्रास्तु सन्त्विति भूयाद् भूयासुरिति वा । सप्तमी यथा, "शिर्घुट्" (१।१।२८) "औदन्ताः स्वराः" (१।१।४) अत्र स्यात् स्युरिति । ह्यस्तन्यद्यतनीपरोक्षा यथा । 'अवन्त्यां विक्रमनृपस्तस्य द्वापञ्चाशद्वीराः' । अत्रासीदासन्निति बभूव, बभूवुरिति वा । श्वस्तनी यथा । 'अतः परं श्वो भोजनम्', अत्र भवितेति । भविष्यन्ती यथा । 'अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेषु भोजनम्'; 'भाविन्यां तु पद्मनाभः सूरदेव' इत्यादि । अत्र भविष्यतीति । क्रियातिपत्तिप्रयोगस्तु प्रायः साक्षादेवेक्ष्यते । **अनित्यत्वा**चास्य कचिदन्यक्रियापदाध्याहारोऽपि यथा । अर्हमित्यत्र प्रणिदध्महे इति ॥ ६५ ॥

इति पञ्चषष्टिर्न्यायाः पूर्वैः सह **द्वाविंशंशतं** व्यापका ज्ञापकादियुताश्च ।

अतः परं ये वक्ष्यन्ते ते केचिदव्यापकाः प्रायः सर्वे ज्ञापकादिरहिताश्च

–भूते चामी–

यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः ॥ १ ॥

इट इति शेषः ॥ १ ॥

यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः ॥ २ ॥

यथा अश्वेन चैत्रः सञ्चरते । अत्र चैत्रशब्देनान्तरितेनापि तृतीयान्तेन योगे "समस्तृतीयया" (३।३।३२) इत्यात्मनेपदम् ॥ २ ॥

येन विना यन्न भवति तत्तस्यानिमित्तस्यापि निमित्तम् ॥ ३ ॥

यथा कृतणः कीर्त्तादेशो णिचा सहचरित एव दृश्यतेऽतो णिच् कीर्त्तादेशस्य निर्निमित्तं विहितस्यापि निमित्तं विदितम् । तथा कृततीत्यत्र णिचोऽनित्यत्वात् तदभावे कीर्त्तादेशोऽपि नाभूत् ॥ ३ ॥

नामग्रहणे प्रायेणोपसर्गस्य न ग्रहणम् ॥ ४ ॥

यथा उपस्पृशतीत्यत्र स्पृशेरूपरूपान्नाम्नः परत्वेऽपि "स्पृशोऽनुदकात्" (५।१।१४९) इति क्विप् न स्यात् । तेनोपस्पृगिति प्रयोगो न साधुः ॥ ४ ॥

सामान्यातिदेशे विशेषस्य नातिदेशः ॥ ५ ॥

अन्यत्र प्रसिद्धस्यार्थस्यान्यत्र कथनमतिदेशः । यथा "भूतवच्चाशंस्ये वा" (५।४।२) इति भूतमात्रस्यैवाऽतिदेशेऽनद्यतनपरोक्षत्वविशिष्टभूतकालस्यानतिदेशात् 'उपाध्यायश्चेदागमत् एते तर्कमध्यगीष्महि' इत्यादौ स्थानद्वयेऽपि भूतमात्रलक्षणाऽद्यतन्येव भूतवच्चेति सूत्रेण नत्वनद्यतनत्वपरोक्षत्वविशिष्टभूतविहिते ह्यस्तनीपरोक्षे ॥ ५ ॥

सर्वत्रापि विशेषेण सामान्यं बाध्यते न तु सामान्येन विशेषः ॥ ६ ॥

यथा कोऽर्थ इत्यादौ सेः "सोरुः" (२।१।७२) इति रुत्वे "रोर्यः" (१।३।२६) इति सामान्यस्वरनिमित्तकं सूत्रं बाधित्वा "अतोऽति रोरुः" (१।३।२०) इति विशेषस्वरनिमित्तकं सूत्रं प्रावर्त्तिष्ट । **'तक्रकौण्डिन्यन्यायो'**ऽप्यस्यैव प्रपञ्चः । द्विजेभ्यो दधि देयम्; तक्रं कौण्डिन्यायेत्युक्ते कौण्डिन्यस्य दधिनिषेधोऽनुक्तोऽपि प्रतीयते ॥ ६ ॥

ङित्त्वेन कित्त्वं बाध्यते ॥ ७ ॥

यथा 'णूत् स्तवने' कुटादिः नुवितः; अत्र "उवर्णात्" (४।४।५८) कित्प्रत्ययस्यादौ विहित इड् निषेधो नाभूत् । कुटादित्वहेतुकेन क्त्वस्य ङित्त्वेन तत्कित्वस्य बाधनात् ॥ ७ ॥

परादन्तरङ्गं बलीयः ॥ ८ ॥

यथा स्योमा इत्यत्र सीव्यतेः "मन्वन्०" (५।१।१४७) इति मनि "छ्वोः श्वयू" (४।४।१२१) इति वलोपमपवादत्वात् "लघोरुपान्त्यस्य" (४।३।४) इति गुणं च नित्यत्वाद्बाधित्वा, ऊटि कृते, तदनु च परत्वादुपान्त्यगुणे प्राप्तेऽप्यन्तरङ्गत्वात् प्रथमं यत्वं सिद्धं, पश्चात्तु गुणः । यद्यपि 'परान्नित्यं' 'नित्यादन्तरङ्ग'मित्येताभ्यामयं गतार्थ एव, तथाहि—परान्नित्यं बलवत्ततोऽपि यद्यन्तरङ्गं बलवत्तदा परादन्तरङ्गं बलवत्प्रतीतमेव, तथापि तदनुवादपरोऽयं न्यायः ॥ ८ ॥

प्रत्ययलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणं कार्यं विज्ञायते ॥ ९ ॥

लोपशब्दस्य लुक्लुपोर्वाचकत्वेऽपि लुकि स्थानिवद्भावेनैव सिद्धत्वाल्लुप्येष न्यायः । यथा पापचीत्यत्र 'लुबन्तरङ्गेभ्य' इति प्रथममेव यङ्लुप्यपि यङन्तलक्षणं "सन्यङश्च" (४।१।३) इति द्वित्वं सिद्धम् ॥९॥

विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान् ॥ १० ॥

यथा "प्रत्यभ्यतेः क्षिपः" (३।३।१०२) इत्यत्र 'क्षिपींत् प्रेरणे' इति क्षिपिरुभयपदी तौदादिको व्याख्येयस्तस्यैव परस्मैपदविध्यर्हत्वात्, न तु "क्षिपंच् प्रेरणे" इति केवलं परस्मैपदी । तस्य सिद्धपरस्मैपदत्वेन सूत्रस्य नियमार्थताप्रसक्तेः, नियमश्चैवं प्रसज्यते—प्रत्यभ्यतिपूर्वादेव क्षिपः परस्मैपदं नत्वन्योपसर्गपूर्वादनुपसर्गाद्वेति ॥ १० ॥

अनन्तरस्यैव विधिर्निषेधो वा ॥ ११ ॥

तत्र निषेधो यथा "नामन्त्र्ये" (२।१।९२) इत्यनेन "नाम्नो नोऽनह्नः" (२।१।९१) इत्यनन्तरसूत्रविहितस्य नलुको निषेधः क्रियते । विधिर्यथा "क्लीबे वा" (२।१।९३) इत्यनेनानन्तरसूत्रविहितस्य नलुको निषेधस्य विकल्पेन विधिः क्रियते । यद्यपि च शब्दशक्तिरेवैषा यद्विधिर्निषेधो वाऽनन्तरस्यैव स्यादिति; परं शब्दशक्तेरेवानुवादोऽयं 'विचित्राः शब्दशक्तय' इत्यादिवत् ॥ ११ ॥

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ॥ १२ ॥

यथा पर्जन्य ऊनं पूर्णं वाऽनपेक्षमाणः सर्वत्र वर्षति तथा स्वविषयं प्राप्य लक्षणेन सर्वत्र फलाभावेऽपि प्रवर्त्तितव्यम्, अप्रवृत्तौ हि तस्याऽऽनर्थक्यं स्यादिति । यथा गोपायति, पापच्यते, चिकीर्षतीत्यादौ धातूनामदन्तत्वेन शवोऽनाकाङ्क्षायामपि शव् भवत्येव ॥ १२ ॥

न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या ॥ १३ ॥

प्रकृतिरिह नामरूपा ग्राह्या न तु धातुरूपा । यथा कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमित्यत्र द्रव्यस्यैव कर्मत्वेऽप्येतन्न्यायाद्भीष्मादीनामविभक्तिकानां प्रयोगानर्हत्वात्समानविभक्तिं विना सामानाधिकरण्यविशे-

षणत्वायोगाच्छिद्धनानामपीश्वरसुहृदां तद्वनेन धनित्ववदेषामकर्मकाणामपि कटकर्मत्वेनैव द्वितीया सिद्धा। **ननु** भीष्मादीनामविभक्तिकानां प्रयोगाऽनर्हत्वे सामान्यविभक्तिः प्रथमैव प्रयोक्तुमर्हा; न तु कर्मादिशक्तिप्रकाशिन्यो द्वितीयाद्या इत्याशङ्कायामस्य व्याख्यान्तरमुच्यते । **केवलेति** कोऽर्थः—क्रियारहिता प्रकृतिर्न प्रयोज्या किन्तु प्रयुज्यमानया गम्यमानया वा क्रियया सहितैव प्रयोज्या। ततोऽत्र यथा कटस्य करोतिना सम्बन्धस्तथा भीष्मादीनामपि। कटं कुर्वंस्तद्गतान् गुणानपि करोत्येव, यत्तु करोतिना व्याप्तुमिष्टं तत्सर्वं द्रव्यं गुणश्च कर्मेति सर्वेषां पृथक्कर्मकत्वे सर्वेभ्योऽपि द्वितीया एव पश्चात्तु गौणमुख्यभावे विशेषणविशेष्यभावः [विशेषणानां विशेष्यसमानविभक्त्युपपादनार्थोऽयं न्यायः] ॥ १३ ॥

क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह ॥ १४ ॥

यथा त्वां मां चाचक्षाणेन इति णिजि, क्विपि, तल्लुकि च युष्म् अस्म् इति मान्ताद् ङौ "टाङ्योसि यः" (२।१।७) इत्यनेन मस्य प्राप्तं यत्वं बाधित्वा परत्वात्त्वमादेशे पश्चाच्च त्वमयोरकारस्य प्राप्नुवतोऽपि यत्वस्य 'सकृद्गते स्पर्द्धे' इति न्यायादभवने युष्मदस्मदोश्चात्र णिज्क्विबन्तत्वेन सर्वादित्वाभावात् स्मिन्नादेशाभावे त्वे मे इति स्यात् इति प्रकृतन्यायानपेक्षः पक्षः, प्रकृतन्यायापेक्षया तु प्रकृतिं विना क्विप् न भवति इति प्रकृतेरेव प्राधान्यात् णिज्क्विबन्तयोर्युष्मदस्मदोः केवलाभ्यां ताभ्यामभेदविवक्षया सर्वादित्वाद् ङेः स्मिन्नादेशे त्वस्मिन्, मस्मिन्नित्यपि स्यात् । एवं च णिज्क्विबन्तयोर्युष्मदस्मदोः शब्दभेदादर्थभेदाच्चाप्राप्तस्य सर्वादित्वस्य प्रापणार्थोऽयं न्यायः ॥ १४ ॥

द्वन्द्वात्परः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ॥ १५ ॥

शब्द इति शेषः। यथा "एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः" (१।१।५) अत्र मात्राशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते एकमात्रो द्विमात्र इत्यादि ॥ १५ ॥

विचित्राः शब्दशक्तयः ॥ १६ ॥

तेनैव लिङ्गसङ्ख्यादौ वैचित्र्यं दृश्यते इति ज्ञप्त्यर्थोऽयं न्यायः। तत्र **लिङ्गवैचित्र्यं** यथा। प्रशस्तं पचति "त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्" (७।३।१०) इति स्वार्थिके रूपपि पचतिरूपमित्यादौ "पदं वाक्यमव्ययं चेत्यसङ्ख्यं च" (लिङ्गा० पर० ४।२) इति लिङ्गानुशासनपाठादलिङ्गस्यापि त्याद्यन्तपदस्य क्लीबलिङ्गत्वं सिद्धम्। तथा कुत्सिता स्वा ज्ञातिः स्वार्थिके कप्रत्यये "स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात्" (२।४।१०८) इत्याप इत्वे स्विका, अत्र ज्ञातौ "कामलकुद्दालावयवस्वाः" (लिङ्गा० पुं० १४।१) इति लिङ्गानुशासनपाठात्पुंलिङ्गस्यापि स्वशब्दस्य कुत्सितार्थविवक्षणाद्वाक्यावस्थायां कप्प्रत्ययान्तत्वे च स्त्रीलिङ्गत्वम्। तथा ह्रस्वा कुटी "कुटीशुण्डाद्रः" (७।३।४७) इति स्वार्थिके रे कुटीरः कुटीरम्, अत्र कुटीशब्दस्य "वितस्तिकुटयस्त्रुटिः" (लिङ्गा० पुंस्त्री० ९।२) इति वचनात् पुंस्त्रीलिङ्गस्यापि पुंक्लीबलिङ्गत्वम्। तथा ह्रस्वं वनं वनिका; अत्र नान्तत्वात् "नलस्तुतत्तसंयुक्त"–(लिङ्गा० न० १।१) इति पाठात् क्लीबलिङ्गस्यापि वनशब्दस्य स्वार्थिके कपि स्त्रीलिङ्गता ॥ **तथा** केऽपि शब्दाः पदान्तरसापेक्षाः केऽप्यनपेक्षाश्च तत्तल्लिङ्गान्याहुः। तत्र **सापेक्षा** यथा । इयं गौः, अयं गौः, अत्र गवार्थस्योभयलिङ्गत्वादियमयमिति पदापेक्षेण गोपदेन स्त्रीपुंस्त्वमुच्यते; **अनपेक्षास्तु त्रिधा** नाममात्रेणादेशेन प्रत्ययेन च, तत्र **नाममात्रेण** यथा। माता पिता अत्र नाममात्रमेव स्त्रीपुंस्त्वोक्तौ क्षमम्। **आदेशेन** यथा। तिस्रः; अत्र स्त्रीत्वं विनाऽनुपपद्यमानेन तिस्रादेशेन स्त्रीत्वं प्रतीयते, एवं क्रोष्टा अत्र पुंस्त्वेन क्रुशस्तुनस्तृजादेशेन पुंस्त्वम् । **प्रत्ययेन** यथा राज्ञी; अत्र स्त्रीत्वोद्भवेन ङीप्रत्ययेन स्त्रीत्वम्। गोचरः; अत्र पुंनामत्वोद्भवेन "गोचरसञ्चर०" (५।३।१३१) इति घेन पुंस्त्वम् । **सङ्ख्यावैचित्र्यं** यथा "अं अः ≍क ≍प शषसाः

शिट्" (१।१।१६) अत्र संज्ञिबहुत्वेऽपि संज्ञाया एकवचनम् । दाराः; अत्रार्थैकत्वेऽपि बहुवचनमित्यादि ॥ १६ ॥

किं हि वचनान्न भवति ? ॥ १७ ॥

वचनमिष्टार्थप्रत्यायनं [तद्बलात्किं न स्यात्—काका सर्वं स्यादित्यर्थः, इष्टार्थप्रत्यये सति शिष्टप्रयोगानुसारेण केचिद्विधयोऽप्राप्ता अपि प्रवर्त्त्यन्ते, प्राप्ता अपि च केचिन्न प्रवर्त्त्यन्ते, इष्टार्थप्रत्ययाभावे तु प्राप्ता अपि केचिद्विधयो न प्रवर्त्त्यन्ते इति यावत् । "समर्थः पदविधिः" (७।४।१२२) इत्यस्यापवादोऽयं न्यायः । तत्राप्राप्तप्रवर्त्तनं] यथा सूर्यमपि न पश्यन्त्यसूर्यंपश्या राजदाराः "असूर्योग्राद् दृशः" (५।१।१२६) इति खश्, वत्सेभ्यो न हितो अवत्सीयो गोधुक्; "तस्मै हिते" (७।१।३५) इतीयः; अत्र नञः क्रमाद् दृशिना हितेन च सम्बन्धोऽस्ति; न सूर्येण वत्सैश्चेति समस्यमानपदानां मिथः सम्बन्धाभावादसामर्थ्येऽपि इष्टार्थगमकत्वात् समासः सिद्ध । प्राप्ताप्राप्तप्रवर्त्तनं यथा । "नहाहोर्धतौ" (२।१।८५) अत्र धात्वग्रे इकिश्तिवो न । इष्टार्थप्रत्ययाभावे प्राप्ताप्रवर्त्तनं यथा, सङ्घस्य भद्रं भूयादित्यत्र सङ्घभद्रमिति षष्ठीसमासो न, नहि सङ्घभद्रं भूयादित्युक्ते सङ्घस्य भद्रं भूयादिति प्रतीयते, किन्तु सङ्घशब्दसम्बन्धितया प्रसिद्धं किञ्चिद्भद्रं कस्यचिद्भूयादिति प्रतीयते । **'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः स्यु'**रित्यपि न्यायोऽत्रैवान्तर्भूतः, अस्यार्थः—अभिधानमिष्टार्थप्रत्यायनं तदेव लक्षणं चिह्नं येषां कृदादीनां; कोऽर्थः—इष्टार्थप्रत्ययसम्भवे कृदादयः स्युस्तदभावे तु नेति । **अथ** 'किं हि वचनादि'ति न्यायस्यान्योऽर्थः—वचनादिति कोऽर्थः ? सूत्रोक्तविधानबलात्किं न स्यात्; काका अप्राप्ता अपि विधयः प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः । यथा श्रेयानित्यादाविष्ठेयस्वोः परयोः "प्रशस्यस्य श्रः" (७।४।३४) इति श्रादेशविधानबलेन प्रशस्यशब्दात् क्रियाशब्दत्वेन गुणाङ्गादपि "गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू" (७।३।९) इति इष्ठेयसूप्रत्ययौ सिद्धौ, अस्यां व्याख्यायां चाप्राप्तप्रापणार्थोऽयं न्यायः ॥ **अपि च** 'विचित्रा सूत्राणां कृतिः' १ 'मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः' २ 'ते वै विधयः सुसङ्गृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च' ३ इत्यादयोऽपि न्यायप्रकारा वाग्विशेषाः सन्ति । परमेते व्याकरणसूत्ररचनायामेवोपयुज्यन्ते ॥ **पारिशेष्यादयोऽपि** न्यायाः सूत्रार्थव्यवस्थापनायामेवोपयोगिनो न तु प्रस्तुतप्रयोगरचनायाम् ॥ '**यथोद्देशं निर्देशः**' इत्यादयोऽपि बहवो न्यायाः सन्ति; ते लोकाज्ज्ञेयाः ॥ १७ ॥

न्यायाः स्थविरयष्टिप्रायाः ॥ १८ ॥

यथा स्थविरो गमनादिकाले तत्साधनाय यष्टिमवलम्बतेऽन्यदा तु न; तथा न्याया अपि शिष्टप्रयोगान्यथानुपपत्त्यैवाश्रीयन्ते नत्वन्यथा । यथा रायमतिक्रान्तानां कुलानां अतिरीणामित्यत्र "क्लीबे" (२।४।९७) इति ह्रस्वे तज्जे नामादेशे परे 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति न्यायात्प्राप्तमपि "आ रायो व्यञ्जने" (२।१।५) इत्यात्वं "सन्निपातलक्षण"न्यायेन निषेधान्न स्यात्, तत्करणे ह्रस्वविघातसम्भवात्, "दीर्घो नाम्यतिसृ०" (१।४।४७) इति दीर्घावसरे तु 'सन्निपातलक्षण'न्यायानाश्रयणान्निर्विघ्नं दीर्घः सिद्ध इति ॥ १८ ॥

शिष्टनामनिष्पत्तिप्रयोगधातूनां सौत्रत्वाल्लक्ष्यानुरोधाद्वा सिद्धिः ॥ १ ॥

शिष्टाः शेषाः ये व्याकरणेन नान्वाख्याताः नामानि १ निष्पत्तयः २ प्रयोगाः ३ धातवश्च ४ तेषां सौत्रत्वादिति व्याकरणादिसूत्रनिर्दिष्टत्वात्, लक्ष्याणि पूर्वमहाकविप्रयोगास्तदनुसरणाच्च सिद्धिः । सिद्धिशब्दो न्यायसमाप्तौ मङ्गलार्थः । **नाम्नां** यथा । चतुर्थी षष्ठीत्यादौ चतुर्णां षण्णां सङ्ख्यापूरणीति वाक्ये "चतुरः" (७।१।१६३) "षट्कतिकतिपयात्थट्" (७।१।१६२) इति सूत्राभ्यां थट्प्रत्यये "नाम-

सिद०" (१।१।२१) इति पदत्वे चतुस्थी षट्ठीति प्राप्नोति, परं "चतुर्थी" (२।२।५३) "अज्ञाने ज्ञः षष्ठी" (२।२।८०) इति सौत्रनिर्देशान्न जातम् । लक्ष्यानुरोधाच्च भिस्सटा, कच्छाटिका ग्रामटिकेत्यादौ टागमः, तथा कान्दविकः, काम्बविकः, वैणविक इत्यादौ "ऋवर्णोवर्णदोसि०" (७।४।७१) इति प्राप्त इकण इलुग् न । **निष्पत्तीनां** यथा "अं अः अनुस्वारविसर्गौ" (१।१।९) "आपो ङितां यैयास्यास्याम्" (१।४।१७) इत्यत्र क्रमादौजसोर्लुक् सौत्रत्वात्सिद्धः । **प्रयोगाणां** यथा । रणादिधातूनां शब्दार्थत्वाविशेषेऽपि रणितं नूपुरशब्दे; मणितं रतिकूजिते; कणितमार्तध्वनौ, क्वणितं वीणादिरवे, कूजितं विहङ्गानां, बृंहितं गजानां वासितं पशूनां गर्जितं मेघस्य गुञ्जितं भ्रमरादीनां शब्दे इत्यादिकं लक्ष्यानुरोधात्सिद्धम् । **धातूनां** सौत्रत्वं तु "धातोः कण्वादेर्यक्" (३।४।८) इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानाद् ज्ञेयम् ॥ १ ॥

न्यायानां बालबोधाय दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।
न्यायमञ्जूषावगाह्या विशेषार्थप्रथार्थिभिः ॥ १ ॥

विशेषतश्च न्यायानां ज्ञापकव्याप्तितात्पर्यादिकं हेमव्याकरणपारीणवैयाकरणशिरोमणिमहोपाध्याय-**श्रीहेमहंसगणि**विरचित**न्यायमञ्जूषायां** विज्ञेयं विज्ञैरिति श्रेयः ॥ 卐 卐 卐

अथ "परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते" इति वचनात्
सर्वत्र व्याकरणे उपयोगिनीः **परिभाषाः** प्रदर्श्यन्ते

पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ॥ १ ॥ (७।४।१०४)

पञ्चम्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तत्परस्य स्थाने भवति सर्वत्र व्याकरणे । अतो "भिस ऐस्" (१।४।२) वृक्षैः । इह न भवति मालाभिरत्र । निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्यार्थत्वादिह न भवति दृषद्भिः । व्यवहितेऽपि परशब्दो दृश्यते यथा महोदयात्परं साकेतमिति । अत इत्यादौ दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । तत्र पूर्वस्य परस्य च कार्यं स्यादिति नियमार्थं वचनम् ॥ १ ॥

सप्तम्या पूर्वस्य ॥ २ ॥ (७।४।१०५)

सप्तम्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तत्पूर्वस्यानन्तरस्य स्थाने भवति । "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्" (१।२।२१) दध्यत्र मध्वत्र । निर्दिष्टाधिकारादिह न भवति—समिदत्र त्रिष्टुबत्र । व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो दृश्यते मथुरायाः पूर्वं पादलिपुत्रमिति । स्वर इत्यादौ औपश्लेषिकमधिकरणं पूर्वं परं च सम्भवति तत्र परमेव ग्राह्यमिति नियमार्थं वचनम् ॥ २ ॥

षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥ ३ ॥ (७।४।१०६)

षष्ठ्या निर्दिष्टे यत्कार्यमुच्यते तदन्त्यस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्यैव योऽन्त्यो वर्णस्तस्य स्थाने भवति न तु समस्तस्य । "वाष्टन आः स्यादौ" (१।४।५२) अष्टाभिः, अष्टासु ॥ ३ ॥

अनेकवर्णः सर्वस्य ॥ ४ ॥ (७।४।१०७)

अनेकवर्ण आदेशः षष्ठ्या निर्दिष्टस्यैव सर्वस्य स्थाने भवति । "त्रिचतुरस्तिसृचतसृ स्यादौ" (२।१।१) तिसृभिः, चतसृभिः । सर्वस्येति निर्दिश्यमानापेक्षं तेन व्याघ्रपादित्यत्र "पात्पादस्याऽहस्त्यादेः" (७।३।१४८) इति निर्दिष्टस्य पादशब्दस्य भवति न तु समुदायस्य । "ऋतां क्ङितीर्" (४।४।११६) किरति । पूर्वस्यापवादोऽयम् । एवमुत्तरोऽपि योगः ॥ ४ ॥

प्रत्ययस्य ॥ ५ ॥ (७।४।१०८)

प्रत्ययस्य स्थाने विधीयमान आदेशः सर्वस्यैव भवति । सर्वे । अष्टौ । कति ॥ ५ ॥

स्थानीवाऽवर्णविधौ ॥ ६ ॥ (७।४।१०९)

स्थानं प्रसङ्गः सोऽस्यास्तीति स्थानी आदेशी । आदेशस्थानिनोः पृथक्त्वात्स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । **अन्यत्र** प्रसिद्धस्यार्थस्यान्यत्र कथनमतिदेशः । आदेशः स्थानिवद्भवति स्थान्याश्रयाणि कार्याणि प्रतिपद्यते, अवर्णविधौ—न चेत्तानि कार्याणि स्थानिवर्णाश्रयाणि भवन्ति । तत्र धातु १ प्रकृति २ विभक्ति ३ कृद् ४ अव्यय ५ पदादेशा ६ उदाहरणं । **धात्वादेशो** धातुवद्भवति, "अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति" (४।४।१) भूवचोस्तृजादयो भवन्ति । भविता, भवितुं, भवितव्यं, वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् १ । **प्रकृतिरिह** गोबलीवर्दन्यायात् धात्वतिरिक्ता नामरूपा ग्राह्या । **प्रकृत्यादेशः** प्रकृतिवत्—कस्मै, के, केषाम्, किमः कादेशे सर्वादित्वात्स्मादयो भवन्ति २ । **विभक्त्यादेशोऽपि** विभक्तिवत्—वृक्षाय, प्लक्षाय, राजा, अत्र चतुर्थ्येकवचनादेशस्य यस्य स्यादित्वाद्दीर्घः, "दीर्घङ्याब्०" (१।४।४५) इति लुग्रूपस्यादेशस्य स्यादित्वाद्दीर्घत्वं पदत्वं च भवति । पचेयम्, पचेयुः, अत्र यामयुसादेशयोरियमियुसोस्त्यादित्वात् "तदन्तं पदम्" (१।१।२०) इति पदत्वम् ३ । **कृदादेशः** कृद्वद्भवति—प्रकृत्य, प्रहृत्य, अत्र क्त्वो यबादेशे "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" (४।४।११३) इति तोऽन्तो भवति ४ । **अव्ययादेशोऽव्ययवत्** । प्रस्तुत्य, उपस्तुत्य, अत्र "अव्ययस्य" (३।२।७) इति सेर्लुप् ५ । **पदादेशः** पदवत्—धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु, अत्र पदत्वात्सोरुत्वम् ६ । **स्थानी**वेत्यत्र इवग्रहणं स्थानिनोऽपि कार्यप्रतिपत्त्यर्थं, इवेनातिदिष्टे हि उभयत्र कार्यमन्वेति चन्द्र इव मुखमित्यादौ, चन्द्रे मुखे चाह्लादकत्ववत् । एवं हनो वध इत्यादौ हन्रूपस्य स्थानिनो वधरूपस्यादेशस्येत्युभयस्याप्यात्मनेपदादिरूपकार्यान्वयोऽस्तीतीवग्रहणम् । अन्यथा स्थानीत्यादेशस्य संज्ञेति प्रतीयेत, ततश्च देवदत्तः पिण्ड इव वधाद्यादेशरूपे संज्ञिन्येव कार्यान्वयो न तु स्थानीति रूपायां संज्ञायामपि । **तथाहुः श्रीसूरयः** । इवग्रहणं स्वाश्रयार्थं स्वस्य स्थानिस्वरूपहन् इत्यादेराश्रय आश्रयणं तदर्थम् । अन्यथा स्थानीत्यादेशस्य संज्ञा विज्ञायेत । तेन आहत, अवधिष्टेत्यादौ "आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च" (३।३।८६) इत्यनेनोभयत्राप्यात्मनेपदं भवति, अन्यथा वधेरेव स्यादिति । अत्र वध इत्यकारान्तादेशविधानबलेनानेकस्वरत्वात् इड्निषेधो न, नैकस्वरादित्यत्र ह्येकस्वराद्विहितस्य "स्ताद्यशित०" (४।४।३२) इड्निषेध इति । स्थानिवद्भावेऽनेकस्वरत्वे त्वकारान्तादेशविधानमनर्थकं स्यादिति ॥ **अवर्णविधाविति** किम् ? यत्कार्यं वर्णमुच्चार्य विधीयते तद्वर्णाश्रयम् । यत्तु धात्वादिसमुदायोच्चारणेन न तद्वर्णाश्रयं वर्णस्य तत्र शब्देनासंसर्गात् । तत्र **वर्णा**श्रयो विधिर्वर्णविधिरिति समासस्याश्रयणाद्वर्णात्परस्य विधिः १ **वर्णे** परतो विधिः २ **वर्णस्य** स्थाने विधिः ३ **वर्णेन** विधिः ४ **अप्रधानवर्णाश्रयो** विधिः ५ इति सर्वत्रावर्णविधाविति प्रतिषेधो भवति ॥ तत्र **वर्णात्परस्य** विधिः द्यौः पन्थाः सः । अत्र औत्वात्वत्यदाद्यत्वेषु कृतेषु स्थानिवद्भावाद् व्यञ्जनात्परस्य सेर्लोपः प्राप्नोति स न भवति । १ । **वर्णे** परतो विधिः—क इष्टः स उप्तः । अत्र य्वृति कृते "घोषवति" (१।३।२१) इति रोरुत्वम् "एतदश्च०" (१।३।४६) इत्यादिना च सेर्लोपश्च न भवति । २ । **वर्णस्य** स्थाने विधिः—श्रीर्देवतास्य श्रायं हविः । अत्रेकारस्य वृद्धौ कृतायां स्थानिवद्भावात् "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इति लोपः प्राप्तो न भवति । ३ । **वर्णेन** विधिः—उरःकेण उरःपेण उर≍केण उर≍पेण अत्र सकारादेशानां विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां स्थानिवद्भावप्रतिषेधादलचटतवर्गशसान्तरे इति णत्वप्रतिषेधो न भवति । व्यूढोरस्केन इत्यत्र तु प्रत्यये इत्यनेन यः कृतः सकारस्तदाश्रयो णत्वनिषेधो न तु मूलसकारस्य, स्थानिवद्भावेन वर्णाश्रयविधौ तदभावात् । ४ । **अप्रधानवर्णाश्रयो** विधिः, यथा "स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट्" (४।४।३२) इत्यत्रान्यपदार्थस्याशितः प्राधान्यात् स्तोरप्राधान्यं, ततः प्रदीव्य प्रसीव्य इत्यत्र

यपः स्थानिवद्भावेन क्त्वाप्रत्ययापेक्षया स्ताद्यशितप्राप्त इड् न भवति । ५ । **स्थानिवर्णाश्रयकार्यप्रतिषेधाच्च** आदेशवर्णाश्रयाणि स्थान्यनुबन्धाश्रयाणि च कार्याणि भवन्त्येव । **आदेशवर्णाश्रयाणि**—सर्वेषाम् । अत्र सामादेशे सकाराश्रयमेत्वं भवति । **स्थान्यनुबन्धाश्रयाणि**—प्रभिद्य निरुध्य प्रणीय प्रलूय इत्यत्र क्त्वो यबादेशे कृते स्थानिवद्भावेन क्ङितीति गुणप्रतिषेधो भवति । अनुबन्धा ह्यसन्त एव गुणाभावादिकं कार्यं कुर्वन्ति । **अथ** कथमग्रहीदित्यत्रेटो दीर्घत्वे स्थानिवद्भावादिट ईतीति सिज्लोपो, वर्णविधिर्ह्येषः । **उच्यते** । नायं वर्णविधिः । विशिष्टं ह्येष इड्रूपं वर्णसमुदायमाश्रयते । **अथ** शोभना दृषदोऽस्य सुदृषदित्यत्र जस्लुपः स्थानिवद्भावेनासन्तत्वात् "अभ्वादेरत्वसः सौ" (१।४।९०) इति दीर्घः कस्मान्न भवति । "लुप्यय्वृल्लेनत्" (७।४।११२) इति प्रतिषेधात् । भ्वादिप्रतिषेधेन श्रूयमाणासन्तपरिग्रहाच्च न भवति । सुदृषद्वानित्यत्र तु इतिकरणसामर्थ्यादसन्तलक्षणो विन्न भवति । "अस्तपोमाया०" (७।२।४७) इति सूत्रे हि "तदस्यास्त्यस्मिन्निति०" (७।२।१) सूत्रादिति शब्दोऽनुवर्त्तते स चेतिकरणो विवक्षार्थ इत्युक्तम् । विवक्षा च व्यवस्थेति भावः ॥ ६ ॥

स्वरस्य परे प्राग्विधौ ॥ ७ ॥ (७।४।११०)

स्वरस्यादेशः परे परनिमित्तको व्यवहितेऽव्यवहिते वा पूर्वस्य विधौ कर्त्तव्ये स्थानीव भवति । कथयति, अवधीत् । अत्राल्लुकः स्थानिवद्भावादुपान्त्यलक्षणा वृद्धिर्न भवति । स्पृहयति, मृगयते । अत्र लघूपान्त्यलक्षणो गुणो न भवति । पादाभ्यां तरति पादिकः । अत्र "यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि" (२।१।१०२) इति पद्भावो न भवति । शातनी, पातनी । अत्रानोऽस्य लुग् न भवति । धरणस्यापत्यं धारणिः रवणस्यापत्यं रावणिः अत्र "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलोपो न भवति । भ्रंश्यते ध्वंस्यते अत्र णिलुगः स्थानिवद्भावादुपान्त्यनकारलोपो न भवति । याज्यते वाप्यते अत्र य्वृन्न भवति । निरादनं पूर्वं निराद्य समाद्य अत्र जग्धादेशो न भवति । घात्यात् अत्र वधादेशो न भवति । निगार्यते निगाल्यते अत्र "न वा स्वरे" (२।३।१०२) इति पक्षे लत्वम् । चातुरौ । आनडुहौ । अत्र औत्वादेशस्य स्थानिवद्भावात् "वाः शेषे" (१।४।८२) इति वा न भवति । पादे अत्र एत्वादेशस्य स्थानिवद्भावात् पद्भावो न भवति । उभयजन्यत्वेऽपि अन्यतरव्यपदेशादौत्वैत्वयोः परनिमित्तत्वम् । अवीवदद्वीणां वादकेनेत्यत्र तु णिजात्याश्रयणादुपान्त्यस्य ह्रस्वो भवति । द्वाभ्यामित्यत्र निमित्तापेक्षया प्राग्विधौ आत्वे तु "आद्वेरः" (२।१।४१) इति जातस्य अस्य न स्थानित्वं "वैकत्र द्वयोः" (२।२।८५) इति निर्देशात् । **स्वरस्येति** किम् ? अक्राष्टाम् अद्राष्टाम् अत्र सिज्लोपो न स्वरादेश इति "षढोः कः सि" (२।१।६२) इति कत्वे स्थानी न भवति । आगत्य, अभिमत्य, अत्र पञ्चमलोपो ह्रस्वलक्षणे तकारे स्थानी न भवति । **पर** इति किम् ? द्वौ पादौ ददाति, द्विपदिकां ददाति । अत्राल्लुकः परनिमित्तत्वाभावात् स्थानित्वाभावे पदादेशो भवति, "सङ्ख्यादेः पादादिभ्यो दानदण्डे चाकल् लुक् च" (७।२।१५२) इति अकल्सन्नियोगशिष्टत्वादल्लुचो नाकल्निमित्तमिति परनिमित्तत्वाभावः । **प्राग्विधाविति** किम् ? बाभ्रव्यस्य छात्राः बाभ्रवीयाः अत्र *"तद्धितयस्वरेऽनाति" (२।४।९२) व्यञ्जनात्परस्यापत्यस्य यकारस्य यकारादावाकारादिवर्जिते स्वरादौ च तद्धिते लुग् भवति । इति यलोपे परविधौ कर्त्तव्येऽवादेशः स्थानी न भवति, स्थानित्वे हि उकारान्तत्वेन व्यञ्जनाभावात् यलोपो न स्यात् । निधानं निधिस्तस्यापत्यं नैधेयः निधिकः अत्र "इडेत्पुसि चातो लुक्" (४।३।९४) इत्याकारलोपो द्विस्वरलक्षणे एयणिकप्रत्ययविधौ परस्मिन् स्थानी न भवति अन्यथा त्रिस्वरत्वात्प्रत्ययो न स्यात् । इलुकाया अदूरभवं [नगरम्] ऐलुकम् परिखायाः पारिखम् तत्र भवः ऐलुकीयः, पारिखीयः । अत्राण्याकारलोपः परविधौ कखोपान्त्यलक्षणे ईये स्थानी न भवति । **पूर्वस्माद्विधिः** प्राग्विधिरित्यप्याश्रीयते तेन

अधुक्षन्त इति "स्वरेऽतः" (४।३।७५) इति सकोऽकारलोपस्य परमप्यदादेशं प्रति स्थानिवद्भाव इति स न भवति । पूर्वत्रावर्णविधाविति प्रतिषेधाद्वर्णविध्यर्थं वचनम् ॥ ७ ॥

"न सन्धिङीयक्विद्विदीर्घाऽसद्विधावस्क्लुकि" ॥ ८ ॥ (७।४।१११)

पूर्वेणातिप्रसक्तः स्थानिवद्भावः प्रतिविध्यते । सन्धिविधौ १ ङीविधौ २ यविधौ ३ क्विविधौ ४ द्वयोर्द्वित्वस्य विधौ ५ दीर्घविधौ ६ "संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्" (२।१।८८) इति स्कलुक्वर्जिते असद्विधौ ७ च स्वरस्यादेशः स्थानीव न भवति । 'समानानां तेन' (१।२।१) इति सूत्रादारभ्य "लि लौ" (१।३।६५) इति सूत्रं यावत् द्वितीयतृतीयपादौ **सन्धिविधिः**, तत्र वियन्ति, अपयन्ति । अत्रेणो यत्वं स्वरादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ दीर्घत्वे एत्वे च कर्त्तव्ये स्थानी न भवति । तानि सन्ति, तौ स्तः अत्रास्तेरल्लोपो यत्वे आवादेशे च कर्त्तव्ये स्थानी न भवति । वैयाकरणः, सौवश्वः अत्र यत्ववत्वयोः स्थानिवद्भावाभावादैदौतोरायावादेशौ न भवतः । शिण्ढि पिण्ढि अत्र श्नस्याकारलोपो "म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते" (१।३।३९) इति वर्गान्ते कर्त्तव्ये स्थानी न भवति । शिंषन्ति; पिंषन्ति इत्यत्र त्वनुसारे कर्त्तव्ये स्थानी न भवति । जक्षतुः, जक्षुः । अत्र "गमहन०" (४।२।४४) इत्युपान्त्याकारलोपलक्षणः परनिमित्तकः स्वरादेशः "अघोषे प्रथम०" (१।३।५०) इति घस्य कत्वलक्षणेऽव्यवहिते प्राग्विधौ कर्त्तव्ये स्थानीव न स्यात्, यदि स्यात्तदा घकारसकारयोर्मध्येऽकारेण व्यवधाने घस्य कत्वं न स्यात्तदभावे "नाम्यन्तस्था०" (२।३।१५) इति सस्य षत्वं न स्यात्तदभावे क्षो न स्यात् ॥ **निमित्तापेक्षयापि** प्राग्विधिरिष्यते तेन नयनं, लवनमित्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भावाभावादयवादेशौ सिद्धौ स्थानिवद्भावे लियुत्रादेशौ स्याताम् ॥ १ ॥ **ङीविधौ** बिम्ब्याः फलं बिम्बम्, हेमादित्वादञ् "फले" (६।२।५८) इति लुप् "ङ्यादेः०" (२।४।९५) इत्यादिना ङीलुक् तस्य परनिमित्तकत्वेऽपि स्थानिवद्भावनिषेधात् "अस्य ङ्यां लुक्" (२।४।८६) इत्यकारलुक् न भवति, एवमामलक्याः फलमामलकम् "दोरप्राणिनः" (६।२।४९) इति मयट् तस्य च "फले" इति लुप्, पञ्चभिः खारीभिः क्रतः पञ्चखारः । "क्रते" (६।३।१९०) इत्यण् "द्विगोरनपत्ये०" (६।१।२४) इत्यादिना लुप्, पञ्चेन्द्राण्योऽग्नाय्यो वा देवतास्य पञ्चेन्द्रः पञ्चाग्निः अत्र "देवता" (६।२।१०१) इत्यण् तस्य लुपि ङीप्रत्ययस्यापि लुप्, तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् तत्सन्नियुक्तः अनागम ऐकारादेशश्च न भवति २ ॥ **यविधौ**, कण्डूतिः कण्डूयतेः क्तावतो लोपः परनिमित्तको "य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक्" (४।४।१२१) इति लोपे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवति, सूर्येणैकदिग् सौरी बलाका अत्रैकोऽण्यकारलोपो द्वितीयो ङ्यां तयोः स्थानिवत्त्वाद्यकारस्यानन्तरो ङीर्न भवतीति यलोपो "सूर्यागस्त्ययोरीये च" (२।४।८९) इति ईये ङीप्रत्यये प्राप्तो न स्यात् स्थानिवद्भावप्रतिषेधाच्च भवति ३ । ॥ **क्विविधौ**, देवयतेः क्विप्, द्यूः लवमाचष्टे लवयतेः क्विप्, लौः अत्र णिलुगलुचौ क्विब्विधावूटि कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भवतः ४ । ॥ **द्वित्वविधौ**, दद्ध्यत्र मद्ध्वत्र अत्र यत्ववत्वयोः स्थानिवद्भावादेकव्यञ्जनलक्षणं धकारस्य द्वित्वं भवति । द्वित्वस्य सन्धिकार्यत्वेनैव स्थानिवद्भावप्रतिषेधे सिद्धे द्विग्रहणम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायबाधनार्थं तेनान्तरङ्गे द्वित्वे क्रियमाणे यकारवकारौ परपदाश्रितत्वेन बहिरङ्गावपि नासिद्धौ भवतः ५ । ॥ **दीर्घविधौ** अपि, शामंशामम् अशामि, शंशामं शंशामं अशंशामि अत्र णिगन्ताद्यङन्ताच्च णिगि ख्णम्ञिचोः परयोर्णिग् लुग् यङो लुक् च स्थानिवन्न भवति ६ । ॥ असदधिकारे विहितो विधि**रसद्विधिः** तत्र, यायज्यते यायष्टिः, नाभ्रितिक्, पापच्यते पापक्तिः याजयतेर्याष्टिः पाचयतेः पाक्तिः अत्राल्लुप्णिलोपयोः स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् षत्वकत्वे भवतः । देहयतेर्देग्धिः लेहयतेर्लेढिः अत्र णिलोपस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् धुड्निमित्ते घत्व-

ढत्वे भवतः । प्रतिदीव्ना प्रतिदीव्ने अत्र “अनोऽस्य” (२।१।१०८) इति अलोपो “भ्वादेर्नामिन०” (२।१।६३) इत्यादिना दीर्घत्वे स्थानी न भवति ॥ **स्क्लुग्विधेः प्रतिषेधः** किम्? सुकुस्सयतेः क्विप्, सुकूः, काष्ठं तक्षयति क्विप् काष्ठतक् अत्र संयोगाद्योः स्कोर्लुकि णिलुकः स्थानिवद्भावप्रतिषेधाभावात् स्कोर्लुग् न भवति । संयोगान्तलोपस्त्वसद्विधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् भवत्येव । काष्ठतडित्यण्यन्तस्य । **प्रायिकोऽयं निषेधः** तेन मधुश्च्युतमाचष्टे मधुश्चयतीति क्विप्, मधुक् अत्र शलोपः सिद्धः, वेतस्वानित्यलुकः स्थानिवद्भावाभावेऽपि “न स्तं मत्वर्थे” (१।१।२३) इति पदत्वाभावात्सोरुर्न भवति, ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः इति ऊङादेशस्य वकारस्य स्थानिवद्भावाभावेऽप्यन्तरङ्गे धस्य तृतीयत्वे लुकि च बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वम् । अयं भावः—यद्यपि ऊङो वत्वे ‘स्वरस्य परे’ इति प्राप्तौ वस्य स्थानिवद्भावो “व्यचोऽनसि” (४।१।८२) इत्यनेन निषिध्यते तथाप्यूङो वत्वेऽस्य व्यञ्जनादित्वात् “नामसिद्०” (१।१।२१) इति पदसंज्ञायां प्राप्तायां धस्य तृतीयत्वं लोपश्च वकारस्यासिद्धत्वान्न भवतः । एवं कियोंः, गिर्योः इति नामिनो दीर्घत्वे । काक्यर्थं वास्यर्थमित्यत्र तु पदस्येति यलोपे यत्वस्यासिद्धत्वम् । **अथ** सखीयतीति क्विप्, अलुको यविधौ स्थानिवत्त्वाभावाद्यलुकि ङसि “योऽनेकस्वरस्य” (२।१।५६) इति यस्य “य्वोः०” (४।४।१२१) इत्यादिना क्विबाश्रयो लुक् कथं न भवति? बहिःप्रत्ययाश्रितत्वेन बहिरङ्गस्य अन्तःक्विबाश्रये लुक्यसिद्धत्वात् ॥ ८ ॥

लुप्यय्वृल्लेनत् ॥ ९ ॥ (७।४।११२)

परस्य प्रत्ययस्य लुपि सत्यां लुब्भूतपरनिमित्तकं पूर्वकार्यं न भवति ‘अय्वृल्लेनत्’ य्वृल्लत्वमेनञ्च वर्जयित्वा । तद्, अत्र स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् त्यदाद्यत्वसत्वे न भवतः । गर्गस्यापत्यानि गर्गाः गर्गादित्वाद्यञ् “यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः” (६।१।१२६) इति लुप् । कुवल्या विकारः फलं, कुवलम् हेमादित्वादञ् “फले” (६।२।५८) इति तस्य लुप् अत्र वृद्धिर्न भवति । लुप्यपि लुब्रूपतास्त्येव । तेन पञ्चगोणिरित्यत्रेकणः लुपि वृद्धिर्न भवति, लुपीति वचनात् लुकि भवत्येव । गोमान् यवमान् अत्र सिलुकि तन्निमित्तं दीर्घत्वं भवति, लुपीति सप्तमीनिर्देशात् पूर्वस्य यत्कार्यं प्राप्तं तन्निषिध्यते, समुदायस्य तु भवत्येव । पयः, साम, पञ्च, सप्त । अत्र पदसंज्ञा तथा च तन्निबन्धनानि रुत्वनलोपादीनि भवन्ति । कथं पापक्ति, पापचीति इत्यत्र द्वित्वम्? नेदं यङि निमित्ते किन्तु यङन्तस्य । **अय्वृल्लेनदिति** किम्, **य्वृत्**-व्यध्, वेविद्धि, श्वि शोशवीति, ग्रह जरीगृहीति । **लृ**-गृ, निजागलीति । **एनत्**—एनत्पश्य, एनच्छ्रितकः । स्थानीवावर्णविधाविति लुपः स्थानिवद्भावेन प्राप्तानां पूर्वेषां कार्याणां प्रतिषेधार्थं वचनम् ॥ ९ ॥

विशेषणमन्तः ॥ १० ॥ (७।४।११३)

विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम् । विशेषणं विशेष्यस्य समुदायस्यान्तो भवति । इह शास्त्रे धात्वादिः समुदायोऽवयवविशेषण उपादीयते । तत्र सोऽवयवस्तत्समुदायस्यान्तत्वेन नियम्यते । “अतः स्यमोऽम्” (१।४।५७) कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य । इह न भवति—तद्, “युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः” (५।३।२८) जयः, स्तवः । इह न भवति—सेकः योगः । इणोऽलि अय इत्यादौ व्यपदेशिवद्भावाद्भवति ॥ १० ॥

सप्तम्या आदिः ॥ ११ ॥ (७।४।११४)

सप्तम्यन्तस्य विशेष्यस्य यद्विशेषणं तत्तस्यादिरवयवो भवतीति वेदितव्यम् । “इन् ङीस्वरे लुक्” (१।४।७९) पथः, पथाम् । इह न भवति—पथिषु । “द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे” (४।३।१४) नेनिजानि, अनेनिजम् । इह न भवति—नेनेक्ति । “उत औविंति व्यञ्जनेऽद्वेः” (४।३।५९) यौति,

रौति । इह न भवति—असावीत् अस्तवीत् । यथा, अयौत् इत्यादौ व्यपदेशिवद्भावाद्भवति । अन्तत्वापवादोऽयं योगः ॥ ११ ॥

प्रत्ययः प्रकृत्यादेः ॥ १२ ॥ (७।४।११५)

यस्माद्यः प्रत्ययो विधीयते सा तस्य प्रकृतिः । प्रत्ययः प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणं वेदितव्यः नोनाधिकस्य । मातुर्भोगो मातृभोगस्तस्मै हितो मातृभोगीणः "भोगोत्तरपदात्मभ्यामीनः" (७।१।४०)। खरपस्यापत्यं खारपायणः नडादित्वादायनण्, अत्र "तदन्तं पदम्" (१।१।२०) इति पदसंज्ञा समुदायस्य भवति न तु ऊनस्य भोगीण इत्यादिरूपस्य, तेनैकपदत्वात् णत्वं सिद्धम् । राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" (३।१।७६) इति समासः, अधिकस्य न भवति—ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः "यञिञः" (६।१।५४) इत्यायनण्, अधिकात्समुदायान्न भवति—परमगार्ग्यस्यापत्यम् । पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति, अधिकान्न भवति—महान्तं पुत्रमिच्छति । न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थं वचनम् । तदन्तत्वं च "विशेषणमन्तः" (७।४।११३) इत्येव सिद्धम् ॥ १२ ॥

गौणो ङ्यादिः ॥ १३ ॥ (७।४।११६)

ङीमारभ्य ष्यं यावत् ङ्यादिः प्रत्ययः स गौण उपसर्जनं सन् प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणं भवति नोनाधिकस्य । कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तः स बन्धुरस्य अतिकारीषगन्ध्यबन्धुः, अतिकौमुदगन्ध्यबन्धुः । अत्र ष्येणाधिकस्याग्रहणात् "बन्धौ बहुव्रीहौ" (२।४।८४) इति ईच् न भवति । गौण इति किम् ? अगौणोऽधिकस्यापि विशेषणं भवति । परमकारीषगन्धीबन्धुः, परमकौमुदगन्धीबन्धुः । पूर्वेणैव सिद्धेऽगौणस्याधिकपरिग्रहार्थं वचनम् । ष्यादिसूत्राण्यग्रे वक्ष्यन्ते दिङ्मात्रं त्वेवम्—**"अनार्षे वृद्धेऽणिञो बहुस्वरगुरूपान्त्यस्यान्त्यस्य ष्यः"** (२।४।७८) अनार्षे वृद्धे विहितौ यावणिञौ प्रत्ययौ तदन्तस्य सतो बहुस्वरस्य गुरूपान्त्यस्य नाम्नोऽन्त्यस्य ष्यः इत्यादेशो भवति, स्त्रियां गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति, गुरुग्रहणं हि दीर्घपरिग्रहार्थं संयोगपरिग्रहार्थं च, अन्यथा दीर्घोपान्त्यस्येत्युच्येत । करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः तस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री "ङसोऽपत्ये" (६।१।२८) इत्यण्, तस्य ष्यादेशः कारीषगन्ध्या । एवं कौमुदगन्ध्या । शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ष्यादेश आबन्त एव स्त्रीलिङ्गमभिव्यनक्ति । **"ष्यापुत्रपत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे"** (२।४।८३) मुख्य आबन्तस्य ष्यः पुत्रपतिशब्दयोः केवलयोः परयोस्तत्पुरुषे समासे ईच् भवति । चकारो "वेदूतो०" (२।४।९८) इत्यादौ विशेषणार्थः । कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः कारीषगन्धीपुत्रः, एवं कारीषगन्धीपतिः । परमकारीषगन्धीपतिः अत्र कर्मधारये परमकारीषगन्ध्याशब्दस्य ष्यान्तस्य मुख्यत्वेन केवलपतिशब्दे अनेन सूत्रेण ईच् भवति । अतिकारीषगन्ध्यापतिः अत्र तु अतिकारीषगन्ध्याशब्दस्य ष्यान्तस्य गौणत्वे "गौणो ङ्यादिः" प्रकृतिमात्रस्यैव विशेषणं नाधिकस्येति कारीषगन्ध्याशब्द एव ष्यान्तो नत्वतिकारीषगन्ध्याशब्द इति तत्पुरुषसमाससत्त्वेऽपि ईच् न भवति । यथा तत्पुरुषसमासे ईच् भवति तथा बहुव्रीहिसमासेऽपि कचित् ईच् भवतीति दर्शयति—**"बन्धौ बहुव्रीहौ"** (२।४।८४) मुख्य आबन्तस्य ष्यो बन्धुशब्दे केवले परे बहुव्रीहौ समासे ईच् भवति । कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः, कौमुदगन्धीबन्धुः, परमकारीषगन्धीबन्धुः । बन्धाविति किम् ? कारीषगन्ध्यापतिर्ग्रामः । बहुव्रीहाविति किम् ? कारीषगन्ध्याया बन्धुः, कारीषगन्ध्याबन्धुः, मुख्य इत्येव अतिकारीषगन्ध्या बन्धुरस्य अतिकारीषगन्ध्याबन्धुः । **"मातमातृमातृके वा"** (२।४।८५) मुख्य आबन्तस्य ष्यो मातादिषु केवलेषु परेषु बहुव्रीहौ ईज्वा स्यात्, कारीषगन्ध्या माता यस्य स कारीषगन्धीमातः, कारीषगन्ध्यामातः, परमकारीषगन्ध्यामातः, परमका-

रीषगन्धीमातः । कारीषगन्ध्या माता यस्य स कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता । कारीषगन्धीमातृकः, कारीषगन्ध्यामातृकः । मातेति निर्देशान्मातृशब्दस्य पुत्रप्रशंसामामन्त्र्यमन्तरेणापि मात इत्यकारान्त आदेशः स्यात् । मातृमातृकशब्दयोश्च भेदेनोपादानाद्दन्तलक्षणः कज् विकल्प्यते ॥ १३ ॥

कृत् सगतिकारकस्यापि ॥ १४ ॥ (७।४।११७)

कृत्प्रत्ययः प्रकृत्यादेः समुदायस्य गतिकारकपूर्वस्य अपिशब्दात् केवलस्यापि विशेषणं भवति । यथेह समासो भवति—भस्मनि हुतम्, प्रवाहे मूत्रितम्, तथा उदके विशीर्णम्, अवतप्ते नकुलस्थितम्, इति सगतिकेन सकारकेण च क्तान्तेन "क्तेन" (३।१।९२) इति समासः सिद्धो भवति । तथा व्यावक्रोशी, व्यावहासी, साङ्कौटिनं, सांराविणमिति "नित्यं ञिनोऽण्" (७।३।५८) इति अण् सिद्धः, । व्यावक्रोशीत्यादिप्रयोगाणां **सूत्राणि** त्वेवम्—**"व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः"** (५।३।११६) व्यतिहरणं व्यतिहारः परस्परस्य कृतप्रतिकृतिः, व्यतिहारविषयेभ्यो धातुभ्यः ईहादिवर्जितेभ्यः स्त्रियां ञः प्रत्ययो भवति । बाहुलकाद्भावे । क्त्यादीनामपवादः । परस्परमाक्रोशनम् व्यावक्रोशी । **"अभिव्याप्तौ भावेऽनञिन्"** (५।३।९०) क्रियया स्वसम्बन्धिनः साकल्येनाभिसम्बन्धोऽभिव्याप्तिस्तस्यां गम्यमानायां भावे धातोरनञिन् इत्येतौ भवतः । समन्ताद्रावः संरवणं, सांराविणं, सङ्कुटनं, साङ्कौटिनम् । **"नित्यं ञिनोऽण्"** (७।३।५८) ञिन् इत्येतत्प्रत्ययान्तात्स्वार्थे नित्यमण् प्रत्ययो भवति, नित्यग्रहणान्महाविभाषा निवृत्ता । "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" इत्यतोऽप्राप्ते वचनम् ॥ १४ ॥

परः ॥ १५ ॥ (७।४।११८)

यः प्रत्ययः स प्रकृतेः पर एव भवति । अजा खट्वा । वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः । जुगुप्सते, मीमांसते । कार्यम्, भव्यम् । औपगवः ॥ १५ ॥

स्पर्द्धे ॥ १६ ॥ (७।४।११९)

द्वयोर्विध्योरन्यत्र सावकाशयोस्तुल्यबलयोरेकत्रानेकत्र चोपनिपातः स्पर्द्धः, तत्र यः सूत्रपाठे परः स विधिर्भवति । "शसोऽता सश्च नः पुंसि" (१।४।४९) इत्यस्यावकाशो वृक्षान्, मुनीन् । "नपुंसकस्य शिः" (१।४।५५) इत्यस्य तु महान्ति, यशांसि । इहोभयं प्राप्नोति—वनानि मधूनि, तत्र परत्वात् शिरेव भवति । अयं तावदेकस्य द्विकार्ययोगे स्पर्द्ध उक्तः ॥ **अनेक**स्याप्यसम्भवे सति भवति । "ईः षोमवरुणेऽग्नेः" (३।२।४२) इत्यस्यावकाशोऽग्नीवरुणौ । *"देवतानामात्वादौ" (७।४।२८) देवतार्थानां शब्दानामात्वादौ विषये ञ्णिति तद्धिते परे आदेः पूर्वपदस्य उत्तरपदस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्भवति इति वृद्धेरवकाशः । आग्नावैष्णवं हविः । इहोभयं प्राप्नोति—आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत । परत्वाद्वृद्धिर्भवति । अत्र ह्यग्नेरीत्वं वरुणशब्दस्य वृद्धिरिति च नैको द्विकार्ययुक्तः । असम्भवस्त्वस्ति वृद्धौ सत्यां "इर्वृद्धिमत्यविष्णौ" (३।२।४३) इति अग्नेरीत्वापवाद इर्भवति । परस्परप्रतिबन्धेनाप्रवृत्तौ पर्यायेण वा प्रवृत्तौ वचनम् ॥ १६ ॥

आसन्नः ॥ १७ ॥ (७।४।१२०)

इह आसन्नानासन्नप्रसङ्गे यथास्वं स्थानार्थप्रमाणादिभिरासन्न एव विधिर्भवति । तत्र **स्थानेन** दण्डाग्रम्, क्षुपाग्रम् कण्ठ्ययोरकारयोः कण्ठ्य एवाकारो दीर्घो भवति । **अर्थेन**, वातण्ड्ययुवतिः । दारदवृन्दारिका अत्र वतण्डीशब्दस्य दरच्छशब्दस्य च "पुंवत्कर्मधारये" (३।२।५७) इति पुंवद्भावे कर्त्तव्ये अर्थत आसन्नो वातण्ड्यभावो दारदभावश्च भवति, तथाहि *"वतण्डात्" (६।१।४५) वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे यञेव भवति—वातण्ड्यः । *"स्त्रियां लुप्" (६।१।४६) वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्य-

विशेषे स्त्रियां यञो लुप् भवति—वतण्डस्यापत्यं वृद्धं स्त्री आङ्गिरसी वतण्डी, अस्य पुंवद्भावे वातण्ड्ययुवतिरिति भवति । दरदां राजा, दरदोऽपत्यं वा "पुरुमगधकलिङ्गसूरमसद्विस्वरादण्" (६।१।११६) दारदः "द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः" (६।१।१२३) इति स्त्रियामस्य लुक् दरत्, अस्य पुंवद्भावे दारदवृन्दारिकेति । प्रमाणेन अमुष्मै, अमूभ्याम्, "मादुवर्णोऽनु" (२।१।४७) इति मात्रिकस्य मात्रिको द्विमात्रस्य द्विमात्रः ॥ १७ ॥

सम्बन्धिनां सम्बन्धे ॥ १८ ॥ (७।४।१२१)

सम्बन्धिशब्दानां यत्कार्यमुक्तं तत्सम्बन्ध एव सति भवति नान्यथा । 'श्वशुराद्यः' (६।१।९१) श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । संज्ञाशब्दात्तु इञेव—श्वाशुरिः । "मातृपितुः स्वसुः" (२।३।१८) मातृष्वसा, धान्यमातुः स्वसुस्तु न भवति—मातृस्वसा ॥ १८ ॥

समर्थः पदविधिः ॥ १९ ॥ (७।४।१२२)

समर्थपदाश्रयत्वात्समर्थः, पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः, तेन यः पदाद्विधिः, यश्च पदे, यश्च पदस्य, पदयोः, पदानां वा स सर्वः पदविधिरेव । सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः, समर्थानां पदानां विधिर्वेदितव्य इत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यं व्यपेक्षा, एकार्थीभावश्च, अत्र व्यपेक्षायाः सम्बद्धार्थः सम्प्रेक्षितार्थो वा पदविधिः साधुर्भवति । तत्र सम्बद्धोऽर्थो यत्र झटित्येव पदानामन्वयः प्रतीयते यथा राज्ञः पुरुषः इत्यादौ । सम्प्रेक्षितः कष्टकल्पनया प्रतीतो यथा—"राजोत्पले हरिभुजामिह केशवस्य, यस्योरसीन्दुरदनं च जटाकलापे । शङ्खाम्बरोऽपि पवनादरिनाथसूनुः कान्ता स वोऽगतनया विपुलं ददातु ॥ १ ॥" हरिभुजां वायुभुजां शेषाऽहिर्यस्योरसि, यस्य जटाकलापे इन्दुः उत्पले निर्मांसे शवस्य के मस्तके अदनं भक्षणं, यस्य अगतनया कान्ता, स खाऽम्बरोऽपि विपुलं शं ददातु, स किंविशिष्टः ? पवनादः सर्पस्तस्यारिः केकी तस्य नाथः षण्मुखः स सूनुर्यस्येति सम्प्रेक्षितपदविधेरुदाहरणम् । एकार्थीभावे तु विग्रहवाक्यार्थाऽभिधाने यः शक्तः सङ्गतार्थः संसृष्टार्थो वा पदविधिः स साधुर्भवति । अत्र च पदानि उपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानात् व्यर्थान्यर्थान्तराभिधायीनि वा भवन्ति ॥ **पदविधिश्च समासनामधातुकृत्तद्धितोपपदविभक्तियुष्मदस्मदादेशप्लुतरूपो भवति** । तत्र **समासः**, द्वितीया "श्रितादिभिः" (३।१।६२) धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । "तृतीया तत्कृतैः" (३।१।६५) शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः, । "चतुर्थी प्रकृत्या" (३।१।७०) यूपाय दारु, यूपदारु । "पञ्चमी भयाद्यैः" (३।१।७३) वृकाद्भयं वृकभयम् । "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" (३।१।७६) राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । "सप्तमी शौण्डाद्यैः" (३।१।८८) अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः । "विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च" (३।१।९६) नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलम् । एषु पूर्वोत्तरपदयोर्वाक्यावस्थायां परस्पराकाङ्क्षालक्षणा व्यपेक्षा, वृत्त्यवस्थायां तु पृथगर्थानां सतामेकार्थीभाव इति । तथाहि—धर्ममित्येतत्साधनत्वात्साध्यभूतां क्रियामपेक्षते । श्रित इत्येतदपि श्रयणक्रियोपसर्जनकर्तृवाचि स्वक्रियाविषयं साधनमपेक्षते । तयोश्च परस्परसंसर्गात् मूर्च्छितावयव इव वृत्तावेकार्थीभावो भवति । धर्मं श्रितो धर्मश्रितश्चैत्र इति । एवं शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः । कर्तृकर्मणोर्गम्यमानभवतिकरोतिक्रियाकृता वाक्ये व्यपेक्षा, वृत्तावेकार्थीभावः । एवं चतुर्थीसमासादावपि यूपायेत्यादि सामान्यमवच्छेदाय भेदानाकाङ्क्षति । [किं यूपाय गच्छत्यागच्छति पुष्पं दारु वेति । दार्वपि यूपाय गृहाय दाहाय वेति भेदानाकाङ्क्षति] एवं सर्वत्रोपसर्जनानां प्रधानानां च परस्परमाकाङ्क्षावतां क्वचित्प्रकृतिविकारभावलक्षणः क्वचिदवध्यवधिमद्भावात्मकः क्वचित्स्वस्वामिभावः क्वचिद्विषयविषयिभावरूपः सम्बन्धो वाक्ये व्यपेक्षा,

वृत्तौ त्वेकार्थीभावः । एवं नीलमित्येतद्विशेषणं गुणत्वाद् द्रव्यमाकाङ्क्षति । उत्पलमित्येतदपि सर्वोत्पलावग्रहरूपेण प्रवृत्तं सद् विशेषणं गुणमाकाङ्क्षति । वृत्तौ पुनरेकार्थीभावेन पांसूदकवदविभागापन्नौ तावुभावप्यर्थावेकस्मिन्नधिकरणे मूर्च्छिताविव भवतः । नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलमिति । तदेवं सामर्थ्यमविशेषोक्तमपि लोकव्यपेक्षया वृत्त्यवृत्त्योः स्वभावेन विभक्तमवतिष्ठते । यत्र त्वसामर्थ्यं तत्र समासो न भवति । यथा पश्य धर्मं श्रितो मैत्रो गुरुकुलम् । किं ते शष्कुलया खण्डो मैत्र उपलेन । गच्छ यूपाय दारु शोभनं शैले । निवर्त्तस्व व्याघ्रात् भयं चैत्रस्य मैत्रात् । भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य । सक्तस्त्वमक्षेषु शौण्डः पिबति पानागारे ॥ **नामधातुः**, पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । श्येन इवाचरति श्येनायते । समर्थ इति किम्? पश्यति पुत्रमिच्छति सुखम् । **कृत्**, कुम्भं करोति कुम्भकारः । समर्थ इति किम्? पश्य कुम्भं करोति कटम् । **तद्धितः**, उपगोरपत्यं औपगवः । समर्थ इति किम्? गृहं उपगोरपत्यं तव । **उपपदविभक्तिः**, नमो देवेभ्यः । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । उपाध्यायश्चेदागच्छेदाशंसे युक्तोऽधीयीय । समर्थ इति किम्? इदं नमो देवाः शृणुत । देवदत्त मातरं स्मरसि । अवसाम दीर्घं मगधेषु । **युष्मदादेशः**, धर्मस्ते स्वं धर्मो मे स्वम् । धर्मो वः स्वं धर्मो नः स्वम् । समर्थ इति किम्? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यति । **प्लुतः**, अङ्ग कूज ३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । समर्थ इति किम्, अङ्ग कूजत्ययमिदानीं ज्ञास्यसि जाल्मः ॥

पदग्रहणाद्वर्णविधिरसामर्थ्येऽपि—तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन तिष्ठतु कुमारीच्छत्रं हर देवदत्तेति यत्वं द्वित्वं च भवति । एवं समासनामधातुकृत्तद्धितेषु वाक्ये व्यपेक्षा वृत्तावेकार्थीभावः शेषेषु पुनर्व्यपेक्षैव सामर्थ्यं भवति । **ननु** च राज्ञः पुरुषमानयेत्युक्ते योऽर्थ आनीयते राजपुरुषमानयेत्यप्युक्ते स एव तत् कोऽत्र व्यपेक्षैकार्थीभावयोर्विशेषः? **उच्यते**—सङ्ख्याविशेषो १ व्यक्ताभिधानम् २ उपसर्जनविशेषणं ३ चयोगश्चेति ४ । तत्र राज्ञः पुरुषः, राज्ञोः पुरुषः, राज्ञां पुरुष इति वाक्ये सङ्ख्याविशेषो भवति समासे न भवति राजपुरुषः इति । वाक्ये ह्युपसर्जनानि विभक्तार्थाभिधायित्वात् सङ्ख्याविशेषयुक्तं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति । समासे त्वन्तर्भूतस्वार्थं प्रधानार्थमभिदधतीत्यभेदैकत्वसङ्ख्यां गमयन्ति । सङ्ख्याविशेषाणामविशेषेणावस्थानमभेदैकत्वसङ्ख्या ।

"यथौषधरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः ।
अविभागेन वर्त्तन्ते तां सङ्ख्यां तादृशीं विदुः ॥ १ ॥"

तामित्यभेदैकत्वसङ्ख्याम्, तादृशीमिति मध्वाहितशक्तिकौषधरससदृशीम् । विभक्तिवाच्यैव तु सङ्ख्या वृत्तौ निवर्त्तते नामादिगम्या तु न निवर्त्तते । यथा द्विपुत्रः, पञ्चपुत्र इत्यादौ नामार्थ एव सङ्ख्याविशेषः । तावकीनो, मामकीन इत्यादेशाभिव्यङ्ग्यमेकत्वम् । शौर्पिकः, मासजात इति परिमाणस्वाभाव्यादेकत्वसङ्ख्यावगमः । कारकमध्यं, व्यञ्जनमध्यमित्यादौ मध्यान्यथानुपपत्त्या द्वित्वावगमः । यत्रापि वृत्तौ विभक्तेर्लुब् नास्ति । दास्याः पुत्रः, देवानां प्रियः, आमुष्यायणः, अप्सव्यः, गोषुचरः, वर्षासुज, इति । तत्रापि सङ्ख्याविशेषो नास्ति सामान्येन विशेषणमात्रप्रतीतेः । अत एव वृत्तौ सङ्ख्याभेदाभावात् स्वभावनिवृत्ता विभक्तिः लुपा अन्वाख्यायते । अलुप्समासे तु शब्दान्तरं विभक्त्यन्तप्रतिरूपावयवमनेनोपायेन प्रतिपाद्यते । १ । तथा वाक्ये व्यक्ताभिधानं भवति—ब्राह्मणस्य कम्बलस्तिष्ठति । समासे पुनरव्यक्तं ब्राह्मणकम्बलस्तिष्ठतीति । सन्दिह्यते अत्र षष्ठीसमासो वा सम्बोधनं वेति । किञ्चित्पुनरव्यक्तं वाक्ये । यथार्द्धं पशोर्देवदत्तस्येति । पशुगुणस्य वा देवदत्तस्येति यदर्द्धं यो वा संज्ञीभूतः पशुस्तस्य यदर्द्धमिति वा । तत्र समासे व्यक्तं अर्द्धपशुर्देवदत्तस्येति । २ । तथा वाक्ये उपसर्जनविशेषणं भवति । ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः । समासे न भवति, राजपुरुषः । यथाहुः—"सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते" इति ।

विशेषणयोगे हि सापेक्षत्वेनागमकत्वादसामर्थ्यं भवति । यत्र च क्वचिद्विशेषणयोगेऽपि गमकत्वं तत्र भवत्येव समासः । यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्, यज्ञदत्तस्य दासभार्या ।

"सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः प्रवर्त्तते ।
स्वार्थवत्सा व्यपेक्षाऽस्य वृत्तावपि न हीयते ॥ १ ॥" ३ ।

तथा वाक्ये चयोगो भवति । स चयोगः स्वचयोगः स्वामिचयोगश्च । राज्ञो गौश्चाश्वश्च पुरुषश्च । चैत्रस्य मैत्रस्य मित्रस्य च गौः । समासे न भवति । राज्ञो गोऽश्वपुरुषाः चैत्रमैत्रमित्राणां गौरिति ।४।

यदि समर्थः पदविधिः कथमसामर्थ्ये सूर्यमपि न पश्यन्ति असूर्यंपश्या राजदाराः, न पुनर्गीयन्ते अपुनर्गेयाः श्लोकाः, श्राद्धं न भुङ्क्ते अश्राद्धभोजी, अलवणभोजी, सर्वैश्चर्मणा कृतः सार्वचर्मीणो रथः, कृतः पूर्वं कटोऽनेनेति कृतपूर्वी कटमित्याद्यावृत्तयो भवन्ति ? "किं हि वचनान्न भवति ?" गमकत्वान्न्य [इत्यनेनाऽसामर्थ्येऽपि बाहुलकात्समासो भवतीत्यर्थः] ॥ १९ ॥

इति वरपरिभाषापद्धतिं जानतः स्याद्
द्रुततरमनपायं शब्दशास्त्रप्रवेशः ।
न भवति परिभाषाज्ञानशून्यस्य लोके
व्यवहृतिपरिणद्धे कार्यजातेऽधिकारः ॥ १ ॥

**यां शिष्योऽद्भुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ पूर्ण (अयम्) श्रुतिसुख (करः) संज्ञाधिकारः सुखम् ॥ १ ॥**



अथ स्वरसन्धिरभिधीयते

अथेति–अथ संज्ञाकथनानन्तरं स्वराणां सन्धिः सन्धानं कथ्यते । स च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायात् क्रमोल्लङ्घने हेत्वभावाच्च अवर्णादिक्रमेणैवोच्यते ।

वृषभ अजितौ इति स्थिते

अत्र यद्यपि 'वृत्त्यन्तोऽसषे' इत्युत्तरपदस्य वृत्त्यन्तत्वेन पदत्वनिषेधात् "लुगस्यादेत्यऽपदे" इति पूर्वपदाकारस्य लुक् प्राप्नोति, तथापि 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् 'अपदे' इत्यत्रापदस्यैवादिरित्यवधारणान्न भवति, उत्तरपदस्यावृत्त्यवस्थायां पदत्वादिति । तत्र सूत्रम्—

समानानां तेन दीर्घः ॥ १ ॥ [सि० १।२।१]

समानानां तेन परेण समानेन सह दीर्घः स्यात् । द्वयोः स्थाने एको दीर्घः स्यादिति सहार्थः । "लोकात्" स्वरहीनं परेण संयोज्यम् । वृषभाजितौ । तव आयुः तवायुः । दधि इदम् दधीदम् । मधु उदकम् मधूदकम् । पितृ ऋषभः पितॄषभः । होतृ ॡकारः होतॄकारः ॥ १ ॥

समाना० । समान ६-३ "ह्रस्वापश्च" आमो नाम् "दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषः" इति दीर्घे समानानाम् । तद् ३-१ टा "आद्वेरः" इति दस्य अः "लुगस्यादेत्यऽपदे" इत्यकारलुक् "लोकात्" अकारसंयोगः "टाङसोरिनस्यौ" टाया इनः "अवर्णस्ये०" तेन । दीर्घ १-१ "सोरुः" "रः पदान्ते०" । "तौ मुमौ०" मोऽनुस्वारः, समानानां तेन दीर्घः । त्रिपदमिदं सूत्रम् ॥ सहार्थ इति, यत्र क्वापि सहशब्दप्रयोगस्तत्र सर्वत्रापि द्वयोः स्थानिनिमित्तयोः स्थाने एकं कार्यं स्यादिति परिभाषा ज्ञेया । **ननु** तेनेति सहार्थे तृतीयेति द्वयोर्दीर्घत्वं प्राप्नोति यथा पुत्रेण सह स्थूल इति, **नैवम्**, अत्र अजाक्षीरेण सहौषधं पिबेदितिवदेक एव दीर्घ इति । "**ननु** तेनेत्यत्र स्वेनेति क्रियतामेवमिवर्णादेरस्वे इत्यत्रास्वग्रहणं न कर्त्तव्यं स्यादित्यत्रोच्यते, दधिशीतमित्यत्र इकारशकारयोस्तालव्यत्वान्मतान्तरेण शकारस्यापि विवृतत्वाद्दीर्घः प्राप्नोतीति तेनेत्युक्तम्;" एतच्च लघुन्यासोक्तं नातिक्षोदक्षमं, स्वमते आस्यप्रयत्नभेदेन परमते च नाज्झलाविति वचनेन स्वसंज्ञाप्रतिषेधात् । **अत्र** च स्थानिनिमित्ताभ्यां चतुर्भङ्गी यथा द्वावपि ह्रस्वौ १ आद्यो ह्रस्वः परो दीर्घः २ आद्यो दीर्घः परो ह्रस्वः ३ द्वावपि दीर्घौ ४ । उदाहरणानि च वृषभाजितौ १ तवायुः २ श्रद्धात्र ३ मेधायुषी ४ । एवमिवर्णादिष्वपि चतुर्भङ्ग्या सर्वत्र सन्धिरुदाहार्य्यः । समानानामिति बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन ऋॡति ऋॡतोरपि "ऋॡति ह्रस्वो वा" इति सूत्रेण ह्रस्वः स्यात्, कृ ऋषभः होतृ ॡकारः, अन्यथा 'ॠस्तयोः' इति परत्वात् ॠरेव स्यादिति । अत्रायं विशेषः "**ॡत ॠॡ ॠॡभ्यां वा**" [सि० १।२।३] ॡतःस्थाने ऋता ॡता च सह यथासङ्ख्यं ॠॡ इत्येतद्वर्णद्वयं वा स्यात् [ॠ इति स्वरसमुदायो वा स्वरव्यञ्जनसमुदायो वा वर्णान्तरं वा] तच्च [ईषत्स्पृष्टकरणं] द्विरेफतुरीयमध्यर्द्धस्वरमात्रमित्येके, [संवृततरं] सकलरेफकारमर्द्धस्वरभक्तिकमित्यन्ये, द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे । ॡ इत्यत्र च रेफस्थाने लकारो ज्ञेयः । कॢ ऋकार इति स्थिते कॄकारः १ पक्षे 'ऋॡति ह्रस्वो वा' कॢ ऋकारः २ । पक्षे "**ॠस्तयोः**" [सि० १।२।५] तयोर्ॡकारऋकारयोः स्थाने ऋॡभ्यां सह ॠकारो द्विमात्रः स्यात् । कॄकारः ३ । ॡता, कॣकारः १ कॢ ॡकारः २ कॣकारः ३ । **ऋतो वा तौ च** [सि० १।२।४] एवं

ऋतः स्थाने ऋलृभ्यां सह यथासङ्ख्यं ऋ लृ वा स्यातां; परमयं विशेषः, पक्षे ऋतः स्थाने ऋकारेण सह ऋकारः, लृकारेण लृकारश्च वा स्यात् । ऋता, पितृ ऋषभ इति स्थिते पितॄषभः १ पितृषभः २ पितृ ऋषभः ३ 'ऋस्तयो'रिति पितृृषभः ४ । लृता होतृ लृकार इति स्थिते होत्लृकारः १ होतॄकारः २ होतृ लृकारः ३ होतृलृकारः ४ । एवं च लृकारस्य ऋलृभ्यां सह षट् रूपाणि ऋकारस्य चाष्टौ रूपाणि स्युरिति ॥ १ ॥ **अथ** अवर्णस्य इवर्णादिभिश्चतुर्भिः सह सन्धिमभिधत्ते—

अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥ २ ॥ [सि० १।२।६]

अवर्णस्य इवर्ण उवर्ण ऋवर्ण लृवर्णैः सह एत् ओत् अर् अल् इत्येते आदेशाः स्युः । ॐयथासङ्ख्यमनुदेशः समसङ्ख्याकानाम् । तव इदं तवेदम् । गङ्गा उदकं गङ्गोदकम् । महा ऋषिः 'जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्द्ध्वगमनम्' महर्षिः । तव लृकारः तवल्कारः ॥ २ ॥

अवर्ण ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" ङसः स्यः, इवर्ण आदिर्यस्य स इवर्णादिस्तेन ३-१ आ "टः पुंसि ना"; एच्च ओच्च अर् च अल् च एदोदरल् १-१ "अनतो लुप्" । अनेनैव सूत्रेण एत्वे "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः" इति ऐत्वे च अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् । त्रिपदमिदं सूत्रम् । **ननु** स्वस्मिन् स्वक्रिया नोपपद्यते, निपत्स्यमानं च सूत्रं कार्यं नोत्पादयेदिति चेदुच्यते—"आत्मानं भासयन्नेव प्रदीपोऽन्यं प्रकाशयेत् । उदेष्यन्नपि मार्त्तण्डः पराभवति तामसम् ॥ १ ॥" इति । **यदि** 'सुशिक्षितोऽपि नटः स्वस्कन्धं नारोहति' इति न्यायात् स्वस्मिन् स्वस्य क्रिया न भवति, अनुत्पन्नेन च कार्यकरणेऽतिप्रसङ्ग इति मतं तदा "लोकात्" इति सूत्रेण सर्वं सिद्ध्यतीति । ॐ'यथासङ्ख्यमिति न्यायः, सङ्ख्याया अनतिक्रमेण यथासङ्ख्यं तच्च कचित् 'स्थानिकार्ययोः' यथा "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्" इत्यत्र, कचिच्च 'निमित्तकार्ययोः' यथात्र सूत्रे, ततश्च प्रथमेन निमित्तेन सह प्रथमं कार्यं द्वितीयेन सह द्वितीयमित्यादि; एवं च अवर्णस्य इवर्णेन सह एत्, उवर्णेन सह ओत्, ऋवर्णेन सह अर्, लृवर्णेन सह अल् भवतीति भावः ॥ २॥ अथात्रापवादसूत्रमाह—

ऋणे प्र[1]द[2]श[3]ार्ण[4]वसन[5]कम्बल[6]वत्सर[7]वत्सतरस्यार् ॥ ३ ॥ [सि० १।२।७]

प्रादीनां सप्तानामवर्णस्य ऋणे परे ऋता सहार् स्यात् । प्र ऋणं प्रार्णम् । ऋण ऋणं ऋणार्णम् ॥ ३ ॥

ऋणे० । ऋण ७-१ "अवर्णस्येवर्णादि०" प्रश्च दश च ऋणं च वसनं च कम्बलश्च वत्सरश्च वत्सतरश्च प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सरवत्सतरं तस्य इति । प्रदश० ६-१ "टाङसो०" । आर् १-१ "दीर्घङ्याब्०" सिलुक् । "नाम्नो नोऽनह्नः" इति दशन्शब्दस्य नलोपः अनेन सूत्रेणार् । अयमरं बाधते । 'येन प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यैव बाधकः' सचापवादो बहुधा भवति, कचित् स्थानिविशेषात्, कचिन्निमित्तविशेषात्, कचिदुभयविशेषात्, कचिदर्थान्तरविशेषाच्च । तत्रास्मिन् सूत्रे स्थानिनिमित्तोभयविशेषादपवादः, तथैवाह प्रादीनामिति—प्रगतं, प्रकृष्टं वा ऋणं प्रार्णम् १-१ । दशानां ऋणं दशार्णम् १-१ । ऋणस्य अवयवतया सम्बन्धि ऋणं ऋणे ऋणं वा ऋणार्णम् १-१ । वसनानां वस्त्राणां ऋणं वसनार्णम् १-१ । कम्बलस्य ऋणं कम्बलार्णम् १-१ । वत्सरस्य वर्षस्य ऋणं वत्सरार्णम् १-१ । ह्रस्वो वत्सो वत्सतरः "वत्सोक्षाश्वर्षभाद् ह्रासे पित्" इति तरट् पित्प्रत्ययः 'दम्यवत्सतरौ समौ' इति नाममालायां, वत्सतरस्य ऋणं वत्सतरार्णम् १-१ । सर्वत्रानेन सूत्रेण अरपवाद आर् "अतःस्यमोऽम्" इति सेरम् "समानादमोऽतः" इत्यकारलुप् । समानानामिति बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वेनोक्तत्वादिहोत्तरत्र पूर्वत्र च "ऋलृति ह्रस्वो वा" इति सूत्रेण

ह्रस्वोऽपि भवति ह्रस्वविधानसामर्थ्यादसन्धिश्च, मह ऋषि, प्र ऋणं, दश ऋणमित्यादि ॥ ३ ॥ अत्रैव निमित्तविशेषादर्थविशेषाच्च अपवादमाह–सूत्रम्

ऋते तृतीयासमासे ॥ ४ ॥ [सि० १।२।८]

अवर्णस्य ऋते परे तृतीयासमासे ऋता सहार् स्यात् । शीत ऋतः शीतार्तः इत्यादि ॥ ४ ॥

ऋत ७-१ "अवर्णस्ये०" ए । तृतीयया समासः तस्मिन् तृतीयासमासे ७-१ । द्विपदं सूत्रम् । शीतेन ऋतः "कारकं कृता" इति सूत्रेण तृतीयातत्पुरुषसमासः, अनेन आर् शीतार्तः, ह्रस्वोऽपि भवति शीत ऋत इति । तृतीयासमास इति किम्? परमश्चासौ ऋतश्च परमर्त्त इत्यत्र कर्मधारयसमासे शीतेनर्त्त इत्यत्र वाक्ये च "अवर्णस्ये०" इत्यादिना अरेव । मूले इत्यादिग्रहणाच्च **"ऋत्यारुपसर्गस्य"** [सि० १।२।९] उपसर्गस्थस्यावर्णस्य ऋकारादौ धातौ परे ऋता सह आर् स्यात् । प्रार्च्छति, परार्च्छति । **"नाम्नि वा"** [सि० १।२।१०] **"लृत्याल्वा"** [सि० १।२।११] ऋकारादौ लृकारादौ च नामधातौ परे उपसर्गस्थस्यावर्णस्य आर् आल् च वा स्यात् । प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति । उपाल्कारीयति उपल्कारीयति इत्यादि बोध्यम् ॥ ४ ॥ अथ अवर्णस्य सन्ध्यक्षरैः सह सन्धिमाह । सूत्रम्—

ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः ॥ ५ ॥ [सि० १।२।१२]

अवर्णस्य सन्ध्यक्षरैः परैः सह ऐ औ स्याताम् । तव एषा तवैषा । महा ऐश्वर्यम् महैश्वर्यम् । तव ओदनः तवौदनः । तव औपगवः तवौपगवः ॥ ५ ॥

ऐदौ० । ऐच्च औच्च ऐदौत् १-२ सूत्रत्वाद्विभक्तिलोपः, सन्ध्यक्षर ३-३ "भिस ऐस्" अनेनैव च सूत्रेण ऐत्वे "सोरुः" "रः पदान्ते०" सन्ध्यक्षरैः । द्विपदमिदं सूत्रम् । युष्मद् ६-१ "तव मम ङसा" तव । एतद् १-१ "आद्वेरः" द अ "लुगस्यादेत्यपदे" इत्यकारलोपः 'लोकादि'त्यकारयोगे "तः सौ सः" इति तस्य सत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति सस्य षत्वे, आप्, "दीर्घङ्याब्०" इति सेर्लुप् एषा, अनेन ऐत्वे तवैषा । 'ईशिक् ऐश्वर्ये' ईश् ईष्टे "स्थेशभासपिसकसो वरः" इति वरप्रत्यये ईश्वरः, ईश्वरस्य भावः कर्म वा "पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च" इति ध्यण्प्रत्यये "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" इति स्वरवृद्धौ "अवर्णस्य०" इत्यल्लोपे ऐश्वर्यं, महच्च तदैश्वर्यं च "सन्महत्परमोत्कृष्टपूजायाम्" इति कर्मधारये "जातीयैकार्थेऽच्वेः" इति डाप्रत्यये अनेन ऐत्वे महैश्वर्यम् । युष्मद् ६-१ तव । ओदनः १-१ "सोरुः" "रः पदान्ते०", अनेन औत्वे तवौदनः । उप समीपे गावो यस्य "गोश्चान्ते०" इति ह्रस्वे उपगुः उपगोरपत्यं "ङसोऽपत्ये" इत्यण् "अस्वयम्भुवोऽव्" इत्युकारस्य अवादेशे "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" इति वृद्धौ औपगवः अनेन औत्वे तवौपगवः ॥ ५ ॥ तथात्र निमित्तविशेषादपवादमाह—

वौष्ठौतौ समासे ॥ ६ ॥ [सि० १।२।१७]

ओष्ठौत्वोः परयोः समासेऽवर्णस्य लुग्वा स्यात् । बिम्बोष्ठी । बिम्बौष्ठी । स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । *क्वचिदन्यत्राप्येदोतोः परयोरवर्णस्य लुग्वाच्या । अद्य ओम् अद्योम् । इह एव तिष्ठ इहेव तिष्ठ । ×क्वचिदवर्णस्येत्रर्णोवर्णाभ्यां सहैत्वौत्वे वाच्ये । स्व ईरः स्वैरः । स्व ईरिणी स्वैरिणी । अक्ष ऊहिणी अक्षौहिणी । प्र ऊढः प्रौढः ॥ ६ ॥

वौष्ठौ० । वा १-१ "अव्ययस्य" इति सिलुक् ओष्ठश्च ओतुश्च ओष्ठौतुः तस्मिन् ओष्ठौतु ७-१ "ङिड्डौ" "डित्यन्त्यस्वरादेः" इत्युकारलोपः, समाहारद्वन्द्वेऽपि सूत्रत्वान्न क्लीबत्वं "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इति न्यायात् सूत्रेषु बाहुलकविधिर्भवतीति । "ऐदौत् सन्ध्यक्षरै"रित्यौत्वं वौष्ठौतौ समास ७-१ "अवर्णस्ये०"

वौष्ठौतौ समासे । त्रिपदं सूत्रम् । बिम्बमिव ओष्ठौ यस्याः "उष्ट्रमुखादयः" इति बहुव्रीहौ अनेन अलोपे बिम्बोष्ठ इति स्थिते "नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाङ्गगात्रकण्ठात्" इति ङ्यां बिम्बोष्ठी, पक्षे "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः" इत्यौत्वे बिम्बौष्ठी । स्थूलश्चासौ ओतुश्च अनेन अकारलोपे स्थूलोतुः । समास इति किम्? हे पुत्रौष्ठं पश्य, अत्र "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैरि"त्यौत्वमेव । अत्र सङ्क्षेपमाह—※क्वचिदन्यत्रापीति स्पष्टम् । इदम् ७-१ अस्मिन्नहनि अद्य "सद्योऽद्यपरेद्यव्यह्नि" इति सूत्रेण निपात्यते "अधण्तस्वाद्याशसः" इत्यव्ययसंज्ञा । अत्र सूत्रपद्धतिः—**"ओमाङि"** [सि० १।२।१८] ओमि आङादेशे च परे अवर्णस्य लुक् स्यात् । अद्येत्यादि अद्य १-१ "अव्यय०" सिलुप् ओम् १-१ "अव्ययस्य" सिलुप् अनेन अकारलोपे अद्योम्, एवं आङादेशे ओंकारे परेऽपि अलुक् वा स्याद् यथा आ ऊढा ओढा, अद्य ओढा अद्योढा, सा ऊढा सोढा । इहेव तिष्ठेति इदम् ७-१ अस्मिन्निह "क्कुत्रात्रेह" इति निपातः **"अनियोगे लुगेवे"** [सि० १।२।१६] अनवधारणेऽर्थे एवे परे अवर्णस्य लुग् भवति यथा इहेव तिष्ठ अन्यत्र वा गच्छ यथेच्छं कुर्वित्यत्रानवधारणं प्रतीयते, अवधारणे तु इहैव तिष्ठ मा गाः इत्यत्र "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैरि"त्येव भवति । **"उपसर्गस्यानिणेधेदोति"** [सि० १।२।१९] उपसर्गस्थस्यावर्णस्य इणेधिवर्जैकारादौ ओकारादौ च धातुपरे लुक् स्यात् । प्रपरा 'इलण् प्रेरणे' "चुरादिभ्यो णिच्" इ "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणे तिव् शव् "नामिनो०" । "एदैतोऽयाय्" । अनेन अवर्णलोपः प्रेलयति, परेलयति । इणेधिवर्जनात् उपैति उपैधते । अत्रावर्णलोपो न भवति "ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः" इत्येव भवति । तथा **वा नाम्नि** [सि० १।२।२०] नामावयवे एदादावोदादौ च धातौ परे उपसर्गस्थस्यावर्णस्य लुप् वा स्यात् । उपेकीयति, उपैकीयति, प्रोषधीयति, प्रौषधीयति ।

अथात्र विशेषमाह ×क्वचिदित्यादि—**"प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण"** [सि० १।२।१४] प्रावर्णस्यैषादिषु परेषु परेण स्वरेण ऐ औ स्याताम् । प्रैषः प्रैष्यः "उपसर्गस्यानिणेधेदोति" इति सूत्रस्यापवादोऽयम् । नन्वेषैष्ययोर्घञ्ध्यण्यन्तयोर्धातुत्वाभावात्कथमुपसर्गस्यानिणेधिति सूत्रप्राप्तिः । नैवं क्विबन्तवदन्यप्रत्ययान्तानामपि धातुत्वस्य ज्ञापितत्वात् । तथोक्तं श्रीसूरिभिः "क्रुकमी"ति सूत्रवृत्तौ, "इह क्रुकम्योः केवलयोः समासो न भवतीति प्रत्ययान्तयोर्ग्रहणम् । अथ क्विबन्ता धातुत्वं न जहति इति क्विबन्तयोरेव कस्मान्न भवति "गतिकारकस्य" इत्यादिसूत्रे क्विब्ग्रहणात् । नह्यन्यप्रत्ययान्तानां धातूत्तरपदानामग्रहणे क्विब्ग्रहणमर्थवद्भवति" इति । **"स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम्"** [सि० १।२।१५] इति । एवं प्रौढः प्रौढिः प्रौहः "अवर्णस्येवर्णादिनै०" इति सूत्रस्यापवादोऽयम् ॥ ६ ॥ अथ इवर्णादीनां सन्धिमाह—

दधि अत्र इति स्थिते

इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम् ॥७॥ [सि० १।२।२१]

इ उ ऋ ऌ वर्णानामस्वे स्वरे परे यवरलाः स्युः । दध् य् अत्र इति तावद्भवति ॥ ७ ॥

इवर्णादे० । इवर्ण आदिर्यस्य स इवर्णादिस्तस्य इवर्णादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" इति रत्वे इवर्णादेर्, न स्वः अस्वः तस्मिन् अस्वे ७-१, स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" एत्वं, यश्च वश्च रश्च लश्च "चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ"इति समाहारद्वन्द्वे क्लीबत्वमेकत्वं च यवरल १-१ "अतः स्यमोऽम्" सेरम् "समानादमोऽतः" इत्यकारलुप् । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । ननु अस्वे इति किमर्थं न च दधीदमित्यादौ यत्वादिप्रसङ्गवारणाय "समानानां तेन दीर्घः" इत्यनेन तस्य बाधितत्वात्, एवं तर्हि "ह्रस्वोऽपदे वा" इत्यनन्तरसूत्रेऽनुवर्तनीयत्वादिह स्पष्टतायै गृहीतमिति । स्वर इति ※"सप्तम्या पूर्वस्य" सप्तम्या निर्दिष्टे यत्कार्यं तत्पूर्वस्याव्यवहितस्य स्यात् । अत्रापि ह्रस्वदीर्घाभ्यां स्थानिनिमित्ताभ्यां प्राग्वच्चतुर्भङ्गी

ज्ञेया । दधि १-१ "अनतो लुप्" इति सिलुप् अत्र १-१ "अव्ययस्य" इति सिलुप् अनेन यत्वं दध् य अत्रेति ॥ ७ ॥ अथात्र कार्यान्तरमाह—सूत्रम्

अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने ॥ ८ ॥ [सि० १।३।३२]

अदीर्घात्स्वरात्परस्य रहस्वरवर्जितस्य वर्णस्य विरामे असंयुक्तव्यञ्जने च परेऽनु द्वित्वं वा स्यात्। इति धस्य वा द्वित्वम् ॥ ८ ॥

अदीर्घा० । न दीर्घः अदीर्घः "नञत्" नस्य अः तस्मात् अदीर्घ ५-१ "ङेङस्योर्यातौ" । एकं च तत् व्यञ्जनं च एकव्यञ्जनं "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम्" इति कर्मधारयः, विरामश्च एकव्यञ्जनं च विरामैकव्यञ्जनं तस्मिन् विरामैकव्यञ्जन ७-१ "अवर्णस्य०" । मध्ये "धुटस्तृतीयः" इति दत्वम् । द्विपदमिदं सूत्रम् । अत्र धस्य द्वित्वे कर्त्तव्ये वर्णविधित्वात् "स्थानीवावर्णविधौ" इति यस्य स्थानिवद्भावो न स्यात्, "स्वरस्य परे प्राग्विधौ" इत्यनेनापि परनिमित्तकस्य स्वरादेशस्य यस्य स्थानिवद्भावो न स्यात्, "न सन्धिङीयक्विद्विदीर्घासद्विधावस्कलुकि" इति निषेधात् । तत्रापि सन्धिग्रहणेनैव सिद्धे पृथग् द्वित्वग्रहणं "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इत्यस्य बाधनार्थं, ततोऽनेन सूत्रेण धकारस्य द्वित्वे दध् ध् य अत्र इति भवति । नन्वत्र "पदस्य" इति सूत्रेण संयोगान्तस्य यस्य लोपः कुतो न इत्यत्रोच्यते "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति न्यायात् अन्तरङ्गे यलोपे क्रियमाणे बहिरङ्गयत्वं असिद्धं भवतीति । रहस्वरवर्जनात् वर्या वह्यं तितउः इत्यत्र रेफादीनां द्वित्वं न स्यात् । विरामे द्वित्वं यथा—त्वक्क् त्वक् त्वग्ग् त्वग् षट्ट् षट् तत्त् तत् षड्ड् षड् । एकव्यञ्जने परे—दद्ध्यत्र दध्यत्र, पत्थ्यदनं पथ्यदनम्, मद्ध्वत्र मध्वत्र, पित्त्रर्थः पित्रर्थः, त्वङ्ङ्मधुरा, त्वङ्मधुरा, त्वङ्ङ्करोषि, त्वङ्करोषि, सँय्य्यतः सँय्यतः, उरᳵᳵ कः उरᳵ कः, उरᳶᳶ पः उरᳶपः, उरःः कः उरः कः । अदीर्घात्स्वरादित्युक्तेः प्लुतस्वरादपि द्वित्वं भवति । गो३त्त्रात गो३त्रात नौ३त्त्रात नौ३त्रात । अन्वित्यधिकारात् कत्वगत्वादिषु कृतेषु पश्चाद्द्वित्वम् । अदीर्घादिति किम्? वाक् भवान् सूत्रं पात्रं नेत्रम् । मतान्तरेण दीर्घस्वरादपि द्वित्वं धात्त्रंशः । विरामैकव्यञ्जने इति किम्? इन्द्रः चन्द्रः कृत्स्नं दधि । संयुक्तव्यञ्जनेऽपि इच्छन्त्येके इन्न्द्रः राष्ट्र्रम् ॥ ८ ॥ पुनरपि कार्यान्तरमाह । सूत्रम्—

तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ॥ ९ ॥ [सि० १।३।४९]

तृतीये चतुर्थे च परे धुटस्तृतीयः स्यात् । 'एकवर्गीया मिथः स्वा' इति पूर्वधकारस्य दकारः दद्ध्यत्र दध्यत्र । मधु-अत्र मद्ध्वत्र मध्वत्र । पितृ-अर्थः पित्त्रर्थः पित्रर्थः । लृ-इत् लित् । इवर्णादेरित्यत्र पञ्चमीव्याख्याने दधियत्र, मधुवत्रेत्यादि । गौरी अत्रेत्यत्र गौर् य् अत्रेति जाते अदीर्घाद्विरामेतिसूत्राप्राप्तेर्न रेफस्य द्वित्वं किन्तु ॥ ९ ॥

तृतीयश्च चतुर्थश्च "चार्थे द्वन्द्व०" इति समासः । तृतीयचतुर्थ ७-१ "अवर्णस्ये०" । "चटते सद्वितीये" इति रस्य सत्वम् । द्विपदं सूत्रम् । तृतीये चतुर्थे च परे इति—वर्गसम्बन्धिनि तृतीये चतुर्थे च परे स्ववर्गसम्बन्धी धुटस्तृतीयः स्यादित्यर्थः । पञ्चमीव्याख्याने इति "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्" इति सूत्रे यथा षष्ठीव्याख्याने अस्वे स्वरे परे इवर्णादीनां यवरला भवन्ति तथा पञ्चमीव्याख्याने अस्वे स्वरे परे इवर्णादिभ्यः परे यवरला भवन्ति आगच्छन्तीत्यर्थः । तथा **द्व्याश्रयमहाकाव्ये** प्रयोगः "रजतं चारु ईक्षित्वा हारि अत्र च काञ्चनम् । दधियेतन्मधुवेतत्कुमारी एवमूहते" ॥ १ ॥ **सिद्धान्तस्तवे**ऽपि—"ज्ञातैर्मृगापुत्रसुबाहुवादिभिः" इत्यादि । दद्ध्यत्रेत्यत्र **"ततोऽस्याः"** [सि०

१।३।३४] ततो ध्रुवर्जवर्गात्परस्या अस्या अन्तस्थाया द्वे रूपे स्यातामिति यकारस्य द्वित्वं वा। केषाञ्चिन्मते संयुक्तव्यञ्जने परेऽपि द्वित्वमिति पुनर्द्धस्य द्वित्वे त्रिधं रूपं एवं च एकधं एकयं १ एकधं द्वियं २ द्विधं एकयं ३ द्विधं द्वियं ४ त्रिधं एकयं ५ त्रिधं द्वियं ६ यागमे दधि यत्रेति रूपं ७ "न सन्धिः" इति असन्धौ दधि अत्रेति ८ अइउवर्णस्येति इकारस्य सानुनासिकत्वे दधिँ अत्रेति एवं नवरूपाणि एकतानि, अत्रेत्यत्र तद्द्वित्वे द्वितानि नव । पुनस्तद्द्वित्वे त्रितानि नव । एवं सप्तविंशतिः । अन्तस्थाकारस्यानुनासिकत्वे पुनः सप्तविंशतिरिति चतुःपञ्चाशत् । एवं मद्ध्वत्रेत्यत्रापि चतुःपञ्चाशद्रूपाणि । यानि तु **"धुटो धुटि स्वे वा"** [सि० १।३।४८] व्यञ्जनात्परस्य धुटो धुटि स्वे परे लुग्वा स्यादिति विकल्पेन धकारलोपे तथा **"व्यञ्जनात्पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा"** [सि० १।३।४७] व्यञ्जनात्परस्य पञ्चमस्यान्तस्थायाश्च सरूपे वर्णे परे लुप् वा स्यादिति विकल्पेन यलोपे रूपाणि भवन्ति तानि तु पूर्वोक्तरूपेभ्यो रूपतो न भिद्यन्ते इति पृथक् न दर्शितानि स्वयं ज्ञेयानि । अदीर्घाद्विरामेति सूत्राप्राप्तेरिति–गौर् य् अत्रेत्यत्र औकारस्य दीर्घस्वरत्वात् तत्र ह्रस्वस्वरवर्जनाच्च "अदीर्घाद्विरामे०" इति सूत्रं न प्राप्नोति–रेफस्य द्वित्वं न स्यादित्यर्थः । किं तर्हि स्यादित्याह–किन्त्विवति ॥ ९ ॥ सूत्रम्—

र्हाद्र्हस्वरस्यानु नवा ॥ १० ॥ [सि० १।३।३१]

स्वरात्पराभ्यां रहाभ्यां परस्य रहस्वरवर्जस्य वर्णस्याऽनु द्वित्वं वा स्यादिति यकारस्य वा द्वित्वम् । गौर्य्यत्र गौर्यत्र । नहि–अत्र नह्य्यत्र नह्यत्र ॥ १० ॥

र्हा० । र् च ह्श्च र्ह तस्मात् र्ह ५-१ "ङेङस्योर्यातौ" र्हात् । र् च ह्श्च स्वरश्च र्हस्वरं न र्हस्वरं अर्हस्वरम् "नञत्" नस्य अः अर्हस्वर ६-१ । अनु १-१ । नवा १-१ । "अव्ययस्य" । नवा इत्यखण्डमव्ययं वा इत्यस्यार्थे, परं यत्र वाशब्दप्रयोगस्तत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे विकल्पः प्रवर्त्तते यथा "ह्रस्वोऽपदे वा" इति सूत्रे, यत्र च नवाशब्दप्रयोगस्तत्र बहुषु सूत्रेषु विकल्पोऽनुवर्त्तते यथा "सौ नवेतौ" इत्यनयोर्विशेषः । चतुःपदमिदं सूत्रम् । स्वरात्पराभ्यां रहाभ्यामिति अदीर्घाद्दीर्घाच्च स्वरात्पराभ्यां रकारहकाराभ्यां परस्य रहस्वरवर्जस्य वर्णस्य द्वित्वं वा स्यादिति । दीर्घस्वरात्परस्य रेफस्योदाहरणं गौर्य्यत्र २ इति, अदीर्घस्वरात्परस्य स्वर्य्याति २ इति । अदीर्घस्वरात्परस्य हकारस्योदाहरणं नह्य्यत्र २, दीर्घस्वरात्परस्य स्नेह्य्यत्र २ इति । रहस्वरवर्जनात् पद्मह्रदः अर्हः करः–रेफहकाराकाराणां द्वित्वं न भवति । स्वरादिति किम् ? अभ्र्यते । अन्विति पश्चात्कार्यान्तरेभ्यो यथा प्रोर्णुनाव अन्यथा प्रोर्नु इत्यत्र पूर्वमेव अनेन सूत्रेण नकारस्य द्वित्वे ततो "द्विर्धातु०" इति द्वित्वे प्रोर्णुन्नावेति स्यात् । गौर्य्यत्रेत्यत्र यद्वित्वे १ तदभावे २ यकारागमे ३ "ह्रस्वोऽपदे वा" इति ह्रस्वे ४ "न सन्धिः" इत्यसन्धौ ५ इकारस्यानुनासिकत्वे च ६ षड्रूपाणि एकतानि । एवं प्राग्वत् द्वितानि ६ । त्रितानि ६ । एवमष्टादश । अन्तिमस्याकारस्यानुनासिकत्वेऽप्यष्टादशेति षट्त्रिंशत् । ह्रस्वेऽकारस्याप्यनुनासिकचिन्तने षड्रूपाधिक्ये द्विचत्वारिंशत् रूपाणीति । अत्रेदं ज्ञेयम्–**"न रात्स्वरे"** [सि० १।३।३७] स्वरात्परस्य शिटः स्वरे परे द्वे रूपे न स्याताम् । दर्शनं वर्षति वृस्या इदं वार्षम् । **"पुत्रस्यादिनपुत्रादिन्याक्रोशे"** [सि० १।३।३८] आदिनि पुत्रादिनि च परे आक्रोशे गम्यमाने पुत्रशब्दस्थतकारस्य द्वित्वं न स्यात् । पुत्रादिनी त्वमसि पापे । पुत्रपुत्रादिनी भव । आक्रोश इति किम् ? पुत्रादिनी शिशुमारी पुत्त्रादिनीति वा । पुत्रपुत्रादिनी नागी पुत्रपुत्त्रादिनीति वा । नायमाक्रोशः किन्तु स्वभावाख्यानं तेन "अदीर्घाद्विराम०" इति विकल्प एव ॥ १० ॥ सूत्रम्—

एदैतोऽयाय् ॥ ११ ॥ [सि० १।२।२३]

एकारैकारयोः स्वरे परे अयायौ स्याताम् । ने अनं नयनम् । नै अकः नायकः ॥ ११ ॥

एदै० । एच्च ऐच्च एदैत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" अय् च आय् च अयाय् १-१ "दीर्घङ्याब्०"। मध्ये "अतोऽति रोरुः" अवर्णस्य "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" एदैतोऽयाय् । द्विपदं सूत्रम् । 'णींग् प्रापणे' णी, "पाठे धात्वादेर्णो नः" नीयतेऽनेनेति "करणाधारे" इति अनट्प्रत्यये "नामिनो गुणोऽक्ङिति" इति गुणे ने अन इति स्थिते अनेन अयादेशे नयन १-१ "अतः स्यमोऽम्" "समानादमोतः" नयनम् । प्राग्वत् नीधातुः नयतीति "णकतृचौ" इति णकप्रत्ययः, अक्, "नामिनोऽकलिहलेः" इति वृद्धौ नै अक इति स्थिते अनेन आयादेशे नायकः ॥ ११ ॥ सूत्रम्—

ओदौतोऽवाव् ॥ १२ ॥ [सि० १।२।२४]

ओकारौकारयोः स्वरे परे अवावौ स्याताम् । लो–अनं लवनम् । लौ–अकः लावकः । ❀पदान्तेऽयायवावां य्वोः स्वरे परे लुग् वाच्या लुकि सत्यामसन्धिश्च । ते-आगताः त आगताः तयागताः । तस्मै इदं तस्मा इदं तस्मायिदम् । पटो इह पट इह पटविह । वृक्षौ इह वृक्षा इह वृक्षाविह ॥१२॥

ओदौ० । ओच्च औच्च ओदौत् ६-१ अव् च आव् च् अवाव् १-१ "दीर्घङ्या०" । द्विपद० । 'लूग्श् छेदने' लूधातुः लूयते अनेनेति "करणाधारे" इत्यनट्प्रत्ययः "नामिनो०" इति गुणे लो-अन इति स्थिते अनेन अवादेशे लवन १-१ "अतः स्यमो०" "समानादमोऽतः" । 'लूग्श् छेदने' लुनातीति "णकतृचौ" "नामिनोऽकलिहलेः" इति वृद्धौ लौ अक इति स्थिते अनेन आव् लावक १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । प्रसङ्गात् अयादीनां कार्यविशेषमाह❀पदान्त इति फक्किका–पदान्तस्थानां अय् आय् अव् आव् एषां चतुर्णां यकारवकारयोः स्वरे परे [**स्वरे वा** सि० १।३।२४ इति सूत्रेण] लुग् वा भवतीत्यर्थः । पक्षे "**अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा**" [सि० १।३।२५] अवर्णात्परयोर्वययोरुञ्वर्जे स्वरे परे अस्पष्टावीषत्स्पष्टतरौ वयौ वा स्याताम् । पट इह पटविह, उञि परे तु नित्यं पटवु असावु इत्यादि । पदान्त इति किम् ? नायकः इत्यत्र यलोपो न भवति ॥ १२ ॥ सूत्रम्—

स्वरे वाऽनक्षे ॥ १३ ॥ [सि० १।२।२९]

गोशब्दसम्बन्धिन ओकारस्याक्षशब्दवर्जस्वरे परे अव इत्यकारान्त आदेशो वा स्यात् । गो ईशः गवेशः । गवीशः । ❀इन्द्रे परे संज्ञायां च नित्यम् । गवेन्द्रः । गवाक्षः ॥ १३ ॥

स्वरे० । स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । वा १-१ अव्ययम् । न अक्षः "अन् स्वरे" इति नञो अनादेशे अनक्षस्तस्मिन् अनक्ष ७-१ "अवर्णस्ये०" । त्रिपद० । गो ६-३ गवामीश १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" इति षष्ठीतत्पुरुषः । गो ईश इति स्थिते अनेन अव इत्यादेशे "अवर्णस्ये०" एत्वे गवेशः । पक्षे "ओदौतोऽवाव्" इत्यवादेशे गवीशः इति । अक्षशब्दवर्जे इति किम् ? गोऽक्षम् । गोशब्दसम्बन्धिन ओकारस्येति किम् ? चित्रग्वर्थः । अत्र अपवादमाह❀ इन्द्रे परे संज्ञायां च नित्यमिति–["**इन्द्रे**" सि० १।२।३० ॥ तथा "**गोर्नाम्न्यवोऽक्षे**" सि० १।२।२८ ॥ इत्याभ्याम्] अयं भावः–इन्द्रशब्दे परे गोशब्दसम्बन्धिन ओकारस्य नित्यमवादेशः, यथा गोरिन्द्रः प्राग्वत्तत्पुरुषे विभक्तिलोपे गो इन्द्र इति स्थिते अनेन अवादेशे गवेन्द्रः । अक्षशब्दे परे च संज्ञायामेव अवादेशो भवति नान्यत्र, गोः अक्षीव अक्षि गोरक्षि षष्ठीतत्पुरुषे विभक्तिलोपे अक्षेडो "अप्राण्यङ्गे" इत्यत्समासान्ते "अवर्णेऽवर्णस्य" इत्यकारलोपे गो अक्ष इति स्थिते संज्ञायां नित्यमवादेशे गवाक्षः वातायन इत्यर्थः । संज्ञायामिति किम् ? गोऽक्षाणि इत्यत्र "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" इत्यकारलुक् ॥१३॥ अयादेशस्य अवादेशस्य च अपवादमाह–सूत्रम्—

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ॥ १४ ॥ [सि० १।२।२७]

पदान्तस्थाभ्यामेदोद्भ्यां परस्याकारस्य लुक् स्यात् । तेऽत्र । पटोऽत्र । पदान्त इत्येव । ने-अनं नयनम् ।

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां स्वरसन्धिः समाप्तः ।

एदो० । एच्च ओच्च एदोत्, तस्मात् एदोत्, ५-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मिन् पदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०"।अ ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" । लुक् १-१ "दीर्घङ्या०" अनेनैव अकारलोपे एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्। चतुःपदं सूत्रम्। *"पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य" पञ्चम्यानिर्दिष्टे यत्कार्यं तत्परस्याव्यवहितस्य स्यात् । तद् १-३ "आद्वेरः" "लुगस्यादेत्यऽपदे" "जस इः" "अवर्णस्ये०" ते। इदम् ७-१ "कुत्रात्रेह" इति निपातः । ते अत्र इति स्थिते अनेन अकारलोपे तेऽत्र। पटु १-१ "ह्रस्वस्य गुणः" पटो अत्र इति स्थिते अनेन अकारलोपे पटोऽत्र । नयनमिति ने अनमिति स्थिते पदान्ताभावादनेन अकारलोपो न भवति ततः "एदैतोऽयाय्" इत्ययादेशः

यां शिष्योऽद्भुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ द्राक् स्वरसन्धिरेष सुकृतः पूर्णः क्रमेणाद्भुतः ॥ १ ॥



अथेति स्वरसन्धिकथनानन्तरं स्वरसन्धेरेव अपवादरूपोऽसन्धिः प्रकृतिभावः । सूत्रम्—

प्लुतोऽनितौ ॥ १ ॥ [सि० १।२।३२]

इतिवर्जे स्वरे परे प्लुतः सन्धिभाग् न स्यात् । चैत्र ३ अत्र न्वसि । इतौ तु सुश्लोकेति॥ १॥

प्लुतः १-१ "सो रुः" न इति अनिति तस्मिन् अनिति ७-१ "ङित्यन्त्यस्वरादेः"। द्विपदमिदं सूत्रम्। चैत्र १-१ "अदेतः स्यमोर्लुक्" इति सम्बोधनसेर्लुक्। "दूरादामन्त्र्यस्य०" इति प्लुतसंज्ञा। प्लुतस्य त्रिमात्रत्वात् प्लुतसूचकस्त्रिकः सर्वत्र ज्ञेयः चैत्र ३ । अत्र १-१ "अव्ययस्य" अनु१-१ "अव्ययस्य" 'असक् भुवि' अस्धातुः वर्त्तमानासिव् "अस्तेः सिहस्त्वेति" इति सकारलुप् असि । "समानानां तेन०" इति दीर्घे प्राप्ते अनेन सूत्रेण सन्धिनिषेधो भवतीत्यर्थः । इतिवर्जनात् इतिपरे सन्धिर्भवति यथा शोभनः श्लोकः कीर्त्तिः शोभनाः श्लोकाः पद्यानि वा यस्य स सुश्लोकस्तस्य सम्बोधनं हे सुश्लोक ३ । अग्रे "अवर्णस्ये०" इति सुश्लोकेति ॥ १ ॥ अत्र विशेषमाह । सूत्रम्—

इ ३ वा ॥ २ ॥ [सि० १।२।३३]

इः प्लुतः सन्धिं वा नैति । लुनीहि ३ इति । लुनीहीति ॥ २ ॥

इ १-१ सूत्रत्वात् सिलोपः। वा १-१ । द्विपदमिदं सूत्रम् । 'लूग्श् च्छेदने' लू, पञ्चमीहि "क्र्यादेः" इति श्ना "प्वादेर्ह्रस्वः" । "एषामीर्व्यञ्जनेऽदः" इतीत्वे "सम्मत्यसूया०" इत्यादिना प्लुतत्वे लुनीहि ३ इति । पक्षे "समानानां०" दीर्घः ॥ २ ॥ सूत्रम्—

ईदूदेद्द्विवचनम् ॥ ३ ॥ [सि० १।२।३४]

एते त्रयो द्विवचनान्ताः सन्धिं नाप्नुवन्ति । मुनी इह । साधू एतौ । माले इमे । पचेते इति ॥३॥

ईदू० । ईच्च ऊच्च एच्च ईदूदेत् १-१ "अनतो लुप्" द्वावर्थौ वक्तीति द्विवचनं "रम्यादिभ्यः कर्त्तरि" इति अनट्प्रत्ययः १-१ "अतः स्यमोऽम्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । मुनी १-२ "इदुतोऽस्त्रेरीदूत्" मुनी इह । साधु १-२ "इदुतो०" साधू एतौ । माला १-२ "औता" माले इमे । 'डुपचींष् पाके' पच् वर्त्तमानाआते "कर्तर्यनद्भ्यः शव्" अ. "आतामाते आथामाथे आदिः" इ, पचेते इति । *"विशेषणमन्तः" अभेदेनोक्तोऽवयवो विशेषणं तद् विशेष्यस्य समुदायस्यान्तः स्यात् । ततो द्विवचनान्तमीदूदेत् सन्धिं न प्राप्नोतीति ईदूदेतो विशेष्यत्वे द्विवचनस्य विशेषणत्वे माले इत्यत्र प्राप्नोति न तु पचेते इत्यत्र, ईदूदेदन्तं द्विवचनं सन्धिं न प्राप्नोतीति द्विवचनस्य विशेष्यत्वे ईदूदेतो विशेषणत्वे पचेते इत्यत्र प्राप्नोति न तु माले इत्यत्र, उभयोर्विशेषणत्वे समुदायस्य विशेष्यत्वे न कोऽपि दोष इत्याह–ई ऊ ए इत्येवमन्तं द्विवचनान्तमिति । नन्वेवं कुमार्योरगारं कुमार्यगारमित्यत्राप्यसन्धिः प्राप्नोति कुमारी इत्यस्य ईदाद्यन्तत्वात्प्रत्ययलक्षणेन द्विवचनान्तत्वाच्च मैवम् अत्र सन्ध्यधिकारे प्रत्ययलक्षणानाश्रयणात् । भाष्येऽप्येवमयं पक्षः समर्थितोऽस्तीति ज्ञेयम् । द्विवचनान्तमिति स्यादित्यादिविभक्तिद्विवचनान्तमिति ज्ञेयम् । यत्तु केचित् "मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते [प्रियौ वत्सतरौ मम"] इत्यादिप्रयोगदर्शनान्मणीवादिगणवर्जमसन्धिरिति वदन्तो मणीव, दम्पतीव, रोदसीवेत्यादिषु सन्धिं मन्यन्ते तदपरे न सहन्ते, "मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषा" इति दर्शनात्पूर्वोक्तप्रयोगस्य च वशब्देनैवोपमार्थेन सिद्धत्वाच्च । यत्तु नैषधीये "स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद् विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया । निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विरेजतुः ॥ १ ॥" इति । तत्रापि वशब्द एवौपम्ये । **तथोक्तमनेकार्थे**–"वः पश्चिमदिगीशे स्यादौपम्ये पुनरव्ययम्" इति । प्रयोगेऽपि "शात्रवं व पपुर्यशः" इति कालिदासः । अन्यत्रापि "कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि" इत्यादि ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

अदो मुमी ॥ ४ ॥ [सि० १।२।३५]

अदस्सम्बन्धिनौ मुमी सन्धिं नाप्नुतः । अमुमु ईचा । अमी अश्वाः ॥ ४ ॥

अदो० । मुश्च मीश्च मुमी अदसो मुमी अदो मुमी १-२ सूत्रत्वात् औलोपः । एकपदमिदं सूत्रम् । अदस् १-१ 'अञ्चू गतौ च' अञ्च्धातुः अमुमञ्चति इति क्विप् "अञ्चोऽनर्चायाम्" इति नलोपे अदस् अच् इति स्थिते **"सर्वादिविष्वग्देवाड्डद्रिः क्वयञ्चौ"** (३।२।१२२) क्विबन्तेऽञ्चौ परे एभ्यो डद्रिः स्यादिति अदस्परो डद्रिः प्रत्ययः । "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "डित्यन्त्यस्वरादेः" इति अच्लोपे अदद्रि अच् इति स्थिते । **"वाद्रौ"** (२।१।४६) अदसोऽद्रावन्ते दोम्वा स्यात् । तत्र मतचतुष्टयं तथाहुः–"परतः केचिदिच्छन्ति केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति केचिदिच्छन्ति नोभयोः" ॥१॥ इति द्वितीयदकारस्य मत्वे * "मादुवर्णोऽनु" (२।१।४७) अदसो मः परस्य वर्णस्य उवर्णः स्यात् इति रकारस्य उत्वे अदमु इ अच् इति स्थिते "इवर्णादे०" इकारस्य यत्वे अदमुयच् इति जाते १-१ "अचः" नुमागमः "पदस्य" इति लोपे "युजञ्चकुञ्चो नो ङः" इति नकारस्य ङकारः ततः अदमुयङ् इति सिद्धं पूर्वदकारस्य मत्वे तत्सम्बन्धिनः अकारस्य उत्वे अमुद्र्यङ् उभयोर्दकारयोर्मत्वे अमुमुयङ् उभयोरपि मत्वाभावे अदद्र्यङ् एवं सर्वत्र रूपचतुष्टयं भवति । ततश्च अदमु इ अच् ३-१ आ इति स्थिते "अच्च प्राग्दीर्घश्च" (२।१।१०४) इति सूत्रेण शसादौ स्वरे परे अचश्च् इत्यादेशः पूर्वस्वरस्य च दीर्घः ततस्तृतीयैकवचनेऽपि धातुरूपं स्यात् । अदमु ईचा १ अमुद्रीचा २ अमुमु ईचा ३ अदद्रीचा ४ ।

अत्र प्रथमतृतीयरूपयोः "इवर्णादेर०" इति वत्वे प्राप्ते अनेन असन्धिः स्यात्। अदस् १-३ "आद्वेरः" स अ "लुगस्यादेत्यऽपदे" "लोकात्" इत्यकारयोगे अद इति जाते "मोऽवर्णस्य" इति दस्य मः अम इति जाते "जस इः" "अवर्णस्ये०" अमे इति जाते "बहुष्वेरीः" एकारस्य ईः अमी अश्वाः १-३ "अत आः स्या०" अनेन असन्धिः ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

चादिः स्वरोऽनाङ् ॥ ५ ॥ [सि० १।२।३६]

आङ्वर्जश्चादिः स्वरः सन्धिं नैति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ । आ एवम् मन्यसे । अनाङिति किम् ? आ इहि एहि ॥ ५ ॥

चादि० । च आदिर्यस्य स चादि १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०", स्वर १-१ "सो रुः" र्, न आङ् अनाङ्, अनाङ् १-१ "दीर्घङ्या०" "अतोऽति रोरुः" "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" । त्रिपद-मिदं सूत्रम् । स्वराश्चादिष्वव्ययेषु पठ्यन्ते । अ १-१ "अव्ययस्य" अपपूर्वक 'इणक् गतौ' पञ्चमी-हि अपेहि अत्रानेन असन्धिः । इ १-१ "अव्ययस्य" इन्द्र २-१ "समानादमोऽतः" इन्द्रं 'दृशृं प्रेक्षणे' "श्रौतीत्यादिना" दृशः पश्यादेशः "अतः प्रत्ययाल्लुक्" हिलुप् पश्य । उ १-१ "अव्ययस्य" उत्पूर्वक 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' ष्ठाधातुः "षः सोष्ट्यै०" षः सः, निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव इति ठस्य थः स्था पञ्चमीहि श्रौतीत्यादिना तिष्ठादेशः "अतः प्रत्य०" उत्तिष्ठ । अ इति निर्भर्त्सने यथा अ अपेहि दूरीभव । इ इति सम्बोधने विस्मये वा । उ इति सम्बोधने रोषोक्तौ वा । आ एवम् १-१ "अव्ययस्य" 'बुधिं मनिंच् ज्ञाने' मन्, वर्त्तमाना "दिवादेः श्यः" मन्यसे । आङ्वर्जनात् आङः सन्धिः स्यात्, आङ् 'इण्क् गतौ' पञ्चमीहि "अवर्णस्ये०" एहि । उक्तं च "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्" ॥ १ ॥ क्रमेणोदाहरणानि आ ईषत् उत्तमः ओत्तमः, क्रियायोगे आ ईक्षसे एक्षसे । आ अमृतात् आमृतं मोक्षं मर्यादीकृत्य । आ इन्द्रतः ऐन्द्रतः इन्द्रमभिव्याप्येत्यर्थः । आ इति आक्षेपे, आ एवं किल मन्यसे इति वाक्ये, आ एवं जिनवचनमिति स्मरणे, अनयोरर्थयोरङित् अत्र सन्धिर्न भवति । मर्यादा च अभिविधिश्च तस्मिन् मर्यादाभिविधावित्यत्र नपुंसकत्वेऽपि लिङ्गानुशासनमनित्यमिति न नोऽन्तः ॥ ५ ॥ सूत्रम्

ओदन्तः ॥ ६ ॥ [सि० १।२।३७]

चादिः स्वरे सन्धिं न भजते । अहो अत्र ॥ ६ ॥

ओद० । ओत् अन्ते यस्य स ओदन्त १-१ "सो रुः" रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अत्र सूत्रस्यातिस्पष्टत्वात् सापेक्षं वृत्त्यंशमाह—चादिः स्वर इति, ततश्च सूत्रवृत्त्योः सङ्कलितयोरर्थव्यक्तिर्भवति, ओदन्तश्चादिः स्वरे सन्धिं न भजते इति । एवमन्यत्रापि सूत्रवृत्त्योः सङ्कलनेऽर्थव्यक्तिर्ज्ञेया । अहो १-१ अत्र १-१ "अव्ययस्य" अत्रायं विशेषः—**"ऊँ चोञ्"** [सि० १।२।३९] उञ् चादिरितौ परेऽसन्धिर्वा स्यात् असन्धौ च ऊँ दीर्घोऽनुनासिको वा स्यात् । उ इति ऊँ इति विति । **अञ्वर्गात् स्वरे वोऽसन्"** [सि० १।२।४०] ञकारवर्जवर्गेभ्यः पर उञ् स्वरे परे वकारो वा भवति सचासन् । क्रुङ्ङ्वास्ते क्रुङ्ङु आस्ते । किम्वावपनं किमु आवपनम् असत्वात् "ह्रस्वान् ङ्णनो द्वे" इति द्वित्वं भवति "तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ" इति न भवति—किम्वुष्णं किमु उ उष्णं, किम्विति किमूँ इति, किम्विति ॥ ६ ॥ सूत्रम्—

सौ नवेतौ ॥ ७ ॥ [सि० १।२।३८]

सिनिमित्त ओकार इतौ परे सन्धिं वा नैति । पटो-इति पटविति ४ ॥ ७ ॥

सौ न० । सि ७-१ "ङिडौं" "ङित्यन्त्यस्वरादेः" सौ । नवा १-१ "अव्ययस्य" । इति ७-१ "ङिडौं" "ङित्यन्त्य०" "अवर्णस्ये०" सौ नवेतौ । त्रिपदमिदं सूत्रम् । "आमन्त्र्ये" इति सूत्रेण प्रथमैकवचनं सिः । पटु १-१ "ह्रस्वस्य गुणः" पटो इति अनेन असन्धिः, पक्षे "ओदौतोऽवाव्" इत्यवादेशे पटविति, पक्षेऽस्पष्टो वकारः, पक्षे पदान्तेऽयायवावाम् इति वकारलोपे पट इति। रूपचतुष्टयसूचकश्चतुष्कः ॥ ७ ॥ सूत्रम्

वाऽत्यसन्धिः ॥ ८ ॥ [सि० १।२।३१]

गोरोकारस्याति परेऽसन्धिर्वा स्यात् । गो अग्रम् गवाग्रम् गोऽग्रम् ॥ ८ ॥

वाऽत्य० । वा १-१ "अव्ययस्य" । अत् ७-१ अति । न सन्धिः असन्धिः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "समानानां०" "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । गोरग्रम् "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" इति षष्ठीतत्पुरुषे गो अग्रं, पक्षे "स्वरे वाऽनक्षे" इति विकल्पेन अवादेशः गवाग्रम्, पक्षे "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" इति विकल्पद्वये त्रैरूप्यम् ॥ ८ ॥ सूत्रम्—

ऋलृति ह्रस्वो वा ॥ ९ ॥ [सि० १।२।२]

ऋति लृति च परे समानानां ह्रस्वो वा स्यात् । ह्रस्वविधानसामर्थ्यादसन्धिः । इदमेव ह्रस्वस्यापि ह्रस्वविधाने फलम् । बाल ऋश्यः । बालर्श्यः ॥ ९ ॥

ऋश्च लृश्च ऋलृस्तस्मिन् ऋलृत् ७-१ । ह्रस्व १-१ "सो रुः" । वा १-१ "अव्ययस्य" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" ऋलृति ह्रस्वो वा । त्रिपदमिदं सूत्रम् । ह्रस्वविधानसामर्थ्यादिति—यदि ह्रस्वं कृत्वापि सन्धिकरणमिष्टं स्यात्तदा ह्रस्वं किमर्थं कुर्यादिति ह्रस्वे कृते सन्धिर्न स्यादित्यर्थः । बालाया ऋश्यः बालऋश्य इति स्थिते अनेन ह्रस्वे असन्धौ च बाल ऋश्यः, पक्षे "अवर्णस्ये०" बालर्श्यः । एवं बालस्य ऋश्य इत्यत्र अनेन ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः, तत्फलं च असन्धिरेव । ऋश्यो मृगविशेषः ॥ ९ ॥ सूत्रम्—

ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १० ॥ [सि० १।२।२२]

इ उ ऋ लृ वर्णानामस्वे स्वरे परे ह्रस्वो वा स्यात् । न चेत्तौ निमित्तनिमित्तिनावेकत्रपदे स्याताम् । नदि एषा । मधु अत्र । एकपदे तु नद्यौ । * अ इ उ वर्णानां विरामेऽनुनासिको वा साँम साम । दधिँ दधि ॥ १० ॥

इति महोपाध्याय श्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां असन्धिः समाप्तः ।

ह्रस्वो० । ह्रस्व १-१ "सो रुः" न पदं अपदं तस्मिन् अपद ७-१ "अवर्णस्ये०" । "अतोऽतिरोरुः" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" वा १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । नदी एषा इति स्थिते अनेन ह्रस्वे असन्धौ च नदि एषा । नदी १-२ औ अत्र एकपदत्वात् असन्धिर्न स्यात् ततः "इवर्णादेर०" नद्यौ । * अ इ उवर्णानामिति अत्रेदमनुसन्धेयम् [अ इ उ वर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः सि० १।२।४१ इति सूत्रम्] "ईदूदेद्द्विवचनम्" इत्यादिसूत्रोक्तानामेषामनुनासिको न स्याद्यथा अग्नी अमी किमु ॥ १० ॥

यां शिष्योऽद्भुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ क्षिप्रमसन्धिरेष सुखकृत्पूर्णः प्रवीणप्रियः ॥ १ ॥



अथ व्यञ्जनसन्धिः

अथेति–असन्धिकथनानन्तरं व्यञ्जनानां सन्धिः कथ्यते इति शेषः ।

वाक्-मह इति स्थिते

धुटस्तृतीयः ॥ १ ॥ [सि० २।१।७६]

पदान्ते धुटां स्वस्तृतीयः स्यात् । वाग् मह इति भवति ॥ १ ॥

धुट० । धुट् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" र् । त्रयाणां सङ्ख्यापूरणः "त्रेस्तृ च" इति तीयप्रत्यये त्रिशब्दस्य तृ आदेशे च तृतीय १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०", "चटते सद्वितीये" इति रेफस्य सः । द्विपदमिदं सूत्रम् । ककारस्य स्वस्तृतीयो गकार इति गकारो भवति ॥ १ ॥ वाग्मह इति जाते कार्यान्तरमाह—सूत्रम्—

तृतीयस्य पञ्चमे ॥ २ ॥ [सि० १।३।१]

वेति पदान्त इति अनुनासिक इति चानुवर्त्तते । एवमन्यत्राप्यपेक्षितं पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयम् । पदान्तस्थस्य वर्गतृतीयस्य पञ्चमे परे स्वः पञ्चमो वा स्यात् । वाङ्महः वाग्महः ॥ २ ॥

तृतीय ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" । पञ्चम ७-१ "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । वेतीत्यादि–"सौ नवेतौ" इति सूत्रात् वा इत्यनुवर्त्तते, "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" इति सूत्रान् पदान्ते इत्यनुवर्त्तते, "विरामेऽनुनासिको वा" इत्यतोऽनुनासिक इत्यनुवर्त्तते । एवमन्यत्रापीति–यत्र यस्य पदस्यानुवर्त्तने एव कार्यसिद्धिर्नान्यथा तत्र तत्पदमपेक्षितम् । अनुनासिकशब्देन चात्र स्वस्ववर्गस्य पञ्चम एव लभ्यते तथैव स्पष्टत्वाय फलितमर्थं व्याचष्टे–स्वः पञ्चम इति । एवं वाग् ङवते वाङ्ङवते, वाग् ञकारः वाङ्ञकारः, ककुब् मण्डलं ककुम्मण्डलम् ॥ २ ॥ अत्र विशेषसूत्रम् ।

प्रत्यये च ॥ ३ ॥ [सि० १।३।२]

प्रत्ययस्थे पञ्चमे परे च नित्यम् । वाग्मयं वाङ्मयम् ॥ ३ ॥

प्रत्यय ७-१ "अवर्णस्ये०" । च १-१ "अव्ययस्य" । द्विपदमिदं सूत्रम् । प्रत्ययस्थे पञ्चमे च परे नित्यं स्वः पञ्चमः स्यादिति शेषः । चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः । वाच् ६-३ वाचां विकारः "एकस्वरान्मयट्" इति वाङ्मयम् । एवं "प्रायोऽतोर्द्वयसट् मात्रट्" इति मात्रट्प्रत्यये यावन्मात्रं तावन्मात्रमित्यादि ॥ ३ ॥ सूत्रम् ।

ततो हश्चतुर्थः ॥ ४ ॥ [सि० १।३।३]

पदान्तस्थात्तृतीयात्परस्य हस्य पूर्वतृतीयसवर्गश्चतुर्थो वा स्यात् । वाग्घरिः वाग् हरिः । तत् हितम् तद्धितम् तद् हितम् ॥ ४ ॥

ततो० । तद् ५-१ तस्मात्ततः "किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित्तस्" इति तसूप्रत्ययः, "ऐकार्थ्ये" इति पञ्चम्या लुप् "आद्वेरः" "लुगस्यादेत्यऽपदे" ततस् १-१ "अव्ययस्य" सिलुप् "सो रुः"। हः ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । चतुर्णां सङ्ख्यापूरणः "चतुरः" इति सूत्रेण थट्प्रत्ययः चतुर्थ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "चटते सद्वितीये" । "ततो हश्चतुर्थः" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । वाच् ७-१ वाचि हरिः सिंहः "सिंहाद्यैः पूजायाम्" इति सप्तमीतत्पुरुषे वाच् हरिः इति स्थिते "चजः कगम्" इति चस्य कत्वे "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे अनेन हस्य घः वाग्घरिः, वाग्हरिः । एवं च अच् हलौ अज्झलौ, षट् हलानि षड्ढलानि, तद् हितं तद्धितम्, ककुप् हासः ककुब्भासः ककुब् हासः ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याऽधुट्परे ॥ ५ ॥ [सि० १।३।८]

पदान्तस्थस्य प्रशान्वर्जशब्दसम्बन्धिनो नस्य चटतेषु सद्वितीयेष्वधुट्परेषु शषसा यथासङ्ख्यं स्युः । अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । भवांश्चारुः भवाँश्चारुः । भवांश्छेकः भवाँश्छेकः । भवांष्टङ्कः भवाँष्टङ्कः । भवांष्ठकारः भवाँष्ठकारः । भवांस्तनुः भवाँस्तनुः । भवांस्थुडति भवाँस्थुडति । प्रशान्वर्जनात् प्रशाञ्चरः । अधुडिति किम् ? भवान् त्सरुकः ॥ ५ ॥

नोऽप्र० । न् ६-१ न प्रशान् अप्रशान् तस्य अप्रशान् ६-१, उभयत्र "लोकात्" । "सो रुः" । अनुस्वारश्च अनुनासिकश्च अनुस्वारानुनासिक १-२ "ओदौ०" । च १-१ "अव्यय०" । पूर्व ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" । उभयत्र "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । धुट् परो यस्मात् स धुट्परः न धुट्परः अधुट्परः तस्मिन् अधुट्पर ७-१ "अवर्णस्ये०" "समानानां०" । षट्पदमिदं सूत्रम् । भवान् चारुः इति स्थिते नकारस्य शः पूर्वस्य अनुस्वारागमोऽनुनासिकादेशश्च एवं सर्वत्र । छेको विदग्धः । 'टकुण् बन्धने' टङ्कयतीति टङ्कः । ठकारः शून्यः । तनुः कृशः । 'स्थुडत् संवरणे' स्थुड् वर्त्तमानातिव् "तुदादेः शः" स्थुडति । प्रपूर्वकः 'शमू दमू च उपशमे' प्रशाम्यतीति प्रशान् क्विप् "अहन्पञ्चमस्य०" दीर्घः "मो नो म्वोश्च"। इति मकारस्य नकारः । प्रशान् चर इत्यत्र प्रशान्वर्जनान्नकारस्य शकारो न भवति, ततः "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य ञः प्रशाञ्चरः । त्सरुः खड्गमुष्टिः । त्सरौ कुशलः त्सरुकः "कोऽश्मादेः" इति कप्रत्ययः। अत्र तकारस्य धुट्परत्वात् पूर्वोक्तं कार्यं न स्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥ सूत्रम्—

द्विः कानः कानि सः ॥ ६ ॥ [सि० १।३।११]

द्विरुक्तस्य कानः कानि परे सः स्यात् । अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । कांस्कान् । काँस्कान् ।

द्विः० । द्वौ वारौ "द्वित्रिचतुरः सुच्" क्रियाविशेषणमिदम् "अनतो लुप्" । कान् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । कान् ७-१ । सः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । चतुःपदमिदं सूत्रम् । कान इति * "षष्ठ्यान्त्यस्य" षष्ठ्या निर्दिष्टे यत्कार्यं तदन्त्यस्य स्यादिति नकारस्य सत्वं भवति । किम् २-३ "किमः कस्तसादौ च" "शसोऽता०" "वीप्सायाम्" इति द्वित्वं कान् कान्, अनेन नस्य सः, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । सविधानात् सो रुर्न भवति । द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति तत्र प्रथमः प्रश्ने द्वितीयस्तु क्षेपे ॥ ६ ॥

नः शि ञ्च् ॥ ७ ॥ [सि० १।३।१९]

पदान्तस्थस्य नस्य शे परे ञ्च् वा स्यात् । भवाञ्च् शूरः भवान् शूरः । अश्व इत्येव- भवान् श्च्योतति ॥ ७ ॥

न् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। श् ७-१ "लोकात्"। ञ् १-१। त्रिपदमिदं सूत्रम्। भवान् शूर इत्यत्र नकारस्य ञ् आदेशे भवाञ् शूरः। अश्च इत्येवेति–सूत्रान्तरात् ["ङ्नः सः त्सोऽश्चः" सि० १।३।१८ इत्यस्मात्] अश्च इत्यनुवर्त्तनीयं तस्य चायमर्थः–श्चावयवे शकारे परे ञ्चादेशो न स्यात्ततः "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति ञत्वे भवाञ् श्च्योतति इति ॥ ७ ॥ अत्र कार्यान्तरमाह–सूत्रम्

प्रथमादधुटि शश्छः ॥ ८ ॥ [सि० १।३।४]

पदान्तस्थात्प्रथमात्परस्य शस्याऽधुटि परे छो वा स्यात्। भवाञ्छूरः भवाञ्च् शूरः इति विकल्पद्वये त्रैरूप्यम्। अधुटीति किम्? वाक् श्च्योतति ॥ ८ ॥

प्रथ०। प्रथम ५-१ "ङेङस्यो०" न धुट् अधुट् तस्मिन् अधुट् ७-१ "लोकात्"। श् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "चटते सद्वितीये" इति रस्य शः। छ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "धुटस्तृतीयः"। प्रथमादधुटि शश्छः। चतुष्पदमिदं सूत्रम्। अनेन शस्य छत्वे भवाञ् छूरः। पक्षे भवाञ् शूरः। उभयाभावे "तवर्ग०" इति नस्य ञत्वे भवाञ् शूरः। त्रैरूप्यमिति अनेन प्रकारेण यत्र क्वापि विकल्पद्वयं भवति तत्र रूपत्रयं भवतीत्यर्थः।

नत्वत्र रूपत्रयमेव तथाहि ञादेशे रूपमेकं १ ततः **"शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा"** [सि० १।३।५९] प्रथमस्य शिटि परे द्वितीयो वा स्यादिति चस्य छत्वे रूपमेकम्, एवमेते द्वे रूपे एकशकारे। ततश्च **"ततः शिटः"** [सि० १।३।३६] प्रथमद्वितीयाभ्यां परस्य शिटो द्वे रूपे वा स्यातामिति शकारस्य द्वित्वे द्विशकारे द्वे रूपे। "प्रथमादधुटि०" इति शस्य छत्वे रूपमेकं ञादेशाभावे रूपमेकम् एवं षट् रूपाणि। चकारान्तादेशविधानसामर्थ्यात् ञादेशे च "चजः कगम्" इति कत्वं न भवति। अधुटीति किमिति 'चुतृस्चुतृस्च्युतृ क्षरणे' स्च्युत् "सस्य शषौ" शः, वर्त्तमानातिव् "कर्तर्यनद्भ्यः शव्" "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणे श्च्योतति इति। अत्र शकारस्य धुट्परत्वात् छो न भवति ॥ ८ ॥ सूत्रम्

ङ्णोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ ९ ॥ [सि० १।३।१७]

पदान्ते। प्राङ्क् शेते। प्राङ्क् छेते। प्राङ् शेते। सुगण्ट् शेते। सुगण्ट् छेते। सुगण् शेते।

ङ् च ण् च ङ्णौ तयोः ङ्ण ६-२ ओस् "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। कश्च टश्च कटौ कट १-२ "ऐदौ०"। अन्त १-२ "ऐदौ०"। "ओदौतो०"। शिट् ७-१। नवा १-१ "अव्ययस्य"। पञ्चपदमिदं सूत्रम्। अत्र लाघवाय अपेक्षितं वृत्त्यंशमाह–पदान्ते इति, ततश्च सूत्रेण सह योगेऽर्थव्यक्तिर्भवति। तथाहि–पदान्तस्थयोः ङ्णोः शिटि परे कटावन्तौ वा स्यातामिति ङकारस्य कोऽन्तः, णकारस्य च टोऽन्तः। नवेत्यखण्डमव्ययं वार्थे। प्रपू० 'अञ्चू गतौ च' प्राञ्चतीति प्रान् क्विप् "अञ्चोऽनर्चायाम्" इति नलोपः "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "अचः" इति स्वरात्परो नोऽन्तः "दीर्घङ्या०" सिलोपः "पदस्य" चूलोपः "युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः" प्राङ्। 'शीङ् स्वप्ने' वर्त्तमानाते "शीङ एः शिति" शेते अनेन कोऽन्तः ततस्त्रैरूप्यम्, प्राच्यां शेते इत्यर्थः। सुपूर्वकः 'गणण् सङ्ख्याने' गण् चुरादिर्णिच् "त्र्यन्त्यस्वरादेः" इति णस्य अलोपः सुष्ठु गणयतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः सुगण् १-१ "दीर्घङ्या०", शेते प्राग्वत्, अनेन टोऽन्तः ततस्त्रैरूप्यम्। उभयत्र प्राग्वत् षाड्रूप्यमपि ॥ ९ ॥ सूत्रम्

तौ मुमो व्यञ्जने स्वौ ॥ १० ॥ [सि० १।३।१४]

मु इत्यागमस्य पदान्तस्थस्य च मस्य व्यञ्जने परे तस्यैव स्वावनुस्वारानुनासिकौ स्याताम्। चंक्रम्यते चङ्क्रम्यते। त्वम् चारुः त्वं श्चारुः त्वञ्चारुः। त्वं टकः त्वण्टकः?। कंयः कँय्यः। पुरो

व्यञ्जनाभावे तु नानुस्वारः–त्वम् । सम्राट् इति तु ["सम्राट्" सि० १।३।१६ इत्यनेन सूत्रेण] निपातः ॥ १० ॥

तौमु० । तद् १-२ "आद्वेरः" "लुगस्या०" "लोकात्" तौ । मुश्च म् च मुम् तस्य मुम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । व्यञ्जन ७-१ "अवर्णस्ये०" स्व १-२ "एदौत्सं०" । मु इत्यागमस्येति तस्य च उदाहरणं यथा 'क्रमू पादविक्षेपे' क्रम्धातुः कुटिलं क्राम्यति "गत्यर्थात् कुटिले यङ्" "सन्यङश्च" क्रक्र इति द्वित्वं "व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्" रकारस्य लुप् 'कङश्चञ्' इति कस्य चः "मुरतोऽनुनासिकस्य" इति पूर्वस्य मुरन्तः तस्य चानुस्वारः चंक्रम्यते । स्व इति च अनुनासिकस्यैव विशेषणं नत्वनुस्वारस्य असम्भवात् । ततश्च पक्षे स्वोऽनुनासिको भवति चङ्क्रम्यते । युष्मद् १-१ "त्वमहं सिना प्राक्चाकः" त्वम् चारुः ततो यथाक्रममनुस्वारानुनासिकौ । कमित्यव्ययं सुखादिषु कमस्यास्तीति कम्यः, "कंशंभ्यां युस्तियस्तुतवभम्" इति मत्वर्थीयो यप्रत्ययस्तस्य च सित्वात् "नामसिदय्०" इति पदसंज्ञा । ततः क्रमेणानुस्वारानुनासिकौ । एवं त्वं करोषि, त्वङ्करोषि । त्वं तनोषि त्वन्तनोषि । त्वं पचसि त्वम्पचसि । त्वं लोकः त्वँल्लोकः । कंवः कँव्वः । **"मनयवलपरे हे"** [सि० १।३।१५] एतत्परे हकारे परे मस्य अनुस्वारानुनासिकौ क्रमेण स्याताम् । किंह्मलयति किम्ह्मलयति । किंह्नुते किन्ह्नुते । किंह्यः किय्ँह्यः । किंह्वलयति किवँह्वलयति । किंह्लादयते किलँह्लादयते ॥ १० ॥ सूत्रम्

ह्रस्वान्ङणनो द्वे ॥ ११ ॥ [सि० १।३।२७]

ह्रस्वात्परेषां पदान्तस्थानां ङ्णनां स्वरे परे द्वित्वं स्यात् । कुङ्ङास्ते सुगण्णिह लिखन्नास्ते ॥११॥

ह्रस्व ५-१ "ङेङस्यो०" आत् "समानानां०" ह्रस्वात् । ङश्च णश्च नश्च ङणन् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" द्वि १-२ "आद्वेरः" द्व इति जाते "औरीः" "अवर्णस्ये०" । "धुटस्तृतीयः" "तृतीयस्य०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । 'क्रुंच् गतौ' क्रुंच् क्रुञ्चतीति क्रुञ्च् क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "दीर्घङ्या०" सिलोपः । "पदस्य" चलोपः "युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः" कुङ्, 'आसिक् उपवेशने' वर्त्त० ते आस्ते अनेन ङकारस्य द्वित्वम् । सुगण् प्राग्वत्, इह १-१ "अव्यय०" । 'लिखत् अक्षरविन्यासे' लिखतीति लिखन् "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" शतृप्रत्ययः "ऋदुदितः" इति नोऽन्तः "पदस्य" इति नलोपः लिखन्, आस्ते प्राग्वत्, अनेन द्वित्वम् । ह्रस्वादिति किम् ? भवानास्ते ॥ ११ ॥ सूत्रम्

स्वरेभ्यः ॥ १२ ॥ [सि० १।३।३०]

स्वरात्परस्य छस्य पदान्तेऽपदान्ते च द्वित्वं स्यात् । तव छत्रं तवच्छत्रम् ॥ १२ ॥

स्वर ५-३ "एद्बहुस्भोसि" एत्वं "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन पदान्ते इति निवृत्तम् । स्वरात्परस्य छस्य पदान्तेऽपदान्ते च द्वे रूपे भवतः । युष्मद् ६ १ "तव मम ङसा" तव छत्रं अनेन छकारस्य द्वित्वे तवछ्छत्रम् ॥ १२ ॥ इतिस्थिते कार्यान्तरमाह–सूत्रम्

अघोषे प्रथमोऽशिटः ॥ १३ ॥ [सि० १।३।५०]

अघोषे परे शिड्वर्जस्य धुटः स्वः प्रथमः स्यादित्याद्यछस्य चत्वे । तवच्छत्रम् । इच्छति ॥१३॥

अघोषे० । अघोष ७-१ । प्रथम १-१ "सो रुः" । न शिट् अशिट् तस्य अशिट् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "अतोऽति रोरुः" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । 'इषत् इच्छायाम्' इष् वर्त्तमानातिव् "तुदादेः शः" अप्रत्ययः "गमिषद्यमश्छः" षस्य छः अनेन छस्य द्वित्वं प्राग्वत् इच्छति ॥ १३ ॥ अत्र विशेषमाह–सूत्रम्

अनाङ्माङो दीर्घाद्वा छः ॥ १४ ॥ [सि० १।३।२८]

दीर्घाद् दीर्घस्थानीयाच्च प्लुतात् स्वरात्परश्छो द्विर्वा स्यात् । कन्याच्छत्रं कन्याछत्रम् । मुने ३ च्छत्रं मुने ३ छत्रम् । * आङ्माङ्भ्यां तु नित्यम् । आच्छाया । माच्छिदत् ॥ १४ ॥

अना० । आङ् च माङ् च आङ्माङ् न आङ्माङ् अनाङ्माङ् तस्मात् अनाङ्माङ् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "अन् स्वरे" । दीर्घ ५-१ "ङेङसोर्यातौ" दीर्घात् । वा १-१ "अव्यय०" छ् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये" "धुटस्तृतीयः" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । दीर्घस्थानीयाच्च प्लुतादिति "प्लुताद्वा" [सि० १।३।२९] इति सूत्रस्यार्थः सङ्गृहीतः । मुने ३, "दूरादामन्त्र्यस्य" इति प्लुतः । सूत्रे अनाङ्माङ् इति यदुक्तं तस्य सूत्रावयवस्य तात्पर्यं लाघवार्थं व्यावृत्तिमुखेनैवाह–*आङ्माङ्भ्यां तु नित्यमिति–आङ्माङ्भ्यां तु परस्य छस्य नित्यं द्वित्वं स्यादित्यर्थः । यथा आ ईषत् छाया १-१ "स्वरेभ्यः" इति सिद्धं नित्यं द्वित्वम्, माङ्पूर्वकः 'छिदूंपी द्वैधीकरणे' छिद् अद्यतनीदि "ऋदिच्छ्विस्तम्भू०" इति अङ्प्रत्ययः "स्वरेभ्यः" इति छस्य द्वित्वं "अघोषे०" छस्य चः "विरामे वा" दस्य तः "अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा" इति माङ्योगे अडागमाभावः, माच्छिदत् ॥ १४ ॥ सूत्रम्—

तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां योगे चटवर्गौ ॥ १५ ॥ [सि० १।३।६०]

तवर्गस्य शचवर्गयोगे चवर्गः षटवर्गयोगे टवर्गः स्यात् । तत् शास्त्रं तच् शास्त्रम् । तत् चारु, तच्चारु । पिष् तं पिष्टम् । तत् टकारः, तट्टकारः । ईड् ते ईट्टे ॥ १५ ॥

तवर्ग० । तवर्ग ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" तवर्गस्य । श च चवर्गश्च श्चवर्ग । ष च टवर्गश्च ष्टवर्ग, श्चवर्ग ष्टवर्ग च श्चवर्गष्टवर्गे ताभ्यां श्चवर्गष्टवर्गाभ्यां ३-२ "अत आः स्यादौ०" । योग ७-१ "अवर्णस्ये०" चश्च टश्च चटौ चटयोर्वर्गौ १-२ "ऐदौत्सन्ध्य०" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । तद् १-१ "अनतो लुप्" "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति तत्, शास्त्रम् १-१ अनेन तवर्गस्य चवर्गत्वं तत्रापि तकारस्य प्रथमश्चकारो यथासङ्ख्यन्यायात् । एवं स्वामिञ् जयेति तवर्गपञ्चमस्य नस्य चवर्गपञ्चमो ञः । अनेन वर्गग्रहणप्रयोजनं दर्शितम् । योगश्चात्र पूर्वतः परतो वा सम्बन्धः । तत्र पूर्वतः सम्बन्धं दर्शयति 'पिष्लंपी सञ्चूर्णने' पिष् पिष्यते स्म "क्तक्तवतू" अनेन क्तप्रत्यये पिष् त इति स्थिते अनेन तवर्गस्य टवर्गत्वं पिष्टम् । तत् टकार इति स्थिते अनेन टवर्गत्वम् । 'ईडिक् स्तुतौ' ईड् ते अनेन तस्य टत्वं "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति डस्य टः ॥ १५ ॥ सूत्रम्

सस्य शषौ ॥ १६ ॥ [सि० १।३।६१]

सकारस्य शचवर्गाभ्यां योगे शः षटवर्गाभ्यां च योगे षः स्यात् । वृस् चति वृश्चति । दोस् षु दोष्षु । पदान्तापदान्तयोरयं विधिः ॥ १६ ॥

सस्य० । स ६-१ "टाङसो०" शश्च षश्च शषौ । द्विपदमिदं सूत्रम् । 'ओव्रस्चौत् छेदने' व्रस्च वर्त्तमाना तिव् "तुदादेः शः" "ग्रहव्रश्च०" इति रकारस्य ऋकार वृस्च ति इति स्थिते अनेन सस्य शः । दोस् ७-३ सुप् "नामसिदय्व्यञ्जने" इति पदसंज्ञा "सो रुः" सस्य रः "शषसे०" रस्य सः । "नाम्यन्तस्था" इति सूत्रे शिड्नान्तरेऽपीति वचनात् सकारस्य व्यवधानेऽपि सस्य षत्वे दोस् षु इति स्थिते अनेन सस्य षः । "तवर्गस्य श्चवर्ग" इति "सस्य शषौ" इति सूत्रद्वयोक्तो विधिः पदान्तेऽपि अपदान्तेऽपि भवतीति ज्ञेयम् ॥ १६ ॥ सूत्रम्

न शात् ॥ १७ ॥ [सि० १।३।६२]

शात्परस्य तवर्गस्य चवर्गो न स्यात् । प्रश्नः ॥ १७ ॥

न १-१ "अव्ययस्य" । श ५-१ "ङेङस्योः०" । द्विपदमिदम् । 'प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्' प्रच्छयति "स्वपिरक्षियतिप्रच्छो नः" इति नप्रत्ययः "अनुनासिके च छ्वः शूट्" इति छस्य शः, प्रश् नः इति स्थिते "तवर्गस्य श्चवर्ग" इति प्राप्तं चवर्गत्वमनेन निषिध्यते ॥ १७ ॥ सूत्रम्—

पदान्ताट्टवर्गादनाम्नगरीनवतेः ॥ १८ ॥ [सि० १।३।६३]

पदान्तस्थाट्टवर्गात्परस्य तवर्गस्य टवर्गः सस्य च षो न स्यात् । षट् नयाः । षण्नयाः । षट्सु । नाम्नगरीनवतीनां तु स्यात्–षण्णाम् । षण्णगरी । षण्णवतिः ॥ १८ ॥

पदा० । पदस्यान्तः पदान्तः तस्मात् पदान्त ५-१ "ङेङस्यो०" टवर्ग ५-१ "ङेङस्यो०" । नाम् च नगरी च नवतिश्च नाम्नगरीनवतिः, न विद्यते नाम्नगरीनवतिर्यस्मिन् स अनाम्नगरीनवति ६-१ "ङित्यदिति" एत्वम् "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" "रः पदान्ते०" । "तवर्गस्य श्चवर्ग०" "धुटस्तृतीयः ।" पदान्ताट्टवर्गादनाम्नगरीनवतेः । त्रिपदमिदं सूत्रम् । षट् १-३ अवयवा अस्य "अवयवात्तयट्" षष् तय इति स्थिते "धुटस्तृतीयः" इति षड् "अघोषे०" षट्, नय १-३ "अत आः स्या०" "तवर्गस्य०" इति तकारस्य टत्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते । षष् १-३ "डतिष्णः०," नया १-३ "अत आः०" "धुटस्तृतीयः" इति षस्य डः "तृतीयस्य पञ्चमे" षण् नया इति । तवर्गेति प्राप्तं नकारस्य णत्वमनेन निषिध्यते । षष् ७-३ सु "नामसिद्०" इति पदसंज्ञा "धुटस्तृतीयः" इति षस्य डः "अघोषे प्रथमो०" डस्य टः "सस्य शषौ" इति प्राप्तं सकारस्य षत्वमनेन निषिध्यते । अनाम्नगरीनवतेरिति सूत्रावयवस्य तात्पर्यतालाघवाय व्यावृत्ति-मुखेनैवाह–नाम्नगरीनवतीनां तु स्यादिति, तवर्गस्य टवर्गत्वं स्यादित्यर्थः । षष् ६-३ "सङ्ख्यानां र्णाम्" इत्यामो नाम् "धुटस्तृतीयः" षस्य डः "तृतीयस्य पञ्चमे" डस्य णः "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य णः षण्णाम् । षण्णां नगरी षष् नगरी इति स्थिते "धुटस्तृतीयः" "तृतीयस्य०" "तवर्गस्य०" षण्णगरी । षड्भिरधिका नवतिः षष् नवतिरिति स्थिते "धुटस्तृ०" "तृती०" 'तवर्ग०' षण्णवतिः ॥ १८ ॥ सूत्रम्

षि तवर्गस्य ॥ १९ ॥ [सि० १।३।६४]

पदान्तस्थस्य तवर्गस्य षे परे टवर्गो न स्यात् । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः ॥ १९ ॥

षि० । ष् ७-१ "लोकात्" तवर्गस्य ६-१ "टाङसो०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । तीर्थ २-१ "समाना०," 'डुकृंग् करणे' कृ, तीर्थं करोतीति तीर्थकृत् क्विप् "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" इति तोऽन्तः "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "दीर्घङ्या०" "ङस्युक्तं कृता" इति तत्पुरुषसमासः "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलोपः तीर्थ-कृत् । षड्भिरधिका दश "एकादशषोडशषोडत्षोढाषड्ढा" इति षस्य उत्वे दस्य डत्वे षोडशन् इति सिद्धम् । षोडशानां सङ्ख्यापूरणः "सङ्ख्यापूरणे डट्" "डित्यन्त्यस्वरादेः" इति अन्लोपे षोडशः, तीर्थकृत् षोडशः इत्यत्र तवर्गस्य टवर्गमनेन निषिध्यते ॥ १९ ॥ सूत्रम्—

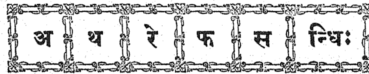
लि लौ ॥ २० ॥ [सि० १।३।६५]

पदान्तस्थस्य तवर्गस्य ले परे लौ स्याताम् । तत्र नकारस्य सानुनासिको लः शेषाणां निरनुना-सिकः । तद् लूनं तल्लूनम् । भवान् लिखति, भवाँल्लिखति ॥ २० ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां व्यञ्जनसन्धिः समाप्तः ।

लि० । लू ७-१ "लोकात्" लि । ल च ल च । लौ १-२ "स्यादावसङ्ख्येयः" एकलस्य लोपः । द्वयोर्लकारयोः प्रयोजनमाह–तत्र नकारस्य सानुनासिको ल इत्यादि । तद् १-१ "अनतो लुप्" 'लूगृश् छेदने' लू, लूयते स्म लूनं क्लीबे क्तः "ऋल्वादेरेषां तो०" इति तस्य नः । भवान् लिखति अनेन नकारस्य सानुनासिको लः । ननु नकारस्यानुनासिकत्वात् स्थान्यासन्नोऽनुनासिक एव लकारो भविष्यतीति किं लौ इत्यत्र द्विवचनेनेति ? अत्रोच्यते–अत्र द्विवचनग्रहणेन ज्ञाप्यते क्वचिदनुनासिकस्थाने अननुनासिकोऽप्यादेशो भवति यथा "वाष्टन आः स्यादौ" इत्यत्र नकारस्य स्थानेऽननुनासिक एवाकारः स्यादिति ॥२०॥

यां शिष्योद्धृतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ व्यञ्जनसन्धिरेष सुखकृत् पूर्णः प्रतीतः सुखम् ॥ १ ॥



अथेति व्यञ्जनसन्धिकथनानन्तरं रेफसन्धिः, उच्यते इति शेषः ।

कस् चारु इति स्थिते

किम् १-१ "किमः कस्तसादौ च" इति किमः कादेशे कस् चारुः । अथ सन्धिमाह–सूत्रम्

सो रुः ॥ १ ॥ [सि० २।१।७२]

पदान्ते सो रुः स्यात् । *उकारः स्वाभाविकरेफाद्भेदज्ञापनार्थ इत् ॥ ॥ कर् चारु इति स्थिते

सो० । स् ६-१ "लोकात्" अनेनैव सूत्रेण "सो रुः" । रुः १-१ अनेनैव रुः, "रः पदान्ते०" "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । "सो रुः" । द्विपदमिदं सूत्रम् । * उकार इति–स च इत्संज्ञक इति प्रयोगे नानुवर्त्तते ॥ १ ॥ कर् चारुरित्यत्र कार्यान्तरमाह सूत्रम्

चटते सद्वितीये ॥ २ ॥ [सि० १।३।७]

पदान्तस्थस्य रस्य चटतेषु सद्वितीयेषु परेषु यथासङ्ख्यं शषसा नित्यं स्युः । कश्चारुः । †निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्–प्रातश्चरति । कच्छन्नः । कष्टः । कष्ठः । कस्तः । कस्थः ॥ २ ॥

चट० । चश्च टश्च तश्च चटतं तस्मिन् चटत ७-१ "अवर्णस्ये०" सह द्वितीयेन वर्त्तते यत् तत् सद्वितीयं "सहस्तेन" इति सहार्थबहुव्रीहिः "सहस्य सोऽन्यार्थे" इति सहस्य सः । द्वितीय ७-१ "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । †निरनुबन्ध इत्यादि न्यायादत्र द्विविधोऽपि रेफो गृह्यते तथैवोदाहरति प्रातश्चरतीति । कस् प्राग्वत् 'छदण् संवरणे' "चुरादिभ्यो णिच्" छाद्यते "क्तक्तवतू" क्तप्रत्ययः * "णौ दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्तम्" दमादीनां णौ क्तान्तानामेते वा निपात्यन्ते इति छन्न इति सिद्धम् । कष्ट इत्यादि । टो ध्वनौ; ठो महेश्वरे शून्ये बृहद्ध्वनौ चन्द्रमण्डले; तकारः तस्करे क्रोडपुच्छयोः; थो भीत्राणे महीध्रे । एतदनुसारेण टठतथाः प्रश्नानुसन्धानेन समर्थनीयाः ॥ २ ॥ सूत्रम्

शषसे शषसं वा ॥ ३ ॥ [सि० १।३।६]

पदान्तस्थस्य रस्य शषसेषु परेषु शषसा वा स्युः । कश्शेते ॥ ३ ॥ पक्षे

शष० । शश्च षश्च सश्च प्राग्वत् शषसं तस्मिन् शषस ७-१ "अवर्ण०" । शश्च षश्च सश्च शषस १-१ "अतः स्यमोऽम्" "समाना०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् ॥ ३ ॥ पक्षे—

रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ ४ ॥ [सि० १।३।५३]

पदान्तस्थस्य रस्य विरामेऽघोषे परे च विसर्गः स्यात् । कः शेते । कष्षण्ढः कः षण्ढः २ । कस्साधुः कः साधुः २ ॥ ४ ॥

रः पदान्ते० । र् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" अनेनैव सूत्रेण विसर्गः । पदस्य अन्तः पदान्तः तस्मिन् पदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०" । विसर्गः १-१ "सो रुः" । तद् ६-२ "आद्वेरः" "लुगस्या०" "लोकात्" "एद्बहुस्भोसि" "एदैतो०" । "सो रुः" रः पदान्ते विसर्गस्तयोः । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । शषसानामघोषत्वात् पक्षे अनेन विसर्गे रूपद्वयं सिद्धम् । कश्शेते कः शेते इति । एवं कष्षण्ढ इत्यादिष्वपि रूपद्वयम् । अत्र च रूपद्वयसूचको द्विको ज्ञेयः, एवमग्रेऽपि यथास्थानं रूपसङ्ख्यासूचका अङ्का ज्ञेयाः ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

रः कखपफयोः ᳵ क ᳶ पौ ॥ ५ ॥ [सि० १।३।५]

पदान्तस्थस्य रस्य कखयोः परयोः ᳵको वा पफयोश्च परयोः ᳶपो वा स्यात् । क ᳵ करोति कः करोति । कᳵ खनति कः खनति । क ᳶ पचति कः पचति । क ᳶ फलति कः फलति । पुन ᳶ पुष्टं पुनः पुष्टम्, इत्यादि ॥ ५ ॥

र ६-१ "लोकात्" "सो रुः" कश्च खश्च कखं, पश्च फश्च पफं । कखं च पफं च कखपफे तयोः कखपफयोः कखपफ ६-२ "एद्बहु०" ᳵ कश्च ᳶ पश्च ᳵ क ᳶ पौ १-२ "ऐदौत्०" । पक्षे प्राग्वत् विसर्गः । कर् इति प्राग्वत् 'डुकृंग् करणे' कृ वर्त्तमानातिव् "कृग्तनादेरुः" उप्रत्यये "नामिनो०" "उश्नोः" इति उप्रत्ययस्य गुणे करोति । 'खनूग् अवदारणे' खन्, 'डुपचींष् पाके' पच् 'फल निष्पत्तौ' फल् सर्वत्र वर्त्तमानातिव् "कर्त्तर्यन०" शव् खनति, पचति, फलति । पुनर् १-१ "अव्यय०", 'पुष् च पुष्टौ' पुष् "क्तक्तवतू" क्तप्रत्ययः पुष्टम् । करोतीत्यादिषु ᳵके "अदीर्घाद्विरामै०" इति ᳵकस्य द्वित्वे च रूपद्वयं, पक्षे विसर्गे विसर्गद्वित्वे च रूपद्वयं एवं चत्वार्येककानि; "शिटः प्रथमद्वितीयस्य" इति निमित्त-कस्य द्वित्वेऽपि चत्वारि एवमष्टौ रूपाणि; अन्त्यस्यानुनासिकत्वे षोडश रूपाणि । एवं कर् पचतीत्यादिष्वपि रूपाणि १६– ᳶप विसर्ग-तद्द्वित्व-पद्वित्वविकल्पतः अष्ट, अष्टान्त्यानुनासिक्ये रो रूपाणि पे परे १ ।

अत्र च इत्यादिशब्दात् **"नमस्पुरसो गतेः कखपफि रः सः"** [सि० २।३।१] । नमस्कृत्य अनमो नमःकरणं पूर्वं "साक्षादादिश्च्व्यर्थे" (सि० ३।१।१४) इति गतिसंज्ञा नमःशब्दो हि साक्षा-दादिगणे पठितः । पुरस्कृत्य **"पुरोऽस्तमव्ययम्"** (सि० ३।१।७) इति गतिसंज्ञा **"तिरसो वा"** (सि० २।३।२) तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य, तिरःकृत्वा **"कृगो नवा"** (सि० ३।१।१०) इति गति-संज्ञाविकल्पे त्रैरूप्यं सूक्ष्मेक्षिकया तु "एकद्वित्रिचतुर्द्वित्वे तदभावे तिरस्कृगः । क्त्वायां रूपशतं सार्द्धं गतिसादिविकल्पतः" ॥ १ ॥ गतिसंज्ञायां सकारपक्षे चतुर्णां प्रत्येकं द्वित्वे चत्वारि द्वयोर्द्वयोर्द्वित्वे षड् त्रयाणां २ द्वित्वे त्रीणि सर्वेषां द्वित्वे एकं तदभावे चैकमिति पञ्चदश एवं विसर्गपक्षे १५ जिह्वा-मूलीयपक्षेऽपि १५ गत्यभावे विसर्गजिह्वामूलीयाभ्यां त्रिंशदेवं पञ्चसप्ततिरन्त्यानुनासिक्ये सार्द्धशतमिति । पुंस् २-१ 'कमुङ् कान्तौ' पुमांसं कामयते इति "शीलिकामि" इति णे "णेरनिटि" इति णिङ्लोपे "पदस्य" इति सलोपे पुम् कामेति स्थिते **"पुमोऽशिट्यघोषेऽख्यागि रः"** [सि० १।३।९] पुम्शब्दस्य

शिड्वर्जे ख्यागवर्जे च अघोषे परे रेफो भवति अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । ततश्च *"पुंसः" [सि० २।३।३] पुंस्शब्दसम्बन्धिनो रेफस्य कखपफि सः स्यात् । पुंस्कामा पुँस्कामा, पुंस्कोकिलः २ पुंस्खातः २ पुंस्पाकः २ पुंस्फलम् २ । अघोष इति किम् ? पुंदासः । अशिटीति किम् ? पुंशिरः । अख्यागिति किम् ? पुंख्यातः । **"शिरोऽधसः पदे समासैक्ये"** (सि० २।३।४) अनयो रेफस्य पदशब्दे सः स्यात् समासैक्ये-तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्रसमासे स्याताम् । शिरस्पदं अधस्पदं "अव्ययं प्रवृद्धादिभिः" इति समासः । पद इति किम् ? शिरः खण्डम् । समासेति किम् ? शिरः पदं अधः पदम् । ऐक्य इति किम् ? परमशिरः पदं परमाधः पदम् । **"अतः कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य"** [सि० २।३।५] अकारात्परस्यानव्ययसम्बन्धिनो रेफस्य कृकम्यादिसप्तकस्थेषु कखपफेषु सः स्यात् समासैक्ये । अयस्कृत् अयस्कारः अयस्कृतं यशस्कामः अयस्कंसः अयस्कुम्भः । द्वन्द्वे अयस्कुम्भकपालानि । अयस्कुशा अयस्कर्णी अयस्पात्रम् । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् अयस्कुमी, अयस्पात्री, शुनस्कर्ण इति तु कस्कादिः । अत इति किम् ? गीःकारः, भास्कर इति तु कस्कादिः । अनव्ययस्येति किम् ? स्वः कारः, प्रातः कामः । समासेत्येव-यशः करोति । ऐक्य इत्येव-उपपयः कारः परमयशः कामः । अयसः कुम्भकपालं अयःकुम्भकपालम्, अत्र हि निमित्तनिमित्तिनौ नैकसमासस्थौ । यदा त्वेवं समासः-अयसः कुम्भोऽयस्कुम्भस्तस्य कपालं तदा भवत्येव अयस्कुम्भकपालमिति । इह कृकम्योः केवलयोः समासो न भवतीति प्रत्ययान्तयोर्ग्रहणम् । अथ क्विबन्ता धातुत्वं न जहतीति क्विबन्तयोरेव कस्मान्न भवति ? "गतिकारकस्य०" इति सूत्रे क्विब्ग्रहणात् । नह्यन्यप्रत्ययान्तानां धातूत्तरपदानामग्रहणे क्विब्ग्रहणमर्थवद्भवति, अयं भावः-यदि धातुग्रहणेनान्यप्रत्ययान्तानां धातूनामग्रहणं स्यात्तदा क्विब्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । कमिग्रहणात् कामयतेर्न भवति पयः कामयते पयःकामा "शीलिकामि०" इति णः कमेस्त्वणि पयस्कामीति भवति । कमनं कामः पयसि कामोऽस्या इति बहुव्रीहिणा तु पयस्कामा इत्यपि भवति । कमिग्रहणेनैव कंसे लब्धे कंसग्रहणं ज्ञापकम् अस्तीदमपि दर्शनम्-"उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि" इति । **"प्रत्यये"** [सि० २।३।६] अनव्ययसम्बन्धिरेफस्य प्रत्ययसम्बन्धिकखपफेषु सः स्यात् । पाशप्कल्पप्काः प्रयोजयन्ति । काम्ये विशेषविधानादन्यस्य चाभावात् पयस्पाशं, यशस्कल्पं, पयस्कम् । अनव्ययस्येति किम् ? स्वः पाशम् । प्रत्यय इति किम् ? पाशो बन्धः, कल्पो विधिः, कं शिरः । पयः पाशः, पयः कल्पः, पयः कम् । **"रोः काम्ये"** [सि० २।३।७] अनव्ययसम्बन्धिरेफस्य रोरेव काम्यप्रत्यये सः स्यात् । विपरीतनियमस्तु वर्चस्केतिनिर्देशात् 'प्रत्यये, रोः काम्ये वा' इत्येकयोगाकरणाद्वा न । पयस्काम्यति । रोरिति किम् ? द्वाः काम्यति, अहः काम्यति । प्रत्यय इति किम् ? पुरुषैः काम्यम् । अनव्ययस्येत्येव-अधः काम्यति । **"नामिनस्तयोः षः"** [सि० २।३।८] तयोरिति "प्रत्यये" इति सूत्रसङ्गृहीतानां पाशप्कल्पप्कानां "रोः काम्ये" इति यथानिर्दिष्टस्य काम्यस्य च ग्रहणम् । तयोः परयोर्नामिन उत्तरस्य रेफस्य षः स्यात् । सर्पिष्पाशं धनुष्पाशं, गीष्पाशा धूष्पाशा, सर्पिष्कल्पं धनुष्कल्पं गीष्कल्पः सर्पिष्कं सार्पिष्कः सर्पिष्काम्यति धनुष्काम्यति । तयोरिति किम् ? मुनिः करोति भिन्दुः पापानि । रोः काम्य इत्येव-गीःकाम्यति धूःकाम्यति । **"निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम्"** [सि० २।३।९] एषां षण्णां रेफस्य कखपफेषु षः स्यात् । बहुवचनं निस्दुसो निर्दुरोश्च परिग्रहार्थम् । निष्कृतं निष्खातं निष्पीतं निष्फलम् । दुष्कृतं दुष्खातं दुष्पुष्टं दुष्फलम् । बहिष्कृतं बहिष्खातं बहिष्पीतं बहिष्फुल्लम् । आविष्कृतम् । प्रादुष्कृतम् । चतुष्कण्टकं चतुष्खातं चतुष्पात्रं चतुष्फलम् । कथं नि३ष्कुल दु३ष्पुरुष नैष्कुल्यं दौष्कुल्यम् ? "एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्" । **"सुचो वा"** (सि० २।३।१०) सुजन्तानां रेफस्य कखपफेषु षो वा स्यात् । द्विष्करोति त्रिष्खनति चतुष्पचति चतुष्फलति, पक्षे जिह्वामू-

ह्वीयोपध्मानीयविसर्गा भवन्ति । द्वि ᳲ करोति । द्विः करोति त्रि ᳲ खनति त्रिः खनति । चतु ᳳ पचति २ चतु ᳳ फलति २ । सुजन्तस्य चतुरः परत्वादनेन विकल्पो न तु पूर्वेण नित्यो विधिः । कखपफ इत्येव—द्विश्चरति । "**वेसुसोऽपेक्षायाम्**" [सि० २।३।११] इस् उस् प्रत्ययान्तसम्बन्धिनो रेफस्य कखपफेषु षो वा स्यात् । सर्पिष्करोति सर्पिष्खादति सर्पिष्पिबति सर्पिष्फेनायते । धनुष्करोति धनुष्खण्डयति धनुष्पतति धनुष्फलति । परमसर्पिष्करोति परमसर्पिष्पिबति परमधनुष्करोति परमधनुष्पतति । पक्षे जिह्वामूलीयोपध्मानीयविसर्गाः सर्पि ᳳकरोति परमसर्पिः करोतीत्यादि । इसुस इति किम् ? पय ᳲ करोति पय ᳳ पिबति । इसुसोः प्रत्यययोर्ग्रहणादिह न भवति—मुनि ᳲ करोति नदीभिः क्रियते, मुहु ᳳ पचति, मुहुरित्यव्युत्पन्नमव्ययम् । इसा साहचर्यादुस औणादिकस्य ग्रहणं तेनेह न भवति—चक्रु ᳲ कुलानि । त्यादुस्युसोरपीच्छत्यन्यः ? । अपेक्षायामिति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकं । एकार्थीभावे च न भवति—परमसर्पिः कुण्डं, भिन्नपदयोरेव ह्यपेक्षा करोत्युक्ते किं करोति ? सर्पिष्करोतीत्यादि, समासे तु समर्थपदानामेकप्रयत्नोच्चार्यत्वादपेक्षानिवृत्तिः । "**नैकार्थेऽक्रिये**" (सि० २।३।१२) नास्ति क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तं यस्य तस्मिन्नेकार्थे समानाधिकरणे पदे यत्कखपफं तस्मिन्परे इसुस्प्रत्ययान्तसम्बन्धिरेफस्य षो न स्यात्, "वेसुसोऽपेक्षायाम्" इत्यस्यायं प्रतिषेधो नान्यस्य तद्विषय एवारम्भात् । सर्पिः कालकम् यजुः पीतकम् । एकार्थ इति किम् ? सर्पिष्कुम्भे २ । धनुष्पुरुषस्य २ । अक्रिय इति किम् ? सर्पिष्क्रियते २ धनुष्प्राप्तम् २ । "**समासेऽसमस्तस्य**" [सि० २।३।१३] पूर्वेणासमस्तस्येसुसुप्रत्ययान्तस्य रः कखपफेषु षः स्यात्, समासे—तौ चेन्निमित्तनिमित्तानावेकत्र समासे स्याताम् । सर्पिष्कुम्भः असर्पिः सर्पिः कृत्वा सर्पिष्कृत्य सर्पिष्खण्डं सर्पिष्पानं सर्पिष्फलम् । धनुष्कृत्य धनुष्खण्डं धनुष्पृष्ठं धनुष्फलम् । समास इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम् । असमस्तस्येति किम् ? परमसर्पिःकुण्डम्, इन्द्रधनुःखण्डम् । पूर्वेणापि न भवति—समासे सत्यपेक्षाया अभावात् । इदमेवासमस्तस्येति वचनं ज्ञापकम्—इसुसोः "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" इति नियमो न भवति तेन परमसर्पिष्करोति परमसर्पिःकरोतीत्यत्र "वेसुसो०" इत्यधिकस्यापि विकल्पः स्यात् । किं च यद्यपि परमं सर्पिः परमसर्पिः करोति इत्युत्तरपदार्थप्रधाने समासे प्रधानस्यापेक्षाया योगात् षत्वं सिद्ध्यति तथापि परमं सर्पिर्यस्य सर्पिषः समीपं सर्पिषो निष्क्रान्तमिति परमसर्पिᳲकरोति उपसर्पिᳲकरोति निःसर्पिᳲकरोतीत्यत्र न सिद्ध्यति । सर्पिःशब्दस्य क्रियायाश्च व्यपेक्षाया अभावादिति किम् ? तदर्थमिदं ज्ञापकं तेन सर्पिःशब्दान्तस्यापि क्रियया सापेक्षत्वे विकल्पो भवति । बहुसर्पिष्कुण्डमित्यत्र बहुप्रत्ययादेरप्यसमस्तत्वादनेन नित्यं भवति । इत्यादिकरणात्सर्वमपीदं रेफप्रकरणमिहानुसन्धेयम्—[**भ्रातुष्पुत्रकस्कादयः** (सि० २।३।१४) साधवः]

तथा "**नॄनः पेषु वा**" [सि० १।३।१०] नॄनिति शसन्तस्य नृशब्दस्यानुकरणम् । नॄनः पे परे रो वा स्यात्, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । नॄं ᳳपाहि १ नॄँ ᳳपाहि २ नॄंः पाहि ३ नॄँः पाहि ४ नॄन्पाहि ५, एवं रेफस्योपध्मानीयत्वे पक्षे विसर्गत्वे पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकत्वाभ्यां च चत्वारि रूपाण्येकपानि, ततश्च "**शिटः प्रथमद्वितीयस्य**" [सि० १।३।३५] शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोर्द्वे रूपे वा स्यातामिति पकारस्य द्वित्वे चत्वारि, नकारस्य रत्वाभावे एकमेवं नव, अन्त्यस्यानुनासिकत्वेऽपि नवेत्यष्टादश रूपाणि ॥ ५ ॥ अथात्र विशेषमाह—सूत्रम्—

रुयागि ॥ ६ ॥ [सि० १।३।५४]

रोर्नित्यं विसर्गः । कः रुयातः । "**शिट्यघोषात्**" [सि० १।३।५५] शिट्परेऽघोषे परे-

प्येवम्—कः प्साति । "व्यत्यये लुग्वा" [सि० १।३।५६] अघोषपरे शिटि परे रो लुग्वा-चक्षुश्श्योतति चक्षुःश्च्योतति ॥ ६ ॥

ख्याग् ७-१ "लोकात्"। एकपदमिदं सूत्रम्। 'ख्यांक् प्रकथने' ख्यायते स्म "क्तक्तवतू" ख्यात १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। 'शिट्परे इत्यादि वार्त्तिकं स्पष्टम् । 'अदं प्सांक् भक्षणे' वर्त्तमानातिव् प्साति । चक्षुस् १-१ "अनतो लुप्" "सो रुः" 'श्च्युतृ क्षरणे' श्च्युत् "सस्य शसौ" श्च्युत् वर्त्त-मानातिव् "कर्त्त०" "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणः श्च्योतति । अत्र च "शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा" इति विकल्पेन कस्य खत्वे रूपद्वयम्—चख्षु श्च्योतति चक्षु श्च्योतति "अदीर्घाद्विरामै०" इति कस्य द्वित्वे रूपमेकम्—चक्क्षु श्च्योतति। अदीर्घाद्विरामेति खस्य द्वित्वे "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति पूर्वस्य कत्वे रूपमेकम्—चक्ख्षु श्च्योतति। एवं रूपचतुष्टयम्। एषु "ततः शिटः" इति मूर्द्धन्यस्य द्वित्वे रूपचतु-ष्टयम्—चक्ष्षु श्च्योतति ४। एवमेतानि "शषसे शषसं वा" इति रोः शत्वे द्विशान्यष्टौ रूपाणि—चक्षु-श्श्च्योतति ८। पक्षे रोर्विसर्गेऽष्टौ चक्षुः श्च्योतति ८ । पक्षे अदीर्घाद्विरामेति विसर्गस्य द्वित्वेऽष्टौ-चक्षुः ः श्च्योतति ८ एवं द्वात्रिंशद्रूपाण्येकचान्येकयानि ३२। "शिटः प्रथमद्वितीयस्य" शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोर्द्वे रूपे वा स्यातामिति चस्य द्वित्वे द्विचान्येकयानि द्वात्रिंशत्—चक्षु श्च्च्योतति ३२ । "ततोऽस्याः" (१।३।३४) इति यस्य द्वित्वे एकचानि द्वियानि द्वात्रिंशत्—चक्षु श्च्य्योतति ३२। द्वयोरपि द्वित्वे द्विचानि द्वियानि द्वात्रिंशत्—चक्षु श्च्च्य्योतति ३२। इत्येवमष्टाविंशत्यधिकरूप-शतम्। एषु "अइउवर्णस्यान्ते०" इति विकल्पेनान्तस्येकारस्यानुनासिकत्वे च षट्पञ्चाशते द्वेशते विस-र्जनीयमूर्द्धन्यककखां द्वित्वे चयोरपि द्वित्वे रोः शत्वलुग्भ्यामन्त्यस्यानुनासिकतयापि वा सम्यग् विवेचनी-यानि वैयाकरणपुङ्गवैः चक्षु श्च्योततिरूपाणि षट्पञ्चाशतं शतद्वयम् ॥ ६ ॥ सूत्रम्—

अतोऽति रोरुः ॥ ७ ॥ [सि० १।३।२०]

अकारात्परस्य रोरति परे उः स्यात्। "अवर्णस्ये०" इति ओत्वे "एदोतः०" इत्यकारलोपे च कोऽर्थः। रोरिति किम्? प्रातरत्र ॥ ७ ॥

अतो० । अत् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" अत् ७-१ "लोकात्" अनेन रोरुः "अवर्णस्ये०" "एदोतः०"। रु ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" रः। उ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "लोकात्"। चतुष्पदमिदं सूत्रम्। प्रातरत्रेति अत्र रोरभावात् उर्न भवति ॥ ७ ॥ सूत्रम्—

रोर्यः ॥ ८ ॥ [सि० १।३।२६]

अवर्णाद् भोस् भगोस् अघोस् शब्देभ्यश्च परस्य रोः स्वरे परे यः स्यात्तस्य च स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च। कयास्ते क आस्ते। कयिह क इह। भो यत्र भो अत्र। भगो यत्र भगो अत्र। अघो यत्र अघो अत्र। अवर्णादिति किम्? निधिरत्र। भोस् इत्यादय आमन्त्रणे सकारान्ता अव्ययाः॥८॥

रु ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" र्। य १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। द्विपदमिदं सूत्रम्। अत्रायं विशेषः—"व्योः" [सि० १।३।२३] अवर्णात्परयोर्वयोर्घोषवति परे लुक् स्यात् स चा-सन्धिः। वृक्षं वृश्चति इति वृक्षवृश्च् क्विप् "अप्रयो०" क्विप्लोपः वृक्षवृश्चं अव्ययं वाऽऽचष्टे "णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु" इति णिजि "त्र्यन्त्यस्वरादेः" इति अन्त्यस्वरादिलुपि वृक्षवयति अव्ययतीति क्विप् "णेरनिटि" इति णिज्लुपि वृक्षव् १-१ अव्य् १-१ "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "दीर्घ०" सिलोपः अग्रे याति ततो वकारयकारलोपे वृक्षयाति अव्ययातीति सिद्ध्यति। तथायमपि विशेषः—"अस्पष्टा-

ववर्णात्त्वनुञि वा" (१।३।२५) अवर्णभोभगोअघोभ्यः परयोः पदान्तस्थयोर्वयोः स्थानेऽस्पष्टा-वीषत्स्पष्टतरौ वयौ स्याताम् । अवर्णात्तु परयोर्व्योरुञ्वर्जे स्वरेऽस्पष्टौ वा भवतः । पटवु वृक्षावु असावु कयु देवायु भोयत्र भोयु भगोयत्र भगोयु अघोयत्र अघोयु । अवर्णात्त्वनुञि वा, पटविह पट-इह असाविन्दुः असा इन्दुः तयिह त इह तस्मायिदं तस्मा इदं कयिह क इह देवायाहुः देवा आहुः । अनुञीति किम् ? उञि अस्पष्टावेव यथा स्याताम् तथा चोदाहृतम् ॥ ८ ॥ सूत्रम्

अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसन्धिः ॥ ९ ॥ [सि० १।३।२२]

अवर्णाद् भो इत्यादिभ्यश्च रोर्घोषवति परे लुक् स्यात्, स च न सन्धिहेतुः [असन्धिः इत्युत्तरार्थम्–सि० १।३।२३-२४] देवा यान्ति । भो यासि । भगो हस । अघो वद ॥ ९ ॥

अवर्ण० । अवर्णश्च भोश्च भगोश्च अघोश्च अवर्णभोभगोऽघो ५-१ "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" । लुक् १-१ "दीर्घ०" "धुटस्तृतीयः" । असन्धिः असन्धि १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । भो भगो अघो एते त्रयः प्लुतसकारा भोस् भगोस् अघोस् इत्येषामनुकरणशब्दा ज्ञेयाः । त्रिपदमिदं सूत्रम् । भोस् इत्यादि आमन्त्रणे सकारान्ता अव्यया इति बहुसम्मतम् । केचित्तु भवद्भगवदघवतां सम्बोधने सौ परतो वशब्द-स्योत्वं तकारस्य च रुत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति तेषां द्विवचनबहुवचनयोः स्त्रियां च न सिद्ध्यति, भोः ब्राह्मणौ भोः ब्राह्मणाः भोः ब्राह्मणि इत्यादि ॥ ९ ॥ सूत्रम्—

घोषवति ॥ १० ॥ [सि० १।३।२१]

अतः परस्य रोर्घोषवति उः स्यात् । धर्मो जयति ।

"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् । परेण पूर्वबाधो वा प्रायशो दृश्यतामिह ॥१॥"

रोरित्येव–प्रातर्याति ॥ १० ॥

घोष० घोषोऽस्यास्तीति घोषवान् "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" "मावर्णान्तो०" मो वः घोषवत् ७-१ "लोकात्" । एकपदमिदं सूत्रम् । ननु धर्मो जयतीत्यत्र अवर्णभोरिति रुलुक् कथं न प्राप्नोतीत्य-त्राह–सामान्यशास्त्रत इत्यादि–तत्र "बहुव्यापकं सामान्यं अल्पव्यापको विशेषः", अवर्णभोरिति सूत्रम-वर्णात्प्राप्नोति इति सामान्यं घोषवतीति च अकारादेव प्राप्नोतीति विशेषस्ततश्च अवर्णभोरिति सूत्रं बाधित्वा घोषवतीति प्रवर्त्तते इति भावः । यद्वा अवर्णभोरिति सूत्रं देवा यान्तीत्यादौ सावकाशं घोष-वतीति सूत्रं तु यदि अवर्णभोरिति सूत्रेण बाध्यते तदा निरवकाशं स्यात्ततो "निरवकाशं सावकाशात् बलीय" इति घोषवतीत्येव प्रवर्त्तते । परेणेत्युत्तरार्द्धं तु प्रसङ्गादुक्तं नात्रोपयोगीति ॥ १० ॥

रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ ११ ॥ [सि० १।३।४१]

रस्य रेफे परे लुक् स्यात्तत्सन्नियोगे च पूर्वस्थानां अ इ उ इत्येषां दीर्घः । मुनी राजते, साधू राजते, पुना रमते । अकारात्परस्य रोस्तु घोषवतीत्युकारः–जिनो राजते ॥ ११ ॥

रो० । र् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । "घोषवति" रो रुः "अवर्णस्ये" । र ७-१ "अवर्णस्ये०" । लुग् १-१ "दीर्घ०" । दीर्घ १-१ "सो रुः" । च १-१ "अव्यय०" अच्च इच्च उच्च अदिदुत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "चटते०" "समानानां०" । षट्पदमिदं सूत्रम् । पुना रमते इति-निरनुबन्धरेफस्य लोपे इदमुदाहरणम् । ननु जिनो राजते इत्यत्र "सर्वेभ्यो लोपः" इति लोपस्य बलीय-स्त्वात् परत्वाद्वाऽनेन रो लुकि दीर्घे च जिना राजते इति कथं न भवतीत्यत्रोच्यते–अत्रान्वित्यधिकारा-त्पूर्वमेव घोषवतीति रोरुत्वे एतत्सूत्राप्रवृत्तिरिति ॥ ११ ॥ सूत्रम्—

रो लुप्यरि ॥ १२ ॥ [सि० २।१।७५]

रेफवर्जिते वर्णे परे पदान्तस्थस्याह्नो नस्य स्यादिलुपि सत्यां रः स्यात् । अहरधीते । अहर्गणः ॥ १२ ॥ †लुकि तु

रो० । र् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "अवर्णस्ये०" । लुप् ७-१ "लोकात्" । न र् अर् ७-१ "लोकात्" "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अहन् २-१ "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति द्वितीया "अनतो लुप्" इत्यम्-लुप्; अधिपूर्वक 'इङ् अध्ययने' अधीते ततश्च अनेन रः । अहन् ६-३ "अनोऽस्य" इत्यकारलोपे अह्नाम्, गण १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" इति षष्ठीतत्पुरुषे "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुपि निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव इति अकारलोपनिवृत्तौ अहन् गण इति स्थिते अनेन रः ॥ १२ ॥ +यत्र तु लुप् न भवति तत्र सूत्रान्तरमाह—

अह्नः ॥ १३ ॥ [सि० २।१।७४]

अहन्सम्बन्धिनो नस्य पदान्ते रुः स्यात् । दीर्घाहो निदाघ । अरीति किम् ? अहोरूपम् ॥१३॥

अह्नः । अहन् ६-१ "अनोऽस्य" "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । दीर्घानि अहानि यस्मिन् स दीर्घाहा निदाघः तस्य सम्बोधनं हे दीर्घाहन् "दीर्घङ्या०" इति सिलुक् "नामन्त्र्ये" इति नलोपाभावः, निदाघ इत्यत्र "अदेतः स्यमोर्लुक्" इति सिलुक् । अत्र लुबभावात् नस्य रुः ततश्च "घोषवति" इत्युत्वमिति रुरेफयोर्विशेषः हे दीर्घाहो निदाघ । एवं दीर्घाहा निदाघ इति अत्रासदधिकारविहितत्वेन रुत्वस्यासत्त्वान्नोऽन्तलक्षणो दीर्घः स्यात् । प्रशस्तं अहः इति वाक्ये अहन् १-१ "त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्" इति रूपप्प्रत्ययः, "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुपि अहन् रूप इति स्थिते अत्र लुपि सत्यामपि "रो लुप्यरि" इत्यत्र रेफवर्जनात् रो न भवति किन्तु "अह्नः" इति रुरेव । अन्ये तु रात्रिरूपरथन्तरेष्वेव [रथन्तरमिति रथं रथस्थं तरत्यतिक्रामति "भृवृजि०" इति खः] रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ॥ १३ ॥ सूत्रम् ।

वाऽहर्पत्यादयः ॥ १४ ॥ [सि० १।३।५८]

एषु [1]विसर्गाद्यभावो वा स्यात् । अहर्पतिः अहᳲपतिः अहःपतिः । गीर्पतिः गीᳲपतिः गीःपतिः ॥ १४ ॥

वाऽह० । १-१ "अव्ययस्य" अहर्पतिरादिर्येषां ते अहर्पत्यादयः १-३ "जस्येदोत्" "एदै०" "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अहः ६-१ पतिः १-१ अनेन विकल्पेन विसर्गाभावे अहर्पतिः पक्षे "रः पदान्ते०" इति विसर्गे "रः कखपफयोः०" इति ᳲपत्वे च रूपत्रयम् । पक्षे "अदीर्घाद्विरामै०" इति विकल्पेन विसर्गद्वित्वे ᳲपद्वित्वे पञ्चरूपाणि एकपानि । "ह्रौदर्हस्वरस्य०" इति "शिटः प्रथमद्वितीयस्य" इति च पाक्षिके पद्वित्वे दश । अदीर्घाद्विरामेति अन्त्यविसर्गस्य द्वित्वे विंशतिरिति ॥ गिरां ६-३ पतिः १-१ गिर् पतिरिति स्थिते "पदान्ते" इति दीर्घे अनेन विसर्गाभावे गीर्पतिः पक्षे विसर्गः ᳲप इति रूपत्रयं शेषं प्राग्वत् । [1]विसर्गाद्यभाव इत्यत्र आदिशब्दात् क्वचित् "घोषवति" इत्युत्वमपि निषिध्यते यथा प्रगतं प्रकृष्टं वा चेतो यस्य सः प्रचेताः अत्र सम्बोधनं क्रियते हे प्रचेतः प्रचेतस् १-१ राजन् १-१ "आमन्त्र्ये" इति उभयत्र सिः "दीर्घङ्या०" सिलुक् "सो रुः" इति रुत्वं अनेन रोः उत्वाभावे "रो रे लुग्०" इति दीर्घः हे प्रचेता राजन् पक्षे उत्वे हे प्रचेतो राजन् ॥ १४ ॥ सूत्रम्—

एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्नञ्समासे ॥ १५ ॥ [सि० १।३।४६]

एतच्छब्दात्तच्छब्दाच्च परस्य सेर्व्यञ्जने परे लुक् स्यात् । एष दत्ते । स लाति । अकि नञ्समासे च न । एषकः कृती । सको याति । अनेषो याति । असो वाति ॥ १५ ॥

एत० । एतद् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" च १-१ "अव्ययस्य" "चटते०" । व्यञ्जन ७-१ "अवर्णस्ये०" । अक् च नञ् च समासश्च १-१ अग्नञ्समासं न १-१ अग्नञ्समासं अनग्नञ्समासं तस्मिन् अनग्नञ्समास ७-१ "अवर्णस्ये०" । चतुष्पदं सूत्रम् । एषस् दत्ते सस् लाति अनेन सिलुक् । अनगूनञ्समासे इति सूत्रावयवस्य तात्पर्यं व्यावृत्तिमुखेनैवाह–अकि नञ्समासे च न इति सेर्लुप् न स्यादित्यर्थः, ततो "घोषवति" इत्यादि भवति । एषकः कृतीत्यादि–कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा एषः "सर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" । एवं सको याति । "प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम्" इति न्यायात् अक्प्रत्ययान्तानामपि त्यदादीनां "आद्वेरः" "तः सौ सः" इत्यादिकार्यं भवति । न एषः अनेषः न स अस इति ॥ १५ ॥ सूत्रम्—

तदः सेः स्वरे पादार्था ॥ १६ ॥ [सि० १।३।४५]

तच्छब्दात्परस्य सेः स्वरे परे लुक् स्याद् यदि सेर्लुकि सत्यामेव श्लोकादिपादः पूर्येत ॥१६॥

"सैष दाशरथी रामः सौषधीरनुरुध्यति" । अन्यत्र यथाप्राप्तम्—

——"स एष भरतो राजा स एष नलभूपतिः" ॥ १ ॥ ॥ १६ ॥

तदः० । तद् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०" । स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । पादाय इदं पादार्था पादाय ४-१ अग्रे अर्थशब्दः *"तदर्थार्थेन" चतुर्थ्यर्थेन अर्थशब्देन चतुर्थ्यन्तं समस्यते इति वचनात् चतुर्थीतत्पुरुषः "ऐकार्थ्ये" पादार्थ इति "ङेऽर्थो वाच्यवदिति लिङ्गानुशासनवचनात् तत्पुरुषे वाच्ये अर्थशब्दो वाच्यलिङ्गो भवतीति स्त्रीलिङ्गत्वे "आत्" इत्याप् पादार्था १-१ "दीर्घ०" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । पादार्था इति सूत्रांशस्य तात्पर्यमाह–यदि सेर्लुकीत्यादि–तद् १-१ "आद्वेरः" "लुगस्या०" । सैष इति अत्र सिलोपे सति सन्धौ कृते पादः पूर्णो भवति–अष्टवर्णात्मकत्वादत्र पादस्य अन्यथा सो रुत्वे तस्य लोपे असन्धौ च नववर्णाः स्युरिति । अनुरुध्यतीति 'अनोरुधिंच् कामे' अनुपूर्वकरुध् वर्त्तमानाते "दिवादेः श्यः" । अन्यत्र यथाप्राप्तमिति यत्र सिलोपं विनापि पादः पूर्यते तत्र सिलोपो न भवति किन्तु पूर्वसूत्राण्येव प्रवर्त्तन्ते यथा स एष इत्यत्र "सो रुः" "रोर्यः" तस्य च लुक् असन्धिश्च ॥ १६ ॥ सूत्रम्–

न सन्धिः ॥ १७ ॥ [सि० १।३।५२]

उक्तः सर्वोऽप्ययं सन्धिर्विरामे न स्यात् । दधि अत्र । जिनः जयति ॥ १७ ॥

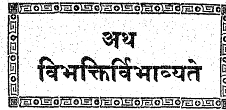
*संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ २ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां रेफसन्धिः समाप्तः ।

न० न १-१ "अव्ययस्य" । सन्धि १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । ततश्च विरामे विवक्षिते सन्धिर्न भवति, विरामाविवक्षायाम् एकप्रयत्नोच्चारणे तु सन्धिर्भवति ॥ १७ ॥ अथ यत्र नित्यमविरामो भवति यत्र च विवक्षया अविरामो विरामश्च भवति तानि स्थानानि निर्दिशति–

*संहितेति श्लोकः—यत्र पदं—विभक्त्यन्तम्, एकपदे नित्यमविरामो भवति ततश्च नित्यं संहिता सन्धिर्भवति यथा—देवेन, भवति । धातूपसर्गयोर्यथा उपैति । समासे यथा परमेश्वरः । वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते इति विरामविवक्षया न सन्धिरविरामविवक्षया तु सन्धिरिति ।

यां शिष्योद्धुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ बन्धुर एव (एष ?) पूर्त्तिमभजद्रेफस्य सन्धिः सुखम् ॥ १ ॥



अथेति सन्धिप्रकरणकथनानन्तरं विभक्तिप्रकरणं निरूप्यते—सूत्रम्

अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम ॥ १ ॥ [सि० १।१।२७]

धातुविभक्त्यन्तवाक्यवर्जमर्थवच्छब्दरूपं नाम स्यात् । ततः स्यादयः सप्त विभक्तयो योज्यन्ते ॥ १

अधातु० । धातुश्च विभक्तिश्च वाक्यं च धातुविभक्तिवाक्यं, न धातुविभक्तिवाक्यं अधातुविभक्तिवाक्यं, अधातुविभक्तिवाक्य १-१ "अतःस्य०" समाना० । अर्थोऽस्यास्तीति १-१ "तदस्यास्त्य०" इति मतुः "मावर्णान्तो०" मो वः अर्थवत् १-१ "अनतो लुप्" । नामन् १-१ "अनतो०" "नाम्नो नो०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । धात्वादिवर्जनात् 'भू सत्तायाम्' भू इत्यत्र धातुत्वात्, 'देवस्य' इत्यत्र विभक्त्यन्तत्वात्, 'चैत्रः पठति' इत्यत्र वाक्यत्वात् नामसंज्ञा न स्यात् । नामसंज्ञायां चैषां स्याद्युत्पत्तिः प्रसज्यते । विभक्तिरिति केवलाया विभक्तेरर्थवत्त्वाभावादप्रयोगाच्च विभक्त्यन्तं गृह्यते । वाक्यं प्राग्लक्षितमेव । अधातुविभक्त्यन्तवाक्यं नाम इत्युक्ते मन्वाद्युच्चारितानां निरर्थकशब्दानां हस्ततालिकाद्यव्यक्तशब्दानां च नामत्वं प्रसज्यते इति तद्वारणाय अर्थवच्छब्दरूपमिति । अर्थवच्छब्दरूपं नाम इत्युक्ते धात्वादीनामपि नामसंज्ञा स्यादिति तन्निषेधाय अधात्विति । नामसंज्ञायाः फलमाह—तत इत्यादि—सप्तविभक्तयो योज्यन्ते "नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ" "कर्मणि" इत्यादिसूत्रैः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तानि सूत्राणि च कारकाधिकारे वक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

स्यौजसिरयादि ॥ २ ॥

सि औ जस् इति प्रथमा । अम् औ शस् इति द्वितीया । टा भ्यां भिस् इति तृतीया । ङे भ्यां भ्यस् इति चतुर्थी । ङसि भ्यां भ्यस् इति पञ्चमी । ङस् ओस् आम् इति षष्ठी । ङि ओस् सुप् इति सप्तमी । तत्राप्यर्थैकत्वविवक्षायां प्रथमैकवचनं सिः । ईकार उच्चारणार्थ इत् । देवस् इति स्थिते । "सो रुः" "रः पदान्ते विसर्गस्तयोः" देवः । द्वित्वे—देव औ "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः" इति देवौ । बहुत्वे देव जस् । जकारो विशेषणार्थः ॥ २ ॥

स्यौजसित्यादि । अत्र च महाव्याकरणसूत्रं सूचितं तच्चेदम्—"**स्यौजसमौशस्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङस्ओसाम्ङ्योस्सुपां त्रयी त्रयी प्रथमादिः**" (सि० १।१।१७) अयं भावः—एषु प्रथमवचनत्रयं प्रथमासंज्ञं भवति [द्वितीयवचनत्रयं] द्वितीयासंज्ञमित्यादि ।

अत्र च बालबोधाय प्रक्रियाकारः सूत्रतात्पर्यमेव स्पष्टं लिखति—सि औ जस् इति प्रथमा इत्यादि। इकार ईत् इति "सौ नवेतौ" इत्यादौ, जकारो विशेषणार्थ इति "जस इः" इत्यादौ विशेषणार्थः ॥ २ ॥ सूत्रम्

अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये ॥ ३ ॥ [सि० १।४।१]

स्यादौ जसि भ्यामि ये च परे अत आः स्यात्। ततः "समानानां तेन दीर्घः" इति दीर्घे देवाः। "अदीर्घो दीर्घतां याति नास्ति दीर्घस्य दीर्घता। पूर्वदीर्घस्वरं दृष्ट्वा परलोपो विधीयते" ॥१॥ यद्वा "पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः" इति दीर्घस्यापि दीर्घत्वम्। द्वितीयैकवचने देव अम् ॥ ३ ॥

अत आः०। अत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। आ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "रोर्यः" तस्य लुगसन्धिश्च। स्यादि ७-१ "ङिडौ" "डित्यं०" जस् च भ्यां च यश्च जस्भ्यांयं तस्मिन् जस्भ्यांये ७-१ "अवर्ण०"। चतुष्पदमिदं सूत्रम्। "समानानां तेन०" इति दीर्घे सिद्धेऽत्र जस्ग्रहणं "लुगस्यादेत्यपदे" इत्यकारलुग्बाधनार्थम्। ननु अनेन अकारस्य आत्वे देवा अस् इति जाते पिष्टपेषणन्यायेन "समानानां तेन०" इति सूत्रेण किं करिष्यते इत्याह—अदीर्घो दीर्घतां यातीत्यादि। नन्वत्र समानानां तेनेति सूत्रं व्यर्थं कथं प्रवर्त्तते इत्यस्वरसादाह—यद्वेति—यथा पर्जन्यो मेघः फलाभावेऽपि समुद्रादौ वर्षत्येव तथा सूत्रमपि फलाभावेऽपि प्रवर्त्तते इति दीर्घे सत्यपि पुनरपि समानानां तेनेति दीर्घः स्यादिति भावः। स्यादौ जसीति किम्? 'जसूच् क्षेपणे' बाणान् जस्यतीति क्विप् बाणजः अस्मिन् जसि परे दीर्घो न स्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

समानादमोऽतः ॥ ४ ॥ [सि० १।४।४६]

समानात्परस्यामोऽकारस्य लुक् स्यात्। देवम्, देवौ। बहुवचने देव शस्। शकारः प्राग्वत् ॥४॥

समाना०। समान ५-१ "ङेङस्योः०" "समानानां०"। अम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। अत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। मध्ये "धुटस्तृतीयः" इति तस्य दः, "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०"। त्रिपदमिदं सूत्रम्। शकारः प्राग्वदिति "शसोऽता सश्च नः पुंसि" इत्यादौ विशेषणार्थः ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥ ५ ॥ [सि० १।४।४९]

शस्सम्बन्धिनाऽकारेण सह पूर्वसमानस्य दीर्घः स्यात्। तत्सन्नियोगे च पुंलिङ्गे शसः सो नः स्यात्। देवान्। तृतीयैकवचने देव टा, टकार इत् ॥ ५ ॥

शसो०। शस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः", अत् ३-१ "लोकात्" "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०"। स् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। च १-१ "अव्ययस्य" "चटते०" रस्य शः। न १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। पुम्स् ७-१ "शिड्हेऽनुस्वारः"। षट्पदमिदं सूत्रम्। अकारेण सहेति द्वयोः स्थाने एको दीर्घः स्यात्। शसोऽकारस्य स्थानित्वेऽपि प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घः स्यादिति। **चीयते** धान्यादिरक्षार्थं "चिमेर्डोचडञ्चौ" (उणा १२२) इति डञ्चे चञ्चा तृणादिमयः पुरुषः, खरकुटीव कुटी खरकुटी एवं यष्टिः, अभेदोपचारेण हि शब्दोऽर्थान्तरे वर्त्तमानः शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्वलिङ्गमत्यजन्नेव वर्त्तते इति चञ्चादयः शब्दाः पुरुषे वर्त्तमाना अपि स्त्रीत्वं न त्यजन्तीति नो न भवति चञ्चाः खरकुटीः यष्टीः पुरुषान् पश्य। यदा तु शब्दस्य पुंलिङ्गत्वं तदा वस्तुनः स्त्रीत्वे

क्लीबत्वे वा नो भवत्येव—दारान् भ्रूकुंसान् स्त्रीः पश्य । दीर्घसन्नियोगविज्ञानादिह नो न स्यात्—एतान् गाः पश्येति ॥ ५ ॥ सूत्रम्

टाङसोरिनस्यौ ॥ ६ ॥ [सि० १।४।५]

आत्परयोष्टाङसोरिनस्यौ स्याताम् । देवेन । "अत आः स्यादौ०" इत्यात्वे देवाभ्याम् ॥ ६ ॥

टाङ० । टा च ङस् च टाङसौ तयोः टाङस् ६-२ "लोकात्" "सो रुः" इनश्च स्यश्च इनस्यौ इनस्य १-२ । द्विपदमिदं सूत्रम् । टाङसोरिति तृतीयैकवचनषष्ठ्येकवचनयोरित्यर्थः ॥ ६ ॥

भिस ऐस् ॥ ७ ॥ [सि० १।४।२]

आत्परस्य स्यादेर्भिस ऐस् स्यात् । देवैः । चतुर्थ्येकवचने देव ङे, ङकारो ङित्कार्यार्थः सर्वत्र ॥ ७ ॥

भिस० । भिस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । ऐस् १-१ "दीर्घङ्या०" । मध्ये "रोर्यः" तस्य लुगसन्धिश्च । द्विपदमिदं सूत्रम् । ङकारो ङित्कार्यार्थः सर्वत्रेति—ङेङसिङस्ङिषु ॥ ७ ॥ सूत्रम्—

ङेङस्योर्यातौ ॥ ८ ॥ [सि० १।४।६]

अकारात्परस्य ङेर्यो, ङसेश्च आत् स्यात् । "अत आ०" इत्यात्वे देवाय, देवाभ्याम् । देव भ्यस् इति स्थिते ॥ ८ ॥

ङे० । ङे च ङसि च ङेङस्यौ तयोः ङेङसि ६-२ ओस् "इवर्णादे०" "सो रुः" । यश्च आच यातौ यात् १-२ "लोकात्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । स्थान्यादेशयोरुभयोरपि द्विवचनान्तत्वात् द्विसङ्ख्यत्वाच्च "यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्" इति न्यायात्प्रथमस्य प्रथम आदेशो द्वितीयस्य द्वितीय आदेशो भवतीति निश्चित्य आह—ङेर्यो ङसेश्च आत् इति ॥ ८ ॥ सूत्रम्—

एद्बहुस्भोसि ॥ ९ ॥ [सि० १।४।४]

बहुत्वे स्यादौ सादौ भादौ ओसि च परेऽत एत् स्यात् । देवेभ्यः । पञ्चम्येकवचने, देव ङसि, इकारो ङसो विशेषणार्थः, ङेङस्योरित्यात् देवात् । देवाभ्याम् । देवेभ्यः । टाङसोरिति ङसः स्यादेशे देवस्य । ओसित्वेऽयादेशे देवयोः । देव आम् इति स्थिते ॥ ९ ॥

एद्ब० । एत् १-१ "दीर्घङ्या०" स् च भ् च स्भ् बहुषु स्भ् बहुस्भ् बहुस्भ् च ओस् च बहुस्भोस् तस्मिन् बहुस्भोस् ७-१ । "धुटस्तृतीयः" । द्विपदमिदं सूत्रम् । स्यादौ सादौ भादौ इत्युक्ते सिभ्यां परेऽपि एत्वं प्राप्नोति तद्वारणाय बहुत्वे इत्युक्तम्, बहुत्वे सादौ भादौ इत्युक्ते विलसन्ति प्रणम्य भान्ति इत्यादिषु प्राप्नोति तद्वारणाय स्यादौ इत्युक्तम्, बहुत्वे स्यादौ इत्युक्ते आमि शसि परेऽपि प्राप्नोतीति सादौ भादौ इत्युक्तमिति ॥ ९ ॥ सूत्रम्—

ह्रस्वाऽऽपश्च ॥ १० ॥ [सि० १।४।३२]

ह्रस्वादाबन्तात् स्त्रीदूदन्ताच्च परस्यामो नाम् स्यात् ॥ १० ॥

ह्र० । ह्रस्वश्च आप् च ह्रस्वाप् तस्मात् ह्रस्वाप् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" । च १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "चटते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । ह्रस्वान्तादिति 'अ इ उ ऋ ऌ ह्रस्वा' इति एतदन्तेभ्यो

यथा देवानां मुनीनां साधूनां पितॄणां होतॄणाम् । आबन्तात् यथा मालानाम् । स्त्रीदूदन्तेभ्यो यथा नदीनां वधूनामिति ॥ १० ॥

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृष्रः ॥ ११ ॥ [सि० १।४।४७]

तिसृ-चतसृ-षरान्तवर्जसमानस्य नामि परे दीर्घः स्यात् । देवानाम् । सप्तम्येकवचने देवे । द्विवचने देवयोः । बहुवचने "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वे देवे-सु इति स्थिते ॥ ११ ॥

दीर्घो० । दीर्घ १-१ "सो रुः" । नाम् ७-१ "लोकात्" । तिसा च चतसा च ष् च र् च तिसृचतसृष्र् न तिसृचतसृष्र् अतिसृचतसृष्र् तस्य अतिसृचतसृष्र् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । तिस्रादिवर्जनात् तिसृणां चतसृणां षण्णां चतुर्णामित्यादिषु दीर्घो न भवतीति । **ननु** सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य तच्चानन्तरस्याव्यवहितस्य स्यादिति षण्णां चतुर्णामित्यत्र षकाररेफाभ्यां समानस्य व्यवधानाद्दीर्घप्राप्तेरभावात् किं प्रतिषेधेनेत्यत्रोच्यते–अष्र इति प्रतिषेधेन 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' इति ज्ञाप्यते, ततश्च पञ्चानां सप्तानामित्यादौ नकारेण व्यवहितेऽपि नामि दीर्घः स्यादिति ॥ ११ ॥

नाम्यन्तस्थाकवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्नाऽन्तरेऽपि ॥ १२ ॥ [सि० २।३।१५]

नाम्यन्तस्थाकवर्गेभ्यः परस्य पदमध्ये वर्तमानस्य केनचित् सूत्रेण कृतस्य सस्य षः स्यात् । शिटा नकारेण च व्यवधानेऽपि स्यात् । देवेषु ॥ १२ ॥

नाम्य० । नामी च अन्तस्थाश्च कवर्गश्च नाम्यन्तस्थाकवर्गं तस्मात् नाम्यन्तस्थाकवर्ग ५-१ "ङेङस्यो०" । पदस्य अन्तर्मध्ये पदान्तः ७-१ "अव्ययस्य" । कृत ६-१ "टाङसो०" । स् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । शिट् च नश्च शिड्नौ, शिड्नाभ्यामन्तरं शिड्नान्तर ७-१ । अपि १-१ "अव्ययस्य" । "एदोतः०" । पञ्चपदमिदं सूत्रम् । नाम्यन्तस्थाकवर्गेभ्य इति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति प्रत्येकं पञ्चमी योज्यते । क्रमेणोदाहरणानि–**नामिनः**–आशिषा नदीषु वायुषु वधूषु पितृषु देवेषु गोषु नौषु । **अन्तस्थाः**–गीर्षु हल्षु । **कवर्ग**–शक्ष्यति क्रुङ्षु । **शिड्नान्तरेऽपि**–सर्पिष्षु-सर्पिस् सु इति स्थिते "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां "सो रुः" "शषसे शषसं वा" इति रोः सत्वे सव्यवधानेऽपि सुपः षत्वे ततः "सस्य शषौ" इति पूर्वसस्यापि षत्वम्, पक्षे सर्पिःषु अत्र हि "रः पदान्ते०" इति विसर्गे कृते तस्य शिट्त्वात् एतद्व्यवधानेऽपि षत्वम्, एवं यजूंषि इत्यत्र "शिड्हेऽनुस्वारः" इत्यनुस्वारे कृते षत्वम् । नकारस्यावश्यमनुस्वारभवनात् शिड्ग्रहणेनैव सिद्धे नकारोपादानं नकारस्थानेनैवानुस्वारेण यथा स्यादित्येवमर्थं तेन मकारानुस्वारेण न स्याद्यथा पुंसु । [शिटा नकारेण चान्तरे इति] प्रत्येकं वाक्यसमाप्तेः शिड्नकारयोर्द्वयोर्व्यवधाने षत्वं न भवति–'णिसुकि चुम्बने' निंस्से । **कृतस्ये**ति सूत्रविधानेन विहितस्य तत्सम्बन्धिनोऽपि—तत्र कृतस्य यथा एषा, कृतसम्बन्धिनो यथा देवेषु । पदान्तरिति किम्? दधिसेक्, अत्र हि *"वृत्त्यन्तोऽसषे" [सि० १।१।२५] परार्थाभिधायि समासादिर्वृत्तिस्तस्या अन्तोऽवसानं पदं न स्यात् । यथा बहुदण्डिनौ बहवो दण्डिनो ययोस्तौ इत्यत्रान्तर्वर्तिविभक्त्याश्रयेण प्राप्तं पदत्वमनेन निषिध्यते ततो"नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपो न भवति । असष इति किम्? सस्य तु षत्वे पदमेवेति वचनात् सेक इत्यस्य पदसंज्ञायां पदादित्वात् दधिसेक्

इत्यत्र सस्य षत्वं न स्यात् । कृतस्येति किम् ? विसम्–अत्र "उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि" इति वचनात् 'विसच् प्रेरणे' विसतीति के निष्पन्नत्वाद्वा सकारस्य न सूत्रकृतत्वमिति न षत्वम् ॥ १२ ॥ सूत्रम्—

अदेतः स्यमोर्लुक् ॥ १३ ॥ [सि० १।४।४४]

अकारान्तादेकारान्ताच्च सेस्तदादेशस्याऽमश्च सम्बोधने लुक् स्यात् । सम्बोधनाभिव्यक्तये हेशब्दस्य प्राक्प्रयोगः । हे देव । हे देवौ । हे देवाः । एवं घटपटादयोऽकारान्ताः पुंलिङ्गाः ।

***सर्वादीनां तु विशेषः–सर्व विश्व उभ उभयट् अन्य अन्यतर इतर डतर डतम त्व त्वत् नेम । समसिमौ सर्वार्थौ । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् । स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरपुरि । त्यद् तद् यद् अदस् इदम् एतद् एक द्वि युष्मद् भवतु अस्मद् किम् । इत्यसंज्ञायां सर्वादिः । एते सर्वादयस्त्रिलिङ्गाः । तत्र पुंलिङ्गे रूपाण्युच्यन्ते । सर्वः । सर्वौ ॥ १३ ॥**

अदे० । अश्च एच्च अदेत् तस्मात् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सिश्च अम् च स्यमौ तयोः स्यम् ६-२ । लुक् १-१ दीर्घङ्या०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । तदादेशस्य अमश्चेति नपुंसकलिङ्गे यः सेरादेशोऽम् तस्यापि सम्बोधने लुक् स्यात् । यथा हे कुल १-१ "अतः स्यमोऽम्" इति सेरम् तस्य अनेन लुक् । **एवं सर्वेऽप्यकारान्ताः पुंलिङ्गाः । प्रयोगश्चैवम्**–"देवः स्तात्सुखदोऽस्तु वो जिनपतिर्देवं भजे चेतसा, देवेनेयमलङ्कृता वसुमती, देवाय तुभ्यं नमः । देवाद्दूरमियाय दोषपटली, देवस्य भृत्योऽस्म्यहं, देवे ज्ञानमनुत्तरं विजयते हे देव देहि श्रियः" ॥ १ ॥

***सर्वादीनां तु विशेषः**–कथ्यते इति शेषः । के ते सर्वादय इत्याह–सर्व विश्व इत्यादि–पञ्चत्रिंशत्परिमितः सर्वादिर्गण इति । अत्र **विश्व**शब्दस्य सकलार्थवाचकत्वे सर्वादित्वं न तु जगद्वाचकत्वे । **उभ**शब्दो द्व्यर्थे । **उभयट्**शब्दो द्व्यवयवार्थे, उभयट् इत्यत्र टकार इत् स्त्रीलिङ्गे ङ्यर्थः ततश्च "अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" इति ङ्यां उभयी प्रकृतिः । **अन्या**ऽन्यतरे॒ तरे अन्यदर्थे । **डतरडतमौ** प्रत्ययौ ततो डतरडतमप्रत्ययान्तौ शब्दौ सर्वादी । "प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानामपि ग्रहणम्" इति न्यायात् डतरडतमप्रत्ययान्तग्रहणे सिद्धेऽपि डतरडतमग्रहणमन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वनिषेधार्थं तेन सर्वतमायेत्यत्र न सर्वादित्वम्, अत्र "प्रकृष्टे तमप्" इति स्वार्थिकस्तमप् । **डतर**ग्रहणेनैव सिद्धे अन्यतरग्रहणं डतमप्रत्ययान्तस्य अन्यशब्दस्य सर्वादित्वनिषेधार्थं यथा अन्यतमाय । **एके** त्वाहुः-'नायं डतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः किन्त्वव्युत्पन्नस्तरोत्तरपदस्तरवन्तो वा, तन्मते डतमान्तस्याप्यन्यशब्दस्य सर्वादित्वम्–अन्यतमस्मिन् । **त्वो** अन्यदर्थे । **त्वत्** हेत्वर्थे, समुच्चयार्थे इति केचित् । **नेम** खण्डार्थे "खण्डेऽर्धशकले भित्तं नेमशकलदलानि च" इति वचनात् । **समसिमौ** सर्वार्थाविति–यदा तु समशब्दोऽविषमार्थस्तुल्यार्थश्च तदा न सर्वादिः यथा 'समे भूतले प्रासादः' 'राज्ञः समाः पण्डिताः' । **पूर्वादयः** सप्त व्यवस्थायां वाच्यायां सर्वादयः । स्वाभिधेयापेक्षोऽवधिनियमो व्यवस्था स्वस्याभिधेयो दिग्देशकालस्वभावस्तमपेक्षते तेन वाऽपेक्ष्यते इति स्वाभिधेयापेक्ष ईदृशो योऽवधिर्मर्यादानियमोऽवश्यंभावादभ्रंशो व्यवस्था उच्यते, यथा अयमस्मात्पूर्व इति पूर्वादयो यदा दिग्देशकालवाचिनस्तदा सर्वादयः-यथा पूर्वा दिक् पूर्वो देशः पूर्वः कालः । परे त्वाहुरित्यादावपि परत्वस्यापेक्षिकत्वादर्थतो व्यवस्थावाचित्वमस्त्येव, एवं दक्षिणशब्दो यदा दिग्देशवाची तदा सर्वादिः । यदा तु दक्षिणशब्दः शृङ्गारिनायकवाची प्रवीणवाची च, दक्षिणाशब्दश्च यज्ञान्तदानवाची तदा न सर्वादिः । उत्तरशब्दोऽपि प्रत्युत्तरवाची न सर्वादिः । अधरस्य हीनार्थत्वे सर्वादित्वं नत्वोष्ठवाचकत्वे । **स्वमज्ञातिधनाख्यायामिति**–"ज्ञातावात्मनि

चात्मीये धने स्वाख्या प्रवर्त्तते" तत्र यदा स्वशब्द आत्मवाची आत्मीयवाची तदा सर्वादिः—यथा स्वस्मै रोचते आत्मने रोचते इत्यर्थः, स्वस्मै पुत्राय आत्मीयायेत्यर्थः। यदा तु ज्ञातिधनवाची तदा न सर्वादिः-यथा एते स्वा ज्ञातयः, स्वानां द्रव्याणामित्यर्थः। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरपुरीति—"मध्ये १ छिद्रे २ विशेषे च ३ व्यवधाने ४ बहिर्युते ५। उपसंव्यान ६ इत्येवं षडर्थमन्तरं विदुः" ॥ १ ॥ बहिर्योग इति बाह्येन सह योगो बहिर्भावेन सह योगो द्वयमप्युच्यते ततो बहिर्योगोपसंव्यानयोरन्तरशब्दः सर्वादिः-यथा अन्तरस्मै गृहाय नगरबाह्यचाण्डालगृहयुक्ताय नगराभ्यन्तरगृहाय नगरबाह्याय चाण्डालगृहाय वा इत्यर्थः। उपसंव्यानं वस्त्रान्तरेण पिहितं परिधानवस्त्रम्—"अन्तरीयं निवसनमुपसंव्यानमित्यपि" इति वचनात्, तस्मिन्नभिधेये अन्तरशब्दः सर्वादिः—यथा अन्तरस्मै शाटकाय पटचतुष्टये परिहिते तृतीयाय चतुर्थाय वा अभ्यन्तरशाटकायेत्यर्थः। प्रथमद्वितीययोस्तु बहिर्भावेन बाह्येन च योगेन च सिद्धमेव सर्वादित्वम्। अपुरीति—पुरि तु वाच्यायां अन्तरशब्दः सर्वादिर्न—यथा अन्तरायै पुरे चण्डालादिबाह्यपुर्यै इत्यर्थः। बहिर्योगोपसंव्यानाभ्यामन्यत्र तु अन्तरशब्दो न सर्वादिः—ग्रामयोरन्तरादयमागतः मध्यादित्यर्थः। प्रयोगश्च द्व्याश्रयमहाकाव्ये "चक्षुरस्यारयो वस्त्रायान्तरस्मै कृतस्पृहाः। अन्तरायाः पुरो याच्ञामन्तरस्माद् गृहादपि" ॥ १ ॥ इत्यसंज्ञायां सर्वादिरिति—यदा त्वेते संज्ञायां तदा न सर्वादयः—यथा सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय, गौणत्वेऽपि न सर्वादयः—यथा प्रियसर्वाय। तथैवैते सर्वादयः सर्वनामसंज्ञका भवन्ति यथोक्तम्—"सर्वादिः सर्वनामाख्यो न चेद्गौणोऽथवाऽभिधा। पूर्वादिश्च व्यवस्थायां समोऽतुल्येऽन्तरोऽपुरि ॥१॥ परिधाने बहिर्योगे स्वोऽर्थज्ञात्यन्यवाच्यपि"। उभशब्दस्य भवच्छब्दस्य द्विशब्दस्य त्वच्छब्दस्य युष्मदस्मदोश्च सर्वादिमध्ये ग्रहणं "सर्वादेः सर्वाः" (२।२।११९) इति सूत्रेण हेत्वर्थैर्योगे सर्वविभक्त्यर्थम्—यथा उभौ हेतू २ उभाभ्यां हेतुभ्याम् ३ उभयोर्हेत्वोः २, द्वौ हेतू २ द्वाभ्यां हेतुभ्याम् ३ द्वयोर्हेत्वोः २, भवान् हेतुः, भवन्तं हेतुम्, भवता हेतुना इत्यादि, त्वत् हेतुः, त्वतं हेतुम्, त्वता हेतुना, त्वते हेतवे इत्यादि। मतान्तरे च हेत्वर्थैर्योगे सर्वादेस्तृतीयाद्या एव सर्वा विभक्तयो भवन्ति। तथा एषां "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" [सि० ७।३।२९] इत्यक्प्रत्ययार्थं च सर्वादिमध्ये ग्रहणम्—यथा कुत्सितौ अल्पौ अज्ञातौ वा उभौ उभकौ, एवं द्वकौ भवकान् भवकन्तौ भवकन्तः, त्वकत् इत्यादि। त्वच्छब्दः प्रायश्छन्दस्येव। एवं भवादृशः युष्मादृशः त्वादृशः अत्र "अन्यत्यदादेराः" [सि० ३।२।१५२] इत्यात्वम्। भवान् पुत्रोऽस्य भवत्पुत्रः अत्र "विशेषणं सर्वादिसङ्ख्यं बहुव्रीहौ" [३।१।१५०] इति पूर्वनिपातः। भवतोऽपत्यं भावतायनिः अत्र त्यदादित्वात् "अवृद्धाद्दोर्नवा" (६।१।११०) इत्यायनिञ्। भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः अत्र "सर्वादयोऽस्यादौ" [सि० ३।२।६१] इति पुंवद्भावः। भवन्तमञ्चतीति क्विपि भवद्र्यङ् अत्र "सर्वादिविष्वग्देवाड्डद्रिः क्व्यञ्चौ" (३।२।१२२) इति डद्रिः। एवमन्येष्वपि यथायोगं सर्वादिप्रयोजनं ज्ञेयम्। भवतु इत्यत्र उकारो ङ्यर्थो नामार्थो दीर्घार्थश्च भवती भवान्। तथा अस्मिन् सर्वादिगणे त्यदादिर्द्विशब्दपर्यन्तोऽष्टकस्त्यदादिः, पञ्चकोऽन्यादिश्चान्तर्गणो ज्ञेयः। एते सर्वादयस्त्रिलिङ्गा यथा सर्वे पुरुषाः सर्वाः स्त्रियः सर्वाणि कुलानि इत्यादि ॥ १३ ॥ सूत्रम्—

जस इः ॥ १४ ॥ [सि० १।४।९]

सर्वादेरकारान्तस्य जस इः स्यात्। सर्वे। सर्वम् सर्वौ सर्वान्। सर्वेन इति जाते ॥ १४ ॥

जस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। इ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। मध्ये "रोर्यः" तस्य स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च। द्विपदमिदं सूत्रम्। वृत्तिः स्पष्टा। अत्र "षष्ठ्यन्तस्य" इति प्राप्ते *"प्रत्ययस्य" प्रत्ययस्य स्थाने विधीयमान आदेशः सर्वस्य स्यादिति परिभाषा ॥ १४ ॥ सूत्रम्—

रषृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याऽलचटतवर्गशसाऽन्तरे ॥ १५ ॥ [सि० २।३।६३]

रेफषकारऋवर्णेभ्यः परस्य एभिः सहैकपदस्थस्याऽनन्त्यस्य नो णः स्यात् । लादीन्विना शेषवर्णव्यवधानेऽपि भवति । सर्वेण । एकपद इति किम् ? अग्निर्नयति चर्मनासिकः । अनन्त्य इति किम् ? सर्वान् । लादिवर्जनं किम् ? विरलेन मूर्च्छनम् दृढेन तीर्थेन रशना रसना । सर्वाभ्याम् सर्वैः ॥ १५ ॥

रश्च ष् च ऋवर्णश्च रषृवर्णं तस्मात् रषृवर्ण ५-१ "ङस्योर्यातौ" रषृवर्णात् । न् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । ण १-१ "सो रुः" । एकं १-१ च १-१ तत् १-१ पदं १-१ च १-१ "पूर्वकालैक०" इति कर्मधारये एकपद ७-१ "अवर्णस्ये०" । अन्ते भवः अन्त्यः "दिगादिदेहांशाद्यः" "अवर्णेवर्णस्य" इति अकारलोपे अन्त्यः न अन्त्यः अनन्त्यः ६-१ "टाङसो०" । "धुटस्तृतीयः" तस्य दः "तृतीयस्य पञ्चमे" दस्य नः तथा "घोषवति" अवर्णस्ये०" तथा "रोर्यः" तस्य स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च, तथा "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" चश्च टश्च तश्च चटताः चटतानां वर्गाः चटतवर्गाः शश्च सश्च शसौ लश्च चटतवर्गाश्च शसौ च लचटतवर्गशसाः न लचटतवर्गशसाः अलचटतवर्गशसाः अलचटतवर्गशसैः अन्तरम् अलचटतवर्गशसान्तरम् तस्मिन् अलचटतवर्गशसान्तर ७-१ "अवर्णस्ये०" । षट्पदमिदं सूत्रम् । लादीन्विनेति—लादीनामष्टादशानां वर्णानां व्यवधाने न भवति शेषवर्णव्यवधाने तु भवति—यथा सर्वेण इत्यत्र वकारैकारयोरन्तरेऽपि णत्वं सिद्धम्, चर्मनासिक इत्यत्र समासाश्रयेणैकपदत्वेऽपि 'प्रत्ययलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणं कार्यं भवति' इति समासान्तर्वर्त्तिविभक्त्याश्रयणाद्भिन्नपदत्वे सति न णत्वम् ॥१५॥ सूत्रम्—

सर्वादेः स्मैस्मातौ ॥ १६ ॥ [सि० १।४।७]

सर्वादेरकारान्तस्य ङेङस्योः स्मैस्मातौ स्याताम् । सर्वस्मै सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः । सर्वस्मात् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः । सर्वस्य सर्वयोः ॥ १६ ॥

सर्व आदिर्यस्य स सर्वादिस्तस्मात् सर्वादि ५-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । स्मै च स्माच्च स्मैस्मातौ, स्मैस्मात् १-२ "लोकात्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । सर्वेभ्य इत्यत्र "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वम् ॥ १६ ॥ सूत्रम्—

अवर्णस्यामः साम् ॥ १७ ॥ [सि० १।४।१५]

अवर्णान्तस्य सर्वादेरामः साम् स्यात् । ऐत्वषत्वे । सर्वेषाम् ॥ १७ ॥

अवर्ण० । अवर्ण ६-१ "टाङसो०" । आम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । साम् १-१ "दीर्घङ्या०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । ऐत्वषत्वे इति—"पुनरेषाम्" इत्यादिसूत्रनिर्देशात् ज्ञापकात्, सन्निपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वात् (च) "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति षत्वमित्यर्थः ॥१७॥ सूत्रम्—

ङेः स्मिन् ॥ १८ ॥ [सि० १।४।८]

सर्वादेरकारान्तस्य ङेः स्मिन् स्यात् । सर्वस्मिन् । सर्वयोः । सर्वेषु । हे सर्व, हे सर्वौ, हे सर्वे ॥१८॥

ङेः० ङि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०" । स्मिन् १-१ "दीर्घङ्या०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । सर्वयोरिति—"एद्बहु०" एत्वे "एदैतो०" । सर्वेषु इति—"एद्बहु०" एत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति षः । हे सर्वे इत्यत्र "जस इः" ॥ १८ ॥ सूत्रम्—

नवभ्यः पूर्वेभ्य इस्मात्स्मिन्वा ॥ १९ ॥ [सि० १।४।१६]

पूर्वादिनवकात् जसङसिङीनाम् इस्मात्स्मिनो वा स्युः । पूर्वे पूर्वाः । पूर्वस्मात् पूर्वात् । पूर्वस्मिन् पूर्वे । नवकादिति किम्? त्ये ॥ १९ ॥

नव० । नवन् ५-३ भ्यस् "नाम्नो नो०" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । पूर्व ५-३ भ्यस् "एद्बहु०" "सो रुः" । "रोर्यः" तस्य लुगसन्धिश्च । इश्च स्माच्च स्मिन् च इस्मात्स्मिन् १-१ "अनतो लुप्" । वा १-१ "अव्ययस्य" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् ॥ त्यद् १-३ "आद्वेरः" "लुगस्या०" त्य "जस इः" "अवर्णस्ये०" ॥ १९ ॥ सूत्रम्—

नेमार्द्धप्रथमचरमतयायाल्पकतिपयस्य वा ॥ २० ॥ [सि० १।४।१०]

नेमादीनां शब्दानां तयायप्रत्ययान्तानां च जस इर्वा स्यात् । नेमे नेमाः । द्वितये द्वितयाः । त्रये त्रयाः । अत्र नेमशब्दस्य सर्वादित्वान्नित्यं प्राप्ते, शेषाणां चाप्राप्ते विकल्पः ॥ २० ॥

नेम० । नेमश्च अर्द्धश्च प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अयश्च अल्पश्च कतिपयश्च नेमार्द्धप्रथमचरमतयायाल्पकतिपयं तस्य नेमार्द्ध० ६-१ "टाङसो०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । द्विपदमिदं सूत्रम् । नेमादीनां शब्दानां षण्णामित्यर्थः, तयायप्रत्ययान्तानां चेति द्वितयद्वयादिशब्दानामित्यर्थः । द्वौ अवयवौ येषां ते *"अवयवात्तयट्" (७।१।१५१) अवयववृत्तेः सङ्ख्यार्थात् स्यन्तात्षष्ठ्यर्थेऽवयविनि तयट् स्यात् । "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुपि "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति अवयवशब्दाप्रयोगे द्वितय १-३ अनेन विकल्पेन "जस इः" द्वितये द्वितयाः, एवमेकतयत्रितयचतुष्टयपञ्चतयषट्तयसप्ततयाष्टतयनवतयदशतयविंशतितयशततयसहस्रतयलक्षतयप्रभृतयो ज्ञेयाः । *"द्वित्रिभ्यामयड्वा" (७।१।१५२) आभ्यामवयवार्थाभ्यां स्यन्ताभ्यां षष्ठ्यर्थेऽयड् वा स्यात् । द्वये द्वयाः । तयट् अयट् इत्यत्र टित्वात् स्त्रियां "अणञे-येकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (२।४।२०) इति ङ्यां द्वितयी द्वयी इत्यादि भवति । शेषाणां चाप्राप्ते इति अर्द्धप्रथमचरमतयायाल्पकतिपयानां सर्वादित्वाभावादप्राप्ते विकल्प इति भावः ॥ २० ॥ सूत्रम्—

द्वन्द्वे वा ॥ २१ ॥ [सि० १।४।११]

द्वन्द्वसमासे सर्वादीनां जस इर्वा स्यात् । पूर्वापरे पूर्वापराः ॥ २१ ॥

द्वन्द्वे० । द्वन्द्व ७-१ अवर्णस्ये० । वा १-१ "अव्ययस्य" । द्विपदमिदं सूत्रम् । पूर्वे च परे च पूर्वापरे १-३ पक्षे पूर्वापराः ॥ २१ ॥ सूत्रम्—

न सर्वादिः ॥ २२ ॥ [सि० १।४।१२]

द्वन्द्वे सर्वादिः सर्वादिर्न स्यात् । पूर्वापराय । कतरकतमानाम् ॥ २२ ॥

न० । न १-१ "अव्ययस्य" । सर्व आदिर्यस्य स सर्वादिः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । पूर्वश्च अपरश्च पूर्वापरं तस्मै पूर्वापर ४-१ "ङेङस्योः०" "अत आः स्यादौ०" द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टः कः "यत्तत्किमन्यात्" इति किम्शब्दात् डतरः कतरः १-१, बहूनां मध्ये प्रकृष्टाः के इति "बहूनां प्रश्ने डतमश्च" इति किम्शब्दात् डतमः "डित्यन्त्यस्वरादेः" कतरश्च कतमश्च कतरकतम ६-३ "ह्रस्वापश्च" "दीर्घो नाम्य०" । दक्षिणोत्तरपूर्वाणामित्यत्र "सर्वादयोऽस्यादौ" इति पुंवद्भावो भवत्येव तत्र भूतपूर्वस्यापि सर्वादेर्ग्रहणात् ।

तथा "**तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे**" (सि० १।४।१३) तृतीयान्तात्परौ पूर्वावरौ योगे सम्बन्धे सति सर्वादी न स्याताम् । मासेन पूर्वाय मासपूर्वाय, दिनेनावराय दिनावराय, दिनेनावराः दिनावराः । तृतीयान्तादिति किम् ? ग्रामात्पूर्वस्मै मासेन । योग इति किम् ? यास्यति चैत्रो मासेन, पूर्वस्मै दीयतां कम्बलः ॥ २२ ॥ सूत्रम्—

तीयं ङित्कार्ये वा ॥ २३ ॥ [सि० १।४।१४]

तीयान्तं ङेङसिङिषु सर्वादिर्वा स्यात् । द्वितीयस्मै द्वितीयाय । द्वितीयस्मात् द्वितीयात् । द्वितीयस्मिन् द्वितीये । तृतीयस्मै तृतीयाय । तृतीयस्मात् तृतीयात् । तृतीयस्मिन् तृतीये । शेषं देववत् ।

उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । उभयशब्दस्य द्विवचनाभावः । एवं च द्वित्वे उभशब्द एकत्वबहुत्वयोश्चोभयशब्दः प्रयोज्यः—उभयो मणिः उभये देवमनुष्याः । मासशब्दस्य [२]विशेषः ॥ २३ ॥

तीयं० । तीय १-१ "अतः स्यमोऽम्" "समाना०" । ङितां कार्यं ङित्कार्यं तस्मिन् ङित्कार्ये ७-१ "अवर्णस्ये०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । तीयान्तमिति तीयप्रत्ययान्तौ द्वितीयतृतीयशब्दावित्यर्थः । ङसो ङित्वेऽपि सर्वादिकार्याभावादत्रानुपादानमित्याह—ङेङसिङीनां कार्ये इति । अत्रैव सर्वादित्वं नान्यत्र तेनाक् न भवति, तथा च कप्प्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्तादग्रहणात् स्मैप्रभृतयो न भवन्ति कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा द्वितीयो द्वितीयकस्तस्मै द्वितीयकायेत्यादि भवतीति । द्वयोः ६-२ सङ्ख्यापूरणः १-१ "द्वेस्तीयः" इति द्वितीयः । त्रयाणां ६-३ सङ्ख्यापूरणः १-१ *'त्रेस्तीयस्तृत्वं चास्ये'ति तृतीयः । द्वितीयस्मै द्वितीयायेति चतुर्थ्येकवचने, पञ्चम्येकवचने द्वितीयस्मात् द्वितीयात्, सप्तम्येकवचने द्वितीयस्मिन् द्वितीये । एवं तृतीयस्मै तृतीयाय । उभयो मणिरिति १-१ उभयं २-१ उभयेन ३-१ उभयस्मै ४-१ उभयस्मात् ५-१ उभयस्य ६-१ उभयस्मिन् ७-१ उभये १-३ उभयान् २-३ उभयैः ३-३ उभयेभ्यः २ [४-३।५-३] उभयेषां ६-३ उभयेषु ७-३ इति । उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः अस्तीति हरदत्तः इति सिद्धान्तकौमुद्याम् । तथा समासविषये उभशब्दस्य स्थाने उभयशब्दप्रयोग एव साधुः, यदाह कैयटः—उभादुदात्तो नित्यमिति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनम् वृत्तिविषये उभशब्दप्रयोगो माभूत्, उभयशब्दस्यैव यथा स्यादित्युभयपुत्र इत्यादि भवतीति । **पुनरपि अकारान्तशब्देषु [२]विशेषमाह** ॥ २३ ॥ सूत्रम्—

मासनिशाऽऽसनस्य शसादौ लुग्वा ॥ २४ ॥ [सि० २।१।१००]

शसादौ स्यादावेषां लुग्वा स्यात् । 'षष्ठ्या निर्दिष्टेऽन्त्यस्य कार्यम्' । मासः मासान् मासा मासेन ॥ २४ ॥

मास० । मासश्च निशा च आसनं च मासनिशासनं १-१ तस्य मासनिशासन ६-१ "टाङसो०" । शस् १-१ आदिः १-१ यस्य स शसादिः तस्मिन् शसादि ७-१ "ङिर्डौ" "डित्यन्त्य०" । लुग् १-१ "दीर्घ०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति परिभाषा । मासभ्याम् इति स्थिते अनेन अकारलोपे मास् भ्याम् इति स्थिते कार्यान्तरमाह—॥ २४ ॥ सूत्रम्—

नाम सिदय्व्यञ्जने ॥ २५ ॥ [सि० १।१।२१]

सिति प्रत्यये यवर्जव्यञ्जनादौ च परे नाम पदं स्यात् । अवर्णभोरिति रुलुकि माभ्याम् ।

"धुटस्तृतीयः" इति दत्वे माद्भ्याम् । मासाभ्याम् । सर्वविभक्तिषु वा लुगिति केचित्–माः, मासः ॥ २५ ॥

नाम० । नामन् १-१ "अनतो लुप्" "नाम्नो नो०" । स् इत् यस्य स सित्, न विद्यते य् यत्र तद् अय्, अय् च तद्व्यञ्जनं च अय्व्यञ्जनं सिच्च अय्व्यञ्जनं च सिदय्व्यञ्जनं ७-१ "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । सिति प्रत्यये इति तस्योदाहरणमेवम्–भवतः ६-१ अयम् १-१ भवदीयः "भवतोरिकणीयसौ" इति ईयस् । अस्य सित्वात्पदसंज्ञायां "धुटस्तृतीयः" इति तस्य दः । यवर्जनात् ये परे नाम्नः पदसंज्ञा न भवति–वाच् वाचमिच्छति "अमाव्ययात् क्यन् च" इति यप्रत्यये वर्त्तमानातिव् "कर्त्तर्य०" "लुगस्या०" वाच्यति, यदि त्वत्र पदसंज्ञा स्यात्तदा "चजः कगम्" इति कत्वे वाक्यतीति स्यात् ॥ ततोऽनेन पदसंज्ञायां "सो रुः" इति सस्य रुः ततो अवर्णभोरिति रुलुक् । पक्षे "धुटस्तृतीयः" इति दत्वे इति–'दन्त्या लृतुलसा' इति वचनात् स्थान्यासन्नः सकारस्य तवर्गसम्बन्धी तृतीयो दकारो भवतीत्यर्थः । 'केचिदिति सारस्वतीयाः । तथाहुः–'मासस्यालोपो वा' मासशब्दस्याकारस्य लोपो वा भवति सर्वविभक्तिषु परतः, मा मासः इत्यादि । निशाशब्दः स्वरान्तस्त्रीलिङ्गे आसनशब्दश्च स्वरान्तनपुंसकलिङ्गे वक्ष्यते । पुनरप्यकारान्तानां शब्दानामेव विशेषमाह–॥ २५ ॥ सूत्रम्—

दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नस्हृदसन्यूषन्नुदन्दोषन्यकञ्शकन् वा ॥ २६ ॥ [सि० २।१।१०१]

शसादौ स्यादौ परे दन्तादीनां दशानां दत्प्रभृतयो दशादेशाः वा स्युः । दतः दन्तान् । दद्भ्याम् दन्ताभ्याम् । पदः पादान् । पद्भ्याम् पादाभ्याम् ॥ २६ ॥

दन्त० । दन्तश्च पादश्च नासिका च हृदयं च असृग् च यूषश्च उदकं च दोस् च यकृच्च शकृच्च दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्यकृच्छकृत् तस्य दन्त० ६-१ "लोकात्" "सो रुः" दत् च पत् च नस् च हृद् च असन् च यूषन् च उदन् च दोषन् च यकन् च शकन् च दत्पन्नस्हृदसन्यूषन्नुदन्दोषन्यकञ्शकन् १-१ "अनतो लुप्" । वा १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । दन्तपादयूषा अत्र प्रस्तुताः, शेषा यथास्थानं वक्ष्यन्ते । दतः दन्तानिति शसि रूपम्, दता दद्भ्यां दद्भिः दत्सु । एवं पदः पदा पद्भ्यां पत्सु । पक्षे तु सर्वाणि रूपाणि देववत् । यूषशब्दस्य यूषन्नादेशे यूषन् २-३ अस् इति स्थिते कार्यान्तरमाह ॥ २६ ॥ सूत्रम्—

अनोऽस्य ॥ २७ ॥ [सि० २।१।१०८]

ङ्यामघुट्स्वरे च अनोऽस्य लुक् स्यात् । यूष्णः, यूषान् ॥ २७ ॥

अनो० । अन् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अ ६-१ "टाङसो०" । "अतोऽति०" "अवर्ण०" । "एदोतः०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन अकारलोपे "रषृवर्णा०" पक्षे यूषान् । तृतीयैकवचने यूष्णा, यूषेण । तृतीयाद्विवचने यूषन् भ्यामिति स्थिते कार्यान्तरमाह ॥ २७ ॥ सूत्रम्—

नाम्नो नोऽनह्नः ॥ २८ ॥ [सि० २।१।९१]

पदान्ते नाम्नो नस्य लुक् स्यात् स चेदह्नो न स्यात् । यूषभ्याम् । यूषाभ्याम् ॥ २८ ॥

नाम्नो० । नामन् ६-१ "अनोऽस्य" इत्यलुपि "लोकात्" "सो रुः" । न् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । न अहन् अनहन् तस्य अनहन् ६-१ "अनोऽस्य" "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" ।

एकत्र "घोषवति" अन्यत्र "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । स चेदह्नो न स्यादिति स नकारश्चेदहन्शब्दसम्बन्धी न स्यात्तदा लोपः स्यात् । अहन्शब्दसम्बन्धिनकारस्य तु लोपो न स्यादित्यर्थः । यथा अहन्भ्यामित्यत्र पदसंज्ञासद्भावेऽपि अनेन नकारलोपनिषेधात् "अह्नः" इति नस्य रुत्वे अहोभ्याम् । स्त्रीलिङ्गे "स्त्रियां नृतो०" (२।४।१) इति विहितायां ङ्यामप्यनो नकारस्य लोपो भवति यथा राज्ञी । सप्तम्येकवचने यूषन् ७-१ इति स्थिते "अनोऽस्य" इति सूत्रे प्राप्ते विशेषसूत्रमाह ॥ २८ ॥ सूत्रम्—

ईङौ वा ॥ २९ ॥ [सि० २।१।१०९]

ईकारे ङौ च परेऽनोऽस्य लुग्वा स्यात् । यूष्णि, यूषणि, यूषे ॥ २९ ॥

ईश्च ङिश्च ईङि तस्मिन् ईङि ७-१ "ङिङौ" "ङित्यन्त्य०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । द्विपदमिदम् । रूपत्रयं स्पष्टम् । **नपुंसकलिङ्गे** "औरीः" इति जाते ईकारेऽपि अनो लोपो वा प्रियराज्ञी प्रियराजनी कुले । **दन्तपादौ** प्रतीतौ । **यूषा** नाम अन्नरसः; "शिखरिण्यथ यूर्यूषो रसो" इति वचनात् । एवं निर्जरशब्दस्यापि "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इति "जराया जरस्वा" इति अन्यसम्बन्धिन्यपि स्वरादौ स्यादौ जरसादेशविधानात् निर्जरसौ निर्जरौ २, निर्जरसः निर्जराः निर्जरसं निर्जरम्; निर्जरसः, निर्जरान् । टाङसोः परत्वान्नित्यत्वाच्च प्रागेव जरसादेशेऽकारान्तत्वाभावादिनस्यौ न स्याताम्—निर्जरसा निर्जरसः । अन्ये तु प्रागेवेनादेशं सन्निपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् पश्चाज्जरसादेशं चेच्छन्तो निर्जरसेन इत्यपि मन्यन्ते, पक्षे निर्जरेण निर्जरस्य । निर्जर भिस् इति स्थिते भिस ऐस्त्वे निर्जरसैः **अत्र** *"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" यो यस्माज्जातः स तस्य विघाताय न भवतीति अकारनिमित्तक ऐसादेशोऽकारविघाताय न स्यादिति जरसादेशो न प्राप्नोति, **परं** एस् इत्येव सिद्धे ऐसादेशकरणेनायं न्यायोऽनित्यो ज्ञाप्यते, ऐस्करणं हि निर्जरसैरिति रूपसिद्ध्यर्थम् । **केचित्तु** निर्जरैरित्येवेच्छन्ति । एवं पञ्चम्येकवचनेऽपि निर्जरसः निर्जरसात् निर्जरात् इति रूपत्रयम् । शेषा रूपपद्धतिः स्पष्टा ॥ २९ ॥

आकारान्तो विश्वपाशब्दः । विश्वपाः विश्वपौ विश्वपाः । "समानादमोतः" विश्वपाम्, विश्वपौ

आकारान्तो विश्वपाशब्द इति, विश्वं पातीति विश्वपा १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । विश्वपा १-२ "ऐदौ०" । विश्वपा १-३ "समानानां०" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । विश्वपा २-१ "समानाद०" । विश्वपा २-२ "ऐदौ०" । विश्वपा शस् इति स्थिते सूत्रम्—

लुगातोऽनापः ॥ ३० ॥ [सि० २।१।१०७]

आप्वर्जस्याकारस्य ङ्यां शसादौ स्वरे परे च लुक् स्यात् । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्याम् । अदेतःस्यमोरित्यत्रात एव लुक उक्तत्वात् सम्बोधने सिलोपाभावः । हे विश्वपाः । एवं सोमपाप्रभृतयः ॥ ३० ॥

लुक् १-१ "दीर्घ०" । आत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । न आप् अनाप् तस्य अनाप् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गः "अतोति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । एवं सोमपाप्रभृतय इति आप्वर्जस्य आकारस्य सामान्यतो लुक्कथनात् हाहाशब्दस्याकारलोपो भवति यथा हाहः २-३ हाहा ३-१ हाहे ४-१ हाहः ५-१ हाहः ६-१ हाहोः ६-२ हाहां ६-३ हाहि ७-१ इत्यादि भवति । **अन्ये** तु धातुसम्बन्धिन एव आकारस्य लोपमिच्छन्ति

तन्मते हाहाशब्दसम्बन्धिन आतो लोपो न स्यात्। हाहान् २-३ हाहा ३-१ हाहै ४-१ हाहाः ५-१ हाहाः ६-१ हाहौः ६-२ ७-२ हाहे ७-१ इत्यादि भवति। 'शेषं विश्वपाशब्दवत् ॥ ३० ॥

✦इकारान्तो मुनिशब्दः–मुनिः✦

अथ इकारान्ता शब्दा उच्यन्ते। मुनिः, मुनि १-२ औ इति स्थिते सूत्रम्—

इदुतोऽस्त्रेरीदूत् ॥ ३१ ॥ [सि० १।४।२१]

स्त्रेरन्ययोरिदुतोरौता सह दीर्घः स्यात्। मुनी ॥ ३१ ॥

इदुतो०। इच्च उच्च इदुत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" न स्त्रिः अस्त्रिः ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" ईच्च ऊच्च ईदूत् १-१ "अनतो०"। त्रिपदमिदं सूत्रम् ॥ ३१ ॥ मुनि १-३ अस् इति स्थिते सूत्रम्—

जस्येदोत् ॥ ३२ ॥ [सि० १।४।२२]

इदुदन्तयोर्जसि परे एदोतौ स्याताम्। मुनयः। मुनिम्। मुनी। मुनीन् ॥ ३२ ॥

जस् ७-१ "लोकात्"। एच्च ओच्च एदोत् १-१ "अनतो०"। द्विपदमिदं सूत्रम् ॥ ३२ ॥ मुनि ३-१ आ इति स्थिते सूत्रम्—

टः पुंसि ना ॥ ३३ ॥ [सि० १।४।२४]

इदुदन्ताभ्यां पुंसि टाया ना स्यात्। मुनिना। मुनिभ्याम्। मुनिभिः ॥ ३३ ॥

टा ६-१ "लुगातो०" लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। पुम्स् ७-१ "लोकात्" "शिड्हेऽनुस्वारः"। ना १-१ सूत्रत्वाल्लोपः। त्रिपदमिदं सूत्रम् ॥ ३३ ॥ मुनि ४-१ ए इति स्थिते सूत्रम्—

ङित्यदिति ॥ ३४ ॥ [सि० १।४।२३]

दिद्वर्जिते ङिति स्यादौ परे इदुतोरेदोतौ स्याताम्। मुनये। मुनिभ्याम्। मुनिभ्यः ॥ ३४ ॥

ङि०। ङ् इत् यस्य स ङित् ७-१ "लोकात्"। द् इत् यस्य स दित् न दित् अदित् तस्मिन् अदित् ७-१ "लोकात्"। "इवर्णा०"। द्विपदमिदं सूत्रम्। बुद्धि ४-१ इत्यादौ ङितां दैदासाद्यादेशेऽपि स्थानिवद्भावेन ङित्वादेदोतौ प्राप्नुत इत्यत आह अदितीति, "एदैतो०" मुनये। मुनि ५-१ मुनि ६-१ अस् इति स्थिते ङित्यदितीत्येत्वे ॥ ३४ ॥ सूत्रम्—

एदोद्भ्यां ङसिङसो रः ॥ ३५ ॥ [सि० १।४।३५]

प्रत्ययस्य स्थानिनो विधिः सर्वस्य स्यात्। मुनेः। मुनिभ्याम्। मुनिभ्यः। मुनेः। मुन्योः। मुनीनाम् ॥ ३५ ॥

एदो०। एच्च ओच्च एदोतौ ताभ्यां एदोत् ५-२ भ्याम् "धुटस्तृ०"। ङसिश्च ङस् च ङसिङस् तस्य ङसिङस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। रः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। "घोषवति" "अवर्णस्ये०"। त्रिपदमिदं०। "इवर्णादेरस्वे स्वरे यरलवम्" "धेनोर्भव्यायाम्" इत्यादिसूत्रनिर्देशात् "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः०" इति परिभाषाया अनित्यत्वात् लाक्षणिकयोरपि मुनेः साधोरित्येतयोरेदोतोर्ग्रहणमन्यथा लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति अतिहेगोप्रभृतेरेव ग्रहणं प्रसज्येत। "गोर्नाम्न्यवोऽक्षे" इत्यादि निर्देशाच्च "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे" इत्यस्याप्यनित्यत्वं विज्ञायते, ततश्च स्वरूपग्रहणार्थकेन तकारेणोभयोरप्येदोतोर्ग्रहणं सिद्धमिति। ङसिङसोरित्यत्र षष्ठीद्विवचने "यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्" इति

प्राप्नोतीति षष्ठ्येकवचनमेव । "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति परिभाषायां प्राप्तायामपवादपरिभाषामाह "प्रत्ययस्य०" इत्यादि ॥ ३५ ॥ मुनि ७-१ इ इति स्थिते सूत्रम्—

ङिर्डौ ॥ ३६ ॥ [सि० १।४।२५]

इदुदन्तात्परो ङिर्डौ स्यात् ॥ ३६ ॥

ङि १-१ "सो रुः"। डौ १-१ सूत्रत्वात्सिलुक् । द्विपदमिदं० । मुनि औ इति स्थिते ॥३६॥ सूत्रम्—

डित्यन्त्यस्वरादेः ॥ ३७ ॥ [सि० २।१।११४]

अन्त्यस्वरस्य तदादेः शब्दस्य च डित्प्रत्यये लुक् स्यात् । "आद्यन्तवदेकस्मिन्" । मुनौ । मुन्योः । मुनिषु ॥ ३७ ॥ सम्बोधने—

डित्यन्त्य० । ड् इत् यस्य स डित् तस्मिन् डित् ७-१ "लोकात्"। अन्ते भवः अन्त्यः अन्त्यश्चासौ स्वरश्च अन्त्यस्वरः, अन्त्यस्वरः आदिर्यस्य स अन्त्यस्वरादिस्तस्य अन्त्यस्वरादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०"। द्विपदमिदं सूत्रम् । ननु द्वादशानां सङ्ख्यापूरणः "सङ्ख्यायाः पूरणे डट्" इति डट्प्रत्यये अनेन अन्लोपो भवतु अन्त्यस्वरादित्वात्, प्रकृते तु केवल एवान्त्यस्वर इति कथं लोप इत्याशङ्कायामाह—"आद्यन्तवदिति" एकस्मिन्नप्याद्यन्तयोरिव सतोः कार्यं पर्यालोच्यते इत्यन्त्यस्वरादित्वमिति ॥ ३७ ॥ सम्बोधने प्रथमैकवचने विशेषमाह—

ह्रस्वस्य गुणः ॥ ३८ ॥ [सि० १।४।४१]

सिना सह । हे मुने हे मुनी हे मुनयः । एवं रविप्रभृतयः । साधुप्रभृतय उकारान्ता अप्येवम्—साधुः साधू साधवः । साधुम् साधू साधून् । साधुना साधुभ्याम् साधुभिः । साधवे साधुभ्याम् साधुभ्यः । साधोः साधुभ्याम् साधुभ्यः । साधोः साध्वोः साधूनाम् । साधौ साध्वोः साधुषु । हे साधो हे साधू हे साधवः ॥ ३८ ॥

ह्रस्व० । ह्रस्व ६-१ "टाङसो०"। गुणः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। द्विपदमिदं० । हे मुने । एवं रविप्रभृतय इति पुंलिङ्गे इकारान्ता शब्दाः सर्वे यथोक्तमुनिशब्दवत् ज्ञेया इत्यर्थः । पुंलिङ्गे उकारान्ता अप्येतैरेव सूत्रैः साध्यन्ते तत्र रूपनयमाह—साधु १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०", साधु १-२ "इदुतो०", साधु १-३ "जस्ये०" "ओदौतो०" "लोकात्" । साधु २-१ "समानाद०" साधु २-२ "इदुतो०", साधु २-३ "शसोता०" । साधु ३-१ "टः पुंसि ना" साधुना, साधु ३-२, साधु ३-३ । साधु ४-१ "ङित्य०" "ओदौतो०" "लोकात्", साधु ४-२ साधु ४-३ । साधु ५-१ "ङित्य०" "एदोद्भ्यां०", साधु ५-२, साधु ५-३ । साधु ६-१ "ङित्य०" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०", साधु ६-२ "इवर्णा०" "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते", साधु ६-३ "ह्रस्वाप०" "दीर्घो नाम्य०" । साधु ७-१ "ङिर्डौ" "डित्यन्त्य०" "लोकात्", साधु ७-२ "इवर्णा०" "लोकात्", साधु ७-३ 'नाम्यन्तस्था०" । हे साधु १-१ "ह्रस्वस्य०", साधु १-२ 'इदुतो०', साधु १-३ "जस्ये०" "ओदौ०" "लोकात्" ॥ ३८ ॥

॥ अथ इकारान्तेषु विशेषमाह ॥

अतिक्रान्तः स्त्रियमतिस्त्रिः ।

अतिक्रान्तः स्त्रियमतिस्त्रिः, स्त्री २-१ अति १-१ इति स्थिते स्त्रियमतिक्रान्त इति विग्रहे "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः" इति तत्पुरुषसमासे "ऐकार्थ्ये" इति विभक्ति-

लोपे "प्रथमोक्तं प्राक्" इति अतिशब्दस्य प्रागुनिपाते गौणस्य ङ्याबन्तस्यान्तस्थस्य ह्रस्वो वक्तव्यः इति ह्रस्वे अतिस्त्रि १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०"। अतिस्त्रि १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

स्त्रियाः ॥ ३९ ॥ [सि० २।१।५४]

स्त्रिया इवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये परे इय् स्यात्। अतिस्त्रियौ। जसि, तृतीयादौ च मुनिवत्। अतिस्त्रियः ॥ ३९ ॥

स्त्रि०। स्त्री ६-१ "स्त्रीदूतः" इति ङसो दासादेशः अनेनैव इयादेशो स्त्रियाः। एकपदमिदं सूत्रम्। अतिस्त्रियौ इति "इदुतोऽस्त्रेरीदूत्" इत्यत्र स्त्रिशब्दवर्जनात् न दीर्घः। इदमेव स्त्रिशब्दवर्जनं ज्ञापकम् यत्परेणापि इयादेशेनेत्कार्यं न बाध्यते, तेन "जस्येदोत्" "ङित्यदिति" "टः पुंसि ना" "ङिडौं" इत्येतेषु विधिषु अतिस्त्रिशब्दो मुनिशब्दवद्विज्ञायते; अन्यथा "स्त्रियाः" इतीयादेशे न्यायप्राप्ते स्त्रिवर्जनमनर्थकं स्यात् एतन्मनसि विचिन्त्याह 'जसि तृतीयादौ च मुनिवत्' इति ॥ ३९ ॥ अम्शसो विशेषमाह—

वाऽम्शसि ॥ ४० ॥ [सि० २।१।५५]

स्त्रिया इय्। अमि शसि च वा। अतिस्त्रिम् अतिस्त्रियम्। अतिस्त्रियः अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रौ। ओसि च इयादेशः—अतिस्त्रियोः २। तथोक्तम्—

"ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्–शसोस्तु विभाषया।
इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने" ॥ १ ॥

अनामन्त्र्यस्य सखिशब्दस्य सेर्डा वक्तव्यः ["ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डा" सि० १।४।८४] सखा। अतिसखा। आमन्त्रणे तु हे सखे ॥ ४० ॥

वा १-१ "अव्ययस्य" अम् च शस् च अम्शस् तस्मिन् अम्शस् ७-१ "लोकात्"। द्विपदमिदं सूत्रम्। शेषाणि रूपाणि मुनिवत्। अथातिस्त्रिशब्दस्य यत्र इयादेशो नित्यं भवति यत्र विकल्पेन भवति यत्र च न भवति तत्सर्वं स्पष्टयितुं सिद्धान्तकौमुद्युक्तं श्लोकमाह—ओस्यौकारे चेति-ओसि षष्ठीसप्तमीद्विवचनयोः, औकारे चेति प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोः, एषु चतुर्षु नित्यम्; अम्शसोस्तु विभाषयेति विकल्पेन, अन्यत्र अचि स्वरादौ जसूटाङेङसिङस्सु इयादेशो न भवतीति भावः। स्त्रिया इति स्त्रीशब्दस्य पुंस्युपसर्जने इति गौणस्येत्यर्थः "गुणोपसर्जनोपाग्राण्यप्राधान्ये" इति हैमाभिधानचिन्तामणौ ॥ अनामन्त्र्यस्येति "सख्युरितोऽशावैत्" इति सूत्रात् इत इत्यनुवर्त्तनीयम्, ततश्चानामन्त्र्यस्य इकारान्तस्य सखिशब्दस्य सेर्डा वक्तव्य इति "डित्यन्त्य०" सखा। अनामन्त्र्यस्येति किम्? आमन्त्रणे तु हे सखे इति "ह्रस्वस्य गुणः" इति गुणः। इकारान्तस्येति किम्? सखायमिच्छति सखीयति, सखीयतीति सखीः अत्र सेर्डा न भवति। सिद्धान्तकौमुद्यां तु सखायमिच्छति सखीयति ततः क्विप् अल्लोपयलोपौ अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद्यणि प्राप्ते क्वौ लुप्तं स्थानिवत् एकदेशविकृतस्यानन्यतयाऽनङ्णित्वे सखा सखायौ सखायः हे सखीः। अमिपूर्वरूपात्परत्वाद्यणि प्राप्ते ततोऽपि परत्वात् सख्युरसम्बुद्धाविति प्रवर्त्तते सखायं सखायौ शसि यण् सख्यः इत्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ४० ॥ सखि १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

सख्युरितोऽशावैत् ॥ ४१ ॥ [सि० १।४।८३]

इदन्तस्य सखिशब्दस्य स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा शिवर्जे शेषे घुटि ऐत् स्यात्। सखायौ सखायः। सखायम् सखायौ सखीन् ॥ ४१ ॥

सखि ६-१ । "न नाङिदेत्" एत्वनिषेधः "इवर्णा०" "खितिखीतीय उर्" इति ङस उर् । इत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" न शिः अशिः तस्मिन् अशि ७-१ "ङिडौं" "डित्यं०" ऐत् १-१ "दीर्घङ्या०" । मध्ये "अतोति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" "ओदौतो०" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । शिवर्जे इति जसूशसादेशशिवर्जनात् अतिसखानि कुलानि सन्ति पश्येत्यत्र ऐत्वं न भवति । प्रथमैकवचने तु सेर्डाविधानादैत्वं न भवति ततः प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरमि शसि चेति चतुर्षु ऐत्स्यादित्यर्थः । स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनीत्यभिधानात् प्रियसखायौ प्रियसखायः इत्यादि । इदन्तस्येति किम् ? इमे सख्यौ—सखायमिच्छति सखीयति सखीयतीति सखीः, सख्यौ इत्यत्र ऐत्वं न भवति । इदमेवेद्ग्रहणं ज्ञापयति "नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" "एकदेशविकृतमन्यवत्" इति च, अन्यथा क्यन्तस्य क्विबन्तस्य च सखीशब्दस्य सखिग्रहणेऽग्रहणादिद्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥ ४१ ॥ सूत्रम्—

न नाङिदेत् ॥ ४२ ॥ [सि० १।४।२७]

केवलसखिपतेर्यष्टाया ना ङिति परे एचोक्तः, स न स्यात् । सख्या सख्ये । केवलेत्युक्तेः समस्तस्य स्यात् । प्रियसखिना प्रियसखये ॥ ४२ ॥ पञ्चमीषष्ठ्येकवचनयोरेत्वनिषेधात् "इवर्णादेः०" इति यत्वे

न १-१ "अव्ययस्य" ङिति एत् ङिदेत् ना च ङिदेच्च नाङिदेत् १-१ "दीर्घङ्या०" द्विपदमिदं सूत्रम् । समस्तस्येति समासस्थस्य सखिशब्दस्य नादयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥ सूत्रम्—

खितिखीतीय उर् ॥ ४३ ॥ [सि० १।४।३६]

एतत्सम्बन्धियात्परयोर्ङसिङसोरुर् स्यात् । सख्युः । सख्युः ॥ ४३ ॥

खिति० । खिश्च तिश्च खीश्च तीश्च खितिखीत्यः खितिखीतीनां य् खितिखीतीय् तस्मात् खितिखीतीय् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" । उर् १-१ "दीर्घङ्या०" "रोर्यः" तस्य स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च । द्विपदमिदं सूत्रम् । **अत्र** ह्रस्वान्तौ खितिशब्दौ सखिपतिशब्दसम्बन्धिनौ दीर्घान्तौ खीतीशब्दौ नामधातु–सखीपतीशब्दसम्बन्धिनौ । सखि २-१ पति २-१ सखायं पतिं चेच्छति "अमाव्ययात् क्यन् च" इति क्यन्प्रत्ययः "ऐकार्थ्ये" इत्यमुलुप् "दीर्घश्च्वि०" इति दीर्घे सखीय पतीय इति नामधातू सिद्धौ ततः सखीयति पतीयति इति क्विप् "अतः" इति अलुप्, "य्वोः प्व्य्व्यञ्जने लुक्" इति यूलुक् सखीः पतीः इति सिद्धम् । अथवा सह खेन वर्त्तते इति सखः सखं सुखं चेच्छतीति क्यनि क्विपि सखीः सुखीः पततीति पतः पतं सातं चेच्छति इति क्यनि क्विपि पतीः सातीः "योऽनेकस्वरस्य" इति यत्वे सख्यौ सुख्यौ पत्यौ सात्यौ। अनेन ङसिङसोरुरादेशे सख्युः सुख्युः पत्युः सात्युः "ऋल्वादेरेषां तो नोऽप्रः" इति क्तस्य नत्वे लूनं पूनं चेच्छति लूनीः पूनीः लून्यौ पून्यौ ॥ *"क्षैशुषिपचो मकवम्" एभ्यः परस्य क्तयोस्तकारस्य यथासङ्ख्यं मकवाः स्युः । क्षामः क्षामवान् शुष्कः २ पक्वः २ क्षाममिच्छतीति क्षामीः क्षाम्यौ ॥ *"प्रात्तश्च मो वा" प्रात्केवलात्परस्य स्त्यायतेः क्तयोः परयोः स्ती आदेशः क्तयोस्तकारस्य च वा मकारो भवति । प्रस्तीमः प्रस्तीमवान् प्रस्तीतः २ प्रस्तीममिच्छति प्रस्तीमीः प्रस्तीम्यौ । अत्र च **"क्तादेशोऽषि"** (सि० २।१।६१) कोपलक्षितो यः क्तक्तवतुक्तिक्त्वानां तकारस्तस्य य आदेशः स षादन्यस्मिन्परे कार्ये स्यादिविधौ च कर्त्तव्येऽसन् स्यात् । क्षामस्यापत्यं क्षामिः सोऽत्रास्तीति क्षामिमान् अत्र मत्वस्यासत्वान् "मावर्ण०" इति मो वो न स्यात् । शुष्किका अत्र ककारस्यासत्त्वात् "स्वज्ञाज०" इत्यादिना इत्वविकल्पो न स्यात्, "अस्यायत्तत्०" इति नित्यमेवेत्वम् । पक्वमित्यत्र वस्यासत्त्वाद्

धुटि "चजः कगम्" इति कत्वं भवति । बुद्ध्वा दग्ध्वा अत्र क्त्वादेशस्य धकारस्यासत्त्वाद् "गडद-बादेः०" इत्यादेश्चतुर्थो न स्यात् । स्यादिविधौ च–लून्युः पून्युः क्षाम्युः प्रस्तीम्युः एषु नकारादीनाम-सत्त्वात् खितिखीतीत्याश्रित उर् भवति । अषीति किम् ? वृक्णः अत्र क्तादेशस्य नस्य सत्त्वात् "यज-सृज०" इति धुड्निमित्तः षो न स्यात् कत्वे त्वसत्त्वाद्भवत्येव । परे स्यादिविधौ चेत्येव–लग्नः मग्नः अत्रास्यादिविधौ पूर्वसूत्रकार्ये "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति प्रथमत्वे नत्वस्यासत्त्वाभावादघोषनिमित्तः प्रथमो न भवति । एवं क्षामेण शुष्केणेत्यादौ पूर्वं णत्वं प्रति मत्वकत्वयोः सत्त्वात्तकारेण व्यवधानं नास्तीति णत्वं भवति । शुष्कमिच्छति शुष्कीः पक्वीः इत्यत्र तु "संयोगात्" इतीयादेशे शुष्कियौ पक्वियौ ङसिङसोरपि शुष्कियः पक्विय इत्येव भवतीति ज्ञेयम् । खीतीसम्बन्धी यो यकारस्तस्मात् परयोर्ङसिङसोः उर् स्यादित्यर्थः ॥ ४३ ॥ सूत्रम्—

केवलसखिपतेरौः ॥ ४४ ॥ [सि० १।४।२६]

केवलसखिपतिभ्यामिदन्ताभ्यां परो ङिरौः स्यात् । सख्यौ । केवलेत्येव । प्रियसखौ । केवलः पतिशब्दः प्रथमाद्वितीययोर्मुनिवत्, तृतीयादौ च सखिवत् । पत्या । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । समस्तश्च सर्वत्र मुनिवत्–मुनिपतिना ॥ ४४ ॥ †द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः

केव० । सखा च पतिश्च सखिपति केवलं च तत् सखिपति च केवलसखिपति तस्मात् केवलसखि-पति ५-१ । अत्र समाहारद्वन्द्वस्य क्लीबत्वेऽपि सूत्रत्वान्नोऽन्ताभावे ? "ङित्यदिति" इत्येत्वं "एदोद्भ्यां०" । औ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् ॥ ४४ ॥ †**द्विशब्दो** नित्यं द्विवचनान्त इति द्वि १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

आद्वेरः ॥ ४५ ॥ [सि० २।१।४१]

द्विशब्दपर्यन्तानां त्यदादीनां स्वसम्बन्धिनि स्यादौ तसादौ च परे अः स्यात् । द्वौ द्वौ । द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् द्वाभ्याम् । द्वयोः द्वयोः । स्वसम्बन्धिनीति किम् ? प्रियद्वी नरौ । †त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः–त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ ॥ ४५ ॥

आद्वे० । आ १-१ "अव्ययस्य" । द्वि ५-१ "ङित्य०" "एदोद्भ्यां०" । अ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । द्वि १-२ अनेन इकारस्य अत्वे देवशब्दवत् सर्वत्र रूपाणि । †**त्रिशब्दो** नित्यं बहुवचनान्त इति अस्य च उपलक्षणत्वात् चतुर्प्रभृतयोऽष्टादशपर्यन्ताः सङ्ख्याशब्दाः कतिप्रभृ-तयो डतिप्रत्ययान्ताश्च नित्यं बहुवचनान्ता इति ज्ञेयम् । **गौण**त्वे त्वेकवचनान्ता द्विवचनान्ता अपि स्युः यथा प्रियद्विः पुमान्, प्रियत्री इमौ इत्यादि ॥ जसिशसिभिसिभ्यसोश्च त्रिशब्दो मुनिशब्दवत् ॥ ४५ ॥ आमि विशेषमाह सूत्रम्—

त्रेस्त्रयः ॥ ४६ ॥ [सि० १।४।३४]

आमि त्रेस्त्रयः स्यात् ॥ ❀"अनेकवर्णः सर्वस्य" त्रयाणाम् । तत्सम्बन्धिविज्ञानात् प्रियत्री-णाम् । त्रिषु । †कतिशब्दो नित्यं बहुत्वे ॥ ४६ ॥

त्रि ६-१ "ङित्यदि०" "एदोद्भ्यां०" । त्रय १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "चटते०" द्विपद-मिदं सूत्रम् । ननु त्रिशब्दस्य बहुवचनान्तत्वात्कथं सूत्रे त्रेरित्येकवचनम् ? अत्रोच्यते नायं त्रिशब्दः सङ्ख्यावाची किन्तु संख्यावाचित्रिशब्दस्यानुकरणशब्दोऽनुकार्येणार्थवान् प्रकृत्यन्तरमित्यस्मादेकवचनमदुष्ट-मिति । "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति प्राप्ते विशेषपरिभाषामाह–❀"अनेकवर्णः" इत्यादि षष्ठ्या निर्दिष्टे द्वित्रादि-

वर्णात्मको यो विधिः सः सर्वस्य स्यादित्यर्थः । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिति अयं भावः—त्रिशब्दो यदा गौणीभूतस्तदान्यसम्बन्धिन्यामि त्रय आदेशो न भवति यथा त्रीनतिक्रान्ता अतित्रयस्तेषामतित्रीणामिति । किं १-१ मानमेषां इति वाक्ये *"यत्तत्किमः सङ्ख्याया डतिर्वा" (७।१।१५०) सङ्ख्यारूपं यन्मानं तदर्थेभ्य एभ्यः स्यन्तेभ्यः षष्ठ्यर्थे सङ्ख्येये डतिर्वा स्यादिति डतिप्रत्यये "डित्यन्त्य०" इत्यन्त्यस्वरादिलोपे कतितितियतिशब्दाः सिद्धाः ॥ ४६ ॥ सूत्रम्—

डतिष्णः सङ्ख्याया लुप् ॥ ४७ ॥ [सि० १।४।५४]

डतिषनान्तानां सङ्ख्यावाचिनां स्वजस्-शसोर्लुप् स्यात् । कति २ । कतिभिः । कतिभ्यः २ । कतीनाम् । कतिषु । स्वेति किम् ? प्रियकतयः प्रियकतीन् । एवं यति-ततिशब्दौ ॥ ४७ ॥

डति० । डतिश्च ष् च न् च डतिष्ण् तस्य डतिष्ण् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । "रः पदान्ते०" । सङ्ख्या ६-१ "आपो ङितां०" "सो रुः" । लुप् १-१ "दीर्घङ्या०" । मध्ये "अवर्णे०" रुलुक् । त्रिपदमिदं सूत्रम् । **ननु** शतानि सहस्राणीत्यत्र सङ्ख्याया नान्तत्वात् जस्शसादेशस्य शेः स्थानिवद्भावेन लुक् प्राप्नोति । **सत्यम्** । सन्निपातलक्षणन्यायान्न भवति—शिनिमित्तेन नकारेण सङ्ख्याया नान्तत्वं तत् शिविघाताय न भवतीति । **इति सविशेषाः पुंल्लिंगा इकारान्ताः शब्दा उक्ताः** ॥ ४७ ॥

ईकारान्तो नीशब्दः । नयतीति नीः

अथ दीर्घेकारान्ता उच्यन्ते तथाचाह—ईकारान्तो नीशब्द इति, 'णींग् प्रापणे' णीधातुः "पाठे धात्वादेर्णो नः" नयतीति नीः क्विप् "अप्रयो०" नी १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" नी १-२ स्थिते सूत्रम्—

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये ॥ ४८ ॥ [सि० २।१।५०]

***सप्तम्या आदिः । धातोरिवर्णोवर्णयोः स्वरादौ प्रत्यये इयुवौ स्याताम् । नियौ । नियः । निया । नीभ्याम् ३ । निये । नियः २ ॥ ४८ ॥**

धातो० । धातु ६-१ "ङित्यदि०" इवर्णश्च उवर्णश्च इवर्णोवर्णं तस्य इवर्णोवर्ण ६-१ "टाङसो०" । इय् च उव् च इयुव् १-१ "दीर्घङ्या०" । स्वर ७-१, प्रत्यय ७-१ उभयत्र "अवर्णस्ये०" । पञ्चपदमिदं सूत्रम् । *सप्तम्या आदिरिति सप्तम्यन्तस्य विशेष्यस्य यद्विशेषणं तत्तस्यादिरवयवो भवति ततश्चानया परिभाषया स्वरे प्रत्यये इत्यत्र स्वरादौ प्रत्यये परे इति व्याख्येयमित्याह धातोरित्यादि ॥ ४८ ॥ सप्तम्येकवचने विशेषमाह सूत्रम्—

निय आम् ॥ ४९ ॥ [सि० १।४।५१]

नियः परस्य ङेराम् स्यात् । नियाम् । हे नीः । एवं लूः लुवौ लुवः । लुवि । हे लूः । ॥ ४९ ॥ सेनानीशब्दस्य विशेषः । सेनां नयतीति सेनानीः

निय० । नी "धातोरिवर्णो०" "लोकात्" "सो रुः" । आम् १-१ "दीर्घङ्या०" । "रोर्यः" तस्य स्वरे लुक् असन्धिश्च । द्विपदमिदं० । "लोकात्" नियाम् । एवं लूरिति 'लूग्श् छेदने' लुनातीति लूः क्विप् "अप्रयो०" अनेन उव् आदेशः ॥ ४९ ॥ **सेनानी**शब्दस्य विशेष इति 'णींग् प्रापणे' णी "पाठे धात्वादे०" नी सेनां २-१नयतीति क्विप् "अप्रयो०" *"ङस्युक्तं कृता" इति सूत्रेण "गतिकारकङस्युक्तानां विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासः" इति तत्पुरुषसमासे "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुपि सेनानी १-१

"सो रुः "रः पदान्ते०" । सेनानी १-२ इति स्थिते "धातोरिवर्णोवर्णस्ये०" इति इयादेशे प्राप्ते अपवादसूत्रमाह सूत्रम्—

क्विब्वृत्तेरसुधियस्तौ ॥ ५० ॥ [सि० २।१।५८]

क्विबन्तेनैव या वृत्तिः समासस्तस्याः सुधीशब्दवर्जितायाः सम्बन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णयोः स्वरादौ स्यादौ य्वौ स्याताम् । सेनान्यौ । सेनान्यः ४ (१-३,२-३,५-१,६-१) । सेनान्यम्, सेनान्याम् । सप्तम्येकवचने "निय आम्" सेनान्याम् हे सेनानीः । एवं ग्रामणीप्रभृतयः । सुलूः सुल्वौ सुल्वः । सुल्वां । सुल्वि । हे सुलूः । एवं खलपूप्रभृतयः । अत्र सुधीशब्दवर्जनात्तस्य नीशब्दवत्प्रक्रिया । सुधीः । सुधियौ । सुधियाम् । सुधियि ॥ ५० ॥

क्विप्० । क्विपा वृत्तिः "कारकं कृता" इति तत्पुरुषः "ऐकार्थ्ये" क्विब्वृत्तिः तस्याः क्विब्वृत्ति ६-१ "ङित्यदि०" "एदोद्भ्यां०" । न सुधीः असुधीः तस्या असुधी ६-१ "धातोरिवर्णो०" इय् "लोकात्" "सो रुः" । तद् १-२ "आद्वेरः" "लुगस्या०" "लोकात्" "ऐदौत्सन्ध्य०" । मध्ये "चटते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । षष्ठीबहुवचने यत्वे सेनान्यां सप्तम्येकवचनेऽपि निय आमादेशे सेनान्यामित्येव रूपम् । सेनानीर्दण्डनायकः । सेनापतिरित्यर्थः । एवं ग्रामणीप्रभृतय इति ग्रामं नयतीति क्विप् "अप्र०" "ङस्युक्तं०" "ऐकार्थ्ये" "ग्रामाग्रान्नियः" इति णत्वे ग्रामणीः ग्राममुख्य इत्यर्थः । सुलूरिति 'लूग्श् छेदने' सुष्ठु लुनातीति क्विप् "अप्रयो०" सुलूः अनेन वत्वे सुल्वौ इत्यादि । 'पुग्श् पवने' खलं पुनातीति क्विप् "अप्रयो०" खलपूः क्षेत्रभूमिशोधक इत्यर्थः । सुधीरिति "डुधांग्क् धारणे च" सुष्ठु दधातीति सुधीः अथवा 'ध्यैं चिन्तायाम्' सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः । क्विप् "दिद्युद्दद्जगज्जुहूवाक्प्राड्धीश्रीद्रुस्रूज्वायतस्तूकटप्रूपरिव्राड्भ्राजादयः क्विप्" इति निपातनात् सुधीः । विद्वान् इत्यर्थः । असुधिय इति सूत्रांशेन सुधीशब्दवर्जनात् "क्विब्वृत्ते०" इति सूत्रेण न यत्वं किन्तु अपवादबाधे उत्सर्ग एव प्रवर्त्तते "धातोरिवर्णो०" इति इयेव सुधियौ इत्यादि ॥ ५० ॥ सूत्रम्—

दन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ ५१ ॥ [सि० २।१।५९]

दनादिपूर्वस्य भुवः स्वरादौ स्यादौ वः स्यात् । दन्भ्वौ । दन्भ्वः । क्विब्वृत्तेरिति वत्वे सिद्धे नियमार्थमिदम् । 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ' इति तेनान्यो भूशब्दो लूशब्दवत् स्वयम्भूः । स्वयम्भुवौ ॥ ५१ ॥ यवान्क्रीणातीति यवक्रीः ।

दन्पुन० । दन् च पुनश्च वर्षाश्च कारश्च दन्पुनर्वर्षाकाराः "चार्थे द्वन्द्वः०" तैः दन्पुनर्वर्षाकार ३-३ "भिस ऐस्" "ऐदौत्सन्ध्य०" । भू ६-१ "धातोरिवर्णो०" "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । दनादिपूर्वस्य भुव इति, दन्निति नान्तो हिंसार्थोऽव्ययः दन् हिंसन् भवतीति भूधातोः क्विपि दन्भूः सविषः कीटविशेषः । दन्भूर्व्यसनसहाय इति "दिद्युद्दद्जगज्जुहूवाक्०" इति सूत्रवृत्तौ । अस्य दन्भूशब्दस्यानेन सूत्रेण स्वरादौ वत्वम् । यस्तु 'दभैत् ग्रन्थे' *"दभिचपेः स्वरान्नोऽन्तश्च" (उ० ८४१) आभ्यामूः प्रत्ययः स्वराच्च परो नोन्तो भवतीति दन्भूः सर्पजातिर्वनस्पतिर्ग्रन्थकारः बाहुलकान्नकारस्य "म्नां धुड्वर्गेऽन्त्यो पदान्ते" इति न भवति । एवं व्युत्पादित औणादिको दन्भूशब्दस्तस्यानेन वत्वं न भवति । "इवर्णादेः०" इति वत्वे दन्भ्वौ दन्भ्वः दन्भूं । एवं पुनर्भवति इति पुनर्भूरौषधिविशेषः पुनरूढा स्त्री च । तथोक्तं **हैमकोषे** "दिधिषूस्तु पुनर्भूर्द्विरूढाऽस्या दिधिषूः पतिः" इति पुनर्भूशब्दः स्त्रीलिंगः । वर्षासु भवतीति वर्षाभूः औषधिविशेषः भेकश्च **यादवकोषवचनानन्तरं** "वर्षा-

भूः प्लवगः "शालुरजिह्वव्यङ्गदर्दुरा" इति हैमकोशवचनात् पुंलिङ्गोऽयम्, **हलायुधस्तु** प्लवङ्गमः प्लवगः स्यात् ॥ कारो निश्चयः कारे कारेण वा भवतीति कारभूः । अग्रेगूरिति **द्व्याश्रयवृत्तौ** । उत्तमर्णाधमर्ण-योर्वस्तुमूल्यनिश्चायको 'दलाल' इति केचित् । करभूशब्देनापीच्छन्त्यन्ये । करभूशब्देनापि अग्रेगूरेवेति **द्व्याश्रयवृत्तौ** । काराशब्देनाप्यपरे काराभूरिति । **नियमार्थमिदमिति ।**

दशप्रकाराणि हि सूत्राणि भवन्ति तथाहुः–"[1]संज्ञा च [2]परिभाषा [3]चाधिकारो [4]विधिरेव च । [5]प्रतिषेधश्च [6]नियमो [7]विकल्पश्च [8]समुच्चयः । [9]अतिदेशा[10]नुवादौ च दशधा सूत्रमिष्यते" ॥ १ ॥ क्रमेण सूत्राणि "औदन्ताः स्वराः" (सि० १।१।४) । १ । "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" (७।४।११५) । २ । "घुटि" (१।४।६८) । ३ । "नाम्यन्तस्थाकवर्गात् पदां०" (२।३।१५) । ४ । "न स्तं मत्वर्थे" (१।१।२३) । ५ । "दृन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः" (२।१।५९) इति । ६ । "सौ नवेतौ" (१।२।३८) । ७ । "वरुणेन्द्ररुद्र-भवशर्वमृडादान् चान्तः" (२।४।६२) । ८ । तयोः समूहवच बहुषु" (७।३।३) । ९ । "हेमा-दिभ्यो०" (६।२।४५) इति सूत्रादारभ्यैतत्सूत्रप्रपञ्चप्रकरणम् । १० । **तथा** "शसोऽता सश्च नः पुंसि" (१।४।४९) इत्याद्यन्वाचयसूत्रमित्येकादेशोऽपि प्रकारः प्रतीयते ।

तत्र 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ' इति नियमस्य फलमाह–तेनान्यो भूशब्दो लूशब्दवदिति स चैवम् "दिद्युद्दृज्जगज्जुहू०" इति सूत्रवृत्तौ संज्ञायामेव भूः पृथ्वी शम्भूः शिवः आत्मभूः कामः मनोभूः स एव स्वयम्भूर्ब्रह्मा स्वयम्भूर्विष्णुश्च मित्रभूर्नामकश्चित् प्रतिभूरुत्तमर्णाधमर्णयोरन्तःस्थसाक्षी 'प्रतिभूर्लग्नकः साक्षीति कोषे एषां सर्वेषामपि शब्दानां "धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव्०" इत्युवेव न तु "क्विब्वृत्तेर०" इति वक्तव्यमिति । ये तु "शंसंस्वयंविप्राद्भुवो डुः" (५।२।८४) इति डुप्रत्ययान्ताः शम्भुः शङ्करः सम्भुर्जनयिता स्वयम्भुः विभुर्व्यापकः प्रभुः स्वामी । बहुलाधिकारात् शम्भुः संज्ञायामन्ये त्वसंज्ञायामपि । एवं व्युत्पादिताः शब्दास्ते साधुशब्दवत् ज्ञेयाः ॥ ५१ ॥ 'डुक्रींग्श् द्रव्यविनिमये' यवान् क्रीणातीति क्विप् "अप्रयोगीत्" यवक्रीः । यवक्री १-२ औ इति स्थिते "क्विब्वृत्तेर०" इति वत्वे प्राप्ते अपवादसूत्रमाह–सूत्रम्—

संयोगात् ॥ ५२ ॥ [सि० २।१।५२]

संयोगात्परयोर्धातोरिवर्णोवर्णयोः स्वरादौ इयुवौ स्याताम् । क्विब्वृत्तेरित्यस्यापवादः । यव-क्रियौ यवक्रियः । [1]एवं कटप्रूशब्दोऽपि ॥ ५२ ॥ सुश्रीशब्दस्य ङित्सु विशेषः ।

संयो० । संयोग ५-१ ङेङस्यो०" "समानानां०" । एकपदमिदं सूत्रम् । एवं कटप्रूशब्दोऽपीत्यादि 'च्युंङ्-प्रुंङ्'-गतौ कटेन प्रवते इति कटप्रूः "दिद्युद्दृज्ज०" इति क्विबन्तो निपातः ॥ ५२ ॥ **सुश्री-शब्दस्य** ङित्सु विशेष इति, अन्यत्र तु यवक्रीशब्दवदिति भावः । सूत्रम्—

वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ ५३ ॥ [सि० १।४।३०]

इयुवृस्थानिनौ यौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ तदन्तात् स्त्रीवर्जात्परेषां स्यादेर्ङितां दै दास् दास् दामो वा स्युः । सुश्रियै, सुश्रिये । सुश्रियाः सुश्रियः, २ । ॥ ५३ ॥

वा १-१ "अव्ययस्य" । इय् च उव् च इयुव् "चार्थे द्वन्द्वः०" तस्मात् इयुव् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" । न स्त्री अस्त्री तस्याः अस्त्री ५-१ 'स्त्रियाः' इति इय् । मध्ये "अतोऽति रो रुः" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं० । सुश्रियाः सुश्रियः, इत्यत्र द्विकेन पञ्चमीषष्ठ्येकवचनयोस्तुल्यरूपमिति सूचितम् ॥ ५३ ॥ बहुवचनेऽपि विशेषमाह सूत्रम्—

आमो नाम्वा ॥ ५४ ॥ [सि० १।४।३१]

सुश्रियाम् सुश्रीणाम् । सुश्रियाम् सुश्रियि ॥ ५४ ॥

आमो० । आम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । नाम् १-१ "दीर्घङ्या०" । वा १-१ "अव्ययस्य" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । स्पष्टम् । इयुवःस्थानिभ्यां स्त्रीदूदन्ताभ्यां परस्यामो नाम् वा स्यादिति भावः ॥ ५४ ॥ भ्रूशब्दस्य औणादिकस्य धातुत्वाभावात् "संयोगात्" इत्युवादेशो न प्राप्नोतीति सूत्रान्तरमाह—

भ्रूश्नोः ॥ ५५ ॥ [सि० २।१।५३]

भ्रूश्नोरुवर्णस्य स्वरादौ उव् स्यात् । अतिभ्रुवै, अतिभ्रुवे । अतिभ्रुवाः अतिभ्रुवः, २ । अतिभ्रूणाम्, अतिभ्रुवाम् । अतिभ्रुवाम्, अतिभ्रुवि । हे अतिभ्रूः । [1]नित्यस्त्रीत्वाभावात् यवक्रिये इत्यादौ आध्यै प्रध्यै इत्यादौ इयुवस्थानित्वाभावाच्च नायं विधिः । "क्विबन्ता धातुत्वं नोज्झन्ति शब्दत्वं च प्रतिपद्यन्ते" इत्येषां धातुत्वं ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥ सखायमिच्छति सखीयतीति सखीः ।

भ्रूश्च श्नुश्च भ्रूश्नु तस्य भ्रूश्नु ६-१ । भ्रुव २-१ अतिक्रान्तः १-१ "प्रात्यवपरि०" इति तत्पुरुषे अतिभ्रूः "भ्रूश्नोः" इत्युवादेशप्राप्तेरस्य भ्रूशब्दस्य इयुवस्थानित्वं ततश्च "वेयुवोऽस्त्रियाः" इति ङितां दैदासाद्यादेशविकल्पा आमो नाम्विकल्पश्च सिद्ध इति । [1]नित्यस्त्रीत्वाभावादिति यवक्रीप्रभृतिशब्दानामियुवस्थानित्वेऽपि वाच्यलिङ्गत्वेन नित्यस्त्रीत्वाभावः । आधीप्रधीप्रभृतीनां तु संज्ञाशब्दत्वेन नित्यस्त्रीत्वेऽपि नेयुवस्थानित्वम् । यदा तु आध्यायतिप्रध्यायतीत्यादिव्युत्पत्त्या "दिद्युद्दद्‌ज०" इत्यादिना क्विबन्ता निपात्यन्ते तदा तु सुधीशब्दवद्वाच्यलिङ्गत्वे नित्यस्त्रीत्वाभाव एव नायं विधिरिति ङितां दैदासाद्यादेशविकल्पा आमो नाम्विकल्पश्च न भवतीति । ननु नीलूप्रभृतिशब्दानां यदि धातुत्वं तर्हि स्यादिविभक्तयः कथं यदि च नामत्वात् स्यादिविभक्तयस्तर्हि इयादेशादि धातुकार्यं कथमिति विरोधं परिहर्तुं न्यायसूत्रमाह "क्विबन्ता इति" । सखीरिति सखायं पतिं चेच्छति सखीयति पतीयतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" "अतः" इत्यकारलोपः "योऽशिति" इति यलुक् सखीः पतीः मित्रेच्छुः स्वामीच्छुश्च ॥ ५५ ॥ सखी १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

योऽनेकस्वरस्य ॥ ५६ ॥ [सि० २।१।५६]

अनेकस्वरस्य धातोरिवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये परे यः स्यात् । सख्यौ २ । सख्यः २ । सख्युः २ । सख्याम् । सख्यि । एवं पतीः । पत्यौ ॥ ५६ ॥ वसुमिच्छति वसूयति वसूयतीति वसूः ।

यो० । य १-१ "सो रुः" । एकः स्वरो यस्य स एकस्वरः न एकस्वरः अनेकस्वरः तस्य अनेकस्वर ६-१ "टाङसो०" । मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । द्विपदमिदं० । जसि शसि च सख्यः । आमि सख्याम् । सप्तम्येकवचने सख्यि ॥ ५६ ॥ वसूरिति–द्रव्यवाचिनो वसुशब्दस्य वसु इच्छतीति वाक्यं नपुंसकत्वात् । राजाग्निदेववाचिनस्तु पुंल्लिङ्गत्वात् वसुमिच्छतीति वाक्यम् । वसू १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

स्यादौ वः ॥ ५७ ॥ [सि० २।१।५७]

अनेकस्वरस्य धातोरुवर्णस्य स्वरादौ स्यादौ परे वः स्यात् । वस्वौ वस्वः । वस्वाम् । वस्वि । हे वसूः ॥ ५७ ॥ ऋकारान्तः पितृशब्दः ।

स्यादौ० । सिरादिर्यस्य स स्यादिः तस्मिन् स्यादि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" । व १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् ।

वातप्रमीहूहूनग्नहूप्रभृतीनां विशेषः कथ्यते । वात २-१ प्र पूर्वक 'माङ्क् मानशब्दयोः' वातं प्रमिमीते वाताभिमुखधावनादतिजवनतया वा (वातात्प्रमः कित् उणा० ७१३ ईः) कित्ईप्रत्यये वातप्रमीर्वाताभिमुखगामुको मृग उच्यते वातप्रमीर्वातमृगः "इवर्णादेः०" यत्वे वातप्रम्यौ २ । वातप्रम्यः । "समानादमोऽतः" इत्यकारलोपे वातप्रमीम् । शसि "शसोऽता सश्च नः पुंसि" वातप्रमीन् । वातप्रम्या ३-१ वातप्रमीभ्याम् ३ । वातप्रमीभिः । वातप्रम्ये वातप्रम्यः २ वातप्रम्योः २ वातप्रम्याम् ६-३ सप्तम्येकवचने "समानानां०" वातप्रमी, हे वातप्रमीः किबन्तवातप्रमीशब्दस्य अमि शसि ङौ च विशेषः वातप्रम्यम्, वातप्रम्यः, वातप्रम्यि *'यापाभ्यां द्वे च' (उ० ७१४) 'यांक् प्रापणे' **ययी**र्मोक्षमार्गो दिव्यवृष्टिरादित्योऽश्वश्च, 'पां पाने' **पपीः** रश्मिः सूर्यो हस्ती च एतौ ईप्रत्ययान्तवातप्रमीवत् । **देवनन्दी** तु वातप्रमीशब्दं मृगेऽपि स्त्रीलिङ्गमाह । हूहूर्देवगायनः "इवर्णादे०" इति वत्वे हूह्वौ हूह्वः हूहूं हूह्वौ हूहून् हूह्वा हूहूभ्यां ३ हूहूभिः हूह्वे हूह्वः २ हूह्वोः २ हूह्वां हूह्वि हे हूहूः । एवं नग्नहूशब्दोऽपि नग्नहूर्मोषदलन्यादिमद्यवीजमिति । वातप्रम्यादीनां धातुत्वाभावादियुवादिकं धातुकार्यं न प्राप्नोतीत्यमि "समानादमोऽतः" "शसोऽता०" इति स्वरादौ च यत्ववत्वादिकं यथोक्तं कार्यं प्राप्नोतीति तत्त्वम् ॥ ५७ ॥

अथ क्रमप्राप्ता **ऋकारान्ता** उच्यन्ते—पितृ १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः ॥ ५८ ॥ [सि० १।४।८४]

ऋदन्तादुशनसादेश्च परस्य सेर्डा स्यात् । पिता । अतिपिता ॥ ५८ ॥

ऋदु० । ऋच्च उशना च पुरुदंशा च अनेहा च ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहः तस्मात् ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहस् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" । च १-१ "अव्ययस्य" । "चटते०" । सि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । डा १-१ [दीर्घङ्या०] "जलतुम्बिका०" । चतुष्पदमिदं० । सूत्रे चकारः सखिशब्दानुवृत्त्यर्थः सखिशब्दस्यापि सेर्डा भवतीत्यर्थः । डाप्रत्ययस्य डित्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् । ऋकारलोपे पिता । अतिपितेति अत्र स्वसम्बन्धिनो अन्यसम्बन्धिनो वा सेर्डा भवतीत्यर्थः । एवमग्रेतनसूत्रद्वयेऽपि । क्लीबे गौणत्वे अतिपितृ २, अतिपितृणी २ । कर्तृवत् स्त्रियां ङ्यां अतिपित्री ॥ ५८ ॥

पितृ १-२ इति स्थिते ।

अर्डौ च ॥ ५९ ॥ [सि० १।४।३९]

ऋतो ङौ च घुटि च परे अर् स्यात् । पितरौ पितरः । "सम्बोधने ह्रस्वस्य गुणः" [सि० १।४।४१] । हे पितः । पितरम् पितरौ पितॄन् । पित्रा पितृभ्याम् पितृभिः । पित्रे पितृभ्याम् पितृभ्यः ॥ ५९ ॥

अर्० । अर् १-१ "दीर्घङ्या०" । ङि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" "जलतुम्बिका०" । च १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । रूपपद्धतिः सुगमा ॥ ५९ ॥ पितृ ५-१ पितृ ६-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ऋतो डुर् ॥ ६० ॥ [सि० १।४।३७]

ऋतः परयोर्ङसिङसोर्डुर् स्यात् । पितुः २ । पित्रोः २ । पितॄणाम् । पितरि । पितृषु । एवं नृ-भ्रातृप्रभृतयः ॥ ६० ॥ किन्तु ।

ऋतो० । ऋत् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" । डुर् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । नित्यम् । पितुः २ । एवं नृ-भ्रातृप्रभृतय इति ना नरौ नरः । नरम् नरौ नॄन् । त्रा नृभ्याम् नृभिः । त्रे । नुः २ । त्रोः २ ॥ ६० ॥ षष्ठीबहुवचने विशेषमाह क्विन्त्वितीति—सूत्रम्—

नुर्वा ॥ ६१ ॥ [सि० १।४।४८]

नामि दीर्घः । नृणां नृणाम् ॥ ६१ ॥ कर्त्रादीनां विशेषः ।

नु० । नृ ६-१ "ऋतो डुर्" "डित्यन्त्य०" वा १-१ "अव्ययस्य" । द्विपदमिदं० । अपेक्षितं वृत्त्यंशमाह—नामि दीर्घ इति ॥ ६१ ॥ ऋकारान्तानामेव विशेषमाह कर्त्रादीनां विशेष इति—सूत्रम्—

तृस्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्त्रो घुट्यार् ॥ ६२ ॥ [सि० १।४।३८]

तृच्तृन्नन्तस्य स्वस्रादीनां च घुट्यार् स्यात् । इति पञ्चस्वार्प्राप्तावपि [1]विशेषत्वात् "ऋदुशनस्०" इत्यादिना सेर्डा । कर्ता । अतिकर्ता । कर्तारौ । कर्तारः । कर्तारम् । कर्तारौ । शेषं पितृवत् । एवं नप्तृप्रभृतयः ॥ ६२ ॥ क्रुश्धातोस्तुन्प्रत्यये क्रोष्टुशब्दः ।

तृस्वसृ० । ता १-१ च स्वसा १-१ च नप्ता १-१ च नेष्टा १-१ च त्वष्टा १-१ च क्षत्ता १-१ च होता १-१ च पोता १-१ च प्रशास्ता १-१ च तृस्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृ तस्य तृस्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृ ६-१ "इवर्णादे०" "लोकात्" "सो रुः" घुट् ७-१ "लोकात्" आर् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये" "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्' इति न्यायात् तृशब्देन तृच्तृनोरुभयोरपि ग्रहणमित्याह तृच्तृन्नन्तस्येति । [1]विशेषत्वादिति "तृस्वसृ०" इत्यादि सूत्रं सर्वत्र घुटि प्राप्नोतीति सामान्यं "ऋदुशनस्" इत्यादि सूत्रं एकस्मिन् सावेव प्राप्नोतीति विशेषसूत्रमिति भावः । एवं नप्तृप्रभृतय इति स्वस्रादीनामष्टानां मध्ये स्वसृशब्दः स्वरान्तस्त्रीलिङ्गे वक्ष्यते ततः सप्त नप्तृप्रभृतयः पुंल्लिङ्गाः कर्तृशब्दवत् ज्ञेया इति भावः । उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानीति केचित् व्युत्पन्नानीत्यन्ये तत्राव्युत्पत्तिपक्षे तृप्रत्ययग्रहणे नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां संज्ञाशब्दानां ग्रहणं न भवतीति पृथक् नप्त्रादिग्रहणम्, व्युत्पत्तिपक्षे तु तृग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थं तेनान्येषामौणादिकानां न भवति । पितरौ भ्रातरौ जामातरौ । केचित्तु प्रस्तोतृ उद्गातृ उन्नेतृ प्रतिहर्तृ प्रतिप्रस्थातृशब्दानामौणादिकानामप्यारं मन्यन्ते—प्रस्तोतारं प्रस्तोतारौ इत्यादि ॥ ६२ ॥ क्रोष्टुशब्द इति, 'क्रुशश्चाह्वानरोदनयोः' क्रुश्धातुः क्रोशतीति क्रोष्टा 'क्रमिकम्यमी'ति तुन्प्रत्ययः "यजसृज०" शस्य षः "तवर्गस्य श्ववर्ग०" तस्य टः "लघोरुपान्त्यस्य" इति गुणे क्रोष्टु इति सिद्धम् । क्रोष्टु १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ ६३ ॥ [सि० १।४।९१]

क्रुशो यस्तुन् तस्य शेषे घुटि परे तृच् स्यात् । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । शेषे घुटीत्येव-हे क्रोष्टो । घुटीति किम् ? क्रोष्टून् ॥ ६३ ॥

क्रुश० । क्रुश् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" तुन् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । तृच् १-१ "दीर्घङ्याब्०" पुम्स् ७-१ "लोकात्" "शिड्हेऽनुस्वारः" "चटते०" । चतुष्पदमिदं० । शेषे घुटीत्युक्तत्वात् सम्बोधने सौ शसि व्यञ्जनादौ च तुनस्तृजादेशो न स्यात्—हे क्रोष्टो क्रोष्टून् ॥ ६३ ॥ टादौ स्वरादौ विशेषमाह सूत्रम्—

टादौ स्वरे वा ॥ ६४ ॥ [सि० १।४।९२]

तुनस्तृच् । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्टुभ्याम् ३ । क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे । क्रोष्टुः क्रोष्टोः, २ । क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः, २ । आमि तु नित्यत्वात् पूर्वं नामि स्वरादित्वाभावात्तृजभावः—क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि, क्रोष्टौ । क्रोष्टुषु ॥६४॥ ऋकारान्तादयोऽप्रसिद्धाः । एकारान्तः अतिहेशब्दः । स्वरादावयादेशः । अतिहयौ । सम्बोधने "अदेतः स्यमो०" इति सिलुकि । हे अतिहे । ऐकारान्तः सुरैशब्दः ।

टादौ० । टा आदिर्यस्य स टादिः तस्मिन् टादि ७-१ "ङिड्डौं" "ङित्यन्त्य०" स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०"। वा १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं० । अपेक्षितं वृत्त्यंशमाह—तुनस्तृच् इति, आमि तु नित्यत्वादिति तृजादेशे कृतेऽपि अकृतेऽपि च "ह्रस्वापश्च" इति आमो नाम् प्राप्नोति ततश्च कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्य इति नामादेशस्य नित्यत्वं ततश्च "बलवन्नित्यमनित्यादिति" पूर्वमामो नाम् स्यादित्यर्थः । **ऋकारान्तादयोऽप्रसिद्धा** इति भावः ॥ ६४ ॥ **अतिहे** १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । स्वरादावयादेश इति व्यञ्जनादौ च अविशेष इत्यपि ज्ञेयम् । अतिहेभ्याम् ३ अतिहेभ्यः २ अतिहेषु इत्यादि पञ्चमीषष्ठ्येकवचनयोः "एदोद्भ्यां०" अतिहेः २ । एवं सह इना वर्त्तते यः सेः सयौ २ सयः २ सया सेभ्याम् ३ सेभ्यः २ सेः २ सेषु हे से इत्यादि । एवं परमश्चासौ इश्च परमेः इत्यादि ॥ **सुरै** १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

आ रायो व्यञ्जने ॥ ६५ ॥ [सि० २।१।५]

व्यञ्जनादौ स्यादौ परे रैशब्दस्य आः स्यात् । सुराः । स्वरादावायादेशः । सुरायौ ॥ ६५ ॥ ओकारान्तो गोशब्दः ।

आ रा० । आ १-१ "सो रुः" । रै ६-१ "एदैतो०" "लोकात्" "सो रुः" । व्यञ्जन ७-१ "अवर्णस्ये०" । "रो रे लुक् दीर्घ०" । त्रिपदमिदं० ॥ ६५ ॥ गो १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ओत औः ॥ ६६ ॥ [सि० १।४।७४]

घुटि । "विशेषणमन्तः" । गौः । गावौ । गावः ॥ ६६ ॥

ओत० । ओत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । औ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "रोर्यः" तस्य रे परे लुक् वा लुक्यसन्धिश्च । द्विपदमिदं सूत्रम् । अपेक्षितं वृत्त्यंशमाह घुटि इति । सूत्रवृत्त्यंशयोः सङ्घटनेऽयं भावः "विशेषणमन्तः" इति ओदन्तस्येत्यर्थः—ओदन्तस्य घुटिपरे आः स्यात् "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति परिभाषया ओकारस्य आ स्यादित्यर्थः । स्वरादौ सर्वत्र अवादेशः व्यञ्जनादौ अविशेष इति ज्ञेयम् ॥ ६७ ॥ अमि शसि च विशेषमाह—सूत्रम्—

आ अम्शसोऽता ॥ ६७ ॥ [सि० १।४।७५]

अम्शसोरता सह ओत आः स्यात् । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गोभ्याम् । "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" इति रत्वे गोः २ । गवाम् । गोषु । एवं सुद्योप्रभृतयः ॥ ६७ ॥ औकारान्तो ग्लौशब्दः । ग्लौः । ग्लावौ । हे ग्लौः । ग्लौभ्याम् । एवं सुनौप्रभृतयः ।

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां स्वरान्ताः पुंलिङ्गाः ।

आ० । आ १-१ "सो रुः" अम् च शस् च अम्शस् तस्य अम्शस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अत् ३-१ "लोकात्" । "रोर्यः" तस्य स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च । "अतोऽति०" "अव-

र्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । एवं सुद्योप्रभृतय इति सु शोभना द्यौर्यस्य स सुद्यौः सुद्यावौ २, सुद्यावः सुद्याम् सुद्याः २ सुद्यवा सुद्योभ्याम् ३ सुद्योः २ सुद्योषु हे सुद्यौः ॥ ६७ ॥ ग्लौशब्द इति ग्लौश्चन्द्रमा इति स्वरादौ सर्वत्र आवादेशः व्यञ्जनादावविशेष इति । एवं सुनौप्रभृतय इति सु शोभना नौर्यस्य सुनौः सुनावौ सुनाव इत्यादि ।

यां शिष्योद्धुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ भेजुरनुक्रमेण घटनां पुंसि स्वरान्ताः रवाः ॥ १ ॥



तत्र आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो गङ्गाशब्दः ।

अथ स्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दा वक्तव्यास्तत्र **अ**कारान्ताः **स्त्री**लिङ्गा न सम्भवन्ति तेषां हि केषाञ्चित् "आत्" इति सूत्रेण आप् प्राप्नोति केषाञ्चिच्च "गौरादिभ्यो मुख्यान्ङीः" इत्यादिसूत्रैर्ङीः प्राप्नोतीति प्रथममाकारान्ताः प्रतिपाद्यन्ते इत्याह–**आ**कारान्तो **गङ्गा**शब्द इति । गङ्गा १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः ॥ १ ॥ [सि० १।४।४५]

दीर्घङ्याबन्ताभ्यां व्यञ्जनाच्च परस्य सेर्लुक् स्यात् । गङ्गा ॥ १ ॥

दीर्घङ्या० । ङी च आप् च ङ्यापौ दीर्घौ च तौ ङ्यापौ च दीर्घङ्यापौ, दीर्घङ्यापौ च व्यञ्जनं च दीर्घङ्याब्व्यञ्जनं तस्मात् दीर्घङ्याब्व्यञ्जन ५-१ "ङेङस्यो०" "समानानां०" । सि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । **ननु** ङ्याबित्यत्र ईकाराकारप्रश्लेषात् "गौणो ङ्यादिः प्रकृत्यादेर्विशेषणं नोनाधिकस्य" इति परिभाषया वा सिलोपप्रसङ्गनिवृत्तेर्दीर्घग्रहणं नातिप्रयोजकम्, **सत्यम्**, तथापि सुखावबोधाय कृतमिति । **दीर्घ**ग्रहणसामर्थ्यान्निष्कौशाम्बिः अतिखट्वः इत्यादौ "भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार" इति "एकदेशविकृतमनन्यवदि"ति वा प्राप्तः सिलोपो न भवति ॥ १ ॥ गङ्गा १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

औता ॥ २ ॥ [सि० १।४।२०]

आबन्तस्य औता सह ऐत् स्यात् । गङ्गे । गङ्गाः । गङ्गाम् । गङ्गे । शसि पुंस्त्वाभावान्नत्वाभावेऽकारेण सह दीर्घ एव–गङ्गाः ॥ २ ॥

औ० । औत् ३-१ "लोकात्" । एकपदमिदं० । अनेन एत्वे गङ्गे जसि "समानानां०" गङ्गाः, अमि "समानाद०" गङ्गाम्, द्वितीयाद्विवचने "औता" गङ्गे । द्वितीयाबहुवचने विशेषमाह–शसि पुंस्त्वाभावादिति । **ननु** "सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्याप्यपायो" यथा एतान् गाः पश्येत्यत्र दीर्घाभावे सस्य नो न भवति तथात्र पुंस्त्वाभावान्नत्वाभावे दीर्घोऽपि न भविष्यतीत्य**त्रो**च्यते *"नान्वाचीयमाने निवृत्तौ प्रधानस्य," अप्राधान्येन विहितस्य निवृत्तौ प्राधान्येन विहितस्य निवृत्तिर्न भवति ततोऽप्रधानस्य नत्वस्य निवृत्तौ प्रधानस्य दीर्घस्य निवृत्तिर्न भवति ॥ २ ॥ गङ्गा ३-१ इति स्थिते ।

टौस्येत् ॥ ३ ॥ [सि० १।४।१९]

आबन्तस्य टौसोः परयोरेत्वं स्यात् । गङ्गया । गङ्गाभ्याम् ३ । गङ्गाभिः ॥ ३ ॥

टौस्ये० । टा च ओस् च टौस् तस्मिन् टौस् ७-१ "लोकात्" एत् १-१ "दीर्घङ्या०" । इवर्णादे० । द्विपदमिदं० । अनेन एत्वे "एदैतो०" अयादेशे गङ्गया । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति बहुखट्वेन पुंसा । इह तु भवति ईषदपरिसमाप्तया खट्वया अखट्वया विष्टरेण । एवमन्यत्रापि यथा-सम्भवं ज्ञेयम् ॥ ३ ॥ गङ्गा ४-१ इति स्थिते सूत्रम्—

आपो ङितां यै यास् यास् याम् ॥ ४ ॥ [सि० १।४।१७]

आबन्तात्परेषां ङितामेते आदेशाः स्युः । गङ्गायै । गङ्गायाः २ । "ह्रस्वापश्च" इति आमो नामादेशे गङ्गानाम् । गङ्गायाम् । गङ्गयोः २ । गङ्गासु ॥ ४ ॥

आपो० । आप् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" ङित् ६-३ "लोकात्" । यैयास्यास्याम् १-१ "अनतो लुप्" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । गङ्गायै इत्यादि स्पष्टम् ॥ ४ ॥ सम्बोधने गङ्गा १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

एदापः ॥ ५ ॥ [सि० १।४।४२]

सम्बोधने आबन्तस्य सिना सह एत्स्यात् । हे गङ्गे । हे गङ्गे । हे गङ्गाः ॥ ५ ॥

एवं श्रद्धामेधादयः ।

एदा० । एत् १-१ "दीर्घङ्या०" । आप् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते० " । "धुटस्तृतीयः" "लोकात्" द्विपदमिदं० । हे गङ्गे इत्यादि ॥ ५ ॥ द्विस्वराणामम्बावाचिनामाबन्तानां शब्दानां सर्वापि रूपपद्धतिः गङ्गाशब्दवत् किन्तु सम्बोधने प्रथमैकवचने विशेषोऽस्तीति तं दर्शयति सूत्रम्—

नित्यदिद्द्विस्वराम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥ ६ ॥ [सि० १।४।४३]

नित्यं दैदासादयो येभ्यस्ते नित्यदितस्तेषां, द्विस्वराम्बार्थानां च सिना सह ह्रस्वः स्यात् । हे अम्ब । हे अक्क । हे अत्त । हे अल्ल । *शसादौ स्यादौ परे निशाया अन्त्यस्य लुक् नासिकाया नसादेशश्च वा । निशः । निशा, निशया । निज्भ्याम्, निशाभ्याम् । निच्छु ॥ नसः, नासिकाः । नोभ्याम्, नासिकाभ्याम् ॥ ६ ॥

नित्य० । द् इत् अनुबन्धो येषां ते दितः । नित्यं दितो दैदास्दास्दामादेशा येभ्यस्ते नित्यदितः । द्वौ स्वरौ येषां ते द्विस्वराः, अम्बा अर्थो येषां ते अम्बार्थाः । द्विस्वराश्च ते अम्बार्थाश्च द्विस्वराम्बार्थाः । नित्यदितश्च द्विस्वराम्बार्थाश्च नित्यदिद्द्विस्वराम्बार्थं तस्य नित्यदिद्द्विस्वराम्बार्थ ६-१ "टाङसो०" । ह्रस्वः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । हे अम्बा १-१ हे अक्का १-१ हे अत्ता १-१ हे अल्ला १-१ इति स्थिते सर्वत्र अनेन ह्रस्वः । **नित्यदिता**मुदाहरणानि त्वेवम्—हे स्त्रि हे लक्ष्मि हे श्वश्रु हे वधु ॥ **आबन्तयोरपि** निशानासिकाशब्दयोर्विशेषमाह *शसादौ स्यादावित्यादि "मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा" इत्यन्त्यस्वरलोपे निशः । निशा । निश्भ्याम् इति स्थिते "नामसिदय्व्यञ्जने" इति पदसंज्ञायां 'तालव्या इचुयाश्शशः' इति स्थान्यासन्नत्वात् "धुटस्तृतीय" इति शस्य जत्वे निज्भ्यामिति सिद्धम् । एवं निज्भिः निज्भ्यः २ । निशासु इति स्थिते "मासनिशासनस्य०" इत्यन्त्यस्वरलोपे *"सस्य शषौ" सकारस्य शचवर्गाभ्यां षटवर्गाभ्यां च योगे यथासङ्ख्यं शषौ स्यातामिति सुपः सकारस्य शकारः

"यजसृज०" इति सूत्रे यजादिधातुसाहचर्यात् शकारस्यापि धातुसम्बन्धिन एव ग्रहणात् निशाशब्दसम्बन्धिनः शकारस्य षत्वं न भवति, किन्तु "धुटस्तृतीयः" इति शस्य स्थान्यासन्नो जकार एव "चजः कगम्" इति परे गत्वे कर्त्तव्येऽसत्त्वात् गत्वं न भवति ततश्च "अघोषे प्रथमो शिटः" इति जस्य चत्वे "प्रथमादधुटि शच्छः" इति शस्य छत्वे निच्छु इति सिद्धम् । एवं नासिकाशब्दस्य "दन्तपादनासिका०" इति सूत्रेण नसादेशे नसः २-३ नासिकाः २-३ । नासिकाभ्यामिति स्थिते नसादेशे "सो रुः" इति रुत्वे नोभ्याम् नोभिः नोभ्यः । सुपि "शषसे शषसं वा" इति रोः सत्वे नस्सु ॥ ६ ॥

सर्वादीनामाबन्तानां ङित्सु विशेषमाह–सूत्रम्—

सर्वादेर्डस्पूर्वाः ॥ ७ ॥ [सि० १।४।१८]

सर्वादेराबन्तस्य ङितां यै यास् यास् यामो डस्पूर्वाः स्युः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । सर्वस्याम् । शेषं गङ्गावत् ॥ ७ ॥

सर्वादे० । सर्व आदिर्यस्य स सर्वादिः तस्य सर्वादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । डस्पूर्वो येषां ते डस्पूर्व १-३ "अत आः स्यादौ०" 'समानानां०' "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । डस्पूर्वा इति डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे सर्वस्यै सर्वस्याः इत्यादि । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति प्रियसर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक् तस्यै दक्षिणपूर्वायै अत्र बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात्सर्वादित्वाभावः। **यद्येवं** कथं दक्षिणपूर्वस्यै इति प्रयोगः ? **उच्यते** दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारयोऽयम् । विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ अत्र सर्वनामता वा स्यात् । **यत्तु** उत्तरपूर्वस्यै उत्तरपूर्वायै इति पाणिनीयैः सूत्रमारब्धम् **तद्व्यर्थम्** प्रागुक्तयुक्त्या प्रयोगद्वयसिद्धेरर्थाविशेषाच्च । **अथ** बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं त्वकत्पितृकः मकत्पितृकः द्वकिपुत्रः कर्कि सब्रह्मचारीत्यादावक्प्रत्ययः ? उच्यतेऽन्तरङ्गत्वात्पूर्वमेवाकि भविष्यति । **अन्ये** तु बहुव्रीहावन्तरङ्गस्याप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति तन्मते कप्प्रत्यय एव त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति यथासम्भवं ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ **जराशब्दस्य विशेषमाह**—

जराया जरस्वा ॥ ८ ॥ [सि० २।१।३]

स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा स्वरादौ स्यादौ । जरसौ जरे, २ । जरसः जराः, २ । जरसा, जरया । जराभ्याम् ३ । अतिजरसौ ॥ ८ ॥

जरा० । जरा ६-१ "आपो ङितां०" जरस् १-१ "दीर्घङ्याब्०" वा १-१ "अव्ययस्य" "अवर्णभो०" त्रिपदमिदं० । स्वरादौ स्यादौ इत्युक्तत्वात् व्यञ्जनादौ गङ्गाशब्दवदुपनयः । जरसौ २ जरे २ इत्यत्र द्विकेनाङ्केन प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोर्ग्रहणम् जरसः जराः २ इत्यत्र द्विकेनाङ्केन जस्शसोर्ग्रहणम् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं ज्ञेयम् । अतिजरसौ, एवमतिजरसः अतिजराः पुमांस इत्यादि । **केचित्तु** पूर्वविप्रतिषेधेन इनातोः कृतयोः सन्निपातपरिभाषया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते निर्जरसिन निर्जरसादिति रूपे न तु [निर्जरसा] निर्जरस इत्येवं मन्यन्ते । **इत्याकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः** ॥ ८ ॥

अथ इकारान्ताः स्त्रीलिङ्गा उच्यन्ते–तत्र

इकारान्तो बुद्धिशब्दः । स च प्रायो मुनिवत् । बुद्धिः । बुद्धी । बुद्धयः । हे बुद्धे । बुद्धिम् । बुद्धी । बुद्धीः । बुद्ध्या ।

इकारान्तो बुद्धिशब्द इति स च प्रायो मुनिवदित्यत्र प्रायोग्रहणात् शसि पुंस्त्वाभावात्सकारस्य नत्वाभावः—बुद्धीः २-३, "टः पुंसि ना" इति टाया ना न भवति इत्यादि । **बुद्ध्यादिशब्दानां ङित्सु विशेषमाह**, सूत्रम्—

स्त्रियां ङितां वा दैदास्दास्दाम् ॥ ९ ॥ [सि० १।४।२८]

स्त्रीलिङ्गादिदुदन्तात्परेषां स्वसम्बन्धिनामन्यसम्बन्धिनां च ङितामेते आदेशा वा स्युः । दकारो विशेषार्थः । बुद्ध्यै, बुद्धये । बुद्ध्याः २, बुद्धेः २ । बुद्ध्याम्, बुद्धौ । एवं प्रियबुद्ध्यै, प्रियबुद्धये पुंसे । एवं मतिभूतिप्रभृतयः । धेनुः । धेनू । धेनवः । हे धेनो । धेनुम् । धेनू । धेनूः । धेन्वा । धेन्वै, धेनवे । धेन्वाः धेनोः, २ । धेन्वाम् धेनौ । प्रियधेन्वै प्रियधेनवे पुंसे ॥९॥

स्त्रियां० । स्त्री ७-१ "स्त्रीदूतः" इति ङेराम् "स्त्रियाः" इति इयादेशः "लोकात्" । ङित् ६-३ "लोकात्" । वा १-१ "अव्ययस्य" । "तौ मुमो०" । दैश्च दास् च दास् च दाम् च दैदास्दास्दाम् १-१ "अनतो लुप्" । चतुष्पदमिदं० । दकारो विशेषार्थ इति "नित्यदिद्द्विस्वराम्बार्थस्य ह्रस्वः" "ऋन्नित्यदितः" इत्यादौ विशेषार्थ इति भावः । बुद्धि ४-१ अनेन दै आदेशे "इवर्णादेः०" इति यत्वे बुद्ध्यै पक्षे "ङित्यदिति" इत्येत्वेऽयादेशे बुद्धये । एवं बुद्धि ५-१ अनेन दासादेशे इवर्णादेरिति यत्वे बुद्ध्याः पक्षे ङित्यदितीत्येत्वे "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" "रः पदान्ते०" बुद्धेः । एवं षष्ठ्येकवचनेऽपि । बुद्धि ७-१ अनेन दामादेशे "इवर्णादे०" पक्षे "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" बुद्धौ । पुंसि गौणत्वेऽपि प्रियबुद्ध्यै, प्रियबुद्धये इत्यादि । नपुंसकलिङ्गे तु गौणत्वेऽपि प्रियबुद्ध्यै प्रियबुद्धये प्रियबुद्धिने कुलाय एवं सर्वत्र रूपत्रयं ज्ञेयम् । उकारान्ता अपि स्त्रीलिङ्गे एतैरेव सूत्रैः सिद्ध्यन्ति । तथा च रूपनयः—धेनुः धेनू धेनवः इत्यादि । अत्र लाघवार्थं क्रमोल्लङ्घनेन ईकारान्तात्पूर्वमुकारान्तानां निर्देशः कृतः ॥ ९॥ अथ ईकारान्ता उच्यन्ते ।

ईकारान्तो नदीशब्दः । "दीर्घङ्याब्०" इति सिलुकि नदी । नद्यौ । नद्यः । नदीम् । नद्यौ । नदीः । नद्या ।

ईकारान्तो नदीशब्द इति ईकारान्तानां **ङित्सु** विशेषमाह ॥ ९ ॥ सूत्रम्—

स्त्रीदूतः ॥ १० ॥ [सि० १।४।२९]

नित्यस्त्रीलिङ्गादीदूदन्तात्परेषां स्वास्वङितां दै दास् दास् दामो नित्यं स्युः । नद्यै । नद्याः २ । नद्याम् । स्वास्वेति वचनात् प्रियनद्यै पुंसे । सम्बोधने नित्यदित्त्वाद् ह्रस्वे, हे नदि । एवं गौरीप्रभृतयः । स्त्रीशब्दस्य ङ्यन्तत्वात्सेर्लुकि, स्त्री । स्वरादौ "स्त्रियाः" इतीयादेशे, स्त्रियौ । स्त्रियः । "वाम् शसि" स्त्रियम्, स्त्रीम् । स्त्रियः, स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । हे स्त्रि । लक्ष्मीशब्दस्य ङ्यन्तत्वाऽभावात्सेर्लुग्नास्ति । लक्ष्मीः । शेषं नदीवत् । वधूः । वध्वौ । वध्वः । वधूम् । वध्वौ । वधूः । वध्वा । वध्वै । वध्वाः २ । वध्वाम् । हे वधु । एवं जम्ब्वादयः । श्रीह्रीधीशब्दाः सुश्रीवत् । भूः स्वयम्भूवत् । भ्रूरतिभ्रूवत् ॥ १० ॥ मातृशब्दः पितृवत् । माता मातरौ । मातॄः । स्वसृशब्दः कर्तृवत् । स्वसा । स्वसारौ ।

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां स्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

स्त्री० । ईच ऊच ईदूत् स्त्रियामीदूत् स्त्रीदूत् तस्मात् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं० । नदी ४-१ अनेन नित्यं दै आदेशे "इवर्णादेः०" इत्यादि । एवं गौरीप्रभृतय इति सर्वेऽपि ङीप्रत्ययान्ता नदीशब्दवत् ज्ञेयाः इति भावः । पुंसि गौणत्वे प्रियनदिः प्रियनदी प्रियनद्यः

ङित्सु प्रियनद्यै प्रियनद्याः २ प्रियनद्याम् पुंसि । नपुंसके तु प्रियनदि प्रियनदिनी प्रियनदीनि । शेषं पुल्लिंगवत् । स्त्रीशब्दो यद्यपि ङ्यन्तोऽस्ति ततश्च "दीर्घङ्याब्०" इति सेर्लुक् भवति तथाप्ययं विशेषोऽस्ति यत् स्त्रीशब्दस्य स्वरादौ विभक्तौ परतः "स्त्रियाः" इति सूत्रेण इयादेशः स्यात् अमि शसि च विकल्पेन इयादेशः स्त्री ४-१ "स्त्रीदूतः" इति दैदासाद्यादेशे "स्त्रियाः" इति इयादेशे स्त्रियै स्त्रियाः २ स्त्रियाम् सम्बोधनेऽपि "नित्यदिद्विस्वर०" इति ह्रस्वे हे स्त्रि । ऊकारान्ता अपि एतैरेव सूत्रैः सिद्ध्यन्ति तथा च रूपनयः—वधूः वध्वौ वध्वः इत्यादि । एवं जम्ब्वादय इति तथा च जम्बूशब्दः स्त्रीक्लीबलिङ्ग इयं जम्बूः जम्बूवृक्षफलमिदं जम्बूवृक्षवाचकः स्त्रीलिङ्गे यथा नैषधे "एषा तरुस्तरुणि राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः । सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति" ॥ १ ॥ आदिशब्दात्कण्डूकच्छूकुरूरंभोरूप्रभृतयो ज्ञेयाः । श्रीह्रीधीशब्दाः सुश्रीशब्दवदिति । अयं भावः—"अवीतंत्रीतरीतंद्रीलक्ष्मीश्रीह्रीधियाः पुरः । भीशब्दस्य च सेर्लोपो न स्त्रीलिङ्गे कदाचन" ॥ १ ॥ "गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशि समासेयो बहुव्रीहौ" (२।४।९६) इतीयस्वन्तबहुव्रीहेर्ह्रस्वनिषेधात् बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी पुमान् "दीर्घङ्याब्०" इति सिलुक्, बहुश्रेयस्यौ बहुश्रेयस्यः बहुश्रेयसीम् बहुश्रेयसीन् बहुश्रेयस्या बहुश्रेयसीभ्याम् ३ बहुश्रेयस्यै बहुश्रेयस्याः २ बहुश्रेयसीनां सप्तम्यां बहुश्रेयस्यां सम्बोधने "नित्यदिद्विस्वर०" इति ह्रस्वे हे बहुश्रेयसि । एवं प्रियार्द्धपिप्पल्य अस्य प्रियार्द्धपिप्पली पुमान् इत्यादि बहुश्रेयसीवत् । तत्र लक्ष्म्यादीनामौणादीकारान्तत्वात् श्र्यादीनां धात्वीकारान्तत्वात् "दीर्घङ्याब्" इति न सेर्लोपः किन्तु विसर्ग एव श्रीः, "संयोगात्" इतीयादेशे श्रियौ श्रियः श्रियं श्रियौ श्रियः श्रिया श्रीभ्याम् ३ श्रीभिः "वेयुवोऽस्त्रियाः" इति विकल्पेन दैदासाद्यादेशे "संयोगात्" इतीयादेशे श्रियै श्रिये श्रियाः २ श्रियः २ "आमो नाम्वा" इति विकल्पेन नामादेशे श्रीणाम्; श्रियाम्, श्रियाम् श्रियि श्रियोः २ श्रीषु हे श्रीः । एवं ह्रीशब्दोऽपि । धीशब्दस्य "धातोरिवर्णोवर्णस्य" इतीयादेशः एवं भीशब्दोऽपि धीशब्दवत् । अवी-तन्त्री-तरी-तन्द्रीशब्दा लक्ष्मीवत् ज्ञेयाः । भ्रूरतिभ्रूवत् इति भ्रूः "भ्रूश्नोः" इत्युवादेशे भ्रुवौ भ्रुवः भ्रुवम् भ्रुवौ भ्रुवः भ्रुवा भ्रूभ्याम् भ्रूभिः "वेयुवोऽस्त्रियाः" इति वा दैदासाद्यादेशे भ्रुवै भ्रुवे भ्रुवाः २ भ्रुवः २ "आमो नाम्वा" भ्रूणाम् भ्रुवाम् सप्तम्येकवचने भ्रुवाम् भ्रुवि भ्रुवोः२भ्रूषु हे भ्रूः । ननु हे सुभ्रु हे भीरु इत्यत्र भ्रूभीरूशब्दयोर्नित्यदित्त्वाभावात्कथं ह्रस्वत्वमित्यत्रोच्यते भ्रमणं भ्रु उणादिः सुष्ठु भ्रु भ्रमणं यस्याः सा सुभ्रु ततश्च सुभ्रुभीरुशब्दयोः स्त्रीपर्यायत्वादूङि कृते नित्यदिद्विस्वरेत्यादिना ह्रस्वः । **सिद्धान्तकौमुद्यां** तु 'हा पितः कापि हे सुभ्रू' इति भट्टिप्रयोगः प्रमाद एवायमिति बहव इत्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ १० ॥ **मातृ**शब्दः पितृवदिति "ऋदुशनस्०" इति सेर्डा "डित्यन्त्य०" माता "अर्ङौ च" इत्यरादेशे मातरौ मातरः मातरम्, मातरौ शसि पुंस्त्वाभावादकारेण सह दीर्घ एव नतु नत्वम् मातॄः । मात्रा मातृभ्यामित्यादि । एवं गौणत्वेऽतिमातृशब्दोऽपि । सम्बोधनेऽयं विशेषो **"मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनामन्त्र्ये"** (सि० १।४।४०) मातृशब्दस्य पुत्रे वर्त्तमानस्य सामर्थ्याद्बहुव्रीहौ सिना सह मात इति अकारान्त आदेशः स्यात् । मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गम्यायां कचोऽपवादः । गार्गी माता यस्य तस्यामन्त्रणं हे गार्गीमात, अत्र श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया पुत्रः प्रशस्यते । पुत्र इति किम् ? हे गार्गीमातृके वत्से । अर्हे इति किम् ? अरे गार्गीमातृक । स्वसृशब्दः कर्तृवदिति "तृस्वसृनप्तृनेष्टृ०" इत्यादिना आर् स्वसा स्वसारौ इत्यादि "स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः" इत्यत्र स्वस्रादिवर्जनात् स्वसृशब्दस्य ऋल्लक्षणो ङीर्न भवति "जामिस्तु भगिनी स्वसा" । क्रोष्टुशब्दस्य विशेषमाह, सूत्रम्—

स्त्रियाम् ॥ ११ ॥ [सि० १।४।९३]

क्रुशस्तुनस्तृच् निर्निमित्त एव स्यात् । ततो ङ्यां क्रोष्ट्री ॥ ११ ॥ रै गो नौ शब्दाः प्राग्वत् ।

स्त्रि० स्त्री ७-१ "स्त्रीदूतः" इति दाम् "स्त्रियाः" इति इयादेशे स्त्रियाम् एकपदमिदं० । निर्निमित्त एवेति पञ्चभिः क्रोष्ट्रीभिः क्रीतैरिति विगृह्य "मूल्यैः क्रीते" इतीकण् तस्य "अनाम्यद्विः प्लुबि"ति लुपि "ङ्यादेर्गौणस्य" इत्यादिना ङीनिवृत्तौ पञ्चक्रोष्टृभी रथैः । अत्र च निर्निमित्तत्वादादेशस्य ङीनिवृत्तावपि निवृत्तिर्न भवति अत एव "क्यङ्मानिपित्तद्धिते" इति पुंवद्भावो न भवति पुंवद्भावेनापि हि आदेश एव निवर्त्तनीयः स च निमित्तत्वाश्रयणे ङीनिवृत्तावपि निवर्त्तेत एव । ततो ङ्यामिति अनेन तृजादेशे "स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः" इति ङ्यां "इवर्णादेरस्वे०" इति रत्वे क्रोष्ट्री । ततो नदीशब्दवद्रूपनयः ॥ ११ ॥ रै गो नौ शब्दाः प्राग्वदिति—रैशब्दः सुरैःशब्दवत् गोशब्दस्तथैव नौशब्दः सुनौशब्दवदिति । रैशब्दस्य "आ रायो व्यञ्जने" इति व्यञ्जनादौ आत्वं स्वरादावायादेशः राः रायौ रायः । गौः गावौ गावः "आ अम् शसोऽता" इत्यात्वे गाम् गावौ गाः "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" इति गोः २ इत्यादि ।

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ भेसुरनुक्रमेण घटनां शब्दाः स्वरान्ताः स्त्रियाम् ॥ १ ॥

अथ स्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः

अथ अकारादिस्वरक्रमेण प्राप्ता नपुंसकलिङ्गाः स्वरान्ताः शब्दा उच्यन्ते ।

तत्र अकारान्तो नपुंसकलिङ्गः कुलशब्दः ।

तत्र अकारान्तः कुलशब्दः इति कुल १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

अतः स्यमोऽम् ॥ १ ॥ [सि० १।४।५७]

अकारान्तस्य नपुंसकस्य स्यमोरम् स्यात् । कुलम् ॥ १ ॥

अतः० । अत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" सिश्च अम् च स्यम् तस्य स्यम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अम् १-१ "दीर्घङ्या०" "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । स्थानिमध्येऽम्ग्रहणमुत्तरसूत्रार्थम्, सूत्रक्रमेणोत्तरसूत्रं हि "पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः" (१।४।५८) इति, तत्र हि स्यमोरुभयोरपि दकारो यथा स्यात्—अन्यत् तिष्ठति पश्य वेति । आदेशस्यामोऽकारोच्चारणं जरसादेशार्थं तेनातिजरसं कुलं तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ १ ॥ कुल औ १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

औरीः ॥ २ ॥ [सि० १।४।५६]

नपुंसकस्य स्वौरीः स्यात् । कुले ॥ २ ॥

औ० । औ १-१ "सो रुः" । ई १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" "रो रे०" । द्विपदमिदं० । अनेन औकारस्य ईत्वे "अवर्णस्ये०" कुले ॥ २ ॥ कुल १-३ इति स्थिते सूत्रम्—

नपुंसकस्य शिः ॥ ३ ॥ [सि० १।४।५५]

नपुंसकस्य जस्शसोः शिः स्यात् । स च घुट्संज्ञकः, शेषघुट्संज्ञकश्च । शकारो विशेषार्थः॥३॥

नपुं० । नपुंसक ६-१ "टाङसो०" शि १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । स च घुट्संज्ञक इति "स्यमौजसः स्युर्घुटसंज्ञाः पुंस्त्रियोः शिर्नपुंसके" इति वचनात् । शेषघुट्संज्ञकश्चेति "विना सम्बोधनार्थं सिं शेषघुट्संज्ञका अमी" इति वचनात् । शकारो विशेषार्थ इति "स्वराच्छौ" "सख्युरितोऽशावैत्" इत्यादौ विशेषार्थ इत्यर्थः । कुल इ इति जाते ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

स्वराच्छौ ॥ ४ ॥ [सि० १।४।६५]

शौ परे स्वरान्तान्नपुंसकात् नोऽन्तः स्यात् ॥ ४ ॥

स्वरा० । स्वर ५-१ "ङेङस्योर्यातौ" "समानानां०" । शि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" । मध्ये "प्रथमादधुटि शश्छः" इति शस्य छत्वे 'तवर्गस्ये'ति तस्य चत्वे द्विपदमिदं० । अनेन नोऽन्तागमे कुल न् इ इति जाते ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

नि दीर्घः ॥ ५ ॥ [सि० १।४।८५]

शेषघुट्परे नकारे परे स्वरस्य दीर्घः स्यात् । कुलानि ॥ ५ ॥ द्वितीयायामप्येवम् । "अदेतः स्यमो"रिति सिलुकि हे कुल । तृतीयादिषु देववत् । सर्वादिष्वन्यादीनां विशेषः ।

नि० । न् ७-१ "लोकात्" । दीर्घ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । अनेन दीर्घे कुलानि इति सिद्धम् ॥ ५ ॥ द्वितीयायामप्येवमिति द्वितीयैकवचने "अतः स्यमोऽम्" इत्यमोप्यमादेशे "समानादमोत०" कुलम् । सम्बोधनेऽपि परत्वात्पूर्वम् "अतः स्यमोऽम्" इति सेरमादेशे तस्य च "अदेतः स्यमोर्लुक्" इति हे कुल । तृतीयादिषु देववदिति न कश्चिद्रूपे प्रक्रियायां वा विशेष इति भावः । सर्वादिष्वन्यादीनां विशेष इति सूत्रम्—

पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ ६ ॥ [सि० १।४।५८]

अन्यादिपञ्चकस्यैकतरवर्जस्य स्यमोर्दः स्यात् । अन्यद् ॥ ६ ॥

पञ्च० । पञ्चेति सङ्ख्यामानमस्य वर्गस्य स पञ्चत् वर्गः *"पञ्चद्दशद्वर्गे वा" एतौ तदस्य मानमिति विषये वर्गे अत्प्रत्ययान्तौ वा निपात्येते । पञ्चत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अन्य आदिर्यस्य स अन्यादिस्तस्य अन्यादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । न विद्यते एकतरः शब्दो यस्मिन् स अनेकतर ६-१ "टाङसो०" द् १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" 'लोकात्' । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । अन्य १-१ अनेन सेर्दकारादेशे अन्यद् इति जाते ॥ ६ ॥ सूत्रम्—

विरामे वा ॥ ७ ॥ [सि० १।३।५१]

विरामस्थस्य शिड्वर्जस्य धुटः स्वप्रथमो वा स्यात् । अन्यत् । अन्यतरद् २ । इतरद् २ । कतरद् २ । कतमद् २ । एकतरवर्जनादेकतरम् ॥ ७ ॥ आसनस्य शसादौ स्यादौ परेऽन्त्यलुग्वा । आस्यशब्दस्य वासन्नादेश इति पाणिनीयाः । आसानि । आस्ना । आसन्भ्याम् । हृदयोदकयोर्हृदुदन्नादेशौ च शसादौ स्यादौ वा ।

विरा० । विराम ७-१ "अवर्णस्ये०" वा १-१ "अव्ययस्य" । विरामस्थस्येति पर्यन्तस्थस्येत्यर्थः । अनेन दकारस्य तकारे अन्यत् इति । एवमितरद् २ इत्यादिष्वपि रूपद्वयं द्विकेनाङ्केन ज्ञेयमिति ॥ ७ ॥ **आसनशब्दस्य** प्रथमवचनपञ्चके कुलशब्दवद्रूपनयः शसादिषु तु "मासनिशासनस्य०" इत्यन्त्यलुकि "नि दीर्घः" इति दीर्घे आसानि पक्षे आसनानि । आसन भ्याम् इति स्थिते अन्त्यलोपे "नामसिदय्०" इति पदसंज्ञायां "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे प्राप्ते *"स्वरस्य परे प्राग्विधौ" स्वरस्यादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधौ विधेये स्थानीव स्यात् इत्यकारस्य सत्त्वान्नलोपो न भवति आसन्भ्याम् ३ पक्षे आसनाभ्याम् ३ । पाणिनीयानां तु आस्यशब्दस्यासन्नादेश इति पूर्वोक्तपरिभाषया अनुपस्थानात् नलोपो भवति आसभ्यामित्यादि । यत्तु **सिद्धान्तकौमुद्यां** आसनस्यासन्नादेश इति **काशिकोक्तं** प्रामादिकमित्युक्तम् तन्नातिपेशलम्—काशिकोक्तस्यानेकान्यव्याकरणसम्मतत्वात् 'आसन्यं प्राणमूचुरि'त्ययं प्रयोगस्त्वलौकिक एवान्यथा 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्ण'मिति सूत्रे स्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमास्ये भवमास्यमिति **भाष्ये** यदुक्तं तत्राप्यासन्यमिति प्रयोगप्रसङ्गः । **हृदयोदकयोः** प्रथमवचनपञ्चके कुलशब्दवद्रूपपद्धतिः शसादौ तु "दन्तपाद०" इति सूत्रेण हृदुदन् आदेशौ वा भवतः इति रूपद्वयं भवति । हृदय २-३ "नपुंसकस्य शिः" हृद् इ इति स्थिते सूत्रम्—

धुटां प्राक् ॥ ८ ॥ [सि० १।४।६६]

स्वरात्परा या धुड्जातिस्तदन्तस्य घुटि परे धुटः प्राग्नोऽन्तः स्यात् ॥ ८ ॥

धुटां० । धुट् ६-३ "लोकात्" । प्राक् १-१ "अव्ययस्य" । द्विपद० । धुटामिति बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थं तेन यत्र स्वरात्परं धुट्द्वयं भवति एको वा धुड्भवति तत्रानेन घुटि परे नोऽन्तो भवति यथा काष्ठत्वङ्क्षि कुलानीति ततश्चानेन नोऽन्तागमे हृन्द् इ इति स्थिते ॥ ८ ॥ सूत्रम्—

म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ॥ ९ ॥ [सि० १।३।३९]

अपदान्तस्थानां म्नां वर्गे धुटि परे पुरःस्थधुट्सम्बन्धी पञ्चमः स्यात् । हृन्दि । हृदा । हृद्भ्याम् । उदानि उद्ना । उदभ्याम् । पक्षे त्वासनादयः कुलवत् ॥ ९ ॥

म्नां० । म् च न् च म्नस्तेषां म्न् ६-३ धुट् चासौ वर्गश्च धुड्वर्गस्तस्मिन् धुड्वर्ग ७-१ "अवर्णस्ये०" । अन्त्य १-१ "सो रुः" । पदस्य अन्तः पदान्तः न पदान्तः अपदान्तः तस्मिन् अपदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । अनेन नोऽन्तसम्बन्धिनो नस्य नत्वे हृन्दि इति सिद्धम् । **ननु** नस्य नत्वकरणं पिष्टपेषणवत्कथं युक्तमिति चेदुच्यते—कार्यान्तरबाधनार्थं ततश्चात्र नकारस्य नकार एव स्यात् न तु कार्यान्तरम् । तथाहुः **श्रीसूरयः**—"म्नामिति बहुवचनं वर्णान्तरबाधनार्थम्," तेन कुर्वन्ति कृषन्ति विस्रम्भः संरम्भ इत्यत्र नकारस्य णत्वं बाधित्वानेन वर्गान्त्य एव भवति । क्रान्त्वा भ्रान्त्वा इत्यत्रापि नकारे कृते णत्वबाधनार्थं पुनर्नकारः । धुडिति किम् ? आहन्महे । धुड्वर्ग इति किम् ? हंस्यति । अपदान्त इति किम् ? भवान् करोति । अन्वित्यधिकारात् व्यङ्क्ता व्यङ्क्तुमित्यञ्जेर्गत्वे कत्वे च कृते पश्चात्कवर्गान्त्यः अन्यथा च वर्गान्त्यः स्यात् ॥ ९ ॥ अतिजरशब्दस्य "अतः स्यमोऽम्" इति स्यमोरमादेशे सन्निपातन्यायस्यानित्यत्वाज्जरसादेशे **"जरसो वा"** [१।४।६०] जरसन्तस्य नपुंसकस्य सम्बन्धिनोः स्यमोर्लुग्वा भवति । अतिजरः अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वा । **अन्ये** द्वितीयैकवचनस्यामो योऽमादेशस्तस्यैव लुब्विकल्पमिच्छन्ति न स्यादेशस्य । **केचिज्जरसः** स्यमोर्लोपमिच्छन्ति तन्मतेऽतिजरसं तिष्ठति पश्येत्येव भवति । एवं प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचने अतिजरे, अतिजरसी । बहुवचने शौ परत्वा-

जरसादेशस्ततो नागमः अतिजरांसि अतिजराणि तिष्ठन्ति पश्य वा । स्त्रियां तु विभक्तेरापा व्यवधानान्न भवति । अथ आकारान्ता नपुंसकलिङ्गाः शब्दा उच्यन्ते विश्वपा १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

क्लीबे ॥ १० ॥ [सि० २।४।९७]

नपुंसकस्य स्वरान्तस्य ह्रस्वः स्यात् । विश्वपम् इत्यादि कुलवत् ॥१०॥ इकारान्तो वारिशब्दः ।

क्ली० । क्लीब ७-१ "अवर्णस्ये०" । एकपदमिदं० । अनेन ह्रस्वे "अतः स्य०" समानाद०" विश्वपं कुलम् विश्वपे विश्वपानि इत्यादि सर्वं कुलवत् ॥ १० ॥ **इकारान्तो** वारिशब्द इति वारि १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

अनतो लुप् ॥ ११ ॥ [सि० १।४।५९]

अकारान्तवर्जनपुंसकस्य स्यमोर्लुप् स्यात् । वारि २ ॥ ११ ॥ वारि औ इति स्थिते "औरीः" इतीकारे जाते ।

अनतो० । न अत् अनत् तस्य अनत् ६-१ । लुप् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । मध्ये "सो रुः" घोषवति" । द्विपदमिदं० । लुकमकृत्वा लुप्करणं स्यमोः स्थानिवद्भावेन यत्कार्यं तस्य प्रतिषेधार्थं तेन यत् तत् अत्र त्यदाद्यत्वं न भवति ॥ ११ ॥ वारि १-२ इति स्थिते "औरीः" इति ईकारे जाते वारि ई इति स्थिते सूत्रम्—

अनाम्स्वरे नोऽन्तः ॥ १२ ॥ [सि० १।४।६४]

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्याम्वर्जे स्वरादौ स्यादौ नोऽन्तः स्यात् । वारिणी २ । वारीणि २ । वारिणा । वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । आमि मुनिवत् । वारीणाम् । वारिणि ॥ १२ ॥ सम्बोधने ।

अनाम्० । न आम् अनाम्, अनाम् चासौ स्वरश्च अनाम्स्वरस्तस्मिन् अनाम्स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । नोऽन्त १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । अनेन नोऽन्ते "रषृवर्णान्नो०" णत्वे वारिणी । वारि १-३ "नपुंसकस्य शिः" "स्वराच्छौ" "नि दीर्घः" वारीणि । द्वितीयायामप्येवम् । आमि मुनिवदिति "अनाम् स्वरे नोन्तः" इत्यत्र आम्वर्जनान्नोऽतो न भवति, किन्तु "ह्रस्वापश्च" "दीर्घो नाम्य०" "रषृव०" वारीणाम् ॥ १२ ॥ सम्बोधने हे वारि १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

नामिनो लुग्वा ॥ १३ ॥ [सि० १।४।६१]

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य स्यमोर्लुग्वा स्यात् । लुकि च स्थानिवद्भावाल्लुप्तप्रत्ययनिमित्तकं कार्यं स्यादिति सिना सह गुणे हे वारे । पक्षे "अनतो लुप्" इति सेर्लुप् । लुपि न तन्निमित्तमिति गुणाभावे हे वारि । स्वसम्बन्धिविज्ञानात् हे प्रियवारे नर, नात्र विकल्पः ॥ १३ ॥ मधु २ । मधुनी २ । मधूनि २ । मधुना । हे मधो । हे मधु । दध्यादीनां टादौ विशेषः ।

नामि० । नामिन् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" लुक् १-१ "दीर्घ०" वा "अव्यय०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "धुटस्तृ०" । त्रिपदमिदं० । लुकि च स्थानिवद्भावादिति—अयमेव लुक्लुपोर्विशेषो यत् लुकिस्थानिवद्भावो भवति लुपि तु न भवतीति । एवं सर्वेषामपि नाम्यन्तानां सम्बोधने प्रथमैकवचने रूपद्वयं ज्ञेयम् । परैरप्युक्तम् "सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्युदन्तम् । माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः" ॥ १ ॥ **माध्यन्दिनिर्नामाचार्यः नपुंसके इगन्ते**

इति इ उ ऋ ऌ एतदन्ते गुणं त्विगन्ति वष्टिर्वाञ्छतीत्यर्थः । माध्यन्दिनिः किंविशिष्टः ? व्याघ्रपदां व्याघ्रपद्गोत्रजानां मध्ये वरिष्ठः, श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं मधुशब्दस्यापि रूपपद्धतिः । मधु २ मधुनी २ । मधूनि २ । हे मधो, हे मधु इति । यस्तु चैत्रो मधुश्चैत्रिकश्चेति मधुशब्दः स तु पुंल्लिङ्गः साधुशब्दवत् । दध्यादीनां चतुर्णां टादौ विशेषमाह—

दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १४ ॥ [सि० १।४।६३]

एषां नपुंसकानां स्वेऽस्वे वा टादौ स्वरे अन् स्यात् । "अनोऽस्य" इत्यल्लुकि दध्ना प्रियदध्ना । "ईङौ वा" दध्नि दधनि । अस्थ्ना । अत्यस्थ्ना । सक्थ्ना । अक्ष्णा ॥ १४ ॥ इह द्विधा लिङ्गव्यवस्था—केचिद् दध्यादिवज्जातिशब्दाः स्वत एव लिङ्गमुपाददते, गुणक्रियाद्रव्यसम्बन्धनिमित्ताश्च केचित्पट्वादिवद्विशेष्यानुरूपं लिङ्गमिति ।

दध्यस्थि० । दधि च अस्थि च सक्थि च अक्षि च दध्यस्थिसक्थ्यक्षि तस्य दध्यस्थिसक्थ्यक्षि ६-१ अनेनैव इकारस्य अन् "अनोऽस्य" इत्यकारलुप् "रषृवर्णा०" "लोकात्" "सो रुः" । अन्त ६-१ "टाङसो" । अन् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । मध्ये "इवर्णादे०" "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" "समानानां०" । त्रिपदमिदं० । प्रथमाद्वितीययोर्व्यञ्जनादिषु च वारिशब्दवत् । दधि २ दधिनी २ दधीनि २ । दधि ३-१ इति स्थिते इकारस्य अनादेशे "अनोऽस्य" इत्यकारलोपे "लोकात्" दध्ना । दधिभ्याम् ३ दधिभिः दध्ने दध्नः २ दध्नोः २ दध्नाम् "ईङौ वा" इति दध्नि दधनि दधिषु हे दधे हे दधि । प्रियदध्नेति अन्यतोलिङ्गत्वात् पुंवद्भावे प्रियदधिना । सप्तम्यां रूपत्रयम्—प्रियदध्नि प्रियदधनि प्रियदधौ । एवं अस्थि २ अस्थिनी २ अस्थीनि २ अस्थ्ना अत्यस्थ्ना अत्यस्थिना, अस्थिभ्याम् ३ अस्थिभिः अस्थ्ने अस्थ्नः २ अस्थ्नोः २ अस्थ्नाम् अस्थ्नि अस्थनि अस्थिषु हे अस्थे हे अस्थि । सक्थि २ सक्थिनी २ सक्थीनि २ सक्थ्ना सक्थ्ने सक्थ्नः २ सक्थ्नोः २ सक्थ्नाम् सक्थ्नि सक्थनि सक्थिषु हे सक्थे हे सक्थि । अक्षि २ अक्षिणी २ अक्षीणि २ अक्ष्णा अक्षिभ्याम् ३ अक्षिभिः अक्ष्णे अक्ष्णः २ अक्ष्णोः २ अक्ष्णाम् अक्ष्णि अक्षणि अक्षिषु हे अक्षि हे अक्षे ॥ दधि प्रतीतम्, अस्थि कीकसम्, सक्थि ऊरुः, अक्षि नेत्रमिति ॥ १४ ॥ **इह** द्विधा लिङ्गव्यवस्थेति इह शास्त्रे लिङ्गव्यवहारो द्विधा भवति यथा केचित् स्वतोलिङ्गाः केचिदन्यतोलिङ्गाश्च । तत्र स्वतोलिङ्गानाह—जातिशब्दा इति जातिः प्रवृत्तिनिमित्तं येषां ते जातिशब्दाः घटपटगोमहिषादयः । अन्यतोलिङ्गानाह—गुणक्रियाद्रव्यसम्बन्धनिमित्ताश्चेति—गुणः क्रिया द्रव्यसम्बन्धश्च प्रवृत्तिनिमित्तं येषां ते तथा । **पट्वादिवदिति** । तत्र गुणप्रवृत्तिनिमित्तकाः पटुर्मूढः शुक्लः कृष्ण इत्यादयः । क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकाश्च पाचको याचक इत्यादयः । द्रव्यसम्बन्धप्रवृत्तिनिमित्तकाश्च दण्डी धनवानित्यादयः । एते च यादृशं विशेष्यं भवति तादृशं लिङ्गं बिभ्रति । 'गुणवृत्तेराश्रयाद्वचनलिङ्गे' इति लिङ्गानुशासनवचनात् । तत एते अन्यतोलिङ्गा उच्यन्ते । यथा पुरुषश्चेत् पटुः स्त्री चेत् पट्वी कुलं चेत् पटु । एवं पाचकः पाचिका पाचकम्, दण्डी दण्डिनी दण्डि । एवं लिङ्गव्यवस्थायां सत्यामन्यतो **लिङ्गानां** नपुंसकानां शब्दानां टादौ स्वरादौ विशेषमाह—

वान्यतः पुमांष्टादौ स्वरे ॥ १५ ॥ [सि० १।४।६२]

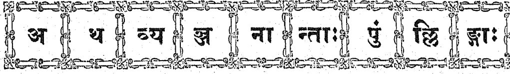
अन्यतो विशेष्यवशान्नपुंसको नाम्यन्तष्टादौ स्वरे पुंवद्वा स्यात् । पटुना २ । पटुने, पटवे । पटुनः पटोः, २ । पटूनाम् २ । पटुनि, पटौ ॥ १५ ॥ नी-ग्रामण्यादिशब्दानां ह्रस्वत्वे नि-

ग्रामणि कुलम् । निनी ग्रामणिनी । निना, निया । ग्रामण्या, ग्रामणिना । निनि । ग्रामणिनि । नियाम्, ग्रामण्याम् । हे ने, हे नि । हे ग्रामणे, हे ग्रामणि । कर्तृ २ । कर्तृणी २ । कर्तृणि २ । हे कर्तः । हे कर्तृणी । हे कर्तृणि । कर्त्रा । कर्तृभ्याम् । कर्तृभिः । कर्त्रे । एदैतो ह्रस्वत्वे इकार ओदौत उकारश्च वाच्यौ । ततश्च अतिहि अतिरि अतिगु अतिनु कुलमित्यादि प्राग्वत् ।

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां स्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

वान्यतः० । वा १-१ "अव्ययस्य" अन्यस्मादिति अन्यतः "किमद्वयादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित्तस्" इति तस् प्रत्यये अन्यतः १-१ । "अधण्तस्वाद्याशसः" इत्यव्ययसंज्ञायाम् "अव्ययस्य" इति सिलुक् । पुमस् १-१ "पुंसो पुमन्स्" "न्स्महतोः" इति दीर्घः पदस्य संयोगान्तस्य लुक् स्यादिति सूलोपः । टा आदिर्यस्य स टादिः टादि ७-१ "ङिड्डौ" "डित्यन्त्य०" । स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । "समानानां०" । "सो रुः" "रः पदान्ते०" "नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट्परे" इति नस्य षः पूर्वस्यानुनासिकश्च । पञ्चपदमिदं सूत्रम् । पटु ३-१ पटुशब्दस्य गुणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेनान्यतो लिङ्गत्वात् विकल्पेन पुंवद्भावः । तत्र पुंवद्भावपक्षे "अनाम् स्वरे०" पटुने अन्यपक्षे नित्यदिति "ओदौतो०" पटवे पटु ५-१, ६-१ "अनाम्०" पटुनः २ । पक्षे "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०" पटोः २ । षष्ठीबहुवचने तु पटूनामित्येव रूपम् । पटु ७-१ "अनाम्०" पटुनि पक्षे "ङिड्डौ" "डित्यन्त्य०" पटौ । पटु ६-२ ७-२ "अनाम्०" पटुनोः २ पक्षे "इवर्णादेः०" पट्वोः २ । पटुषु हे पटो हे पटु । अतिस्त्रिशब्दस्य "अनाम्स्वरे" इति नुमागमेन इयादेशो बाध्यते अतिस्त्रिणी अतिस्त्रीणि । टादौ पुंवद्भावविकल्पेन अतिस्त्रिणा २ अतिस्त्रिणे अतिस्त्रये, अतिस्त्रिणः अतिस्त्रेः ॥ १५ ॥ **नी**ग्रामण्यादिशब्दानां ह्रस्वत्वे इति–"क्लीबे" इति ह्रस्वे नि २ ग्रामणि २ कुलमिति विशेष्यज्ञापनाय वचनं निनी २ ग्रामणिनी २ नीनि २ ग्रामणीनि २ । एषामप्यन्यतोलिङ्गत्वात् टादौ स्वरादौ वा पुंवद्भावस्तत्र पुंवद्भावपक्षे "धातोरिवर्णस्य०" इयादेशे निया । क्लीबत्वपक्षे "अनाम्०" निना । ग्रामणीशब्दस्य पुंवद्भावपक्षे "निय आम्" इति ङेरामादेशे नियाम् ग्रामण्याम् पक्षे "अनाम्०" निनि ग्रामणिनि, व्यञ्जनादौ सर्वत्र पुंवद्भावाभावात् "क्लीबे" इति ह्रस्वत्वमेव निभ्याम् ग्रामणिभ्याम् निभिः ग्रामणिभिः इत्यादि । सम्बोधने "नामिनो लुग्वा" इति सिलुकि "ह्रस्वस्य गुणः" इति गुणे हे ने हे ग्रामणे । पक्षे "अनतो लुप्" इति सिलुप् हे नि हे ग्रामणि कुल इत्यादि । **प्रियक्रोष्टु**शब्दो मधुशब्दवत् टादौ स्वरे पुंवद्भावविकल्पेन प्रियक्रोष्ट्रे प्रियक्रोष्टवे प्रियक्रोष्टुने इत्यादि । मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः शसादौ वेति पाणिनीयास्ततश्च मांसि मांसानि मान्भ्यां, मांसाभ्याम् पृता, पृतनया पृद्भ्यां, पृतनाभ्याम् । स्नुनि सानूनि स्नुना सानुना स्नुने सानुने । यस्तु स्नुः प्रस्थम् सानुरिति पुंल्लिङ्गः स्नुशब्दः सानुवाची स तु शब्दान्तरमेव । **एवमवर्णेवर्णो**वर्णान्ता नपुंसकाः शब्दा उक्ताः । **अथ ऋ**कारान्तास्तत्र कर्तृ २ कर्तृणी २ कर्तृणि २ । अस्य अन्यतो लिङ्गत्वात् टादौ स्वरे वा पुंवद्भावः कर्त्रा कर्तृणा । सम्बोधने हे कर्तः हे कर्तृ इति । **अथ** एदन्ता ऐदन्ता **ओ**दन्ता **औ**दन्ताश्च शब्दा उच्यन्ते । एदैतो ह्रस्वत्वे इकार ओदौत उकारश्च वाच्याविति–ततश्च अतिहे अतिरै अतिगो अतिनौ शब्दानां ह्रस्वत्वे ह्यमतिक्रान्तम् अतिहि २ रायमतिक्रान्तमतिरि २ गामतिक्रान्तमतिगु २ नावमतिक्रान्तमतिनु २ कुलमिति अतिहिनी २ अतिहीनि २ । एषामन्यतो लिङ्गत्वात् अतिहिना अतिह्या । एवमतिरिणी २ अतिरीणि २ अतिराया अतिरिणा व्यञ्जनादौ तु ह्रस्वत्वे कृते "एकदेशविकृतमनन्यवत्" इति न्यायात् "आ रायो व्यञ्जने" इत्यात्वे अतिराभ्याम् अतिराभिः अतिरासु इत्यादि स्यात् । शेषं सुगमम् ।

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ रेजुरमी समाप्तिसुषमां क्लीबाः स्वरान्ता रवाः ॥ १ ॥



यथाक्रमं त्रिषु लिङ्गेषु स्वरक्रमेण स्वरान्ताः शब्दा अभिहिताः । **अथ** व्यञ्जनक्रमेण व्यञ्जनान्ताः शब्दास्त्रिषु लिङ्गेषु वक्तव्यास्तत्र व्यञ्जनानि च "कादिर्व्यञ्जनम्" इति वचनात् कादीनि हपर्यन्तानि, तेषु कवर्गान्ताः शब्दाः प्रायोऽप्रसिद्धा इति चकारादारभ्य व्यञ्जनान्ताः पुंल्लिङ्गाः शब्दा उच्यन्ते; एतत्सर्वं मनसिकृत्याह—**अथ व्यञ्जनान्ताः पुंल्लिङ्गा इति** । अथेति स्वरान्तशब्दकथनानन्तरं व्यञ्जनान्ताः पुंल्लिङ्गाः शब्दा उच्यन्ते इति शेषः ।

तत्र चकारान्तः सुवाच् शब्दः ।

तत्र चकारान्तः सुवाच् शब्द इति । 'वचंक् भाषणे' उच्यत इति वाक् "दिद्युद्दद्दृजगज्जुहूवाक्प्राट्धीश्रीज्वायतस्तूकटप्रूपरिव्राट्भ्राजादयः क्विप्" इति निपातनात् वाच् इति सिद्ध्यति । शोभना वाक् यस्य स सुवाक्, यद्यपि सुवाच्शब्दो विशेष्यलिङ्गत्वात्त्रिष्वपि लिङ्गेषु सम्भवति तथापि प्राधान्यात् पुंसि रूपाण्युच्यन्ते इति सुवाच् १-१ इति स्थिते सूत्रम्

चजः कगम् ॥ १ ॥ [सि० २।१।८६]

धुटि प्रत्यये पदान्ते च चजोः कगौ स्याताम् । "धुटस्तृतीयः" इति, सुवाग्, "विरामे वा" सुवाक् । सुवाचौ । सुवाग्भ्याम् । सुवाक् सु इति स्थिते, "नाम्यन्तस्था०" इति षत्वे । कषसंयोगे क्षः । सुवाक्षु । हे सुवाक्, हे सुवाग् ॥ १ ॥ प्रत्यच् स् इति स्थिते ।

चजः० । चश्च जश्च चज् तस्य चज् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते" कश्च गश्च कगं कग १-१ "अतःस्य०" समानाद०" । द्विपदमिदं० । अनेन चस्य कत्वे ततो "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे सुवाग् इत्येकं रूपम्, ततो "विरामे वा" इति पक्षे गस्य कत्वे द्वितीयं रूपं सुवाक् इति । स्वरादिविभक्तौ तु "लोकात्" इति स्वरसंयोग एव सुवाचौ सुवाचः । व्यञ्जनादौ तु विभक्तौ "नामसिदय०" इति पदसंज्ञायां "चजः कगम्" इति चस्य कत्वे "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे सुवाग्भ्याम्, सुवाग्भिः । सुवाच् सु इति स्थिते "नामसिदयि"ति पदसंज्ञायां "चजः कगमि"ति चस्य कत्वे "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति गस्य कत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति सस्य षत्वे कषसंयोगे क्ष इति सुवाक्षु इत्यादि सर्वं सङ्क्षेपेणाह—**सुवाक् सु इति स्थिते** इत्यादि । सम्बोधनेऽपि प्राग्वत् कान्तं गान्तं वेति रूपद्वयम् । धुटादिप्रत्ययोदाहरणं च वक्ता इत्यादि । प्रत्यच् स इति स्थिते इति प्रतिपूर्वक 'अञ्चू गतौ च' अञ्च् प्रत्यञ्चतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "अञ्चोऽनर्चायाम्" इति नलोपः ततश्च **प्रत्यच् १-१ इति स्थिते** ॥ १ ॥ सूत्रम्—

अचः ॥ २ ॥ [सि० १।४।६९]

अञ्चतेर्धातोर्धुडन्तस्य घुटि परे धुटः प्राग् नोऽन्तः स्यात् । "दीर्घङ्याब्०" इति सिलुकि ॥ २ ॥

अचः । अच् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अनेन नोऽन्तागमे प्रत्यन् च् स् इति स्थिते "दीर्घङ्याब्०" इति सिलुकि प्रत्यन् च् इति स्थिते ॥ २ ॥ सूत्रम्—

पदस्य ॥ ३ ॥ [सि० २।१।८९]

संयोगान्तस्य लुक् स्यात् इति च् लुक् ॥ ३ ॥

प० । पद ६-१ "टाङसो०" । एकपदमिदं० । अनेन चलोपे प्रत्यन् इति स्थिते ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ॥ ४ ॥ [सि० २।१।७१]

एषां नस्य पदान्ते ङः स्यात् । प्रत्यङ् "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति, प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । सम्बोधनेऽप्येवम् । प्रत्यञ्चम् । प्रत्यञ्चौ ॥ ४ ॥

युजञ्च० । युज् च अन् च क्रुन् च युजन्चक्रुन्च तस्य युजन्चक्रुन्च् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । न् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । ङः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । "अवर्णस्ये०" । त्रिपदमिदं० । अनेन नस्य ङत्वे प्रत्यङ् इति प्रथमैकवचने रूपं सिद्धम् । प्रत्यन्च १-२ इति स्थिते "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य ञत्वे प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः इत्यादि । **सम्बोधनेऽप्येवमिति** । हे प्रत्यङ्, हे प्रत्यञ्चौ हे प्रत्यञ्चः इति रूपाणि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ प्रत्यच् २-३ इति स्थिते सूत्रम्—

अच्च प्राग्दीर्घश्च ॥ ५ ॥ [सि० २।१।१०४]

णिक्यघुट्वर्जे यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये अचश्च् इत्यादेशः स्यात्, पूर्वस्वरस्य च दीर्घः । प्रतीचः । प्रतीचा । प्रत्यग्भ्याम् । प्रत्यक्षु ॥ प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । हे प्राङ् । प्राचा । प्राग्भ्याम् ॥ ५ ॥

अच्च० । अच् १-१ "दीर्घङ्याब्०" च १-१ "अव्ययस्य" प्राग् १-१ "अनतो०" दीर्घ १-१ "सो रुः" च १-१ "अव्ययस्य" । पञ्चपदमिदं० । अनेन अघुट्स्वरादौ अचश्चादेशे पूर्वस्वरस्य दीर्घे च प्रतीचः प्रतीचा प्रतीचे, प्रतीचः ५-१ ६-१, प्रतीचोः २ प्रतीचाम् प्रतीचि । व्यञ्जनादौ तु "नामसिदय्०" इति पदत्वे "चजः कगम्" इति चस्य कत्वे "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे प्रत्यग्भ्याम् प्रत्यग्भिः प्रत्यक्षु इत्यादि प्राग्वत् । प्रत्यञ्चति पूजयतीति वाक्ये अर्चायां नलोपाभावे "अच्च प्राग्दीर्घश्च" इति लुप्तनकारस्य अचो निर्देशात् इदं सूत्रं न प्रवर्त्तते, "युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः" इति सूत्रे सामान्यतोऽञ्चतिनिर्देशात् इदं सूत्रं प्रवर्त्तते ततश्च प्रथमवचनपञ्चके प्राग्वदेव रूपाणि, प्रत्यङ् प्रत्यञ्चौ प्रत्यञ्चः प्रत्यञ्चम् प्रत्यञ्चौ । अघुट्स्वरेऽपि प्रत्यञ्चः प्रत्यञ्चा प्रत्यञ्चे प्रत्यञ्चः २ प्रत्यञ्चोः २ प्रत्यञ्चि । व्यञ्जनादौ "नामसिदय्०" इति पदसंज्ञायां "युजञ्चक्रुञ्चो०" प्रत्यङ्भ्याम् प्रत्यङ्भिः प्रत्यङ्क्षु । यकारादौ प्रत्ययेऽपि "द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः" (६।३।८) इति सूत्रेण भवाद्यर्थे यप्रत्यये अनेन सूत्रेण अचश्चादेशे प्राक्स्वरस्य दीर्घे प्रत्यग्भवः प्रतीच्यो वायुः "अदिक् स्त्रियां वाञ्चः" (७।१।१०७) इति स्वार्थिके ईनप्रत्यये प्रत्यगेव प्रतीचीनम् अनर्चायाम् अच इति स्त्रियां ङीप्रत्यये प्रतीची दिक् । **णिक्यघुड्वर्जनात्** प्रत्यञ्चम् आचष्टे "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" इति णिजि "अन्त्यस्वरादेरि"त्यन्त्यस्वरादिलुकि प्रत्ययति प्रत्यञ्चं इच्छति "अमाव्ययात् क्यन् च" प्रत्यच्यति अत्र अचश्च आदेशो न भवति । अर्चायां स्त्रियां च "अञ्च" इति ङीप्रत्यये प्रत्यञ्ची इति । एवं प्रपूर्वक अञ्चधातुः प्राञ्चतीति प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः प्राञ्चम् प्राञ्चौ । प्राच् २-३ इति स्थिते "अच्च प्राग्०" इति अचश्चादेशे प्रशब्दसम्बन्धिनः स्वरस्य दीर्घे प्राचः प्राचा इत्यादि । व्यञ्जनादौ प्राग्भ्याम् प्राग्भिः प्राक्षु इत्यादि । अर्चायां घुट्वचनपञ्चके प्राग्वत् अघुट्स्वरे

प्राञ्चः प्राञ्चा प्राञ्चे इत्यादि । व्यञ्जनादौ प्राङ्भ्याम् प्राङ्भ्यः प्राङ्क्षु इत्यादि "युप्रागपागु०" (६।३।८) इति यप्रत्यये प्राच्यः स्वार्थिके ईनप्रत्यये प्रागेव प्राचीना । अनर्चायां ङीप्रत्यये प्राची । अर्चायां प्राञ्ची ॥ ५ ॥ **उदच्**शब्दस्य पञ्चस्वविशेषः शसादौ च विशेष इति दर्शयति । सूत्रम्—

उदच उदीच् ॥ ६ ॥ [सि० २।१।१०३]

णिक्यघुड्वर्जे यकारादौ स्वरादौ च । उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ॥ ६ ॥

उदच् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । उदीच् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । "रोर्यः" तस्य स्वरे परे लुग्वा लुक्यसन्धिश्च । द्विपदमिदं सूत्रम् । अत्र सापेक्षं वृत्त्यंशमाह–णिक्यघुड्वर्जे यकारादौ स्वरादौ चेति । सूत्रवृत्त्योः सङ्घटनेऽर्थः स्पष्ट एव । णिक् घुटौ वर्जयित्वा अन्यस्मिन् यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे उदच् शब्दस्य उदीच् आदेशः स्यादित्यर्थः । ततश्च प्रथमवचनपञ्चके उदङ् उदञ्चौ उदञ्चः उदञ्चम् उदञ्चौ । शसादौ स्वरे उदीचः उदीचा इत्यादि । व्यञ्जनादौ तु उदग्भ्याम् उदग्भिः उदग्भ्यः उदक्षु इत्यादि अर्चायां घुट्पञ्चके तथैव रूपाणि । अघुट्स्वरे उदञ्चः उदञ्चा उदञ्चे । व्यञ्जनादौ उदङ्भ्याम् उदङ्भिः उदङ्क्षु इत्यादि । "युप्रागपागु०" इति यप्रत्यये उदीच्यः स्वार्थिके ईने उदीचीना अनर्चायां ङीप्रत्यये उदीची दिक् । अर्चायां उदञ्ची स्त्री । **अणिक्यघुटी**त्येव उदयति उदच्यति उदञ्चः ॥ ६ ॥ **सध्र्यच्सम्यच्**शब्दयोः प्रक्रियामाह सूत्रम्—

सहसमोः सध्रिसमी ॥ ७ ॥ [सि० ३।२।१२३]

क्विबन्तेऽञ्चतौ परे । सह अञ्चतीति सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्र्यञ्चः । सध्रीचः । सध्रीचा । सममञ्चतीति सम्यङ् । सम्यञ्चौ । सम्यञ्चः । समीचः । समीचा । सम्यग्भ्याम् ॥ ७ ॥

सह० । सहश्च सम् च सहसमौ तयोः सहसम् ६-२ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सध्रिश्च समिश्च सध्रिसमि १-२ "इदुतोऽस्त्रे०" । द्विपदमिदं० । अत्रापि सापेक्षं वृत्त्यंशमाह **क्विबन्तेऽञ्चतौ परे** इति सूत्रवृत्त्योः संयोगेऽर्थः स्पष्ट एव । सहपूर्वक अञ्चधातुः सह अञ्चतीति क्विप् "अप्रयो०" क्विप्लोपः, "अञ्चोऽन०" नलोपः, अनेन सहशब्दस्य सध्रि आदेशः "इवर्णा०" सध्र्यच् इति सिद्ध्यति । एवं सम्पूर्वक अञ्चधातुः समञ्चति इति क्विप् "अप्रयो०" "अञ्चोऽन०" अनेन सम्-शब्दस्य समिरादेशः "इवर्णादे०" सम्यच् इति सिद्ध्यति । ततश्च घुट्वचनपञ्चके सध्र्यङ् सध्र्यञ्चौ सध्र्यञ्चः सध्र्यञ्चम् सध्र्यञ्चौ । सम्यङ् सम्यञ्चौ सम्यञ्चः सम्यञ्चम् सम्यञ्चौ इत्यादि । अघुट्स्वरादौ लोकात् सध्रि अच् समि अच् इति विश्लेषः, "अच्च प्राग् दीर्घश्च" इति सूत्रेण अचश्चादेशे पूर्वस्वरस्य दीर्घे च सध्रीचः सध्रीचा समीचः समीचा इत्यादि । अघुड्व्यञ्जनादौ तु सध्र्यग्भ्याम् सध्र्यक्षु, सम्यग्भ्याम् सम्यक्षु इत्यादि । सम्बोधनेऽपि हे सध्र्यङ् हे सम्यङ् इत्यादि । ईनप्रत्यये सध्रीचीनं समीचीनं ङीप्रत्यये सध्रीची समीची । अर्चायां घुटि प्राग्वत् । शसादौ स्वरे सध्र्यञ्चः सम्यञ्चः सध्र्यञ्चा सम्यञ्चा सध्र्यङ्भ्याम् सम्यङ्भ्याम् । ङीप्रत्यये सध्र्यञ्ची सम्यञ्ची इत्यादि ॥७॥ **तिर्यच्**शब्दस्य विशेषमाह सूत्रम्—

तिरसस्तिर्यति ॥ ८ ॥ [सि० ३।२।१२४]

अकारादौ क्विबन्तेऽञ्चतौ परे तिरसस्तिरिः स्यात् । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । अकारादाविति किम् । अचश्चादेशे मा भूत् । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम् ॥ ८ ॥

तिर० । तिरस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । तिरि १-१ शब्दरूपापेक्षया नपुंसकत्वे "अनतो लुप्" सूत्रत्वाद्वा सिलोपः । अत् ७-१ "लोकात्" । मध्ये "चटते०" "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं० । "सप्तम्या आदिः" इति परिभाषया अतीति अकारादावित्यर्थः । तिरस् इत्यव्ययं सकारान्तं तिर्यगर्थे "तिर्यगर्थे तिरः साची" इति वचनात् तिरस्तिरको वा अञ्चतीति क्विप्, अनेन तिरसस्तिरि आदेशे "इवर्णा०" तिर्यच् इति सिद्धम्, ततो घुटि तिर्यङ् तिर्यञ्चौ तिर्यञ्चः तिर्यञ्चम् तिर्यञ्चौ । शसादौ तु अचश्चादेशे कृते अञ्चतेरकारादित्वाभावात् तिरिरादेशो न भवति तथा सकारेण व्यवधानात् पूर्वस्वरस्य दीर्घोऽपि न भवति ततश्च "सस्य शषौ" इति सकारस्य शत्वे तिरश्चः तिरश्चा तिरश्चः २ तिरश्चोः २ तिरश्चाम् तिरश्चि । अघुट्व्यञ्जनादौ तु तिर्यग्भ्याम् तिर्यग्भिः तिर्यक्षु हे तिर्यङ् इत्यादि । स्वार्थिके ईनप्रत्यये तिर्यगेव तिरश्चीनम्, ङीप्रत्यये तिरश्ची अर्चायां घुटि प्राग्वत् । शसादौ स्वरे तिर्यञ्चः तिर्यञ्चा । व्यञ्जनादौ तिर्यङ्भ्याम् तिर्यङ्भिः तिर्यङ्क्षु तिर्यङ्षु । ङीप्रत्यये तिर्यञ्ची । मुनिं साधुमञ्चति गच्छतीति वाक्ये मुन्यङ् साध्वङ् मुन्यञ्चौ साध्वञ्चौ मुन्यञ्चः साध्वञ्चः मुन्यञ्चम् साध्वञ्चम् मुन्यञ्चौ साध्वञ्चौ मुनीचः साधूचः मुनीचा साधूचा मुन्यग्भ्याम् साध्वग्भ्याम् मुन्यक्षु साध्वक्षु इत्यादि । मुनिं साधुमञ्चति पूजयतीति वाक्ये घुट्पञ्चके प्राग्वत् । शसादौ स्वरे मुन्यञ्चः साध्वञ्चः मुन्यञ्चा साध्वञ्चा मुन्यञ्चे इत्यादि । व्यञ्जनादौ तु मुन्यङ्भ्याम् साध्वङ्भ्याम् मुन्यङ्भिः साध्वङ्भिः मुन्यङ्क्षु मुन्यङ्षु साध्वङ्क्षु साध्वङ्षु इत्यादि भवति । सर्वमञ्चति विष्वगञ्चति देवमञ्चति गच्छतीति वाक्ये *"सर्वादिविष्वग्देवाड्डद्रिः क्वयञ्चौ" सर्वादेर्विष्वग्देवाभ्यां च परः क्विबन्तेऽञ्चतौ परे डद्रिरन्तः स्यात् ततश्च सर्वद्र्यङ् विष्वग्द्र्यङ् देवद्र्यङ् सर्वद्र्यञ्चौ सर्वद्र्यञ्चः इत्यादि । शसादौ अचश्चादेशे पूर्वस्वरस्य दीर्घे च सर्वद्रीचः विष्वग्द्रीचः देवद्रीचः इत्यादि । व्यञ्जनादौ सर्वद्र्यग्भ्याम् सर्वद्र्यक्षु इत्यादि । पूजायां प्रथमवचनपञ्चके प्राग्वत् । शसादौ स्वरे सर्वद्र्यञ्चः विष्वग्द्र्यञ्चः देवद्र्यञ्चः सर्वद्र्यञ्चा इत्यादि । व्यञ्जने सर्वद्र्यङ्भ्याम् सर्वद्र्यङ्क्षु इत्यादि । अनर्चायां ङीप्रत्यये सर्वद्रीची विष्वग्द्रीची देवद्रीची । अर्चायां सर्वद्र्यञ्ची इत्यादि । एवं **अदस्**शब्दस्य अमुमञ्चति गच्छतीति वाक्ये अदमुयङ् अमुद्र्यङ् अमुमुयङ् अदद्र्यङ् इति रूपचतुष्टयं यथा भवति तथा असन्ध्यधिकारे "अदोमुमी" इतिसूत्रव्याख्याने दर्शितमस्तीति ततो ज्ञेयम् । शसादौ स्वरे अदमुईचः अमुद्रीचः अमुमुईचः अदद्रीचः अदमुईचा अमुद्रीचा अमुमुईचा अदद्रीचा इत्यादि । व्यञ्जनादौ अदमुयङ्भ्याम् अमुद्र्यङ्भ्याम् अमुमुयङ्भ्याम् अदद्र्यङ्भ्याम् अदमुयङ्भिः अमुद्र्यङ्भिः अमुमुयङ्भिः अदद्र्यङ्भिः अदमुयङ्क्षु अमुद्र्यङ्क्षु अमुमुयङ्क्षु अदद्र्यङ्क्षु । पूजायां प्रथमवचनपञ्चकं प्राग्वदेव शसादौ नलोपाभावे "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति अदमुयञ्चः अमुद्र्यञ्चः अमुमुयञ्चः अदद्र्यञ्चः अदमुयञ्चा ४ इत्यादि । व्यञ्जनादौ अदमुयङ्भ्याम् अमुद्र्यङ्भ्याम् अमुमुयङ्भ्याम् अदद्र्यङ्भ्याम् अदमुयङ्क्षु अमुद्र्यङ्क्षु अमुमुयङ्क्षु अदद्र्यङ्क्षु । **अन**र्चायां ङीप्रत्यये अदमुईची अमुद्रीची अमुमुईची अदद्रीची । **अ**र्चायां अदद्र्यञ्ची एकमेव रूपम् । गामञ्चति गच्छतीत्यत्र "स्वरे वाऽनक्षे" इति अवादेशे गवाङ् पक्षे "वाऽत्यसन्धिः" इत्यसन्धौ गो अङ् पक्षे "एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्" गोऽङ् । गवाञ्चौ गोअञ्चौ गोऽञ्चौ गवाञ्चः गोअञ्चः गोऽञ्चः इत्यादि । शसादौ स्वरे अचश्चादेशे गोचः गोचा । शसादौ व्यञ्जने गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम् गवाक्षु गोअक्षु गोऽक्षु हे गवाङ् हे गोअङ् हे गोऽङ् । गामञ्चति पूजयतीत्यत्र प्रथमवचनपञ्चके सम्बोधने च प्राग्वत्, शसादौ स्वरे तु गवाञ्चः गो अञ्चः गोऽञ्चः गवाञ्चा गोअञ्चा गोऽञ्चा । व्यञ्जनादौ गवाङ्भ्याम् गोअङ्भ्याम् गोऽङ्भ्याम् गवाङ्क्षु गोअङ्क्षु गोऽङ्क्षु इत्यादि । अनर्चायां स्त्रियां ङीप्रत्यये अचश्चादेशे गोऽची अर्चायां गवाञ्ची गोऽञ्ची इत्यादि । दृषदमञ्चति गच्छतीत्यत्र दृषदङ् दृषदञ्चौ दृषदञ्चः दृषदञ्चम् दृषदञ्चौ । शसादौ स्वरे "अच्च प्राग् दीर्घश्च" इति अचश्चा-

देशो भवति दीर्घस्तु अन्वाचयशिष्टत्वात् "स्वरस्य ह्रस्वदीर्घप्लुता" इति न्यायाच्च व्यञ्जनस्य न भवति ततो दकारस्य "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति प्रथमे तकारे कृते "तवर्गस्य०" इति तकारस्य चकारे कृते दृषच्चः दृषच्चा इत्यादि । व्यञ्जनादौ दृषदग्भ्याम् दृषदग्भिः दृषदक्षु । अर्चायां तु प्रथमवचनपञ्चके प्राग्वत् । शसादौ स्वरे दृषदञ्चः दृषदञ्चा इत्यादि । व्यञ्जनादौ दृषदङ्भ्याम् दृषदङ्भिः दृषदङ्क्षु इत्यादि । अनर्चायां स्त्रियां ङीप्रत्यये दृषच्ची अर्चायां दृषदञ्ची इत्यादि । एवमन्येपि योषिदञ्चप्रमुखाः स्वमूह्याः । पितरमञ्चति गच्छति पित्रङ् पित्रञ्चौ पित्रञ्चः । शसादौ स्वरे पितृचः पितृचा । व्यञ्जनादौ पित्रग्भ्याम् पित्रग्भिः पित्रक्षु । अर्चायां प्रथमवचनपञ्चके प्राग्वत् । शसादौ स्वरे पित्रञ्चः पित्रञ्चा इत्यादि । व्यञ्जनादौ पित्रङ्भ्याम् पित्रङ्भिः पित्रङ्क्षु इत्यादि । अनर्चायां ङीप्रत्यये पितृची । अर्चायां पितृञ्ची इत्यादि । एवं क्रुन्चुशब्दोऽपि क्रुङ् क्रुञ्चौ २ क्रुञ्चः ४ । क्रुञ्चा क्रुङ्भ्याम् क्रुङ्क्षु हे क्रुङ् । क्रुङ् क्रौञ्चः पक्षी । 'सारसी' 'लक्ष्मणाथ क्रुङ् क्रौञ्चे' इति हैमः कोषः । इति **चकारान्ताः** शब्दाः समाप्ताः ॥ ८ ॥ **छकारान्ता अप्रसिद्धाः ।** अथ **जकारान्ता** उच्यन्ते । देव २-१ "यजीं देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु" देवं यजते इति क्विप् "यजादिवचेः किति" इति यकारस्य इकारः "ङस्युक्तं कृता" इति समासः "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलोपः देवेज् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः षः ॥ ९ ॥ [सि० २।१।८७]

यजादीनां धातूनां चजोर्धातोः शस्य च धुटिप्रत्यये पदान्ते च षः स्यात् । "धुटस्तृतीयः" इति डत्वे । देवेड्, देवेट् । देवेजौ । देवेड्भ्याम् ॥ ९ ॥

यज० । यजश्च सृजश्च मृजश्च राजश्च भ्राजश्च भ्रस्जश्च व्रश्चश्च परिव्राज् च यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राज् तस्य यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राज् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । श् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । ष १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं० । अनेन जस्य षः "धुटस्तृतीयः" इति सूत्रेण स्थान्यासन्नः षकारस्य डकारः देवेड् "विरामे वा" इति डकारस्य टकारः देवेट्, देवेजौ देवेजः देवेजम् देवेजौ देवेजः देवेजा । "नामसिदय्०" इति पदसंज्ञायां अनेन सूत्रेण षत्वे "धुटस्तृतीयः" इति डत्वे च देवेड्भ्याम् देवेड्भिः ॥ ९ ॥ देवेड् सु इति स्थिते सूत्रम्—

ड्नः सः त्सोऽश्चः ॥ १० ॥ [सि० १।३।१८]

पदान्तस्थाभ्यां डनाभ्यां परस्य सस्य तादिः सो वा स्यात्, अश्चः श्चावयवश्चेत्सो न स्यात् । देवेट्त्सु । देवेट्सु । हे देवेड् हे देवेट् । तीर्थसृड्, तीर्थसृट् । कंसपरिमृड्, कंसपरिमृट् । सम्राड्, सम्राट् । विभ्राड् विभ्राट् ॥ १० ॥

ड्नः० । ड् च न् च ड्न् तस्मात् ड्न् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । चतुष्पदमिदं० । अश्च इति किम् ? षट्श्च्योतन्ति श्च्युतेः सोपदेशत्वात् "शकारस्य सकारापदिष्टं कार्यं विज्ञायते" तेन मधुश्च्योततीति क्विप् मधुश्च्युतमाचष्टे णावन्त्यस्वरादिलोपे पुनः क्विपि णि यलोपे सौ तल्लुकि "संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्" इति शलोपे चस्य कत्वे मधुगिति सिद्धम् । देवेड्त्सु अत्र सूत्रे डकारनिर्देशात् टत्वं न भवति । केचित्तु टत्वमपीच्छन्ति देवेट्त्सु पक्षे "अघोषेप्रथमोऽशिटः" इति डस्य टत्वे देवेट्सु । सम्बोधनेऽपि हे देवेड् हे देवेट् इत्यादि । **अथ** सृजधातुमाह तीर्थ २-१ "सृजींत् विसर्गे" तीर्थं सृजतीति क्विप् "ङस्युक्तं कृता" इति समासः "ऐकार्थ्ये" इति

विभक्तिलोपः ''अप्रयोगीत्'' क्विप्लोपः तीर्थसृज् १-१ इति स्थिते अनेन जस्य षः ''धुटस्तृतीयः'' इति षस्य डः तीर्थसृड् ''विरामे वा'' तीर्थसृट् । तीर्थसृजौ तीर्थसृड्भ्याम् तीर्थसृड्त्सु २ । हे तीर्थसृड् २ । इत्यादि । **अथ** मृजधातुमाह । कंस २-१ परिपूर्वक 'मृजौष् शुद्धौ' कंसं परिमार्ष्टीति क्विप् ''ङस्युक्तं०'' ''ऐकार्थ्ये०'' ''अप्र०'' अनेन जस्य षः कंसपरिमृड् २, कंसपरिमृजौ कंसपरिमृड्भ्यामित्यादि ।

अथ राजधातुमाह सम्पूर्वक 'राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ' समन्ताद्राजते इति सम्राज् **''सम्राट्''** [सि० १।३।१६] समो मस्य राजतौ क्विबन्ते परे अनुस्वाराभावः स्यात् । सम्राज् १-१ इति स्थिते अनेन जस्य षः ततः प्राग्वत् सम्राट् २, सम्राजौ सम्राड्भ्याम् सम्राट्त्सु २ । हे सम्राट् २ इत्यादि । **अथ** भ्राजधातुमाह—विपूर्वक 'राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ' विभ्राजते इति क्विप् ''अप्र०'' विभ्राज् १-१ अनेन जस्य षः ततः प्राग्वत् विभ्राड् २ । विभ्राजौ । विभ्राड्भ्याम् । विभ्राट्त्सु २ । हे विभ्राड् २ । **अथ** भ्रस्जधातुमाह—धाना २-३ 'भ्रस्जींत् पाके' धाना भृज्जतीति क्विप् ''ङस्युक्तं०'' ''ऐकार्थ्ये'' ''ग्रहव्रश्चभ्रस्जप्रच्छः'' इति य्वृत् धानाभृस्ज १-१ इति स्थिते ॥ १० ॥ सूत्रम्—

संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ॥ ११ ॥ [सि० २।१।८८]

धुट्पदान्ते संयोगादिस्थयोः स्कोर्लुक् स्यात् । धानाभृड्, धानाभृट् । ''सस्य शषौ'' इति सस्य शत्वे । ''तृतीयस्तृतीयचतुर्थे'' इति शस्य जत्वे, धानाभृज्जौ । एवं मूलवृड्, मूलवृट् । मूलवृश्चौ । परिव्राड्, परिव्राट् ॥ ११ ॥

संयो० । संयोग ६-१ ''टाङसो०'' । आदि ७-१ ''ङिडौं'' । स् च क् च स्कौ तयो स्कू ६-२ ''लोकात्'' ''सो रुः'' । लुक् १-१ दीर्घङ्याब्०'' । मध्ये ''समानानां'' । जलतुम्बिका० । चतुष्पद-मिदं० । **धुट् पदान्ते** इति धुटादौ प्रत्यये परे पदान्ते च संयोगादिस्थयोः स्कोर्लुक् स्यादिति भावः । ततश्चानेन स्लोपे भृज् १-१ इति स्थिते ''यजसृज०'' इति जस्य षत्वे प्राग्वत् धानाभृड् २ । धाना-भृस्ज् १-२ इति स्थिते ''सस्य शषौ'' इति सस्य शकारस्ततश्च ''तृतीयस्तृतीयचतुर्थे'' इति सूत्रेण स्थान्यासन्नः शकारस्य जकारः धानाभृज्जौ धानाभृज्जः धानाभृड्भ्याम् धानाभृड्भिः । धानाभृड्त्सु २ । हे धानाभृड् २ । **अथ** व्रश्चधातुमाह—मूल २-१ ''ओव्रश्चौत् छेदने'' मूलं वृश्चतीति क्विप् ''ङस्युक्तं०'' ''ऐकार्थ्ये'' ''ग्रहव्रश्च०'' इति य्वृति ''सस्य शषौ'' इति सकारस्य शकारः मूलवृश्च् १-१ इति स्थिते ''सकारापदिष्टं कार्यं शकारस्यापि भवति'' इति न्यायात् ''संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्'' इति शकारस्यापि लुक् ततश्च ''यजसृज०'' इति जस्य षः ततो ''धुटस्तृतीयः'' इति डत्वे मूलवृड् २ मूलवृश्चौ मूलवृश्चः मूलवृड्भ्याम् । मूलवृड्त्सु हे मूलवृड् २ । **परिव्राज**शब्दस्यापि जकारस्य षत्वं भवति यथा परि-पूर्वक 'धृज धृजु ध्वज ध्वजु ध्रज ध्रजु वज वत्र षस्ज गतौ' व्रजधातुः परिव्रजतीति ''दिद्युद्दद्ज-गज्जुहूवाक्प्राड्धीश्रीद्रुस्रूज्वायतस्तूकटप्रूपरिव्राट्भ्राजादयः क्विप् (५।२।८३) इति क्विबन्तो निपातः, परिव्राड् २ परिव्राजौ परिव्राजः परिव्राड्भ्याम् परिव्राड्भिः परिव्राड्त्सु । हे परिव्राड् २ इत्यादि ॥ १ ॥ जकारान्तानामेव **विशेषमाह** सूत्रम्—

युज्रोऽसमासे ॥ १२ ॥ [सि० १।४।७१]

'युजृंपी योगे' इत्यस्यासमासे घुटि परे धुटः प्राग्नोऽन्तः स्यात् । युङ् । युञ्जौ । युंजा । युग्भ्याम् । असमासे इति किम् ? अश्वयुक् अश्वयुग । युज्र इति किम् ? 'युजिच् समाधौ' युज-

मापन्ना मुनयः ॥ १२ ॥ (पदान्ते ऋत्विजो गत्वं वाच्यम्) ऋत्विक्, ऋत्विग् । तकारान्तो मरुत्शब्दः । मरुत्, मरुद् । मरुतौ । मरुद्भ्याम् । ऋकारानुबन्धो महत् शब्दः ।

युञ्जो० । युज् ६-१ "इवर्णा०" ऋकारस्य रः, "लोकात्" "सो रुः" न समासः असमासः तस्मिन् असमास ७-१ "अवर्ण०" मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोत०" द्विपदमिदं० । 'युजूंप्पी योगे' इति धातुः युनक्तीति क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः युज् १-१ इति स्थिते अनेन जकारात्पूर्वं नोऽन्तः, "दीर्घङ्याब्०" सिलोपः "पदस्य" जलोपः "युजञ्चकुञ्चो नो ङः" युङ् । युज् १-२ अनेन नोऽन्ते "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति युञ्जौ, युञ्जः, युञ्जम्, युञ्जौ । शसादौ घुट्त्वाभावान्नोऽन्तो न भवति इति युजः, युजा, युग्भ्याम्, युग्भिः, युक्षु, हे युङ् इत्यादि ॥ १२ ॥ **ऋत्विज** इति; ऋतौ ऋतुं ऋतवे ऋतुप्रयोजनो वा यजते इति वाक्ये ऋतुपूर्वकस्य यज्धातोः क्विप् "यजादिवचेः किति" इति यस्य इः "इवर्णादेः०" ऋत्विज्, अनेन गत्वम् । "यजसृज०" इति षत्वस्यापवादोऽयम्, "चजः कगम्" इत्यस्य च प्रतिप्रसवोऽयम् । **झकारान्तादयः** शब्दाः प्रायोऽप्रसिद्धा इति **तकारान्त**ान्विवक्षुराह—तकारान्तो मरुत्शब्द इति मरुत् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । स्वरादौ सर्वत्र "लोकात्" इति स्वरेण सह योगः । व्यञ्जनादौ तु "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां "धुटस्तृतीयः" इति दत्वे च मरुद्भ्याम् मरुद्भिः मरुत्सु हे मरुत् इत्यादि । **महत् शब्दस्य** विशेषमाह 'अर्ह मह पूजायाम्' महधातुः "द्रुहिवृहिमहिपृषिभ्यः कतृः" (उ० ८८४) इति अतृप्रत्यये महतृशब्दः ऋकारोऽत्र ङ्यर्थ इति मनसि कृत्वाह—ऋकारानुबन्धो महत्शब्द इति– महत् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ऋदुदितः ॥ १३ ॥ [सि० १।४।७०]

ऋदित उदितश्च घुटि परे धुटः प्राग् नोऽन्तः स्यात् । "पदस्य" इति तलोपे ॥ १३ ॥

रुदु० । ऋच्च उच्च ऋदुतौ, ऋदुतौ इतौ यस्य सः ऋदुदित् तस्य ऋदुदित् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अनेन तकारात्पूर्वं नोऽन्तागमे महन्त् १-१ इति स्थिते ॥ १३ ॥ सूत्रम्—

न्स्महतोः ॥ १४ ॥ [सि० १।४।८६]

न्सन्तस्य महतश्च स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घः स्यात् । महान् । महान्तौ । शेषे घुटीत्येव हे महन् । हे महान्तौ । हे महान्तः । महतः ॥ १४ ॥ शतृप्रत्ययान्तानां घुटि दीर्घाभावो विशेषः । पचन् । पचन्तौ । पचन्तः । हे पचन् । उकारानुबन्धो भवत् शब्दः ।

न्स० । नकारेण युक्तः स् न्स् । न्स् च महच्च न्समहतौ तयोः न्समहत् ६-२ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अनेन हकारस्य दीर्घे "दीर्घङ्याब्०" सिलोपे "पदस्य" इति तलोपे महान् । महान्तौ महान्तः महान्तम् महान्तौ । व्यावृत्तिमुखेनैव पराणि रूपाणि निर्दिशति । शेषे घुटीत्येवेति सम्बोधनार्थसेः शेषघुट्त्वाभावात् अनेन दीर्घो न भवति ततः "ऋदुदितः" इति नोऽन्तागमे "दीर्घङ्याब्०" इति सिलोपे "पदस्य" इति तलोपे हे महन् हे महान्तौ हे महान्तः । शसादौ परे घुट्त्वाभावाद्दीर्घो न भवति । महतः महता महद्भ्याम् महत्सु इति । शतृप्रत्ययान्तानामपि ऋदित्वात् महच्छब्दवत् "ऋदुदितः" इति नोऽन्तो भवति, तत एतावानेव विशेषो–यत् महत् शब्दस्य शेषे घुटि दीर्घो भवति शतृप्रत्ययान्तानां च "न्समहतोः" इति सूत्राप्राप्तेर्दीर्घो न भवति तथैवाह–**शतृप्रत्ययान्तानां घुटि दीर्घाभावो विशेष** इति । "डुपचींष् पाके' पच्धातुः पचतीति पचन् "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ"

(५।२।२०) इति शतृप्रत्ययः अत्र शकारः शित्कार्यार्थ इत् ऋकारो ङ्यर्थ इत् पचत् १-१ इति स्थिते "ऋदुदितः" इति नोऽन्तागमे "दीर्घङ्याब्०" सिलोपे "पदस्य" इति तूलोपे पचन्, पचन्तौ पचन्तः हे पचन् इत्यादि । **उकारानुबन्धो भवत् शब्द** इति 'भांक् दीप्तौ' भाधातुः भातीति भवान् "भातेर्डवतुः" (उणा० ८८६) इति डवतुप्रत्ययः "डित्यन्त्यस्वरादेः" इति आकारलोपे भवत् । उकारोऽनुबन्धो ङ्याबर्थः "ऋदुदितः" इति नुमागमे भवन्त् १-१ इति स्थिते ॥ १४ ॥ सूत्रम्—

अभ्वादेरत्वसः सौ ॥ १५ ॥ [सि० १।४।९०]

अत्वन्तस्यासन्तस्य च भ्वादिवर्जस्य शेषे सौ परे दीर्घः स्यात् । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । हे भवन् । **मतुप्रत्ययान्ता** अप्येवम् । गोमान् गोमन्तौ । हे गोमन् ॥ १५ ॥ थकारान्तो दधिमथ्शब्दस्तस्य "धुटस्तृतीयः" इति दत्वे । दधिमद्, दधिमत् । दधिमथौ । दधिमत्सु । हे दधिमद्, हे दधिमत् । दकारान्तास्त्यदादयस्तेषाम् "आद्वेरः" इत्यत्वे ।

अभ्वा० । भूरादिर्यस्य स भ्वादिः न भ्वादिः अभ्वादिः तस्य अभ्वादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । अतुश्च अस् च अत्वस् तस्य अत्वस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" 'रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिङौ" "डित्यन्त्य०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन दीर्घे "दीर्घङ्याब्०" इति सिलोपे "पदस्य" इति तलोपे भवान् । केवलं नुमागमे भवन्तौ भवन्तः । शेषे सौ इति किम् ? हे भवन् । **अभ्वादेरिति** किम् ? पिण्डं ग्रसते इति पिण्डग्रः चर्म वस्ते इति चर्मवः । "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" इत्येव सिद्धेऽभ्वादेरिति वचनम् "अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" इति न्यायज्ञापनार्थम् तेनात्रापि भवति—खरणाः खुरणाः । **अधातोरित्यकृत्वा** अभ्वादेरिति करणं भ्वादीनामेव वर्जनार्थं तेनेह भवति—गोमन्तमिच्छतीति क्यनि क्विपि गोमान् । एवं स्थूलशिराः । **मतुप्प्रत्ययान्ता** अप्येवमिति—गौरस्यास्ति इति वाक्ये "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः" (७।२।१) इति मतुप्रत्यये गोमत् १-१, उकारानुबन्धत्वात् "ऋदुदितः" इति नुमागमे अनेन दीर्घे गोमान् । **तकारान्ताः** शब्दाः समाप्ताः ॥ १५ ॥ अथ **थकारान्ता** उच्यन्ते । दधि २-१, 'मथ विलोडने' दधि मथतीति दधिमथ् क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः दधिमथ् "नामसिदय्" इति पदसंज्ञायां "धुटस्तृतीयः" इति दत्वे "दीर्घङ्याब्०" सि लोपे दधिमद्, "विरामे वा" दस्य तकारे कृते दधिमत् । स्वरादौ विभक्तौ सर्वत्र स्वरयोगः, व्यञ्जनादौ तु "धुटस्तृतीयः" इति दः, दधिमथौ दधिमथः, दधिमद्भ्याम् इत्यादि । सुपि तु "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति दकारस्य तकारे कृते दधिमत्सु । सम्बोधने हे दधिमत् इत्यादि । अथ **दकारान्तानाह—त्यदादय** इति त्यद् तद् यद् एतद् इत्यादयः प्रसिद्धाः । **त्यद्** १-१ इति स्थिते "आद्वेरः" इति दकारस्य अकारे कृते त्य अ १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

लुगस्यादेत्यपदे ॥ १६ ॥ [सि० २।१।११३]

अपदादावकारे एकारे च परे अस्य लुक् स्यात् । त्य इति जाते ॥ १६ ॥

लुग० । लुग् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । अ ६-१ "टाङसो०" अस्य । अच्च एच्च अदेत् तस्मिन् अदेत् ७-१ "लोकात्" । न पदं अपदं तस्मिन् अपद ७-१ "अवर्णस्ये०" । मध्ये "लोकात्" स्वरहीनं० "समानानां०" "इवर्णादे०" । चतुष्पदमिदं० । "सप्तम्या आदिः" इत्यत आह—**अपदादा**विति दण्डाग्रमित्यादौ पदादित्वादकारलोपो न भवति । त्यसम्बन्धिनोऽकारस्य लोपे "लोकात्" इति अकारयोगे त्य १-१ इति स्थिते ॥ १६ ॥ सूत्रम्—

तः सौ सः ॥ १७ ॥ [सि० २।१।४२]

द्विशब्दान्तानां त्यदादीनां स्वसम्बन्धिनि सौ परे तः सः स्यात् । स्यः । त्यौ । त्ये इत्यादि सर्ववत् । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । स्वसम्बन्धिनीति किम् ? प्रियत्यद् इत्यादि ॥ १७ ॥

तः सौ० । त् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिङौं" "ङित्यन्त्य०" "लोकात्" । स् १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन तकारस्य सकारे कृते "सो रुः" "रः पदान्ते०" स्यः १-१ । त्यद् १-२ "आद्वेरः" "लुगस्या०" "लोकात्" "ऐदौत्०" त्यौ । त्य १-३ "जस इः" "अवर्णस्ये०" । एवं सर्वशब्दवद्रूपनयः । एवं सः तौ ते, यः यौ ये इत्यादि । एतद् १-१ "आद्वेरः" "लुगस्या०" "तः सौ सः" "नाम्यन्तस्था०" सस्य षः "सो रुः" "रः पदान्ते०" एषः एतौ एते इत्यादि सर्ववत् । **प्रियत्यद्** इत्यादि अयं भावः—"आद्वेरः" इति सूत्रे स्वसम्बन्धिस्यादिग्रहणात् "तः सौ सः" इति सूत्रे च स्वसम्बन्धिसिग्रहणात् यदा बहुव्रीह्यादिना त्यदादयो गौणीभूता भवन्ति तदैतत्सूत्रद्वयकार्याभवनात् प्रियत्यद् प्रियत्यदौ प्रियत्यदः प्रियत्यदा प्रियत्यद्भ्यामित्यादि । **एवं स्त्रीलिङ्गेऽपि । नपुंसकलिङ्गे** प्रियत्यद् प्रियत्यदी प्रियत्यन्दि । **तद्यदेतदामप्येवम् । एषां** त्यदादीनां "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽक्" (७।३।२९) इत्यके स्यकः त्यकौ त्यके । सकः तकौ तके । यकः यकौ यके । एषकः एतकौ एतके इत्यादि ॥ १७ ॥ **अथ एतच्छब्दस्य** द्वितीयावचनत्रये टायामोसि च विशेषमाह सूत्रम्—

त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते ॥ १८ ॥ [सि० २।१।३३]

किञ्चिद्विधातुं कथितस्य पुनरन्यद्विधातुं कथनमन्वादेशस्तस्मिन् गम्यमाने द्वितीयाटौसि परे एतद् एनत् स्यात्, नतु वृत्त्यन्ते । आगत एषः अथो एनं भोजय । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एतयो, एनयोः । अन्वादेशभावे । एतम् । एतौ । एतान् । वृत्त्यन्तेऽपि । परमैतं पश्य । इदमोऽप्येवम् ॥ १८ ॥ धकारान्तो धर्मबुध्शब्दः ।

त्यदा० । त्यद् ६-३ "लोकात्" । एनत् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । एतद् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" द्वितीया च टा च ओस् च द्वितीयाटौस् तस्मिन् द्वितीयाटौस् ७-१ "लोकात्" । वृत्तेरन्तः वृत्त्यन्तः न वृत्त्यन्तः अवृत्त्यन्तः तस्मिन् अवृत्त्यन्त ७-१ । मध्ये "लोकात्" "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "इवर्णादे०" । पञ्चपदमिदं सूत्रम् । **किञ्चिद्विधातुमि**त्यादि अयं भावः—द्रव्यगुणक्रियादिकं कञ्चिद्विशेषमाधातुं यः प्राग् निर्दिष्टस्तस्यैव द्रव्यगुणक्रियाविशेषान्तराधानाद् यः पुनर्निर्देशः सोऽन्वादेश इति । **न तु वृत्त्यन्ते** इति, 'तु पुनः, यत्र शब्दः स्वार्थं परित्यज्य परार्थमभिधत्ते सा वृत्तिः "परार्थाभिधायिनी समासादिर्वृत्तिरि"ति वचनात् तस्या वृत्तेरन्ते वर्त्तमानस्य एतच्छब्दस्य अन्वादेशे सत्यपि एनदादेशो न भवति । तथैवोदाहरति **आगत एष** इति आगमनक्रियाविशेषमाधातुं यः प्राग् निर्दिष्टः स एव पुनर्भोजनक्रियाविशेषमाधातुं निर्दिश्यते ततोऽयमन्वादेशः । अन्वादेशाभिव्यक्तये च प्रायेण **अथो**शब्दः प्रयुज्यते "अथो अन्वादेशादावि"ति वचनात् । अथो एनं भोजयेति एतद् २-१ अनेन एनदादेशे "आद्वेरः" इत्यादि एनम् । एवमेनौ एनान् भोजयेति प्राग्वत् । **एवं** एतेन रात्रिरधीता अथो एतेनाहरप्यधीतम् । षष्ठीसप्तमीद्विवचनयोरोसोरपि—एतयोः शोभनं शीलं अथो एनयोर्महती कीर्त्तिः । **साकोऽप्ययं** विधिः—एतकं साधुमावश्यकमध्यापय अथो एनमेव सूत्राणीति । लाघवार्थमिदम्—

शब्दस्यान्वादेशप्रक्रियामत्रैवातिदिशति इदमोऽप्येवमिति । अन्वादेशाभावे तु एतम् एतौ एतान् एतेन एतयोः २ इत्येतान्येव रूपाणि स्युः । **वृत्त्यन्तेऽपीति** अन्वादेशे सत्यपि वृत्त्यन्ते एनदादेशो न भवति यथा परमश्चासौ एषश्च परमैषः तं परमैतं, आगतः परमैषः अथो एनं परमैतं पश्येति भावः । ॥ १८ ॥ अथ **धकारान्ताः** शब्दाः । धकारान्तो धर्मबुधशब्द इति धर्म २-१ 'बुधिं मनिं च ज्ञाने' धर्मं बुद्ध्यते इति धर्मबुध् क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "ङस्युक्तं कृता" इति समासः "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलुप् धर्मबुध् १-१ । सूत्रम्—

गडदबादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थस्ध्वोश्च प्रत्यये ॥ १९ ॥ [सि० २।१।७७]

यस्य गडदबानां कोऽप्यादौ भवति चतुर्थश्चान्ते भवति तस्यैकस्वरस्य शब्दावयवस्यादेश्चतुर्थः स्यात्, पदान्ते, सादौ ध्वादौ च प्रत्यये परे । धर्मभुद्, धर्मभुत् । धर्मबुधौ । हे धर्मभुत् हे धर्मभुद् । धर्मभुद्भ्याम् । धर्मभुत्सु ॥ १९ ॥ नकारान्तो राजन्शब्दः—"नि दीर्घः" इति दीर्घे राजा राजानौ राजानः । अघुट्स्वरे "अनोऽस्य" इत्यल्लोपे नस्य ञत्वे जञोर्ज्ञः राज्ञः राज्ञा । राजभ्याम्—असदधिकारविहितस्य नलोपस्यासत्त्वाद्दीर्घाभावः । राज्ञे । राज्ञः । राज्ञः । राज्ञोः । राज्ञाम् । राज्ञि राजनि, राजसु । सम्बोधने सौ दीर्घाभावः ।

गड० । गश्च डश्च दश्च बश्च गडदबं समाहारद्वन्द्वः गडदबमादिर्यस्य स गडदबादिः तस्य गडदबादि ६-१ ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" चतुर्णां सङ्ख्यापूरणः चतुर्थः "चतुरः" (७।१।१६३) इति थट्प्रत्ययः । चतुर्थोऽन्ते यस्य स चतुर्थान्तः तस्य चतुर्थान्तस्य ६-१ "टाङसो०" । एकस्वरो यस्य धातोरवयवस्य स एकस्वरः तस्य एकस्वर ६-१ "टाङसो०"। आदि ६-१ "ङित्यदिति" एदोद्भ्यां० । चतुर्थ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । स् च ध्व च स्ध्वौ तयोः स्ध्व ६-२ "लोकात्" । च १-१ "अव्ययस्य" । प्रत्यय ७-१ "अवर्णस्ये०"। मध्ये "चटते०" "ऐदौत्सं०" "समानानां०" "चटते०" "शषसे०" "चटते०" । अष्टपदमिदं सूत्रम् । वृत्तिः सुगमा । "नामसिद०" इति पदसंज्ञायामनेन यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य बुध् इति शब्दावयवस्य आद्यस्य बकारस्य सवर्णे चतुर्थे भकारे जाते "दीर्घङ्याब्०" सिलोपे "धुटस्तृतीयः" इति धकारस्य दकारे जाते "विरामे वा" इति विकल्पेन प्रथमे च धर्मभुद् धर्मभुत् इति । एवं धर्मभुद्भ्याम् धर्मभुद्भ्यः धर्मभुत्सु हे धर्मभुद् २ । स्वरादौ तु सर्वत्र पदान्तत्वाभावात् नास्य सूत्रस्य प्राप्तिरिति धर्मबुधौ धर्मबुधः इत्यादि । शेषाण्यस्य सूत्रस्योदाहरणानि यथास्थानं दर्शयिष्यन्ते ॥ १९ ॥

अथ **नकारान्ताः** शब्दाः तत्र **राजन्**शब्दस्य शेषघुट्पञ्चके रूपपद्धतिः प्रतीतैव । **अघुट्स्वरे** इति शसादौ स्वरे इत्यर्थः । **ननु** राजभ्यामित्यत्र "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे "अत आः स्यादौ०" इत्यात्वं कुतो न ? इत्यत्रोच्यते पञ्चमे पादे "णषमसत्परे स्यादिविधौ च" (२।१।६०) इति सूत्रादारभ्य यत्कार्यं विधीयते तत्सर्वं परस्मिन् विधौ कर्त्तव्ये स्याद्यधिकारविहिते च पूर्वस्मिन्नपि विधौ कर्त्तव्येऽसदसिद्धं द्रष्टव्यं तच्छास्त्रं वाऽसद्द्रष्टव्यम्, असत्परे इत्यधिकारो "रात्सः" (२।१।९०) इति यावत् स्यादिविधौ चेति तु आ "नोर्मादिभ्यः" (२।१।९९) इति यावत् । "नाम्नो नोऽनह्नः" (२।१।९१) इति सूत्रमपि तस्मिन्नधिकारेऽस्ति तत्र "अत आः स्यादौ०" (१।४।१) इति आत्वलक्षणे स्यादिविधौ कर्त्तव्ये नलोपोऽसन् भवति ततो नकारेण भ्यामा सह व्यवधानादात्वं न भवतीत्येतत्सर्वं

मनसिकृत्याह **असदधिकारविहितस्ये**त्यादि । "ईङौ वा" (२।१।१०९) इति राज्ञि राजनि । "नि दीर्घः" इति सूत्रे शेषघुटि परे इत्युक्तेस्तत्र सम्बोधनसेरप्रवेश इत्यत आह—सम्बोधने सौ दीर्घाभाव इति । अथ सम्बोधने "दीर्घङ्याब्०" इति सिलुकि "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपः प्राप्नोतीति तत्रापवादसूत्रमाह—

नामन्त्र्ये ॥ २० ॥ [सि० २।१।९२]

सम्बोधने नाम्नो नस्य लुग् न स्यात् । हे राजन् ॥ २० ॥

नाम० । न १-१ "अव्ययस्य" सिलुप् । आमन्त्र्यते इति आमन्त्र्यः तस्मिन् आमन्त्र्य ७-१ "अवर्णस्ये०" । मध्ये "समानानां०" । द्विपदमिदं० । **सम्बोधने** इति सम्बोधनार्हे वाच्ये नाम्नो नस्य लुग् न स्यादित्यर्थः ॥ २० ॥ **नकारान्ते**ष्वेव शब्देषु **विशेष**माह—सूत्रम्—

न वमन्तसंयोगात् ॥ २१ ॥ [सि० २।१।१११]

वान्तान्मान्ताच्च संयोगात्परस्यानोऽस्य लुग् न स्यात् । यज्वनः यज्वना । आत्मनः आत्मनि । शेषं राजन्वत् । एवं सुपर्वन्प्रभृतयः ॥ २१ ॥

नवम० । वश्च म् च वमौ वमावन्ते यस्य स वमन्तः वमन्तश्चासौ संयोगश्च वमन्तसंयोगः ५-१ "ङेङस्यो०" । द्विपदमिदं० । अत्र वकारान्तसंयोगे **यज्वन्**शब्दो मकारान्तसंयोगे च **आत्मन्** शब्दस्य उदाहरणम् । इदं च सूत्रम् "अनोऽस्य" "ईङौ वा" इति सूत्रयोरपवादः, ततोऽघुट्स्वरेऽकारलोपः सप्तम्येकवचने अकारलोपविकल्पश्चानेन निषिध्यते । तथैव सङ्क्षेपेणोदाहरति । यज्वनः शसि पञ्चमीषष्ठ्येकवचनयोश्च रूपम् । एवमात्मन इति । सप्तम्येकवचने आत्मनि शेषं राजन्वत् इति स्पष्टम् ॥ २१ ॥ **पुनरपि** नकारान्तेष्वेव विशेषमाह सूत्रम्—

इन्हन्पूषार्यम्णः शिस्योः ॥ २२ ॥ [सि० १।४।८७]

इन्नन्तस्य हनादीनां च शिस्योरेव दीर्घः स्यात् । "नि दीर्घः" इति दीर्घे सिद्धे नियमार्थोऽयं योगः । दण्डी । दण्डिनौ । दण्डिनः । दण्डिना । दण्डिभ्याम् ३ । हे दण्डिन् । विन्प्रत्ययान्ता अप्येवम् । वचस्वी । वचस्विनौ २ । वृत्रहा ॥ २२ ॥

इन्० । इन् च हन् च पूषा च अर्यमा च इन्हन्पूषार्यमन् तस्य इन्हन्पूषार्यमन् ६-१ "अनोऽस्य" इत्यल्लोपे "रषृवर्णान्नो ण०" । "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । शिश्च सिश्च शिसी तयोः शिसि ७-२ "इवर्णा०" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । *"प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" यस्मात् यः प्रत्ययो विधीयते सा तस्य प्रकृतिः प्रत्ययः प्रकृत्यादेः समुदायस्य विशेषणं भवति ततश्च "विशेषणमन्तः" इति इनः प्रत्ययत्वात् इन्शब्देन इन्प्रत्ययान्ताः शब्दा गृह्यन्ते । तथा दण्डोऽस्यास्तीति वाक्ये "अतोऽनेकस्वरात्" (७।२।६) इतीन् प्रत्यये दण्डिन्प्रभृतय इन्नन्ताः शब्दाः सिद्ध्यन्ति । हे दण्डिन् इति "नि दीर्घः" इति सूत्रस्य यत्र प्राप्तिस्तत्रैवायं नियम इति सम्बोधने सौ अनेन दीर्घो न भवति । **ननु** सार्थकेन्प्रत्ययान्तस्य दण्डिन्शब्दस्य भवत्वनेन दीर्घः वचस्विन् इत्यत्र तु इन्शब्दो निरर्थकः विन्प्रत्ययस्यैव सार्थकत्वात् "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" इति न्यायात् कथमस्य ग्रहणमित्य**त्रो**च्यते "अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" इति न्यायात् निरर्थकोऽपि इन्शब्दो गृह्यते ततो विन्प्रत्ययान्तानामप्यनेन दीर्घो भवति एतन्मनसि कृत्याह—**विन्प्रत्ययान्ता** अप्येवमिति । **अस्योपलक्षणत्वात् मिन्**प्रत्ययान्ता अप्येवम् "**स्वान्मिन्नीशे**" (७।२।४९) स्वामी, गोः—गोमी तथा इनः

सामान्यतो ग्रहणात् दण्डिन् इत्यादयो यथा मत्वर्थीयेन्नन्ता गृह्यन्ते तथा उष्ट्रकोशी साधुकारी इत्यादयः कृदन्तीयणिन्प्रत्ययान्ता अप्यत्र ग्राह्याः । इन्नन्तानभिधाय **हनादीनाह**—वृत्र २-१ 'हनंक् हिंसागत्योः' वृत्रं दैत्यं हतवान् *''ब्रह्मभ्रूणवृत्रात् क्विप्'' (५।१।१६१) एभ्यः कर्मभ्यः पराद्भूतार्थाद्धन्तेः क्विप् स्यात् । ''अप्रयोगीत्'' क्विप्लोपः वृत्रहन् १-१ अनेन दीर्घे ''दीर्घङ्याब्०'' ''नाम्नो नो०'' वृत्रहा ॥ २२ ॥ वृत्रहन् १-२ इति स्थिते, अत्र ''रषृवर्णान्नो ण एकपदे०'' इत्यादि सूत्रेण णत्वं न प्राप्नोति समासान्तर्गतविभक्त्या भिन्नपदत्वेन रकारनकारयोर्निमित्तनिमित्तिनोरेकपदस्थितत्वाभावात्ततोऽत्र णत्वविधानाय सूत्रम्—

कवर्गैकस्वरवति ॥ २३ ॥ [सि० २।३।७६]

पूर्वपदस्थाद्रादेः परस्य कवर्गवत्येकस्वरवति चोत्तरपदे नो णः स्यात् । न चेदसौ पक्कस्य । वृत्रहणौ ॥ २३ ॥

कव० । कस्य वर्गः कवर्गः एकश्चासौ स्वरश्च एकस्वरः कवर्गश्च एकस्वरश्च कवर्गैकस्वरम् कवर्गैकस्वरमस्यास्तीति कवर्गैकस्वरवत् तस्मिन् कवर्गैकस्वरवत् ७-१ ''लोकात्'' । एकपदमिदं सूत्रम् । **उत्तरपदे** इति यथोक्तविशेषणविशिष्टे उत्तरपदे सति उत्तरपदान्तस्य तथा नागमस्य स्यादेश्च नस्य णः स्यादित्यर्थः । **न चेदसौ पक्कस्येति** क्षीरपक्केन इत्यत्र णत्वं न स्यादित्यर्थः । कवर्गवत्युत्तरपदे इत्यस्योदाहरणं स्वर्गगामिणौ, उत्तरपदान्तस्य नस्य णः स्यादित्यस्याप्येतदेवोदाहरणम् । **नाम**स्योदाहरणं क्षीरपाणि स्वर्गकामाणि कुलानीति । **स्यादे**र्नकारस्योदाहरणम् उरःकेण गुरुमुखेण पुष्पमेघाणामित्यादि । पुरोगान् परममृगानित्यत्र तु अनन्त्यस्येत्यधिकारान्न भवति ॥ २३ ॥ वृत्रहन् २-३ इति स्थिते ''अनोऽस्य'' इति अल्लोपे, सूत्रम्—

हनो ह्नो घ्नः ॥ २४ ॥ [सि० २।१।११२]

हन्तेर्ह्नो घ्नः स्यात् ॥ २४ ॥

हनो० । हन् ६-१ ''लोकात्'' ''सो रुः'' । ह् च न् च ह्न तस्य ह्न् ६-१ ''लोकात्'' ''सो रुः'' । घ्नः १-१ ''सो रुः'' ''रः पदान्ते०'' । मध्ये उभयत्र ''घोषवति'' ''अवर्णस्ये०'' । त्रिपदमिदं० । **ह्न** इति मध्यगतस्याकारस्य लोपे हकारनकारसंयोगस्येत्यर्थः ॥ २४ ॥ वृत्रघ्न इत्यादौ भूतपूर्वकन्यायेन एकस्वरत्वात् ''कवर्गैकस्वरवति'' इति णत्वे प्राप्तेऽपवादसूत्रम्—

हनो घि ॥ २५ ॥ [सि० २।३।९४]

हनो घकारे निमित्तनिमित्तिनोरन्तरे सति नो णो न स्यात् । वृत्रघ्नः । वृत्रघ्नि वृत्रहणि ॥ २५ ॥ पूषा । पूषणौ । पूष्णि, पूषणि । अर्यमा । अर्यमणौ । अर्यम्णः । इत्यादि ।

हनो० । सूत्रं स्पष्टम् । ''ईङौ वा'' इति अल्लोपे वृत्रघ्नि तदभावे पूर्वसूत्रेण णत्वे वृत्रहणि ॥ २५ ॥ एवं पूषन्शब्दोऽपि पूषणौ इति ''रषृवर्णा०'' इति णत्वम् । एवं अर्यमन्शब्दोऽपि । पुनरपि **नकारान्तेष्वेव विशेषमाह** सूत्रम्—

श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुट्स्वरे व उः ॥ २६ ॥ [सि० २।१।१०६]

ङ्यां स्याद्यघुट्स्वरे च श्वनादीनां व उः स्यात् । श्वा । श्वानौ । श्वानः । हे श्वन् । शुनः । शुना । युना । युवानौ । हे युवन् । यूनः । मघवा । मघवानौ । मघोनः । हे मघवन् ॥ २६ ॥ मघवत्शब्दस्तु मत्वन्तः । मघवान् ।

श्वन्० । श्वा च युवा च मघवा च श्वन्युवन्मघवा तस्य श्वन्युवन्मघवन् ६-१ । अनेन व उः "सो रुः" न घुट् अघुट् अघुट्चासौ स्वरश्च अघुट्स्वरः । सिरादिर्यस्य स स्यादिः स्यादेरघुट्स्वरः स्याद्यघुट्स्वरः । ङी च स्याद्यघुट्स्वरश्च ङीस्याद्यघुट्स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । व् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । उ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "रोर्यः" "स्वरे वा" तस्य लोपः । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । घुट्वचनपञ्चके राजन्शब्दवत्प्रक्रिया । ततः शसादौ स्वरे श्वन्-शब्दे अनेन वस्य उत्वे शुनः शुना इत्यादि । युवन्शब्दे वस्य उत्वे "समानानां०" इति दीर्घे यूनः यूना इत्यादि । मघवन्शब्दे वस्य उत्वे "अवर्णस्ये०" मघोनः मघोना इत्यादि । **ननु** मघवता इत्यादि प्रयोगाः कथं सिद्ध्यन्ति इत्याशङ्क्याह—**मघवत्शब्दस्तु मत्वन्त** इति मघो ज्ञानं सुखं वाऽस्यास्तीति व्युत्पत्तेः । **ङ्यामिति** "जातेरयान्त०" इति ङ्याम् अनेन वस्य उत्वे शुनी । युवानमतिक्रान्ता स्त्री "स्त्रियां नृत०" इति ङ्यां अतियूनी । मघोनः स्त्री "धवाद्योगादपालकान्तात्" इति ङ्यां मघोनी । एवं प्रियशुनी प्रिययूनी प्रियमघोनी कुले इति । अघुट्स्वर इति किम् ? प्रियश्वानि कुलानीत्यत्र वस्योत्वं न भवति । स्याद्यघुट् इति किम् ? केवलमघुट्स्वरे इत्युक्ते शुन इदं यून इदं मघोन इदं "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यणि वस्य उत्वं प्राप्नोति अणोऽप्यघुट्स्वरत्वात्, ततः स्यादिग्रहणं "य्वः पदान्तात् प्रागैदौत्" (७।४।५) इति शकारवकारयोर्मध्ये औकारागमे अणि अनन्त्यस्याण्यन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यादिति नलोपाभावे शौवनं यौवनं माघवनमिति ॥ २६ ॥ पुनरपि **नकारान्तेष्वेव** विशेषमाह—सूत्रम्—

पथिन्मथिन्ऋभुक्षः सौ ॥ २७ ॥ [सि० १।४।७६]

पथ्यादीनां नान्तानामन्तस्य सौ परे आः स्यात् । इति नकारस्य आत्वे ॥ २७ ॥

पथि० । पन्था च मन्था च ऋभुक्षा च पथिन्मथिन्ऋभुक्षा तस्य पथिन्मथिन्ऋभुक्षिन् ६-१ "इन् ङीस्वरे लुक्" इति इन्लुकि "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिड्डौ" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । **नान्तानामिति** पन्थानमिच्छति क्यनि नलोपे पथीयतीति क्विपि पथीः पथ्यौ पथ्यः पथ्यम् इत्यादि, अत्र नान्तत्वाभावादेतत्सूत्रोक्तो विधिर्न भवतीति । पथिन् १-१ इति स्थिते अनेन नकारस्य आत्वे पथि आ १-१ इति स्थिते ॥ २७ ॥ सूत्रम्—

एः ॥ २८ ॥ [सि० १।४।७७]

पथ्यादीनामिकारस्य घुटि परे आः स्यात् । पथा इति जाते ॥ २८ ॥

एः । इ ६-१ "ङित्यदिति" इकारस्य एत्वम् "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । घुटि परे अनेन इकारस्य आत्वे "समानानां०" इति दीर्घे पथा १-१ इति स्थिते सूत्रम् ॥ २८ ॥

थो न्थ् ॥ २९ ॥ [सि० १।४।७८]

पथिन्मथिनोर्नान्तयोस्थस्य घुटि परे न्थ् स्यात् । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । हे पन्थाः ॥ २९ ॥

थो० । थ् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । न्थ् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । मध्ये "घोषवति' "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं० । अनेन थकारस्य न्थादेशे "सो रुः" "रः पदान्ते०" पन्थाः । सम्बोधनेऽपि न कश्चिद्विशेष इति दर्शयति **हे पन्थाः । घुटि परे** इति सुपथी बहुमथी कुले इत्यत्र "औरीः" इतीकारस्य घुट्त्वाभावात्सूत्रद्वयोक्तो विधिर्न भवति ॥ २९ ॥ **शसादिस्वरे** परे विशेषमाह—सूत्रम्—

इन् ङीस्वरे लुक् ॥ ३० ॥ [सि० १।४।७९]

ङ्यामघुट्स्वरे च परे पथ्यादीनामिनो लुक् स्यात् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । मन्थाः । मन्थानौ । मथः । ऋभुक्षाः । ऋभुक्षः ॥ ३० ॥ पञ्चन्प्रभृतयो बहुवचनान्ताः नान्ताः सङ्ख्याशब्दाः त्रिषु लिङ्गेषु सरूपाः । "डतिष्णः०" इति जस्शसलुपि पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः २ ।

इन्० । इन् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । ङीश्च स्वरश्च ङीस्वरं तस्मिन् ङीस्वर ७-१ "अवर्णस्ये०" । लुक् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । सूत्रे सामान्यतः स्वर उक्तोऽपि ङीसाहचर्यात् अघुट्स्वरोऽत्र ग्राह्यः । **कि**मिदं साहचर्यमिति चेदुच्यते अव्यभिचारिणा यत्र व्यभिचारी नियम्यते तत्साहचर्यम् यथा स्वरः अघुट् घुट् च उभयथा भवतीति व्यभिचारी, ङी तु अघुट्स्वर एव भवतीति अव्यभिचारी, अव्यभिचारिणा ङ्या व्यभिचारी स्वरो नियम्यतेऽघुट्स्वर इति । तथा घुटि पथ्यादीनामिनो विशेषविधिविधानादत्राघुट्स्वर एवावसीयत इत्यत आह—**ङ्यामघुट्स्वरे** इति । सूत्रे इन् लुक्रूपो भवतीति अभेदनिर्देशः "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति परिभाषया नकारस्यैव लोपप्रसङ्गात् शसादिषु पथ इति तृतीयैकवचने पथा इति । व्यञ्जनादौ विभक्तौ परतः "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां "नाम्नो नोऽनह्नः" इति लुक् ततश्च पथिभ्याम् पथिषु इत्यादि रूपसिद्धिः । शोभनाः पन्थानो यस्या इति "स्त्रियां नृत०" इति ङ्याम् शोभनाः पन्थानो ययोः कुलयोस्ते "औरीः" इति जाते उभयत्रानेनेन्लुक् सुपथी स्त्री सुपथी कुले वा । यथा पथिन्शब्दस्तथा मथिन्शब्दोऽपि, नात्र कश्चिद्विशेषः । ऋभुक्षिन्शब्दोऽप्येवमेव किन्त्वत्र थकाराभावात् न्थ आदेशो नास्तीति ततः ऋभुक्षाः इत्यादिरूपपद्धतिः, शसादिषु इन्लोपे ऋभुक्षः इति । पन्थाः मार्गः मन्था मन्थदण्डः ऋभुक्षा इन्द्र इति ॥ ३० ॥ **त्रिषु लिङ्गेषु सरूपा** इति 'पुमांसः पञ्च' 'स्त्रियः पञ्च' 'कुलानि पञ्च' इति त्रिष्वपि लिङ्गेषु रूपे विशेषाभावात् समानरूपा इति एषां लिङ्गाभावात् "नन्तासङ्ख्या डतिर्युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गका" इति वचनात् पञ्चन् ६-३ इति स्थिते सूत्रम्—

सङ्ख्यानां र्ष्णाम् ॥ ३१ ॥ [सि० १।४।३३]

रषनान्तानां सङ्ख्यावाचिनां स्वसम्बन्धिन आमो नाम् स्यात् । "दीर्घो नाम्यतिसृचतसृष्रः" इति दीर्घे । "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे पञ्चानाम् । स्वसम्बन्धिन इत्येव । प्रियपञ्चाम् । पञ्चसु । प्रियपञ्चादयो राजन्वत् । एवं सप्तन्प्रभृतयः ॥ ३१ ॥

सङ्ख्या० । सङ्ख्या ६-३ "ह्रस्वापश्च" र् च न् च ष् च र्ष्णं तेषां ६-३ "लोकात्" द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन आमो नामादेशे पचन् नाम् इति स्थिते "दीर्घो नाम्य०" इति दीर्घः । **ननु** "दीर्घो नामी"ति सूत्रे समानस्य नामि परे दीर्घः स्यादित्युक्तं ततो देवानामित्यत्र भवतु दीर्घः परं पञ्चन् नाम् इत्यत्र तु कथं दीर्घो निमित्तनिमित्तिनोर्नकारेण व्यवधानादित्य**त्रो**च्यते, **"दीर्घो नामी"**ति सूत्रे अतिसृचतसृष्र इति निर्देशात्, अन्यथा षण्णां चतुर्णां इत्यत्रापि षकाररकारव्यवधानादेव दीर्घनिषेधसिद्धेरत्र षरवर्जनं व्यर्थं स्यात्, प्राप्तिपूर्वको हि निषेध इति ततो "येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यादि"ति न्यायोऽनेन सूत्रांशेन ज्ञाप्यते, ततः पञ्चन् नाम् इत्यत्र दीर्घो भवति । ततो "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलोपे पञ्चानामिति सिद्धम् । पञ्चादीनां गौणत्वे तु सर्वाण्यपि वचनानि सम्भवन्तीत्याह प्रियपञ्चादयो राजन्वदिति प्रियाः पञ्च यस्य ययोर्येषां वा स **प्रियपञ्चा** प्रियपञ्चानौ प्रियपञ्चानः इत्यादि । शसादिषु "अनोऽस्य" इत्यल्लोपे "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य ञत्वे प्रियपञ्ञः इत्यादि ॥ ३१ ॥ **अष्टन्**शब्दस्य विशेषमाह—सूत्रम्—

वाष्टन आः स्यादौ ॥ ३२ ॥ [सि० १।४।५२]

अष्टनः स्यादौ परे आ वा स्यात् ॥ ३२ ॥

वाष्ट० । वा १-१ "अव्ययस्य" । अष्टन् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । आ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सिरादिर्यस्य स स्यादिः तस्मिन् स्यादि ७-१ "ङिडौं" । मध्ये "समानानां०" "रोर्यः" "स्वरे वा" तस्य लुक् च । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । अनेन नकारस्य अत्वे "समानानां०" दीर्घे अष्टा १-३ इति स्थिते ॥ ३२ ॥ सूत्रम्—

अष्ट और्जस्शसोः ॥ ३३ ॥ [सि० १।४।५३]

अष्टनः कृतात्वस्य जस्शसोरौः स्यात् । अष्टौ । अष्टौ । अष्ट । अष्ट । अष्टाभिः, अष्टभिः । अष्टाभ्यः अष्टभ्यः, २ । अष्टानाम् । अष्टासु, अष्टसु । प्रियाष्टा प्रियाष्टाः ॥ ३३ ॥ भकारान्तस्तुण्डिभ्शब्दः । "गडदबादेः०" इति ढत्वे । तुण्ढिब्, तुण्ढिप् । तुण्डिभौ । मकारान्त इदम्शब्दः ।

अष्ट० । अष्टा ६-१ "लुगातोऽनापः" इत्याकारलुप् "लोकात्" "सो रुः" । औ १-१ जस् च शस् च जस्शसौ तयोः जस्शस् ६-२ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "रोर्यः" "स्वरे वा" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन जस्शसोरौत्वे "ऐदौत्सं०" अष्टौ २ । पक्षे "डतिष्णः०" इति जस्शस्लुपि "नाम्नो नो०" अष्ट २ । एवं सर्वत्र विकल्पेन आत्वम् । षष्ठीबहुवचने "सङ्ख्यानां र्ष्णाम्" इत्यत्र बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन "भूतभूर्वकस्तद्वदुपचार" इति न्यायात् भूतपूर्वनान्ताया अप्यनेन नामादेशे अष्टानामिति रूपम्, आत्वाभावपक्षेऽपि प्राग्वत् अष्टानामित्येव रूपम् । प्रियाष्टा प्रियाष्टाः इति प्रिया अष्टौ यस्य ययो र्येषां वेति गौणत्वे तु सर्वाण्यपि वचनानि सम्भवन्तीति । आत्वपक्षे प्रियाष्टाः १ प्रियाष्टौ २ प्रियाष्टाः ३ प्रियाष्टाम् ४ प्रियाष्टौ ५ शसादौ स्वरे परे "लुगातोऽनापः" इत्याकारलुप् प्रियाष्टः ६ प्रियाष्टा ७ इत्यादि सोमपावच्चतुर्विंशतिरूपाणि । नान्तत्वपक्षे प्रियाष्टा १ प्रियाष्टानौ २ प्रियाष्टानः इत्यादि राजन्वत् पञ्चविंशतिरूपाणि । एवमेकोनपञ्चाशद्रूपाणि । प्रियाष्ट्णः इत्यादौ "रषृवर्णान्नो ण०" इत्यादि टवर्गान्तरितत्वेन णत्वाभावेऽपि "तवर्गस्य०" इत्यादिना णत्वं भवति । इत्युक्ता **नान्ताः** शब्दाः ॥ ३ ३॥ **शेषास्त्रयो**ऽप्रसिद्धा इति **भकारान्ता** उच्यन्ते **तुण्डिभ्**शब्द इति वृद्धनाभिः पुमान् तुण्डिभः तुण्डिभमाचष्टे तुण्डिभयति तुण्डिभयतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" क्विप्लोपः "नेरनिटि" इति णिग्लोपे तुण्डिभ् १-१ "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां "गडदबादेः०" इति डस्य ढत्वे "दीर्घङ्याब्०" सिलोपे "धुटस्तृतीयः" इति बत्वे तुण्ढिब् "विरामे वा" तुण्ढिप् । एवं सर्वत्र पदसंज्ञायां आदिडस्य ढः । स्वरादौ तु "लोकात्" तुण्डिभौ इत्यादि । अथ **मकारान्ताः** शब्दाः । इदम् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ ३४ ॥ [सि० २।१।३८]

पुंस्त्रीलिङ्गयोरिदंशब्दस्य स्वसम्बन्धिनि सौ परे अयमियमौ स्याताम् । अयम् । स्वसम्बन्धिनीति किम् ? प्रियेदम् ना स्त्री वा । द्विवचने "आद्वेरः" इति मस्य अत्वे ॥ ३४ ॥

अय० । अयम् च इयम् च अयमियम् १-१ "अनतो लुप्" पुमांश्च स्त्री च पुंस्त्रियौ तयोः पुंस्त्रियोः पुंस्त्री ७-२ "स्त्रियाः" इति इयादेशः "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" । त्रिपदमिदं० । अनेन अयमादेशे "दीर्घङ्याब्०" अयम् । स्वसम्बन्धिनि सौ परे इति । यदा तु बहुव्रीह्यादिना इदम्शब्दो गौणीभूतस्तदान्यसम्बन्धिनि सौ परेऽयमियमौ न

स्तः यथा प्रियोऽयं प्रेयेयं यस्य यस्या वा स प्रियेदम् पुमान् प्रियेदम् स्त्री वा इत्येव भवतीति ॥३४॥ इदम् १-२ इति स्थिते "आद्वेरः" इति मस्य अत्वे "लुगस्या०" "लोकात्" इद् औ इति स्थिते सूत्रम्—

दो मः स्यादौ ॥ ३५ ॥ [सि० २।१।३९]

त्यस्यादौ परे इदमो दो मः स्यात् । इमौ । इमे । इमम् । इमौ । इमान् । अन्वादेशे एनत् । एनम् । एनौ । इत्यादि ॥ ३५ ॥

दो मः० । द् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । म १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । स्यादि ७-१ "ङिड्यौ" "ङित्यन्त्य०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन दस्य मत्वे "ऐदौ०" इमौ । इम १-३ इति स्थिते "जस इः" "अवर्णस्ये०" इमे । शेषं स्पष्टम् । त्य इति किम् ? प्रियेदमौ । इत्यादि इत्यत्रादिशब्दग्रहणात् गौणस्य इदमशब्दस्यान्यसम्बन्धिनि स्यादौ परे एवं रूपाणि—प्रियेदम् प्रियेदमौ प्रियेदमः प्रियेदमम् प्रियेदमौ प्रियेदमः प्रियेदमा प्रियेदंभ्याम् प्रियेदंभिः प्रियेदमे प्रियेदंभ्याम् ३ प्रियेदंभ्यः २ प्रियेदमः २ प्रियेदमोः प्रियेदमाम् प्रियेदमि प्रियेदमोः प्रियेदंसु हे प्रियेदम् हे प्रियेदमौ हे प्रियेदमः । एवं स्त्रीलिङ्गे गौणत्वेऽपि । नपुंसकलिङ्गे तु गौणत्वे प्रियेदम् प्रियेदमी प्रियेदमि गौणत्वाभावे तु परमायं परमेयं परमेमौ इत्यादि ॥ ३५ ॥ **एतच्छब्दाधिकारे** इदमोऽप्येवमित्यतिदेशवचनात् अन्वादेशे द्वितीयाटौसि परे इदमशब्दस्यापि एनत् स्यात् न तु वृत्त्यन्ते । यथा आगतोऽयं अथो एनं भोजय एवमेनौ एनान् । अन्वादेशाभावे तु इमम् इमौ इमान् वृत्त्यन्तेऽपि परमेमं पश्येत्यादि । इदम् ३-१ इति स्थिते सूत्रम्—

टौस्यनः ॥ ३६ ॥ [सि० २।१।३७]

त्यटौसोः परयोरनकस्य इदमोऽनः स्यात् । अनेन । त्य इत्येव–प्रियेदमा । अनक इत्येव– इमकेन ॥ ३६ ॥

टौ० । टा च ओस् च टौस् तस्मिन् टौस् ७-१ "लोकात्" । अन १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । 'अनक' इति अक्प्रत्ययरहितस्य इदमः अनादेशो भवति इत्यनेन इदमोऽनादेशे "टाङसोरिनस्यौ" "अवर्णस्ये०" अनेन अन्वादेशे एनेन । साकोऽप्येवं एनेन । अनक इति किम् ? इदम् ३-१ "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽक्" इदकम् इति जाते "आद्वेरः" "लुगस्या०" "दो मः स्यादौ" अनेन अनादेशाभावे "टाङसो०" "अवर्णस्ये०" इमकेन ॥ ३६ ॥ इदम् ३-२ इति स्थिते सूत्रम्—

अनक् ॥ ३७ ॥ [सि० २।१।३६]

व्यञ्जनादौ त्यस्यादौ परे अनकस्य इदमः अः स्यात् । आभ्याम् ॥ ३७ ॥

अन० । न विद्यते अक् यस्य स अनक् अनक् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । शेषं सर्वमनुवृत्तितो ग्राह्यम् । अनेन इदमः अकारादेशे "अत आः स्यादौ०" आभ्याम् ॥ ३७ ॥ इदम् ३-३ इति स्थिते "अनक्" इत्यकारे जाते अ भिस् इति स्थिते "भिस ऐस्" इति सूत्रेण भिस ऐस्त्वे प्राप्ते नियमसूत्रम्—

"इदमदसोरक्येव" [सि० १।४।३४] त्य इति किम् ? प्रियेदंभ्याम् । "भिस ऐस्" इति नियमाद् "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वे एभिः । अकि तु इमकैः । अस्मै । अस्मात् । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

इद० । इदम् च अदस् च इदमदस् तस्य इदमदस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अक् ७-१ "लोकात्" । एव १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" "इवर्णादे०" । "लोकात्" । त्रिपदमिदं० । असै अस्मात् अस्य—अत्र "आद्वेरः" इति मस्य अत्वे "लुगस्या०" इद इति जाते "सर्वादेः स्मैस्मातौ" "टाङ्सोरिनस्यौ" इति ङेङसिङस्ां स्मैस्मात्स्यादेशे विभक्तीनां व्यञ्जनादित्वात् "अनक्" इत्यकारो भवति । इदम् ६-२ "टौस्यनः" इत्यनादेशे "टौस्येत्" इत्येत्वेऽ-यादेशे अनयोः । अन्वादेशे एनयोः । **साको**ऽप्येवम् एनयोः । एवम् सप्तमीद्विवचनेऽपि । इदम् ६-३ "आद्वेरः" "लुगस्या०" इद् आम् इति स्थिते "अवर्णस्यामः साम्" इत्यामः सामादेशे ततोऽनक् इत्य-कारादेशे "एद्बहु०" "नाम्यन्तस्था०" एषाम् । इदम् ७-१ इति स्थिते "ङेः स्मिन्" इति स्मिन्नादेशे "अनक्" इत्यकारादेशे अस्मिन् । इदम् ७-३ "अनक्" "एद्बहु०" "नाम्यन्तस्था०" एषु । अकि तु अन्वादेशे द्वितीयाटौसि परे एनदादेशो न स्यादित्येके । अक्सहितस्यापीदमोऽन्वादेशे एनदादेशः स्यादित्यन्ये । तथा अन्वादेशे साकोऽपि निरकोऽपि इमो भ्याम्भ्यसादिषु व्यञ्जनादिस्यादिषु अदा-देशो भवति नान्यथा । एतत्सर्वं रूपदर्शनेनैव व्यक्तीक्रियते । साकोऽपि अयमादेशे अयम् । **अपरे** त्वादेशानन्तरमकमिच्छन्ति अयकम् । इमकौ इमके इमकम् एनम्, इमकौ एनौ इमकान् एनान् इमकेन एनेन इमकाभ्याम् आभ्याम् इमकेभ्यः एभ्यः इमकस्मात् अस्मात् इमकाभ्याम् ३ । अस्य इमकस्य इमकयोः एनयोः इमकेषाम् एषाम् इमकस्मिन् अस्मिन् इमकेषु एषु ॥ ३७ ॥ **किम्**शब्दस्य विशेष-माह सूत्रम्—

किमः कस्तसादौ च ॥ ३८ ॥ [सि० २।१।४०]

स्यादौ तसादौ परे किमः कः स्यात् । कः । साकोऽपि कः । कौ । के । सर्ववत् ॥ ३८ ॥ चतुर्शब्दो बहुवचनान्तः ।

किमः० । किम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । क १-१ "सो रुः" । तस् आदिर्यस्य स तसादिः तसादि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" । च १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "चटते सद्वितीये" इति रस्य सः । चतुष्पदमिदं० । **सर्ववदि**ति अकारान्तत्वात्सर्वादित्वाच्चेति भावः ॥ ३८ ॥ अथ **यकारान्ता** अप्रसिद्धा इति **रेफान्तश्चतुर्**शब्द उच्यते स च मुख्यतया बहुवचनान्त एव । चतुर् १-३ इति स्थिते सूत्रम्—

वाः शेषे ॥ ३९ ॥ [सि० १।४।८२]

खेऽस्वे वा शेषे घुटि परेऽनडुच्चतुरोरुतो वाः स्यात् । चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ । चतुर्णाम् ॥ ३९ ॥

वाः० । वा १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । शेष ७-१ "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं० । अनेन उकारस्य वादेशे चत्वारः ॥ ३९ ॥ शसि घुट्त्वाभावात् वादेशो न भवति ततः चतुरः । एवं चतुर्भिः ३ । "सङ्ख्यानां र्ष्णाम्" इत्यामो नामादेशे "रषृवर्णान्नो ण०" इति चतुर्णाम् । चतुर् ७-३ इति स्थिते "शषसे शषसं वा" इति रेफस्य सत्वे प्राप्ते "रः पदान्ते०" इति विसर्गे च प्राप्ते विशेषसूत्रम्—

अरोः सुपि रः ॥ ४० ॥ [सि० १।३।५७]

रोरन्यस्य रस्य सुपि परे र एव स्यात् । चतुर्षु । प्रियचत्वाः । प्रियचत्वारौ २ ॥ ४० ॥

अरोः० । न रुः अरुः तस्य अरु ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते०" । सुप् ७-१ "लोकात्" । र १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । र एव स्यादिति षत्वविसर्गत्वादिकं कार्यं न स्यादित्यर्थः । ततो "नाम्यन्तस्था०" चतुर्षु । सम्बोधनेऽपि वादेशो भवति—हे चत्वारः । गौणतया तु सर्वाण्यपि विभक्तिवचनानि सम्भवन्तीति तत्रैवं रूपपद्धतिः—प्रियाश्चत्वारो यस्य ययोर्येषां वा स प्रियचत्वाः प्रियचत्वारौ २ । प्रियचत्वारः । प्रियचत्वारम् प्रियचतुरः प्रियचतुर्भ्याम् ३ । आमि प्रियचतुराम्—तत्सम्बन्धित्वाभावात् गौणत्वे आमो नाम् न भवति । प्राधान्ये तु स्यादेव परमचतुर्णाम् । प्रियचतुरि प्रियचतुर्षु ॥ ४० ॥ "वाः शेषे" इत्यत्र सूत्रे शेषे घुटीत्युक्तत्वात् सम्बोधने सौ वादेशो न भवतीति हे प्रियचतुर् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

उतोऽनडुच्चतुरो वः ॥ ४१ ॥ [सि० १।४।८१]

सम्बोधने सौ । हे प्रियचत्वः ॥ ४१ ॥ शकारान्तो विश्शब्दः । "यजसृज०" इति षत्वे । विड्, विट् । विशौ । विड्त्सु, विट्सु । तत्त्वप्राड्, तत्त्वप्राट् । तत्त्वप्राशौ २ ।

उतो० । उत् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" अनड्वांश्च चतुर् च अनडुह्चतुर् ६-१ "स्रंस्ध्वंस्क्वस्सनडुहो दः" इति हस्य दः "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति दस्य तः "तवर्गस्य०" चः, ततो "लोकात्" "सो रुः" । व १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन उकारस्य वकारादेशे "दीर्घङ्याब्०" सिलुकि "रः पदान्ते०" हे प्रियचत्वः । हे प्रियचत्वारौ २ ॥ ४१ ॥ अथ **शकारान्ता** उच्यन्ते । विश्शब्दः स्पष्ट एव । तत्त्वप्राडिति तत्त्व २-१ 'प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्' प्रच्छधातुः तत्त्वं पृच्छतीति क्विप् "दिद्युद्दद्रजगज्जुहूवाक्प्राट्०" इति प्राश् इति क्विबन्तो निपातः । "ङस्युक्तं कृता" इति समासे तत्त्वप्राश्शब्दः । ततो "यजसृज०" इति षत्वे "धुटस्तृतीयः" इति डत्वे तत्त्वप्राड् । "विरामे वा" तत्त्वप्राट् । तत्त्वप्राशौ "नामसिद्०" इति पदसंज्ञायां "यजसृज०" इति षत्वे "धुटस्तृतीयः" इति डत्वे तत्त्वप्राड्भ्यामित्यादि । तत्त्वप्राड् सु इति स्थिते "ड्नः सः त्सोऽश्चः" इति सादेशे तत्त्वप्राड्त्सु पक्षे तत्त्वप्राट्सु हे तत्त्वप्राट् इत्यादि । **शकारान्तेष्वेव विशेषमाह** तद् १-१ 'दृशृं प्रेक्षणे' दृश्धातुः स इव दृश्यते इति विग्रहे "त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्व्याप्ये दृशष्टक्सकौ च" (५।१।१५२) इति क्विप्प्रत्ययः "अप्रयोगीत्" इति क्विप्लोपः "ङस्युक्तं कृता" इति समासः "ऐकार्थ्ये" इति विभक्तिलोपः "अन्यत्यदादेराः" (३।२।१५२) इति दकारस्य आत्वे तादृश्शब्दः सिद्धः । ततश्च तादृश् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ऋत्विज्दिश्दृश्स्पृश्स्रज्दधृष्उष्णिहो गः ॥ ४२ ॥ [सि० २।१।६९]

एषां पदान्ते गः स्यात् । तादृग्, तादृक् । तादृशौ २ । तादृग्भ्याम् ३ । सदृगादयोऽप्येवम् । घृतस्पृग्, घृतस्पृक् । घृतस्पृशौ २ । घृतस्पृग्भ्याम् ३ ॥ ४२ ॥

ऋत्वि० । ऋत्विज् च दिश् च दृश् च स्पृश् च स्रज् च दधृष् च उष्णिह् च ऋत्विज्दिश्दृश्स्पृश्स्रज्दधृष्उष्णिह् तस्य ऋत्विज्दिश्दृश्स्पृश्स्रज्दधृष्उष्णिह् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" ग १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन शस्य गत्वे "विरामे वा" गस्य कत्वे रूपद्वयम् । "नामसिद्०" इति पदत्वे तादृग्भ्याम् । सुपि अनेन शस्य गत्वे "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति गस्य कत्वे "नाम्यन्तस्था०" सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षः तादृक्षु । हे

तादृग् इत्यादि । **सदृगादयोऽप्येवमिति** समान इव दृश्यते इति **सदृग्** "दृग्दृशदृक्षे" (३।२।१५१) इति समानस्य सः । शेषं प्राग्वत् । **आदिशब्दग्रहणात्** अन्य इव दृश्यते इति **अन्यादृक्** "अन्यत्यदादेराः" इत्यात्वम् । एवं **त्यादृक् यादृक्** । असाविव दृश्यते इति अमूदृक्—अदस् दृश् "आद्वेरः" "लुगस्या०" "मोऽवर्णस्य" ततो "अन्यत्यदादेराः" इत्यात्वे "मादुवर्णोऽनु" इति दीर्घउकारः **अमूदृक्** । अयमिव दृश्यते क इव दृश्यते इति **ईदृग् कीदृग्** "इदंकिमोऽतु०" इति इदंकिमोरीकी आदेशौ । एष इव दृश्यते **एतादृक्** । यूयमिव दृश्यते **युष्मादृग्** । त्वमिव दृश्यते इति **त्वादृग्** । वयमिव दृश्यते इति **अस्मादृग्** । अहमिव दृश्यते इति **मादृग्** । भवानिव दृश्यते इति **भवादृक्** इत्यादयः सर्वे ज्ञेयाः । घृत २-१ 'स्पृशंत् आमर्शने' घृतं स्पृशतीति घृतस्पृग्—"स्पृशोऽनुदकात्" इति क्विप् । घृतस्पृक्, घृतस्पृग्भ्यामित्यादि प्राग्वत् ॥ ४२ ॥ **शकारान्तेष्वेव विशेषमाह** सूत्रम्—

नशो वा ॥ ४३ ॥ [सि० २।१।७०]

नशः पदान्ते ग् वा स्यात् । जीवनग्, जीवनक् । जीवनड् जीवनट् । जीवनशौ २ । जीवनग्भ्याम् जीवनड्भ्याम् । जीवनक्षु जीवनड्त्सु जीवनट्सु । षकारान्तो दधृष्शब्दः । दधृग् दधृक् । दधृषौ । दधृग्भ्याम् ३ ॥ ४३ ॥

नशो० । नश् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । वा १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं० । जीवस्य नशनं जीवनग् "भ्यादिभ्यो वा" इति क्विप् अथवा जीवेन नश्यतीति क्विप् अनेन विकल्पेन शस्य गत्वम् । पक्षे "यजसृज०" इति शस्य षत्वं "धुटस्तृतीयः" इति डत्वं जीवनड् । उभयत्रापि "विरामे वा" । कत्वे च टत्वे च जीवनक् जीवनट् इति चातूरूप्यम् । अन्यत्रापि "नामसिद०" इति पदत्वे द्वैरूप्यम् जीवनग्भ्याम् जीवनड्भ्याम् । जीवनक्षु जीवनड्त्सु जीवनट्सु इति सुपि त्रैरूप्यम् ॥ ४३ ॥ अथ **षकारान्ताः शब्दा** उच्यन्ते 'ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये' धृष्णोतीति **दधृष्—चतुरः पुमान्** । अत एव ऋत्विजित्यादिसूत्रनिर्देशात् दधृष् इति रूपसिद्धिः । दधृष १-१ इति स्थिते अनेन षस्य गत्वे "विरामे वा" दधृक् । स्वरादौ तु लोकादित्येव दधृषौ इत्यादि । "नामसिद०" पदत्वे दधृग्भ्याम् ३ । दधृक्षु । **षकारान्तेष्वेव विशेषमाह** 'जुषैति प्रीतिसेवनयोः' सह जुषते इति सजूः क्विप् "अप्रयो०" सजुष् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

सजुषः ॥ ४४ ॥ [सि० २।१।७३]

पदान्ते रुः स्यात् ॥ ४४ ॥

सजूष् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अनेन षस्य रत्वे सजुर् १-१ इति स्थिते ॥ ४४ ॥ सूत्रम्—

पदान्ते ॥ ४५ ॥ [सि० २।१।६४]

पदान्तस्थयोर्भ्वादेर्वोः परयोस्तस्यैव नामिनो दीर्घः स्यात् । सजूः । सजुषौ । हे सजूः । सजूर्भ्याम् । सजूर्षु ॥ ४५ ॥ षष्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । षड्, षट् । षण्णाम् । षट्सु । प्रियषड् प्रियषट् । प्रियषषौ । सकारान्तः सुवचस्शब्दः । "अभ्वादेरत्वसः सौ" इति दीर्घे सुवचाः । सुवचसौ २ । सुवचोभ्याम् ३ । सुवचस्सु । हे सुवचः । एवं सुमनस्प्रभृतयः ।

पदान्ते । पदस्य अन्तः पदान्तः तस्मिन् पदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०" । एकपदमिदं सूत्रम् । अनेन दीर्घे सजूः । स्वरादौ "लोकात्" सजुषौ "नामसिद०" इति पदत्वे सजूर्भ्यामित्यादि । सजुष् सु इति

स्थिते अनेन रत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति सस्य षत्वम् । यदि चात्र सन्निपातलक्षणन्यायाद्रेफनिमित्ताज्जातः षकारो रेफविघाताय न स्यादित्याश्रीयते तदा सजूर्षु । अस्य न्यायस्यानित्यत्वात् "शषसे शषसं वा" इति रेफस्य षत्वे सजूष्षु पक्षे विसर्गे सजूःषु इति त्रैरूप्यम् । हे सजूः । हे सजुषौ इति । **सजू**-**र्मित्र**मित्यर्थः ॥ ४५ ॥ **षष्**शब्दो नित्यं बहुवचनान्त इति मुख्यतयेत्यर्थः । षष् १-३ षष् २-३ इति स्थिते "डतिष्णः०" इति जस्शस्लुपि "धुटस्तृतीयः" इति षस्य डत्वे षड् २ "विरामे वा" षट् २ "नामसिद्०" इति पदत्वे षड्भिः षड्भ्यः २ षड् ७-३ इति स्थिते "सङ्ख्यानां र्ष्णाम्" इत्यामो नामादेशे "धुटस्तृतीयः" इति षस्य डत्वे तृतीयस्य पञ्चमे इति डस्य णत्वे "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य णत्वे षण्णाम् इति । षड्त्सु षट्सु । हे षड्, २ इति । गौणत्वे तु सर्वाण्यपि विभक्तिवचनानि सम्भवन्ति—प्रियाः षट् यस्य ययोर्येषां वा प्रियषष् १-१ "दीर्घङ्याब्०" "धुटस्तृतीयः" प्रियषड् २ प्रियषषौ प्रियषषाम् हे प्रियषट् इत्यादि । अथ **सकारान्ताः** शब्दा उच्यन्ते—**सुवचस्**शब्द इति शोभनं वचो यस्य स सुवचाः । शेषं स्पष्टम् । **सकारान्तेष्वेव विशेषमा**ह—'डुकृंग् करणे' कृधातुः कर्तुमिच्छति "तुमर्हादिच्छायाम् सन्नतत्सनः" इति सन्प्रत्ययः "स्वरहन्गमोः सनि धुटि" इति दीर्घे कृ स इति स्थिते *"नामिनोऽनिट्" नाम्यन्ताद्धातोरनिट्सन् किद्वद् भवति इति सनः कित्वे "ॠतां क्ङितीर्" "भ्वादेर्नामिनो दीर्घो र्वोर्व्यञ्जने" इति दीर्घे कीर् स इति स्थिते "सन् यङश्च" इति की इति द्वित्वं "ह्रस्वः" इति पूर्वस्य ह्रस्वत्वं "कङश्चञ्" इति कस्य चः "नाम्यन्तस्था०" इति सस्य षः चिकीर्ष इति जाते चिकीर्षतीति क्विप् "अतः" इति अलोपः "अप्रयोगीत्" इति क्विप्लोपः । ***"णषमसत्परे स्यादिविधौ च" [सि० २।१।६०]** इतः सूत्रादारभ्य यत्परं कार्यं विधास्यते तस्मिन् पूर्वस्मिंश्च स्याद्यधिकारविहिते विधौ कर्त्तव्ये णत्वं षत्वं वाऽसदसिद्धं द्रष्टव्यम् । एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोश्च णत्वषत्वयोः परे षत्वणत्वमसद्द्रष्टव्यम् । णषशास्त्रं वा परे स्यादिविधौ च शास्त्रे प्रवर्त्तमानेऽसद्द्रष्टव्यम् । इति सलोपे कर्त्तव्ये षत्वं असत् जातं ततः चिकीर् स् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

रात्सः ॥ ४६ ॥ [सि० २।१।९०]

पदस्य संयोगान्तस्य यो रस्ततः परस्य सस्यैव लुक् स्यात् । चिकीर्षतीति चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु । हे चिकीः ॥ ४६ ॥ उकारानुबन्धः श्रेयस्शब्दः । "ऋदुदितः" इति नुमागमे "न्सहतोः" इति दीर्घे च श्रेयान् ।

रात्सः । र ५-१ "ङेङस्योर्यातौ" "समानानां०" । स् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन सलोपे रेफस्य "रः पदान्ते०" इति विसर्गे चिकीः । स्वरादौ सर्वत्र "लोकात्" चिकीर्षौ चिकीर्ष इत्यादि । **एवं** कटं चिकीर्षतीति कटचिकीः कटचिकीर्षौ इत्यादयोऽपि ज्ञेयाः । "पदस्य" इति सलोपे सिद्धे "रात्सः" इति सूत्रं प्रारभ्यते इति **नियमसूत्रमे**तत् ततो रात्परस्य सस्यैव लुक् स्यात् नान्यस्येति नियमात् 'ऊर्जण् बलप्राणनयोः' ऊर्जयतीति ऊर्क् अत्र रात्परस्य कस्य "पदस्य" इत्यनेनापि लोपो न भवति । **रादेव सस्ये**ति तु **विपरीतनि**यमः "पुंवत्कर्मधारये" इति निर्देशान्न ॥ ४६ ॥ **उकारानुबन्धो श्रेयस्शब्द** इति प्रशस्योऽयं प्रशस्यः अयमनयोर्मध्येऽतिशयेन प्रशस्य इति विग्रहे "गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू" इति सूत्रेण प्रशस्यशब्दात् ईयसुप्रत्यये "प्रशस्यस्य श्रः" इति सूत्रेण प्रशस्यशब्दस्य श्रादेशे श्रेयस्शब्दसिद्धिः । अथ प्रथमाद्विवचनादौ श्रेयान् औ इत्यादिषु स्थितेषु सूत्रम्—

शिड्हेऽनुस्वारः ॥ ४७ ॥ [सि० १।३।४०]

अपदान्तस्थानां म्नां शिटि हे च परेऽनुस्वारः स्यात् । श्रेयांसौ । हे श्रेयन् । श्रेयोभ्याम् । क्सुप्रत्ययान्ता अप्येवम् । विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ॥ ४७ ॥

शिड्हे० । शिट् च हश्च शिड्हं तस्मिन् शिड्ह ७-१ "अवर्णस्ये०" । अनुस्वार १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं० । अनेन नकारस्यानुस्वारे श्रेयांसौ श्रेयांस इत्यादि । "न्समहतोः" इत्यत्र शेषे घुटीत्युक्तत्वात् सम्बोधने सौ दीर्घाभावः हे श्रेयन् । "न्समहतोः" इत्यत्र महत्साहचर्यात् शुद्धधातोः क्विबन्तस्य न भवति—सुहिंसौ सुहिंसः, सुकंसौ सुकंसः इति । **क्सुप्रत्ययान्ता अप्येवमि**ति घुट्वचनेषु श्रेयस्शब्दवत् ज्ञेया इत्यर्थः । अघुटि विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् । 'विदक् ज्ञाने' वेत्तीति विद्वान् "वा वेत्तेः क्वसुः" इति वर्त्तमानकाले क्वसुप्रत्ययः ॥ ४७ ॥ विद्वस् २-३ इति स्थिते सूत्रम्—

क्वसुष्मतौ च ॥ ४८ ॥ [सि० २।१।१०५]

णिक्यघुड्वर्जे यादौ स्वरादौ मतौ च क्वस उष् स्यात् । विदुषः । विदुषा ॥ ४८ ॥

क्वसु० । क्वस् १-१ उष् १-१ उभयत्रापि "दीर्घङ्याब्०" । मतु ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" "लोकात्" । च १-१ "अव्ययस्य" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । चकारेण णिक्यघुड्वर्जे यकारादौ च प्रत्यये इत्यनुकृष्यते । मतौ इति तु साक्षादेव सूत्रे उक्तम् । अत एषु परेषु क्वस् उष् स्यात् । ततः शसादौ स्वरे अनेन उषादेशे विदुषः इति । यकारादिप्रत्ययस्योदाहरणं तु विदुषि साधुर्विदुष्यः "तत्र साधौ" इति यप्रत्यये अनेन उषादेशः । एवं विद्वानस्यास्तीति "विदुष्मान्" "तदस्यास्त्यस्मिन्निति०" मतौ क्वस उष् । णिक्यघुड्वर्जनात् विद्वांसमाचष्टे "णिज्बहुलम्" णौ उषादेशो न भवति । ततः "त्र्यन्त्यस्वरादेः" इत्यन्त्यस्वादिलोपे विद्वरयति विद्वांसमिच्छति विद्वस्यति "अमाव्ययात् क्यन् च" इति क्यन्प्रत्ययः अत्रापि उष् न भवति । विद्वस् १-३ इति स्थिते "ऋदुदितः" "न्समहतोः" विद्वांसः । अत्रापि उष् न भवति ॥ ४८ ॥ विद्वस् ३-२ इति स्थिते सूत्रम्—

स्रंस्ध्वंस्क्वस्सनडुहो दः ॥ ४९ ॥ [सि० २।१।६८]

स्रंस्ध्वंसोः क्वस्प्रत्ययान्तस्यानडुहश्च पदान्ते दः स्यात् । विद्वद्भ्याम् । विद्वत्सु । उदित्पुंस्शब्दः ॥ ४९ ॥

स्रंस्० । क्वस् चासौ स् च क्वस्स् । स्रंस् च ध्वन्स् च क्वस्स् च अनडुह् च स्रन्स्ध्वन्स्क्वस्सनडुह् तस्य स्रन्स्ध्वन्स्क्वस्सनडुह् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । द १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन सस्य दत्वे विद्वद्भ्याम् ३ विद्वद्भ्यः २ । विद्वत्सु । क्वस्सिति द्विःसकारस्य पाठात् सकारान्तस्यैव च क्वस्प्रत्ययान्तस्य पदत्वं स्यान्नान्यस्य तेन विद्वान् इत्यस्य प्रथमैकवचने निष्पन्नस्य नकारान्तस्य पदान्ते सत्यपि दत्वं न स्यात् । क्लीबे गौणत्वे प्रियविद्वद् २ प्रियविदुषी २ प्रियविद्वांसि कुलानि सन्ति पश्य वा । स्त्रियां गौणत्वे ङ्यां प्रियविदुषी । स्रन्स्भ्रन्शोस्त्वेवम् । 'भ्रन्शूङ् स्रन्सूङ् अवस्रंसने' 'ध्वन्सूङ् गतौ च' उखया स्रंसते, पर्णानि ध्वंसते इति क्विप् "नो व्यञ्जनस्यानुदितः" इति नलोपे उखास्रस् पर्णध्वस् । अनेन दत्वे उखास्रद् २ पर्णध्वद् २ उखास्रसौ पर्णध्वसौ उखास्रसः पर्णध्वसः उखास्रद्भ्याम् पर्णध्वद्भ्याम् उखास्रत्सु पर्णध्वत्सु हे उखास्रद् २ हे पर्णध्वद् २ इत्यादि । 'डुपचींष् पाके' पच्धातुः पपाच इति वाक्ये अत्र "क्वसुकानौ तद्वत्" इति क्वसुप्रत्ययः स च परोक्षावत् इति "स्कृऽसृवृभृस्तुद्रुश्रुस्रोर्व्यञ्जनादेः परोक्षायाः" (४।४।८१) इति इडागमः ।

"अनादेशादेरेकव्यञ्जनमध्येऽतः" (४।१।२४) इत्येत्वं ततः पेचिवांसौ २। यत्र च शसादिस्वरादौ क्वस उषादेशस्तत्र क्वसोर्व्यञ्जनादित्वाभावात् 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव' इति इटोऽपि निवृत्तिः। पेचुषः पेचिवद्भ्याम् इत्यादि ॥ ४९ ॥ **सकारान्तेष्वेव विशेषमाह उदित्पुंस्शब्द इति।** 'पांक् रक्षणे' पातीति पुमान् "पातेर्डुम्सुः" इति डुम्सुप्रत्ययः। डकारोकारावनुबन्धौ पुम्स् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

पुंसोः पुमन्स् ॥ ५० ॥ [सि० १।४।७३]

घुटि। पुमान्। पुमांसौ। हे पुमन्। पुंसा। "पदस्य" इति सलोपे पुंभ्याम्। पुंसि। दोस्-शब्दस्य स्वरादौ षत्वं व्यञ्जनादौ च रुत्वम्। दोः। दोषौ २। हे दोः। शसादौ स्यादौ वा दोषन्नादेशे दोष्णः दोषः। दोष्णा दोषा। दोर्भ्याम् दोषभ्याम्, ३। दोष्णि दोषणि दोषि। दोष्षु। उशनस्शब्दस्य "ऋदुशनस्०" सेर्डा। उशना। उशनसौ ॥ ५० ॥

पुंसोः०। पुम्सु ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" "रः पदान्ते" पुमन्स् १-१ "दीर्घङ्याब्०" द्विपदमिदं०। **घुटि इत्येतावान् वृत्त्यंशः** सूत्रवृत्त्यंशयोर्योगेऽर्थः स्पष्टः ततो "नि दीर्घः" इति दीर्घे पुमान् "शिड्हेऽनुस्वारः" इत्यनुस्वारे पुमांसौ इति। शेषघुटभावात् सम्बोधने सौ दीर्घाभावः हे पुमन् इति ॥ ५० ॥ **दोस्शब्दः स्पष्टः** पुंन्नपुंसकलिङ्गश्च 'दोस्तित उः इत्या'दि लिङ्गानुशासनवचनात्। **उशनस्**शब्दोऽप्येवं किन्तु सम्बोधने सौ विशेषमाह सूत्रम्—

वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ॥ ५१ ॥ [सि० १।४।८०]

उशनसः सम्बोधने नलुकौ वा स्याताम्। हे उशनन्। हे उशन हे उशनः। पुरुदंशा। पुरुदंशसौ। अनेहा। अनेहसौ। हे पुरुदंशः। हे अनेहः ॥ ५१ ॥

वोश०। वा १-१ "अव्ययस्य"। उशनस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। न १-१ "सो रुः"। च १-१ "अव्ययस्य"। आमन्त्र्यते इति आमन्त्र्यः तस्मिन् आमन्त्र्य ७-१ "अवर्णस्ये०"। सि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०"। मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" "चटते सद्वितीये" "समानानां०"। षट्पदमिदं सूत्रम्। उभयविकल्पे त्रैरूप्यम्। **पुरुदंशस्अनेहस्शब्दौ स्पष्टौ।** तत्र वष्टीति उशना भार्गवः *"वष्टेः कनस्" 'वशक् कान्तौ' इत्यस्मात् कनस् प्रत्ययो भवति। पुरुदंशतीति पुरुदंशा इन्द्रः* "विहायस्सुमनस्पुरुदंशस्पुरुरवोऽङ्गिरसः" एते अस्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। *"नञ ईहेरेहेधौ च" नञ्पूर्वात् 'ईहि चेष्टायाम्' इत्यस्मात् अस्प्रत्ययो [भवत्यस्य] च एह एधौ आदेशौ। न ईहते अनेहा काल इन्द्रः चन्द्रश्च ॥ ५१ ॥ **अदस्शब्दस्य विशेषमाह** अदस् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

अदसो दः सेस्तु डौ ॥ ५२ ॥ [सि० २।१।४३]

स्वसम्बन्धिसौ परे अदसो दः सः स्यात्। सेस्तु डौ। असौ असकौ। हे असौ। स्वसम्बन्धि इति किम्? अत्यदाः ॥ ५२ ॥

अदसो०। अदस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। द् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। सि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०"। तु १-१ "अव्ययस्य"। डौ १-१ सूत्रत्वात् सिलोपः। मध्ये "चटते०"। पञ्चपदमिदं सूत्रम्। अनेन सेडौं आदेशे दकारस्य सत्वे "डित्यन्त्य०" अस्लोपे असौ अकि प्रत्यये असकौ। यदा तु बहुव्रीह्यादिना अदस्शब्दो गौणीभूतस्तदा अन्यसम्बन्धिनि सौ परे दकारस्य सत्वं सेडौं च न भवति, "आद्वेरः" इत्यादीन्यपि सूत्राणि न प्राप्नुवन्ति, ततो "अभ्वादेर-

त्वसः सौ" दीर्घे अत्यदाः अत्यदसौ अत्यदसः इत्यादि सुवचसूशब्दवत् रूपनयः ॥ ५२ ॥ अदस् १-२ इति स्थिते "आद्वेरः" इति सस्य अत्वे "लुगस्या०" "लोकात्" अद औ इति स्थिते सूत्रम्—

"मोऽवर्णस्य" ॥ ५३ ॥ [सि० २।१।४५]

अवर्णान्तस्यादसो दो म् स्यात् । अमौ इति जाते ॥ ५३ ॥

मोऽव० । म १-१ "सो रुः" । अवर्ण ६-१ "टाङ्सो०" । मध्ये "अतोति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अनेन दस्य मत्वे "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः" अमौ इति जाते ॥ ५३ ॥ सूत्रम्—

मादुवर्णोऽनु ॥ ५४ ॥ [सि० २।१।४७]

अदसो मः परस्य वर्णस्य उवर्णः स्यात् । ह्रस्वस्थाने ह्रस्वो दीर्घस्थाने दीर्घः । अनु पश्चात्कार्यान्तरेभ्यः ॥ ५४ ॥ अमू । सर्वादित्वाज्जस इः । अमे इति जाते ।

मादु० । म ५-१ "ङेङस्योर्यातौ" "समानानां०" । उवर्ण १-१ "सो रुः" । अनु १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "धुटस्तृतीयः" "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । औकारस्य दीर्घत्वात् दीर्घउकारः अमू । एवं द्वितीयावचनेऽपि ॥ ५४ ॥ एवं अम् जस् इति स्थिते "जस इः" "अवर्णस्ये०" अमे इति जाते सूत्रम्—

बहुष्वेरीः ॥ ५५ ॥ [सि० २।१।४९]

बहुवचनान्तस्यादस एरीः स्यात् । अमी ॥ ५५ ॥ हे असौ । अमुम् । अमू । अमून् । अम टा इति स्थिते ।

बहु० । बहु ७-३ "नाम्यन्तस्था०" । ए १-१ "सो रुः" । ई १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "इवर्णादे०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अमी ॥ ५५ ॥ द्वितीयैकवचने "समानादमोऽतः" इत्यकारलोपे "मादुवर्णोऽनु" अमुम् । द्वितीयाबहुवचने "शसोऽता०" अमान् इति स्थिते "मादुवर्णोऽनु" इति दीर्घोकारः अमून् । तृतीयैकवचने अम टा इति स्थिते "टाङसोरिनस्यौ" इति सूत्रे प्राप्ते "मादुवर्णोऽनु" इति सूत्रस्थस्य अनु इत्यस्यावयवस्यापवादः सूत्रम्—

प्रागिनात् ॥ ५६ ॥ [सि० २।१।४८]

अदसो मः परस्य वर्णस्य इनादेशात्प्रागुवर्णः स्यात् । अमुना ॥ ५६ ॥ अमूभ्याम् । "इदमदसोऽक्येव" इति नियमाद्भिस ऐस्त्वाभावे "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वे "बहुष्वेरीः" अमीभिः । अम—सै इति जाते "मादुवर्णोऽनु" अमुष्मै । अमूभ्याम् । अमीभ्यः अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः २ । अमीषाम् । अमीषु ।

प्रागि० । प्राक् १-१ "अव्ययस्य" । इन ५-१ ङेङस्यो०" "समानानां०" । मध्ये "धुटस्तृतीयः" । द्विपदमिदं० । एतत्सूत्राकरणे अनु पश्चात्कार्यान्तरेभ्य इति वचनात् पूर्वं "टाङसोः०" इति इनादेशे अमे इति जाते पश्चात् "मादुवर्णोऽनु" इत्यूकारे कृते अमून इत्यनिष्टं रूपं स्यात्ततः पूर्वमनेन सूत्रेण उकारे पश्चात् "टः पुंसि ना" अमुना ॥ ५६ ॥ तृतीयाद्विवचने "अत आः स्यादौ०" इति आत्वे "मादुवर्णोऽनु" अमूभ्याम् । एवं चतुर्थीपञ्चमीद्विवचनयोरपि । अमीभ्यः अमीषु इत्यत्र "एद्बहुस्भोसि" इत्येत्वे "बहुष्वेरीः" । शेषं स्पष्टम् ।

असुको वाऽकि ॥ ५७ ॥ [सि० २।१।४४]

अदसोऽकि सत्यसुको वा स्यात् । असुकः । असकौ । हे असुक । हे असक ॥ ५७ ॥

हे असौ इति श्रीहेमसूरिवचनादस्य सम्बोधनं ज्ञायते । अक्प्रत्ययान्तयोस्तु असुकासकशब्दयो रूपाणि प्रथमैकवचनं विना सर्वाण्यपि सर्वशब्दवत् ज्ञेयानि इति **सकारान्ताः शब्दाः** ॥ ५७ ॥

अथ हकारान्ताः–अनडुह्शब्दस्य "वाः शेषे" अनड्वाह् इति जाते सूत्रम्—

अनडुहः सौ ॥ ५८ ॥ [सि० १।४।७२]

धुटां प्राग् नोन्तः, "पदस्य" इति हलोपे अनड्वान् । अनड्वाहौ २ । शसि अनडुहः । "स्रंसू-ध्वंसू०" इत्यादिना दत्वे । अनडुद्भ्याम् ३ । सम्बोधने "उतोऽनडुच्चतुरो वः" हे अनड्वन् ॥५८॥

अन० । अनडुह् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिड्यौं" "ङित्यन्त्य०" द्विपदमिदं० । प्रक्रिया स्पष्टा ॥ ५८ ॥ **हकारान्तानामेव विशेषमाह**—सूत्रम्—

हो धुट्पदान्ते ॥ ५९ ॥ [सि० २।१।८२]

धुटि प्रत्यये पदान्ते च हो ढः स्यात् । मधुलिड् मधुलिट् । मधुलिहौ । मधुलिड्भ्याम् ३ । मधुलिड्त्सु । मधुलिट्सु ॥ ५९ ॥

हो धुट्० । ह् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" पदस्य अन्तः पदान्तः धुट् च पदान्तश्च धुट्पदान्तः तस्मिन् धुट्पदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं० । "द्वन्द्वान्ते" इति न्यायात् उभयत्रापि सप्तमी सम्बध्यते इत्यादि । धुटि प्रत्यये इत्यादि । 'लिहंक् आस्वादने' मधु २-१ लेढीति क्विप् "अप्रयोगीत्" "ङस्युक्तं कृता" इति समासः मधुलिह् १-१ इति स्थिते अनेन हस्य ढत्वे "धुटस्तृतीयः" "विरामे वा" मधुलिड् मधुलिट् । शेषं स्पष्टम् । **पर्णगुह्**शब्दः क्विबन्तः प्राग्वत् पर्णगुह् १-१ इति स्थिते अनेन हस्य ढत्वे चतुर्थान्तत्वात्पदत्वाच्च "गडदबादेः०" गस्य घत्वे पर्णघुड् २ । एवं "नामसिद०" इति पदसंज्ञायां पर्णघुड्भ्यामित्यादि । यत्र च स्वरादौ पदसंज्ञा नास्ति तत्र अनेन ढत्वं "गडदबादेः०" इति घत्वं च न भवति–पर्णगुहौ पर्णगुहः इत्यादि । धुट्प्रत्ययस्योदाहरणं तु लीढः लेढा इत्यादि क्तप्रत्यये श्वस्तनीताप्रत्यये च ज्ञेयम् ॥ ५९ ॥ पुनरपि हकारान्तेष्वेव **विशेषमाह** सूत्रम्—

भ्वादेर्दादेर्घः ॥ ६० ॥ [सि० २।१।८३]

भ्वादेर्धातोर्यो दादिरवयवस्तस्य धुटि परे प्रत्यये पदान्ते च हो घः स्यात् । "गडदबादेः०" इति घत्वे गोधुग् गोधुक् ॥ ६० ॥

भ्वादे० । भूरादिर्यस्य स भ्वादिः, तस्य भ्वादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । द् आदिर्यस्य स दादिः तस्य दादि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां०" । घ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपद-मिदं सूत्रम् । गां दोग्धीति **गोदुह्शब्दः** क्विबन्तः प्राग्वत् । अनेन हस्य घत्वे "गडदबादेः०" इति दस्य धत्वे गोधुग् २ । स्वरादौ तु नोभयं प्राप्नोतीति गोदुहौ इत्यादि । सुपि तु अनेन हस्य घत्वे "गड-दबादेः०" इति दस्य धत्वे "अघोषे प्रथमोऽशिटः" इति घस्य कत्वे "नाम्यन्तस्था०" इति सस्य षत्वे कषसंयोगे क्षः गोधुक्षु ॥ ६० ॥ पुनरपि **हकारान्तेष्वेव विशेषमाह**—सूत्रम्—

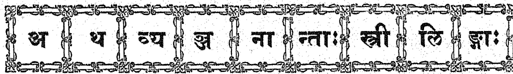
मुहद्रुहष्णुहष्णिहो वा ॥ ६१ ॥ [सि० २।१।८४]

धुटि प्रत्यये पदान्ते त्वेषां चतुर्णां हो घ् वा स्यात् । तत्त्वमुग् तत्त्वमुक् । तत्त्वमुड् तत्त्वमुट् । सम्बोधने चातूरूप्यम् ॥ ६१ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां व्यञ्जनान्ताः पुंलिङ्गाः ।

मुह० । मुहश्च द्रुहश्च स्नुहश्च स्निहश्च मुहद्रुहस्नुहस्निह् तस्य मुहद्रुहस्नुहस्निह् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । वा १-१ "अव्ययस्य" । मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । 'मुहौच् वैचित्त्ये' तत्त्वे मुह्यतीति तत्त्वमुग् क्विप्प्रत्ययः, अनेन हस्य घत्वे "धुटस्तृतीयः०" इति गत्वे "विरामे वा" गत्व-कत्वाभ्यां रूपद्वयम्, पक्षे "हो धुट्पदान्ते" हस्य ढः तत्रापि "धुटस्तृतीयः" डत्वे "विरामे वा" इति डत्वटत्वाभ्यां रूपद्वयम् । एवं सम्बोधनेऽपि चातूरूप्यम् । 'द्रुहौच् जिघांसायाम्' मित्राय द्रुह्यतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" । यत्र पदत्वं तत्र अनेन हस्य घत्वे पक्षे "हो धुट्पदान्ते" इति ढत्वे च "गडदबादेः" इति दस्य धत्वं मित्रध्रुग् २ । मित्रध्रुड् २ । मित्रध्रुग्भ्याम् मित्रध्रुड्भ्याम् । स्वरादौ तु पदत्वाभावान्नो-भयम्—मित्रद्रुहौ । 'ष्णुहौच् उद्गिरणे' ष्णुह्धातुः "षः सोष्ट्यै०" 'निमित्ताभावे०' स्नुह् उत्स्निह्यतीति क्विप् "अप्रयोगीत्" । 'ष्णिहौच् प्रीतौ' "षः सो०" स्निहत्वे स्निह्यती० । **उष्णिह्**शब्दोऽपि स्पष्ट एव ॥६१॥

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकार्हर्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ भेजुरमी समाप्तिसुषमां पुंस्यस्वरान्ता रवाः ॥ १ ॥



अथ व्यञ्जनान्ताः स्त्रीलिङ्गा उच्यन्ते । तेऽपि व्यञ्जनक्रमेणैव वक्तव्यास्तत आह—

तत्र चकारान्तादयः प्राग्वत् । त्यदादीनाम् "आद्वेरः" इत्यकारान्तत्वे ।

तत्र चकारान्तादयः प्राग्वदिति । तत्रेति व्यञ्जनान्तस्त्रीलिङ्गशब्देष्वित्यर्थः । चकारान्तेभ्यः प्रभृति थकारान्तपर्यन्ताः शब्दाः । **प्राग्व**दिति प्रायः पुंलिङ्गवत् ज्ञेया इत्यर्थः । ततः परं एव विशेषस्याभिधा-स्यमानत्वात् **तथाहि** ऋच्वाच्वच्शुच्प्रभृतयश्चकारान्ताः शब्दाः सुवाच्शब्दवत् ज्ञेयाः । यद्यपि सुवाच्शब्दो विशेष्यलिङ्गत्वात्त्रिष्वपि लिङ्गेषु सम्भवति तथापि रूपपद्धतिदर्शनार्थं मुख्यतया पुंलिङ्गे दर्शित इति तस्यातिदेशः क्रियते । एवं पापमुच्प्रभृतयश्च**कारान्ताः** । देवेज् तीर्थसृज् कंसपरिमृज् गुणराज् विभ्राज् धानाभृज् परिवृज् युज् प्रभृतयो **जकारान्ताः**, भूभृत्प्रभृतयस्**तकारान्ता**, दधिमथ्-प्रमुखाः **थकारान्ताश्च** क्विबन्ताः त्रिष्वपि लिङ्गेषु भवन्ति । **एवं** प्रियमरुत्प्रभृतयः समासेन गौणीकृताः पुंलिङ्गा अपि स्त्रीलिङ्गे भवन्ति । **परमेषां** पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गयो रूपेषु न कश्चिद्विशेष इति **सुष्ठूक्तं** चकारा-न्तादयः प्राग्वदिति । प्रत्यच्प्राच्प्रभृतीनामचन्तानां च स्त्रियां "अच" इति ङीप्रत्यये पूर्वोक्तरीत्या प्रतीची इत्यादि रूपाणि स्युः । तथा ऋकारानुबन्ध पचत् भवत् गोमत् प्रभृतीनां च तकारान्तानां स्त्रीलिङ्गे "अधातूदृदितः" (२।४।२) इति ङीप्रत्ययागमे महती पचती भवती गोमती इत्यादीनि रूपाणि स्युस्तेषां नदीशब्दवद्रूपपद्धतिरिति नैतेषामत्राधिकार इति **द**कारान्तेभ्यः **प्रभृ**त्येवात्र शब्दा अधिक्रि-यन्ते इत्यत आह त्यदादीनामिति त्यद् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

आत् ॥ १ ॥ [सि० २।४।१८]

अकारान्तान्नाम्नः स्त्रियामाप् स्यात् । "तः सौ सः" स्या । त्ये । त्याः । सर्वावत् । सा । ते । ताः । या । ये । याः । एषा । एते । एताः । एताम् । एते । एताः । एतया । एतयोः २ । अन्वादेशे । एनाम् । एने । एनाः । एनया । एनयोः २ । पकारान्तो बहुवचनान्तोऽप्शब्दः ॥१॥

आत् । अ ५-१ "ङेङस्यो०" "समानानां०" आत् । एकपदमिदं सूत्रम् । आप्प्रत्यये पकारोऽनुबन्धः शेषं स्पष्टम् । "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" इत्यकि त्यकद् १-१ इति स्थिते "**आद्वेरः**" इत्यादि प्रक्रिया । त्यका इति जाते "तः सौ सः" स्यका इति । ततश्च "अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्" इत्याप आकारस्य इत्वे स्यिका त्यिके त्यिका इत्यादि । एवं तद् यद् शब्दावपि । केवलमकि "अस्यायत्तदि"ति सूत्रे यत्तद्वर्जनादनयोराप इत्वं न स्यात्ततः यका यके यकाः, सका तके तकाः इत्यादि । एतच्छब्दस्य अन्वादेशे द्वितीयावचनत्रये टायामोसुद्वये च एनदादेशे "आद्वेरः" "लुगस्या०" "लोकात्" "आत्" "समानानां०" एना इति सिद्धं शेषं कण्ठ्यम् । **अन्वादेशश्चैवम्**–आगता एषा अथो एनां पश्य, एवमेने एनाः । एतया दिनमधीतमथो एनया रात्रिरप्यधीता । एतयोः शोभनं शीलम् अथो एनयोः प्रशस्तं रूपम् । एतयोर्मौक्तिकं तिलकम् अथो एनयोस्सौवर्णं कुण्डलमिति । **अन्वादेशाभावे तु एतामित्यादि** । **वृत्त्यन्ते तु अन्वादेशे सत्यपि एनदादेशो न भवति** परमा चासौ एषा च परमैषा आगता परमैषा अथो परमैतां पश्येत्यादि । **एतद्**शब्दस्य अक्प्रत्यये एतकद् इति स्थिते "आद्वेरः" इत्यादि । ततः "तः सौ सः "नाम्यन्तस्था०" इति षत्वे "द्वयेषसूत्रपुत्रवृन्दारकस्य" इति वा आप इत्वे एषिका एषका एतिके एतिकाः इत्यादि, इत्युक्ता **दकारान्ताः । धकारान्तानां** धर्मबुध्प्रभृतीनां क्विबन्तानां पुंस्त्रिलिङ्गयोर्न विशेषः । **नकारान्तानां** च राजन्प्रभृतीनां स्त्रीत्वे "स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः" इति ङीप्रत्यये "अनोऽस्य०" इत्यल्लोपे राज्ञी इत्यादि । बहुव्रीहिसमासे च "**अनो वा**"(२।४।११)अन्नन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । बहवो राजानो यस्यां नगर्यां सा बहुराज्ञी पक्षे "**ताभ्यां वाप् डित्**" (२।४।१५) मन्नन्तान्नाम्नोऽन्नन्ताच्च बहुव्रीहेः स्त्रियामाप् वा स्यात् स च डित् । ततो "डित्यन्त्य०" बहुराजा नगरी । पक्षे उभयाभावे "नि दीर्घः" इति दीर्घे बहुराज्ञी नगरी । एवं बहुराज्यौ बहुराजे बहुराजानौ नगर्यौ । बहुराज्यः बहुराजाः बहुराजानः । सप्तम्येकवचने बहुराज्यां बहुराजायाम् । नकारान्तपक्षे "ईङौ वा" इति वाऽकारलोपे बहुराज्ञि बहुराजनि इति रूपचतुष्टयम् । अन्यत्र सर्वत्र रूपत्रयम् । सम्बोधनेऽपि हे बहुराज्ञि हे बहुराजे हे बहुराजन् नगरी । एवं रूपत्रयमिति सप्तषष्टिरूपाणि स्युः । एवं "**दाम्नः**" (२।४।१०) सङ्ख्यादेर्दामन्शब्दान्तान्नाम्नो बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । द्विदाम्नी, त्रिदाम्नी । सङ्ख्यादेरित्येव उद्दामानं उद्दामां उद्दाम्नीं वडवां पश्य "अनो वा" इति ङीविकल्पस्यापवादो योगः । तथा "**नाम्नि**" (२।४।१२) अन्नन्ताद्बहुव्रीहेर्नाम्नि नित्यं ङीः । अधिराज्ञी सुराज्ञी नाम ग्रामः तथा "**मनः**" (२।४।१४) मन्नन्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्न भवति सीमा सीमानौ पामा पामानौ "अनिनस्मन् ग्रहणान्यन्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" तेन महिमानमतिक्रान्तातिमहिमेत्यादावपि ङीप्रतिषेधो भवति । बहुव्रीहेरिति निवृत्तं योगविभागात् । तथा "**नोपान्त्यवतः**" (२।४।१३) यस्योपान्त्यलुग् नास्ति तस्मादन्नन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्न स्यात् । सुपर्वा, प्रिययज्वा प्रियात्मा पुंल्लिङ्गवत् । इन्नन्तानां "स्त्रियां नृतो०" इति ङ्यां दण्डिनी वचस्विनी इत्यादि । **वृत्रहन्**शब्दस्य वृत्रघ्ना भार्या "धवाद्योगादपालकान्तात्" इति ङ्यां वृत्रघ्नी एवं पूष्णी अर्यम्णी । यदा प्रियवृत्रहा प्रियपूषा प्रियार्यमा इति बहुव्रीहिः क्रियते तदा बहुराजन्वत् सप्तषष्टिः सप्तषष्टिः रूपाणि स्युः । **श्वन्**शब्दस्य "जातेर-

यान्तनित्यस्त्रीशूद्रात्" इति ङ्यां युवन्शब्दस्य "स्त्रियां नृतो०" इति ङ्यां मघवन्शब्दस्य "धवाद्योगात्०" इति ङ्यां "श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुट्स्वरे व उः" इति वकारस्य उत्वे शुनी प्रियूनी मघोनी इत्यादि । पथिन्मथिन्ऋभुक्षिन्शब्दानां बहुव्रीह्यादिना गौणत्वे सु शोभनः पन्था मन्था वा यस्यां सा इत्यत्र "स्त्रियां नृतो०" इति ङीप्रत्यये "इन् ङीस्वरे लुक्" इति इन्लोपे सुपथी सुमथी स्त्री । अनृभुक्षी सेनेत्यादि । प्रियाः पञ्च यस्याः सा **प्रियपञ्चा** इत्यत्र प्राग्वत् सप्तषष्टि रूपाणि स्युः । प्रिया अष्टौ यस्याः सा प्रियाष्टा इत्यत्र स्त्रीलिङ्गे बहुव्रीहौ प्रियाष्टन्शब्दस्य "अनो वा" इति ङीप्रत्यये "अनोऽस्य" इत्यल्लोपे "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति णत्वे **प्रियाष्ट्णी**शब्दस्तस्य चतुर्विंशति रूपाणि नदीवत् ज्ञेयानि । तथा "ताभ्यां वाप् डित्" इति डाबागमे **प्रियाष्टा**शब्दः तस्य गङ्गाशब्दवच्चतुर्विंशति रूपाणि । उभयाभावे **नो**ऽन्तस्य **प्रियाष्टन्**शब्दस्य "वाष्टन आः स्यादौ" नकारस्य आत्वे पुंल्लिङ्गोक्ताष्टाशब्दवच्चतुर्विंशतिरूपाणि । **आत्वाभावे** नान्तस्य प्रियाष्टन्शब्दस्य सप्तम्येकवचने "ईङौ वा" इति रूपद्वयमिति पञ्चविंशतिरूपाणि । एवं सर्वाणि सप्तनवतिःरूपाणि स्युरिति ज्ञेयम् । इयं चात्रानुक्ता सर्वापि प्रक्रिया प्रायः पूर्वोक्तैरेव सूत्रैः सिद्ध्यतीति चकारान्तादयः प्राग्वत् इत्यनेनैव वचनेन "मण्डूकप्लुति"न्यायेन सङ्गृहीता बोद्धव्या इत्यभिप्रेत्य **पकारान्तान्**शब्दानाह पकारान्तो बहुवचनान्तोऽप् शब्द इति—"मघा अप् कृत्तिका बहौ" इति लिङ्गानुशासनवचनात् बहुवचनान्तत्वं तु मुख्यत्व एव, गौणत्वे तु सर्वाण्यपि वचनानि भवन्ति इति दर्शयिष्यते । अप् १-३ इति स्थिते ॥ १ ॥ सूत्रम्—

अपः ॥ २ ॥ [सि० १।४।८८]

अपः स्वरस्य शेषे घुटि दीर्घः स्यात् । आपः । शसि । अपः ॥ २ ॥

अपः । अप् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" एकपदमिदं० । प्रथमाबहुवचनस्य घुट्त्वादनेन दीर्घे आपः । द्वितीयाबहुवचनस्य घुट्त्वाभावाद्दीर्घाभावस्तथैवाह—शसि अपः इति ॥ २ ॥ अप् ३-३ इति स्थिते सूत्रम्—

अपोऽद्भे ॥ ३ ॥ [सि० २।१।४]

भादौ स्यादौ परे अपोऽद् स्यात् । अद्भिः । अद्भ्यः २ । अपाम् । अप्सु । एवं स्वाप् । स्वापौ । स्वद्भ्याम् । ककुभशब्दस्तुण्डिभ्शब्दवत् । इदम्शब्दस्य "अयमियं पुंस्त्रियोः सौ" इयम् । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । "टौस्यनः" । अनया । "अनक्" । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः २ । अनयोः २ । आसाम् । अस्याम् । आसु । रेफान्तश्चतुर्शब्दः ॥ ३ ॥

अपो० । अप् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । अद् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । भ ७-१ "अवर्णस्ये०" मध्ये "अतोऽति रो रुः" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । त्रिपदमिदं० । अनेन अपोऽदादेशे अद्भिः । एवं चतुर्थीपञ्चमीबहुवचनयोः भ्यसोरपि । षष्ठीसप्तमीबहुवचनयोस्तु "लोकात्" अपाम् अप्सु । **गौणत्वे** रूपाण्युच्यन्ते—सु शोभना आपो यस्य ह्रदस्य ययोर्येषां वा स स्वाप् स्वापौ स्वापः "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" (७।३।७६) इति प्राप्तोऽत्समासान्तः "पूजास्वतेः प्राक् टात्" (७।३।७२) इत्यनेन निषिध्यते । स्वापं स्वापौ स्वपः स्वपा स्वद्भ्याम् स्वद्भिः स्वपे स्वपः २ स्वपोः २ स्वपाम् स्वपि स्वप्सु । शेषे घुटीत्युक्तत्वात् सम्बोधने सौ दीर्घो न भवति हे स्वप् हे स्वापौ हे स्वापः । नपुंसकलिङ्गे स्वप् स्वपी, शौ "धुटां प्राक्" (१।४।६६) इति नागमे **"नि वा"** (१।४।८९) अपः स्वरस्य नागमे सति घुटि परे दीर्घो वा स्यात् । स्वाम्पि स्वम्पि अत्याम्पि अत्यम्पि । **समासान्तविधेरनित्यत्वात्** बह्वाम्पि बह्वम्पि

सरांसि सन्ति पश्य वा। शेषं पुंल्लिङ्गवत्। **मकारान्ताः स्पष्टा इति मकारान्तमिदम्शब्दमाह**—तस्य प्रथमैकवचने सौ "अयमियं पुंस्त्रियोः सौ" इति इयम् आदेशे "दीर्घङ्याब्०" इति सिलोपे इयम्। इदम् १-२ इति स्थिते "आद्वेरः" "लुगस्या०" "दो मः स्यादौ" इम इति जाते "आत्" आबागमे इमा १-२ "औता" इति औता सह एत्वे इमे। इमा १-३ "समानानां०" "सो रुः" "रः पदान्ते०" इमाः। इमा २-१ "समानादमोऽतः" इत्यकारलोपे इमाम्। इमा २-२ "औता" इमे। इमा २-३ "शसोऽता०" शस् सम्बन्धिना अता सह दीर्घत्वमेव न तु नत्वं पुंस्त्वाभावात्—इमाः। इदम् ३-१ "टौस्यनः" इति इदमोऽनादेशे "आत्" इत्याप् "समानानां०" "एदैतो०" अनया। इदम् ३-२ इदम् ३-३ "अनक्" इति अकारादेशे "आत्" इत्यापि आभ्याम् आभिः। इदम् ४-१ इति स्थिते इमा इति जाते "सर्वादेर्डस्पूर्वाः" इति डस्पूर्वके यै आदेशे येन न व्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यादिति ङसान्तरितेऽपि यैरूपे व्यञ्जनादौ परे इदमोऽकारादेशो भवति ततः आ अस् यै इति स्थिते "ङित्यन्त्यस्वरादेः" इति आकारलोपे विभक्त्यंश एवावतिष्ठते शब्दांशस्तु लुप्यते अस्यै इति। एवं इदम् ५-१ अस्या इति। इदम् ६-२ "टौस्यनः" इत्यनादेशे आबागमे "टौस्येत्" इत्येत्वेऽयादेशे अनयोः। इदम् ६-३ इमा इति जाते "अवर्णस्यामः साम्" इत्यामः सामादेशे ततो "ऽनक्" इदम्शब्दावयवस्य इम् इत्येतस्य अकारादेशे आसाम्। इदम् ७-१ अस्याम्। इदम् ७-३ इमासु इति जाते "अनक्" इति इमोऽकारादेशे आसु इति। **तथा** अन्वादेशे द्वितीयाटौसि परे साकोऽपि निरकोप्येनदादेशो भवति। **तथा** व्यञ्जनादौ स्यादौ परे साकोऽपि निरकोप्यदादेशो भवति। **एतच्च सर्वं रूपदर्शनेनैव व्यक्तीक्रियते।** इदम् १-१ "स्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽक्" इत्यक्प्रत्यये इदकम् इति जाते "आद्वेरः" मस्य अत्वे "लुगस्या०" "दो मः स्यादौ" "आत्" इत्याप् इमका इति जाते *"अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्" यदादिवर्जस्यातोऽनित्क्याप्परे इः स्यात् इमिका। ततः साकोऽपि इयम् आदेशः। अपरे तु इयमादेशे सति अकमिच्छन्ति इयकम् इमिके इमिका इमिकाम्। **अन्वादेशे** एनाम् इमिके एने इमिकाः एनाः इमिकया एनया अनया। **सा**कोप्यदादेशः—इमिकाभ्याम् आभ्याम् २। इमिकस्यै अस्यै। इमिकस्याः २ अस्याः २। इमिकासाम् आसाम्। इमिकस्याम् अस्याम्। इमिकयोः एनयोः अनयोः। इमिकासु आसु। **किम्**शब्दस्य "किमः कस्तसादौ च" इति कत्वे आपि सर्वाशब्दवत् प्रक्रिया। अथ क्रमप्राप्तं **रेफान्त**शब्दमाह—रेफान्तश्चतुरशब्द इति ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

त्रिचतुरस्तिसृचतसृ स्यादौ ॥ ४ ॥ [सि० २।१।१]

स्त्रेऽस्त्रे वा स्वरादौ स्यादौ परे स्त्रीलिङ्गयोस्त्रिचतुरोस्तिसृ चतसृ स्याताम् ॥ ४ ॥

त्रिचतुर०। त्रिश्च चतुश्च त्रिचतुर्—तस्य त्रिचतुर् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" तिसृश्च चतसृश्च तिसृचतसृ १-१ "अनतो लुप्" सिलोपः। सिरादिर्यस्य स स्यादिः तस्मिन् स्यादि ७-१ "ङिडौं" "ङित्यन्त्य०"। मध्ये "चटते०"। त्रिपदमिदं सूत्रम्। अनेन चतुर्शब्दस्य चतसृ आदेशे चतसृ १-३ इति स्थिते ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

ऋतो रः स्वरेऽनि ॥ ५ ॥ [सि० २।१।२]

तिसृचतसृशब्दयोर्ऋतः स्त्रेऽस्त्रे वा स्वरादौ स्यादौ परे रः स्यात् नविषयादन्यत्र। चतस्रः २। चतसृभिः। चतसृभ्यः २। "दीर्घो नाम्य०" इत्यत्र तिसृचतसृवर्जनात् चतसृणाम्। चतसृषु। हे चतस्रः। एवं तिस्रः २। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। तिसृणाम्। तिसृषु। हे तिस्रः। स्त्रेऽस्त्रे इति

प्रियतिसा प्रियचतसा ना । प्रियतिस्रौ प्रियचतस्रौ । गिर्शब्दस्य "पदान्ते" इति दीर्घे । गीः । गिरौ २ । गीर्भ्याम् ३ । "अरोः सुपि रः" गीर्षु । हे गीः ॥ ५ ॥

ऋतो० । ऋत् ६-१ "लोकात्"। "सो रुः" र १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । स्वर ७-१ "अवर्णस्ये०"। न न् अन् तस्मिन् अन् ७-१ "लोकात्" । मध्ये "घोषवति" "एदोतः पदान्ते०"। चतुष्पदमिदं सूत्रम् । "शसोऽता सश्च नः पुंसि" इति दीर्घत्वम्, "अडौं च" इत्यरादेशः, "ऋतो डुर्" इति डुरादेशश्च अनेन सूत्रेण बाध्यन्ते । सूत्रद्वयेऽपि स्वेऽस्वे वा इत्यनुवर्त्तनीयम् । प्रियास्तिस्रश्चतस्रो वा यस्य स प्रियतिसा प्रियचतसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्रः २ हे प्रियतिस्रः । प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्य तत् प्रियतिसृ कुलम् । नविषयादन्यत्र इति नविषये तु ऋतो रत्वं न भवति यथा तिसृणाम् चतसृणाम् प्रियतिसृणि प्रियचतसृणि । एषु विभक्त्याश्रयत्वेन बहिरङ्गलक्षणतिसृचतस्रादेशस्यासिद्धत्वात् समासान्तः कच् न भवति, परत्वाच्च तिसृचतस्रादेशे पश्चान्नागमो नामादेशश्च । प्रियत्रिकः प्रियचतुष्कः तिसृणां प्रियः त्रिप्रियश्चतुःप्रियः प्रियत्रि कुलं प्रियचतुः कुलमित्यादौ तु स्यादेर्लुप्तत्वादादेशो न भवति । प्रियतिसृ कुलं प्रियचतसृ कुलमित्यत्र तु "नामिनो लुग् वा" इति सेर्लुकि सति स्थानिवद्भावाद्भवति—यथा हे त्रपो । एवं हे प्रियत्रि कुलम्, हे प्रियतिसृ कुलम् । तथा प्रियास्त्रयश्चत्वारो प्रियाणि त्रीणि चत्वारि वा यस्या ययोर्यासां वा प्रियत्रिः प्रियत्री प्रियत्रयः, प्रियचत्वाः प्रियचत्वारौ प्रियचत्वारः स्त्रियः । अत्र समास एव स्त्रियां न तु त्रिचतुरौ तेनादेशौ न भवतः । प्रक्रियालाघवाय समानप्रक्रियं त्रिशब्दमत्रैव निर्दिशति । एवं तिस्र इत्यादि ॥ ५ ॥ **रेफान्तो** गिर्शब्दः स्पष्ट एव । **वकारान्तं** दिव्शब्दमाह—दिव् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

दिव औः सौ ॥ ६ ॥ [सि० २।१।११७]

द्यौः । दिवौ ॥ ६ ॥

दिव् ६-१ "लोकात्" "सो रुः"। औ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । सि ७-१ "ङिडौं" "डित्यन्त्य०" । मध्ये "रोर्यः" "स्वरे वा" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति अनेन वस्य औत्वे "इवर्णादे०" इति यत्वे द्यौः दिवौ दिवः इत्यादि ॥ ६ ॥ दिव् भ्याम् इति स्थिते सूत्रम्—

उः पदान्तेऽनूत् ॥ ७ ॥ [सि० २।१।११८]

पदान्ते दिव उः स्यात् स च दीर्घो न स्यात् । द्युभ्याम् । दिवाम् द्युषु । हे द्यौः । "ऋत्विग्०" इत्यादिना गत्वे दिग् दिक् । दिशौ २ । दिग्भ्याम् ३ । हे दिग् हे दिक् । आशिस्शब्दस्य "सो रुः" इति रुत्वे "पदान्ते" इति दीर्घे आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । आशीर्षु । हे आशीः । "अदसो दः सेस्तु डौ" । असौ । द्विवचनादौ अत्वे मत्वे । *पदान्ते नहो धो वाच्यः । उपानत् उपानद् । उपानहौ । उपानद्भ्याम् ३ । उपानत्सु । हे उपानद् हे उपानत् ॥ ७ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां व्यञ्जनान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

उ० । उ १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । पदान्त ७-१ "अवर्णस्ये०" न ऊत् अनूत् । अनूत् १-१ "दीर्घ०"। त्रिपदमिदं० । अनेन वकारस्य उत्वे द्युभ्याम् ३ । इत्यादि अनूदिति तस्य च उकारस्य दीर्घत्वं न स्यात्, यथा दिव् १-१ अद्यौः द्यौर्भवति इति वाक्ये "कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां०" (७।२।१२६) इति च्विः "अप्रयोगीत्" च्विलोपः "अव्ययस्य" । प्रस्तुतसूत्रेण वकारस्य उत्वे द्यु भवति । अत्र "दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च" इति दीर्घत्वं न भवति । **शकारान्तो विश्शब्दः स्पष्टः ।**

एवं दृश्प्रभृतयोऽपि । **सकारान्तानाह**–आशिस्शब्दस्येति आङ्पूर्वक–'शासूक अनुशिष्टौ' आशासनं आशीः *"क्रुत्सम्पदादिभ्यः क्विप्" आङः काविल्यनुवर्त्तते, आङः परस्य शास आसः कावेव इस् स्यात् ततश्च आशिस् इति सिद्धम्, शेषं स्पष्टम् । आशीष्षु इति सप्तमीबहुवचने रूपत्रयम् । दोस्शब्दवत् अदस्शब्दः स्पष्ट एव । **हकारान्तमाह**—उपपूर्वक 'नहींच् बन्धने' नह्धातुः उपनह्यतीति उपानद् क्विप् "गतिकारकस्य नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनौ क्वौ" (३।२।८५) इति दीर्घः उपानद् १-१ इति स्थिते "**नहाहोर्धतौ**" इति सूत्रस्य सारभूतं वक्तव्यमाह–पदान्ते नहो धो वाच्य इति शेषं व्यक्तम् ॥ ७ ॥

यां शिष्योद्भुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ पूर्त्तिमशिश्रियन् खलु रवाः द्राग् व्यञ्जनान्ताः स्त्रियाम् ॥ १ ॥

अथ व्यञ्जनान्तानपुंसकलिङ्गाः

अथेति प्राग्वत् । व्यञ्जनक्रमेण व्यञ्जनान्ता नपुंसकलिङ्गाः शब्दाः प्रदर्श्यन्ते इति वाक्यशेषः । तत्र

चकारान्तः प्रत्यच्शब्दः । प्रत्यग्, प्रत्यक् । "अच्च प्राग् दीर्घश्च" इति प्रतीची । प्रत्यञ्चि । सम्यक् सम्यग् । समीची । सम्यञ्चि । शेषं पुंवत् । जकारान्तोऽसृज्शब्दः । असृग् असृक्, २ । असृजी २ । असृञ्जि २ । शसादौ वाऽसन्नादेशे असानि । अस्ना । असृजा । असभ्याम् । असृग्भ्याम् । हे असृग् हे असृक् । जगत् जगद् । जगती । जगन्ति । महत् । महती । "न्स्महतो" इति दीर्घे महान्ति ॥ *यकृत्शकृतोः शसादौ वा यकन्शकन्नादेशे यक्ना यकृता । यकभ्याम् यकृद्भ्याम् । शक्ना शकृता । शकभ्याम् शकृद्भ्याम् । त्यदादीनां "अनतो लुप्" इति सिलुप् त्यद् । द्विवचनादौ अत्वे त्ये । त्यानि । सर्ववत् । एवं तद्यदादयः । अहन्शब्दस्य "अह्नः" इति रुत्वे । अहः २ । "ईङौ वा" । अह्नी अहनी, २ । अह्नि अहनि । अह्ना । अहोभ्याम् ३ । अहस्सु । हे अहः । ब्रह्मन्शब्दस्य "नाम्नो नोऽनह्नः" इति नलुपि ब्रह्म । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि । ब्रह्मणा ।

चकारान्तः प्रत्यच्शब्द इति प्रत्यञ्चतीति प्रत्यङ्क् विशेष्यवशान्नपुंसकत्वं प्रत्यच् १-१ इति स्थिते "अनतो लुप्" इति सेर्लुप् "चजः कगम्" इति चस्य कत्वे "धुटस्तृतीयः" इति कस्य गत्वे "विरामे वा" इति पुनः कत्वे प्रत्यग्, प्रत्यक् इति । द्विवचने "औरीः" इति ईकारे जाते "अच्च प्राग् दीर्घश्च" इति अचश्चादेशे पूर्वस्वरस्य दीर्घे च प्रतीची । एवं द्वितीयावचनत्रयेऽपि । **शेषं** पुंवदिति तृतीयादौ पुंक्लीबयोर्विशेषाभावात् प्रतीचा इत्यादि । सममञ्चतीति वाक्ये "सहसमोः सध्रिसमी" इति समी आदेशे "अच्च प्राग् दीर्घश्च" इति समीची इति । एवं सध्रीची । सम्यञ्चि सध्र्यञ्चि । तृतीयादौ समीचा सध्रीचा इत्यादि पुंवत् । गामञ्चति गच्छतीति विग्रहे "स्वरे वाऽनक्षे" इत्यवादेशे गवाक् गवाग् पक्षे "वात्यऽसन्धिः" इत्यसन्धौ गो अक् २ । "एदोतः०" इत्यकारलोपे गोक् २ । पूजायां नलोपाभावे "युजञ्चक्रुञ्चो०" इति नस्य ङत्वे गवाङ् गो अङ् गोङ् । **अम्यपि एतान्येव नव** । "औरीः" इति ईत्वे अचश्चादेशे गोची, पूजायां गवाञ्ची गो अञ्ची गोञ्ची । जसशसोः शौ घुट्त्वान्नोऽन्ते गतिपूजयोस्त्रीण्येव गवाञ्चि गोअञ्चि गोञ्चि । गोचा गवाञ्चा गोअञ्चा गोञ्चा । गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम् गोअङ्भ्याम् गोङ्भ्याम् इत्यादि । सुपि ङान्तानां पक्षे "ङ्णोः कटा०" इति कागमे गवाङ्क्षु ३ । गवाङ्षु ३ गवाक्षु ३ । **उक्तं च** "गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः । असन्ध्यवादेशलोपाभ्यां(?)

वादेशैः शतमेकं नवाधिकम्" ॥ १ ॥ **अन्यत्राप्युक्तम्**–"जायन्ते नव सौ तथासि च नव भ्यांभिस्भ्यसां सङ्गमे षट्सङ्ख्यानि षडेव सुप्यथ शसि, त्रीण्येव तद्वज्जसि । चत्वार्यन्यवचस्सु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि भोश्चेदस्ति प्रतिभा वदन्तु भवतां षाण्मासिकोऽत्रावधिः" ॥१॥ "सुक्ष्मेक्षिकया द्वित्वानुनासिकविकल्पनात् । रूपाणि भेषुसङ्ख्यानि गवाक्शब्दे नपुंसके" ॥ १ ॥ सौ नव, **अ**नाम्यन्तस्य "अदीर्घाद्विराम०" इति द्वित्वे अष्टादश । औ परे चतुर्षु पूजार्थानां त्रयाणां व्द्वित्वे सप्त अनुनासिकस्तु नास्ति "अइउवर्णस्यान्ते०" इत्यत्र अनीदादेरित्युक्तत्वात् । जसि ञ्द्वित्वस्यानुनासिकस्य विकल्पाद्द्वादश, सङ्कलनया ३७ । एवं द्वितीयायामपि ३७ । टायां १४ । भ्यामि ४८ । भात्पूर्वस्य यमयोश्च(?) द्वित्वात् भिसि २४ । ङयि ७, अनुनासिकस्तु नास्ति अ इ उवर्णाभावात् । भ्यसि ४८ भ्याम्वत् । ङसिङसादिपञ्चके प्रत्येकं १४ । सुपि गत्यर्थे त्रयाणां ककारषकारयोर्द्वित्वे नकारस्यानुनासिके च चतुर्विंशतिः । एवं कुक्पक्षे "शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा" इति कस्य खत्वे षण्णां ङषयोर्द्वित्वेऽनुनासिके चाष्टाचत्वारिंशत् । कुगभावे त्रयाणां ङकारद्वित्वेऽनुनासिके च १२ एवं ८४ । एवं सि १८ औ ७ जस् १२ । अम् १८ औ ७ शस् १२ । टा १४ भ्याम् ४८ भिस् २४ । ङे ७ भ्यां ४८ भ्यस् ४८ । ङसि १४ भ्यां ४८ भ्यस् ४८ । ङस् १४ ओस् १४ आम् १४ । ङि १४ ओस् १४ सुप् ८४ । एवं ५२७ सप्तविंशत्यधिका पञ्चशती रूपाणाम् । **जकारान्तः** असृज्शब्दः स्पष्टः । असृञ्जि इति "धुटां प्राक्" इति नोऽन्ते "तवर्गस्य श्चवर्ग०" इति नस्य ञत्वे रूपम् । असानीति "नि दीर्घः" । असृग् रुधिरमिति । 'गम्लं गतौ' जंगम्यते इति "दिद्युद्दृज्जगज्जुहू०" इत्यादि क्विबन्तो निपातः **जगत्** । प्रक्रिया स्पष्टा । **महत्**शब्दोऽपि तथैव । **यकृत्** 'उदरान्तर्गतः शारीरः प्रत्यङ्गविशेषः' । **शकृत्** पुरीषम् । रूपसिद्धिः स्फुटैव ।

त्यदादिषु सेर्लुपि लुप्तनिमित्तकं कार्यं न स्यादिति "आद्वेरः" इत्यादि न भवति । एतच्छब्दस्य द्वितीयाटौस्सु एनदादेशे एनद् एने एनानि । शेषं पुंल्लिङ्गवत् । **अहन्**शब्दे "ईङौ वा" इति "औरीः" इति सूत्रनिष्पन्ने ईकारे सप्तम्येकवचने च "अनोऽस्य" लुग् वा स्यादिति भावः । अहस्सु इत्यत्र "अह्नः" इति सूत्रेण नकारस्य रुत्वे "शषसे शषसं वा" इति रोः सत्वमिति । **स**मासान्तस्याहन्शब्दस्य सप्तम्येकवचनेऽयं विशेषः **"सङ्ख्यासायवेरह्नस्याहन् ङौ वा"** (१।४।५०) सङ्ख्यावाचिभ्यः सायविभ्यां च परस्याह्नशब्दस्य ङौ परे अहन् आदेशः स्यात् । द्वयोरह्नोर्भवो "भवे" इत्यण्विषये "सर्वांशसंख्याव्ययात्" इत्यट् अह्नादेशश्च । "द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः" इत्यणो लुपि व्यह्नस्तस्मिन् व्यह्नि, व्यहनि व्यह्ने । एवं त्र्यहनि ३ । तावदहनि ३ । यावदहनि ३ । सायमह्नः सायाह्नः अत एव निर्देशात् सायम्शब्दस्य मकारलोपः, साय इत्यकारान्तो वा । सायाहनि ३ । विगतमह्नो व्यह्नः । व्यहनि ३ । सङ्ख्यासायवेरिति किम्? मध्याह्ने । अह्नस्येति किम्? द्वयोरह्नो समाहारः व्यह्नस्तस्मिन् व्यह्ने । **नान्तानां** नपुंसकलिङ्गानां शब्दानां **स**म्बोधने **वि**शेषमाह सूत्रम्—

क्लीबे वा ॥ १ ॥ [सि० २।१।९३]

आमन्त्र्यस्य नाम्नो नस्य क्लीबे लुग् वा स्यात् । हे ब्रह्मन् हे ब्रह्म । इदम् । इमे । इमानि । किम् । के । कानि । "चतुरः शौ" । चत्वारि । पयः । पयसी । पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । हे पयः । एवं वचःप्रभृतयः । अदः । द्विवचने अमे इति जाते "मादुवर्णोऽनु" अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् । काष्ठतड् काष्ठतट् । काष्ठतक्षी । काष्ठतङ्क्षि ॥ १ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां व्यञ्जनान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

卐 卐 卐 **इति षड्लिङ्गानि समाप्तानि** 卐 卐 卐

क्लीबे० । क्लीब ७-१ ''अवर्णस्ये०'' । वा १-१ ''अव्ययस्य'' । द्विपदमिदं सूत्रम् । शेषं प्रकटम् । **चतुर्-**शब्दे शेषेघुंट्संज्ञत्वात् ''वाः शेषे'' उकारस्य वा आदेशे चत्वारि । गौणत्वे प्रियचतुः कुलम् २ । प्रियचतुरी २ । प्रियचत्वारि २ । हे प्रियचतुः कुलम् । **पयांसी**त्यत्र ''न्स्महतोः'' इति दीर्घे ''शिड्हेऽनुस्वारः'' । **अदस्**शब्दः कण्ठ्यः । शोभना अनड्वाहो यस्मिन् कुले तत् ''स्रंसध्वंस्०'' इत्यादिना दत्वे **स्वनडुत्** कुलम् स्वनडुही ''वाः शेषे'' स्वनड्वांहि । हे स्वनडुत् । काष्ठं तक्ष्णोतीति काष्ठतक्ष् क्विप् ''अप्रयोगीत्'' १-१ ''दीर्घङ्याब्०'' ''संयोगस्यादौ०'' इति कलुक् ''धुटस्तृतीयः'' इति षस्य डः काष्ठतड् २ इत्यादि । काष्ठं तक्ष्णीति काष्ठतक्ष् १-३ ''नपुंसकस्य शिः'' धुटां प्राक्'' इत्यत्र बहुवचनेन स्वरात्परा या धुड्-जातिस्तदन्तस्य धुटि परे धुटः प्राक् नोन्तः स्यादित्यर्थो लभ्यते । ततो धुट् द्वयान्तस्यापि नोन्तो भवति । ततो ''म्नां धुट्०'' इति नस्य ङः । **रेफान्तं वार्शब्दं** केचिन्नपुंसकलिङ्गमिच्छन्ति वार् २ । वारी २ । वारि २ । वारा वार्भ्यामित्यादि । **श्रीहेमसूरयस्तु** लिङ्गानुशासने ''वार्छर्दिर्दरत्पामदृश-दृद्दशोनौ''रितिवचनात् वार्शब्दं स्त्रीलिङ्गमाहुः वाः वारौ वार इत्यादि ॥ १ ॥

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ क्लैब्ययुजः समाप्तिमगमत् सद्व्यञ्जनान्ताः स्वाः ॥ १ ॥



अथ युष्मदस्मदोः प्रक्रिया

उक्तव्यञ्जनान्तशब्देभ्यो वैलक्षण्यात् युष्मदस्मच्छब्दौ पृथक् निर्दिशति । तदेव वैलक्षण्यमाह–

तयोश्च त्रिष्वपि लिङ्गेषु समानं रूपमलिङ्गत्वात् ।

तयोश्चेति–त्रिष्वपि लिङ्गेषु समानरूपत्वे हेतुमाह–अलिङ्गत्वादिति । अलिङ्गत्वं च पुंसि स्त्रियां क्लीबे त्वम् अहम् इत्यादि समानरूपप्रयोगात् **"नन्तासङ्ख्या डतिर्युष्मदस्मच स्युरलिङ्गकाः"** इति वचनाच्चेति । युष्मद् १-१ अस्मद् १-१ इति स्थिते सूत्रम्—

त्वमहं सिना प्राक् चाऽकः ॥ १ ॥ [सि० २।१।१२]

सिना सह युष्मदस्मदोस्त्वमहमौ स्याताम्, तौ चाक्प्रसङ्गेऽकः प्रागेव । त्वम् । अहम् । त्वकम् । अहकम् ॥ १ ॥

त्वम्० । त्वम् च अहम् च त्वमहम् "चार्थे द्वन्द्वः" त्वमहम् १-१ "अनतो" लुप् । सि ३-१ "टः पुंसि ना" । प्राक् १-१ "अव्ययस्य" । च १-१ । अक् ५-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । मध्ये "तौ मुमो०" "समानानां०" । एवं पञ्चपदमिदं सूत्रम् । तौ चाकः प्रसङ्गे इति अन्यथा कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा त्वमिति वाक्ये *"युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः" अनयोः सओभादिवर्जस्याद्यन्तयोः स्वरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽक् स्यादिति युष्मद १-१ इत्यत्रान्त्यस्वरात्पूर्वेऽकि युष्मकद् १-१ इति स्थिते 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति साक एव त्वमहमादेशेऽकः श्रवणं न स्यात्ततः पूर्वं त्वमहमादेशे पश्चादकि त्वकम् अहकम् इति । एवं "मन्तस्य युवावौ द्वयोः" एवं "यूयं वयं जसा" "तुभ्यं मह्यं ङया" "तव मम ङसा" एतेष्वपि सूत्रेषु प्राक्चाक इत्यनुवर्त्तनीयमिति ॥ १ ॥ युष्मद् १-२ अस्मद् १-२ इति स्थिते सूत्रम्—

मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २ ॥ [सि० २।१।१०]

द्वित्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तावयवस्य स्यादौ परे युवावौ स्याताम् । युवद् आवद् इति तावद्भवति ॥ २ ॥

मन्त० । म् अन्ते यस्य स मन्तः तस्य मन्त ६-१ "टाङसोरिनस्यौ" । युवश्च आवश्च युवाव १-२ "ऐदौत्सन्ध्यक्षरैः" । द्वि ६-२ "आद्वेरः" "एद्बहुस्भोसि" "एदैतोयाय्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । त्रिपदमिदं सूत्रम् । अनेन युव आव इत्यादेशे "लुगस्या०" अकारलोपे युवद् १-२ आवद् १-२ इति स्थिते ॥ २ ॥ सूत्रम्—

अमौ मः ॥ ३ ॥ [सि० २।१।१६]

युष्मदस्मद्भ्यां परयोरम् औ इत्येतयोर्मः स्यात् ॥ ३ ॥

अमौ० । अम् च औ च अमौ ६-२ सूत्रत्वात् विभक्तिलोपः । म १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अकार उच्चारणार्थः । व्यञ्जनमकाररूप आदेशः । युवद् म् आवद् म् इति स्थिते ॥ ३ ॥ सूत्रम्—

युष्मदस्मदोः ॥ ४ ॥ [सि० २।१।६]

व्यञ्जनादौ स्यादौ परे युष्मदस्मदोराः स्यात् । युवाम् । आवाम् ॥ ४ ॥

युष्म० । युष्मच्च अस्मच्च युष्मदस्मदौ तयोः युष्मदस्मद् ६-२ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०" । एकपदमिदं सूत्रम् । "षष्ठ्यान्त्यस्य" इति दस्य आत्वे "समानानां०" युवाम् आवाम् । **अकि**–युवकाम् आवकाम् ॥ ४ ॥ युष्मद् १-३ अस्मद् १-३ इति स्थिते सूत्रम्—

यूयंवयं जसा ॥ ५ ॥ [सि० २।१।१३]

जसा सह युष्मदस्मदोरेतौ स्याताम् । यूयम् । वयम् ॥ ५ ॥ द्वितीयैकवचने ।

यूयं० । यूयं च वयं च यूयंवयम् १-२ सूत्रत्वात् लोपः । जस् ३-१ "लोकात्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । व्यक्तम् । **अकि**–यूयकम्, वयकम् ॥ ५ ॥ युष्मद् २-१ अस्मद् २-१ इति स्थिते सूत्रम्—

त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ॥ ६ ॥ [सि० २।१।११]

स्यादौ प्रत्ययोत्तरपदयोश्च परयोरेकत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मान्तावयवस्य त्वमौ स्याताम् । "लुगस्यादेत्यपदे" इत्यकारलोपे अमो मत्वे दस्यात्वे च त्वाम् । माम् ॥ युवाम् आवाम् ॥ ६ ॥

त्वमौ० । त्वम् १-२ "ऐदौत्सं०" उत्तरं च तत् पदं च उत्तरपदं प्रत्ययश्च उत्तरपदं च प्रत्ययोत्तरपदं तस्मिन् प्रत्ययोत्तरपद ७-१ "अवर्णस्ये०" । च १-१ "अव्ययस्य" । एक ७-१ "ङेः स्मिन्" । चतुष्पदमिदं सूत्रम् । प्रक्रिया स्पष्टा । **अकि**–त्वकाम् मकाम् युवकाम् आवकाम् ॥ ६ ॥ युष्मद् २-३ अस्मद् २-३ इति स्थिते सूत्रम्—

शसो नः ॥ ७ ॥ [सि० २।१।१७]

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नः स्यात् । युष्मान् । अस्मान् ॥ ७ ॥ टायां त्वमादेशे ।

शसो० । शस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । न १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" मध्ये "घोषवति" "अवर्णस्ये०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । अकार उच्चारणार्थः । व्यञ्जननकाररूप आदेशः । **अकि**–युष्मकान् अस्मकान् ॥ ७ ॥ टायां त्वमादेशे त्वद् ३-१ मद् ३-१ इति स्थिते सूत्रम्—

टाङ्योसि यः ॥ ८ ॥ [सि० २।१।७]

एषु चतुर्षु युष्मदस्मदोर्यः स्यात् । त्वया । मया ॥ ८ ॥ युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः अस्माभिः ।

टाङ्यो० । टा च ङि च ओस् च टाङ्योस् तस्मिन् टाङ्योस् ७-१ "लोकात्" । यः १-१ "सो रुः" "रः पदान्ते०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । **अकि**–त्वयका मयका । "युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः" इति सूत्रे सकारादि ओकारादि भकारादिवर्जनात्, अन्यविभक्तिषु स्याद्यन्तयोर्युष्मदस्मदोरन्त्यस्वरात्पूर्वोऽक् भवति सोभादिषु च परेषु, "त्यादिस्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" इति सूत्रेण युष्मदस्मदोरन्त्यस्वरात्पूर्वोऽक् भवति, ततश्च युष्मकद् अस्मकद् भ्यामिति स्थिते मान्तावयवस्य युवावादेशे "युष्मदस्मदोः" इत्यात्वे युवकाभ्याम् आवकाभ्याम् युष्मकाभिः अस्मकाभिः ॥८॥ युष्मद् ४-१ अस्मद् ४-१ इति स्थिते सूत्रम्—

तुभ्यंमह्यं ङया ॥ ९ ॥ [सि० २।१।१४]

ङया सह युष्मदस्मदोरेतौ स्याताम् । तुभ्यम् मह्यम् ॥ ९ ॥

तुभ्यं० । तुभ्यं च मह्यं च तुभ्यंमह्यम् १-२ सूत्रत्वात् लोपः । ङे ३-१ "एदैतो०" "लोकात्"। द्विपदमिदं सूत्रम् । **अकि**–तुभ्यकम् मह्यकम् । युवकाभ्याम् आवकाभ्याम् ॥ ९ ॥ युष्मद् ४-३ अस्मद् ४-३ इति स्थिते सूत्रम्—

अभ्यं भ्यसः ॥ १० ॥ [सि० २।१।१८]

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य चतुर्थीभ्यसोऽभ्यम् स्यात् । अकारो व्यञ्जनादित्वव्यावृत्त्यर्थस्तेन युष्मदस्मदोरित्यात्वं न भवति ॥ १० ॥

अभ्यं० । अभ्यम् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । भ्यस् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" "रः पदान्ते०"। मध्ये "तौ मुमो०"। द्विपदमिदं सूत्रम् । युष्मद् अस्मद् अभ्यम् इति स्थिते ॥ १० ॥ सूत्रम्—

शेषे लुक् ॥ ११ ॥ [सि० २।१।८]

यस्मिन्नायौ कृतौ ततोऽन्यः शेषस्तस्मिन् स्यादौ परे युष्मदस्मदोर्लुक् स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ॥ ११ ॥

शेषे० । शेष ७-१ "अवर्णस्ये०" । लुक् १-१ "दीर्घङ्याब्०" द्विपदमिदं सूत्रम् । यस्मिन्नायौ कृतौ इति–व्यञ्जनादौ स्यादौ परे आत्वम्, टाङ्योस्सु परेषु यत्वम्, एभ्योऽन्यः शेषस्यादिरिति । ततोऽनेन दूलोपे अभ्यमोऽकारस्य च "अप्रयोगीत्" इति निवृत्तौ युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् । **अकि**–युष्मकभ्यम् अस्मकभ्यम् ॥ ११ ॥ युष्मद् ५-१ अस्मद् ५-१ इति स्थिते सूत्रम्—

ङसेश्चाद् ॥ १२ ॥ [सि० २।१।१९]

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसेः पञ्चमीभ्यसश्च अद् स्यात् । अकारः प्राग्वत् । त्वत् मत् । युष्मद् अस्मद् ॥ १२ ॥

ङसे० । ङसि ६-१ "ङित्यदिति" "एदोद्भ्यां ङसिङसो रः"। च १-१ "अव्ययस्य" । अद् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । मध्ये "चटते०" "समानानां०"। त्रिपदमिदं सूत्रम् । "त्वमौ प्रत्ययोत्तर०" त्वमादेशे "लुगस्या०" "शेषे लुक्" इति दलोपे "अप्रयोगीत्" इति अकारनिवृत्तौ त्वत् मत् । **अकि**–त्वकत् मकत् । द्विवचने प्राग्वत् । बहुवचने पञ्चमीभ्यसोऽप्यदादेशे युष्मद् अस्मद् । **अकि**–युष्मकद् अस्मकद् ॥ १२ ॥ युष्मद् ६-१ अस्मद् ६-१ इति स्थिते सूत्रम्—

तवमम ङसा ॥ १३ ॥ [सि० २।१।१५]

ङसा सह युष्मदस्मदोरेतौ स्याताम् । तव । मम । युवावादेशे "टाङ्योसि यः" इति ये । युवयोः आवयोः ॥ १३ ॥

तव० । तव च मम च तवमम १-२ सूत्रत्वात् लोपः । ङस् ३-१ "लोकात्" । द्विपदमिदं सूत्रम् । **अकि**–तवक ममक । शेषं स्पष्टम् । युवयोः आवयोः इति स्पष्टम् । **अकि**–युवकयोरावकयोरिति ॥ १३ ॥ युष्मद् ६-३ अस्मद् ६-३ इति स्थिते सूत्रम्—

आम आकम् ॥ १४ ॥ [सि० २।१।२०]

युष्मद्भ्यां परस्य आम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युष्मासु । अस्मासु ॥ १४ ॥

आम० । आम् ६-१ "लोकात्" "सो रुः" । आकम् १-१ "दीर्घङ्याब्०" । मध्ये "रोर्यः" "स्वरे वा" तस्य लुग् । द्विपदमिदं सूत्रम् । "शेषे लुग्" इति दलोपे "समानानां०" युष्माकम् अस्माकम् । अकि—युष्मकाकम् अस्मकाकम् । सप्तम्येकवचने त्वमादेशे "टाङ्योसि यः" इति दस्य यत्वे त्वयि मयि । युवयोः आवयोः । "युष्मदस्मदोः" इत्यात्वे युष्मासु अस्मासु । **अकि**—त्वयकि मयकि युवकयोः आवकयोः युष्मकासु अस्मकासु ॥ १४ ॥ **सम्बोधनं चात्र न सम्भवति ॥**

अथ गौणत्वे युष्मदस्मदो रूपाण्युच्यन्ते—तत्रेदं **तत्त्वम्** "त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्" "मन्तस्य युवावौ द्वयोः" इत्येतयोः सूत्रयोः सप्तम्या युष्मदस्मदोर्विशेषणेऽयमभिप्रायः । समासार्थस्यैकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टत्वेऽपि यत्र युष्मदस्मदी एकत्वविशिष्टे तत्र त्वमावेवादेशौ, यत्र च युष्मदस्मदी द्वित्वविशिष्टे तत्र युवावादेशौ भवतः । तथोक्तं **सिद्धान्तकौमुद्याम्** "समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदी । समासार्थोऽन्यसङ्ख्यश्चेत् स्तो युवावौ त्वमावपि" ॥ १ ॥ **यत्र** च सूत्रे सहार्थतृतीयानिर्देशो यथा "त्वमहं सिना प्राक् चाकः" "यूयं वयं जसा" "तुभ्यं मह्यं ङया" "तव मम ङसा" इति **तत्र** समासार्थस्य एकत्वबहुत्वविशिष्टत्वेऽपि परत्वादेते एवादेशा भवन्ति । **तथोक्तं तत्रैव**—सु जस् ङे ङस्सु परतः आदेशाः स्युः सदैव ते । त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममावपि ॥ १ ॥ एते परत्वाद्बाधन्ते युवावौ विषये स्वके । त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः ॥ २ ॥ द्व्येकसङ्ख्यः समासार्थो बह्वर्थे युष्मदस्मदी । तयोरद्व्येकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमौ न च ॥ ३ ॥

एतत्सर्वं रूपलिखनेन व्यक्तीक्रियते—त्वां मां वा अतिक्रान्तो अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ता वा "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्त०" इत्यादिना द्वितीयातत्पुरुषे अतित्वम् अत्यहम् । "अमौ मः" "युष्मदस्मदोः" इति च अतित्वाम् अतिमाम् । अतियूयम् अतिवयम् । **१** । अतित्वाम् अतिमाम् अतित्वाम् २ । अतित्वान् २ । **२** । अतित्वया २, अतित्वाभ्याम् २, अतित्वाभिः २ । **३** । अतितुभ्यम् २, अतित्वाभ्याम् २, अतित्वभ्यम् २ । **४** । अतित्वत् २, अतित्वाभ्याम् २, अतित्वत् अतिमत् । **५** । अतितव अतिमम, अतित्वयोः अतिमयोः, अतित्वाकम् अतिमाकम् । **६** । अतित्वयि अतिमयि, अतित्वयोः अतिमयोः, अतित्वासु अतिमासु । **७** । हे अतित्वम् हे अत्यहम्, हे अतित्वाम् २, हे अतियूयम् हे अतिवयम् ।

(युवामावामतिक्रान्तोऽतिक्रान्तौ अतिक्रान्ता वा, अतित्वम् अत्यहम्, अतियुवाम् अत्यावाम्, अतियूयम् अतिवयम्, **१** । अतियुवाम् अत्यावाम्, अतियुवाम् अत्यावाम्, अतियुवान् अत्यावान् **२** । अतियुवया अत्यावया, अतियुवाभ्याम् अत्यावाभ्याम्, अतियुवाभिः अत्यावाभिः **३** । अतितुभ्यम् अतिमह्यम्, अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्, अतियुवभ्यम् अत्यावभ्यम् **४** । अतियुवत् अत्यावत्, अतियुवाभ्याम् २, अतियुवत् अत्यावत् **५** । अतितव अतिमम, अतियुवयोः अत्यावयोः, अतियुवाकम्, अत्यावाकम् **६** । अतियुवयि अत्यावयि, अतियुवयोः अत्यावयोः, अतियुवासु अत्यावासु **७** । हे अतित्वमित्यादि **१** ।) प्रतिष्वदृश्यमानोऽप्ययमुपयोगितया सङ्गृहीतः ।

युष्मानस्मानतिक्रान्तो अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ता वा अतित्वम् अत्यहम्, अतियुष्माम् अत्यस्माम्, अतियूयम् अतिवयम् । **१** । अतियुष्माम् अत्यस्माम्, अतियुष्माम् अत्यस्माम्, अतियुष्मान् अत्यस्मान्, **२** । अतियुष्मया अत्यस्मया, अतियुष्माभ्याम् २, अतियुष्माभिः २ । **३** । अतितुभ्यम् २, अतियुष्माभ्याम् २, अतियुष्मभ्यम् २ । **४** । अतियुष्मत् २, अतियुष्माभ्याम् २, अतियुष्मत् २ । **५** । अतितव २, अतियुष्मयोः २, अतियुष्माकम् २ । **६** । अतियुष्मयि अत्यस्मयि, अतियुष्मयोः २,

अतियुष्मासु अत्यस्मासु । ७ । हे अतित्वम् हे अत्यहम्, हे अतियुष्माम् हे अत्यस्माम्, हे अतियूयम् हे अतिवयम् २ । १ ।

त्वां युवां युष्मान् मामावामस्मानतिक्रान्तं कुलमिति समासेऽपि युष्मदस्मदोरलिङ्गत्वान्नपुंसकाश्रितः स्यमोर्लोपो न भवति । अतित्वम् अत्यहम् कुलमिति । **एवं** प्रियस्त्वम् प्रियोऽहम् वा यस्य ययोर्येषां वा प्रियत्वम् प्रियाहम्, प्रियत्वाम् प्रियमाम्, प्रिययूयम् प्रियवयम् ।

तथा प्रियौ युवां प्रियावावाम् यस्य ययोर्येषां वा प्रियत्वम् प्रियाहम्, प्रिययुवाम् प्रियावाम् प्रियूयम् प्रियवयम् **तथा** प्रिया यूयम् वयम् वा यस्य ययो र्येषां वा प्रियत्वम् प्रियाहम्, प्रिययुष्माम् प्रियास्माम्, प्रिययूयम् प्रियवयम् इत्यादि सर्वं प्राग्वत् ।

युवां युष्मानावामस्मान् वा आचष्टे युष्मयति अस्मयतीति "णिज्बहुलं नाम्नः कृगादिषु" इति णिचि युष्मयति अस्मयतीति क्विपि तल्लुकि च युष्म् अस्म् इति युष्मदस्मदोर्मान्तत्वं अनयोः सिजसुङेङस्सु प्रत्ययेषु परत्वात्त्वमहमादय एवादेशाः स्युः । त्वम् अहम् । अमौभ्याम्सु परत्वात्त्वमाद्यादेशे पश्चादात्वम् । **अयमर्थः**—द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वाच्छब्दान्तरप्रवृत्त्या चानित्यत्वात् परत्वात्पूर्वं त्वमाद्यादेश इति । प्रथममात्वे तु सति मान्तत्वाभावात्त्वमाद्यादेशा न स्युरिति, ततः पूर्वं "अमौ मः" इति पश्चात्त्वमाद्यादेशस्ततो "युष्मदस्मदोः" इत्यात्वम् युवाम् आवाम्, यूयम् वयम् । युवां युष्मानावामस्मान्वा आचक्षाणः आचक्षाणौ आचक्षाणाः इति भावः १ । एवं त्वां मां युवां आवां "शसो नः" इति शसो नत्वे "युष्मदस्मदोः" इति मस्यात्वे युषान् असान् २ । टाङ्योसि नित्यत्वात्त्वमादिकार्येभ्यः प्रथममेव पूर्वेण मकारस्य यत्वे युष्या अस्या । **अथ** प्राक् मकारस्य पश्चादकारस्य यत्वप्राप्तिरथवा पूर्वं युष्मिति प्रकृतेः पश्चात्त्वेति प्रकृतेरिति **शब्दान्तरप्राप्त्या** यत्वमप्यनित्यमित्यमाश्रीयते **तदा** परत्वात्पूर्वं त्वमाद्यादेशे अकारस्य यत्वे त्व्या म्या । **अथ** 'सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति' **यद्याश्रीयते तदा** परत्राभावे त्वेन मेन युवाभ्याम् आवाभ्याम् युषाभिः असाभिः ३ । तुभ्यं मह्यम्, युवाभ्याम् २ । **मोर्वा** (सि० २।१।९) यस्मिन्नायौ कृतौ ततोऽन्यः शेषस्तस्मिन् शेषे स्यादौ परे मान्तयोर्युष्मदस्मदोर्लुक् वा स्यादिति युषभ्यम् असभ्यम्, युष्मभ्यम् असभ्यम् ४ । त्वत् २, युवाभ्याम् २, युषत् युष्मत्, असत् अस्मद् ५ तव मम, युष्योः अस्योः, युव्योः आव्योः, युषाकम् युष्माकम् असाकम् अस्माकम् ६ युष्यि अस्यि, त्व्यि म्यि । 卐 त्वमहंवाचके युष्मदस्मदी सर्वादिगणमध्ये दृश्येते, अत्र त्वां मां यो वक्ति तद्वाचके इति न सर्वादिनी ततोऽसर्वादित्वान्न स्मिन्नादेशः त्वे मे । अथ *"क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह" क्विबन्तयोर्युष्मदस्मच्छब्दयोर्योऽर्थस्तमर्थं प्रकृतिरेवाह, नहि प्रकृतिं विना क्विप् भवति ततः स्मिन्नादेशे त्वस्मिन् मस्मिन् । "सन्निपातन्यायस्यानित्यत्वे" त्वास्मिन् मास्मिन् । युष्योः अस्योः युव्योः आव्योः, युषासु असासु ७ । [युवयोः आवयोः, २, ६–२, ७–२] 卐 हैमबृहद्वृत्तिगतः ।

अथानयोरादेशविशेषाः अथ युष्मदस्मदोरादेशविशेषविधिनिरूपणाय प्रक्रमते । अथानयोरादेशविशेषा इति । उच्यन्ते इति सूत्रशेषः । सूत्रम्—

पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्नसौ बहुत्वे ॥ १५ ॥ [सि० २।१।२१]

द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीबहुवचनैः सह पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसौ वा स्याताम्, न तु वाक्यान्तरे ।

धर्मो रक्षतु वो लोका धर्मो रक्षतु नः सदा । नमो वः श्रीजिनाः शुद्धं ज्ञानं नो दीयतां धनम् ॥ १ ॥

दर्शनं वो जिनाधीशाः पापं हरति नो रयात् । पक्षे धर्मो युष्मान् रक्षतु इत्यादि ॥ १५ ॥

पदाद्यु० । पद ५-१ "ङेङस्यो०" "समानानां०" । युज्यते इति युक् २ । युग् चासौ विभक्तिश्च युग्विभक्ति ३-१ "इवर्णादे०" । एकं च तद्वाक्यं च एकवाक्यं तस्मिन् एकवाक्ये ७-१ "अवर्णस्ये०" । वस् च नस् च वस्नस् १-२ "लोकात्" । बहोर्भावो बहुत्वं तस्मिन् बहुत्व ७-१ अवर्णस्ये० । पञ्चपदमिदं सूत्रम् । युग्विभक्त्येति युग्विभक्तिः समविभक्तिः । सप्तसु हि विभक्तिषु द्वितीयाचतुर्थीषष्ठ्यः समविभक्तयः इति तथैवाह—द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीबहुवचनैः सहेति । एकवाक्ये इत्यस्यार्थमाह—न तु वाक्यान्तरे इति । **अथ** सार्द्धश्लोकेनोदाहरणमाह—धर्मो रक्षतु इत्यादि । हे लोका वो युष्मान् धर्मो रक्षतु पालयतु । तथा सदा निरन्तरं नोऽस्मान् धर्मो रक्षतु । अत्र पदात्परयोः शसन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसौ ॥ हे श्रीजिनाः वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु "नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिः" इति नमोयोगे युष्मच्छब्दाग्रे चतुर्थीवचनम् तथा हे जिनाः भवद्भिर्नोऽस्मभ्यं शुद्धज्ञानरूपं धनं दीयतां अत्र "कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम्" इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी ततः पदात्परयोश्चतुर्थीबहुवचनभ्यसन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसावादेशौ ॥ १ ॥ हे जिनाधीशाः वो युष्माकं दर्शनं रयात् वेगात् नोऽस्माकं पापं हरति । अत्र षष्ठीबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ ॥

पक्षे धर्मो युष्मान् रक्षतु । इत्यादिशब्दात् धर्मोऽस्मान् रक्षतु, नमो युष्मभ्यम्, श्रीजिनाः अस्मभ्यं ज्ञानं धनं दीयतां युष्माकं दर्शनमस्माकं पापं हरति । पक्षे एवं रूपाणि भवन्ति इति ॥१५॥ सूत्रम्—

द्वित्वे वाम्नौ ॥ १६ ॥ [सि० २।१।२२]

समविभक्तिद्विवचनैः सह पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वाम्नौ वा स्याताम् ।

पातु वां नौ जिनोऽयं च दद्याद्वां नौ परं पदम् ।
मनो वां नौ सदा भूयादृढं धर्मे जिनोदिते ॥ २ ॥

पक्षे जिनो युवां पात्वित्यादि ॥ १६ ॥

द्वित्वे० । द्वयोर्भावो द्वित्वं तस्मिन् द्वित्व ७-१ "अवर्णस्ये०" । वाम् च नौ च १-२ सूत्रत्वाल्लोपः । द्विपदमिदं सूत्रम् । श्लोकेनोदाहरति—पातु वामित्यादि जिनो वां युवां च पुनर्नौ आवां पातु अत्र पदात्परयोर्द्वितीयाद्विवचनान्तयोर्युष्मदस्मदोर्वान्नावादेशौ । च पुनः अयं जिनो वां युवाभ्यां नौ आवाभ्यां परं पदं दद्यात्, अत्र चतुर्थीद्विवचनान्तयोर्युष्मदस्मदोर्वान्नौ । वां युवयोर्नौ आवयोश्च मनः सदा जिनोदिते धर्मे दृढं भूयात्, अत्र षष्ठीद्विवचनान्तयोर्युष्मदस्मदोर्वान्नौ । पक्षे जिनो युवां पात्वित्यादि स्पष्टम् ॥ १६ ॥ सूत्रम्—

अमा त्वामा ॥ १७ ॥ [सि० २।१।२४]

अमा सह पदात्परयोर्युष्मदस्मदोस्त्वामा वा स्याताम् । धर्मस्त्वा पातु त्वां पातु । धर्मो मा पातु मां पातु ॥ १७ ॥

अमा० । अम् ३-१ "लोकात्" । त्वा च मा च त्वामा १-२, सूत्रत्वात् लोपः । द्विपदमिदं सूत्रं स्पष्टार्थं च ॥ १७ ॥ सूत्रम्—

ङेङसा ते मे ॥ १८ ॥ [सि० २।१।२३]

ङेङसभ्यां सह पदात्परयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे वा स्याताम् । धर्मस्ते ददातु तुभ्यं ददातु । धर्मो मे ददातु मह्यं ददातु सुखम् । धर्मस्ते स्वम् तव स्वम् । धर्मो मे स्वम् मम स्वम् ॥ १८ ॥

ङे च ङस् च ङेङस् तेन ङेङस् ३-१ "लोकात्" । ते च मे च तेमें १-२ सूत्रत्वात् लोपः । द्विपदमिदं सूत्रं स्पष्टं च ॥ १८ ॥ अत्र विशेषसूत्रमाह—

नित्यमन्वादेशे ॥ १९ ॥ [सि० २।१।३१]

वस्नसादिः । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति ॥ १९ ॥

नित्यम० । नित्य २-१ "समानादमोऽतः" । अन्वादेश ७-१ "अवर्णस्ये" । द्विपदमिदं सूत्रम् यूयं विनीता इत्यादि पूर्वं विनीतत्वेन उक्तानां ततो गुरुमाननाविषयत्वेन वचनमित्यमन्वादेश इति ॥ १९ ॥ सूत्रम्—

असदिवामन्त्र्यं पूर्वम् ॥ २० ॥ [सि० २।१।२५]

युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं सम्बोधनमसदिव स्यात् ततो वस्नसादयो न स्युः । जना युष्मान्पातु धर्मः । क्वचिद्वा–जिनाः शरण्या वो युष्मान् वा सेवे । क्वचिन्न–साधो सुविहित त्वा सेवे ॥ २० ॥

असदिवा० । न सत् असत् १-१ "अनतो लुप्" । इव १-१ "अव्ययस्य" आमन्त्र्यते इति आमन्त्र्य १-१ "अतःस्यमोऽम्" "समानाद०" । पूर्व १-१ "अतःस्यमोऽम्" "समानानां" । मध्ये "धुटस्तृतीयः" "समानानां०" "तौ मुमो०" । चतुष्पदमिदं सूत्रं व्यक्तं च । इवकरणं किम् ? श्रवणं यथा स्यादन्यथाऽसदित्युक्ते प्रयोग एव न स्यात् ।

क्वचिद्वेति—युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वमामन्त्र्यं पदं क्वचिदसदिव वा स्यादिति–तथाहि **"जस्विशेष्यं वाऽऽमन्त्र्ये"** (२।१।२६) युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तमामन्त्र्यं पदं क्वचिदसदिव वा स्यादिति विशेष्यवाच्यामन्त्र्ये अर्थात्तद्विशेषणे परेऽसदिव वा स्यात् । जिनाः शरण्याः युष्मान् शरणं प्रपद्ये–पक्षे जिनाः शरण्या वः शरणं प्रपद्ये । जसिति किम् ? साधो सुविहित वोऽथो शरणं प्रपद्ये । अत्र "नान्यत्" (२।१।२७) इति सूत्रेण असद्वद्भवनस्य निषेधाद्वसादेशोऽभूत् । विशेषणमिति किम् ? शरण्याः साधवो युष्मान् शरणं प्रपद्ये । आमन्त्र्यविशेष्यविशेषण इति किम् ? आचार्याः युष्मान् शरण्याः शरणं प्रपद्ये । अर्थात्तद्विशेषणभूत इति किम् ? आचार्या उपाध्याया युष्मान् शरणं प्रपद्ये । **"सपूर्वात्प्रथमान्ताद्वा"** (२।१।३२) विद्यमानपूर्वपदात्प्रथमान्तात् परयोर्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्नसादिर्वा स्यात् । यूयं विनीतास्तद्गुरवो वो मानयन्ति तद्गुरवो युष्मान्मानयन्ति ।

क्वचिन्नेति–युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वमामन्त्र्यं पदं क्वचिदसदिव न स्यात् तथाहि **"नान्यत्"** (२।१।२७) युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तादन्यदामन्त्र्यं विशेष्यमामन्त्र्ये तद्विशेषणे परेऽसदिव न स्यात् ततः पूर्वपदस्य सत्त्वाद्वस्नसादयो भवन्ति । साधो सुविहित त्वा शरणं प्रपद्ये साधो सुविहित मा रक्ष ॥ तथा **"दृश्यर्थैश्चिन्तायाम्"** (२।१।३०) दृशिना समानार्थैश्चिन्तार्थैर्धातुभिर्योगे एव पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादिर्न स्यात्–जनो युष्मान् संदृश्यागतः, जनस्त्वां समीक्ष्यागतः, जनस्त्वामपेक्षते । **एवं** उत्पश्यति निरूपयति निर्ध्यायति उपलक्षयति आलोचयतीत्यादि सर्वत्र मनसा चिन्तनं दृश्यर्थानामर्थः । दृश्यर्थैरिति किम् ? जनो वो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति ॥ २० ॥

अत्रैव विशेषमाह सूत्रम्—

पादाद्योः ॥ २१ ॥ [सि० २।१।२८]

नियतमात्राऽक्षरपिण्डः पादः । पादस्याऽऽदिस्थयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादिर्न स्यात् । वीरो विश्वेश्वरो देवो युष्माकं कुलदेवता । स एव नाथो भगवान् अस्माकं पापनाशनः ॥ २१ ॥

पादाद्योः । आदिश्च आदिश्च आदी पादस्य आदी पादादी तयोः पादादि ७-२ "इवर्णादे०" "लोकात्" । एकपदमिदं सूत्रम् । **पाद**स्य लक्षणमाह-नियतमात्राक्षरपिण्डः पाद इति । तत्र **नियता** यथाशास्त्रं निर्णीता या **मात्रा**स्तासां पिण्डः पादः स तु आर्यादिसम्बन्धी, **नियतानामक्षराणां** पिण्डः पादः स तु श्लोकादीनामिति द्वैधयोरपि पादयोरादौ युष्मदस्मदोर्वस्नसादयो न स्युः । **श्लो**केनोदाहरति-वीरो विश्वेश्वरो इत्यादि व्यक्तम् ॥ २१ ॥ सूत्रम्—

चाहहवैवयोगे ॥ २२ ॥ [सि० २।१।२९]

एभिः पञ्चभिर्योगे वस्नसादिर्न स्यात् । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु ॥ २२ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां युष्मदस्मदोः प्रक्रिया समाप्ता ॥

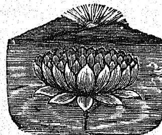
चाह० । चश्च अहश्च हश्च वा च एवश्च चाहहवैवाः चाहहवैवैर्योगः चाहहवैवयोगः तस्मिन् चाहहवैवयोग ७-१ "अवर्णस्ये०" । एकपदमिदं सूत्रं स्पष्टार्थं च ॥ २२ ॥

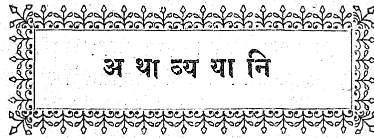
किञ्च यथा युग्विभक्तिषु वस्नसादय उक्तास्तथाऽयुग्विभक्तिष्वपि क्वचिदिष्यन्ते—

"एकं दृष्ट्वा धनुःपाणिं मानुषं समुपस्थितम् । राक्षसं बलमुत्सृज्य किं वो भीता इव स्थिताः" ॥ १ ॥ अत्र वो यूयमित्यादि प्रथमाबहुत्वे । "श्रुतं वश्चित्रगुप्तस्य भाषितं मनसः प्रियम्" । इह वो युष्माभिरित्यर्थः । प्रथमायां "गेये केन विनीतौ वां कस्य चेयं कृतिः कवेः । इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ वाल्मीकिनमशंसताम्" ॥ १ ॥ इत्यत्र वां युवामित्यर्थः । "देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे" मत्सकाशादित्यर्थः । अत्र पञ्चम्या मे आदेशः ।

यद्वा स्याद्यन्तप्रतिरूपकाण्येतान्यव्ययानि । तथोक्तं **मनोरमायाम्**—एतेन गेयकेन विनीतौ वामिति व्याख्यानं युवामित्यर्थे हि वामित्यव्ययमिति ॥ २२ ॥

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ सिद्धिसदः शिखामगमतां तौ युष्मदस्मद्ध्वनी ॥ १ ॥





अथाऽव्ययानि

अलिङ्गे युष्मदस्मदी अभिधाय अलिङ्गान्यसङ्ख्यानि चाव्ययान्यभिधातुकाम आह—

अव्ययानि त्वलिङ्गान्यसङ्ख्यानि च । तथाहुः—

नन्ता सङ्ख्या डतिर्युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गकाः ।
पदं वाक्यमव्ययं चेत्यसङ्ख्यं च तद्बहुलम् ॥ १ ॥
सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ २ ॥

अव्ययानीत्यादि । तुशब्दोऽव्ययानामसङ्ख्यत्वेन युष्मदस्मद्भ्यां विशेषं द्योतयति । अत्र सम्प्रदायमाह—**तथाहुरिति**—

नन्तेति—नकारान्ता सङ्ख्या, डतिप्रत्ययान्ता, युष्मदस्मदी च एतेऽलिङ्गाः ततश्च पञ्चकुमार्यः इत्यत्र ङीर्न भवति । नन्तेति किम् ? एकद्वित्रिचत्वारो विशेष्यलिङ्गाः । यथा एकः पटः, एका शाटी, एकं वस्त्रम् । षषो लिङ्गोपादानानुपादनयोरविशेष इत्यनुपादानम् । तथा कति तति यति स्त्रिय इत्यत्रापि ङीर्न भवति । युष्मभ्यम् अस्मभ्यमित्यत्राप्याप् न भवति । तथा "विभक्त्यन्तं पदम्" "सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" "स्वरादयोऽव्ययम्" एते अलिङ्गा असङ्ख्याश्च । **अथाव्ययानां साम्प्रदायिकं लक्षणमाह—**

सदृशमिति—यन्न व्येतीति । लिङ्गविभक्तिवचनभेदेऽपि यद्विकारं न प्राप्नोति तदव्ययम् । अत एव त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु विभक्तिषु सर्वेषु वचनेषु सदृशमिति । **अयं भावः**—अन्वर्थसंज्ञा वेयमव्ययमिति लिङ्गकारकविभक्तिनानात्वेऽपि नानारूपतां न प्रतिपद्यन्त इति एषामलिङ्गासङ्ख्यत्वात् । तथा चोक्तं **सिद्धान्तकौमुद्याम्**—सदृशमित्यादिश्रुतिर्लिङ्गसङ्ख्याभावपरा । **अव्ययसंज्ञायां सूत्रमाह—**

स्वरादयोऽव्ययम् ॥ १ ॥ [सि० १।१।३०]

स्वर् अन्तर् प्रातर् पुनर् इत्यादि ॥ १ ॥

स्वरा० । स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः । स्वरादि १-३ "जस्येदोत्" "एदैतो०" । अव्यय १-१ "अतः स्यमोऽम्" । मध्ये "समानानां०" "अतोऽति०" "अवर्णस्ये०" "एदोतः०" । द्विपदमिदं सूत्रम् । **अन्वर्थाश्रयणे** च स्वराद्यव्ययमव्ययं भवतीति स्वरादेर्विशेषणत्वेन तदन्तविज्ञानात्परमोच्चैः परमनीचैरित्यादावप्यव्ययसंज्ञा भवति । नामग्राहमव्ययानि निर्दिशति—स्वर् अन्तर् इत्यादि—अत्रादिशब्दसङ्गृहीतानामव्ययानां केषाञ्चित् परिगणनं त्वेवम्—**स्वरिति** स्वर्गे च परलोके च । **अन्तरिति** मध्ये । **प्रातर्** प्रत्यूषे । **पुनर्** अप्रथमे विशेषे च । **सुनुतर्** अन्तर्धाने (मनोरमाया मतेनेदम्, हैमबृहन्न्यासे तु **सनुतर्** कालवाचीति निर्दिष्टम्) । **स्वराद्याः पञ्च रेफान्ताः** ॥ **सायं** निशामुखे । **नक्तं** रात्रौ । **अस्तम्** विनाशे । अस्तमदर्शने इत्यभिधानचिन्तामणौ—यथास्तंगतः सविता । **दिवा** दिवसे । **दोषा** रात्रौ पर्युषिते च । **ह्यस्** अतीतेऽह्नि । **श्वस्** अनागतेऽह्नि । **कमिति** वारिमूर्द्धनिन्दासुखेषु (अयमपि मनोरमाभिप्रायः है० बृ० न्या० उदकमाकाशं चेति कथितम्) । **शं** सुखे । **योस्** विषयसुखे । **मयस्** सुखे । **विहायसा** अन्तरिक्षे । **रोदसी** द्यावापृथिव्योः । **ओम्** अङ्गीकारे ब्रह्मणि च, अभ्यादानाभिमुखीकरणयोरपि । **भूर्भु-**

वस् यथाक्रमं नागमनुष्यलोकयोः । यथा "भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानमिति" । **स्वस्ति** कल्याणे । **समया** समीपे मध्ये च । **निकषा** अन्तिके । **अन्तरा** २५ विनार्थे मध्ये चाधेयप्रधाने । **पुरा** भूतभविष्यत्परीप्साचिरन्तनेषु, पुरेत्यविरते चिरातीते भविष्यदासन्ने चेति मनोरमायाम् । **बहिस्** बाह्ये बहिर्भावे अनावृतप्रदेशे, यथा बहिर्योग इत्यत्र बाह्येन योगो बहिर्भावेन योग इति । **अवस्** बहिरर्थे । **अधस्** सामीप्यादौ । **असाम्प्रतम्** अनौचित्ये । **अद्धे**ति स्फुटावधारणयोः, तत्त्वातिशययोरित्येके तथाच प्रयोगः—"मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः । ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धा पथान्न संसर्गगुणेन नद्धा" ॥ १ ॥ इति नैषधीये, (हैं० वृ० न्या० तु अवधारण-मत्यतिशययोः) । **ऋतम्** शुद्धौ । **सत्यम्** प्रश्नप्रतिषेधयोः । **इद्धा** प्राकाश्ये । **मुधा** व्यर्थे (हैं० वृ० न्या० तु निर्निमित्त-प्रीतिकरणयोः) । **मृषा मिथ्या** इत्येतौ वितथे । **वृथा** व्यर्थे । **मिथो ओकारान्तो** रहःसहार्थयोः । **मिथु मिथस्** विजनवियोगेतरेतरार्थे । मिथो मिथस् (एतौ) रहःसहार्थयोरिति मनोरमायाम् । **मिथु** स्वाङ्गे द्वावित्यर्थे इति मनोर० । **मिथुस्** संगमे । **मिथुनं** स्त्रीपुंससंयोगे । **अनिशं** नैरन्तर्ये । **मुहुस् अभीक्ष्णं** एतौ पुनः पुनरित्यर्थे । **मंक्षु झटिति** शीघ्रार्थौ । **उच्चैस्** महति । **नीचैस्** ५० अवकृष्टे, अल्पे इति मनोर० । **शनैस्** क्रियामान्द्ये । **अवश्यं** निश्चये आवश्यके । **सामि** अर्द्धजुगुप्सितयोः । **साचि** वक्रतिर्यगर्थयोः । **विष्वक्** समन्तादित्यर्थे नानार्थे इत्यपि । **अन्वक्** पश्चादर्थे । **ताजक् द्राक् स्राक्** शीघ्रार्थे, स्राक् एवार्थे इत्यपि । **ऋधक्** वियोगे शीघ्रान्वितसामीप्यलाभेषु । (**ऋधक्** सत्ये । वियोग-शीघ्रसामीप्यलाघवेष्वित्यन्ये इति मनोरमायाम्) । **पृथक्** भिन्ने वियोगे इत्यपि । **धिक्** निन्दार्थे । **हिरुक्** वियोगे । 'हिरुग्नानापृथग्विना' इत्यभिधानचिन्तामणौ । **ज्योक्** कालभूयस्त्वे, प्रश्ने शीघ्रसं-प्रत्यर्थयोश्च । **मनाग्** ईषदप्राप्तयोः, **ईषद्** अप्राप्ते, इमावल्पे इति मनोर० । **ज्योषं जोषं तूष्णीम्** एते त्रयोऽप्यभाषणे । **कामं निकामं प्रकामं** एते त्रयोऽतिशयार्थे, कामं स्वाच्छन्द्ये इति मनोर० अकामानुमतौ काममित्यभिधानचिन्तामणौ । **अरं** शैघ्र्ये अत्यर्थेऽपि । **वरं** मनागिष्टे, ईषदुत्कर्षे इति मनोर० । **परं** ७५ केवले, किन्त्वर्थे इति मनोर० । **चिरं** दीर्घकाले । **आरात्** दूरसमीपयोः । **तिरस्** अन्तर्द्धवज्ञातिर्यग्भावेषु । **मनस्** नियमे । **नमस्** नतौ । **भूयस्** पुनरर्थे आधिक्ये च । **प्रायस्** बाहुल्ये । **प्रवाहु** ऊर्द्ध्वार्थे **प्रवाहुक प्रवाहुकम्** द्वावप्यद्धार्थे **प्रवाहुकमि**ति समकालार्थे सिद्धार्थे च । प्रवाहिकेति पाठान्तरमिति मनोरमायाम् । **आर्य** प्रीतिसम्बोधने । **हलं** प्रतिषेधे विषादे च समस्तमित्येके । **आर्यहलमि**ति बलात्कारे । **शा**कटायनस्तु आर्येति प्रतिबन्धे हलमिति प्रतिषेधविवा-दयोरित्याहेति मनोरमायाम् । **स्वयमा**त्मने इत्यर्थे । **अलं** भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणनिषेधेषु । **कु** कुत्सितेषद-र्थयोः, पापार्थे इति हैं० वृ० न्या० । **बलवत्** निर्भरे, बलवदित्यतिशये इति मनोर० । बलवत्सुष्ठु किमुता-तीव निर्भरे इत्यभिधानचिन्ता० । **अतीव** अतिशये । **सुष्ठु दुष्ठु** यथाक्रमं प्रशंसानिन्दयोः । **ऋते** वर्जने वर्जनेत्वंतरेणर्त्ते इति वचनात् वियोग इत्यपि । **सपदि** शैघ्र्ये, (हृते इति हैं० वृ० न्या०) **साक्षात्** प्रत्यक्ष-तुल्ययोः । **सन्** परित्राणे । **प्रशान्** १०० चिरन्तने, समानार्थे इति मनोर० । **सनात्** हिंसायां । **सनत्** चेदर्थे । **सना** नित्ये, सना सनत् सनात् एते त्रयोऽपि नित्ये इति मनोर० । **नाना** पृथग्भावे, अनेक-विनार्थयोरिति मनोर० । **विना** योगप्रतिषेधे, वर्जने इति मनोर० । **क्षमा** सहने । **शुः** पूजायाम् । **सहसा** अतर्किते, आकस्मिकाविमर्शयोरिति मनोर० । **युगपत्** क्रियासमभिहारे सहार्थे च । **उपांशु** अप्रकाशोच्चारणरहस्ययोः । **पुरतस् पुरस्** एतावग्रतोऽर्थे । **पुरस्तात्** प्रथमे पुरोऽर्थे च । **शश्वत्** पौनःपुन्ये, नित्ये सहार्थे च । **कुवित्** योगप्रशंसास्तिभावेषु, भूयर्थे इति मनोर० । **आविस् प्रादुस्** प्राकाश्ये इति, प्रादुस् नाक्यपि; इति स्वरादयः सप्तदशोत्तरं शतमव्यया हैमबृहद्वृत्तिनिर्दिष्टाः परिगणिताः ।

"स्वरादय" इति सूत्रे बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेनान्येषामपि यथालक्ष्मव्ययसंज्ञा भवति । **उपधा** भेदे । **तोषं** सुखे मौने च । **अम्** शैघ्र्ये अल्पे च । **आम्** अङ्गीकारे । **प्रताम्** ग्लानौ । **साम्प्रतं** न्याये । **नित्यं नित्यदा सदा अजस्रं सततं** सातत्ये । **झगिति** तरसा । **आशु** शैघ्र्ये । **अञ्जसा** तत्त्वशीघ्रार्थयोः । **आनुषक्** आनुपूर्व्ये । **अन्नस्** शीघ्रसाम्प्रतिकयोः । **स्थाने** इति युक्ते । **शुदि** शुक्लपक्षे । **वदि** कृष्णपक्षे । **संवत्** वर्षे । **सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे** । एवमेते द्वाविंशतिः । केचिदेवम् "अथाव्ययानि वक्ष्यन्ते" इत्यादिभ्योऽभिधानचिन्तामणिपर्यन्तश्लोकेभ्यो ज्ञेयाः 'अर्थकथनं चैषामुपलक्षणमात्रम् । तथाचोक्तम्-"निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः । अनेकार्थाः स्मृता लोके पाठस्तेषां निदर्शनम्" ॥ १ ॥ अव्ययसंज्ञायामेव सूत्रान्तरमाह—

चादयोऽसत्त्वे ॥ २ ॥ [सि० १।१।३१]

अद्रव्यार्थाश्चादयोऽव्ययानि स्युः । च अह ह एव वा एवम् नूनं ननु खलु विना नाना ईषत् किल वै नो न मा मास्म यत् तत् स्वराश्च ॥ २ ॥

चादयो० । च आदिर्येषां ते चादयः । चादि १-३ । सीदतोऽस्मिन् लिङ्गसंख्ये इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद्द्रव्यं इदंतदित्यादि सर्वनामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत्, न सत्त्वमसत्त्वं तस्मिन् असत्त्व ७-१ । द्विपदमिदं सूत्रम् । वृत्तिः कण्ठ्या । अद्रव्यार्था इत्यादि । ततश्च चादयः पदान्तरोपहिता एव प्रयुज्यन्ते अन्यपदोपात्तार्थद्योतकत्वात्—यथा वृक्षश्च प्लक्षश्चेति । स्वरादयश्च स्वतः स्वार्थवाचकत्वात्केवला अपि प्रयुज्यन्ते स्वः सुखयतीत्यादि । अत एव चादयो द्योतकाः, स्वरादयो वाचका इति । असत्त्व इति किम् ? यत्र चादीनां सत्त्वरूपेऽनुकार्यादावर्थे वृत्तिस्तत्राव्ययसंज्ञा माभूत्—चः समुच्चये, एवोऽवधारणे इत्यादि । **नामग्राहं चादीनि कानिचिन्निर्दिशति** । च अह इत्यादि । आदिशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थकत्वादेषां विस्तरतः परिगणनमर्थकथनं चैवम्—**च** अन्वाचयसमाहारेतरेतरयोगसमुच्चयेषु । **अह** निर्देशविनियोगकिलार्थेषु, पूजायामपि । **ह** अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि । **वा** स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे समुच्चये । **एव** अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु, अनवक्लृतावपि । **एवमु**पमानोपदेशप्रश्नावधारणप्रतिज्ञानेषु, उक्तपरामर्शेऽपि । **नूनं** वितर्के अर्थनिश्चये च । **शश्वत्** स्वरादावपि पठितः । **सूपत् कूपत्** द्वावपि प्रश्नवितर्कप्रशंसासु, कचित् स्वरादावपि पठितः । **नेत् चेत्** द्वावपि प्रतिषेधावधारणसमुच्चयेषु । नेदिति शंकायां विचारेऽपि । चेदिति यद्यर्थे इति मनोर० । **नचेत्** निषेधे । **चण्** अयं चेदर्थे णित्, समुच्चयादौ त्वननुबन्धः । **कच्चि**दिष्टप्रश्ने । **यत्र** कालेऽधिकरणे, मनोरमायां तु यत्रेत्यनवक्लृप्त्यमर्षगर्हाश्चर्येषु । नावकल्पयामि न मर्षये । गर्हे आश्चर्ये वा । यत्र भवान् वृषलं याजयेत् । **नह** प्रत्यारम्भविषादप्रतिविधिषु । **नहि** अभावे । **हन्त** प्रीतिविषादसम्प्रदानेषु, मनोरमायां हन्तेति हर्षे विषादे अनुकम्पायां वाक्यारम्भे च । **माकिस् नकिस्** द्वावपि निषेधे वर्जने च । **मा माङ् न नञ्** एते सर्वेऽपि निषेधार्थाः । माकिः माकिं नकिरिति त्रयोऽपि वर्जने इति मनोरमायाम् । **वाव** सम्बोधने । **त्वाव न्वाव वावत् त्वावत् न्वावत्** एते अनुमानप्रतिज्ञाप्रैषसमाप्तिषु । **त्वै तुवै न्वै नुवै** चत्वारोऽप्येते वितर्के पादपूरणे च । **रै** दाने अनादरे च (दाने दीप्तौ च इति है० बृ० न्या०) । रै करोति ददातीत्यर्थः त्वं रै किं करिष्यसि इति मनोरमायाम् । **वै** निश्चये (स्फुटार्थे इति है० बृ० न्या०) । **श्रौषट् वौषट् वषट्** देवहविर्दानादौ । **वट् वाट् वेट्** एते त्रयोऽपि वियोग-पादपूरणयोः । **पाट् प्याट्** द्वावपि सम्बोधने । अत्र डकारं केचित् पठन्ति । **फट् हुंफट् छंवट्** एते त्रयोऽपि निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः । **अध** अधोऽर्थे । **आत्** कोपपीडयोः । **स्वधा** पितृभ्यो हविर्दाने, **स्वाहा** देवताभ्यः । **अलमिति** स्वरादौ निरूपितम् । **चन** अप्यर्थे पादपूरणे च । **हि** हेतावधारणे च । **अथ** मंगलानन्तरारम्भ-

प्रश्नकार्त्स्न्याधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु। अयं स्वरादिरपि। तेन मंगलवाचकस्य द्रव्यार्थत्वेऽपि अव्ययत्वं सिद्ध्यति। तथा च **श्रीहर्षः** "उदस्य कुंभीरथ शातकुंभजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे। यथा-कुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव" इति, अत्र हि अथ स्नपयाम्बभूवेत्यस्य मङ्गलं स्नपनं चकारेत्यर्थः। निपातस्तु स्वरूपेणैव मङ्गलं मृदङ्गध्वनिवत् इति मनोरमायाम्। **ओ**मिति स्वरादौ पठितम्। **अथो** अन्वादेशादौ। **नो नोहि** एतौ निषेधे। **भोस् भगोस् अघोस् अङ्घो हंहो हो अहो आहो उताहो** नवाप्येते सम्बोधने। **हा ही** एतौ विषादविस्मये (हा विषादशु-(शो)कार्त्तिषु, ही विस्मये इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **हे है हये अये अयि अररे अङ्ग रे अरे अवे** हेप्रमुखा दशाप्यनुशयसम्बोधनयोः ([हाप्रभृति] द्वादशैतेऽनुशयसम्बोधनयोरिति है॰ बृ॰ न्या॰)। **ननु** विरोधोक्तौ अनन्वयादौ च। **शुकम् सुकम् नुकम् हिकम् नहिकम्** पञ्चाप्येते प्रत्याख्याने। **शुकम्** शैघ्र्ये शुकमतिशये इति मनोर॰। **ऊम्** प्रश्ने। **हुम्** भर्त्सने। **कुम्** प्रश्ने। **उञ्** रोषोक्तौ (अस्ति सत्त्वे रोषोक्तौ च **सुञ्** उञ्वत् इति है॰ बृ॰ न्या॰) **कम्** पादपूरणे (स्वरादौ ज्ञातव्यमिति है॰ बृ॰ न्या॰)। **हम्** रोषानुपमादौ (रोषानुकम्पादौ इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **किम्** प्रश्ने वितर्के च। **हिम्** संभ्रम-भर्त्सनयोः। **अद्** विस्मये। **कद्** कुत्सायाम्। **यद् तद्** हेत्वर्थवाक्योपन्यासयोः। **इद्** अपूर्वेऽर्थे ईषदर्थे च। **चिद्** प्रश्नावधारणयोः। **किद्** भर्त्सनपादपूरणयोः। **स्विद्** विमर्शप्रश्नयोः। **उत** वितर्के (विकल्पे इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **बत** खेदानुकम्पासंतोषविस्मयामन्त्रणेषु। **इव** उपमावधारणयोः। **तु** विशेषणपादपूरणयोः। **नु** वितर्कपादपूरणयोः। **यच्च** वाक्यान्तरोपक्रमे। **कच्चन** कच्चिदर्थे। **किमुत** विकल्पे। **किल** संप्रश्नवार्तयोः अलीकेऽपि। **किंकिल** किलार्थे। **किंस्विद् उदस्विद् आहो-स्विद्** एते त्रयोऽपि प्रश्नवितर्कविकल्पेषु। **अहह** अद्भुतखेदयोः। **नहवै नवै** द्वावपि प्रत्याख्याने। **नवा** विभाषायाम्। **अन्यत्** अन्यार्थे। **अन्यत्र** अन्याधिकरणे काले। **शव् शप्** द्वावपि प्रतिग्रहे। **अथकिम्** अङ्गीकारे। **विषु** नानार्थे। **पटू** पाटवे। **पशु** दृश्यर्थे। पशु सम्यगर्थे 'पशु मन्यमानाः' इति मनोर॰। **खलु** निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनयेषु। **यदिनाम** पक्षान्तरे। **यदुत** पराशय-प्रकाशनादौ। **प्रत्युत** उक्तवैपरीत्ये। **यदा** देशाद्यधिकरणे। **जातु** कदाचिदित्यर्थे, अवधारणपादपूरण-योरपि। **यदि** पक्षान्तरे। **यथाकथाच** अनादरे। **यथा** योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्येषु। **तथा** साम्ये। **यथायथ**मिति मकारान्तमव्ययं यथास्वमित्यर्थे इति "सामीप्येऽधोध्युपरि (७।४।७९) इति द्विर्वचनसूत्रवृत्तौ। **पुद्** कुत्सायाम् **पुरा** स्वरादौ पठितः सत्त्वभूते काले, अत्र त्वसत्त्वभूते। **द्य** हिंसाप्रातिलोम्ययोः। **यावत् तावद्** एतौ साकल्यावधिमानावधारणेषु। साकल्ये—यावत्कार्यं ताव-त्कृतम्। अवधौ—यावद्गन्तव्यं तावत्तिष्ठ। माने—यावद्दत्तं तावद्भुक्तम्। अवधारणे—यावदमत्रं ब्राह्मणा-नामन्त्रयस्व (मर्यादावधिपरिमाणेषु इति है॰ बृ॰ न्या॰) **दिष्ट्या** सम्मदे, पूर्वप्रीतिसेवनयोः सभाजन-प्रातिलोम्ययोर्वा। **मर्या** सीमाबन्धे। **आम** पीडायाम्। **नाम** प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सनेषु। **स्म** अतीते पादपूरणे च। **इतिह** पुराश्रुतौ। **सह** तुल्ययोगविद्यमानयोः। **अमा** सहार्थे समीपे च। **समम् सत्रा साकम् सार्द्धम्** एते सहार्थे (समम् समन्ततोऽर्थे इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **ईम् कीम् सीम्** निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु। (**ईम्** अव्यक्ते **कीम्** संशयप्रश्नानुमानेषु। **सीम्** अभिनवव्याहरणामर्षपादपूरणेषु इत्येके इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **आम्** प्रतिवचनावधारणयोः। **आस्** स्मृतिखेदयोः, कोपे च। **इति** एवमर्थे प्रकारार्थे ग्रन्थसमाप्तौ शब्दप्रादुर्भावे अर्थसमाप्तौ पदार्थविपर्या-सादौ (एवमर्थे आद्यर्थे हेत्वर्थे प्रकारार्थे शब्दप्रादुर्भावे ग्रन्थसमाप्तौ पदार्थविपर्यासादौ च इति है॰ बृ॰ न्या॰)। **अव अड अट** एते त्रयोऽपि भर्त्सने। **बाढा** निष्पत्तौ। **अनुषक्** अनुमाने केचित्तान्तं

केचिद्दान्तमपरे दीर्घादि च मन्यन्ते । **खोस्** कुत्सायाम् । **स्वराश्चतुर्दशापि** पूरणभर्त्सनामन्त्रणनिषेधेषु । **अ** इति सम्बोधनेऽधिक्षेपे निषेधे च । **आ** इति वाक्यस्मरणयोः । **इ** सम्बोधनजुगुप्साविस्मयेषु । **इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ** सम्बोधने इति मनोरमायाम् । चादय इत्यत्र बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेन **आत** इतोऽपीत्यर्थे । **यत्तत् यतस्तत** एतौ हेतौ । **अनुकं** वितर्के । **शंवट्** अन्तःकरणे आभिमुख्ये च । **व** पादपूरणे इवार्थे च । **चाटु चटु** प्रियवाक्ये । **हुं** भर्त्सने । **तुमिति** तुंकारे गुरुं तुंकृत्य । **इव** सादृश्ये । **अद्यत्वे** इदानीमित्यर्थे, इत्यादयो ज्ञेयाः ॥ २ ॥ अव्ययसंज्ञायामेव सूत्रमाह—

अधण्तस्वाद्याशसः ॥ ३ ॥ [सि० १।१।३२]

धण्वर्जास्तस्वादयः शसपर्यन्ता ये प्रत्ययास्तदन्तं नामाव्ययं स्यात् ।

अध० । तसुरादिर्यस्य तत्तस्वादि । न धण् अधण् अधण् च तस्वादि च अधणतस्वादि १-१ "अनतो लुप्" । आ १-१ "अव्ययस्य" । शस् ५-१ *"आङावधौ" अवधिर्मर्यादा अभिविधिश्च तद्वृत्तेराङा युक्तात्पञ्चमी स्यादिति पञ्चमी । शस्पर्यन्ता इति अत्राङोऽभिविध्यर्थत्वात् शस्प्रत्ययान्तानामप्यव्ययसंज्ञा सिद्ध्यति । अथ तस्वादीनां प्रत्ययान्तानां कतिचित्सूत्राणि निर्दिशति सूत्रम्—

व्याश्रये तसुः ॥ ४ ॥ [सि० ७।२।८१]

षष्ठ्यन्तात् नानापक्षाश्रये गम्ये तसुः स्यात् । देवा अर्जुनतोऽभवन् रविः कर्णतोऽभवत् ॥४॥

व्याश्रये इति । नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः तसुरित्यत्र उकारोऽधण्तस्वाद्याशस इत्यत्र विशेषणार्थः । देवा अर्जुनतोऽभवन् रविः कर्णतोऽभवदिति । अर्जुनकर्णयोर्विवदमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवाः कर्णस्य पक्षे आदित्योऽभवदित्यर्थः । अत्रादिशब्दात् **"रोगात्प्रतीकारे"** (७।२।८२) तसुः । मूर्च्छातः कुरु— अस्य रोगस्य चिकित्सां कुर्वित्यर्थः । **क्षेपातिग्रहाव्यथेष्वऽकर्तुस्तृतीयायाः"** (७।२।८५) तृतीयान्तादकर्तृवाचिनः क्षेपादिविषये तसुः स्यात् । वृत्तेन वृत्ततः क्षिप्तः, निन्दित इत्यर्थः । अतिक्रम्य ग्रहणमतिशयेन वा ग्रहणमतिग्रहः । वृत्तेन वृत्ततोऽतिगृह्यते । साधुवृत्तोऽन्यानतिक्रम्यातिशयेन वा गृह्यते साधुवृत्त इति सम्भाव्यते इत्यर्थः । अचलमव्यथा अभीतिर्वा वृत्तेन वृत्ततो न व्यथते न चलति न बिभेति वेत्यर्थः । क्षेपादिष्विति किम् ? वृत्तेन भिन्नः । अकर्तुरिति किम् ? चैत्रेण क्षिप्तः । तृतीयायाः इति किम् ? चैत्रं क्षिपति । **पापहीयमानेन** [सि० ७।२।८६] अकर्तृवाचिनः तृतीयान्तादाभ्यां योगे तसुः स्यात् । वृत्तेन वृत्ततः पापः, वृत्तेन वृत्ततो हीयते । शब्दतो हीनः स्वरतो वर्णतो वा । अकर्तुरित्येव— चैत्रेण हीयते । आभ्यामिति किम् ? चारित्रेण शुद्धः । तृतीयाया इत्येव—ग्रामे हीयते । क्षेपाविवक्षायां तत्त्वाख्याने यथा स्यादिति वचनम् । **"प्रतिना पञ्चम्याः"** (७।२।८७) प्रतिना योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसुः स्यात्, वा । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति, वासुदेवतः । प्रति माषानस्मै तिलेभ्यः, तिलतः प्रतियच्छति ॥ ४ ॥ सूत्रम्—

पर्यभेः (सर्वोभये) ॥ ५ ॥ [सि० ७।२।८३]

तसुः । परितः । अभितः ॥ ५ ॥

पर्य० । परिश्च अभिश्च पर्यभि तस्मात् पर्यभि ५-१ । तसुः इत्यस्य वृत्तिलेशस्यायमर्थः । परि अभि इत्येताभ्यां यथाक्रमं सर्वोभयार्थे वर्त्तमानाभ्यां तसुः स्यात् । परितः सर्वतः, अभित उभयत इत्यर्थः । एवम् **"आद्यादिभ्यः"** (७।२।८४) एभ्यः संभवद्विभक्त्यन्तेभ्यस्तसुः प्रत्ययो भवति । आदौ आदेर्वा आदितः एवं मध्यतः अन्ततः अग्रतः वक्षस्तः पार्श्वतः पृष्ठतः मुखतः सर्वतः विश्वतः उभयतः अन्यतः पूर्वतः

एकतः इतः । प्रमाणेन प्रमाणाद्वा प्रमाणतः । पृष्ठेन पृष्ठतोऽर्कं सेवेत । एवं पार्श्वतः इतः । दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा । शब्दतः अर्थतः अभिधानतः । येन यस्मिन्वा यतः, ततः, पृषोदरादित्वाद्दलोपः । आद्यादयः प्रयोगगम्याः ॥ ५ ॥

अहीयरुहोऽपादाने ॥ ६ ॥ [सि० ७।२।८८]

अपादानपञ्चम्यास्तसुर्वा स्यात् । ग्रामतो ग्रामात् । हीयरुहोस्तु न–सार्थाद्धीनः, गिरेरवरोहति ॥ ६ ॥

अहीय० । हीयश्च रुह् च हीयरुह्, न हीयरुह् तस्य अहीयरुह् ६-१ । अपादान ७-१ । अपादानपञ्चम्या इत्यादि–अपादाने या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसुः प्रत्ययो वा भवतीत्यर्थः । हीयरुहोस्तु नेति–तच्चेदपादानं हीयरुहोः सम्बन्धि भवति तर्हि तसुर्न स्यादित्यर्थः । सार्थाद्धीन इत्यत्र सार्थादिति कर्तुरपायेऽवधिविवक्षा सार्थेन हीयते देवदत्त इत्यर्थः । हीयते इति कर्मकर्त्तरीत्यन्ये सार्थात् स्वयं हीयते, स्वयं देवदत्त इत्यर्थः । हीयेति क्यान्तस्य जहातेर्निर्देशो जिहीते इत्यस्य व्युदासार्थः । तेन तत्र प्रतिषेधो न भवति–भूमित उज्जिहीते । हागिति निर्देशेनैव हाङो निवृत्तिसिद्धौ हीयेति निर्देशो यत्रैव भावे कर्म्मणि कर्मकर्त्तरि च जहातेः प्रयोगस्तत्रैवापायविवक्षा नान्यत्रेत्येवमर्थं तेन सार्थाज्जहातीति न भवति (सार्थो जहातीति वाक्ये) । अपादान इति किम् ? ऋते धर्मात्कुतः सुखम्, आ स्तुम्नाद्वृष्टो देव इति ॥ ६ ॥

किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः पित्तस् ॥ ७ ॥ [सि० ७।२।८९]

किमो द्व्यादिवर्जसर्वादिभ्योऽवैपुल्यार्थबहोश्च पञ्चम्यन्तात्पित्तस् स्यात् । कुतः । सर्वतः । बहुतः ॥ ७ ॥

किम० । द्विरादिः येषां ते द्व्यादयः, न द्व्यादयः अद्व्यादयः, सर्व आदिर्येषां ते सर्वादयः, अद्व्यादयश्च ते सर्वादयश्च अद्व्यादिसर्वादयः, विपुलस्य भावो वैपुल्यम्, न वैपुल्यमवैपुल्यम्, अवैपुल्ये बहुः अवैपुल्यबहुः, किम् च अद्व्यादिसर्वादयश्च अवैपुल्यबहुश्च किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहुः, तस्मात् किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहु ५-१ । पित् १-१ तस् १-१ । कुत इत्यादि–कस्मात् कुतः सर्वेभ्यः सर्वतः बहुभ्यो बहुतः । किमः सर्वादित्वेऽपि द्व्यादिवर्जनात् न प्राप्नोतीति पृथगुपादानम् । द्व्यादिवर्जनं किम् ? द्वाभ्याम् । त्वत् । **कथं** द्वितः त्वत्त इत्यादि ? "अहीयरुहोपादाने" (७।२।८८) इति भविष्यति । अनेन हि तस्विधाने "आद्वेरः" इत्यत्वं स्यात् । बहोर्वैपुल्यप्रतिषेधः किम् ? बहोः सूपात् । किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः इति किम् ? वृक्षाद्विना । किंसर्वादिबहोश्च तसुविषयेऽपि परत्वात् अयमेव तस् । यत आगच्छति तत आगच्छति । निरनुबन्धप्रत्ययान्तरकरणं "आद्वेरः" इत्यत्वार्थम् । पित्करणं पुंवद्भावार्थम्–बह्वीभ्यो बहुतः । पञ्चम्यन्तमात्रादयं विधिः–सर्वतो हीयते सर्वतो रोहति सर्वतो हेतोः सर्वतः पूर्वः ॥ ७ ॥

इतोऽतः कुतः ॥ ८ ॥ [सि० ७।२।९०]

एते तसन्ता साधवः ॥ ८ ॥

इतो० । इतश्च अतश्च कुतश्च इतोऽतः कुतः १-१ "अव्ययस्य" । साधवः इति–एते शब्दा निपात्यन्ते इत्यर्थः । इदंशब्दस्य इत इति, एतच्छब्दस्य अत इति, किम्शब्दस्य कुत इति । साकोऽप्येवम्–अस्मात् इमकस्मात् इतः, एतस्मात् एतकस्मात् अतः, कस्मात् कुत इति । इह पञ्चम्या इति नानुवर्त्तते, लक्षणान्तरेण तसि तसौ वा सिद्धे आदेशमात्रं विधीयते, तेनोत्तरसूत्रेण तसि इतो भवान् । आद्यादितसौ इतः आस्यतामिति भवति । अत्रादिशब्दसंसर्गात् **"भवत्वायुष्मद्दीर्घायुर्देवानांप्रियैकार्थात्"** [७।२।९१]

एभिश्चतुर्भिः समानाधिकरणात् किमव्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः सर्वविभक्त्यन्तात् पित्तस् स्यात् । स भवान् ततो भवान्, तौ भवन्तौ ततो भवन्तौ, ते भवन्तः ततो भवन्तः, तं भवन्तं ततो भवन्तं, तेन भवता ततो भवता, तस्मै भवते ततो भवते, तस्मात् भवतः २, तस्य भवतः २ । एवमयं भवान् इतो भवान् । को भवान् कुतो भवान् इत्याद्युदाहार्यम् । तथा स आयुष्मान् तत आयुष्मान् । स दीर्घायुः ततो दीर्घायुः । स देवानांप्रियः ततो देवानांप्रियः । अयमायुष्मान् इत आयुष्मान् क आयु० कुत आयु० । एवं दीर्घायुर्देवानांप्रियाभ्यामपि । भवत्वित्युकारः सर्वादिपरिग्रहार्थः । तेन मतुशत्रंतव्युदासः । **त्रप् च** [७।२।९२] भवत्वादिभिः समानाधिकरणात् किमव्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोः सर्वविभक्त्यन्तात् त्रप् स्यात् । स भवान् तत्र भवान्, तौ भवन्तौ तत्र भवन्तौ, ते भवन्तः तत्र०, तं भवन्तं तत्र०, तेन भवता तत्र०, तस्मै भवते तत्र भ०, तस्माद्भवतः २, तत्रभवतः २, तस्मिन् भवति तत्र०, । एवमायुष्मदादिभिरप्युदाहार्यम् । योगविभागश्चकारेण पुनस्तस्विधानार्थस्तेन सप्तम्यन्तात् अपि तस् भवति । ततो भवति तत्र भवति, अन्यथा हि ततः "सप्तम्याः" परत्वात् त्रबेव स्यात् । रूढिशब्दाश्चैते ततोभवदादयः समुदायाः पूजावचना यथाकथंचिद्व्युत्पाद्यन्ते अत एव पुनस्तदादिरनुप्रयुज्यते । स तत्रभवान्, तं तत्रभवन्तम् । केचित्तु भवच्छब्दस्यामन्त्रणे सौ भो इत्यादेशं कुर्वन्ति तन्मते ततो भोः तत्रभोरित्यपि भवति केचित्तु भवदाद्ययोगेऽपि त्रप्तसाविच्छन्ति क गमिष्यसि कं देशं गमिष्यसीत्यादि ॥ ८ ॥ सूत्रम्—

सप्तम्याः ॥ ९ ॥ [सि० ७।२।९४]

सप्तम्यन्तात्किमादेस्त्रप् । सर्वत्र । बहुत्र ॥ ९ ॥

सप्त० । सप्तमी ५-१ । किमादेरिति किमोऽव्यादिसर्वादिभ्यो अवैपुल्यबहोश्चेति ज्ञेयम् । पकारस्य पुंवद्भावार्थत्वाद् बह्वीषु बहुत्र ॥ ९ ॥

ककुत्रात्रेह ॥ १० ॥ [सि० ७।२।९३]

क, कुत्र, अत्र, इह, एते त्रबन्ताः साधवः ॥ १० ॥

कश्च कुत्रश्च अत्रश्च इहश्च ककुत्रात्रेह १-१ "अव्ययस्य" । केति किमः कादेशः त्रपश्चाकारः । कुत्रेति किमः कु इत्यादेशः । अत्रेति एतदो अकारादेशः एतस्मिन् अत्र, साकोऽपि एतकस्मिन् अत्र । इहेति इदम इकारादेशः त्रपश्च हादेशः, अस्मिन् इमकस्मिन् इह । एषु "सप्तम्याः" इति त्रप् । त्रप्मात्रे चैते आदेशा विधीयन्ते तेन भवदादियोगेऽपि भवन्ति । क भवान् कुत्र भवान्, अत्र भवान् इह भवान्, क आयुष्मान् कुत्रायुष्मान् इत्यादि ॥ १० ॥ सूत्रम्—

अनद्यतने र्हिः ॥ ११ ॥ [सि० ७।२।१०१]

ङ्यन्तादनद्यतनकाले यथासंभवं किमादेः र्हिः स्यात् । कर्हि । यर्हि । बहुर्हि ॥ ११ ॥

अनद्य० । कस्मिन्ननद्यतने काले कर्हि । यर्हि तर्हि अन्यर्हि । एतस्मिन्ननद्यतने काले एतर्हि । एतदः साको नेष्यते । अमुष्मिन् काले अमुर्हि । इदमस्तु अनेन नेष्यते । बहुषु कालेषु बहुर्हि । काल इत्येव-यस्मिन्ननद्यतने भोजने यत्र । अनद्यतन इति किम् ? यस्मिन् काले यदा । अनद्यतनेऽपि काले कालमात्रविवक्षायां दादिः प्रत्ययो भवति—कदा । सप्तम्यर्थमात्रविवक्षायां त्रबपि भवति अमुत्र काले ॥ ११ ॥ सूत्रम्—

प्रकारे था ॥ १२ ॥ [सि० ७।२।१०२]

यथासंभवं स्याद्यन्तात्किमादेशः प्रकारे था स्यात् । सर्वथा ॥ १२ ॥

प्रका० । "सप्तम्याः" इति निवृत्तमत आह—संभवत्स्याद्यन्तादिति । प्रकारे इति सामान्यस्य भिद्यमानस्य भेदान्तरानुप्रवृत्तो भेदः प्रकारः । सर्वेण प्रकारेण सर्वथा । बहोस्तु परत्वाद्धा भवति, संख्यावाचित्वादिति ॥ १२ ॥ सूत्रम्—

कथमित्थम् ॥ १३ ॥ [सि० ७।२।१०३]

एतौ प्रकारे साधू ॥ १३ ॥

कथमिति किमस्थापवादः थम् निपात्यते, केन प्रकारेण कथम् । इत्थमिति इदम एतदो वा थम्प्रत्यय इदादेशश्च । अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम् ॥ १३ ॥

किंयत्तत्सर्वैकान्यात्काले दा ॥ १४ ॥ [सि० ७।२।९५]

कदा । यदा । तदा । सर्वदा । एकदा । अन्यदा ॥ १४ ॥

किंयत्० । एभ्यः षड्भ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः काले दा स्यात् । कस्मिन्काले कदा । एवं यदा तदा सर्वदा एकदा अन्यदा । काल इति किम्? क्व देशे ॥ १४ ॥

सदाधुनेदानींतदानीमेतर्हि ॥ १५ ॥ [सि० ७।२।९६]

एते काले साधवः ॥ १६ ॥

एते पञ्चशब्दाः काले वाच्ये निपात्यन्ते । सदेति सर्वशब्दाद्दाप्रत्ययः सभावश्चास्य, सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदेत्यपि पूर्वेण । इदमो धुनाप्रत्ययः अकारादेशश्च, अस्मिन्काले अधुना । इदमो दानींप्रत्ययः इकारादेशश्च, अस्मिन् काले इदानीम् । तच्छब्दाद्दानींप्रत्ययः तकारादेशश्च, तस्मिन्काले तदानीम् । इदमो र्हिप्रत्ययः, एतादेशश्च अस्मिन्काले एतर्हि ॥ १५ ॥

सद्योऽद्यपरेद्यव्यह्नि ॥ १६ ॥ [सि० ७।२।९७]

एतेऽह्नि काले साधवः ॥ १६ ॥

सद्यो० । एते त्रयोऽह्नि काले निपात्यन्ते । समानशब्दात् सप्तम्यन्तादह्नि काले वर्त्तमानात् द्यस्प्रत्ययः समानस्य च सभावो निपात्यते, समानेऽह्नि सद्यः । इदमूशब्दात् द्यप्रत्ययः अकारादेशश्चास्य, अस्मिन्नहनि अद्य । परशब्दात् एद्यविप्रत्ययः, परस्मिन्नहनि परेद्यवि । सद्य इति केचित् कालमात्रे निपातयन्ति ॥ १६ ॥

पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस् ॥ १७ ॥ [सि० ७।२।९८]

ङ्यन्तेभ्यः सप्तभ्य एभ्योऽह्नि काले एद्युस् । पूर्वेद्युः ॥ १७ ॥

पूर्वा० । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः । एवं अपरेद्यु अधरेद्युः उत्तरेद्युः अन्येद्युः अन्यतरेद्युः इतरेद्युः ॥१७॥

उभयाद् द्युश्च ॥ १८ ॥ [सि० ७।२।९९]

उभयद्युः । चादेद्युस्—उभयेद्युः ॥ १८ ॥

उभ० । उभयस्मिन्नहनि उभयद्युः उभयेद्युः १८ ॥

ऐषमःपरुत्परारि वर्षे ॥ १९ ॥ [सि० ७।२।१००]

पूर्वस्मिन्वर्षे परुत् । पूर्वतरे वर्षे परारि ॥ १९ ॥

ऐष० । एते त्रयो वर्षकाले निपात्यन्ते । इदम्शब्दात् सप्तम्यन्तात् वर्षे वर्त्तमानात् समसिण्प्रत्ययः इदमश्चेकारादेशः अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । इमकस्मिन् ऐषमः । पूर्वशब्दात्परशब्दाद्वा उत्प्रत्ययस्तस्य च पर इत्यादेशः पूर्वस्मिन् परस्मिन् वा संवत्सरे परुत् । पूर्वतरशब्दात्परतरशब्दाद्वा आरिप्रत्ययस्तस्य परादेशः पूर्वतरे परतरे वा संवत्सरे परारि ॥ १९ ॥

सङ्ख्याया धा ॥ २० ॥ [सि० ७।२।१०४]

प्रकारे । एकधा ॥ २० ॥

सङ्ख्या० । सङ्ख्या ६-१ । धा १-१ । एकधेति-एकेन प्रकारेण एकधा । एवं द्विधा त्रिधा चतुर्धा पञ्चधा शतधा बहुधा गणधा कतिधा तावद्धा ॥ २० ॥ एकत्र्यादीनां सङ्ख्यात्वं प्रसिद्धं कत्यादीनां तु न तथेति **सङ्ख्याया अतिदेशमाह—**

डत्यतु सङ्ख्यावत् ॥ २१ ॥ [सि० १।१।३९]

डत्यन्तमत्वन्तं च सङ्ख्यावत् स्यात् । कतिधा । यावद्धा ॥ २१ ॥

डत्य० । डतिश्च अतुश्च डत्यतु १-१ । सङ्ख्येव सङ्ख्यावत् १-१ ॥ २१ ॥

बहुगणं भेदे ॥ २२ ॥ [सि० १।१।४०]

तथा । बहुधा गणधा ॥ २२ ॥

बहु० । बहुश्च गणश्च बहुगण १-१ । भेद ७-१ । तथेति बहुगणशब्दौ सङ्ख्यावदित्यर्थः । भेदे इति किम् ? वैपुल्ये सङ्घे च सङ्ख्यावद्भावो मा भूत् ॥ २२ ॥ एवम्—

विचाले च ॥ २३ ॥ [सि० ७।२।१०५]

द्विधा । एकधा ॥ २३ ॥

विचलनं विचालः द्रव्यस्य पूर्वसङ्ख्यायाः प्रच्युतिः सङ्ख्यान्तरापत्तिरेकस्यानेकीभावः (अनेकस्य चैकीभावः) तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्यावाचिनो नाम्नो धाप्रत्ययो भवति । एको राशिर्द्वौ क्रियते—द्विधा क्रियते, एको राशिर्द्वौ भवति—द्विधा भवति । अनेक एकः क्रियते—एकधा क्रियते, अनेक एको भवति—एकधा भवति । चकार उत्तरत्र प्रकारे विचाले चेत्युभयोः समुच्चयार्थः । प्रकारोऽवस्थितस्य धर्मिणो भवति । विचाले तु अवस्थित एव धर्मी (धर्मः) पृथक् क्रियते ॥ २३ ॥

वैकाद् ध्यमञ् ॥ २४ ॥ [सि० ७।२।१०६]

ऐकध्यम् । एकधा ॥ २४ ॥

वैका० । वा १-१ । एक ५-१ । ध्यमञ् १-१ । एकशब्दात्प्रकारे वर्त्तमानाद्विचाले च गम्यमाने ध्यमञ् प्रत्ययो भवति वा । एकेन प्रकारेण ऐकध्यम् एकधा भुङ्क्ते । अनेकमेकं करोति ऐकध्यं करोति । एकधा करोति । वाग्रहणं धार्थम् ॥ २४ ॥

द्वित्रेर्धमञेधौ वा ॥ २५ ॥ [सि० ७।२।१०७]

द्वित्रिभ्यां प्रकारादिष्वेतौ वा स्याताम् । द्वैधम् । त्रैधम् । द्वेधा त्रेधा । द्विधा त्रिधा । इति ॥२५॥

द्वित्रि० । द्विश्च त्रिश्च द्वित्रि, तस्मात् द्वित्रि ५-१ । धमञ् च एधा च धमञेधा १-२ । वा १-१ । प्रकारादिष्विति आदिशब्दात् विचाले गम्यमाने इति । प्रकृतिप्रत्यययोर्वचनभेदाद्यथासंख्यं नास्ति ।

द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां त्रिभिः प्रकारैः द्वैधम्, त्रैधम्, द्वेधा, त्रेधा भुङ्क्ते । वावचनाद्द्विधा त्रिधा । एकं राशिं द्वौ त्रीन् वा करोति, द्वैधम्, त्रैधम्, द्वेधा, त्रेधा, द्विधा, त्रिधा करोति ॥ २५ ॥

वारे कृत्वस् ॥ २६ ॥ [सि० ७।२।१०९]

सङ्ख्यायाः । पञ्चकृत्वः ॥ २६ ॥

वारे० । वारो धात्वर्थस्यायौगपद्येन वृत्तिस्तत्कालो वा । तस्मिन्वर्त्तमानात्सङ्ख्याया इति सङ्ख्याशब्दात्तद्वति वारवति धात्वर्थे क्रियायामर्थे कृत्वस् प्रत्ययो भवति । पञ्च वारा अस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । भुज्यर्थो वारवानिति भुज्यर्थस्येदं विशेषणम् । तद्वतीत्येव–भोजनस्य पञ्च वाराः । सङ्ख्याया इत्येव–भूरयो वारा अस्य भोजनस्य ॥ २६ ॥

द्वित्रिचतुरः सुच् ॥ २७ ॥ [सि० ७।२।११०]

वारे । द्विस्त्रिश्चतुर्वा भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

द्वित्रि० । द्विश्च त्रिश्च चतुर् च द्वित्रिचतुर् तस्मात् । सुच् १-१ । वारे इति–एभ्यः सङ्ख्याशब्देभ्यस्तद्वति सुच् प्रत्ययो भवति । कृत्वसोऽपवादः । द्वौ वारावस्य द्विः, एवं त्रिश्चतुर्भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

एकात्सकृच्चास्य ॥ २८ ॥ [सि० ७।२।१११]

एकवारं भुङ्क्ते । सकृद्भुङ्क्ते ॥ २८ ॥

एका० । एकादिति एकशब्दाद्वारे वर्त्तमानात्तद्वत्यभिधेये सुच्प्रत्ययः सकृदिति चास्यादेशो भवति । कृत्वसोऽपवादः । एकवारं भुङ्क्ते सकृद्भुङ्क्ते । अत्रायं विशेषः "**बहोर्धासन्ने**" (७।२।११२) बहुशब्दात्सङ्ख्यावाचिनः आसन्ने अविदूरेऽविप्रकृष्टकाले वारे क्रियाप्रवृत्तौ तत्काले वाऽविप्रकृष्टे वर्त्तमानात्तद्वति धाप्रत्ययो भवति । बहव आसन्ना वारा अस्य बहुधा भुङ्क्ते । आसन्न इति किम्? बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते । आसन्नवारेऽपि वारमात्रे द्योत्ये कृत्वस् भवत्येव–बहुकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते । आसन्नता तु प्रकरणादिना गम्यते । एके तु गणधा भुङ्क्ते, तावद्धा भुङ्क्ते इत्यत्रापीच्छन्ति ॥ २८ ॥

ऊर्ध्वाद्रिरिष्टातावुपश्चास्य ॥ २९ ॥ [सि० ७।२।११४]

ऊर्ध्वाद्दिग्देशकालार्थात्प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तादेतौ (धापवादौ) स्याताम्, उपश्चास्यादेशः स्यात् । उपरि उपरिष्टात् रम्यं आगतो वासो वा ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वा० । एताविति रिरिष्टात् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः उपश्चास्येति अस्य ऊर्ध्वशब्दस्य उप इत्यादेशो भवति । उपरि उपरिष्टाद्रम्यमित्यत्र ऊर्ध्वा दिग् ऊर्ध्वो देशः ऊर्ध्वः कालो वा रम्य इत्यर्थः । 'क्रियाव्ययविशेषणे' इति वचनात् रम्यमित्यत्र नपुंसकत्वम् इति प्रथमान्तस्योर्ध्वशब्दस्योदाहरणम् । आगत इति–उपरि उपरिष्टात् आगतः ऊर्ध्वदिशः ऊर्ध्वदेशात् ऊर्ध्वकालाद्वा आगतः इति पञ्चम्यन्तस्योदाहरणम् । वासो वेति–उपरि उपरिष्टाद्वास इति ऊर्ध्वदिशि ऊर्ध्वदेशे ऊर्ध्वकाले वासश्चैत्रस्येति सप्तम्यन्तस्योर्ध्वशब्दस्योदाहरणम् । वाशब्द आगतो वास इत्यत्र प्रत्येकं उपरि उपरिष्टादित्यस्य समुच्चयार्थः । एवमन्यत्रापि रम्यमित्यादिभिः पदैः प्रथमा-पञ्चमी-सप्तमीभावना कार्या ॥ २९ ॥

पूर्वावराधरेभ्योऽसऽस्तातौ पुरवधश्चैषाम् ॥ ३० ॥ [सि० ७।२।११५]

प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तानाम् । पुरः पुरस्तात् । अवः अवस्तात् । अधः अधस्तात् रम्यम् ३ ॥ ३० ॥

पूर्वा० । सूत्रं कण्ठ्यम्, प्रथमेत्यादि वृत्तिलेशः । सूत्रवृत्तिलेशसङ्घटने चायमर्थः । दिग्देशकालार्थेभ्यः प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तेभ्यः पूर्वादिभ्यस्त्रिभ्योऽसू-अस्तात् इत्येतौ प्रत्ययौ स्याताम्, एषां त्रयाणां यथासङ्ख्यं पुर् अव् अध् इत्येते आदेशा भवन्ति । पुरः पुरस्तादित्यादि । रम्यमित्यत्र त्रिकेनाङ्केन आगतो वासो वेति पदत्रयसूचनम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । भावना प्राग्वत् ॥ ३० ॥

परावरात्स्तात् ॥ ३१ ॥ [सि० ७।२।११६]

परस्तात् अवरस्तात् रम्यम् ३ ॥ ३१ ॥

परा० । पर अवर इत्येताभ्यां दिग्देशकालार्थाभ्यां प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्ताभ्यां स्वार्थिकः स्तात्प्रत्ययो भवति । परा दिग् देशः कालो वा रम्यः । परस्ताद्रम्यं परस्तादागतः परस्ताद्वसति । एवमवरस्ताद्रम्यम् ३ ॥ ३१ ॥

दक्षिणोत्तरपरावरेभ्योऽतस् ॥ ३२ ॥

दक्षिणतो रम्यम् ३ ॥ ३२ ॥

दक्षिणोत्तराच्चातस् [सि० ७।२।११७] दक्षिण उत्तर इत्येताभ्यां चकारात् परावराभ्यां च दिग्देशकालेषु वर्त्तमानाभ्यां प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्ताभ्यां स्वार्थेऽतस् प्रत्ययो भवति । दक्षिणशब्दः काले न सम्भवतीति दिग्देशवृत्तिर्गृह्यते । एतत्सर्वं सङ्क्षेपत आह-दक्षिणोत्तरेत्यादि-दक्षिणतो रम्यमिति दक्षिणा दिग् देशो वा रम्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अधरापरदक्षिणोत्तरेभ्य आत् ॥ ३३ ॥

अधरात् रम्यम् ३ इत्यादि ॥ ३३ ॥

अधरापराच्चात् [सि० ७।२।११८] अधर अपर इत्येताभ्यां दिग्देशकालवृत्तिभ्यां प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्ताभ्यामात्प्रत्ययो भवति । चकारात् दक्षिणोत्तराभ्याम् । एतदपि सङ्क्षेपेणाह-अधरापरेत्यादि ॥ ३३ ॥

वा दक्षिणात्प्रथमासप्तम्या आ ॥ ३४ ॥ [सि० ७।२।११९]

दक्षिणा रम्यम् २ ॥ ३४ ॥

वा दक्षि० । दक्षिणशब्दाद्दिग्देशवृत्तेः प्रथमान्तात्सप्तम्यन्ताच्च आः प्रत्ययो वा भवति । दक्षिणा रम्यं दक्षिणा वसति । पक्षे अतसातौ-दक्षिणतो रम्यं दक्षिणतो वसति, दक्षिणाद्रम्यं दक्षिणाद्वसति । पञ्चम्यां सावकाशौ अतसातौ आत्प्रत्ययो बाधेतेति वाग्रहणम् । प्रथमासप्तम्या इति किम् ? दक्षिणत आगतः, दक्षिणादागतः ॥ ३४ ॥

आही दूरे ॥ ३५ ॥ [सि० ७।२।१२०]

दूरदिग्देशार्थात्प्रथमासप्तम्यन्ताद्दक्षिणादा आहिश्च । गिरेर्दक्षिणा दक्षिणाहि रम्यं वासो वा ॥ ३५ ॥

आही० । दूरदिग्देशार्थादिति-दिग्शब्दा अवध्यपेक्षाः । तत्रावधेर्दूरे दिशि वा वर्त्तमानादित्यर्थः । गिरेरित्यादि-गिरेर्दूरा दक्षिणा दिग् देशो वा रम्यः दक्षिणा दक्षिणाहि रम्यमिति । दूर इति किम् ? दक्षिणतः दक्षिणाद्रम्यम्-आहिर्न भवति आकारस्तु पूर्वेण सामान्येन विधानाद्भवत्येव । इह तु आग्रहणं विशेषविहितेन आहिना बाधो मा भूदिति । प्रथमासप्तम्या इत्येव-दक्षिणत आगतः ॥ ३५ ॥

वोत्तरात् ॥ ३६ ॥ [सि० ७।२।१२१]

उत्तरा उत्तराहि उत्तरतः उत्तरात् रम्यम् २ ॥ ३६ ॥

वोत्त० । उत्तरशब्दात्प्रथमासप्तम्यन्तात् आ आहि प्रत्ययौ वा भवतः । योगविभागाद्दूर इति नानुवर्त्तते । उत्तरा उत्तराहि रम्यम् । पक्षे अतसातौ द्वौ–उत्तरतः उत्तराद्रम्यम् । द्विकेनाङ्केन वासो वेति सप्तम्यन्तमुदाहरणं सूचितम् ॥ ३६ ॥

अदूरे एनः ॥ ३७ ॥ [सि० ७।२।१२२]

दिक्शब्दात्प्रथमासप्तम्यन्ताददूरे एनः स्यात् । पूर्वेणास्य रम्यं वासो वा ॥ ३७ ॥

अदूरे० । वोत्तरादिति नानुवर्त्तते । दिक्शब्दादिति–दिग्वाचिनः शब्दाद्दिग्देशकालवृत्तेः प्रथमासप्तम्यन्तादवधेरदूरे वर्त्तमानादेनः प्रत्ययो भवति । अस्मात्पूर्वा अदूरा दिग् देशः कालो वा रम्यः–पूर्वेणास्य रम्यम् । एवं वासो वेति सप्तम्यन्तता भावनीया । एवं अपरेण दक्षिणेन उत्तरेण अधरेण । अदूर इति किम् ? पुरो रम्यमित्यादि । प्रथमासप्तम्या इत्येव–पुर आगतः । दिग्देशकालमात्रे द्योत्ये ये सामान्यप्रत्यया उक्ता, अदूरेऽपि सामान्यविवक्षायां ते भवन्त्येव, प्रकरणादेश्चादूरता गम्यते इति नार्थो वाग्रहणेन । अन्ये तु दक्षिणोत्तराधरशब्देभ्य एव एनप्रत्ययमिच्छन्ति ॥ ३७ ॥

दिक्शब्दाद्दिग्देशकालार्थात्प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तात्स्वार्थे धा स्यात् ।
(दिक्शब्दाद्दिग्देशकालेषु प्रथमापञ्चमीसप्तम्याः [७।२।११३] इत्यनेन)

लुबञ्चेः ॥ ३८ ॥ [सि० ७।२।१२३]

अञ्चत्यन्ताद्दिक्शब्दाद्विहितयोर्धैनयोर्लुप् स्यात् । तल्लुपि च स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुब् भवति । प्राची दिक् प्राङ् देशः कालो वा रम्यः प्राग्रम्यम् । एवमागतो वासो वा ॥ ३८ ॥

दिक्० लुब० । सूत्रद्वयं स्पष्टम् । लुपि चेत्यादि *"ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगौणीसूच्योः" ङ्यादेः प्रत्ययस्य गौणस्याक्विबन्तस्य तद्धितलुकि लुक् स्यात्, न तु गौणीसूच्योरिति प्राग्रम्यमिति प्राची दिग् अदूरा वा । एवं देशः कालो वा रम्यः प्राग् रम्यम् । एवं प्रत्यक्-अवाक्-उदक्-ऊर्द्धपूर्वापरादीनां दिक्शब्दानां विशेषसूत्रविहितै रिरिष्टात्प्रभृतिभिः प्रत्ययैर्बाधितो धाप्रत्ययो न भवतीति । अञ्चत्यन्ता एव दिक्शब्दा उदाहृताः ॥ ३८ ॥ अपरशब्दस्य प्रत्ययपरे विशेषमाह—

पश्चोऽपरस्य दिक्पूर्वस्य चाति ॥ ३९ ॥ [सि० ७।२।१२४]

अपरा दिक् पश्चात् । दक्षिणपश्चात् ॥ ३९ ॥

पश्चो० । अपरशब्दस्य केवलस्य दिक्पूर्वस्य च आति प्रत्यये परे पश्चादेशो भवति । अपरा दिग् देशः कालो वा रम्यः पश्चाद्रम्यम् । पश्चादागतः, पश्चाद्वसति । दिक्पूर्वात्–दक्षिणा चासौ अपरा च दक्षिणापरा दिग् देशः कालो वा रम्यः, दक्षिणपश्चात् रम्यम्, आगतो वासो वेति भावना प्राग्वत् ॥ ३९ ॥

वोत्तरपदेऽर्धे ॥ ४० ॥ [सि० ७।२।१२५]

पश्चार्धम् । अपरार्धम् ॥ ४० ॥

वोत्तर० । अपरशब्दस्य केवलस्य दिग्पूर्वपदस्य अर्द्धशब्दे उत्तरपदे परे पश्चादेशो वा भवति । अपरमर्द्धं पश्चार्द्धम् । दक्षिणापरस्या अर्द्धं दक्षिणापश्चार्द्धम् । पक्षे अपरार्द्धम् दक्षिणापरार्द्धम् । उत्तरपद इति किम् ? अपरा अर्द्धे शोभते । असमासोऽयम् । पूर्वपदमुत्तरपदमिति हि समासे भवति ॥ ४० ॥

व्याप्तौ स्सात् ॥ ४१ ॥ [सि० ७।२।१३०]

कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां योगे प्रागतत्त्वे स्स सादिः सात् स्यात्, व्याप्तौ गम्यायाम् । द्विः सकारपाठान्नास्य षत्वम् । अग्निसात्करोति काष्ठम्, भवति स्यात् वा ॥ ४१ ॥

व्याप्तौ० । कृभ्वस्तिभ्यामित्यादि–करोति कर्मणो भ्वस्ति कर्त्तुश्च प्राक् पूर्वमतत्त्वस्य तत्त्वे गम्यमाने कृभ्वस्तिभ्यां च योगे स्सात्प्रत्ययो भवति । व्याप्तावित्यादि–प्रागतत्त्वस्य चेद्व्याप्तिः सर्वात्मना द्रव्येणाभिसंबन्धो गम्यते । द्विः सकारेत्यादि–अयं सकारः सकार एवास्तु, अस्य षत्वं माभूदित्येवमर्थं द्वितीयस्य सकारस्य ग्रहणात् । अग्निसात् करोति काष्ठमिति–सर्वं काष्ठं प्राग् नाग्निमग्निं करोति अग्निसात्करोति । एवं सर्वं काष्ठं प्राग् नाग्निरग्निर्भवति अग्निसाद्भवति अग्निसात्स्यादिति ॥ ४१ ॥

जातेः सम्पदा च ॥ ४२ ॥ [सि० ७।२।१३१]

कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे कृग्कर्मणो भ्वस्तिसम्पत्कर्त्तुश्च प्रागतत्त्वेन जातेः सामान्यस्य व्याप्तौ स्सात् स्यात् । अस्यां सेनायां सर्वं शस्त्रमग्निसात्करोति दैवम् । एवमग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । अग्निसात्सम्पद्यते । चकार उत्तरत्रोभयोः समुच्चयार्थः ॥ ४२ ॥

तत्राधीने ॥ ४३ ॥ [सि० ७।२।१३२]

सप्तम्यन्तादधीनेऽर्थे कृभ्वस्तिसंपद्योगे स्सात्स्यात् । राज्ञि अधीनं राजसात्करोति । भवति स्यात् सम्पद्यते वा ॥ ४३ ॥

तत्रा० । कृभ्वस्ति संपदा चेत्यनुवर्त्तते । कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्त्वे इति च निवृत्तम् । अत आह सप्तम्यन्तादित्यादि सप्तम्यन्ताद्देयोपाधिकेऽधीने आयत्तेऽर्थे कृभ्वस्तिसंपद्योगे त्रा स्यात् । क्रमेणोदाहरति–राज्ञि अधीनमिति केवलमधीनत्वे उदाहरणं राजसात्करोति राजस्वामिकं करोतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

देयेऽधीने च त्रा ॥ ४४ ॥ [सि० ७।२।१३३]

देवत्राकरोति द्रव्यम् ॥ ४४ ॥

देयोऽपाधिकेऽधीनेऽर्थे उदाहरणम्–देवत्रा करोतीति देवेऽधीनं देयं करोति देवत्रा करोति द्रव्यम् देवाय दातव्यमिति यत्स्थापितं तदिदानीं देवाय ददातीत्यर्थः । देवेऽधीनं देयं द्रव्यं भवति देवत्रा भवति एवं स्यात्संपद्यते इति ॥ ४४ ॥

सप्तमीद्वितीयाद्देवादिभ्यः ॥ ४५ ॥ [सि० ७।२।१३४]

सप्तमन्तेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यश्च देवादिभ्यः स्वार्थे त्रा स्यात् । देवेषु वसति देवत्रा वसति । देवेषु भवति देवत्रा भवति । देवेषु स्याद्देवत्रा स्यात् । देवान् करोति देवत्रा करोति । देवान् गच्छति देवत्रा गच्छति । एवं मनुष्यत्रा वसति, गच्छति । मर्त्यत्रा पुरुषत्रा, गच्छति । देवादयः शिष्टप्रयोगगम्याः ॥ ४५ ॥

बह्वल्पार्थात् कारकादिष्टानिष्टे प्शस् ॥ ४६ ॥ [सि० ७।२।१५०]

बह्वर्थात् अल्पार्थाच्च कारकवाचिनो नाम्नः प्शस्प्रत्ययो वा स्यात् । यथासङ्ख्यमिष्टेऽनिष्टे च विषये । इष्टं प्राशित्रादि, अनिष्टं श्राद्धादि । बह्वर्थ. ग्रामे बहवो ददति बहुशो ददति । बहु धनं ददाति बहुशो धनं ददाति । विवाहे बहुभिर्भुक्तं बहुशो भुक्तमतिथिभिरित्यादि । एवं भूरिशः

प्रभूतशः गणशः । अन्यार्थ. अल्प आयाति (कर्तृकारकवाक्यम्) अल्पश आयाति । अल्पं धनं दत्ते अल्पशो दत्ते । श्राद्धे अल्पैर्भुक्तम् अल्पशो भुक्तमित्याद्यपि । एवं स्तोकशः कतिपयशः बह्वल्पार्थादिति किम् ? गां ददाति, अश्वं ददाति । कारकादिति किम् ? बहूनां स्वामी । इष्टानिष्ट इति किम् ? बहु ददाति श्राद्धे, अल्पं ददाति प्राशित्रादौ । पकारः पित्कार्यार्थः ॥ ४६ ॥

सङ्ख्यैकार्थाद्वीप्सायां शस् ॥ ४७ ॥ [सि० ७।२।१५१]

सङ्ख्यार्थैकार्थाभ्यां वीप्सायां द्योत्यायां शस् वा स्यात् । एकैकमेकशो वा दत्ते । माषं माषं माषशो वा देहि ॥ ४७ ॥

सङ्ख्यै० । एकत्वविशिष्टोऽर्थ एकार्थः सङ्ख्या च एकार्थश्च सङ्ख्यैकार्थः तस्मात् । सङ्ख्यार्थेत्यादि–सङ्ख्यावाचिन एकत्वविशिष्टार्थवाचिनश्च कारकाभिधायिनो नाम्नो वीप्सायां द्योत्यायां शस् वा स्यात् । वीप्सायां द्विर्वचनस्य प्राप्तौ तदपवादोऽयम् । वाऽधिकारात् पक्षे द्विर्वचनमपि भवति । एकैकं दत्ते एकशो दत्ते । द्वौ द्वौ द्विशः । एवं त्रिशः तावच्छः कतिशः गणशः । एकार्थः–माषं माषं देहि माषशो देहि । एवं कार्षापणशः पणशः पादशः पलशः प्रस्थशः अर्द्धशः पर्वशः तिलशः संघशः पूगशः वृन्दशः पङ्क्तिशः वनशः प्रविशति । कूपीशः खनति । कुम्भीशः कलशीशो ददाति । क्रमश इति क्रमवतां भेदात् क्रमेण क्रमेण इति वीप्सा भवति । सङ्ख्यैकादिति किम् ? माषौ माषौ ददाति । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति, माषं ददाति । तानेकैकशः पृच्छेत् । एकैकशो निघ्नन्ति एकैकशो ददातीति वीप्सायां द्विरुक्तात् "बह्वल्पार्थात् कारकादिष्टानिष्टे प्शस्" इत्यनेन अल्पार्थात् प्शस् । वीप्सितवीप्सायां वानेनैव शस् एकैकमेकैकं पृच्छेदित्यर्थः । कारकादित्येव-द्वयोर्द्वयोः स्वामी । माषस्य माषस्येष्टे ॥ ४७ ॥

तद्वति धण् ॥ ४८ ॥ [सि० ७।२।१०८]

द्वित्रिभ्यां प्रकारवति धण् । द्वौ प्रकारावेषां द्वैधाः । धण्वर्जनात्तस्य नाव्ययत्वम् ॥ ४८ ॥

तद्व० । द्वित्रिभ्यां सङ्ख्यावाचिभ्यां तद्वति प्रकारवति विचालवति चाभिधेये धण्प्रत्ययो भवति । द्वौ प्रकारौ विभागौ वा एषां द्वैधानि त्रैधानि । राजद्वैधानि राजत्रैधानि । द्वैधीभावः । त्रैधीभावः । धण्वर्जनादिति–"अधणतस्वाद्याशस" इत्यव्ययसंज्ञाविधायकसूत्रे हि धण्वर्जितः ॥ ४८ ॥

विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः ॥ ४९ ॥ [सि० १।१।३१]

विभक्त्यन्ताभास्थमवसानतसादिप्रत्ययान्ताभाश्चाव्ययानि स्युः । चिराय चिरात् । भवतु अस्तु । कुतः । कथम् ॥ ४९ ॥

विभक्ति० । थम् अन्ते येषां ते थमन्ताः, तस् आदिर्येषां ते तसादयः, थमन्ताश्च ते तसादयश्च थमन्ततसादयः । विभक्तयश्च थमन्ततसादयश्च विभक्तिथमन्ततसादयः । ते इवाभान्तीति विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः । "विशेषणमन्तः" इत्यन्तशब्दः प्राप्यते इत्यत आह–विभक्त्यन्ताभा इत्यादि । अहं शुभं १ कृतं पर्याप्तं २ येन तेन चिरेण अन्तरेण ३ ते मे अह्नाय चिराय ४ चिरात् अकस्मात् ५ चिरस्य अन्योन्यस्य मम ६ एकपदे अग्रे प्रगे प्राह्णे हेतौ रात्रौ वेलायां मात्रायाम् ७ एते स्यादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपका अव्ययाः । अस्ति नास्ति असि अस्मि विद्यते भवति एहि ब्रूहि मन्ये शङ्के अस्तु भवतु पूर्यते स्यात् आस आह वर्त्तते नवर्त्तते याति नयाति पश्यति पश्यत आदह आदङ्क आतङ्क इति त्यादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपका अव्ययाः ॥ ४९ ॥

वत्तस्याम् ॥ ५० ॥ [सि० १।१।३४]

एतदन्तमव्ययम् ॥ ५० ॥

वत्त० । एतदन्तमिति वत्प्रत्ययान्तं तसिप्रत्ययान्तमामूप्रत्ययान्तं चाव्ययसंज्ञं स्यात् ॥ ४७ ॥ एषां प्रत्ययानां विधायकसूत्राण्याह—

स्यादेरिवे ॥ ५१ ॥ [सि० ७।१।५२]

स्याद्यन्तादिवार्थे क्रियासादृश्ये वत् स्यात् । अश्व इव अश्ववत् । मैत्रवद्याति चैत्रः । देवमिव देववत्पश्यन्ति मुनिम् ॥ ५१ ॥

स्यादेरि० । स्याद्यन्तादिति—इवशब्दः सादृश्यं द्योतयति तच्चेत्सादृश्यं क्रियाविषयं भवति । अश्ववदिति प्रथमान्तस्योदाहरणम्, देववदिति द्वितीयान्तस्य । एवं साधुनेव साधुवदाचरितं मैत्रेण, ब्राह्मणायेव ब्राह्मणवद्दत्तं क्षत्रियाय, पर्वतादिव पर्वतवदवरोहत्यासनात् । स्यादेरिति किम् ? गच्छन्नास्ते इव मन्दत्वादीप्सितदेशस्यासम्प्राप्तेः । अधीयानो नृत्यतीव अङ्गविकारप्रायत्वात् ॥ क्रियायामित्येव—गौरिव गवयः । देवदत्त इव गोमान् । हस्तीव स्थूलः । अत्र द्रव्यगुणविषये सादृश्ये न भवति ॥ कथं देवदत्तवत् स्थूलो यज्ञदत्तवत् गोमान् ? अत्र तुल्यायामस्तौ भवतौ च क्रियायामध्याह्रियमाणायां प्रत्ययो भविष्यति । अत्र सूत्रेत्यवक्तव्य ? । अत्र च **"मनुनभोऽङ्गिरो वति"** (१।१।२४) मनुस्-नभस्-अङ्गिरस् इत्येतानि वतिप्रत्यये परे पदसंज्ञानि न स्युः । मनुरिव मनुष्वत् । एवं नभस्वत् अङ्गिरस्वत् । अपदत्वात् रुर्न भवति षत्वं तु भवति ।

षष्ठीसप्तम्यन्तयोः सादृश्ये वत् । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य सुखम् । मुक्ताविव मुक्तिवच्छान्तौ सुखम् ।

तत्र [सि० ७।१।५३] तत्रेति सप्तम्यन्तादिवार्थे वत्प्रत्ययो भवति । स्रुघ्नवत् साकेते परिखा । **तस्य** (७।१।५४) तस्येति षष्ठ्यन्तादिवार्थे वत् स्यात् । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः । एतत्सङ्क्षेपेणाह—षष्ठीसप्तम्यन्तयोरित्यादि । क्रियासादृश्ये पूर्वेणैव सिद्धम्, क्रियार्थमिदं वचनम् । चैत्रस्येवेत्यादौ चैत्रमैत्रयोर्मुखविषयं सादृश्यं, मुक्ताविवेत्यादौ मुक्तिशान्त्योः सुखविषयं सादृश्यमिति । एवं **"तस्यार्हे क्रियायां वत्"** (७।१।५१) अर्हतीत्यर्हम् "अच्" (५।१।४९) इति अच् ? षष्ठ्यन्तादर्हेऽर्थे वत् स्यात्, यदर्हं तच्चेत् क्रिया भवति । राज्ञोऽर्हं राजवत् वृत्तमस्य राज्ञः । राजत्वस्य युक्तमस्य राज्ञो वृत्तमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

तसिः ॥ ५२ ॥ [सि० ६।३।२११]

टान्तात्तुल्यदिश्यर्थे तसिः स्यात् । सुदाम्नैकदिक् सुदामतो मेघः । आम् वक्ष्यते ॥ ५२ ॥

तसि० । टान्तादिति—तृतीयान्तात् तुल्यादिक्त्वे-उभयोरेकदिगधिकरणत्वे । सुदाम्नैकदिगिति सुदामा नाम पर्वतो यस्यां दिशि तस्यां दिशि मेघ इति तेन सह एकदिगुच्यते । तसिरित्यत्रेकारो "वत्तस्याम्" इत्यत्र विशेषार्थः । तथा **यश्चोरसः** (६।३।२१२) अतष्टान्तात्तुल्यदिक्त्वे यतसी स्याताम् । उरस्यः । उरस्तः ॥ ५२ ॥

क्त्वातुमम् ॥ ५३ ॥ [सि० १।१।३५]

एतदन्तमव्ययम् । कृत्वा । कर्तुं । यावज्जीवम् । प्रत्ययाश्चैते वक्ष्यन्ते ॥ ५३ ॥

गतिः ॥ ५४ ॥ [सि० १।१।३६]

गतिसंज्ञमव्ययं स्यात् ॥ ५४ ॥

क्त्वा० । गतिः । सूत्रद्वयं स्पष्टम् ॥५४॥ गतिसंज्ञानामव्ययत्वमुक्तमिति **गतिसंज्ञकान् लक्षयति।**

ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः ॥ ५५ ॥ [सि० ३।१।२]

एते उपसर्गाश्च गतयः स्युस्ते च प्राग् धातोः प्रयोज्याः। ऊरीकृत्य उररीकृत्य खाट्कृत्य ॥५५॥

ऊर्या० । ऊरी आदिर्येषां ते ऊर्यादयः । ऊर्यादयश्च अनुकरणानि च च्विश्च डा च ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचः । चकार उपसर्गानुवृत्त्यर्थस्तेनोपसर्गाणामपि गतिसंज्ञा सिद्धा । तत्रापि च्विडाचौ प्रत्ययौ । प्रत्ययश्च प्रकृत्यादेर्विशेषणमिति च्व्यन्तानां डाजन्तानां च गतिसंज्ञा भवति । गतिसंज्ञाश्च सर्वधातोः प्राक् प्रयोज्याः । ऊरीकृत्येति ऊर्यादीनां गतिसंज्ञत्वात् "गतिकन्यस्तत्पुरुषः" इति समासे सति "अनञः क्त्वो यप्" इति क्त्वो यबादेशो भवति । ऊरी उररी अंगीकरणे [1]विस्तारे च । उररी अंगीकारे । एते त्रयो भृशार्थप्रशंसयोरपि । श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा [2]देवतासंप्रदानमात्रयोः । वषट् पूजायामपि । स्वधा [3]तृप्तिप्रीतिप्रत्यभिवादनेष्वपि । श्रत् [4]श्रद्धाने शैघ्र्ये च । प्रादुस् आविस् प्राकाश्ये । पशू केवाली हिंसायाम् । वेताली विस्तारे । एवमन्येपि पांपीपार्दालीमस्ससामसमसाधूलीप्रभृतय [5]ऊर्यादिषु ज्ञेयाः । एषां च्विडाच्साहचर्यात् कृभ्वस्तिभिरेव [6]योगे गतिसंज्ञा । [7]श्रतश्च दधाति करोतिभ्यां । प्रादुराविःशब्दौ कृग्योगे विकल्पार्थं साक्षादादावपि पठ्येते । गतिप्रदेशा "गतिः" इत्यादयः ॥ ५५ ॥ अनुकरणानामानन्त्यान्निर्देशोऽशक्य इति **च्विप्रत्ययं** निर्दिशति—

कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्तत्त्वे च्विः ॥ ५६ ॥ [सि० ७।२।१२६]

कर्मार्थात् कृगा योगे कर्त्रर्थाच्च भ्वस्तियोगे प्रागभूततद्भावे च्विः स्यात् ॥ ५६ ॥

कृभ्व० । भूश्च अस्तिश्च भ्वस्ति का च भ्वस्ति । च कृभ्वस्तिनी, ताभ्याम् । कर्म च कर्त्ता च कर्मकर्त्तारौ, ताभ्याम् । उभयत्र द्विवचनं कृभ्वस्तिभ्यां यथासङ्ख्यार्थम् । न सः असः, प्राग् असः प्रागसः । तस्य भावस्तत्त्वम्, प्रागतस्य तत्त्वं प्रागतत्त्वम्, तस्मिन् । करोति कर्मणो भ्वस्ति कर्तुश्च पूर्वमतस्य तद्भावे गम्यमाने कृभ्वस्तिभ्यां च योगे च्विः प्रत्ययो भवति । एतत्सर्वं सङ्क्षेपत आह—कर्मार्थात् कृगा योगे इत्यादि ॥ ५६ ॥ अत्र द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसंबन्धसमूहविकारयोगे प्रागतत्तत्वमुदाहार्यम् । **अत्रो**पयोगिसूत्रमाह—

---

१ एकत्रावस्थितस्य स्वावयवैरनियतदिग्देशव्याप्तिर्विस्तारः । २ देवतासम्प्रदानं देवताभ्यः सम्प्रदीयमानं हविर्द्रव्यं दानमात्रं दानसामान्यं स्वधा पितृभ्यः इति श्रुतेः, कथं स्वधा देवतासम्प्रदाने वर्त्तते ? उच्यते—पितॄणामपि देवतारूपत्वाददोषः । ३ तृप्तिः श्रद्धोच्छेदः, प्रीतिरानन्दः, प्रत्यभिवादनं प्रतिनमस्क्रिया । ४ धर्मकर्मविषयोऽभिलाषः श्रद्धानम् । ५ अत्रोर्यादिष्वपरिगणिता अप्युपयोगितया बृहद्वृत्त्यनुसारेण प्रदर्श्यन्ते—पाम्पी विध्वंसमाधुर्यकरुणविलापेषु (रसेन्द्रियग्राह्यो मनः प्रीतिजनको गुणविशेषो माधुर्यम्, इष्टवियोगजनितं शब्दं रोदनं करुणविलापः) । ताली आताली वर्णोत्तमार्थयोः । धूशी कान्तिकाङ्क्षयोः (कान्तिस्तेजस उत्कर्षतः, काङ्क्षा अभिलाषः) । पाम्प्यादयो विस्तारेऽपि । शकला संशकला ध्वंशकला भ्रंशकला (शशाः खला अस्याः शकला हिंसा । संगता, ध्वस्ता, भृशं, शकला संशकलेत्यादि—पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः) आलम्बी केवाशी शेवाली पार्दाली मस्सा मसमसा एते हिंसायाम्, आद्याश्चत्वारः परिभवेऽपि, ततः परे चत्वारश्चाविष्कारेऽपि, अन्त्यौ च द्वौ चूर्णसंवरणयोरपि (अवयविनः सूक्ष्मावयवविभागश्चूर्णम्) । पार्दाली शब्दार्थेऽपि । मस्सा मसमसा अनुकरणेऽपि (सर्वत्रापिशब्दो हिंसासम्बन्धद्योतनार्थः) । केचित्तु मस्सेत्यत्र ऋकारौ निपात्य मृस्मृसेति पठन्ति । केचिदालम्बीस्थाने आलोष्ठीति पठन्ति ॥ गुलुगुधा क्रीडापीडयोः । गुलगुधेत्यन्ये मन्यन्ते । सजूः सहार्थे । फलू फली विक्ली आक्ली एते विकारे, आद्यौ क्रियासम्पत्तिकर्मसिद्धकण्टकेष्वपि, अन्त्यौ तु विभागविचारयोरपि (विभागो विभक्तप्रत्ययनिमित्तं गुणविशेषः) । केचित्तु धूली वर्षाली पाम्पाली विचाली शब्दानप्यधीयन्ते । ६ च्विडाचोः कृभ्वस्तिभिरेव योगे भावात् तदेकवाक्यतया चैषां निर्देशात्तद्योग एव गतित्वमित्यर्थः । ७ 'मृगयेच्छा०' (५।३।१०१) इत्यत्र श्रद्धेति निर्देशात् तथैव प्रयोगदर्शनाच्छात्रस्यानुवादकत्वादिति शेषः ।

ईश्च्वाववर्णस्यानव्ययस्य ॥ ५७ ॥ [सि० ४।३।१११]

अनव्ययस्यावर्णाऽन्तस्य च्वावीः स्यात् । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति पटम् । मालीकरोति पुष्पाणि । अशुक्लः शुक्लो भवति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् ॥ ५७ ॥

ईश्च्वा० । शुक्लीकरोति पटमिति–द्रव्यस्य गुणयोगे प्रागतत्त्वम् । कारकीकरोति चैत्रमिति क्रियायोगे, दण्डीकरोति राजपुरुषीकरोति इत्यादि द्रव्ययोगे, सन्धीकरोति गाः मालीकरोति पुष्पाणि इति समूहयोगे, घटीकरोति मृदमिति विकारयोगे । एवं शुक्लीक्रियते पटः प्रागशुक्लः शुक्लः क्रियते इत्यर्थः । स्वस्थीभूयते चैत्रेण अस्वस्थेन स्वस्थेन भूयते इत्यर्थः । शुक्लीस्यादिति–एवं भ्वस्तियोगे उदाहरणानि ज्ञेयानीत्यर्थः । सर्वत्र "अप्रयोगीत्" इति व्यञ्जनविकाररूपस्य च्विप्रत्ययस्य लोपः । अनव्ययस्य इति किम् ? दिवाभूता रात्रिः, दोषाभूतमहः–अत्रावर्णान्तस्य ईर्न स्यात् ॥ ५७ ॥ अत्रैव इवर्णाद्यन्तानां विशेषमाह—

दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च ॥ ५८ ॥ [सि० ४।३।१०८]

एषु चतुर्षु यादावाशिषि च स्वरस्य दीर्घः स्यात् । शुचीकरोति ।

दीर्घ० । च्विश्च यङ् च यक् च क्यश्च च्वियङ्यक्क्यास्तेषु । चकारो यादावाशिषि चेत्यस्यानुवृत्त्यर्थः । **शुचीकरोतीति प्रस्तुतोदाहरणम् । शेषाण्युदाहरणान्येवम्–यङ्** तोष्टूयते । **यक्** मन्तूयति । **क्य** इति क्यन्-क्यङ्-क्यङ्ष्-क्यानां ग्रहणम्, दधीयति "अमाव्ययात् क्यन् च" (३।४।२३) इति **क्यन् ।** हंसायते "क्यङ्" (३।४।३६) इति सूत्रेण **क्यङ् ।** लोहितायते "डाच् लोहितादिभ्यः षित्" (३।४।३०) इति **क्यङ्ष् ।** स्तूयते–**क्यः । यादावाशिषि**–ईयात् । अत्रैव विशेषमाह—

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लुक् च्वौ (७।२।१२७) अरूकरोति । उन्मनीस्यात् ।

अरु० बहुवचनं तदन्तानामपि परिग्रहार्थम्, अन्यथा ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिरित्युपतिष्ठेत । अरुर्व्रणम् । अनरुः अरुः करोति "षष्ठ्यान्त्यस्य" इत्यनेन स्लोपे पूर्वेण दीर्घे अरूकरोति । महारूकरोति । मनीकरोति उन्मनीकरोति । चक्षूकरोति उच्चक्षूकरोति । चेतीकरोति विचेतीकरोति । रह एकान्तम्, रहीकरोति । विरहीकरोति । रजीकरोति विरजीकरोति । एवं भ्वस्तिभ्यां योगेऽप्युदाहार्यम् ।

इसुसोर्बहुलम् (७।२।१२८) । स्लुप् । सर्पीकरोति नवनीतम् । धनूस्याद्वंशः ।

इसु० । इस्प्रत्ययान्ताः सर्पिस्प्रभृतयः उस्प्रत्ययान्ता धनुस्प्रभृतयस्तेषां च्वौ परेऽन्तस्य बहुलं लुप् भवति । एतत्सर्वं लेशेन आह **स्लुपीति**–सर्पीकरोतीत्यादि । बाहुलकान्न भवति–सर्पिर्भवति धनुर्भवति । बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥ अत्रादिशब्दानुवृत्तेः, **"च्वौ क्वचित्"** (३।२।६०) परतः ऋयनूङ् च्वौ पुंवद्भवति, क्वचिल्लक्ष्यानुरोधात् । अमहती महतीभूता महद्भूता कन्या । एवं बृहत्कृता । क्वचिद्ग्रहणादगोमती गोमतीभूता गोमतीभूतेत्यादौ न स्यात् । एवं पट्वीभूता पटूभूता मृद्वीकृता मृदूकृतेत्यादौ विकल्पः । महतीभूतेत्यपि केचित् ॥ किञ्च **"आपत्यस्य क्यच्व्योः"** (२।४।९१) आपत्यस्य यस्य क्ये च्वौ च परे लुक् स्यात् । अगार्ग्यो गार्ग्यो भूतो गार्गीभूतः । आपत्यस्येति किम् ? । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । असांकाश्यं सांकाश्यं भूतः सांकाश्यीभूतो देशः ।

व्यञ्जनान्तस्यान्त ईः (७।२।१२९) । बहुलम् । दृषदीभवति दृषद्भवति शिला ॥ ५८ ॥

व्यञ्ज० । बहुलग्रहणात् समिधीभवति समिद्भवति काष्ठमित्यादि प्रयोगानुसरणार्थम् ॥ ५८ ॥

क्रमप्राप्तं **डाच्प्रत्ययं** सङ्क्षेपतो गद्येनाह—

समयादिभ्योऽर्थविशेषे कृग्योगे यथायोगं डाज्वाच्यः ॥ ५९ ॥

कालक्षेपे–समयाकरोति, अद्य श्वो वा पटं दास्यामीति कालक्षेपं करोति कुविन्दः । अतिपीडने–सपत्राकरोति निष्पत्राकरोति मृगम् । निष्कोषणे–निष्कुलाकरोति दाडिमम् । आनुकूल्ये–सुखाकरोति प्रियाकरोति गुरुम् । प्रातिकूल्ये–दुःखाकरोति शत्रुम् । पाके–शूलाकरोति मांसम् । वपने–मद्राकरोति भद्राकरोति बालं नापितः । एवं क्षेत्रकर्षणे–द्वितीयाकरोति क्षेत्रम् । पटापटाकरोतीत्यादि ॥ ५९ ॥

समयादिभ्य इत्यादि० [**समयाद्यापनायाम्** (७।२।१३७) इत्यनेन्] समयाकरोति कुविन्द इति–तन्तुवायः अद्य श्वस्ते पटं दास्यामीमि कालक्षेपं करोतीत्यर्थः । [**सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने** (७।२।१३८)] अतिपीडने गम्यमाने सपत्रनिष्पत्र इत्येताभ्यां डाच् भवति । सपत्राकरोति मृगमिति–पत्रं शरः, सह पत्रमनेनेति सपत्रम्, तं करोति शरमस्य शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः । निष्पत्राकरोतीति निर्गतं पत्रमस्मादिति निष्पत्रम्, तं करोति शरमस्यापरपार्श्वे निष्क्रामयतीत्यर्थः । सपत्राकरोति वृक्षं वायुः निष्पत्रा करोति वृक्षं वायुः–अत्र पत्रशातनमेवातिव्यथनम् । सपत्राकरोतीत्यपि मङ्गलाभिप्रायेण वृक्षस्य निःपत्राकरणमेवोच्यते, यथा दीपो नन्दतीति ध्वंसः । अतिव्यथन इति किम् ? । सपत्रं करोति वृक्षं जलसेकः, निष्पत्रं करोति वृक्षतलं भूमिशोधकः । [**निष्कुलान्निष्कोषणे** (७।२।१३९)] निष्कोषणे इति निष्क्रष्टं कुलमवयवसंघातोऽस्मादिति निष्कुलम्, अन्तरवयवानां बहिर्निष्कासनं निष्कोषणम्; निष्कुलाकरोति दाडिमं निष्कुष्णातीत्यर्थः । एवं निष्कुलाकरोति पशुं चण्डालः । निष्कोषण इति किम् ? । निष्कुलं करोति शत्रुम् । [**प्रियसुखादानुकूल्ये** (७।२।१४०)] आनुकूल्य इति प्रियाकरोति सुखाकरोति गुरुमिति । गुरोरानुकूल्यं करोति–तमाराधयतीत्यर्थः । आनुकूल्य इति किम् ? प्रियं करोति सामवचनम् । सुखं करोत्यौषधपानमिति । [**दुःखात्प्रातीकूल्ये** (७।२।१४१)] प्रातिकूल्य इति दुःखाकरोति शत्रुमिति शत्रोः प्रातिकूल्यं करोति, अनभिमतानुष्ठानेन तं पीडयतीत्यर्थः । प्रातिकूल्य इति किम् ? दुःखं करोति रोगः । [**शूलात्पाके** (७।२।१४२)] शूलाकरोति मांसमिति शूले पचतीत्यर्थः । पाके इति किम् ? शूलं करोति कदन्नम् । [**सत्यादशपथे** (७।२।१४३)] सत्याकरोति इति कार्षापणादिदानेन मयावश्यमेतत्क्रेतव्यमिति विक्रेतारं प्रज्ञापयति । अशपथ इति किम् ? यदीदमेवं न स्यादिदं मे इष्टं मा भूदनिष्टं वा भवत्विति शपथं करोतीत्यर्थः । [**मद्रभद्राद्वपने** (७।२।१४४)] मद्रं भद्रं वपनं करोति मद्राकरोति भद्राकरोति शिशोर्माङ्गल्यं केशच्छेदनं करोतीत्यर्थः; मद्रभद्रशब्दौ माङ्गल्यवचनौ । वपन इति किम् ? मद्रं करोति भद्रं करोति साधुः । [**तीयशम्बबीजात्कृगा कृषौ डाच्** (७।२।१३५)] द्वितीयाकरोति क्षेत्रमिति । तीयप्रत्ययान्तात् करोतिना योगे कृषिकार्ये डाच् प्रत्ययो भवति। द्वितीयवारं करोति द्वितीयाकरोति द्वितीयवारं कृषतीत्यर्थः । एवं तृतीयाकरोति । शम्बबीजाभ्यामपि–शम्बाकरोति अनुलोमकृष्टं पुनस्तिर्यक्कृषतीत्यर्थः । बीजाकरोति उप्ते पश्चाद्बीजैः सह कृषतीत्यर्थः । कृगेति किम् ? द्वितीयवारं कृषति । कृषाविति किम् ? द्वितीयवारं पटं करोति । एवं "**सङ्ख्यादेर्गुणात्**" (७।२।१३६) सङ्ख्यायाः परो गुणशब्दस्तदन्तात्कृग्योगे कृषिविषये डाच् प्रत्ययो भवति । द्विगुणं कर्षणं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । पटापटाकरोतीत्यादीति–"**अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् कृभ्वस्तिना अनितौ द्विश्च**" (७।२।१४५) यस्मिन् ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरूपेण नाभिव्यज्यन्ते सोऽव्यक्तस्तस्यानुकरणादनेकस्वरादनितिपरात् कृभ्वस्तिभिर्योगे डाच् प्रत्ययो वा भवति ।

१ आनुकूल्यं हि चेतनधर्मः तदत्र नास्ति । एवमुत्तरेऽपि ।

द्विश्चास्य प्रकृतिरुच्यते, प्रत्ययस्य द्विर्वचनानर्थक्यात् । पटत्करोति पटपटाकरोति, पटपटाभवति पटपटास्यात् । अव्यक्तवर्णस्यापि कथंचिद्ध्वनिमात्रसादृश्यात् व्यक्तवर्णमनुकरणं भवति । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दृषत्करोति—अत्र व्यक्तवर्णमनुकार्यम् । अनेकस्वरादिति किम् ? श्रत्करोति खाद्करोति । अनिताविति किम् ? पटिति करोति । **"इतावतो लुक्"** (७।२।१४६) अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य यो अत् इत्ययं शब्दः तस्य इतिशब्दे परे लुग् भवति । पटत् इति पटिति एवं छमत् इति छमिति । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" लुकि सति तृतीयत्वं न भवति । अव्यक्तानुकरणस्येत्येव—जगदिति । अनेकस्वरस्येत्येव—छत् इति छदिति । अत् इति किम् ? मरुत् इति मरुदिति । शरद् इति शरदिति । कथं "घटदिति गम्भीरमम्बुदैर्नदितं चकदिति तडितापि कृतमिति" ? दकारान्तावेतौ द्रष्टव्यौ । **"न द्वित्वे"** (७।२।१४७) अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य द्वित्वे द्विर्वचने कृते इतिशब्दपरे योऽत्शब्दस्तस्य लुग् न भवति । पटत्पटदिति । वीप्सायां द्विर्वचनम् । द्वित्व इति किम् ? पटिति । कथं चटच्चटिति धगद्धगिति पटत्पटिति ? नात्र द्वित्वमपि तु समुदायानुकरणमिति भवति । **"तो वा"** (७।२।१४८) द्वित्वे सत्यव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्य योऽत्शब्दस्तत्संबन्धिनस्तकारस्येतौ परे वा लुग् भवति । पटत्पटेति करोति । पटत्पटदिति करोति । **"डाच्यादौ"** (७।२।१४९) अव्यक्तानुकरणस्यानेकस्वरस्याच्छब्दान्तस्य द्वित्वे सत्यादौ पूर्वपदे योऽतस्तकारस्तस्य डाचि परे लुक् भवति । पटपटाकरोति । आदाविति किम् ? पतपताकरोति । डाच्यन्त्यस्वरादिलोपे मूलप्रकृतेस्तकारस्य लुग्न भवति । **एतत्सर्वमित्यादिशब्देन सूचितमिति** ॥ ५९ ॥ **क्रमप्राप्तानुपसर्गान् लक्षयति ।**

प्रपरापसमन्ववनिर्दुरभि व्यधिसूदतिनिप्रतिपर्यपयः ।
उप आङिति विंशतिरेष सखे उपसर्गगणः कथितः कविभिः ॥ १ ॥

"धातोः पूजार्थस्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमातिवर्ज्यः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च" (३।१।१) धातोः संबन्धी तदर्थद्योती चाद्यन्तर्गतः प्रादिशब्दगण उपसर्गसंज्ञो भवति । तस्माच्च धातोः प्राक् प्रयुज्यते न परो न व्यवहितः । पूजार्थौ स्वती, गतार्थावधिपरी, अतिक्रमार्थमतिं च वर्जयित्वा । ततश्च सुसिक्तं अतिसिक्तं भवतेत्यत्र धात्वर्थः प्रशस्यते इति पूजार्थत्वात् स्वत्योरुपसर्गसंज्ञाया अभावात् षत्वं न भवति । पूजार्थग्रहणं किम् ? सुषिक्तं किं नाम तवात्र—धात्वर्थोऽत्र कुत्स्यते । गतार्थावधिपरी अध्यागच्छति, आगच्छति अधि । पर्यागच्छति आगच्छति परि । उपरिभावः सर्वतो भावश्चान्यतः प्रकरणादेः प्रतीयत इति गतार्थत्वम्, ततश्चाधिपर्योरुपसर्गसंज्ञाया अभावात् प्राक्त्वनियमाभावः । यत्र तु प्रकरणादिना न गतार्थत्वं तत्रोपसर्गसंज्ञायाः सत्त्वात् प्राक्त्वनियमो भवत्येव । अतिक्रमार्थमतिमिति—यदर्थं क्रिया तस्मिन्निष्पन्ने क्रियाप्रवृत्तिरतिक्रमस्तत्रातेर्नोपसर्गत्वम् यथातिसिक्तं भवतेत्यत्र षत्वं न भवति । **ते चामी** प्रपरेति । तोटकछंदसि श्लोकः । प्र परा अप सम् अनु अव निर् दुर् वि आङ् नि प्रति परि उप अधि अपि सु उद् अति अभि । निर् दुर् एतौ रान्तौ । अत्र निस् दुस् इति सान्तौ निसस्तपताविति निर्देशादिति **मनोरमायाम्** । निसस्तपेनासेवायामिति **हैमसूत्रेऽपि** । श्लोके उक्तक्रमविपर्ययो बन्धानुलोम्यात् ।

प्र आदिकर्मोदीरणभृशार्थैश्वर्यसम्भवनियोगशुद्धीच्छाप्रीतिशान्तिपूजादर्शनतत्परप्रशंसासङ्गदिग्योगावयववियोगान्तर्भावहिंसाबहुत्वमहत्वस्थितिदाननानार्थदक्षिणानुवृत्त्यादिषु २६ । आदिकर्मणि [कर्त्तुमारब्धः] प्रकृतः कटो देवदत्तेन १ उदीर्णे उदीर्णा मूषिकाः प्रबला मूषिकाः २ भृशार्थे भृशं वृद्धाः प्रवृद्धा नद्यः ३ ऐश्वर्ये ईश्वरो गृहस्य प्रभवति गृहस्य, प्रभुर्देशस्य ४ सम्भवे हिमवतो गङ्गा प्रभवति ५

नियोगे नियुक्तः सैन्ये प्रकृतः सैन्ये ६ शुद्धौ प्रसन्ना आपः प्रसन्ना द्यौः [प्रसन्नेन्द्रियः] ७ इच्छार्थे इच्छति कन्यां प्रार्थयते कन्याम्, इच्छति परदारान् प्रकुरुते परदारान् ८ प्रीतौ प्रीणाति राजा प्रसीदति राजा ९ शान्तौ शान्तात्मा प्रश्रितः प्रशान्तः प्रश्रितं वाक्यमाह १० पूजायां प्राञ्जलिः प्रह्वः ११ दर्शने प्रियां दृष्ट्वा क्रीडति प्रक्रीडति १२ तत्परे पितामहात्परः प्रपितामहः, एवं प्रनप्ता प्रपौत्रः १३ प्रशंसायां शोभनं शास्त्रं प्रधानं शास्त्रम् १४ सङ्गे प्रसक्तः, प्रमत्तः १५ दिग्योगे पूर्वा दिक् प्राची दिक् १६ अवयवे प्रघणोऽगारस्य प्रघाणोऽगारस्य १७ वियोगे वियुक्तो वसति प्रवसति १८ अन्तर्भावे अन्तर्भूतः प्रविष्टः, अन्तः क्षिप्तः प्रक्षिप्तः १९ हिंसायां प्रहरणं प्रहरति २० बहुत्वे बहुचौरो देशः प्रचौरो देशः २१ महत्वे महानध्वा प्रकृष्टोऽध्वा २२ स्थितौ शास्त्रं प्रमाणं लोकः प्रमाणं २३ दाने देवेभ्यो ददाति प्रयच्छति २४ नानार्थे नाना कीर्णाः प्रकीर्णाः, नाना दक्षिणा प्रदक्षिणम् २५ अनुवृत्तौ अनुवृत्तः शिष्यः प्रशिष्य इति २६

परा वधघर्षणस्वर्गतिविक्रमाप्रत्यक्षानाभिमुख्यभृशार्थमोहप्रातिलोम्येषु ९। वधे पराघातः १ घर्षणे परामर्शनम् २ स्वर्गतौ स्वर्गतः परेतः ३ विक्रमे पराक्रमः ४ अप्रत्यक्षे परोक्षम् ५ अनाभिमुख्ये परावृत्तः पराङ्मुखः ६ भृशार्थे पराजितः ७ मोहे पराभूतः ८ प्रातिलोम्ये परावृत्तो युद्ध इति ९। इति ॥ २ ॥

अप वर्जनवियोगालेखनचौर्यनिर्देशवैकृतविधिविपर्ययऋणग्रहणावयवपूजानिह्नवसव्यवृत्तिषु १२। वर्जने अपसाकेताद् वृष्टो देवः १ वियोगे अपयुक्ता गौर्वत्सेन २ आलेखने अपस्किरते वृषभः ३ चौर्ये अपहरति ४ निर्देशे अपदिशति परम् ५ वैकृते अपजल्पति ६ विधिविपर्यये अपशब्दः, अपनयः ७ ऋणग्रहणे अपमित्य याचते ८ अवयवे अपस्करो रथाङ्गम् ९ पूजायां अपचितो गुरुर्देववद्भक्तेन १० निह्नवे शतमपजानीते सहस्रमपजानीते ११ सव्यवृत्तौ अपसव्यं गच्छति १२ ॥ ३ ॥

सम् मूर्तिवचनैक्यप्रभवसमन्ताद्भावभूषणसमवायाभिमुख्ययौगपद्यश्लेषणभृशार्थदर्शनीयत्वसादृश्यानास्थितापिधानक्रोधमर्यादेर्ष्याचीवरग्रहणास्पष्टप्रीतिस्वीकरणाल्पार्थाभ्यासप्राधान्यपुनःक्रियासु २५। मूर्तौ संहता मूर्त्तिर्घटादीनाम् १ वचनैक्ये एकवादः संवादः २ प्रभवे तिलेभ्यस्तैलं सम्भूतम् ३ समन्ताद्भावे समन्तादगच्छति सङ्गच्छते ४ भूषणे भूषिता कन्या संस्कृता कन्या ५ समवाये संकरः ६ आभिमुख्ये समुत्तिष्ठति ७ यौगपद्ये युगपत्कृतः केतः संकेतः ८ श्लेषणे सन्धिः ९ भृशार्थे सन्नह्यति १० दर्शनीयत्वे संस्थिता कन्या दर्शनीयेत्यर्थः ११ सादृश्ये गोसंस्थानं गवयस्य १२ अनास्थिते संस्थितः केतुः १३ अपिधाने संवृतं द्वारम् १४ क्रोधे संरम्भः १५ मर्यादायां संस्था १६ ईर्ष्यायां संलापः १७ चीवरग्रहणे संचीवरयते भिक्षुः १८ अस्पष्टे संशयः १९ प्रीतौ संभाषणम् २० स्वीकरणे सङ्गृह्णाति २१ अल्पार्थे समर्थम् २२ अभ्यासे समीपम् २३ प्राधान्ये समर्थः सम्राट् २४ पुनःक्रियायां पुनर्धावति संधावति, पुनस्तपति संतपति २५ ॥ ४ ॥

अनु देशाधीष्टसामीप्यस्वाध्यायसाम्यार्थाभावायतिनिसर्गभृशार्थसादृश्यानुवृत्तिहितार्थलक्षणहीनार्थतृतीयार्थस्वाध्यायाधिक्यवीप्सासु १७। देशे अनूपो देशः १ अधीष्टे इन्द्रानुब्रूहि २ सामीप्ये अनुशोणं पाटलिपुत्रम् ३ स्वाध्याये अनुपदम्, अनुवाक्यम् ४ साम्ये अनुमतम्, अनुवदति ५ अर्थाभावे अनुतपति ६ आयत्यां अनुशयः, अनुबन्धः ७ निसर्गे अनुज्ञातोऽसि ८ भृशार्थे अनुरक्तः, अनुस्मरति ९ सादृश्ये अनुकरोति, अनुरूपम् १० अनुवृत्तौ सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति ११ हितार्थे अनुलोममनुक्रोशं करोति, अनुगृह्णाति १२ लक्षणे वृक्षमनु विद्योतते १३ हीने अनुजिनभद्रगणिं व्याख्यातारः १४ तृतीयार्थे नदीमन्ववसिता सेना नद्या सह संबद्धेत्यर्थः १५ स्वाध्यायाधिक्ये अनूचान उपाध्यायाः १६ वीप्सायां वृक्षमनुसिञ्चति १७ ॥ ५ ॥

अव विज्ञानाधोभावस्पर्द्धालम्बनसामीप्यशुद्धिस्वादुकारेषदर्थव्याप्तिभृशार्थनिश्चयपरिभवप्राप्तिगाम्भीर्यवृत्तान्तवियोगवर्चस्कदेशाख्याऽहितक्रियाश्रयस्पर्शेषु २१ । विज्ञाने अवगच्छति १ अधोभावे अधःक्षेपणं अवक्षेपणम् २ स्पर्द्धायां अवक्षिपति मल्लो मल्लम् ३ आलम्बने अवष्टभ्य यष्टिं गच्छति ४ सामीप्ये अवष्टब्धा शरत् ५ शुद्धौ अवदातं मुखम् ६ स्वादुकारे अवदंशः पानस्य ७ ईषदर्थे ईषल्लीढमवलीढम् ८ व्याप्तौ अवकीर्णं पांशुभिः ९ भृशार्थे अवगाढो दोषः १० निश्चये अवधृतं कार्यम् ११ परिभवे अवमन्यते १२ । प्राप्तौ अवाप्तोऽर्थः अवायाति सुखं १३ गाम्भीर्ये अवस्थितः १४ वृत्तान्ते का अवस्था १५ वियोगे अवमुक्तनूपुरा कन्या १६ वर्चस्के अवस्करः १७ देशाख्यायाम् अवकाशः १८ अहितक्रियायां अवदूष्यते कार्यम् १९ आश्रये अवलीनो वायसः २० स्पर्शे अवगाहसुखं तोयम् २१ ॥ ६ ॥

निर् वियोगभृशार्थाऽभावात्ययप्रादुर्भावहेत्ववधारणादेशातिक्रमणाभिनिस्सरणेषु १० । वियोगे वियुक्तः शल्येन निःशल्यः १ भृशार्थे भृशं दग्धो निर्दग्धः २ अभावे मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्, निर्मशकम् ३ अत्यये अतीतमेघं नभो निर्मेघम् ४ प्रादुर्भावे निर्मितं निष्पन्नम् ५ हेतौ हेतुना उक्तं निरुक्तम् ६ अवधारणे निश्चयः ७ आदेशे निर्देशः ८ अतिक्रमणे अतिक्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः ९ अभिनिस्सरणे अभिनिःसृतजिह्वो निर्जिह्वः १० ॥ ७ ॥

दुर् ईषदर्थकुत्सावैकृतव्यृद्धिकृच्छ्राऽप्रतिनन्दनाऽनीप्सासु ७ । ईषदर्थे दुर्बलः, दुर्गृहीतः १ कुत्सायां दुर्गन्धः, दुरन्तः २ वैकृते दुर्वर्णः, दुश्चर्मा ३ व्यृद्धौ कम्बोजानां व्यृद्धिर्दुष्कम्बोजम् ४ कृच्छ्रे कृच्छ्रेण क्रियते दुष्करम् ५ अप्रतिनन्दने असम्यगुक्तं दुरुक्तम्, दुरागतम् ६ अनीप्सायां अनीप्सितभगा दुर्भगा ७ ॥ ८ ॥

वि नानार्थापायात्ययदूरभृशार्थकलहैश्वर्यवियोगमोहहर्षकुत्साप्रादुर्भावानाभिमुख्यानवस्थानप्राधान्यभोजनसंज्ञादाक्ष्यव्ययकृत्स्नाप्तिषु २१ । नानार्थे नानाचित्रं विचित्रम् १ अपाये विदुःखः विशोकः २ अत्यये व्यृक्षं नभः, विहिमः कालः ३ भये विषण्णः, विभीतः ४ दूरे विप्रकृष्टोऽध्वा ५ भृशार्थे भृशं वृद्धा विवृद्धा नद्यः, भृशं रौति विरौति ६ कलहे विग्रहः, विवादः ७ ऐश्वर्ये विभुर्देशस्य ८ वियोगे विपुत्रः, विभूषणः, विशिरस्कः ९ मोहे विचित्तः, विमनाः १० हर्षे विस्मितमुखः ११ कुत्सायां कुत्सितमङ्गं यस्य स व्यंगः, विरूपः १२ प्रादुर्भावे प्रादुर्भूतलोहितो विलोहितः १३ अनाभिमुख्ये विमुखः १४ अनवस्थाने विभ्रान्तः १५ प्राधान्ये विशिष्टः १६ भोजने विपक्वम् १७ संज्ञायां विष्किरः शकुनिः, विकिरो वा १८ दाक्ष्ये दक्षो विक्रान्तः १९ व्यये शतं विनयते सहस्रं विनयते २० कृत्स्नाप्तौ-व्याप्तौ, कृत्स्नमस्याप्तं शरीरं दोषैर्व्याप्तम् २१ ॥ ९ ॥

आङ् मर्यादाप्राप्तिस्पर्शलिप्साभयश्लेषकृच्छ्राऽऽदिकर्मग्रहणनीडसमीपविक्रियार्हणावृत्त्याशीःस्वीकरणेषदर्थाभिविधिक्रियायोगान्तर्भावस्पर्द्धाभिमुख्योर्द्ध्वकर्मभृशार्थप्रादुर्भावसमवायस्मरणविस्मयप्रतिष्ठानिर्देशशक्त्यप्रसादविवृतानुबन्धपुनर्वचनेषु ३५ । मर्यादायां आ पाटलिपुत्राद्वृष्टो मेघः १ प्राप्तौ आसादितः २ स्पर्शे आलिप्तः, आलभते ३ लिप्सायां आकाङ्क्षति ४ भये आविग्नः ५ श्लेषे आलिङ्गति ६ कृच्छ्रे आपत् ७ आदिकर्मणि आरब्धः कर्तुम् ८ ग्रहणे आलम्बते यष्टिम् ९ नीडे आवसथः, आलयः, आवासः १० समीपे आसन्नो देवः ११ विक्रियायां आवृत्तं सुवर्णम्, आक्रन्दति बालः १२ अर्हणे आमन्त्रितः १३ आवृत्तौ आवृत्तो दिवसः १४ आशिषि आयुराशास्ते, पुत्रमाशास्ते १५ स्वीकरणे आदत्ते फलानि, आदत्ते रसान् सूर्यः १६ ईषदर्थे ईषत् कृतिः आकृतिः, आताम्रः, आच्छाया १७ अभिविधौ आकुमारं यशः शाकटायनस्य १८ क्रियायोगे आयोगः ऐष्टिः १९ अन्तर्भावे आपानमुदकम् २०

स्पर्द्धायां आह्वयते मल्लो मल्लम् २१ आभिमुख्ये आगच्छति २२ ऊर्ध्वकर्मणि आरोहति वृक्षम् २३ भृशार्थे आधूता शाखा, आपीनानीव धेनूनां जघनानि प्रसुस्रुवुः २४ प्रादुर्भावे आपन्नसत्वा स्त्री २५ समवाये आसेवा आकुलम् २६ स्मरणे आभवतु विज्ञानम् २७ विस्मये आश्चर्यम् २८ प्रतिष्ठायां आस्पदम् २९ निर्देशे आदिष्टम् ३० शक्तौ आधर्षयति ३१ अप्रसादे आविलमुदकम् ३२ विवृते आकाशम् ३३ अनुबन्धे आयाति ३४ पुनर्वचने आम्रेडितम् ३५ ॥ १० ॥

नि लेशराशिभृशार्थाधोभावप्रसादसंन्यासार्थार्थगत्यादेशदारकर्मोपदर्शनकेतनोपरमणावृत्तिबन्धनदर्शनावसानकौशलासेवानियमसमीपान्तर्भावमोक्षतमस्तापसान्नाश्रयग्रहणवर्णवृक्षाभावातिशयेषु ३१ । लेशे लेशेन हसति निर्हसति निर्हासः, निघर्षः १ राशौ धान्यनिकरः, यवनिकरः २ भृशार्थे भृशं गृहीतो निगृहीतः ३ अधोभावे अधः पतति निपतति ४ प्रसादे प्रसन्नं पानं निपानम् निगता आपः ५ सन्यासे निक्षेपः, निश्रेणी ६ अर्थे निधानम् ७ अर्थगतौ गतार्थानि वाक्यानि निगतानि वाक्यानि ८ आदेशे आदिष्टः कर्तुं नियुक्तः कर्तुम् ९ दारकर्मणि निविशते १० उपदर्शने अर्थं निदर्शयति ११ केतने निमन्त्रयते १२ उपरमणे निवृत्तः पापात् १३ आवृत्तौ निवृत्तः सूर्यः १४ बन्धने निगलम् १५ दर्शने निध्यायति, निशामयते १६ अवसाने निष्ठितं नितिष्ठति १७ कौशले विद्यासु निष्णातः, निपुणः १८ आसेवायां नियतः पन्थाः, नियतो रथः १९ नियमे नियमः २० समीपे निपार्श्वः २१ अन्तर्भावे निपीतमुदकम्, निहितं द्रव्यम् २२ मोक्षे निसृष्टम् २३ तमसि निहारः २४ तापसान्ने नीवारो व्रीहिः २५ आश्रये निलयो निवासः २६ ग्रहणे निग्रहः २७ वर्णे नीलः २८ वृक्षे नीपः २९ अभावे निर्द्रव्यः ३० अतिशये न्यूनः, निपीडितः ३१ ॥ ११ ॥

प्रति पुनःक्रियाऽऽदानसादृश्यहननिर्यातनतद्योगविनिमयाभिमुख्यवामदिग्योगव्याप्त्याध्यानमात्रार्थसम्भावनतत्त्वाख्याभागलक्षणवारणसम्बन्धवीप्साव्याधिस्थानेषु २२ । पुनः क्रियायां पुनरुक्ते प्रत्युक्तम् १ आदाने प्रतिगृह्णाति, प्रतियाचते २ सादृश्ये प्रतिरूपकम् ३ हनने प्रतिहतं पापम् ४ निर्यातने प्रतिकृतं प्रतिकारः ५ तद्योगे प्रतिपन्नः, प्रेष्यः ६ विनिमये तैलार्थी घृतं प्रतिददाति ७ आभिमुख्ये प्रत्यग्निं शलभाः पतन्ति ८ वामे प्रतिलोमं करोति ९ दिग्योगे प्रतीची दिक् १० व्याप्तौ प्रतिकीर्णं पुष्पैः ११ आध्याने प्रतिवेदयति मन्त्रम् १२ मात्रार्थे सूपोऽल्पः सूपप्रति १३ सम्भावने प्रत्ययः प्रतिपत्तिः १४ तत्त्वाख्यायां शोभनो देवदत्तो धर्मं प्रति १५ भागे यदत्र मां प्रति स्यात्तद्देयम् १६ लक्षणे वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् १७ वारणे प्रतिषिद्धः १८ सम्बन्धे अक्षसम्बद्धं प्रत्यक्षम् १९ वीप्सायां वृक्षं २ प्रति सिञ्चति २० व्याधौ प्रतिश्यायः २१ स्थाने प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठितः २२ ॥ १२ ॥

परि ईषदर्थव्याप्त्युपर्यर्थाभ्याससान्त्वसमन्ताद्भावभूषणपूजासमवायवर्जनालिङ्गननिवसनशोकभोजनलङ्घनवीप्साऽवज्ञानतत्त्वाख्यास्पर्शलक्षणाभ्यावृत्तिनियमेषु २२ । ईषदर्थे पर्यग्निकृतं परिवेषितम् १ व्याप्तौ परिगतोऽग्निः परिवातम् २ उपर्यर्थे परिपूर्णः परिधानम् ३ अभ्यासे गत्वा गत्वा आगच्छति परिगच्छति ४ सान्त्वे परिगृह्णाति ५ समन्ताद्भावे परिधावति, परिवृत्तम् ६ भूषणे सुवर्णपरिष्कृतमासनम् ७ पूजायां परिचरति ८ समवाये परिषत्, परिसरः ९ वर्जने परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः, वर्जयित्वा स्नाति परिस्नाति १० आलिङ्गने परिष्वजते कन्यां माणवकः ११ निवसने परिधत्ते वासः १२ शोके कृतं परिदेवयते १३ भोजने प्राघूर्णान्परिवेषयति १४ लङ्घने परिस्कन्दति १५ वीप्सायां वृक्षं वृक्षं परिसिञ्चति १६ अवज्ञाने परिभवति १७ तत्त्वाख्यायां परिसंख्यातम् १८ स्पर्शे परिपकम् १९ लक्षणे देवलक्षणेन ज्ञातः परिज्ञातश्चारः २० अभ्यावृत्तौ परिवृत्तः संवत्सरः २१ नियमे परिसमाप्तम् २२ ॥ १३ ॥

उप वर्जनप्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारलवनपरीक्षासंपत्सर्पणगुह्यागःक्षयसामर्थ्याचार्यकरणसादृश्यस्वीकरणपीडामन्त्रक्रियाव्याप्तिदोषाख्यानयुक्तिसंज्ञापूर्वकर्मपूजादानसामीप्याधिकहीनलिप्सासु २८ । वर्जने उपवासः, उपवसति अशनवर्जनं करोति १ प्रतियत्ने एधोदकस्योपस्कुरुते २ वैकृते उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं सहते ३ वाक्याध्याहारे सोपस्कारं वाक्यमाह ४ लवने उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति ५ परीक्षायां उपेक्षितव्यम् ६ संपदि उपपन्नमस्य, उपपन्ना शरत्, उपपन्नवाक्यः साधुः ७ सर्पणे उपसर्पति, उपतिष्ठते कर्मकरः ८ गुह्ये उपह्वरः, उपांशु, उपगूर्णम् ९ आगसि उपालम्भः, उपघातः १० क्षये उपक्षीणः, उपयुक्तं द्रव्यम् ११ सामर्थ्ये उपचितः १२ आचार्यकरणे उपदिशति उपाध्यायः १३ सादृश्ये उपमानम् १४ स्वीकरणे उपगृह्णाति १५ पीडायां स्तनोपपीडं शेते उपपीडितः १६ मन्त्रक्रियायां उपनयते उपनयनम् १७ व्याप्तौ उपकीर्णं सर्वतः १८ दोषाख्याने उपघातः १९ युक्तौ लवणोपसृष्टं देवोपसृष्टम् २० संज्ञायां उपधा, उपसर्गः २१ पूर्वकर्मणि उपक्रमः, उपकारः २२ पूजायां उपतिष्ठते देवं उपस्थानम्, उपचारः २३ दाने उपहरत्यर्थं बलिमुपहरेत् २४ सामीप्ये उपकुम्भम्, उपमणिकम् २५ अधिके उपखार्यां द्रोणः २६ हीने उपार्जुनं योद्धारः २७ लिप्सायां उपयाचते, उपसादितोऽर्थः २८ ॥ १४ ॥

अधि अधिकाराधिष्ठानपाठोपर्यर्थैश्वर्यबाधनाधिक्यस्मरणसहयोगस्ववशतासु १० । अधिकारे अधिकारो राज्ञः, अधिकृतो ग्रामे १ अधिष्ठाने मय्यधिष्ठितं अध्यात्मकथा वर्त्तते २ पाठेऽधीतं व्याकरणम् ३ उपर्यर्थे अधिरोहति, अधिक्रान्तम् ४ ऐश्वर्ये अधिपतिर्देशस्य, अधिश्रेणिके मगधाः ५ बाधने अधिकुरुते शत्रून् ६ अधिक्ये अधिखार्यां द्रोणः ७ स्मरणे मातुरध्येति, पितुरध्येति ८ सहयोगे अधिवसति ९ स्ववशतायां आत्माधीनः १० ॥ १५ ॥

अपि पदार्थानुवृत्त्यपेक्षासमुच्चयान्ववसर्गगर्हाशीःसम्भावनभूषणसंवरणप्रश्नावमर्शेषु १२ । पदार्थे सर्पिषोऽपि स्यात्, सर्पिषो मात्रापि स्यादित्यर्थः १ अनुवृत्तौ अपि मा योजय २ अपेक्षायां अयमपि विद्वान् ३ समुच्चये अपि सिञ्च अपि स्तुहि ४ अन्ववसर्गे भवानपि च्छत्रं गृह्णातु ५ गर्हायां अपि तत्रभवान् सावद्यं सेवते ६ आशिषि अपि मे स्वस्ति पुत्राय, अपि शिवं गोभ्यः ७ सम्भावने अपि पर्वतं शिरसा भिन्द्यात् ८ भूषणे अपि नह्यति हारम् ९ संवरणे अपिहितं द्वारम् १० प्रश्ने अपि कुशलम्, अपि गच्छामि ११ अवमर्शे अपि भज्येय न नमेयम्, अपि काकः श्येनायते १२ ॥ १६ ॥

सु । पूजाभृशार्थानुमतिसमृद्धिदृढाख्याकृच्छ्रेषु ६ । पूजायां पूजितो राजा सुराजा, सुगौः १ भृशार्थे सुषुप्तम्, सुषिक्तम् २ अनुमतौ सुकृतम्, सूक्तम्, सुदत्तम् ३ समृद्धौ—समृद्धो देशः, सुदेशः, सुमगधः सुमद्रं वर्त्तते ४ दृढाख्यायां सुबद्धम्, सुकृतम् ५ अकृच्छ्रे सुकरः कटो भवता ६ ॥ १७ ॥

उद् प्राबल्यसम्भवलाभोर्ध्वकर्मप्रकाशास्वस्थमोक्षदृश्यसमृद्ध्यात्ययान्यायप्राधान्यशक्त्यवरपरदिग्योगनिर्देशेषु १६ । प्राबल्ये उद्बला मूषिका, उद्बलं याति १ सम्भवे उद्गतो दर्पो नीचस्य २ लाभे उत्पन्नं द्रव्यम्, उदपादि भैक्षम् ३ ऊर्ध्वकर्मणि आसनादुत्तिष्ठति ४ प्रकाशे प्रकाशं चरति उच्चरति, उद्भवति ५ अस्वस्थे उत्सुकः, उच्चितः, उन्मत्तः ६ मोक्षे उत्सृष्टः ७ दृश्ये उत्सवः, उद्यानम् ८ समृद्धौ उच्छ्रितं कुटुम्बम् ९ अत्यये अतीतमेघं नभः उन्मेघम् १० अन्याये उत्कुरुते कन्याम्, उत्कुरुते परदारान् ११ प्राधान्ये उत्कृष्टोऽश्वः, उत्तमं कुलम् १२ शक्तौ उत्सहते गन्तुम् १३ अवरपरे उत्तरः १४ दिग्योगे उदीची दिग् १५ निर्देशे उद्दिशति, उद्देशः १६ ॥ १८ ॥

अति पूजाभृशार्थानुमत्यतिक्रमणसमृद्धिभूताभावावज्ञानहीनार्थेषु ८ । पूजायां पूजितो राजा अतिराजा, अतिगौः १ भृशार्थे अतिकृतम्, अतिसारः, अतिवृष्टिः २ अनुमतौ अतिचिन्तितम् ३ अतिक्रमणे

अतिक्रान्तोऽन्यान् रथान् अतिरथः, अतिरिकुलम् ४ समृद्धौ समृद्धो देशोऽतिदेशः ५ भूताभावे अतीतमेघं नभः ६ अवज्ञाने अतिच्छिनत्ति, अतिहीनम् ७ हीनार्थे हीनम् वाहयति अतिवाहयति ८ ॥ १९ ॥

अभि आभिमुख्यसन्निकृष्टवशीकरणोर्ध्वकर्मपूजाकुलसान्त्वव्याप्तीच्छादोषोल्बणरूपवचनलक्ष्यवीप्सानवप्रणयेषु १६। आभिमुख्ये अभितः १ सन्निकृष्टे अभ्यासम् २ वशीकरणे अभिचरति मन्त्रैर्माणवकः कन्याम् ३ ऊर्ध्वकर्मणि अभिरोहति वृक्षम् ४ पूजायाम् अभिवादयते ५ कुले अभिजातो माणवकः ६ सान्त्वे अभिमन्यते कन्याम् ७ व्याप्तौ अभिकीर्णं पांशुभिः ८ इच्छायामभिलषति मैथुनम् ९ दोषोल्बणे अभिष्यन्दः १० रूपे अभिरूपो माणवकः ११ वचने अभिधेयः साधुः १२ लक्ष्ये अभिविध्यति १३ वीप्सायाम् वृक्षं वृक्षमभिसिञ्चति १४ नवे अभिनवं माल्यम् १५ प्रणये अभिमन्त्रितोऽग्निः १६ ॥ २० ॥

॥ इति बृहन्न्यासगतमुपसर्गविवरणं समाप्तम् ॥

एते त्वेकत्र धातावापञ्चभ्यः प्रयोज्याः । प्रसमभिव्याहरतीति ।

एते चैकत्रधातावित्यादि–“धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्त्तते । तमेव विशिनष्ट्यन्योऽनर्थकोऽन्यः प्रयुज्यते ॥ १ ॥ **बाधते** यथा प्रतिष्ठते प्रस्मरति प्रवसति प्रलीयते प्रतीक्षते प्रतिपालयति । **तमनुवर्त्तते** यथा अधीते अध्येति आचामति आचष्टे अनुरुध्यते प्रलोकयति । **तमेव विशिनष्टि** यथा प्रपचति प्रकरोति प्राणिति प्राश्नाति निरीक्षते निष्टपति । **अनर्थको** यथा प्रलम्बते प्रार्थयते विजयते विजानाति । आपञ्चभ्य इति प्रायेणैतावतामेव प्रयोग इष्यते यथा आहरति व्याहरति अभिव्याहरति समभिव्याहरति प्रसमभिव्याहरतीति । **स्तोत्रकारो**ऽप्याह–“एकत्र धातावुपसर्गपञ्चकप्रयोग इष्टः कविभिर्निरन्तरम् । तज्ज्ञानधातावुपसर्गविंशतिं सुरः प्रयोक्ता न कथं कुलक्षणः” ॥ १ ॥ **अथ** किं धातुः पूर्वं क्रियाविशेषकेणोपसर्गेण युज्यते उत साधनाभिधायिना प्रत्ययेनेति ? **साधनेनेति केचित्** । साधनं हि क्रियां निर्वर्त्तयति तामुपसर्गो विशिनष्टि । अभिनिर्वृत्तस्य चोपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुं नानभिनिर्वृत्तस्य । **तदयुक्तम्**–यो हि धातूपसर्गयोरभिसंबन्धस्तमभ्यन्तरीकृत्य धातुः साधनेन प्रयुज्यते । यस्माद्विशिष्टैव क्रिया साधनेन साध्यते न तु साधनाल्लब्धरूपान्यतो विशेषं लभते, तस्मात्पूर्वमुपसर्गेणेति युक्तम् । तथा च समस्करोत् संचस्कारेत्यत्रान्तरङ्गत्वात् स्सटि कृते प्रत्ययनिमित्ते अडागमद्विर्वचने भवतः । अतश्चैवम्–पूर्वं हि धातोः साधनेन संबन्धे, आस्यते गुरुणेत्यकर्मकः, उपास्यते गुरुरिति सकर्मको धातुः केन स्यात् । न चैतद्वाच्यम्–प्रत्ययसंबन्धमन्तरेण क्रियाविशेष स्यानभिव्यक्तेर्न धातोः पूर्वमुपसर्गेण संबन्धो युज्यते । **यतः** “बीजकालेषु संबद्धा यथा लाक्षारसादयः । वर्णादिपरिणामेन फलानामुपकुर्वते” ॥ १ ॥ “बुद्धिस्थादभिसंबन्धात्तथा धातूपसर्गयोः । स्वभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाश्यते ॥ २ ॥ **यद्येवमुपेत्या**धीत्येत्यादावन्तरङ्गत्वादेत्वदीर्घत्वयोः कृतयोर्ह्रस्वाभावात्तोन्तो न प्राप्नोति । **सत्यम्** । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इति भविष्यति । प्रेजुः प्रोपुरित्यत्र तु यजूवपोर्य्वृति द्वित्वे च सति अन्तरङ्गत्वात् समानदीर्घत्वे पश्चादेदोतौ । यद्वा पूर्वमेदोतौ ततोऽयवादेशे “व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्” (४।१।४४) इति लुकि पुनरेदोतौ । **ननु** कर्तुं प्रकर्षेणेच्छति प्रचिकीर्षतीत्यादौ धात्वन्तरसंबद्धस्योपसर्गस्य तदर्थप्रतिपादकप्रत्ययादेव प्राक् प्रयोगः प्राप्नोति ? **नैवम्**–तस्याधातुत्वात् समुदायस्यैव धातुत्वादिति । **कारिकास्थित्यादौ** [सि० ३।१।३] कारिकाशब्दः स्थित्यादावर्थे धातोः सम्बन्धी गतिसंज्ञो भवति । स्थितिर्मर्यादा वृत्तिर्वा । आदिशब्दाद्यत्नधात्वर्थनिर्देशौ गृह्येते । कारिकाकृत्य स्थितिं यत्नं क्रियां वा कृत्वेत्यर्थः । स्थित्यादाविति किम् ? कारिकां कृत्वा कर्त्रीं कृत्वेत्यर्थः । **अग्रहानुपदेशेऽन्तरदः** (३।१।५) अन्तर् अदस् इत्येतौ शब्दौ यथासंख्यमग्रहेऽनुपदेशे चार्थे गम्यमाने धातोः संबन्धिनौ गतिसंज्ञौ भवतः । अग्रहोऽस्वीकारः–अन्तर्हत्य

मध्ये हिंसित्वा शत्रून् गत इत्यर्थः, अन्तःशब्दो मध्ये अधिकरणभूते वर्त्तते परिग्रहे च, तत्र परिग्रहे प्रतिषेधादितरत्र गतिसंज्ञेति । स्वयं परामर्शोऽनुपदेशो विशेषानाख्यानं वा । अदःकृत्य एतत्करिष्यतीति चिन्तयति, विशेषानाख्याने चिन्तयतीत्यस्य स्थाने कथयतीति प्रयोगः । अग्रहानुपदेश इति किम् ? अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः, परिगृह्य गत इत्यर्थः । अदः कृत्वा गत इति परस्य कथयति । अदःशब्दस्त्यदादौ । अव्ययमिति केचित् इत्यादि ।

एवं "भूषादरक्षेपेऽलंसदसत्" (३।१।४) गतिसंज्ञम् । अलंकृत्य । सत्कृत्य । असत्कृत्य । "कणे मनस्तृप्तौ" (३।१।६) कणेहत्य । मनोहत्य । "तिरोऽन्तर्धौ" (३।१।९) तिरोभूय । "कृगो नवा" (३।१।१०) तिरस्कृत्य तिरस्कृत्वा । मध्येकृत्य २ । साक्षात्कृत्य २ । "नित्यं हस्ते पाणावुद्वाहे" (३।१।१५) हस्तेकृत्य पाणौ कृत्येत्यादयो यथायोगं गतिसंज्ञा ज्ञेयाः ।

एवं भूषादरक्षेपे इत्यादि । एवमिति सङ्क्षेपसूचनम्—भूषा मण्डनम् अलंकृत्य अलंकृतम् । प्रीत्या संभ्रम आदरः—सत्कृत्य सत्कृतम्, क्षेपोऽनादरः—असत्कृत्य असत्कृतम् । भूषादिष्विति किम् ? अलं कृत्वा माकारीत्यर्थः, सत्कृत्वा विद्यमानं कृत्वा, असत्कृत्वा अविद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ॥ **कणे मन** इत्यादि । एते अव्यये धातोः संबन्धनी गतिसंज्ञे भवतः । तृप्ताविति—तृप्तिः श्रद्धोच्छेदः, कणेहत्य मनोहत्य पयः पिबति, तावत् पिबति यावत् तृप्त इत्यर्थः । तृप्ताविति किम् ? कणे तन्दुलावयवे हत्वा गतः । मनो हत्वा गतः, चेतो हत्वेत्यर्थः ॥ एवमिति निर्देशात्—**"पुरोऽस्तमव्ययम्"** (३।१।७) पुरस् अस्तम् इत्येते अव्यये गतिसंज्ञे भवतः । पूर्वपर्यायः पुरःशब्दः । अनुपलब्धार्थोऽस्तंशब्दः । पुरस्कृत्य गतः, पुरस्कृतम् । अस्तंगत्य पुनरुदेति सविता । अस्तंगतानि दुःखानि ॥ **"गत्यर्थवदोऽच्छः"** (३।१।८) अच्छेत्यव्ययमभिशब्दार्थे दृढार्थे च वर्त्तते । तद् गत्यर्थानां वदश्च धातोः संबन्धि गतिसंज्ञं भवति । अच्छगत्य अच्छव्रज्य अच्छोद्य । गत्यर्थवद इति किम् ? अच्छकृत्वा गतः । अव्ययमित्येव-उदकमच्छं गत्वा स्थितः । **"तिरो०"** तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ व्यवधाने वर्त्तमानो धातोः संबन्धी गतिसंज्ञो भवति । तिरोभूय तिरोधाय । अन्तर्द्धाविति किम् ? तिरो भूत्वा स्थितस्तिर्यग् भूत्वेत्यर्थः ॥ **"कृगो०"** तिरस् इत्यव्ययमन्तर्द्धौ वर्त्तमानं कृगो धातोः संबन्धि गतिसंज्ञं वा भवति । तिरस्कृत्य तिरःकृत्य, तिरस्करोति तिरःकरोति इति, गतिसंज्ञायां "तिरसो वा" (२।३।२) इति वा सत्वम्, पक्षे गतिसंज्ञाभावे तिरःकृत्वा । अन्तर्द्धावित्येव—तिरःकृत्वा काष्ठं गतः । तिर्यगित्यर्थः ॥ मध्येकृत्येति **"मध्येपदेनिवचनेमनस्युरस्यनत्याधाने"** (३।१।११) एतानि पञ्च सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपकाण्यव्ययान्यनत्याधानेऽर्थे वर्त्तमानानि कृगो धातोः संबन्धीनि वा गतिसंज्ञानि स्युः । अत्याधानमुपश्लेषः आश्चर्यं च, ततोऽन्यदनत्याधानम्—मध्येकृत्य धनं धिनोति जलधिः । द्विकेनाङ्केन वैकल्पिकं द्वितीयं रूपं ज्ञेयम्—मध्येकृत्वेति । पदेकृत्य पदेकृत्वा । निवचनेकृत्य निवचनेकृत्वेति—निवचने वचनाभावः, वाचं नियम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य मनसिकृत्वा, उरसिकृत्य उरसिकृत्वेति—उभयत्र निश्चित्येत्यर्थः । अनत्याधान इति किम् ? मध्ये कृत्वा धान्यराशिं स्थिता हस्तिनः । पदेकृत्वा शिरः शेते । मनसि कृत्वा सुखं शेते, उरसि कृत्वा पाणिं शेते । अव्ययमित्येव—मध्ये कृत्वा वाचं तिष्ठति । एवं **"उपाजेऽन्वाजे"** (३।१।१२) एते अव्यये सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपके स्वभावदुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधाने वर्त्तमाने कृगो धातोः संबन्धिनी गतिसंज्ञे वा भवतः । उपाजेकृत्य उपाजेकृत्वा । अन्वाजेकृत्य अन्वाजेकृत्वा । स्वभावदुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः । शकटस्य धुरोऽक्षस्य वा भग्नस्य यत्काष्ठमुपधीयते तदुपाजेऽन्वाजे इति

चोच्यते । तथा **"स्वाम्येऽधिः"** (३।१।१३) अधीत्येतदव्ययं स्वामित्वे गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धि गतिसंज्ञं वा स्यात् । चैत्रं ग्रामेऽधिकृत्य अधिकृत्वा वा गतः, स्वामिनं कृत्वेत्यर्थः । स्वाम्य इति किम् ? ग्राममधिकृत्य उद्दिश्येत्यर्थः । साक्षात्कृत्येति–**"साक्षादादिश्च्व्यर्थे"** (३।१।१४) साक्षादादयः शब्दाश्च्व्यर्थे वर्त्तमानाः कृगो धातोः संबन्धिनो गतिसंज्ञा वा स्युः । साक्षात्कृत्य साक्षात्कृत्वा, असाक्षाद्भूतं साक्षाद्भूतं कृत्वेत्यर्थः । एवं मिथ्याकृत्य २ । यदा साक्षाद्भूतमेव किञ्चित्करोति तदा साक्षात्कृत्वेत्येव भवति । च्व्यर्थे इति वचनात् च्व्यन्तानां ऊर्यादिसूत्रेण नित्यमेव गतिसंज्ञा–लवणीकृत्य उष्णीकृत्य । साक्षात् मिथ्या चिन्ता भद्रा रोचना लोचना अमा आस्था अग्धा प्राजर्या प्राजुरा प्राजरुहा बीजर्या बीजरुहा संसर्पा अर्थे अग्नौ वशे वत्से विकपने प्रकपने विसहने प्रतपने । अर्थे प्रभृतयोऽष्ट सप्तम्येकवचनप्रतिरूपकाः स्वभावान्निपातनाद्वा । **अत्र** साक्षात् सादृश्यप्रत्यक्षयोः । मिथ्या अलीके । चिन्ता मनोव्यापारे । भद्राद्रयस्त्रयः प्रशंसायाम् । अमा सहार्थे । आस्था प्रतिज्ञादरयोः । अग्धादयः षट् शोभार्थे । बीजर्या बीजरुहेति बीजप्रसवनेऽपि । संसर्पा प्रयोजनसंवरणयोः । अग्नौ तैक्ष्ण्ये । वशे वत्से अस्वातन्त्र्ये । विकपने प्रकपने, उभौ वैरूप्ये, विकपने हिंसायाम्, प्रकपने इत्यन्ये । विसहने प्रसहने, उत्साहे सामर्थ्ये च । निपाताद्वेति–आकारान्तां ध्वनीनां नितिपातनादाकारान्तत्वं न तु आबन्तत्वम् । लवणम् उष्णम् शीतम् उदकम् आर्द्रम् । लवणादयः पञ्च क्रमेण रुच्यर्थे १ अभिभवे २ अनादरे ३ क्लेद द्रवयोः ४ सोदकाभिनवयोः ५ । एषां चैतत्सूत्रविहितगतिसंज्ञासन्नियोगे एव मान्तत्वं निपात्यते । प्रादुस् आविस् नमस् इत्यादि इति साक्षादादिरेकत्रिंशकः । **नित्यं हस्ते** इत्यादि–हस्ते पाणावित्येतौ सप्तम्येकवचनान्तप्रतिरूपकाव्ययौ । सप्तम्यन्तावनव्ययावित्येके । तावुद्वाहे दारकर्मण्यर्थे गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धिनौ नित्यं गतिसंज्ञौ भवतः । हस्तेकृत्य पाणौकृत्येति–भार्यां कृत्वेत्यर्थः । उद्वाह इति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः । इत्यादय इति आदिशब्दात् **"प्राध्वं बन्धे"** (३।१।१६) बन्धहेतुके आनुकूल्ये वर्त्तमानं प्राध्वमित्येतन्मान्तमव्ययं कृगो धातोः संबंधि गतिसंज्ञं स्यात् । प्राध्वंकृत्य, बन्धनेनानुकूल्यं कृत्वेत्यर्थः । बन्धे इति किम् ? प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः । **"जीविकोपनिषदौपम्ये"** (३।१।१७) जीविकोपनिषच्छब्दावौपम्ये गम्यमाने कृगो धातोः संबन्धिनौ गतिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य उपनिषत्कृत्य–जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । औपम्य इति किम् ? जीविकां कृत्वा उपनिषदं कृत्वा गतः । **यथायोगमिति**–योगाः सूत्राणि यथोक्तसूत्रानुसारेणेत्यर्थः । **अथा**व्ययाधिकारमुपसंहरति–

इत्यपरिमिता अव्ययाः

इत्यपरिमिता अव्यया इति–इत्युक्तप्रकारेण अपरिमिता इति ।

"इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते ।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥ १ ॥

अव्यया इति अव्ययशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वं "शलयंकुलयाव्यय कवियवदि" पुं० न० २४ । इति लिङ्गानुशासनवचनात् ।

अव्ययस्य ॥ ६० ॥ [सि० ३।२।७]

अव्ययानां स्यादेर्लुप् स्यात् । स्वः प्रातरस्ति पश्य कृतमिति ॥ ६० ॥

इति श्रीमहोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां अव्ययानि समाप्तानि ।

स्वः अस्तीति स्वर्गोऽस्ति, स्वः पश्येति स्वर्गं पश्य, स्वः कृतमिति स्वर्गेण कृतमित्यर्थः । एवं सर्वेषामव्ययानां सर्वविभक्तिलोपात्तुल्यरूपता ज्ञेयेति ॥ ६० ॥

अ थ स्त्री प्र त्य याः

अथ लिङ्गविशेषज्ञानाय स्त्रीप्रत्ययाः प्रस्तूयन्ते ।

अथेति । अलिङ्गानामसङ्ख्यानां चाव्ययानां निरूपणादनु लिङ्गविशेषज्ञापनमुचितमिति तदर्थं यत्येते इति भावः ।

अजादेः ॥ १ ॥ [सि० २।४।१६]

एभ्यः स्त्रियामाप् स्यात् । अजा एडका कोकिला बाला शूद्रा ज्येष्ठा ॥ १ ॥

अजा० । एभ्य इति अजादिभ्य, आवृत्त्या अजादीनामेव स्त्रियां वर्त्तमानेभ्य आप् प्रत्ययो भवति । बाधकबाधनार्थमनकारार्थं च वचनम् । अजा एडका अश्वा चटका मूषिका कोकिला; एभ्यो जातिलक्षणस्य ङीप्रत्ययस्यापवाद आप् । बाला होडा पाका वत्सा मन्दा [1] विलाता कन्या मध्या मुग्धा । विलातेत्यन्ये न पठन्ति तेन विलातीत्यपि, एभ्यो वयोलक्षणस्य । कनिष्ठा ज्येष्ठा मध्यमा; एभ्यो धवयोगलक्षणस्य च । पूर्वापहाणा अपरापहाणा, निपाताण्णत्वम्, संप्रहाणा, परप्रहाणेत्यप्यन्ये; एषु टिल्लक्षणस्य । त्रीणि फलानि समाहृतानि त्रिफला–अत्र द्विगुलक्षणस्य । क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा; एषु व्यञ्जनान्तत्वात् "आत्" (२।४।१८) इत्यनेनाप्राप्तेरजादिपाठः, कश्चिदेतेभ्यो विकल्पेनेच्छति, तन्मते क्रुङ् देवविट् उष्णिक् । अन्ये तु क्रुञ्चानालभेत, उष्णिहककुभौ देवविशश्च इति प्रयोगदर्शनात् अकारान्ता एवैत इति मन्यन्ते । "अजादेः" इत्यावृत्त्या षष्ठीसंबन्धः किम् ? अजादिसंबन्धिन्यामेव स्त्रियामभिधेयायां यथास्यात्तेनेह न भवति–'पञ्चानामजानां समाहारः पञ्चाजी, दशाजी; अत्र हि समाहारः समासार्थः स्त्री । नासावजसंबन्धिनी । [2] अत एव ज्ञापकादत्र स्त्रीप्रकरणे तदन्तादपि विधिर्भवति । तेन महाँश्चासावजश्चेति सामान्येन विग्रहे स्त्रीविवक्षायां महाजा परमाजेति सिद्धम् । एवमतिभवती अतिमहती अतिधीवरी अतिपीवरी परमशूद्रेत्यादि ॥ १ ॥ **अथाबन्तस्य रूपविशेषमाह—**

अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम् ॥ २ ॥ [सि० २।४।१११]

आबेव परो यस्मात्तस्मिन्ननित्क्याप्परे यदादिवर्जस्यात इत्स्यात् । पाचिका कारिका मद्रिका । यदादिवर्जनाद्यकासकाक्षिपकेत्यादौ नेत्वम् ॥ २ ॥

अस्या० । अनित्क्याप्पर इति अनित्प्रत्ययावयवे ककारे आप्परे इत्यर्थः । **अस्येति** किम् ? गोका नौका । **अनित्कीत्येव**–जीवका नन्दका । **"आशिष्यकन्"** (५।१।७०) आशिषि गम्यायां धातोरकन् स्यात् । जीवतान्नन्दतादित्याशास्यमानाज्जीवका नन्दका अत्र नित्यान्नेत्वम् । अनित इति पर्युदासेन [3] प्रत्ययग्रहणादिह न भवति–शक्नोतीति शका । तका । **आप्पर** इत्येव-कारकः हारकः । **आबेव** यस्मादिति नियमः किम् ? बहुपरिव्राजका मथुरा, बहुमद्रका सेना; विभक्त्यन्तादयमाबिति प्रतिषेधः । **यदादिवर्जनादित्यादि**–अत्र क्षिपकादयः । एवं [4] क्षिपका [5] ध्रुवका [5] धुवका [6] लहका [7] चरका चटका इष्टका [8] एडका [9] एरका [10] करका [11] अवका [12] अलका [12] दण्डका [13] पिष्पका कन्यका [14] मेनका [15] द्वारका रेवका सेवका

१ मन्दाविलाते मध्यमवयसौ स्त्रियौ । २ नामग्रहणेन तदन्तस्येति न्यायादजाद्यन्तादापः प्राप्तिरेव नास्ति किमावृत्तिव्याख्यानेनेत्याह–अत एवेत्यादि । ३ अथवा प्रत्ययपरिग्रहे नरिकामामिकेति ज्ञापकौ । ४ आयुधविशेषः । ५ आवपनविशेषौ । ६ सविलासा स्त्री । ७ ऋषिः । ८ अजाविशेषः । ९ तृणम् । १० घनोपलः त्रिलिङ्गः । ११ शेवालः । १२ नगर्यौ । १३ अश्वत्थस्य फलम् । १४ गौरीमाता अप्सराश्च । १५ नगरी ।

धारका उपत्यका अधित्यकेत्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । अत्र च **"इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे"** (२।४।१०७) आबेव परो यस्मान्न विभक्तिः स आप्परः । अपुंल्लिङ्गार्थाच्छब्दाद्विहितस्यापः स्थाने इकारो ह्रस्वश्च वा भवतः । अनितो अनकारानुबन्धस्य प्रत्ययस्यावयवभूते कि ककारे आप्परे परतः । अल्पा खट्वा खट्विका, खट्वका खट्वाका । एवं परमखट्विका ३, प्रियखट्विका ३ । चकारो ह्रस्वानुकर्षणार्थः, तेनोभयविकल्पे त्रैरूप्यं सिद्धम् । अपुंस इति किम् ? सर्विका । न विद्यते खट्वा अस्या इति "गोश्चान्ते०" (२।४।९५) इत्यादिना ह्रस्वत्वे स्त्रीपुंससाधारणात्पुनरापि अखट्वा, सैवाल्पा अखट्विका । तथा खट्वामतिक्रान्ता अतिखट्वा, सैवाल्पा अतिखट्विका । अत्रापुंस्काद्विहित आप् न भवतीति न त्रैरूप्यम् । **ङ्यादीदूतः के** (२।४।१०४) इत्यनेन तु ह्रस्वे कृते अस्य यत्तदेत्यादिनेत्वमेव भवति । कश्चित्त्वपुंस्काद्विहित आवस्तीति भवत्येव त्रैरूप्यमित्याह—न विद्यते खट्वा यस्याः सा अखट्विका अखट्वका अखट्वाका । अनिदिति किम् ? अनुकम्पिता दुर्गादेवीति कप्रि दुर्गका "ङ्यादीदूतः के" इत्यनेन ह्रस्व एव भवति । कीति किम् ? खट्वाता मालाता । आप्पर इति किम् ? प्रियखट्वाकः पुरुषः । आबेव परो यस्मादिति बहुव्रीहिः किम् ? प्रियखट्वाकमतिक्रान्ता अतिप्रियखट्वाका—अत्र हि प्रथमं द्वितीया परा पश्चादाबिति । आप इत्येव, मातृका ॥ २ ॥ एतत्सर्वं सङ्क्षेपेणाह—

क्वचिद्वा ॥ ३ ॥

अनित्कि परे क्वचिदापः स्थाने इह्रस्वौ वा । खट्विका, खट्वाका खट्वका ॥ ३ ॥

क्वचिदापः स्थाने इ ह्रस्वौ वेति । एवं क्वचिदापः स्थाने केवलं इकारो भवति, क्वचित्केवलं ह्रस्वो वेत्यपि सङ्क्षेपार्थः । यथा **"स्वज्ञाजभस्त्राऽधातुत्ययकात्"** (२।४।१०८) स्वज्ञाजभस्त्रेभ्योऽधातोरत्यप्रत्ययस्य च यावयवौ यकारककारौ ताभ्यां च परस्यापः स्थाने अनित्प्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परतः इकारो वा भवति । कुत्सिता स्वा ज्ञातिः स्विका स्वका । अस्विका अस्वका । निःस्विका निःस्वका । बहुस्विका बहुस्वका । ज्ञातिधनाख्यायामसर्वादित्वादकभावे कप्रत्ययान्तः स्वशब्दः । ज्ञिका ज्ञका, अज्ञिका अज्ञका, निर्ज्ञिका निर्ज्ञका, बहुज्ञिका बहुज्ञका, अजिका अजका, अनजिका अनजका, निरजिका निरजका, बह्वजिका बह्वजका । भस्त्रग्रहणं स्त्रीपुंससाधारणवृत्तेर्ग्रहणार्थम् । अविद्यमाना भस्त्रा यस्याः सा अभस्त्रा, सैवाल्पा अभस्त्रिका अभस्त्रका । एवं निर्भस्त्रिका २, बहुभस्त्रिका २, अतिभस्त्रिका २ । अत्र हि गौणस्य ह्रस्वत्वे समासात् स्त्रीपुंससाधारणादाबिति पूर्वेण न सिद्ध्यति । यदा त्वपुंस्कादाब् विधीयते तदा पूर्वेण त्रैरूप्यमेव—भस्त्रिका भस्त्रका भस्त्राका । न भस्त्रा अभस्त्रा साल्पा चेत् अभस्त्रिका ३ । एवं परमभस्त्रिका ३ । **य**कार. इभ्यिका इभ्यका, क्षत्रियिका क्षत्रियका, आर्यिका आर्यका । **क**कार-चटकिका चटकका, मूषकिका मूषकका, एलकिका एलकका । धातुत्यवर्जनं किम् ? सुनयिका सुशयिका अशोकिका सुपाकिका दाक्षिणात्यिका पाश्चात्यिका इहत्यिका अमात्यिका । आप इत्येव—कुत्सिता स्वा आत्मा आत्मीया वा सर्वादित्वादकि स्वका; अत एव "हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्" इति नैषधीये प्रयोगः प्रामादिकः । सांकाश्ये भवा योपान्त्यलक्षणेऽकञि सांकाश्यिका । एवं काम्पील्यिका । हृदिकं भजति हार्दिकिका । अत्र "गोत्रक्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः" (६।३।२०६) इत्यकञ् । एवं श्वाफल्किका । सर्वत्रोत्तरेण नित्यमिकारः । कथं बह्वपत्यिका बह्वपत्यका ? नात्र त्यःप्रत्ययः । "प्रत्ययाप्रत्ययोश्च प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्" । अथ शुक्किकेत्यत्र कथं न विकल्पः ? क्तादेशस्य कस्यासिद्धत्वात् । एवं **"द्व्येषसूतपुत्रवृन्दारकस्य"** (२।४।१०९) आप इति निवृत्तं पृथग्योगात् । एषामन्तस्यानित्प्रत्य-

---

१ एतन्नामा काचित् । २ श्वानं फालयति श्वफल्कः अन्धकविशेषः ।

यावयवे ककारे आप्परे परे परत इकारादेशो वा भवति । द्विके द्वके, एषिका एषका । केवलयोरेवानयोर्विकल्पेनेकारः । यदा तु न द्वे न एषा न द्वके न एषका इत्यादि विग्रहे कृते विभक्तेर्लुपि सत्यां पुनः समासाद्विभक्तौ तामाश्रित्य त्यदाद्यत्वं तत आप् स च स्थानिवद्भावेन विग्रहकालभाविन्या विभक्तेः परो न तु कात्, तदा अनेषका अद्वके इत्यत्रेकारो न भवति । अस्विकेत्यादौ तु न विभक्तेः पर आप्, किन्तु कादेव--सूतिका सूतका, पुत्रिका २ । वृन्दारिका २ । द्विशब्दसाहचर्यादेषेति सर्वादेः कृतविकारस्यैतदो निर्देशस्तेनेषेर्णकादिप्रत्ययान्तस्याविकृतस्यैतच्छब्दस्य च न भवति । इच्छतीति एषिका । एता एव एतिकाः । तथा **"वौ वर्त्तिका"** (२।४।११०) वौ शकुनावभिधेये वार्त्तिकेतीत्वं वा निपात्यते । वर्त्तत इति णके वार्त्तिका वर्त्तका शकुनिः । वाविति किम् ? वर्तिका भागुरिः । लोकायतस्य व्याख्यात्रीत्यर्थः । तथा **"नवापः"** (२।४।१०६) आपः कचि परे ह्रस्वो वा भवति । प्रियखट्वकः प्रियखट्वाकः, बहुमालकः बहुमालाकः । **"न कचि"** (२।४।१०५) ङ्यादीदूतः कचि प्रत्यये परे ह्रस्वो न भवति । बहुकुमारीकः बहुकीलालपाकः बहुलक्ष्मीकः बहुब्रह्मबन्धूकः । खार्या क्रीतं खारीकम्, एवं काकणीकम् "खारीकाकणीभ्यः कच्" (६।४।१४) इति कच् । पूर्वसूत्रे क इति निरनुबन्धे कचि प्राप्तिरेव नास्तीत्याह न कचीति--न कचीति प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' इति न्यायस्याभावज्ञापनार्थः । तेन निषादकर्ष्वा जातो नैषादकर्षुकः, एवं शाबरजम्बुक इत्यादाविकणि ह्रस्वः सिद्धः । अनेन निषेधे प्राप्ते "नवापः" इति विकल्पसूत्रम् । एतत्सर्वं "क्वचिदि"त्यादिना संक्षेपेण सङ्गृहीतं ज्ञेयम् । किञ्च **नरिका मामिका** (२।४।११२) नरकशब्दस्य मामकशब्दस्य चाप्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परतोऽकारस्य इत्वं निपात्यते । नरान् कायतीति नरिका "आतो डोऽह्वावामः" (५।१।७६) इति डः । ममेयं मामिका अञि ममकादेशः "कैवलमामक०" (२।४।२९) इत्यादिना संज्ञायां ङीप्रत्ययस्य नियमादाप् । ककारस्याप्रत्ययसंबन्धित्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् ॥ ३ ॥

क्वचिन्नेत्वम् ॥ ४ ॥

तारका ज्योतिः ॥ ४ ॥

तारकेति । तत्र सूत्रम् **"तारकावर्णकाष्टका ज्योतिस्तान्तवपितृदेवत्ये"** (२।४।११३) तारकादयः शब्दा यथासंख्यं ज्योतिरादिष्वर्थेष्विकारादेशरहिता निपात्यन्ते ॥ तरतेर्णके तारकाज्योतिस्तच्च नक्षत्रं कनीनिका च । नक्षत्रमेवेत्यन्ये । अन्यत्र तारिका ॥ वर्णयतीति णके वर्णका । तान्तवः प्रावरणविशेषः, अन्यत्र वर्णिका, भागुरी लोकायतस्य व्याख्यात्री ॥ अश्नोतेरौणादिके तककि अष्टका पितृदेवत्यं कर्म, अन्यत्राष्टौ द्रोणाः परिमाणमस्या इति के अष्टिका खारी । पितृदेवतार्थं कर्मेति "देवतान्तात्तदर्थे" (७।१।२२) इति ये पितृदेवत्यमिति सिद्धम् । एतदपि सर्वं संक्षेपेणाह क्वचिन्नेत्वमित्यादि ॥ ४ ॥

स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः ॥ ५ ॥ [सि० २।४।१]

स्वस्रादिवर्जान्नान्तादृदन्ताच्च स्त्रियां ङीः स्यात् । राज्ञी । कर्त्री ॥ ५ ॥

स्त्री ङि--७-१ । न् च ऋश्च नृत्, तस्मात् नृतः ५-१ । स्वसा आदिर्यस्य स स्वस्रादिः, न स्वस्रादिः अस्वस्रादिः, तस्मात् अस्वस्रादि ५-१ । ङी १-१ राज्ञीति--स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे तदन्तविधेर्ज्ञापितत्वात् अतिराज्ञी--पूजितो राजा अतिराजा, स्त्री चेत् अतिराज्ञी, "पूजास्वतेः०" (७।३।७२) इति समासान्तनिषेधः । एवमतितक्ष्णी अतिदण्डिनी अतिच्छत्रिणी अतिकर्त्री । स्त्रियामिति किम् ? पञ्च सप्त नद्यः,

---

१ वर्त्तयतीतिणके 'अस्यायत्तत्०' इति इकारः । भागुरिर आचार्यः बाहुलकात्स्त्रीलिङ्गः । २ लोके आयतं लोकायतं नास्तिकशास्त्रम् ।

नान्तायाः संख्याया युष्मदस्मदोरिवालिङ्गत्वात्, अत एव नलोपेऽपि "आत्" (२।४।१) इत्याबपि न भवति। अस्वस्त्रादेरिति किम्? स्वसा अतिस्वसा परमस्वसा दुहिता ननान्दा याता माता। तिस्रः चतस्रः–तिसृचतस्रादेशस्य विभक्त्यनन्तरनिमित्तत्वात् सन्निपातलक्षणत्वेन तद्विघातकत्वाभावादेव ङीनिवृत्तौ सिद्धायां स्वस्रादिषु तयोः पाठः "सन्निपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थस्तेनातिदध्या कन्ययेत्यादौ विभक्तिनिमित्तेऽनादेशे सति ङीः सिद्धो भवति। एवं यासेत्यादिष्वकारादेशे आबपि भवति ॥ ५ ॥

अधातूदृदितः ॥ ६ ॥ [सि० २।४।२]

अधातोरुदित ऋदितश्च स्त्रियां ङीः स्यात्। भवन्ती। पचन्ती ॥ ६ ॥

अधातू०। उच्च ऋच्च उदृत्, उदृत् इत् यस्य स उदृदित्, न धातुः अधातुः, अधातुश्चासौ उदृदिच्च अधातूदृदित्, तस्मात्। अधातोरुदित इत्यादि–धातुवर्जितो य उदित् ऋदिच्च प्रत्ययोऽप्रत्ययो वा तदन्तान्नाम्नः स्त्रियां वर्त्तमानात् ङीप्रत्ययो भवति। उदित्–भातीति भवती भातेर्डवतुरिति। एवं गोमती यवमती प्रेयसी विदुषी। ऋदित्–पचन्ती दीव्यन्ती–अत्र शतृप्रत्ययः महती–मह्यते "द्रुहिवहिमहिपृषिभ्यः कतृः" (उ० ८८४) इति कतृप्रत्ययः; एषु प्रत्यय उदृदित्तदन्तं नाम ॥ अतिभवती अतिमहती–अत्र नामाव्युत्पत्तिपक्षे भवत् महत् उदृदित् तदन्तं समासनाम। भवती महतीति तु व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तम्। निर्गोमती अतिपुंसीत्यत्र प्रत्ययस्योदित्त्वाद्गोमदादिशब्दोऽप्युदित् तेन तदन्तं समासनाम। अधात्विति किम्? सुकन् सुकंसौ, सुहिन् सुहिंसौ स्त्रियौ, 'कसुकि गतिशातनयोः' 'हिंसु तृहप् हिंसायाम्' सुष्ठु कंस्ते सुष्ठु हिनस्तीति क्विपि रूपम् ॥ ६ ॥

अञ्चः ॥ ७ ॥ [सि० २।४।३]

अञ्चन्तात् स्त्रियां ङी स्यात्। प्राची उदीची ॥ ७ ॥

अञ्चः। प्राची उदीचीति–प्राञ्चति उदञ्चतीति क्विप् "अञ्चोऽनर्चायाम्" (४।२।४६) "अच्च प्राग् दीर्घश्च" (२।१।१०४) "उदच उदीच्" (२।१।१०३) इत्यादिसूत्रैः सिद्ध्यति। एवं प्रतीची अपाची। "अञ्चः" इति निर्देशात् अर्चायां नलोपाभावेऽपि ङीसिद्धौ प्राञ्ची प्रत्यञ्चीत्यादि सिद्ध्यति। अच इति निर्देशे तु "अच्च प्रागि"तिवल्लुप्तनकारस्यैव ङीः स्यादिति ॥ ७ ॥

गौरादिभ्यो मुख्यान् ङीः ॥ ८ ॥ [सि० २।४।१९]

मुख्याद्गौरादिगणात् स्त्रियां ङीः स्यात् ॥ ८ ॥

गौरा०। मुख्यादित्यधिकारोऽयम्। गौरादयश्चैवम्–गौर शबल कल्माष सारङ्ग पिशङ्ग हरिण पाण्डुर अमर सुन्दर विकल विष्कल पुष्कल निष्कल। गौरादीनां गुणवचनत्वेनाजातिवचनादप्राप्ते पाठः। यस्तु विकलेति कालविशेषवाची आबन्तः स विगता कलेति भविष्यति। दास चेट विट भिक्षुक बन्धक पुत्र गायत्र आनन्द टेट[1] कटेट[1] नट[1] एषामजातिवचनत्वादप्राप्ते पाठः। काव्य शैव्य मत्स्य मनुष्य मुकय[2] हय गवय ऋश्य द्रुण[3] ओकण[4] । एषां जातिवाचित्वेऽप्यष्टानां यान्तत्वात् द्रुणौकणयोर्नित्यस्त्रीविषयत्वादप्राप्ते पाठः। भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्राहमाति आलच्चि कालच्चि सौधर्म आयस्थूण[5] आरद; भौरिकि भौलिक्योः क्रौड्यादित्वात् शेषाणां त्वणिञन्तानां गुरूपान्त्यत्वात् ष्ये प्राप्ते पाठः।

१ एते त्रयोऽपि नर्तकाः। २ वेसरः। ३ कच्छपी। ४ श्रीकरणादिव्यापारानन्तरं गुह्यादौ पर्यन्तबन्धनस्य किलाख्या। ५ ऋषिः।

कथं भौरिक्या भौलिक्या ? क्रौड्यादिपाठात्ष्योऽपि । आपच्चिको राष्ट्रसरूपः क्षत्रियस्तस्यापत्यं स्त्री आपच्चिकीत्यत्र शकादित्वाद् ञ्यलोपेऽपि जातिवाचित्वात् ङीर्भवति । एवं [1]दोटी वरट [2]नाट [3]मूलाट [4]पाट [5]सृपाट [6]पेट पट पटल पुट कुट [7]फाण्टश [8]धातक केतक [9]तर्कर [10]शर्कार बदर कुवल [11]लवण बिल्व आमलक मालत वेतस अतस आढक [12]कदर [12]कदल [13]गडूच [14]बाकुच [15]नाच [15]माच [16]कुम्भ [17]कुसुम्भ [18]यूष [19]मेष [20]सूष [21]मूष [21]करीर सल्लक [22]वल्लक [23]मल्लक [24]मालक [25]मेथ [26]पिप्पल हरीतक [26]कोशातक [27]शम तम [28]सुषव [29]शृङ्ग [30]भृङ्ग [31]बर्बर [32]पाण्ड [33]लोहाण्ड [34]शष्कण्ड पिण्ड [35]मण्डर [36]मण्डल [37]यूप [37]सूप [37]सूर्प [38]सूर्म मठ [39]पिठर [40]कुद्द [41]गूद्द [42]सूद्द खार [43]काकण [44]द्रोण [45]अरीहण [46]ओकण [47]वृस [48]आसन्द [49]अलन्द [50]कन्दल [51]सलन्द [51]देह देहल शष्कुल शव सूच [52]मञ्जर [53]अलज [54]गण्डूज [55]वैजयन्त [56]शाल्लूक [57]उपरतस [58]सच्छेद; एषां नित्यस्त्रीविषयत्वादप्राप्ते पाठः । क्रोष्टु सरस् अनयोरनकारान्तत्वादप्राप्ते पाठः । अनड्वाही अनडुही । अतएव पाठादनडुहूशब्दस्य ङ्यामुकारस्य पक्षे वाशब्दादेशः सौ नित्यं नागमाभावश्च । [59]प्रत्यवरोहिणी [60]पृथिवी आग्रहायणी । सप्रत्ययपाठः पुंवद्भावनिषेधार्थः । [61]अनड्वाहीभार्यः । अनडुहीवृन्दारकेत्यादि तद्धितलोपेऽपि लुगभावार्थश्च । पञ्चानड्वाहिः दशानडुहिः आश्मरथ्यः । गोत्रयञन्तत्वात् डायन् मा भूत् ङ्येव यथा स्यादित्यस्य पाठः । एहि पर्येहि । अनयोरिदन्तत्वात् विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः । बहुवचनमाकृतिगणार्थं, तेन नद मह भष प्लव [62]चर [63]गर [64]तर [65]गाह देव [66]सूद [67]अराल [68]उदवड [69]चण्ड [70]उमाभङ्ग [71]हरीकणी [72]वटर [73]अधिकारी एषण [74]करणे इति केचित् । इष्यते अन्विष्यते अनया दोष इति "इषोऽनिच्छायाम्" (५।३।११२) इत्यने सत्येषणी वैद्यशलाका, करणादन्यत्रैषणा । अन्वेषणा । आबेव, तदन्येन मन्यन्ते । मुख्यादिति किम् ? बहुनदा भूमिः ॥ ८ ॥

---

१ दोटीति । दोटस्यापत्यं 'पुरमगध'–इत्यण् 'द्रेरञणोऽप्राच्य'–इति लुप् ॥ २ नाटी । ओषधिः । ३ मूलाटी ओषधिः ॥ ४ पाटेति गणितम् ॥ ५ सृपाटेति छेदपाटी ॥ ६ पेटी समूहः ॥ ७ फाण्टशी ओषधिः ॥ ८ धातकी वृक्षविशेषः ॥ ९ तर्करी ओषधिः । १० शर्कारी वृक्ष वि० । ११ लवणी ओ० । १२ कदरीकदल्यौ वृक्षौ । १३ गुडूची ओ० । १४ बाकुची कूर्चेति साधुः । बावची । १५ नाचीमाच्यौ ओषध्यौ । १६ कुम्भी आधारः शाकविशेषश्च ॥ १७ कुसुम्भी ओ० । १८ यूषी ओ० यवागूविशेषो वा । १९ मेषी ओ० । २० सूषी शाकवि० । २१ मूषी करीरी दन्तमूलम् । २२ वल्लकी वीणा । २३ मल्लकी विचिकिलः । २४ मालकी ओषधिः ग्रामान्तराटवी च । २५ मेथी वाली शकटन्यासे । २६ मुरलोरलेति पिप्पलः कोषातक इति केचित् । कोषं कोशं चातति णके । २७ शमी शिवा वृक्षश्च । २८ सुषवी शाकभेदः कृष्णजीरकं कारवेल्लः कपिकच्छूश्च । सुसवीति पाठ इति केचित् । शोभनः सवोऽस्याः । २९ शृङ्गी विषं कारवेल्लश्च । ३० भृङ्गी ओ० । ३१ बर्बरी ओ० कुञ्चितकेशा च । ३२ पाण्डी ओ० । ३३ लोहाण्डेति लोहमिवाण्डं यस्या लोहाण्डी नाम शकुनिः ओषधिश्च । ३४ शष्कण्डी ओ० । ३५ मण्डरी ओ० । ३६ मण्डली ओ० समुदायश्च । ३७ यूपी सूपी सूर्पी ओषध्यः । ३८ सूर्मी लोहमयी प्रतिमा । ३९ पिठरी स्थाली । ४० कुर्द्दी विमानविशेषः । ४१ गूर्द्दी क्रीडा । ४२ सूर्द्दी ओ० । ४३ काकणेति काकान् नयतीति क्विड्डः । पृषोदरेति णत्वम् । ४४ द्रोणी जलक्षेपणी कुण्डिका । ४५ अरीहणी ओ० । ४६ ओकणी ओ० क्षुद्रजन्तुश्च । ४७ वृसी तालव्योपान्त्योऽपि । ४८ आङ्सम्पूर्वाद्दातेरुपसर्गेति डे आसन्द । ४९ अलन्दी संनिपातहन्त्री ओषधिः । ५० कन्दली प्ररोहः । ५१ सलन्दी देही ओषध्यो । ५२ मञ्जेः सौत्रात् मञ्जरी । ५३ अलजी ओ० । ५४ गण्डाज्जायते इति पृषोदरेति गण्डूजी ओ० । ५५ विजयन्तस्येयं वैजयन्ती । ५६ शाल्लूकी ओ० । ५७ उपरि तस्यतीति गणपाठादेत्वम् उपरतसी ओ० । ५८ सच्छेदी ओ० । ५९ प्रत्यवरोहतीत्येवंशीला क्रियाशब्दः प्रत्यवरोहिणी । ६० ननु तथापि पृथिवीशब्दस्याग्रहायणीशब्दस्य च स्वतः स्त्रीत्वात् 'परतः स्त्री'–इति पुंवद्भावो न भविष्यति किमर्थमनयोस्तथा पाठः? उच्यते । न हि सप्रत्ययपाठस्य पुंवद्भाव एव प्रयोजनं किन्तु तद्धितलोपे लुगभावोऽपि । तत्र क्वचिदेकं यथासंभवमूहनीयम् ॥ ६१ अनड्वाहीभार्यः इति अनड्वाहीशब्दो व्यक्तौ प्रवर्तितः जातिवाचित्वे तु स्वाङ्गाद् ङी० (३।२।५६) इत्यनेन पुंवन्निषेधः सिद्धः । ६२ चरी गूढपुरुषी । ६३ गरी भक्षिका । ६४ तरी तरित्री स्त्री । ६५ गाही अवगाहिका । ६६ सूदी सूपकारिणी । ६७ अराल इति पक्षिविशेषार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । वक्रार्थस्तु शोणादौ द्रष्टव्यः । ६८ उदवड इति । वड आग्रहणे सौत्रो धातुः । उदकं वडति इति उदवडः पानीयहारिणीवाचकः कृमिजातिविशेषो वा । ६९ चण्ड इति गौरीवाचकश्चण्डशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । कोपनावाचकस्तु शोणादौ द्रष्टव्यः । ७० उमाया भङ्ग इव भङ्गो यस्याः । ७१ हरी ओषधीस्तस्या इव कणा यस्याः । हरयः सुवर्णवर्णाः कणा यस्या वा । ७२ वटरः क्षुद्रजन्तुः । ७३ अधिकारं कारयति या स्त्री । ७४ करण कारके इत्यर्थः । इषच् गतौ ।

अत्रोपयोगिसूत्रमाह—

अस्य ङ्यां लुक् ॥ ९ ॥ [सि० २।४।८६]

स्पष्टम् । गौरी नदी । क्वचिद्यकारस्यापि मत्सी ॥ ९ ॥

अस्य० । सूत्रं स्पष्टम् । **क्वचिदिति** अत्र च **"मत्स्यस्य यः"** (२।४।८७) मत्स्यशब्दसंबन्धिनो यकारस्य ङ्यां लुग् भवति । मत्सी । कथं मत्स्यो नाम कश्चित् तस्यापत्यं स्त्रीति इञ् ङी मात्सी । ङीनिमित्तादेशस्यापि ङीग्रहणेन ग्रहणात् । **"व्यञ्जनात्तद्धितस्य"** (२।४।८८) व्यञ्जनात्परस्य तद्धितस्य यकारस्य ङ्यां लुग् भवति । मनोरपत्यं स्त्री मनुषी गर्गस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री गार्गी । सोमो देवताऽस्याः सौमी दिक् । उचितस्य भाव औचिती । चातुरी । "वृकात् टेण्यणि" (७।३।६४) वार्केणी । "समिध आधाने टेन्यणि" (६।३।१६२) सामिधेनी । व्यञ्जनादिति किम् ? कारिकाया अपत्यं कारिकेयी, हारिकेयी । तद्धितस्येति किम् ? वैश्यस्य भार्या वैश्यी । ङ्यामित्येव—आवश्या । **"सूर्यागस्त्ययोरीये च"** (२।४।८९) अनयोर्यकारस्य ङीप्रत्यये ईय प्रत्यये च लुग् भवति । सूर्यस्य भार्या मानुषी सूरी । सूर्यस्येयमित्यणि सौरी प्रभा । अगस्त्यस्येयमागस्ती सौर्यस्यायं । सौरीयः । एवमागस्तीयः । ईये चेति किम् ? सूर्यो देवताऽस्य सौर्यः । अगस्त्यस्यायमागस्त्यः । एतत्सर्वं लेशेनाह **क्वचिदित्यादि**—क्वचिदुक्तसूत्रानुसारेण ङ्यां यकारस्यापि लुग् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

वयस्यनन्त्ये ॥ १० ॥ [सि० २।४।२१]

अचरमे वयस्यदन्तात्स्त्रियां ङीः स्यात् । कुमारी किशोरी वधूटी । अनन्त्य इति किम् ? वृद्धा । *क्वचिन्नाम्नि ङीः । केवली । मामकी ॥ १० ॥

वय० । प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था बाल्ययौवनादि वयः । अन्ते भवमन्त्यं न अन्त्यमनन्त्यं तस्मिन् । कुमारीत्यादि । एवं बर्करी कलभी तरुणी[1] तलुनी वधूटी चिरण्टी । धवयोगाभावविशिष्टं वयः कुमारीशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न तु धवयोगाभावमात्रम् । वृद्धकुमारीति तु उपमानात् । अनन्त्य इति किम् ? वृद्धा स्थविरा । आदित्येव—शिशुः । कथं द्विवर्षा त्रिवर्षा उत्तानशया लोहितपादकेति ? नैता वयः श्रुतयोऽर्थात्तु वयो गम्यते । बालावत्सेत्यादयस्त्वजादौ । *क्वचिदित्यादि । **"केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजात्"** (२।४।२९) । एभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, नाम्नि । केवली नाम ज्योतिः । मामकी[2] । भागधेयी[3] । पापी[4] । अपरी[4] । समानी[5] । आर्यकृती[6] । सुमङ्गली[7] । भेषजी[8] । नाम्नीति किम् ? केवला । मामकशब्दादञन्तत्वेनैव ङीः सिद्धो नाम्नि नियम्यते । तेन मामिका बुद्धिरित्यसंज्ञायामञ्लक्षणोऽपि ङीर्न भवति । वा युष्मदस्मदोरित्यत्र ममकादेशश्च । **"भाजगोणनागस्थलकुण्डकालकुशकामुककटकबरात् पक्वावपनस्थूलाऽकृत्रिमामत्रकृष्णायसीरिंसुश्रोणिकेशपाशे"** (२।४।३०) भाजादिभ्यो दशभ्यो यथासंख्यं पक्वादिष्वर्थेषु स्त्रियां ङीर्भवति, नाम्नि । भोज्यत[9] इति भाजी पक्वा चेत्, भाजा अन्या । गोणी आवपनं चेत् गोणाऽन्या ॥ नागी स्थूला चेन्नागाऽन्या । जातौ तु नाग्येव । तस्याः स्थौल्याभावात् ॥ स्थली अकृत्रिमा चेत् स्थलाऽन्या । कुण्डी अमत्रं चेत्, कुण्डाऽन्या । काली कृष्णा चेत्कालाऽन्या । कुशी आयसी चेत् कुशा[10]ऽन्या । कामुकी रिंसुश्चेत्कामुकाऽन्या । कटी श्रोणी चेत्कटाऽन्या । कबरी केशपाशश्चेत् कबराऽन्या । जानपदशब्दादपि वृत्ताविच्छत्यन्यः, जानपदी वृत्तिः अन्यत्र जानपदा मदिरा । एतत्सर्वं क्वचिदित्यादिना लेशेनाह ३ ॥१०॥

---

१ तरुणादयस्तु तावन्त एव कौमारादुत्क्रम्य नवयौवनवचना इति । २ मातुली । ३ बलिः । ४ औषध्यौ । ५ छन्दः । ६ क्रियाविशेषः । ७ छन्द औषधिर्वा । ८ औषधी । ९ भजण् विश्राणने भाज्यते विश्राण्यते दीयते । १० काष्ठमयी तदाकृतिर्वेल्गा वा ।

नवा शोणादेः ॥ ११ ॥ [सि० २।४।३१]

शोणी शोणा ॥ ११ ॥

शोणादेर्गणात् स्त्रियां वा ङीर्भवति । शोणी शोणा, चण्डी चण्डा । शोण चण्ड अराल[1] कमल[2] कृपण विकट विशाल विशंकट भरुज[3] ध्वज[4] कल्याण उदार पुराण बहु बहुः बह्वी, एवंनामा काचित् । गुणवचनात्तूत्तरेण भविष्यति । वृत्रहन् वृत्रघ्नी वृत्रहा । चन्द्रभागान्नद्याम्—चन्द्रभागी चन्द्रभागा नाम नदी । अन्यत्र चन्द्रभागा नाम देवता । **अनद्यामिति केचित्**—चन्द्रभागी चन्द्रभागा काचित् । नद्यां तु चन्द्रभागा । अणन्तान्नद्यामित्येके-चान्द्रभागी चान्द्रभागा नाम नदी । अणन्तान्नित्यं प्राप्ते विकल्पः । अनद्यां तु नित्यं ङीः—चान्द्रभागी छाया । अन्ये तु अणन्तादेवार्थभेदेन विकल्पमिच्छन्ति । नद्यामाप्प्रत्ययोऽन्यत्र ङीप्रत्ययः । चान्द्रभागा नदी । चान्द्रभागी वनराजिः ॥ ११ ॥

इतोऽक्त्यर्थात् ॥ १२ ॥ [सि० २।४।३२]

क्त्यर्थप्रत्ययान्तवर्जादिदन्तात्स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । भूमी भूमिः । धूली धूलिः । राजी राजिः "पद्धतेर्वा" (२।४।३३) पद्धती पद्धतिः । "शक्तेः शस्त्रे" (२।४।३४) शक्ती शक्तिः ॥१२॥

इतो० । क्तेरिवार्थो यस्य स क्त्यर्थः, न क्त्यर्थः अक्त्यर्थस्तस्मात् । भूमी इत्यादि—भवति सर्वमस्यां इति भूमिः 'कृभूभ्यां कित् मिः' (उ० ६९०) । 'धूग्ट् धुवने' धूयते वातेन लिक्प्रत्यये धूलिः । एवं अङ्गुली २ । आली २ । धमनी २ । दर्वी २ । श्रोणी २ । राजी २ । आवली २ । यष्टी २ । शारी २ । सरणी २ । अशनी २ । अरणी २ । शकृत्करी २ । आत्मंभरी २ । कपी २ । अही २ । तारी २ । मुनी २ । अङ्गती[5] २ । अङ्कती[6] २ । अंहती २ । शकटी २ । शस्त्री २ । रजनी २ । धरणी २ । रात्री २ । अक्त्यर्थादिति किम् ? कृतिः हृतिः अजननिः अकरणिः ज्यानिः ग्लानिः हानिः । कथं साती २ ? तिगन्ताद्भविष्यति । अन्ये त्वङ्गति अङ्कति अंहति शकटि शस्त्रि शारि तारि अहि कपि मुनि रात्रि यष्टिभ्यः कटिश्रोणिप्रभृतिप्राण्यङ्गवाचिभ्यः क्तिवर्जितकृदन्तेभ्यश्चेकारान्तेभ्य इच्छन्ति, नान्येभ्यस्तन्मते सुगन्धिः, निःकोशाम्बिः, अणिः, शाणिरित्यादौ न भवति । क्तिमात्रवर्जनाच्च अजननिरित्यादौ न प्रतिषेधः । **पद्ध० शक्ते०** सूत्रद्वयं स्पष्टम् । पादाभ्यां हन्यते हननं वा । "श्वादिभ्यः क्तिः" (५।३।९२) "यमिरमि०" (४।२।५५) "न्लोपः" "हिमहतिकाषि ये पद्" (३।२।९६) पदादेशः ॥ शक्ते० शक्यते हिंस्यते परोऽनयेति "श्वादिभ्यः क्तिः" । क्त्यन्तानां निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ १२ ॥

स्वरादुतो गुणादखरोः ॥ १३ ॥ [सि० २।४।३५]

स्वरात्परो य उत्तदन्ताद्गुणवचनात्खरुवर्जनात्स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । पट्वी पटुः । विभ्वी विभुः । स्वरादिति किम् ? । पाण्डुर्भूः । गुणादिति किम् ? आखुः स्त्री । उत इति किम् ? श्वेता पटी । अखरोरिति किम् ? । खरुरियम् ॥

"सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथक् जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः" ॥ १ ॥ १३ ॥

स्वरा० । स्वरादित्यादि-स्वरात्परो य उकारः सामर्थ्यादेकवर्णव्यवहितस्तदन्तादित्यर्थः । गुणवचनादिति-सामान्योक्तावपि केवलगुणवृत्तेः स्त्रीत्वायोगात्ततो द्रव्यवृत्तेः प्रत्ययः । पट्वी २ इत्यादि । एवं

---

१ वक्रार्थोऽत्र । २ स्त्रियां लक्ष्मी । ३ ऋषिः; भरूजेति पाठान्तरे स्नेहभ्रष्टाः तन्दुलाः । ४ स्त्रियां कल्पपालभार्या दशवक्त्रा च । ५ अदूरभवेऽर्थे । ६ प्रभवेऽर्थे । ७ अग्निभार्या । ८ वायुब्रह्माग्नीनां भार्या । ९ न तु क्त्यर्थवर्जनादित्यर्थः ।

मृद्वी २ । लघ्वी २ । बह्वी २ । साध्वी २ । तन्वी २ । **खरुरिति**-क्रूरा मूर्खा दर्पिष्ठा श्वेता वा स्त्री खरुरिति **लघुन्यासे । गुणपरिभाषामाह–सत्त्वे०** इत्यादि अनुष्टुप् । सत्त्वं द्रव्यं तत्रैव निविशते तदेवाश्रयति यः स गुण इति संबन्धः । द्रव्यादपेत्यपगच्छति यथाम्राणां नीलता पीततायामुपजातायाम् । पृथग्जातिषु भिन्नजातीयेषु दृश्यते यथा नीलताम्रे दृष्टा तरुणतृणेषु दृश्यते । एतेन सर्वेण जातिर्गुणो न भवतीत्युक्तं भवति । आधेय उत्पाद्यो यथा कुसुमयोगाद्गन्धो वस्त्रे, यथा वाऽग्निसंयोगाद् घटे रक्तता । अक्रियाजो नित्यस्तद्यथाकाशादिषु महत्त्वादिः । तदेवं गुणस्योत्पाद्यत्वानुत्पाद्यत्वप्रकारद्वयप्रदर्शनेनोत्पाद्यत्वैकप्रकारस्य कर्मणो व्यवच्छेदः । असत्त्वप्रकृतिः द्रव्यस्वभावरहितः । अनेन द्रव्यस्य व्यवच्छेदः ॥ १३ ॥

श्येतादिभ्यो वा ङीस्तद्योगे तो नश्च ॥ १४ ॥

श्येनी श्येता । "क्नः पलितासितात" (२।४।३७) पलिक्नी । असिक्नी ॥ १४ ॥

श्येतादिभ्य इति–अत्र च **श्येतैतहरितभरतरोहिताद्वर्णात्तो नश्च** (२।४।३६) एभ्यः पञ्चभ्यो वर्णवाचिभ्यः स्त्रियां ङीर्वा स्यात्तत्संनियोगे तकारस्य नो भवति । श्येनी श्येता श्वेतवर्णा । एनी एता कर्बुरा शुभ्रा वा । हरिणी हरिता नीला । भरणी भरता पाटला धूसरा घृतवर्णा वा । रोहिणी रोहिता, लत्वे लोहिनी लोहिता रक्तवर्णा । चकारो नकारस्य ङीसन्नियोगशिष्टतार्थः । "**क्न०**" त इति च इति चानुवर्त्तते । पलितासिताभ्यां स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्सन्नियोगे तकारस्य क्नादेशश्च । पलितानि सन्त्यस्याः अभ्रादित्वादः ङ्यां पलिक्नी, बालगर्भिणी गौः । न सिनोतिस्म "गत्याकर्मकपिबभुजेः" (५।१।११) असिक्न्यन्तःपुरप्रेष्या ॥ १४ ॥

असहनञ्विद्यमानपूर्वपदात्स्वाङ्गादक्रोडादिभ्यः ॥ १५ ॥ [२।४।३८]

सदादिवर्जं पूर्वपदं यस्य ततः क्रोडादिवर्जाददन्तात्स्वाङ्गात् स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । पीनस्तनी पीनस्तना । अतिकेशी अतिकेशा माला । सहादिवर्जनात् सहकेशा अकेशा विद्यमानकेशा । अक्रोडादिभ्यः इति किम् ? सुक्रोडा सुवाला । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुशोफा, सुज्ञाना ॥

"अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु" ॥ २ ॥ १५ ॥

असह० । सहश्च नञ् च विद्यमानश्च सहनञ्विद्यमानाः, न सहनञ्विद्यमाना असहनञ्विद्यमानाः, ते पूर्वपदं यस्य तत्तथा तस्मात् । न क्रोडादयः अक्रोडादयस्तेभ्यः । पीनस्तनीत्यादि-पीनौ स्तनौ यस्याः । केशानतिक्रान्ता अतिकेशी २ यूका । एवं स्वडी स्वडा वृश्चिकी, अडो नाम वृश्चिकाद्यवयवः । सुक्रोडेति-एवं कल्याणी क्रोडाऽस्याः कल्याणक्रोडा क्रोडशब्दः "क्रोडोऽङ्के तिन्दुकं फले" इति लिङ्गानुशासनवचनात् स्त्रीक्लीबलिङ्गम् । तथा कल्याणखुरा पीनगुदा एकशफा दीर्घवाला भव्यभाला सुगला सुभगा; कल्याणी उखा स्फिग् यस्याः सा कल्याणोखा, कल्याणगोखा । बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेन किशलयकरा मृणालभुजेत्यादि । आदित्येव-परमशिखा । **स्वाङ्गपरिभाषामाह**-अविकार इत्यादि श्लोकः । अविकार इति किम् ? बहुशोफा । अद्रवमिति किम् ? बहुकफा । मूर्त्तमिति किम् ? बहुज्ञाना । प्राणिस्थमिति किम् ? दीर्घमुखा शाला । च्युतं च प्राणिनस्तदिति किमर्थम् ? अप्राणिस्थादपि पूर्वोक्ताद्यथा स्यात्-बहुकेशी २ रथ्या । तन्निभं च प्रतिमादिष्वपि किमर्थम् ? प्राणिस्थसदृशादपि पूर्वोक्ताद्यथा स्यात्-पृथुमुखी पृथुमुखा प्रतिमा । कथं कल्याणं पाणिपादमस्याः कल्याणपाणिपादेत्यत्र न भवति ? स्वाङ्गसमुदायो हि न स्वाङ्गम् । बहुस्वरत्वेन वक्ष्यमाणनियमबलाद्वा न भवति इति । द्विपादी त्रिपादीत्यत्र तु "**द्विगोः समाहारात्**"

१ उखाशब्दसान्निध्यात्त्रीलं ज्ञायते, गोरिव खमिन्द्रियं यस्याः सा गोखा । कल्याणा गोखा यस्या इति । अवयवविशेषो जघनरूपः ।

(२।४।२२) इति विशेषविधानान्नित्यमेव ङीर्भवति । अस्वाङ्गपूर्वपदादेवेच्छन्त्यन्ये-पाणी एव पादौ यस्याः सा पाणिपादा, मुखमेव नासिका यस्याः सा मुखनासिका ॥ १५ ॥

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाङ्गगात्रकण्ठात् ॥ १६ ॥ [सि० २।४।३९]

सहादिवर्जपूर्वपदेभ्यः एभ्यः स्वाङ्गेभ्यः स्त्रियां ङीर्वा स्यात् । सुनासिकी सुनासिका । नियमसूत्रमिदम्, तेनान्येभ्यो बहुस्वरेभ्यः संयोगोपान्त्येभ्यश्च ङीर्न स्यात् । सुललाटा । सुपार्श्वा । **"नखमुखादनाम्नि वा"** (२।४।४०) सुनखी सुनखा । सुमुखी सुमुखा । नाम्नि तु शूर्पणखा । **"पुच्छात्"** (२।४।४१) तथा । दीर्घपुच्छी दीर्घपुच्छा । **कबरादिपूर्वान्नित्यम्**–कबरपुच्छी । **"क्रीतात्करणादेः"** (२।४।४४) अश्वक्रीती । **"क्तादल्पे"** (२।४।४५) अभ्रविलिप्ती द्यौरित्यादि । **"सपत्न्यादौ"** (२।४।५०) ङीर्नोन्तादेशश्च । सपत्नी । एकपत्नी । **"ऊढायाम्"** (२।४।५१) पत्नी । **"पाणिगृहीतीति"** (२।४।५२) । **पतिवत्नी । अन्तर्वत्नी । एवं** दृढपत्नी । दृढपतिः । **ग्रामपत्नी** ॥ १६ ॥

नासि० । सुनासिकीति शोभना नासिका यस्याः सा । एवं कृशोदरी २ । बिम्बोष्ठी २ । दीर्घजङ्घी २ । समदन्ती २ । चारुकर्णी २ । तीक्ष्णशृङ्गी २ । मृद्वङ्गी २ । सुगात्री २ । स्निग्धकण्ठी २ । सहादिवर्जनात्–सहनासिका अनासिका विद्यमाननासिका । तेनान्येभ्य इति–अस्य नियमार्थत्वात् नासिकोदराभ्यामेव बहुस्वराभ्याम्, ओष्ठादिभ्य एव संयोगोपान्त्येभ्यो भवति; नान्येभ्यः, तेन पृथुजघना सुललाटा दृढहृदया इत्यादौ बहुस्वरान्न भवति, सुगुल्फा सुनेत्रा सुपार्श्वेत्यादौ संयोगोपान्त्यान्न भवति । अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो ङीप्रत्ययं नेच्छन्त्यन्ये । केचित्तु दीर्घजिह्वशब्दादपीच्छन्ति दीर्घजिह्वी २ । **"नख०"** वेति-सहादिवर्जपूर्वपदाभ्यामाभ्यां स्त्रियां ङीर्वा भवति, अनाम्नि । सुनखीति–एवं सूर्पनखी २ । अतिनखी २ । चन्द्रमुखी २ । अतिमुखी २ । शूर्पणखेति–एवं व्याघ्रणखा वज्रणखा गौरमुखा श्लक्ष्णमुखा कालमुखा; संज्ञाशब्दा एते न तु यौगिकाः । **"पुच्छा०"** तथेति–सहादिवर्जपूर्वपदात्स्वाङ्गात्पुच्छात् स्त्रियां ङीर्वा स्यादित्यर्थः । दीर्घपुच्छीति दीर्घं पुच्छं यस्याः सा तथा । नासिकेत्यादिनियमादप्राप्तौ वचनम् । कबरादीति० **"कबरमणिविषशरादेः"** (२।४।४२) कबरादिपूर्वात्पुच्छात्स्त्रियां नित्यं ङीर्भवति । कबरं कर्बुरं कुटिलं वा पुच्छमस्याः कबरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः मणिपुच्छीत्यादि । एवं कबरादित्वत्रादिशब्दात् **"पक्षाच्चोपमादेः"** (२।४।४३) उपमानपूर्वात्पक्षशब्दात्पुच्छशब्दाच्च स्त्रियां ङीर्भवति । उलूकस्येव पक्षावस्याः उलूकपक्षी शाला । उलूकस्येव पुच्छमस्याः उलूकपुच्छी सेना । **"क्रीता०"** करणमादिरवयवो यस्य तस्मात् क्रीतान्तान्नाम्नोऽकारान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति । अश्वक्रीतीति–अश्वेन क्रीयते स्म अश्वक्रीती । एवं धनक्रीती वस्त्रक्रीती । विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेव कृदन्तेन समासः । मनसा क्रीती । अलुप् । करणग्रहणं किम् ? सुक्रीता दुष्क्रीता । आदिग्रहणं किम् ? अश्वेन क्रीता । न ह्यत्र करणं क्रीतान्तस्य नाम्न आदिरवयवो भवति, ऐकपद्याभावात् । कथं 'सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी'ति । धनं च सा क्रीता चेति कर्मधारयः । करणविवक्षायामपप्रयोग एव । केचित्तु धनेन क्रीतेत्यत्राबन्तेनापि समासमिच्छन्ति, बहुलाधिकारात्; तदाकारान्तत्वाभावात् ङीर्न भवति । **"क्ता०"** क्तप्रत्ययान्तान्नाम्नः करणादेरल्पेऽर्थे स्त्रियां ङीर्भवति । अभ्रेत्यादि–अभ्रैर्विलिप्यतेस्म अभ्रविलिप्ती द्यौः । एवं सूपविलिप्ती स्थाली । अल्पाभ्रा अल्पसूपेत्यर्थः । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता स्त्री । अनल्पेन चन्दनेन लिप्तेत्यर्थः । इत्यादिकरणाच्च **"स्वाङ्गादेरकृतमितजातप्रतिपन्नाद्बहुव्रीहेः"** (२।४।४६) स्वाङ्गादेः कृतादिवर्जितात् क्तान्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । शङ्खौ भिन्ना-

यस्याः शङ्खभिन्नी, ऊरुभिन्नी, केशविलूनी, गलकृत्ती । कृतादिवर्जनं किम् ? दन्तकृता दन्तमिता दन्तजाता दन्तप्रतिपन्ना । बहुव्रीहेरिति किम् ? हस्ताभ्यां पतिता हस्तपतिता । **"अनाच्छादजात्यादेर्नवा"** (२।४।४७) आच्छादवर्जिता या जातिस्तदादेः कृतादिवर्जितक्तान्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा भवति । शाङ्गरो जग्धोऽनया शाङ्गरजग्धी शाङ्गरजग्धा, पलाण्डुभक्षिती पलाण्डुभक्षिता । अनाच्छादेति किम् ? वस्त्रच्छन्ना वसनच्छन्ना । जात्यादेरिति किम् ? मासयाता, संवत्सरयाता; पूर्वेणापि न भवति–अस्वाङ्गादित्वात् । कृतादिवर्जनं किम् ? कुण्डकृता पलाण्डुमिता वृक्षप्रतिपन्ना । क्तादित्येव–शाङ्गरप्रिया । **"सप०"** ङीरित्यादि । सपत्न्यादिषु यः पतिशब्दस्तस्मात् स्त्रियां नित्यं ङीर्भवति, नकारश्चान्तादेशः । समानः पतिरस्याः समानस्य पतिरिति वा सपत्नी । एवमेकपत्नी सती । वीरपत्नी पिण्डपत्नी भ्रातृपत्नी पुत्रपत्नी । **षडेते सपत्न्यादयः** । समुदायनिपातनं समानस्य [1]सभावार्थं [2]पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । सपत्नीभार्यः । सपत्न्या अयं सापत्नः । **"ऊढा०"** । पत्नीति–पत्युः केवलादूढायां परिणीतायां स्त्रियां ङीर्भवति, नकारश्चान्तादेशः । पत्नी । यजमानस्य पत्नी वृषलस्य पत्नी । ऊढायामिति किम् ? पतिरियं [3]संगृहीता [4]अभार्या चेत्यर्थः । **"पाणि"** इति शब्दः प्रकारार्थः । पाणिगृहीतीति प्रकाराः शब्दाः ऊढायां स्त्रियां ङ्यन्ता निपात्यन्ते । पाणिर्गृहीतोऽस्याः पाणौ वा गृहीता पाणिगृहीती । एवं करगृहीती पाण्यात्ती । करात्ती । ऊढायामिति किम् ? यस्या यथाकथंचित्पाणिर्गृह्यते सा पाणिगृहीता । बहुव्रीहावेवेच्छन्त्यन्ये ॥ पतिवत्नी अन्तर्वत्नीति–**"पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्यागर्भिण्योः"** (२।४।५३) भार्या अविधवा स्त्री, तस्यामभिधेयायां पतिमच्छब्दाद् ङीरस्य च पतिवत्नादेशः, तथा गर्भिण्यां स्त्रियामभिधेयायामन्तर्वच्छब्दाद् ङीरस्य चान्तर्वत्नादेशो निपात्यते । निपातनादेव च अधिकरणप्रधानादप्यन्तःशब्दान्मत्वर्थीयो मतुर्भवति । भार्येति किम् ? पतिमती पृथ्वी । गर्भिणीति किम् ? अन्तरस्यां शालायामस्ति । एवमित्यादि-'एवमिति संक्षेपद्योतने' । दृढपत्नीति–**"पत्युर्नः"** (२।४।४८) पत्यन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा भवति । तत्सन्नियोगेऽन्तस्य नकारादेशश्च । दृढः पतिरस्या दृढपत्नी दृढपतिः । एवं स्थिरपत्नी स्थिरपतिः, स्थूलपत्नी स्थूलपतिः, वृद्धपत्नी वृद्धपतिः । मुख्यादित्येव–[5]बहुस्थूलपतिः पुरी । अत्र हि पत्यन्तो बहुव्रीहिर्मुख्यो [6]न भवति । यस्तु मुख्यः स [7]पत्यन्तो न भवति । ग्रामपत्नीति–**"सादेः"** (२।४।४९) सपूर्वपदात्पतिशब्दात् स्त्रियां ङीर्वा भवति, अस्य च नकारोऽन्तादेशः । पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं बहुव्रीहिनिवृत्त्यर्थम् । ग्रामस्य पतिः स्त्री ग्रामपत्नी ग्रामपतिः । आशापत्नी आशापतिः । अधिष्ठात्री पतिः अधिपत्नी अधिपतिः । ईषदूना पतिः बहुपत्नी बहुपतिः । सादेरिति किम् ? पतिरियम् । ग्रामस्य पतिरियम् । मुख्यादित्येव–अतिक्रान्ता पतिमतिपतिः । गौणादपीच्छन्त्यन्ये–अतिपत्नी २ । यदा तु पत्नीशब्दस्य षष्ठ्यन्तेन समासस्तदा राजपत्नी शूद्रपत्नीत्याद्येव भवति ॥ १६ ॥

जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात् ॥ १७ ॥ [सि० २।४।५४]

यान्तादिवर्जाज्जातिवाचिनोऽदन्तात्स्त्रियां ङीः स्यात् ।

[8]आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां [9]च न सर्वभाक् ।
[10]सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥ ३ ॥

---

१ धर्मादिषु पत्नीशब्दस्यापाठादित्यर्थः । २ परतः स्त्री० (३।२।४९) जातिश्च (३।२।५१) इति प्राप्तस्य । ३ अनग्निसाक्षिकं कामार्दितेन दारकर्मत्वे परिगृहीता । ४ भार्याया अन्या अप्रधानभूता भगिन्यादिः । ५ स्थूलाः पतयो यासां ताः स्थूलपतय इति कृते पत्युर्न इति नविकल्पनात् बहवः स्थूलपतयो यस्याम् । ६ द्वितीयेन बहुव्रीहिना बाधितत्वात् । ७ किं तर्हि ? स्थूलपत्यन्तः । ८ (अनु) गृह्यतेऽनेनेति आकृतिरवयवरचना ग्रहणं यस्याः । ९ लिङ्गानां सर्वं सर्वत्वं भजति लिङ्गसमुदायं वा सर्वं भजते । १० सकृदाख्याता सती नियमेन ग्राह्या ।

कुक्कुटी । तटी । नाडायनी । कठी । यान्तादिवर्जनं किम् ? । क्षत्रिया । खट्वा शूद्रा । क्वचित् नित्यस्त्रीजातेरपि–ओदनपाकी । शङ्खपुष्पी । पूगफली । दर्भमूली । औषधिविशेषा एते ॥१७॥

जाते० । योऽन्ते यस्य स यान्तः, नित्यं स्त्री नित्यस्त्री, यान्तश्च नित्यस्त्री च शूद्रश्च यान्तनित्यस्त्रीशूद्रम्, न यान्तनित्यस्त्रीशूद्रम् अयान्तनित्यस्त्रीशूद्रम्, तस्मात् । जातिवाचिन इति जातिः सामान्यमभिन्नबुद्धिध्वनिप्रसवनिबन्धनमर्थधर्मस्तत्र च कार्यासंभवात्तद्वाचिनो ग्रहणम्, सा च जातिस्त्रिधा, तथा च सम्प्रदायः–आकृतिग्रहणेत्यादि–काचित्संस्थानव्यङ्ग्या, यथा गोत्वादिः । सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सत्यत्रिलिङ्गान्या, यथा ब्राह्मणत्वादिः; अत्रिलिङ्गत्वं देवदत्तादेरप्यस्तीति सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सतीत्युक्तम् । गोत्रचरणलक्षणा च तृतीया । क्रमेणोदाहरणानि–कुक्कुटी इति प्रथमभेदोदाहरणम् । तटी इति द्वितीयभेदोदाहरणम् । नाडायनीति-नडस्यापत्यं वृद्धं स्त्री "नडादिभ्यः आयनण्" (६।१।५३) इति गोत्रलक्षणा जातिः । कठीतिकठेन प्रोक्तं वेदं वेत्त्यधीते वा "तेन प्रोक्ते" (६।३।१८१) अण् "कठादिभ्यो वेदे लुप्" (६।३।१८३) इति लुप्, चरणलक्षणा जातिः; इति तृतीयभेदोदाहरणम् । **क्षत्रियेति** । एवं इभ्या वैश्या आर्या गवयी हयी मुकयी मनुषी मत्सी; ऋश्यी इति गौरादिपाठात् । अन्तग्रहणं साक्षात्प्रतिपत्त्यर्थम्, तेन वतण्डस्यापत्यं पौत्रादि स्त्रीति यञ्, तस्य लोपे स्थानिवद्भावेऽपि वतण्डीत्यत्र यान्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । खट्वेति–एवं मक्षिका यूका । कथं तर्हि द्रोणी कुटी । अत्र हि शब्दयोर्नित्यस्त्रीत्वाभावेऽपि द्रोणीकुटीजातेर्नित्यस्त्रीत्वात्प्रतिषेधः प्राप्नोति । नैवम् । गौरादिपाठाद्भविष्यति । शूद्रेति–कथं तर्हि महाशूद्री आभीरजातिः । नात्र शूद्रशब्दो जातिवाची किं तर्हि महाशूद्रशब्दः । यत्र तु शूद्रशब्द एव जातिवाची तत्र भवत्येव ङीनिषेधः । महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति । जातिलक्षणस्यैवायं प्रतिषेधो तेन धवयोगे भवत्येव शूद्रस्य भार्या शूद्री । आदित्येव-आखुः तित्तिरिः । मुख्यादित्येव-बहुशूकरा भूमिः, बहुब्राह्मणा शाला । कथं सुपर्णी ? सुपर्णशब्दस्यापि जातिवाचित्वात्तस्य च मुख्यत्वात् । **क्वचित्** इत्यादि ओदनपाकीति **"पाककर्णपर्णवालान्तात्"** (२।४।५५) पाकाद्यन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । ओदनस्येव पाकोऽस्याः ओदनपाकी । एवं क्षणे क्षणेन वा पाकोऽस्याः क्षणपाकी । मुद्गपर्णी सालपर्णी । आखुकर्णी शङ्कुकर्णी गौरिव वाला अस्या गोवाली । अश्ववाली ॥ शङ्खपुष्पीति **"असत्काण्डप्रान्तशतैकाञ्चः पुष्पात्"** (२।४।५६) सदादिवर्जितशब्दपूर्वो यः पुष्पशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । शङ्खपुष्पी सुवर्णपुष्पी । सदादिप्रतिषेधः किम् ? सत्पुष्पा काण्डपुष्पा प्रान्तपुष्पा शतपुष्पा एकपुष्पा प्राक्पुष्पा प्रत्यक्पुष्पा ॥ पूगफलीति **"असम्भस्त्राजिनैकशणपिण्डात्फलात्"** (२।४।५७) समादिवर्जितशब्दपूर्वो यः फलशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । दासीफली पूगफली दाडिमफली । समादिप्रतिषेधः किम् ? संफला भस्त्राफला अजिनफला । एकफला एकान्नेच्छन्त्यन्ये । शणफला पिण्डफला ॥ दर्भमूलीति **"अनञो मूलात्"** (२।४।५८) नञ्वर्जितशब्दपूर्वो यो मूलशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । दर्भमूली शीर्षमूली । अनञ इति किम् ? अमूला । ओषधिजातिविशेषाणां संज्ञा एताः । आसां जातीनां नित्यस्त्रीरूपत्वाद्वचनम् । एतत्सर्वं क्वचिदित्यादिना लेशेनाह ॥१७॥

धवाद्योगादपालकान्तात् ॥ १८ ॥ [सि० २।४।५९]

पालकान्तवर्जात्संबन्धतः स्त्रीवृत्तेर्धवनाम्नो ङीः स्यात् । प्रष्ठस्य भार्या प्रष्ठी । गणकी । अपालकान्तादिति किम् ? गोपालिका । *धवयोगोऽनुवर्त्तनीयः पञ्चसूत्र्याम् ॥ १८ ॥

१ उभयोरपि सम्बध्यते । २ वैश्यभेद एवाभीरो गवाद्युपजीवी । ३ पर्णशब्दस्यैव जातित्वं तस्य च कृते समासेऽमुख्यत्वमित्यभिप्रायः ।

पालकोऽन्ते यस्य स पालकान्तः, न पालकान्तः अपालकान्तस्तस्मात् । धवनाम्न इति धवो भर्त्ता । प्रष्ठी गणकीति–एवं प्रवरी महामात्री; कुमार्यां भवो भर्त्ता कौमारस्तस्य भार्या कौमारी । प्रष्ठादयो हि शब्दा धववाचिनोऽपि योगात्[1]सोऽयमित्यभेदोपचारेण भार्यायां वर्त्तन्ते । यदा तु "तस्येदमि"ति [2]व्यतिरेकविवक्षा तदा तद्धितो भवति । प्राष्ठी प्रावरी । धवादिति किम् ? परिसृष्टा प्रजाता प्रसूता । सर्वत्र विनिर्लुठितगर्भेत्यर्थः । [3]अस्त्यत्र योगस्तेन विना प्रसवाभावान्न तु धववाचि नाम । योगादिति किम् ? देवदत्तो धवो, देवदत्ता भार्या स्वत एव न तद्योगात् । गोपालिकेति–गोपालकस्य भार्येत्यर्थः । आदित्येव सहिष्णोर्भार्या सहिष्णुः । कथं ज्येष्ठस्य भार्या ज्येष्ठा, एवं कनिष्ठा मध्यमा ? अजादिपाठात् । *धवयोग इत्यादि लाघवार्थमाह ॥ १८ ॥

पूतक्रतुवृषाकप्यग्निकुसितकुसिदादै च ॥ १९ ॥ [सि० २।४।६०]

एभ्यः पञ्चभ्यो ङीस्तद्योगेऽन्तस्यैः । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी ॥ १९ ॥

पूत० । पूताः क्रतवो येन सः पूतक्रतुः । वृषो धर्मः कपिर्वराहस्ताद्रूप्यात्पृषोदरादित्वाद्दीर्घे वृषाकपिः, वृषं दानवमाकम्पितवान् वा वृषाकपिर्माधवः । कुसितकुसिदौ ऋषी । ततः पञ्चानां द्वन्द्वः । ऐ चेत्यन्तादेशो न तु प्रत्ययः । "एयेऽग्नायी" (३।२।५२) इति सूत्रनिर्देशात्, नहि ऐकारस्य प्रत्ययत्वे अग्नायीति भवति । एभ्यः पञ्चभ्य इति–धवनामभ्य इत्यर्थः । पूतक्रतायीति पूतक्रतोर्भार्या । एवं वृषाकपायी अग्नायी कुसितायी कुसिदायी । योगादित्येव–पूता क्रतवो यया सा पूतक्रतुः । एवं वृषाकपिर्नाम काचित् ॥ १९ ॥

मनोरौ च वा ॥ २० ॥ [सि० २।४।६१]

मनोर्ङीर्वा तद्योगे औरैश्च स्याताम् । मनायी । मनावी । मनुः ॥ २० ॥

मनो० । मनोर्ङीर्वेति । वाशब्दः प्रथमं विधेयतया प्रधानेन ङीशब्देन योज्यते, न तु सन्नियोगशिष्टत्वादप्रधानेनान्तादेशेनेति । औरैश्चेति-चकार ऐकारस्यान्तादेशस्यानुकर्षणार्थस्तेन ङीसन्नियोगे औकार ऐकारश्चान्तादेशौ क्रमेण स्यातामिति भावः ॥ २० ॥

वरुणेन्द्रभवशर्वरुद्रमृडादान्चान्तः ॥ २१ ॥ [सि० २।४।६२]

एभ्यः षड्भ्यो ङीस्तद्योगे आन्चान्तः । वरुणानी । इन्द्राणी ॥ २१ ॥

वरु० । आन्चान्त इति । ङीसन्नियोगे च आनन्त आगमो भवति । अन्तग्रहणाभावे आनपि पृथक् प्रत्ययः स्यात् । आदेशत्वे च "अनेकवर्णः सर्वस्य" (७।४।१०७) इति सर्वस्यादेशः स्यात् । इन्द्राणीति । एवं रुद्राणी भवानी शर्वाणी मृडानी । कश्चित्त्वाहिताग्नेर्भार्या आहिताग्न्यानी । एवं प्राजापत्यानी वाणिजानीत्यादावपीच्छति । नत्वनागमेनैवेन्द्राणीत्यादि सिद्ध्यति इति किमानागमकरणेन, मात्रालाघवं हि पुत्रोत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः । **नैवम्** "किबर्थं प्रकृतिरेवाहे"ति किबन्तानामपीन्द्रादिशब्दानां पराभिप्रायेणानागमे इन्द्राणीत्यादि रूपाणि सिद्ध्यन्ति नत्वनागमे । तथाहुः श्रीसूरयो हैमबृहद्वृत्तौ । "इन्द्रमाचष्टे इन्द्र् तद्भार्या इन्द्राणी एवं मातुलानीत्यपर इति" ॥ २१ ॥

---

१ अत्र सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन वृत्तिर्वेदितव्या । नह्ययमेवाभिसम्बन्धस्तस्येदमिति, किन्तु सोऽयमित्यपि । अभेदाच्च भेदस्य निवृत्तत्वात् तद्धितानुपपत्तिः । २ प्रष्ठस्येयमिति भेदविवक्षेत्यर्थः । ३ परिसर्गप्रसवौ सम्बन्धनिमित्तौ न च तौ पुमांसमाचक्षाते । अन्ये त्वाहुः–परिसर्गो दोहद उच्यते, तेन परिसृष्टा सपरिसर्गा जातदोहदेत्यर्थः । प्रजनः-प्रथमं गर्भग्रहणम्, प्रसवस्तु गर्भविनिर्लुण्ठनम् । एतैश्च योषित एव सम्बन्धो न पुंसः । पुरुषसंयोगनिमित्ता एते न तद्वाचिन इत्यर्थः ।

मातुलाचार्योपाध्यायाद्वा ॥ २२ ॥ [सि० २।४।६३]

एभ्यस्त्रिभ्यो ङीस्तद्योगे चानन्तो वा । मातुलानी मातुली । क्षुभ्नादि (२।३।९६) पाठान्न णत्वमिति आचार्यानी आचार्यी । उपाध्यायानी उपाध्यायी । "सूर्याद्देवतायां वा" (२।४।६४) ङीस्तद्योगे चानन्तः । सूर्याणी सूर्या । "आर्यक्षत्रियाद्वा" (२।४।६६) आर्याणी आर्या । क्षत्रियाणी क्षत्रिया ॥ २२ ॥

मातु० । आचार्यीति नेच्छन्त्यन्ये । अन्ये तु मातुला–आचार्या–उपाध्यायेत्यपीच्छन्ति । तदर्थं ङीरिति विकल्पनीयः । **"सूर्या०"** देवतायामिति किम् ? सूर्यस्यादित्यस्य मनुष्यस्य वा भार्या मानुषी सूरी । **"सूर्यागस्त्ययोरीये च"** (२।४।८९) इति य लोपः । सूर्याणीति नेच्छन्त्यन्ये[1] । **"आर्य०"** अत्र धवयोगो नानुवर्त्तते पञ्चसूत्र्याः समाप्तत्वात् । आर्यः, क्षत्रियः, पुमान् । स्त्री चेत्–आर्याणी आर्या, क्षत्रियाणी २ । धवयोगे तु विशेषविधानात्पूर्वेण नित्यं ङीरेव–आर्यस्य भार्या आर्यी, एवं क्षत्रियी । धवयोगे एवायं विधिरिति **कश्चित्** तन्मते आर्यस्य, क्षत्रियस्य, भार्या आर्याणी २, क्षत्रियाणी २ । धवयोगादन्यत्र तु आर्या क्षत्रियेत्येव भवति ॥ २२ ॥

यवयवनारण्यहिमाद्दोषलिप्युरुमहत्त्वे ॥ २३ ॥ [सि० २।४।६५]

एभ्यश्चतुर्भ्यो यथासङ्ख्यं दोषादौ गम्ये ङीः स्यात्, ङीयोगे चानन्तः । यवानां दोषो यवानी । यवनानां लिपिर्यवनानी । उरु अरण्यं अरण्यानी । महद्धिमं हिमानी । "यञो डायन् च वा" (२।४।६७) गार्ग्यायणी गार्गी । *एवमन्यत्रापि यथायोगम् ॥ २३ ॥

यव० । दुष्टो यव इति–यवानां दोषकारि सहचरितं द्रव्यान्तरम्, रालक इत्यर्थः । अप्रसवधर्माणो यवा एवेत्यन्ये । यवनानीति-उक्तार्थत्वात् "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यण् न भवति तद्विषये ङीविधानात् । उर्विति-उरुमहत्त्वयोरेकार्थत्वेऽपि पृथग् ग्रहणं यथासंख्यार्थम् । लिपीति किम् ? यावनी वृत्तिः, यवनस्य भार्या यवनी । यवयवनारण्यहिमानां तु दोषाद्यभावे स्त्रीत्वमेव नास्तीति न प्रत्युदाह्रियते । संज्ञायां तु भवत्येव–यवा यवना अरण्या हिमा नाम काचित् । **"यञो०"** यञ्प्रत्ययान्तान् स्त्रियां ङीर्भवति, डायन् चान्तो वा भवति । "श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्" इति न्यायात् वाशब्दोऽत्र श्रुते । गार्ग्यायणी पक्षे यलोपे गार्गी, एवं वात्सी वात्स्यायनी । **अथोक्तशेषं ङीप्रकरणं सङ्क्षेपेण सङ्गृह्णाति** । *एवमित्यादि–यथायोगमिति सूत्रानुसारेण अन्यत्राप्युक्तशेषे क्वचित् डायन्संनियुक्तो ङीः क्वचित् केवलं ङीरेवमुक्तरीत्यानुसन्धेयः । तथाहि–**"लोहितादिशकलान्तात्"** (२।४।६८) लोहितादिभ्यः शकलान्तेभ्यो यञन्तेभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, तत्सन्नियोगे डायन्चान्तः । लौहित्यायनी । सांशित्यायनी कात्यायनी शाकल्यायनी । लोहितादिः शकलान्तो गर्गाद्यन्तर्गणः एकोनत्रिंशत्परिमितः । **"षावटाद्वा"** (२।४।६९) षकारान्तान्नाम्नोऽवटशब्दाच्च यञन्तात्स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्सन्नियोगे डायन्चान्तः । पौतिमाष्यायणी पौतिमाष्या, शार्कराक्ष्यायणी शार्कराक्ष्या । गौकक्ष्यायणी गौकक्ष्या । आवट्यायनी आवट्या । एषु पूतिमाषशर्कराक्षगोकक्षावटशब्देभ्यो "गर्गादेर्यञ्" (६।१।४२) इति यञ् । **"कौरव्यमाण्डूकासूरेः"** (२।४।७०) एभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, तत्सन्नियोगे डायन्चान्तः । कौरव्यायणी माण्डूकायनी आसुरायणी । एषु "दुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्ञ्यः" (६।१।११८) इति ञ्ये कौरव्यः, "पीलासाल्वामण्डूकाद्वा" (६।१।६८) इत्यणि माण्डूकः "बाह्वादिभ्यो गोत्रे" (६।१।३२)

---

१ पूर्वे, सूर्याणि तु शकट एव । २ ङित्करणमासुरायणीत्यत्र प्रयोजनार्थम् । ३ साक्षान्निर्दिष्टस्य डायन एव वाशब्देन संबन्धो नानुमितेन ङीप्रत्ययेन प्रत्यासत्तेः, षावटाद्वेति सूत्रकरणाद्वा ।

इतीञि आसूरिः । "**इञ इतः**" (२।४।७१) इञ्प्रत्ययान्तान्नाम्न इकारान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति सुतंगमेन निर्वृत्तेतीञि सौतङ्गमी । एवं मौनवित्ती । "सुतङ्गमादेरिञ्" (६।२।८५) इति चातुरर्थिक इञ् । इत इति किम् ? इञादेशात्ष्यान्माभूत् । वराहस्यापत्यं वाराह्या, एवं बालाक्या कारीषगन्ध्या कौमुदगन्ध्या । "**नुर्जातेः**" (२।४।७२) नुर्मनुष्यस्य या जातिस्तद्वाचिन इकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । अवन्तेः कुन्तेश्चापत्यमिति "दुनादि०" (६।१।११८) इति ञ्ये "कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम्" (६।१।१२१) इति तस्य लोपे अवन्ती कुन्ती । दाक्षी । प्लाक्षी । तैकायनी 'तिकादेरायनिञ्' (६।१।१०७) । ग्लुचुकायनी 'अदोरायनिः प्रायः' (६।१।११३) । इत इत्येव-विशोऽपत्यमित्यञ्, दरदोऽपत्यं "पुरुमगध०" (६।१।११६) इत्यण् "द्रेरञणो०" (६।१।१२३) इत्युभयत्र प्रत्ययलोपे विट् दरद् । अवन्तीयतेः क्विप् तस्य लोपे अवन्ती स्त्री । नुरिति किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति किम् ? निष्कौशाम्बिः कन्या । "**वा पादः**" (२।४।६) बहुव्रीहेस्तन्निमित्तकपाद्शब्दान्तात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । द्विपदी "यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि" (२।१।१०२) इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्विपात् । "**अशिशोः**" (२।४।८) अस्माद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । अविद्यमानः शिशुरस्याः अशिश्वी । बहुव्रीहेरित्येव-न शिशुः अशिशुः । "**सङ्ख्यादेर्हायनाद्वयसि**" (२।४।९) सङ्ख्यादेर्हायनशब्दान्तान्नाम्नो बहुव्रीहेः स्त्रियां वयसि गम्यमाने ङीर्भवति । द्विहायनी त्रिहायणी चतुर्हायणी वडवा "चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि" (२।३।७४) इति णत्वम् । सङ्ख्यादेरिति किम् ? अतीतहायना । हायनादिति किम् ? द्विवर्षा कन्या । वयसीति किम् ? द्विहायना त्रिहायना चतुर्हायना शाला । कालकृता प्राणिनां शरीरावस्था वय इति णत्वमपि न भवति । "**दाम्नः**" (२।४।१०) एतदन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । द्विदाम्नी त्रिदाम्नी ।

"**परिमाणात्तद्धितलुक्यबिस्ताचितकम्बल्यात्**" (२।४।२३) परितः सर्वतो मानं परिमाणम्, तच्च रूढिवशात् प्रस्थादि । **यदाहुः** "ऊर्ध्वमानं किलोन्मानम्, परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्, सङ्ख्या बाह्या तु सर्वतः" ॥ १ ॥ बिस्तादिभ्यो यदन्यत्परिमाणं तदन्ताद्द्विगोरकारान्तात्तद्धितलुकि स्त्रियां ङीर्भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता "मूल्यैः क्रीते" (६।४।१५०) इति इकणि, "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इति तल्लुपि द्विकुडवी त्रिकुडवी, द्व्याढकी त्र्याढकी । परिमाणादिति किम् ? पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । तद्धितलुकीति किम् ? द्विपण्या "पणपादमाषाद्यः" (६।४।१४८) इति । अबिस्तादेरिति किम् ? द्विबिस्ता द्व्याचिता द्विकम्बल्या । "**काण्डात्प्रमाणादक्षेत्रे**" (२।४।२४) प्रमाणवाचिकाण्डशब्दादक्षेत्रविषयाद्द्विगोस्तद्धितलुकि सति स्त्रियां ङीर्भवति । आयामः प्रमाणं । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डी रज्जुः । प्रमाणादिति किम् ? द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्रीता द्विकाण्डा शाटी । अक्षेत्र इति किम् ? द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । भक्तिग्रहणं तद्धितार्थस्य स्त्रीत्वार्थम् । "**पुरुषाद्वा**" (२।४।२५) प्रमाणवाचिपुरुषशब्दान्ताद्द्विगोस्तद्धितलुकि स्त्रियां ङीर्वा भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः द्विपुरुषी द्विपुरुषा परिखा । "हस्तिपुरुषाद्वाऽण्" (७।१।१४१), "द्विगोः संशये च" (७।१।१४४) इत्यणो लुक् । प्रमाणादित्येव—द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा वडवा । "**रेवतरोहिणाद्भे**" (२।४।२६) रेवती रोहिणीभ्यां नक्षत्रशब्दाभ्यां स्त्रियां ङीर्भवति । रेवती रोहिणी । यद्यपि "चित्रारेवतीरोहिण्याः स्त्रियाम्" (६।३।१०८) इति जातार्थीयस्याणो लुकि ङीप्रत्ययस्यापि लुग् भवति तदापि नक्षत्रशब्दत्वात्पुनरनेन ङीर्भवति । रेवत्यां जाता रेवती, रोहिण्यां जाता रोहिणी । भ इति किम् ? रेवता रोहिणा । कथं "रेवतीरमणो बलः" "रेवती शुष्करेवती" ? रेवत्शब्दो मत्वर्थीयान्तोऽस्ति तत उदिल्लक्षणो ङीः । कथं "रोहिणी कटुरोहिणी" ? रोहिणशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति ततो जातिलक्षणो ङीः । "**नीलात्प्राण्यौषध्योः**" (२।४।२७) नीलशब्दात्प्राणिनि औषधौ च स्त्रियां ङीर्भवति । नीलो गौः, नीली

वडवा । नीली ओषधीः । प्राण्यौषध्योरिति किम् ? नीला शाटी । **"क्ताच्च नाम्नि वा"** (२।४।२८) नीलशब्दात् क्तान्ताच्च शब्दरूपात् स्त्रियां ङीर्वा भवति, नाम्नि संज्ञायाम् । नीली नीला । प्रवृद्धा[1] चासौ विलूना चेति प्रवृद्धविलूनी प्रवृद्धविलूना । एतत्सर्वं एवमित्यादिना संक्षेपेणाह इति **ङीप्रकरणम्** ॥२३॥

उतोऽप्राणिनश्चायुरज्ज्वादिभ्य ऊङ् ॥ २४ ॥ [सि० २।४।७३]

नृजातिवाचिनोऽप्राणिजातिवाचिनश्चोदन्तात् स्त्रियामूङ् स्यात्, न तु यवन्ताद्रज्ज्वादिभ्यश्च । कुरूः । अलाबूः । प्राणिजातिवर्जनादाखुः । युरज्ज्वादिवर्जनादध्वर्युः स्त्री । रज्जुरित्यादौ नोङ् । **"बाह्वन्तकद्रुकमण्डलोर्नाम्नि"** (२।४।७४) । सुबाहूः । कद्रूः । कमण्डलूः । नाम्नीत्येव–वृत्तबाहुः ॥ २४ ॥

उतो० । कुरूरिति–एवं इक्ष्वाकूः ब्रह्मबन्धूः इति नृजात्युदाहरणम् । अलाबूरिति–एवं कर्कन्धूः इत्यप्राणिजात्युदाहरणम् । ब्रह्मा बन्धुरस्या इत्यत्रोङः पूर्वं "शेषाद्वा" (७।३।१७५) इति कच्प्रत्ययः परोऽपि न भवति, तत्र बहुलाधिकारात् । उत इति किम् ? विट् । वधूः । ऊङि हि सति वधूमतिक्रान्ताऽतिवधुरित्यत्र ह्रस्वत्वं स्यात् । यथातिब्रह्मबन्धुरित्यत्र ॥ आखुरिति–एवं कृकवाकुः । नृजातिवाचिन इत्यत्र जातिग्रहणात्–पटुः चिकीर्षुः स्त्रीत्यत्र नोङ् । अप्राणिनो जातिवाचिन इति ग्रहणात् काकुः स्वरभेदः, शङ्कुः संख्याभेदः इत्यादौ नोङ् । अध्वर्युः स्त्रीति चरणत्वाज्जातिः । रज्जुरिति–एवं हनुः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । कथं तर्हि भीरु गतं निवर्त्तते इति । भीरुशब्दस्य हि जातिवाचित्वाज्जातिलक्षणस्योङोऽभावे सम्बोधने ओत्वं प्राप्नोति । नैवम् । ताच्छीलिकानां संज्ञाप्रकारत्वात् मनुष्यजातिवाचित्वादूङि ह्रस्वत्वं सिद्धम् । अन्ये त्वसूर्यंपश्यरूपा त्वं किमु भीरुररार्यसे इतिप्रयोगदर्शनाज्जातिवचनत्वमनिच्छन्त ऊङं न मन्यन्ते । **"बाह्वन्त०"** बाहुशब्दान्तान्नाम्नः कद्रुकमण्डलुभ्यां च नाम्नि विषये स्त्रियामूङ्प्रत्ययो भवति । सुबाहूरिति एवं मद्रबाहूः भद्रबाहूः कद्रूः कमण्डलूः संज्ञा एताः । वृत्तबाहुरिति–वृत्तौ बाहू अस्या वृत्तबाहुः ॥२४॥

उपमानसहितसंहितसहशफवामलक्ष्मणाद्यूरोः ॥ २५ ॥ [सि० २।४।७५]

उपमानवाचिभ्यः सहितादिभ्यश्च षड्भ्यः परस्य ऊरोः स्त्रियामूङ् स्यात् । रम्भोरूः । सहितोरूः । **नारीसखीपङ्गूःश्वश्रूः** (२।४।७६) एते साधवः ॥ २५ ॥

उप० । ऊरोरिति-उपमानादिपूर्वपदेभ्यः परस्य ऊरोरित्यर्थः । रम्भोरूरिति-रम्भेवोरू यस्याः । एवं करभोरूः । नागनासोरूः । कदलीस्तम्भोरूः । सहितोरूरिति, एवं संहितोरूः शफोरूः वामोरूः लक्ष्मणोरूः । उपमानाद्यादेरिति किम् ? वृत्तोरुः पीनोरुः । **"नारी०"** एते साधव इति एते शब्दाः स्त्रियां ङ्यन्ता ऊङन्ताश्च निपात्यन्ते । नृनरयोर्ङ्यां नारादेशः, नारी । सखिशब्दात् सखशब्दाच्च बहुव्रीहेर्ङीः, सखी । सह खेन वर्त्तते या सापि सखी । निपातनसामर्थ्यात् धवयोगेऽपि भवति–सख्युः स्त्री सखी । पङ्गुशब्दादजातावूङ् पङ्गूः । श्वशुरशब्दाज्जातिलक्षणे धवयोगलक्षणे च ङीप्रत्यये प्राप्ते ऊङ् उकाराकारयोर्लोपश्च श्वश्रूः । श्वशुरशब्दस्य संज्ञात्वे तु श्वशुरा ॥ २५ ॥

यूनस्तिः ॥ २६ ॥ [२।४।७७]

स्त्रियाम् । युवतिः । **"अनार्षे वृद्धेऽणिञो बहुस्वरगुरूपान्त्यस्यान्तस्य ष्यः (२।४।७८)** कारीषगन्ध्या । दैवदत्त्या इत्यादि ॥ २६ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां स्त्रीप्रत्ययाधिकारः समाप्तः ॥

---

१ अर्थकथमिदं प्रवृद्धश्चासौ विलूनश्च । स्त्री चेदिति न कार्यम्, अन्यथा गौणत्वाभावात् 'गोश्चान्त०' इत्यत्राप्रवृत्तावदन्तत्वाभावात् ङीर्न स्यात् । ओषधिविशेषः अखण्डः संज्ञाशब्दः व्युत्पत्तिमात्रमिदम् ।

यून० । युवन्शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययो भवति, नकारान्तत्वाद् ङीप्रत्यये प्राप्ते तदपवादो योगः । युवतिः । यूनीत्यपि कश्चित्, न तच्छिष्टसंमतम् । कथं युवती ? यौतेरौणादिककिदतिप्रत्ययान्तात् "इतोऽक्त्यर्थात्" (२।४।३२) इति ङीर्भविष्यति । मुख्यादित्येव–अतियूनी निर्यूनी । **"अना०"** अनार्षे वृद्धे विहितौ यावणिञौ प्रत्ययौ तदन्तस्य सतो बहुस्वरस्य गुरूपान्त्यस्य नाम्नोऽन्त्यस्य ष्य इत्यादेशो भवति, स्त्रियाम्; गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । गुरुग्रहणं हि दीर्घपरिग्रहार्थं संयोगपरिग्रहार्थं च, अन्यथा दीर्घोपान्त्यस्येत्युच्येत । कारीषगन्ध्येति–करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिस्तस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री "ङसोऽपत्ये" (६।१।२८) इति अण्, तस्य ष्यादेशः । एवं कौमुदगन्ध्या । दैवदत्त्येति–देवदत्तस्यापत्यं पौत्रादिः स्त्री "अत इञ्" इतीञ्, तस्य ष्यादेशः । एवं वाराह्या बालाक्या । अनार्षे इति किम् ? वासिष्ठी । विश्वामित्री । वृद्ध इति किम् ? वराहस्य प्रथमापत्यं स्त्री वाराही । अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री । एवं कान्यकुब्जी । अणिञ इति किम् ? ऋतभागस्यापत्यं बिदादित्वादञ् आर्त्तभागी । एवमार्ष्टिपेषणी । बहुस्वर इति किम् ? दाक्षी प्लाक्षी । गुरूपान्त्यस्येति किम् ? औपगवी कापटवी । अणिञन्तस्य सतो बहुस्वरादिति विशेषणं किम् ? द्वारस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री इतीञि दौवार्या । तथा उडुलोम्नोऽपत्यमिति इञि "नोऽपदस्य तद्धिते" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलोपे औडुलोम्या । सारलोम्या-अत्रेञः पूर्वमबहुस्वरत्वेऽगुरूपान्त्यत्वे च सत्यपीञि सति बहुस्वरत्वाद्गुरूपान्त्यत्वाच्च यथा स्यात् । स्त्रियामित्येव-कारीषगन्धो वाराहिः पुमान् । मुख्यस्येत्येव-बहवः कारीषगन्धा यस्यां सा बहुकारीषगन्धा । निर्वाराहिः । कथं सौधर्मी आयस्तूनी भौलिङ्गी आलम्बी आलची कालची औद्वाहमाती ? गौरादिपाठात् । [1]इत्यादिकरणाच्च

कुलाख्यानाम् (२।४।७९) पौणिक्या भौणिक्या मौखर्या गौप्या । पुणिकभुणिकादयः कुलाख्याः ।

क्रौड्यादीनाम् (२।४।८०) अबहुस्वरागुरूपान्त्यार्थोऽनन्तरापत्यार्थश्चारम्भः । क्रोडस्यापत्यं क्रौडिः स्त्री क्रौड्या । लाड्या । क्रौडि लाडि व्याडि इत्यादि क्रौड्यादयः । **"भोजसूतयोः क्षत्रियायुवत्योः"** (२।४।८१) भोजसूतशब्दयोरन्त्यस्य क्षत्रियायुवत्योरभिधेययोः स्त्रियां ष्यादेशो भवति । भोज्या, भोजवंशजा क्षत्रिया । सूत्या प्राप्तयौवना मानुषीत्यर्थः । अन्ये तु सूतसंबन्धिनी युवतिः सूत्या न सर्वेत्याहुः । क्षत्रियायुवत्योरिति किम् ? भोजा सूता ॥ **"दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धेर्वा"** (२।४।८२) एषामिञन्तानामन्तस्य स्त्रियां ष्यादेशो वा भवति । इञन्तमात्रनिर्देशात् पौत्रादौ प्राप्ते, प्रथमापत्ये त्वप्राप्ते विभाषा । दैवयज्ञ्या दैवयज्ञी, शौचिवृक्ष्या शौचिवृक्षी, सात्यमुग्र्या सात्यमुग्री, काण्ठेविद्ध्या काण्ठेविद्धी । इत्यादि सर्वं इत्यादिकरणेन संगृहीतमिति ॥ २६ ॥

यां शिष्योऽद्भुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तावव्ययनिर्णयोऽथ विरतिं स्त्रीप्रत्ययश्चाभजत् ॥ १ ॥



१ आदिशब्दात् आपक्षिति आपिशिलि सौधातकि भौरिकि भौलिकि शाल्मलि शालास्थलि कापिष्ठलि रौढि दैवदत्ति याज्ञदत्ति इत्यादय इञन्ताः, चौपयत चैकयत चैटयत बैल्वयत सैकयत एतेऽणन्ताः । ष्यस्यादेशत्वात् क्रौडेयः चौपतेय इत्यादिषु आपत्यस्य यस्य लोपः सिद्धः । अन्ये त्वत्र ष्यस्य प्रत्ययत्वमिच्छन्तो यलोपं नेच्छन्ति–क्रौड्येयः चौपयत्येयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।

अथ कारकप्रक्रिया प्रारभ्यते

शब्दप्रक्रियानिरूपणानन्तरं कारकप्रक्रियां निरूपयितुमाह—

क्रियाहेतुः कारकम् ॥ १ ॥ [सि० २।२।१]

क्रियाया हेतुः कारणं कर्त्रादि कारकसंज्ञं भवति । तच्च द्रव्याणां स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तकं सामर्थ्यं शक्तिरित्याचक्षते । शक्तिश्च सहभूर्यावद्द्रव्यभाविनी च क्रियाकाल एवाभिव्यज्यते । करोतीति कारकमिति अन्वर्थसंज्ञासमाश्रयणाच्चानाश्रितव्यापारस्य निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न भवति ॥ १ ॥

अथेति० । तत्र कारकस्य लक्षणमाह–क्रियाया हेतुः कारणम् । क्रियास्वरूपं वक्ष्यते । कारकशब्दः[3] कर्तृमात्रपर्यायः । कर्त्रादीत्यत्र कर्तृशब्दस्तु कर्तृविशेषवचनस्तेन कर्त्रादि कारकसंज्ञमिति विशेषण विशेष्यभाव उपपन्न इति । अन्यथा वृक्षो वृक्षसंज्ञ इतिवत् सोऽनुपपन्नः स्यादर्थस्याभेदादिति । कारकशब्दाभिधेयं च द्रव्याणां स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्त्तकं सामर्थ्यं शक्तिरित्याचक्षते । क्रिया हि द्विविधा–कर्तृस्था कर्तृसमवायिनी आसनगमनादिका; यथा चैत्र आस्ते । कर्मस्था च कर्मसमवायिनी पाकादिका; यथा ओदनं पचतीत्यादि । अस्योपलक्षणत्वात् अन्योन्यमाश्लिष्यत इत्युभयाश्रितापि । कारकेषु च कर्तृकर्मणी कचित् स्वाश्रयसमवेतक्रियाया निर्वर्त्तके कचित्पराश्रयसमवेतक्रियायाः, शेषाणि पराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्त्तकान्येव । द्रव्याणां च सामर्थ्यमेव कारकमिति ज्ञेयम्, द्रव्यस्य तु कारकत्वे प्रतिबन्धकमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानाभ्यां दहनादेर्दाहादिक्रियोत्पत्त्यनुत्पत्ती न स्याताम् । द्रव्यस्वरूपस्य सर्वदा विद्यमानत्वादुत्पत्तिरेव स्यात्, तस्माच्छक्तिरेव कारकमित्यास्थेयम् । **शक्तिर्हि द्रव्यस्य धर्मस्तस्य चतुष्टयी गतिः**–कश्चित्सहभूर्यावद्द्रव्यभावी च, यथा स्फटिकस्य शौक्ल्यम् । कश्चित्सहभूरयावद्द्रव्यभावी, यथाऽपकघटस्य श्यामिका । कश्चिदसहभूर्यावद्द्रव्यभावी च, यथा तस्यैव घटस्य पाकजा रूपादयः । कश्चिदसहभूरयावद्द्रव्यभावी च, यथा मेषयोः संयोगः । तत्र शक्तिलक्षणस्तु द्रव्यधर्मः सहभूर्यावद्द्रव्यभावी च । न चैवं सदा क्रियोत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यमभिव्यक्ताया एव तस्याः शक्तेः क्रियाहेतुत्वात् । यथा केतक्यादिजलादीनां वर्षाद्यभिभूतस्य गन्धस्य तरणिकिरणसंपर्काभिव्यक्तस्य गन्धोपलब्धिः क्रियाहेतुत्वम्, न चैतावता तस्यासत्त्वमुत्तरकालमभिव्यज्यमानत्वात् । न च तदैव तस्योत्पत्तिरित्यपि वाच्यम्–रविकरस्पर्शस्य गन्धोत्पत्तौ सामर्थ्यानवधारणात्, सामर्थ्ये वा जलान्तरेऽपि ततो गन्धोत्पत्तिः स्यात्तस्मात् क्रियाकालाभिव्यक्तशक्तिः कारकमिति स्थितम् । **ननु कथमत्र कारकशब्दः संज्ञा** क्रियाहेतुः संज्ञीति न पुनर्व्यत्यय ? इत्यत्रोच्यते । आचार्यव्यवहारात्संज्ञासिद्धिः, तद्यथा–लोके मातापितरौ पुत्रस्य नाम कुरुतो देवदत्त इति, तयोराचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति, एवमिहापि केचिद्व्याचक्षाणा आहुः–कारकशब्दः संज्ञा, क्रियाहेतुः संज्ञी इति । अपरे कारकमित्युक्त्वाकर्त्रादीन्युदाहरन्ति, तेन मन्यामहे–यया प्रत्याय्यते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति । यदपि संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य इत्युक्तं तदपि न–आचार्यव्यवहारे देवदत्तस्य सिद्धत्वात् । कारकशब्दस्य हि प्रत्यायनशक्तिर्व्या-

१ निर्वर्त्तकम् । २ क्रियार्थो धातुः इत्यत्र । ३ कारकमिति संज्ञाया भाव्यमानेनत्वादुद्भूतविभक्त्यनुपपत्त्या भाव्यमानविभक्त्या प्रथमया निर्देशः । ४ अथ संज्ञेति प्रकृत्य कारकादयः शब्दाः पठितव्याः, अन्यथा कारकादयः संज्ञा इत्येष सम्यक्प्रत्ययो न स्यात्, अतः संज्ञाधिकार इति वक्तव्यम्, तथा क्रियमाणेऽपि संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः कथमन्यथा कारकशब्देत्यादि बृहन्न्यासेऽधिकः पाठः ।

ख्यानेन प्रकाश्यते यथाऽकारादीनां वर्णत्वमिति । किञ्च अनाकृतिः संज्ञा आकृतिमन्तः संज्ञिन इति लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते, आकृत्या हि साहचर्यभावो लक्ष्यते, तेनायमर्थः–कारकशब्द एकत्वात्संज्ञा, क्रियाहेतुशब्देन प्रत्यायितानां बहुत्वात् संज्ञित्वम्, लाघवार्थत्वात्संज्ञाकरणस्य; तथा आवर्त्तिन्यः संज्ञा भवन्ति, कारकशब्दश्चावर्त्तते न क्रियाहेतुशब्दस्तद्यथा–देवदत्तशब्द आवर्त्तते न मांसपिण्ड इति; अथवा सतः कार्यिणः कार्येण भाव्यमिति पूर्वोच्चारितः संज्ञी, पश्चादुच्चारिता संज्ञेति[1]। अथ क्रियाहेतुरिति संज्ञिनिर्देशः किमर्थः ? इत्यत्रोच्यते–अकारकस्य कारकसंज्ञा माभूदित्येवमर्थः, अन्यथा ग्रामस्य समीपादागच्छतीत्यकारकस्यापि ग्रामस्यापादानसंज्ञा प्रसज्येत; तथाहि–यो वृक्षशाखायाः पतत्यसौ वृक्षादपि पतत्येवं यो ग्रामसमीपादागच्छति ग्रामादप्यसावागच्छतीत्यपाये ग्रामस्यावधिमत्त्वेनोपादानादपायो हि संश्लेषपूर्वकः, संश्लेषश्च सन्नसन्वा बुद्ध्या कल्प्यते, स च समीपस्यैव विवक्षितो न तु ग्रामस्य; यदा च ग्रामोऽपाययुक्तो भवति तदा स्यादेवापादानसंज्ञा यथा ग्रामादागच्छतीति। **एवं** तर्हि वृक्षस्य पत्रं पतत्यत्रापादानसंज्ञा प्राप्नोति, ग्रामस्य समीपादित्यत्रापाययुक्तार्थान्तरसद्भावान्नास्ति ग्रामस्यापाययोग, इह त्वर्थान्तरस्यानिर्देशाद्वृक्षस्यैवापाययुक्तत्वमिति । **नै**तदप्यस्ति। यतो नात्रापायो विवक्षितः, । कस्तर्हि ? संबन्धः–पर्णविशेषणत्वेन वृक्षस्य विवक्षितत्वात्। **न** चैवं पततीति प्रयोगानुपपत्तिः, वृक्षमजहत्यपि पर्णे शाखास्थे भूमिं स्पृशति वृक्षस्य पत्रं पततीति प्रयोगस्य दर्शनात्, सति ह्यवधौ गतिरपायो भवति नान्यथा, गतिविशेषत्वादपायस्य। यदा चापायो विवक्षितो भवति, भवति तदापादानसंज्ञा–यथा वृक्षात्पर्णं पततीति। संबन्धस्तु तदा न विशेषितो भवति न ज्ञायते। कङ्कस्य वा कुररस्य वा संबन्धविशेषस्य शब्देनासमर्पणात्, प्रत्यासत्त्या तु वृक्ष एव संबन्धित्वेन प्रतीयते इति तस्मादवध्यादय एव संज्ञिनो लभ्यन्ते। **सत्यम्**, तथापि विशिष्टः संज्ञी निर्देष्टव्यः । यत् क्रियाया निर्वर्त्तकं साधकं तत्कारकसंज्ञं–भवतीति । **ननु** तथाप्यत्र विशेषानिर्देशात् क्रियानिमित्तमात्रस्यापि हेत्वादेः प्रसङ्ग इत्यत्रोच्यते–करोतीति चकारोऽवधारणे, अयमर्थः–कारक इति महती संज्ञाऽन्वर्था विज्ञायते–करोतीति कारकमिति साध्यत्वेन च क्रियैव शब्दात्प्रतीयते, क्रियानिर्वर्त्तकस्यैव कारकसंज्ञा, कर्त्रादिसंज्ञा च प्रवर्त्तते; न हेत्वादेर्निमित्तमात्रस्यानाश्रितव्यापारत्वेनानिर्वर्त्तकस्य। **ननु** यदि करोतीति कारकमित्याश्रीयते तदा स्वतन्त्रस्यैव कर्तृसंज्ञावत् कारकसंज्ञापि प्राप्नोति न तु करणादीनां परतन्त्रत्वेनाकर्तृकत्वात्ततश्च करणं कारकमधिकरणं कारकमिति न स्यात् ? **नैष दोषः**–प्रतिकारकं पचादीनां क्रियाभेदात्करणाधिकरणयोः कर्तृभावस्तथाह्यधिश्रयणोदकसेचनतण्डुलावपनैधोपकर्षणक्रियाः कुर्वन् देवदत्तः पचतीत्युच्यते–अत्र तदा पचिर्वर्त्तते एतत्प्रधानस्य कर्तुः कर्तृत्वम् । द्रोणं पचति आढकं पचतीति ग्रहणक्रियायां स्थिरत्वादाक्रियासमाप्तेस्तण्डुलानां धारणक्रियां च कुर्वती स्थाली पचतीत्युच्यते–अत्र तदा पचिर्वर्त्तते एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम् । एधाः पचन्ति आविच्छिन्तेर्ज्वलनक्रियां कुर्वन्ति काष्ठानि पचन्तीत्युच्यते–अत्र तदा पचिर्वर्त्तते एतत्करणस्य कर्तृत्वम्। अनेकार्थत्वाच्च धातूनां तादर्थ्याच्च तद्रूपासङ्गात् करणादिव्यापारे पचेर्वृत्तिर्द्रष्टव्या। एवमन्यत्रापि सर्वेषां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात्तदनुष्ठानद्वारेण प्रधानक्रियायामुपयोगात् कर्तृसन्निधावपि स्वव्यापारस्यानिवर्त्तनात् पारतन्त्र्यावस्थायामप्यनिवृत्तं कारकत्वमित्यर्थः । **ननु** च यथा करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निदर्शितम्, न तथाऽपादानादीनां निदर्श्यते; नह्यपादाने ग्रामे विवक्षिते ग्राम आगच्छतीति प्रयोगोऽस्ति । **उच्यते**–सर्वत्रैवात्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं

१ किंवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते–नहीदं लोकाद्भिद्यते यथा गोज्ञापकः कश्चित् सक्थ्नि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति–अयं गौरिति नायमाचष्टे इयमस्य संज्ञेति। भवति चास्य संप्रत्ययस्तस्मादन्तरेणापि संज्ञाशब्दप्रयोगम् लोकव्यवहारवदत्र संज्ञा संज्ञिसंबंधः सिध्यतीति ।

च विवक्षितम्, तयोश्च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोः पर्यायेण वचनम्, वचनाश्रया च संज्ञा भवति, यथा—बलाहकाद्विद्योतते बलाहके विद्योतते बलाहको विद्योतते विद्युत् । तथाहि बलाहकादिति निस्सरणाद्विद्योतने द्युतिर्वर्त्तते पृथग्भावश्च विवक्षित इत्यपादानत्वम् । बलाहके इत्यत्र तु द्योतने द्युतिर्वर्त्तते बलाहके स्थित्वा ज्योतीरूपा विद्युद्विद्योतत इत्यर्थः । बलाहक इति च विद्युतो बलाहकस्याभेदविवक्षायां प्रयोगः । ग्राम आगच्छतीत्यर्थान्तरावगमादपादानव्यापारानवगमात्प्रयोगाभावः । एवं ब्राह्मणाय ददातीत्यर्थे ब्राह्मणो ददातीति प्रयोगाभावः । शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चापादानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्त्तते । वस्तुतस्त्वपादानस्यावधिभावेनावस्थानं व्यापारोऽस्ति संप्रदानस्याप्यनुमननादिलक्षणः । प्रतीयमानोऽपि च व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनं यथा—प्रविश पिण्डीमिति । स्वव्यापारमन्तरेण प्रधानक्रियायामुपयोगाभावात् । **ननु** सर्वत्रात्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चास्ति, तत्र प्रधानत्वात्कर्तृसंज्ञैव प्राप्नोति । अथ परत्वादपादानादयः, तथाह्यपादानादीनामवकाशो यदा स्वातन्त्र्यं नास्ति कर्तृसंज्ञाया अवकाशः । देवदत्तः पचतीत्युभयप्राप्तौ चापादानादयः । **तन्न** । सर्वत्र स्वातन्त्र्यस्य सद्भावान्नास्ति कर्तृसंज्ञाविनिर्मुक्तोऽपादानादि संज्ञानामवकाशः । **अत्रोच्यते**—उद्भूतस्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृसंज्ञा, उद्भूतपारतन्त्र्यविवक्षायां तु न्यग्भावात्सदपि स्वातन्त्र्यं स्वयं न प्रयुंक्ते, यथा राजसन्निधौ तदनुपयोगि स्वकार्यममात्या नारभन्ते, तस्मात्सर्वत्र स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यसद्भावेऽपि पर्यायेणैव वचनम्, तदाश्रया च संज्ञेत्यदोषः । **ननु** संभवनक्रियां धारणाक्रियां च कुर्वती स्थाली स्वतन्त्रेत्युक्तम्, क्वेदानीं परतन्त्रा, न चाप्रक्षालने परिवर्त्तने च पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्, न हि प्रक्षालनपरिवर्त्तने करिष्यतीति स्थाल्युपादीयते, किन्तु संभवनधारणक्रिये करिष्यतीति प्रक्षालनाद्यभावेऽपि पाकनिष्पादात्तेषां तत्रानङ्गत्वात् । एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रा, कर्तृस्थे यत्ने परतन्त्रेति । **ननु** च भोः कर्तृस्थेऽपि यत्ने कथ्यमाने स्थाली संभवनधारणक्रिये करोति तत्र स्वतन्त्रा, क्वेदानीं परतन्त्रेति ? एवं तर्हि प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा, व्यवाये स्वतन्त्रा, यथामात्यानां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यवाये स्वातन्त्र्यमिति । कारकेषु हि कर्त्तुः प्राधान्यं कर्ता च तिबादिनाभिहितशक्तिकः प्रथमामर्हतीति प्रथमं **प्रथमां निरूपयति** ॥१॥

नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ ॥ २ ॥ [सि० २।२।३१]

स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याशक्तिलक्षणोऽसमग्रः समग्रो वा पञ्चको नामार्थस्तस्मिन्नेकद्विबहौ वर्तमानान्नाम्नो यथासङ्ख्यं सौजस्लक्षणा प्रथमा स्यात् । डित्थः गौः शुक्लः कारकः दण्डी इति प्रथमा ॥ २ ॥

कर्मादिशक्तिषु द्वितीयादिविभक्तीनां विधास्यमानत्वादिह विशेषानभिधानाच्च परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमेति विज्ञायते । ततश्च द्वितीयादिविनिर्मुक्तं स्वार्थादिपञ्चकमर्थमात्रं नामार्थ इत्यभिप्रेत्याह—स्वार्थेत्यादि—स्वार्थादिपञ्चकस्य क्रमेण स्वरूपमेवाहुः । **स्वार्थ** इति-स्वस्यैवार्थः स्वार्थो यतः शब्दस्यार्थे प्रवृत्तिः, शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं इति यावत् । **स च स्वरूप-जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-संबन्धादिरूपस्त्वतलादिप्रत्ययाभिधेयो भावो विशेषणं गुणोऽसाधारणोऽर्थ इति व्याख्यायते । यदाहि** स्वरूपान्तरानुपादानः शब्दः स्वाभिधेये प्रवर्त्तते, तदा सोऽयमित्यभिसंबन्धेन शब्दरूपविशिष्टस्यैवार्थस्य प्रतीतेः शब्दस्वरूपमेव स्वार्थो विशेष्यं तु द्रव्यं यथा डित्थ इत्यादि । **जाति**रनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः यथा गौरित्यादि । अत्र जातिविशिष्टस्य द्रव्यस्य प्रतीतेर्जातिः स्वार्थः । **गुणः** शुक्लादिः, शुक्लः पट इत्यादौ गुणविशिष्टस्य द्रव्यस्य प्रतीतेर्गुणः स्वार्थः । कारक इत्यादौ तु क्रियाविशिष्टद्रव्यावभासना **क्रिया** स्वार्थः, क्रियाविशिष्टः संबन्धो वा । **द्रव्य**मपि यदा द्रव्यान्तरस्य विशेषणभूतं भवति—यष्टीः प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशयेति, तदा यष्ट्यादिद्रव्यं विशेषणभावापन्नं स्वार्थो द्रव्यान्तरं

विशेष्यभावापन्नं पुरुषादि तु द्रव्यम् । कचित्**संबन्धो**ऽपि स्वार्थः, यत्र संबन्धनिमित्तः प्रत्ययो यथा दण्डी विषाणी-अत्र हि दण्डविषाणयोः संबन्धः स्वार्थः । आदिशब्दाद्राजपुरुषादावप्युन्नेयमित्युदाहरति— गर्गाः पञ्चाला इति । एतावानत्र विशेषो यष्ट्यादावुपचाराद्द्रव्यान्तरप्रतीतिरत्र तु प्रत्ययलुपेति इति **स्वार्थलक्षणम् । अथ द्रव्यलक्षणमुच्यते**—यत्पुनरिदंतदित्यादिना वस्तूपलक्षणेन सर्वनाम्ना व्यपदिश्यते, स्वार्थेन स्वरूपादिलक्षणेन विशेषणीभूतेन व्यवच्छिद्यते इति । स्वार्थस्य व्यवच्छेद्यं वक्ष्यमाणलक्षणानां लिङ्गसङ्ख्याशक्तीनां प्रागुक्तानां च स्वरूपादीनामाश्रयः सत्त्वभूतं तद्द्रव्यं विशेष्यमिति व्याख्यायते— यथा इयं जातिः, अयं गुणः, इदं कर्मेति । **अथ लिङ्गस्य लक्षणमुच्यते**—यदर्थे शब्दाभिधेये घटादौ सदसद्वा शब्दत एवावसीयते, येन च हेतुभूतेन ङ्याबादिना शब्दस्य संस्कारः क्रियते, तत्स्त्री पुमान् नपुंसकमिति लिङ्गम्—यथा खट्वा नदी युवतिरिति । **अथ सङ्ख्याया लक्षणमुच्यते**—यस्यामेकवचनद्विवचनबहुवचनानि भवन्ति, सा भेदप्रतिपत्तिहेतुरेकत्वादिका सङ्ख्या, तया हि पदार्थानां भेदः प्रतीयते; भेदपरिगणनलक्षणत्वात्तस्याः । **ननु** एक इत्यादौ नामार्थव्यतिरेकेणान्येषामेकत्वादीनां विशेषणभूतानामभावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः प्राप्नोति ? **अत्रोच्यते**-एकत्वादिष्वपि व्यतिरिक्ता एकत्वादयः सन्ति, यथा शतमित्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तं शतसङ्ख्यान्याऽन्या च विभक्तिवाच्या नामार्थशतैकत्वसङ्ख्या । तथैक इत्यत्रापि निमित्तविभक्तिवाच्ये द्वे एकत्वे, तत्र तदभिधानाय प्रथमा भविष्यति । **तथाहुः**— "निमित्तमेकमित्यत्र विभक्त्या नाभिधीयते । तद्गतस्तु यदेकत्वं विभक्तिस्तत्र वर्त्तते" ॥ १ ॥ एवं शक्त्याश्रयेणैकत्वादिभेदेन प्रथमोक्ता । अभेदेऽपि दोषाभावः—यत उभयवचना एते द्रव्यं चाहुर्गुणं च । तत्र गुणोपसर्जनं द्रव्यमभिधीयते नाम्ना, द्रव्योपसर्जनस्तु गुणो विभक्त्या, यथा शौक्ल्यमिति गुणोपसर्जनद्रव्याभिधायिनः, शुक्लशब्दाद्द्रव्योपसर्जने तस्मिन्नेव गुणे भावप्रत्ययः । तदेवं यस्मिन् द्रव्ये स्थित एकत्वादिगुणस्तस्य द्रव्यस्यानुक्ता एकत्वादयः, प्राधान्येन तदभिधानाय प्रथमा भविष्यति । अथवा सङ्ख्यानामपरप्रधाना सङ्ख्येयमनया विशेष्यम् । यदि च प्रथमा न स्यात्, सङ्ख्येयमविशेषितं स्यात् । केवलस्य नाम्नः प्रयोगाभावात्प्रथमाया अभावे एकादिशब्दानुच्चारणात्; अथवा प्रत्ययपरैव प्रकृतिः प्रयोज्या न केवला इत्येवंरूपात्समयाद्भविष्यति । **अन्या** अपि कस्मान्न भवन्ति इति न वाच्यम् **कर्मादीनामभावात्**, कर्मादिष्वेव द्वितीयादीनां नियतत्वात् । तर्हि षष्ठी प्राप्नोति, कर्माद्यभावो हि शेषः ? अशेषत्वान्न भविष्यति, उपयुक्तादन्यो हि शेषो नामार्थस्य च प्रथमाविधावुपयोगात्तस्य चाव्यतिरिक्तस्येह सद्भावात् वचनव्यतिकरप्रसङ्गो नास्ति, सामर्थ्याद्व्यवस्थासिद्धेः । एक इत्यत्रैकमेवैकत्वं तच्च नामार्थेनाभिहितमित्यप्राप्ता प्रथमा समयवशेन प्राप्यते तत्र, तथा समयश्च पालितो भवति, एकत्वानुगुणश्चान्यत्राभिधाने दृष्टसामर्थ्यं वचनं भवति तथा कर्तव्यम् इति सङ्ख्यालक्षणम् । **अथ शक्तिलक्षमुणच्यते**—आख्यातकृत्तद्धितप्रत्ययसमासैरनुक्तायां यस्यां द्वितीयाद्या विभक्तयः षष्ठी च भवन्ति सा स्वपराश्रयाश्रितक्रियोत्पत्तिहेतुः कारकरूपा क्रिया कारकपूर्वसंबन्धादिरूपा च शक्तिः । तत्र कर्तृकर्मशक्ती स्वाश्रयगतक्रियोत्पत्तिहेतुभूते अपि, अन्यास्तु करणादिशक्तयः पराश्रयगतक्रियोत्पत्तिहेतुभूता एव । सा चाख्यातादिभिरुक्ता शक्तिरर्थमात्रमिति वक्ष्यते, अर्थमात्रं चोपचरितमपि अध्यारोपितमित्यर्थः, अध्यारोपश्चातस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, स च सहचरणादिभिर्निमित्तादनेकधा भिद्यते—'**सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधरणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यः कुन्तादिष्वतद्भावेऽपि तद्वदुपचारः**' । क्रमेणोदाहरणानि यथा **साहचर्यात्**—कुन्ताः प्रविशन्ति, छत्रिणो गच्छन्ति । **स्थानात्** मञ्चाः क्रोशन्ति, गिरिर्दह्यते । **तादर्थ्यात्**—इन्द्रः स्थूणा, प्रदीपो मल्लिका । **वृत्तात्**—यमोऽयं राजा, कुबेरोऽयं राजा । **मानात्**—प्रस्थो व्रीहिः, खारी मुद्गाः । **धरणात्**—तुला चन्दनम् । **सामीप्यात्**—गङ्गातटं गङ्गा ।

योगात्—रक्तः कम्बलः । **साधनात्**—अन्नं प्राणाः, आयुर्घृतम् । **आधिपत्यात्**—ग्रामाधिपतिर्ग्रामः । **अलिङ्गमप्यर्थमात्रम्**—त्वम् अहम् पञ्च कति, एषामलिङ्गत्वं च नन्ता सङ्ख्या डतिर्युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गका इत्यनुशासनात् । **अलिङ्गसङ्ख्यमप्यर्थमात्रम्**—उच्चैः नीचैः स्वः प्रातः, सर्वलिङ्गसङ्ख्यास्वेकरूपत्वादुच्चैःप्रभृतीनामर्थमात्रं विशिष्टलिङ्गसङ्ख्याभ्यामयोगादलिङ्गसङ्ख्यमित्यर्थः । **शक्तिप्रधानमपि**—यतः यत्र यथा यदा, तसादिभ्योऽपादानादिशक्तीनां प्रतीयमानत्वाद्यत इत्यादेरर्थमात्रं शक्तिप्रधानं भवति । **द्योत्यमपि**—प्रपचति प्रतिष्ठते प्रतीक्षते प्रतिपालयति, प्राद्युपसर्गाणां क्रियार्थद्योतकत्वादन्यथोपसर्गत्वाभावात्तदर्थमात्रं द्योत्यमेवेति । **स्वरूपमात्रमपि**—अध्यागच्छति पर्यागच्छति प्रलम्बते निषिञ्चति—सोपसर्गानुपसर्गधात्वर्थस्याध्यादिभिर्वैशिष्ट्याप्रतीतेः, आगच्छतीत्यादिक्रियापदार्थ एव तदर्थ इत्यर्थः । **तदयं वस्तुसङ्क्षेपः**—त्याद्यन्तपदसामानाधिकरण्ये प्रथमेति । यत्रापि त्याद्यन्तं पदं न श्रूयते वृक्षः प्लक्ष इति, तत्रापि गम्यते **यदाह** "यत्रान्यक्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते, भवन्तीशब्देन पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या वर्तमानाऽभिधीयते । **नन्वर्थमात्रे** प्रथमेत्युक्तम्, मात्रग्रहणस्य चाधिकार्थव्यवच्छेदकत्वाद्वीरपुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यात्पदार्थमात्राद्विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीतेः प्रथमा न प्राप्नोति, समासविधानमपि प्रथमोत्पत्तेर्लिङ्गं न भवति वीरपुरुषमानयेति द्वितीयाद्यन्तानामपि समाससम्भवात् इति प्रथमा विधेया । **नैष दोषः**—आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वाद्वीरनाम्नोऽनपेक्षितशब्दान्तरार्थसंसर्गोपहितविशेषणभावात् स्वार्थमात्रनिष्ठात् प्रथमा विधीयते, एवं पुरुषशब्दादपि, पश्चात्त्वाकांक्षादिवशेन विशेषणविशेष्यभावावगतिरुपजायमाना बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गपदसंस्कारं पूर्वप्रवृत्तं बाधितुं न शक्नोतीति सिद्धा प्रथमेति । अथवा त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहितायां कर्त्रादिशक्तौ प्रथमेत्युक्तम्, ततश्च वीरपुरुष इत्यत्रार्थाधिक्येऽप्यभिहितत्वमात्राश्रयात्प्रथमेति ।

कश्चित्सङ्ख्याकर्मादीन्विभक्तिवाच्यानभ्युपगच्छति त्रिको नामार्थ इति । कश्चित्सङ्ख्यैव विभक्तिवाच्या चतुष्को नामार्थ इति । कश्चित्पुनः पञ्चाप्यर्था नामवाच्या, विभक्तयस्तु द्योतिकाः सङ्ख्याकर्मादीनां, स्त्री प्रत्ययाश्च लिङ्गस्येति प्रतिपन्नः । तत्र **वार्तिककारश्लोकवार्तिककारयोः** पञ्चक एव नामार्थ इति दर्शनमुभाभ्यां नियमार्थस्यापगमात् । **भाष्यकारो**ऽप्यनेकदर्शनोपन्यासेऽपि पञ्चकेनैव नामार्थेन व्यवहरति—**यदाह**—"पञ्चक एव नामार्थोऽनेनाश्रित" इति युक्तिरप्यस्यामेव कल्पनायां दृश्यते । सङ्ख्याकर्मादयो हि नामवाच्यस्य द्रव्यस्य धर्मः स्वार्थोपसर्जनश्च शब्दो द्रव्य एव वर्तते द्रव्येणैवानयननयनादिव्यवहारस्तत्र द्रव्यवाचिना शब्देन द्रव्यधर्माणामभ्यन्तरीकरणमिति । नायुक्तमेतन्नामार्थत्वेन पञ्चानामभिसन्धानं विभक्तयः स्त्रीप्रत्ययाश्च द्योतका विशेष्यवृत्तित्वस्येति **सर्वोऽप्ययं हैमबृहन्न्यासस्याभिप्रायः ।**

वैयाकरणभूषणसारेऽप्युक्तम्—

"एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा । नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः" ॥१॥

एकम् जातिः, लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौचित्यात्, अनेकव्यक्तीनां वाच्यत्वे गौरवात् । द्विकमिति—जातिव्यक्ती इत्यर्थः । त्रिकमिति—जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः । चतुर्थम्—सङ्ख्यासहितं त्रिकमित्यर्थः । पञ्चकम्—कारकसहितं चतुष्कमित्यर्थः । विष्णुमुचाये(र्ये ?)त्यादावर्थोच्चारणासम्भवेन विना शब्दविषयं शाब्दबोधासङ्गतिश्चेति सोऽपि प्रातिपदिकार्थ इति **षोढापि** कश्चित् प्रातिपदिकार्थ इत्याह—

"शब्दोऽपि यदि भेदेन विवक्षा स्यात्तदा तथा । नोचेच्छ्रोत्रादिभिः सिद्धोऽप्यसावर्थेऽवभासते" ॥ १ ॥

यद्यनुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षा तदा शब्दोऽपि प्रातिपदिकार्थः, यदि न भेदविवक्षा तदा श्रोत्रादिभिरुपस्थितोऽप्यर्थवद्भासते । अपिर्हेतौ, उपस्थितत्वाद्भासते इत्यर्थः । अयं भावः—अनुकार्यानुकरणयोर्भेदे-

नुकार्यस्य पदानुपस्थितत्वात् तत्सिद्धये शक्तिरुपेया । अभेदे प्रत्यक्षे विषयस्य हेतुत्वात् । स्वप्रत्यक्षरूपां पदजन्योपस्थितिमादाय शाब्दविषयतोपपत्तिरिति । यद्यप्यतिप्रसङ्गवारणाय वृत्तिजन्यपदोपस्थितिरेव हेतुस्तथाप्यत्राश्रयतया वृत्तिमत्त्वस्य सत्त्वान्नानुपपत्तिः । निरूपकताश्रयान्यतरसंबन्धेन वृत्तिमत एव शाब्दबोधविषयत्वं कल्प्यते इत्यनवद्यम् । संबन्धस्योभयनिरूप्यत्वात्, पदार्थस्येव तद्बोधकत्वेन स्वस्यापि ज्ञानसंभवाच्चेति । उक्तं च **वाक्यपदीये—**

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा । तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते" ॥१॥ इत्यादि ।

कारकपरीक्षायां तु "प्रातिपदिकार्थ–लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" इति, मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबद्ध्यते । तत्र प्रातिपदिकार्थसत्ता अद्वैतवादिनामेतद्दर्शनम् **तथा चाहुः**—"सत्ता नाम काचिदनादिनिधनरूपा नित्यतया व्यवस्थिता सर्वशब्दैरभिधीयते" इति तदुक्तम्—

"संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां, सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः" ॥ १ ॥
"प्राप्तकर्मविशेषेषु, क्रिया सैवाभिधीयते । क्रमरूपस्य संहारे सा सत्त्वमिति चेष्यते" ॥ २ ॥
"अतस्तां प्रातिपदिकार्थं, धात्वर्थं संप्रचक्षते । सा नित्या सा महानात्मा, तामाहुस्त्वतलादयः ॥ ३ ॥"

यद्येवमभावशशविषाणादिशब्देभ्यः प्रथमा न प्राप्नोति तेषामभाववाचकत्वेन सत्ताया अभावात्, नष्टो घटो भविष्यति, घट इत्यादौ तु प्रथमा न स्यात् नष्टानुत्पन्नयोः सत्ताया अभावात्, तथाङ्कुरो जायते इत्यादौ प्रथमा न स्यात्ततो जन्माभावात्? **अत्रोच्यते**—नेह वस्तुसत्ताभिहिता, किं तर्हि? अभिधेयसत्ता, अभिधेयभूतस्यार्थस्य विद्यमानता सा चाभावशशविषाणादीनामपि विद्यते । तथा चोक्तं **न्यासकारेण**—अभावोऽप्यभिधेयो भवत्येव, अन्यथा अभावादिवचनमनुच्चारणीयं स्यात् । नह्यनर्थकं वचः प्रयोगमर्हति,अस्ति चाभावशब्दानां प्रयोगस्ततो निश्चीयतेऽभावोऽप्यभिधीयत इति । यतो भूतभविष्यदत्यन्तासद्वाचाभिधेयसत्ता न व्यभिचरति । **भाष्यकारेणाप्युक्तम्**—सत्तापदार्थो न व्यभिचरतीति ।

ननु जातिगुणक्रियाशब्दानां गोशुक्लपाचकादीनां जात्याद्यपेक्षा द्रव्ये वृत्तिरर्थान्तरसापेक्षतया तद्वाचिशब्देभ्यः प्रथमा न प्राप्नोतीत्य**त्रोच्यते**—जात्यादिविशिष्ट एवार्थो जात्यादिशब्दैरभिधीयत इति जात्यादिविशिष्ट एव तेषामर्थो नार्थान्तरं जात्यादय इति तदर्थापरित्यागात् प्रथमप्रवृत्तौ यन्निमित्तमपेक्षते तत्तस्यार्थ एव नार्थान्तरम्, यत्पुनः कचिदर्थे वर्तित्वा पुनरर्थान्तरे वर्तितुं निमित्तेनोपादीयते तदर्थान्तरमिह द्रष्टव्यम् । यद्येवं गौर्वाहीकः सिंहो माणवक इत्यत्र गोसिंहशब्दौ स्वार्थे वर्त्तित्वा पुनरर्थान्तरे वर्त्तेते इत्यस्यार्थान्तरापेक्षातः प्रथमया न भवितव्यम्, किञ्च स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विकल्पातिरिक्तः प्रातिपदिकार्थः गौरिव गवय इत्यनुमानातिरिक्तः, वृक्षश्च वृक्षश्चेति समुच्चयातिरिक्तः, नीलमुत्पलं, कष्टं श्रितः, शंकुलया खण्डः, कुबेराय बलिः, वृकाद्भयं, राज्ञः पुरुषः, अक्षेषु शौण्ड इत्यादिषु विशेषणविशेष्यभावातिरिक्तः प्रातिपदिकार्थ इति प्रथमा न प्राप्नोति । किञ्च वाक्यमेव समासवृत्तीति सर्वत्र समासेन विशिष्ट एवार्थोऽभिधीयते इति समासात्प्रथमा न प्राप्नोति । किञ्च कृदन्ततद्धितयोः संबन्धाभिधानमिति संबन्धातिरिक्त इति कृदन्तात्तद्धितान्ताच्च प्रथमा च प्राप्नोति । किञ्च देवदत्तः पचति, ओदनः पच्यते इति कर्तृकर्मातिरिक्तः प्रतिपदिकार्थ इति प्रथमा न प्राप्नोतीत्यत्रोच्यते-यत्रार्थेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां यस्य शक्तिरवधारिता स तस्यार्थस्तत्र वृक्षः वृक्षं वृक्षेणेत्यादिषु सर्वेषु विभक्त्यर्थेषु फलमूलस्कन्धरूपोऽर्थ उपात्तसङ्ख्याकर्मादिविशेषितः सर्वविभक्त्यर्थान्वयी प्रातिपदिकार्थोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धस्तन्मात्रं गृहीत्वा प्रथमं प्रथमा कर्त्तव्या, अत उत्तरकालं सिद्धं पदं पदान्तरेण संबन्धमुपैति पदान्तरसंबन्धाद्यदन्यदाधिक्यमुपजायते नासौ पदार्थः किन्तु नामपदाद्यवस्थायां पूर्वमप्रतीतोऽर्थः पदान्तरसन्निधानादुत्तरकालमवगम्यमानत्वाद्वा-

क्यार्थ इत्यवधार्यते । न च तत्रार्थे प्रथमा—पूर्वमेवान्वयिनि प्रातिपदिकार्थे प्रथमाया उत्पन्नत्वात् कुनोद्यसङ्कर एकप्रहारेणैव निरस्तस्तथा चोक्तम्—

"केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते । व्यवस्था तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्" ॥ १ ॥

"सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते । वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्" ॥ २ ॥

समासकृत्तद्धितान्तेषु यद्यपि पदान्तरप्रयोगो नास्ति तथापि तत्र विशेषविशिष्ट एवार्थो विभक्त्यर्थान्वयी तस्य तावानेवार्थः प्रातिपदिकार्थो नातिरिक्तः, यो यमर्थं न व्यभिचरति स तस्य प्रातिपदिकार्थः । तथा चोक्तं **भाष्यकृता**—'अन्वयी प्रातिपदिकार्थ इति' । **नन्वेवं** यद्यन्वयी प्रातिपदिकार्थस्तदासौ सर्वेषु विभक्त्यर्थेषु विद्यते इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्, कथं नामान्यथान्वयी स्यात्, एवं चान्वयिनो वस्तुमात्रस्य प्रातिपदिकार्थस्य प्रत्यासन्नत्वात्तन्मात्राश्रयाऽन्तरङ्गा प्रथमा, द्वितीयादयस्तु कारकविभक्तयः क्रियापदापेक्षत्वेन बहिरङ्गाः, कटं करोति—कटेन कृतमित्यादौ यावदेव करोत्यादिपदं न प्रयुज्यते तावदेव कटशब्दादन्तरङ्गत्वात्प्रथमयैव भवितव्यमित्यन्तरङ्गत्वात्प्रथमया सकलो विषयो व्याप्तः, क्वेदानीं द्वितीयादिभिर्भाव्यमित्यत्रोच्यते—लोकप्रयुक्तानां शब्दानामिदमन्वाख्यानम्, लोके च वाक्यमेव प्रयुज्यते, तस्य सम्पूर्णार्थप्रतिपादकत्वेन निराकाङ्क्षतयाऽर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिहेतुत्वात्; वाक्याच्चापोद्धृत्य पदमन्वाख्यायते, तेन कर्मादिषु कारकेष्वनभिहितेषु द्वितीयादयः कर्त्तव्याः, अभिहितेषु कर्मादिषु प्रथमेति । एवं विभक्तीनां विषयविभागः । अत एवोक्तं **भाष्यकृता**—अभिहितो योऽर्थः स सम्पन्नः प्रातिपदिकार्थ इति ।

एवं च नाम्नः प्रथमेति सूत्रावयवो व्याख्यातः ।

किंविशिष्टान्नाम्न इत्याह—एकद्विबहाविति—एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानादित्यर्थः । मर्यादाभिविधावितिवदेकद्विबहाविति कर्मधारयात् सप्तमी । अर्थवच्छब्दरूपं नाम, अर्थश्च द्विविधः—जातिर्द्रव्यं च । तत्र जातेर्नामार्थत्वे तस्या एकत्वद्वित्वबहुत्वासम्भवात्तत्सहचरितद्रव्यगतं द्वित्वं बहुत्वं वाश्रयणीयम्, ततश्च वृक्ष इत्यत्रापि अवयवगतबहुत्वसद्भावाद्बहुवचनप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि द्रव्यं नामार्थस्तत्राधेयगतमेव बहुत्वमाश्रीयते, वृक्षशब्दस्य त्ववयवी वाच्यो नत्ववयवा इति बहुत्वाप्रसङ्गः; **आकृतिपक्षेऽप्यदोषः**—प्रत्यासत्त्या तदाधारद्रव्यगतं द्वित्वं बहुत्वं वाश्रीयते नत्ववयवगतम्, जातेरवयवेष्वनाश्रितत्वात्; दारा इत्यादौ त्ववयवावयविनोरभेदविवक्षया बहुत्वमाकृत्याधारगतमेवेति बहुवचनं वाच्यम् । **ननु**—द्रव्येऽपि नामार्थे विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्यापि सम्भवाद्वृक्षः प्लक्ष इत्यत्रापि बहुवचनप्रसङ्गः—बहवस्तेऽर्था मूलस्कन्धपत्रादिरूपत्वात्तस्येति चेत् ? **नैवम्** । स्कन्धशाखाफलपलाशादिरूपेणानेकत्वेऽपि न वृक्षादिस्वरूपं तथाचष्टे इति न तस्य सा सङ्ख्या इति बहुवचनं न भवतीति सूक्तं एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानादिति । **यद्येवमेकद्विबहाविति** प्रकृत्यर्थविशेषणत्वात्कः प्रत्ययार्थ**स्त** एवेति ब्रूमः । अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे न भवन्तीति, तथाहि—पञ्चको नामार्थः दधि दधि पश्य पयः पयो रजति वासो वासश्छादयतीत्यादौ विभक्तिश्रवणमन्तरेणापि पञ्चाप्यर्थाः स्वार्थादयः प्रतीयन्ते । विभक्तयस्तु क्वचिद् द्योतकत्वेनापेक्षन्ते, तत्सिद्धमेतत्कर्माद्येकार्थसमवेत एवैकत्वादौ एकद्विबहुवचनानि भवन्ति नत्ववयवगते । **यद्येवं** स तर्हि तथा निर्देशः कर्त्तव्यः, नह्यन्तरेण भावप्रत्ययं गुणप्रधानो निर्देशो भवति, ततश्चेत्येके मन्यन्ते तदेके मन्यन्ते इत्येकवचनं प्राप्नोति, यतो नामार्थ एकत्वमप्यत्रास्ति बहुत्वं, न च एकद्विबहावित्यत्र च विशेषानुपादानाद्यावान् कश्चिदेकशब्दवाच्योऽर्थस्तस्य ग्रहणेन वाच्यं तत्रैकवचनप्रसङ्गः । **अथात्र** परत्वाद्बहुवचनमेवेति, एवं तर्हि बहुरोदनो बहुः सूप इति विशेषानुपादानाद्वैपुल्यरूपस्यापि बहुत्वस्य ग्रहणाद्बहुवचनप्रसङ्गः । **नैष दोषः** । अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणस्य

गुणविशेषकत्वेनोपादानाद्गुणगुणिनोरभेदोपचारात्सामानाधिकरण्याद्गुणप्रधाननिर्देशस्य सम्भवाद्यथा पटः शुक्ल इति । यदा गुणिनां गुणो व्यपदिश्यते पटस्य शुक्ल इति, तदा स्वप्रधानो गुणो भवतीति द्रव्ये व्यतिरेकविभक्तिः षष्ठी; आधारविवक्षायां तु सप्तम्यपि । यथा कर्मणि या सङ्ख्येति–कर्मादिभिरेकत्वादीनां विशेषणाद्विनापि भावप्रत्ययं गुणं प्रधाननिर्देशप्रतीतिरिति । यद्येवं बहुत्वस्यैकत्वात्सर्वदा बहाविति भाव्यं, कथं बहुषु बहुवचनमिति प्रयोगः ? उच्यते । आश्रयगतं बहुत्वं गुणे आरोप्य निर्देशाददोषः । तथा इत्येके मन्यन्ते इत्यत्रान्यार्थवृत्तिग्रहणादेकवचनप्रसङ्गोऽपि न वाच्यः, एकशब्दस्यान्यासहायसङ्ख्याप्रथमाल्पप्रधानसाधारणार्थवृत्तित्वेनानेकार्थवृत्तित्वात्, बहुशब्दश्च विपुलार्थवृत्तिरपि, तत एकद्विबहावित्यत्र सङ्ख्यावृत्तिना द्विशब्देन साहचर्यादेकबहुशब्दावपि तदर्थवृत्ती । प्रसिद्ध्या त्वसङ्ख्येयार्थत्वमप्येकादीनामष्टादशान्तानामुच्यते "आदशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्येये वर्त्तते" इति, अन्यथा ह्येकयोर्द्विवचनैकवचने इति समुदायस्य व्यर्थत्वाद्बहुवचनप्रसङ्गः । द्वित्वैकत्ववृत्तित्वे त्वेकद्विशब्दयोर्द्विवचनमुपपन्नं भवति । ननु लौकिकादेव प्रयोगादेकत्वादिषु एकवचनादीनां व्यवस्था भविष्यति किमर्थमेकद्विबहाविति ? उच्यते । सामान्येन विधानाद्दृष्टविरुद्धप्रयोगाच्च नियमार्थमिदम्, तथाहि–सङ्ख्यानिर्देशमन्तरेण सामान्ये नाममात्रात् स्यादयो विधीयन्ते, धातुमात्राच्च त्यादयः । अथ शास्त्रेऽनुपात्तोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते, यतः स्यादयस्तावत्स्वार्थे विधीयमानाः पञ्चको नामार्थ इति द्वित्वे दर्शने सङ्ख्यायां सिद्धाः; सङ्ख्याविशेषावगतिस्तु लोकात्सिद्धा, त्यादयोऽपि कर्तृकर्मणोर्विधीयमानाः स्वभावतः सङ्ख्याप्रयुक्तयोरेव तयोर्वाचका भविष्यन्ति, सङ्ख्याविशेषश्च प्रयोगदर्शनादवगम्यते; एतदप्यसाधीयः, दृश्यते खल्वपि लोके विप्रयोगः–तद्यथा अक्षीणि दर्शनीयानि, पादा मे सुकुमारतरा इति; द्वित्वेऽपि लोके बहुवचनं दृश्यते इति व्यतिकरः प्राप्नोति, अव्यतिकरश्चेष्यते, तच्चान्तरेण यत्नं न सिद्ध्यतीति नियमार्थमिदम्, तथोक्तं सूरिभिः "एकद्विबहाविति च सङ्करनिवृत्त्यर्थमिति । न चैवं ब्राह्मणाः सङ्घ इत्यत्र ब्राह्मणसङ्घरूपस्यार्थस्य ब्राह्मणरूपेण बहुत्वात्सङ्घरूपेण चैकत्वात्सङ्ख्याद्वययोगाद्वचनव्यतिकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्, भिन्नपदवाच्यत्वेन भिन्नार्थत्वात्तयोः । नहि ब्राह्मणरूपेण सङ्घपदं तमर्थमाचष्टे, सङ्घरूपेण ब्राह्मणपदं भिन्न एव पदार्थस्तदेकत्वं पदद्वयगम्यं वाक्यार्थं इति शब्दार्थभेदान्नेतरसङ्ख्या नेतरस्येति न वचनव्यतिकरः । नाम्न इति किम् ? निरर्थकाद्वर्णाद्धातुवाक्याभ्यां च मा भूत् । ननु चाव्ययेभ्य एकत्वाद्यभावादनेन प्रथमा न प्राप्नोति । सत्यम् । लुब्विधानात्तु विभक्तीनां विधिर्ज्ञायते, तदन्तर्गतत्वाच्च प्रथमाया अपि, तस्य फलम्–अथो स्वस्ते गृहम्, अथो स्वस्तव गृहमित्यादिषु "सपूर्वात्प्रथमान्ताद्वा" (२।१।३२) इति विभाषया ते मे आदेशौ पदसंज्ञा च, "अव्ययस्य" (३।२।७) इत्यत्र वक्ष्यते एकद्विबहावित्यादि अर्थे वर्त्तमानान्नाम्न एकद्विबहौ यथासङ्ख्यं विभक्तिविधानादिति ॥ २ ॥

आमन्त्र्ये ॥ ३ ॥ [सि० २।२।३२]

सम्बोधनार्हनाम्नः प्रथमा स्यात् । हे देव ॥ ३ ॥

आम० । प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्य किमप्याख्यातुमभिमुखीकरणमामन्त्रणम्, तद्विषय आमन्त्र्यस्तस्मिन् अर्थे वर्त्तमानान्नाम्न एकद्विबहौ यथासङ्ख्यं प्रथमाविभक्तिर्भवति । अत्र प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्येति–प्रसिद्धस्तेन आमन्त्रणशब्देन सह वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धो यस्य तत्तथा तस्येत्यर्थः; शेषं स्पष्टम् । नन्वामन्त्रणविषयस्य देवदत्तादेः सत्त्वभूतस्यामन्त्र्यस्यैकत्वादिसङ्ख्यायोगात्तद्वाचिनो नाम्नः प्रथमा भविष्यति किमर्थमिदमारभ्यते इति । अत्रोच्यते आमन्त्र्यपदं हि क्रियाया विशेषणं भवति–हे देवदत्त व्रजाम्यहमिति, अत्राभिमुखीकृतदेवदत्तविशिष्टा व्रज्या प्रतीयते । यदाह हरिः–आमन्त्रितं पदं यच्च तत्

क्रियाया विशेषकम् । व्रजामि देवदत्तेति निघातोऽत्र प्रतीयते ॥ १ ॥ ततश्च देवदत्तादेः क्रियाविशेषणात् कर्माद्यतिरिक्तामन्त्रणसम्बन्धे शेषरूपे वर्त्तमानाद्गौणात्प्रथमापवादः षष्ठी प्राप्नोति, तद्बाधनार्थमिदमिति भावः । आमन्त्र्य इति किम् ? राजा भव—अत्र राजा न आमन्त्र्यः किन्तु स एव विधीयते इति पूर्वेणैव प्रथमा ॥ ३ ॥ अथ कर्तृकारकस्य तृतीयाप्रकरणे वक्ष्यमाणस्वरूपत्वेन क्रमप्राप्तस्य कर्मकारकस्य स्वरूपं निरूपयितुं प्रथमं तस्य लक्षणमाह—

कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ ४ ॥ [सि० २।२।३]

कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तत्कारकं व्याप्यं कर्म च स्यात् । तत्त्रेधा—निर्वर्त्त्यं विकार्यं प्राप्यं च । यदसज्जायते तन्निर्वर्त्त्यम् । यत्रावस्थान्तरं क्रियते तद्विकार्यम् । यत्सदेव प्राप्यते तत्प्राप्यम् । पुनरेकैकं त्रिधा—इष्टमनिष्टमुदासीनं च । मुख्यगौणभेदात्तद्द्विधा ॥ ४ ॥

कर्त्तु० । कर्त्तुरिति[1] "कृत्यस्य वा" (२।२।८८) "कर्त्तरि" (२।२।८६) इति वा षष्ठी सा च सम्बन्धिशब्दत्वादनुपात्तामपि कर्तृसम्बन्धिनीं क्रियामुपस्थापयतीत्याह—कर्त्रा क्रिययेत्यादि । कर्त्ता च क्रियां विना न किञ्चिदाप्तुं शक्नोति इति सामर्थ्यात् क्रिया करणभावेनावतिष्ठते, ततोऽयमर्थः—पच्यादिकया क्रियया यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते कर्त्रा तत्कारकं कर्मेति । एषणाङ्गे च प्रापणे आप्नोतिर्वर्त्तते इति प्रकृतिप्रत्ययार्थौ वितत्य व्याचष्टे—आप्तुमिष्यते इति । किमर्थं क्रियया तदाप्तुमिष्यते ? निर्वर्त्तयितुं गुणान्तराण्यापादयितुं विषयीकर्तुं वा; अत एव निर्वर्त्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति त्रेधा तदुच्यते ।

करणादिकारकाणां प्राप्तीच्छाविषयत्वेऽपि न विशिष्टेच्छाविषयत्वं कर्मसिद्ध्यै तेषामुपादानात्ततः साधूक्तं विशेषेणाप्तुमिष्यत इति ।

पाणिनेरप्ययमेवाभिप्रायः—तथाहि "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" [पा० १।४।४९] कर्त्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । कर्त्तुः किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति—कर्मण ईप्सिता माषा, न कर्त्तुः । तमप्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते—अत्र सत्यपि पयसो भुजिक्रियायां प्रकृष्टोपकारकत्वे ईप्सायां प्रकर्षाभावः । "तथायुक्तं चानीप्सितम्" [पा० १।४।५०] ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति । ओदनं भुञ्जानो विषमत्ति ।"

अत्र वैयाकरणभूषणसारकारः प्राह—"तच्च कर्त्तुरीप्सिततमम्, क्रियाजन्यफलाश्रय इत्यर्थः, क्रियाजन्यफलवत्त्वेन कर्मण एव कर्त्तुरीप्सिततमत्वात्, तथा युक्तं चानीप्सितमित्यादिसङ्ग्रहाच्चैवमेव युक्तम्—ईप्सितानीप्सितत्वयोः शाब्दबोधे भानाभावेन संज्ञायामेव तदुपयोगः, न तु वाच्यकोटौ तत्प्रवेशः । तथा च क्रियायाः फलस्य च धातुनैव लाभादनन्यलभ्य आश्रय एवार्थः । तत्त्वं चाखण्डशक्तिरूपमवच्छेदकम् । ओदनं पचतीत्यत्र विक्लित्त्याश्रयत्वात्कर्मता, घटं करोतीत्यत्रोत्पत्त्याश्रयत्वात् उत्पत्तेर्धात्वर्थत्वात् । जानातीत्यावरणभङ्गरूपज्ञानधात्वर्थफलाश्रयत्वात् । अतीतानागतादिपरोक्षस्थलेऽपि ज्ञानजन्यस्य तस्यावश्यकत्वात्, अन्यथा यथापूर्वं न जानामीत्यापत्तेः । अतीतादेराश्रयता च विषयतया ज्ञानाश्रयताया नैयायिकानामिव सत्कार्यत्वादसिद्धान्ताद्वोपपद्यत इति । उक्तं च—

"तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता । लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते" ॥ १ ॥

---

१ कर्त्तुरित्यत्र प्रथमव्याख्याने व्याप्येत्यस्य कृत्प्रत्ययान्तस्य योगे "कृत्यस्य वा" इति कर्त्तरि षष्ठी । ननु यदा द्वैतीयिकं व्याख्यानं कर्त्तुं कर्म व्याप्यमिति क्रियते, तदा कर्मणा योगे कर्तृशब्दात् केन सूत्रेण षष्ठी प्रावर्त्तिष्ट ? उच्यते । कृच्छेषा उणादय इति कृत्वा कर्मशब्द औणादिकप्रत्ययान्तोऽपि कृदन्तः, तद्योगे "कर्त्तरि" इति षष्ठी ।

इति । **ननु** चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामस्येव चैत्रस्यापि क्रियाजन्यग्रामसंयोगरूपफलाश्रयत्वात्कर्मतापत्तौ, चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यापत्तिः, प्रयागतः काशीं गच्छति चैत्रे प्रयागं गच्छतीत्यापत्तिश्च । क्रियाजन्यसंयोगस्य काश्यामिव विभागस्य प्रयागेऽपि सत्त्वात् इति चेत् ? **न** । ग्रामस्येव चैत्रस्यापि फलाश्रयत्वेऽपि तदीयकर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधेन चैत्रश्चैत्रमिति प्रयोगासम्भवात्, द्वितीयोत्पत्तौ संज्ञाया एव नियामकत्वादन्यथा गमयति कृष्णं गोकुलमित्यत्रेव पाचयति कृष्णेनेत्यत्रापि कृष्णपदात् द्वितीयापत्तेः । **शाब्दबोधश्चैत्रश्चैत्रमित्यत्र स्यादिति चेत् ? न**—तथा व्युत्पन्नानामिष्टापत्तेः । उच्यतां वा प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थफलविशेष्यकबोधं प्रति धात्वर्थव्यापारानधिकरणाश्रयोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावान्तरम् । प्रकृते चैत्रस्य व्यापारानधिकरणत्वाभावान्न दोषः । प्रयागस्य कर्मत्वं तु सम्भावितमपि न । समभिव्याहृतधात्वर्थफलशालित्वस्यैव क्रियाजन्येत्यनेन विवक्षणस्य उक्तप्रायत्वात् । **नैयायिकास्त्वाद्यदोषवारणाय** परसमवेतत्वं द्वितीयवारणाय धात्वर्थतावच्छेदकत्वं फले विशेषणं द्वितीयावाच्यमित्युपाददते । परसमवेतत्वं धात्वर्थक्रियायामन्वेति, तथैव कार्यकारणभावान्तरकल्पनात् । परत्वं च द्वितीयया स्वप्रकृत्यर्थापेक्षया बोध्यते । तथा च, चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यादौ तण्डुलान्यसमवेतव्यापारजन्यधात्वर्थतावच्छेदकविक्लित्तिशालित्वात्तण्डुलस्य कर्मता, शाब्दबोधस्तु तण्डुलसमवेतधात्वर्थतावच्छेदकविक्लित्त्यनुकूलतण्डुलान्यसमवेतक्रियाजनककृतिमांश्चैत्र इत्याहुः [तन्न रोचयामहे, परसमवेतत्वादेर्गौरवेणावाच्यत्वात् । अतिप्रसङ्गः किं द्वितीयायाः, शाब्दबोधस्य वा ? नाद्यः—तावद्वाच्यकथनेऽपि तत्तादवस्थ्यात् । गमयति कृष्णं गोप इति द्वितीयापत्तेः । तण्डुलं पचति चैत्र इतिवत्, तण्डुलं पच्यते स्वयमेवेत्यापत्तेश्च । विक्लित्त्यनुकूलतण्डुलान्यसमवेताग्निसंयोगरूपधात्वर्थाश्रयत्वात् । शाब्दबोधातिप्रसङ्गोऽप्युक्तरीत्यैव निरस्तः । परसमवेतत्वस्य शक्यत्वेऽपि परत्वस्य परसमवेतत्वस्य च इष्टान्वयलाभायानेकशः कार्यकारणभावाभ्युपगमे गौरवान्तरत्वादिति स्पष्टं भूषणे"]

तत्कारकमित्यादि । **ननु** व्याप्यशब्दस्य संज्ञात्वेनानुपात्तात् कथं "व्याप्ते क्तेनः" (२।२।९९) इत्यादौ व्याप्यशब्देन व्यवहारः ? **उच्यते** । कस्यचिद्व्याप्यं प्रसिद्धम्, कस्यचित्कर्मेति । तत्र यद्यस्य प्रसिद्धं तस्य तदनुवादेनाप्रसिद्धं लक्षणेन विधीयते । 'प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानं हि लक्षणार्थः', तेन यत्कर्म कर्त्रा क्रियते तद्व्याप्यसंज्ञं भवतीत्यपि सूत्रार्थः ।

एवं च कर्मणो लक्षणमुक्त्वा भेदान्निरूपयितुमाह—

तत्रेधेति—यदिति केचिदसत उत्पत्तिनिर्वृत्तिमाचक्षते, सत एवाभिव्यक्तिमन्ये, व्याकरणस्य चार्थव्यवस्थायामव्यापारात् शब्दव्युत्पादन एव प्रवृत्तत्वादुभयमप्याह—तत्र असज्जायते इति प्रथमः पक्षः—सतो भवनायोगादसदेव कार्यं भवतीत्यर्थः । जन्मना प्रकाश्यते इति द्वितीयः पक्षः—असतः शशविषाणस्येव सतो गगनस्येव निर्वर्त्तनायोगात् प्रकाश एव जन्मेत्यर्थः । एतन्निर्णयश्च ग्रन्थान्तरादवसेयः । अत्रोदाहरणम्—कटं करोति, पुत्रं प्रसूते इति । कटगतां निष्पत्तिमनुतिष्ठन् कटं निर्वर्त्तयतीत्यर्थः । तथोक्तं—

"सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी । यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥"

अस्यायमर्थः—अविद्यमाना प्रकृतिर्यस्य निर्वर्त्यत्वं यथा संयोगविभागौ जनय इति संयोगविभागौ न कस्याश्चित्प्रकृतेर्विकारावित्यविद्यमानप्रकृतिकत्वान्निर्वर्त्यत्वन्तयोः सती वा प्रकृतिः परिणामिनी यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वम्, यथा कटं करोति—कटस्य यद्यपि काशाः प्रकृतिभूताः सन्ति तथापि यदा न विवक्ष्यन्ते तदा कटस्य निर्वर्त्यत्वम्, यदा तु विवक्ष्यन्ते तदा विकार्यकर्मता कटस्येति तु **कारकपरीक्षायाम्** । यत्रेति प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा विद्यमानमेव यदवस्थान्तरं नीयते तद्विकार्यं

विकार्यते विकृतिं नीयते इति व्युत्पत्तेः। तद्द्विविधम्—तत्र प्रकृत्युच्छेदेन यथा—काष्ठं दहति; नह्यत्र काष्ठमसदेव जन्यते, तस्य कारणान्तरेभ्यः प्रागेवोत्पन्नत्वादुत्पन्नं तु केवलं भस्माख्यामवस्थामापद्यत इति। प्रकृत्युच्छेदमन्तरेणापि गुणान्तराधानेन यथा काण्डं लुनाति—अत्र काण्डशब्देन तत्कारणीभूता वीरणा उच्यन्ते। वीरणशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य वीरणस्वरूपस्य काण्डलक्षणविकारावस्थायामपि भावात्। काण्डलक्षणविकारोत्पादनेन वीरणान् विकरोतीत्यर्थः। यत्सदेवेति—यत्र क्रियाकृतो विशेषो निर्वृत्तिविकारलक्षणो नास्ति तत्प्राप्यम्—यथा आदित्यं पश्यति, ग्रामं गच्छति। नहि दृशिगमिक्रियाभ्यां व्याप्यमानयोरादित्यग्रामयोः प्राप्तेरन्यः कश्चिद्विशेषो लभ्यत इति प्राप्यमेतत्। नन्ववान्तरव्यापारशालिन एव कारकत्वं यथा कर्त्तुश्छिदिक्रियायां दृढमुष्टिनिःपीडनादिरवान्तरव्यापारः, नह्यनपेक्षितदृढमुष्टिनिःपीडनो जाल्मकरस्थः कुठारः काष्ठच्छिदायै प्रभवति। तत्रास्य कर्मणः कीदृशोऽवान्तरव्यापार इत्यत्रोच्यते—अस्य तु त्रिविधस्यापीत्यादि—नह्यनिर्वर्त्तमानं शशविषाणमिव निर्वर्त्तयितुं शक्यं तस्मान्निर्वर्त्त्यस्य निर्वृत्त्यनुकूलत्वमवान्तरव्यापारः। एवं विकृतिमनुपगच्छतो वज्रस्येव विकार्यत्वायोगाद्विकार्यस्य विकृत्यभिमुखत्वं व्यापारः। तथा आभासायोग्यस्य परमाण्वादेरिवाभास्यत्वविरहाद्व्याप्यस्याभासगमनं व्यापार इति।

एतेन निर्वर्त्त्यादिकर्मणां क्रियाजन्यत्वे क्रियाहेतुत्वलक्षणं कारकत्वं न घटते; नहि जन्यो जनकस्य हेतुतामर्हति पुत्रः पितुरिव। तथोक्तम्—

"निर्वर्त्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका। विकार्यमप्यभावेन विरुद्धं नैव कारकम्" ॥ १ ॥

प्राप्यत्वात्पूर्विकाऽवस्था न सा कर्म बुधैर्म्मता।
प्राप्यावस्था क्रिया साध्या साधनत्वात्साधनं नहि" ॥ २ ॥

न च क्रियातः समुत्पद्य पश्चात्क्रियां प्रति कारकं भवति। यथोक्तम्—

"आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्। लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव हि" ॥३॥

इति वाच्यम्, यद्विकाराणान्तरादुत्पद्य कार्यान्तरमारभते तत्रेदं वक्तुं शक्यम्, अत्र तु क्रियया आत्मतां लभमानं क्रियाया एव कारकमित्येकविषयत्वे न तथा वक्तुं शक्यम्। किञ्च क्रियाधीनं कर्म कर्माधीना क्रियेति कर्माभावे क्रियाभावः क्रियाभावे कर्माभाव इति द्वयोरप्यभाव इतरेतराश्रयत्वं च। कर्म क्रियामपेक्षते क्रिया च कर्मेति इत्यादि यदुच्यते तन्निरस्तम्, क्रियाजन्यत्वेऽपि निर्वर्त्त्यादीनां यथोक्तस्वस्वव्यापारापेक्षया कारकत्वाव्याहतेः। तथोक्तम्—

"स्वव्यापारेषु कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके। व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥

यदुत्पद्यते तदुत्पाद्यते इत्युत्पत्तिक्रियाकर्तृभूतस्य कर्मत्वमिति दिक्।

पुनरेकैकं त्रिधेति—यदवाप्तुं क्रियाऽऽरभ्यते तदिष्टं कटादि, यद्द्विष्टं प्राप्यते तदनिष्टं, यथा विषमत्ति। यत्र नेच्छा नच द्वेषस्तदनुभयमुदासीनमिति यावत्, यथा ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। नन्वनिष्टोदासीनयोः कर्मणोः, कर्त्रा यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते इति लक्षणमव्याप्तम्, यदपि युक्तं चानीप्सितमपीति परेणोक्तं तदपि मिथोऽव्याप्तमननुगमात्। अत्रोच्यते। कर्त्तुर्व्याप्यमित्यस्य क्रियाजन्यफलाश्रयत्वे तात्पर्यम्, ततश्च क्रियाजन्यफलाश्रयत्वं कर्मणो लक्षणं सर्वत्रानुगतमिति न कोऽपि दोष इति।

एवं चात्र नवधा कर्मोक्तम्। भूषणसारे तु सप्तविधमुक्तम्—

"निर्वर्त्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्। तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्द्धान्यत्तु कल्पितम्" ॥१॥

"औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम्। संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्" ॥ २ ॥

इति वाक्यपदीयात् ।

“यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत्प्रकाश्यते । तन्निर्वर्त्यं विकार्यं तु द्वेधा कर्म व्यवस्थितम्” ॥ ३ ॥

“प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित्काष्ठादिभस्मवत् । किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्” ॥ ४ ॥

“क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते” ॥ ५ ॥

इति च तत्रैवोक्तम् ।

अनुमानादिति यथा चैत्रं रोषयतीत्यत्र रोषलक्षणस्य विकारस्यादर्शनेऽपि मुखवैवर्ण्यादिकार्यानुमेयत्वाद्विकार्यत्वमिति । क्रमेणोदाहरणानि–“घटं करोतीत्याद्यम् । काष्ठं भस्म करोतीति सुवर्णं कुण्डलं करोतीति च द्वितीयम् । घटं पश्यतीति तृतीयम् । ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशतीत्युदासीनम् । विषं भुङ्क्ते इति द्वेष्यम् । गां दोग्धीति संज्ञान्तरैरनाख्यातम् । क्रूरमभिक्रुध्यतीत्यन्यपूर्वकमिति ।”

मुख्यगौणभेदादिति–तत्कर्म प्रधानेतरभेदाद्द्विभेदम्, तच्च द्विकर्मकेषु धातुषु दुहि-भिक्षि-रुधि-प्रच्छि-चिंगूद्ध-ब्रूंगूक्–शास्त्यर्थेषु, याचि–जयतिप्रभृतिषु च भवति । तत्र ‘दुहींक् क्षरणे’ ‘स्रुं गतौ’ ‘क्षर संचलने’ इति दुह्यर्थाः । यथा गां दोग्धि पयः, गां स्रावयति पयः, गां क्षारयति पयः, दुहेरन्तर्भूतण्यर्थत्वेन द्विकर्मकत्वम्–गौः कर्त्री, पयः कर्म मुञ्चति, तां मोचयतीत्यर्थः । स्रुक्षरयोस्तु साक्षाण्ण्यन्तत्वादेव द्विकर्मकत्वम् । वक्ष्यमाण “गतिबोधा०” (२।२।५) इत्यत्र बहुवचनादन्येषामपि अणिक्कर्तुः कर्मत्वं युक्तम् । नात्र नियमः प्रवर्त्तते इति । एवमग्रेऽपि यथायोगं भाव्यम् । ‘भिक्षि याच्ञायाम्’ ‘डुयाचृग् याच्ञायाम्’ ‘मृगणि अन्वेषणे’ अदन्तः प्रपूर्वः ‘अर्थणि उपयाचने’ इति याच्ञार्थाः–यथा पौरवं गां भिक्षते, याचनापूर्वं गां दापयति वियोजयति वेत्यर्थः । याच्यमानश्चायं हृष्टो म्लानो वा भवतीति, इदं विकार्यं कर्म । एवं पौरवं गां याचते, चैत्रं शतं मृगयते, चैत्रं शतं प्रार्थयते । रुधृंपी आवरणे’ रुध्यर्थः, गामवरुणद्धि व्रजम् । व्रजं सेवमानां सेवयतीत्यर्थः । ‘प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्’ ‘चुदण् सञ्चोदने’ इति प्रच्छार्थौ–छात्रं पन्थानं पृच्छति; छात्रं वाक्यं चोदयति । अवपूर्वः ‘चिंगट् चयने’ वृक्षमवचिनोति फलानि । ‘ब्रूंग्क् व्यक्तायां वाचि’ शिष्यं धर्मं ब्रूते । अनुपूर्वः ‘शासूक् अनुशिष्टौ’ शिष्यं धर्ममनुशास्ति । याचिः प्रागुक्तः, किन्त्वनुनयार्थोऽयमत्र ज्ञेयः–क्रुद्धं याचते शमावस्थाम्’ अविनीतं याचते विनयम् । ननु भिक्षियाच्योरेकार्थत्वात्कथं द्वयोरुपादानमित्यत्रोच्यते–याचिर्हि याच्ञायामनुनये च वर्त्तते, भिक्षिस्तु याच्ञायामेवेत्यनयोर्भेदः । नन्वेवमपि याचेरेवोपादानं व्यस्तेनैव याच्ञानुनययोरभिधानात् । अस्त्येतत्, किन्त्वेवं यथा याच्ञार्था धातवो गृह्यन्ते, एवमनुनयार्था अपि गृह्येरन्, अत्र पुनर्भिक्षिग्रहणात् याच्ञार्थानां सर्वेषां ग्रहणम्, याचिग्रहणात्तु तस्यैवानुनयार्थस्येति । ‘जिं जये’ ‘दण्डण् दण्डनिपातने’ ‘कृषींत् विलेखने’ ‘डुकृंग् करणे’ ‘मन्थश् विलोडने’ ‘णींग् प्रापणे’ ‘हृंग् हरणे’ ‘मुषश् स्तेये’ ‘वहीं प्रापणे’ ‘ग्रहीश् उपादाने’ ‘डुपचींष् पाके’ इत्येकादश जयतिप्रभृतयः–यथा गर्गान् शतं जयति, गर्गान् शतं दण्डयति, मोचयतीत्यर्थः । ग्रामं शाखां कर्षति, योजयतीत्यर्थः । काशान् कटं करोति, काशान् विपरिणमनयन् कटं करोतीत्यर्थः । अमृतमम्बुनिधिं मथ्नाति; वियोजयतीत्यर्थः । अजां ग्रामं नयति, प्रापयतीत्यर्थः । ग्रामं भारं हरति, वियोजयति प्रापयति वा । उपसरजमश्वं मुष्णाति, उपसरः पुरुषो देशविशेषो वा, तत्र जातस्तं मुष्णाति त्याजयतीत्यर्थः । ग्रामं भारं वहति, प्रापयतीत्यर्थः, शतानीकं शतं गृह्णाति, त्याजयतीत्यर्थः । तण्डुलानोदनं पचति, तण्डुलान् विक्लेदयन् विकुर्वन् ओदनं करोतीत्यर्थः । एतच्च सर्वं धातूनामनेकार्थत्वादुपपद्यते । एवं च ण्यन्तानामन्तर्भूतण्यर्थानां च धातूनां द्विकर्मकत्वं स्यादिति तत्त्वम् ।

ननु मुख्यगौणभेदात् कर्मणो द्वैविध्यमुक्तम्, तत्र मुख्यगौणयोः किं लक्षणमित्य**त्रो**च्यते–अत्र यदर्थं क्रिया आरभ्यते, तत्पयःप्रभृति मुख्यं कर्म; तत्सिद्धये तु यदन्यत् क्रियया व्याप्यते गवादि, तद्गौणम् । यदा तु पयोऽर्थो प्रवृत्तिर्न विवक्ष्यते, तदा मुख्यासान्निध्याद्गवादेरेव मुख्यता–यथाश्चर्यो गवां दोह इति ।

नन्वेवं गवादेः परार्थत्वात् क्रियायोगाभावादव्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा न सिद्ध्यति, किन्तु गां दोग्धि क्षारयति पयः इत्यत्र गोः पय आदत्ते इत्यर्थादपादानत्वं प्राप्नोति । एवं पौरवं गां भिक्षते इत्यत्र पौरवाद्गां जिघृक्षते इत्यर्थादपादानत्वम्, गामवरुणद्धि व्रजमिति व्रजे गां स्थापयतीत्यर्थाद्व्रजस्य स्थानक्रियापेक्षया आधारत्वं प्रतीयते, छात्रं पन्थानं पृच्छतीत्यत्रापि छात्रान्मार्गोपदेशं जिघृक्षते इत्यर्थादपादानत्वम्, वृक्षमवचिनोति फलानीत्यत्रापि वृक्षात्फलान्यादत्ते इत्यपादानत्वं प्राप्नोति, शिष्यं धर्मं ब्रूत इत्यादौ तु धर्मेण वचनानुशासनकर्मणा शिष्यस्याभिप्रेयमाणत्वात्सम्प्रदानत्वं प्राप्नोति, एवं गर्गान् शतं जयतीत्यादावपि गर्गेभ्यः शतम्, ग्रामाच्च शाखां गृह्णातीत्यपादानत्वं प्राप्नोतीत्य**त्रो**च्यते–अवधित्वाद्यविवक्षायां क्रियानिमित्तभावमात्रेण तद्व्याप्यत्वस्य विवक्षितत्वात् "कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म" (२।२।३) इति कर्मसंज्ञा सुखेन सिद्ध्यति । अवधित्वादिविवक्षायां तु भवत्येवापादानादित्वम्, गोर्दोग्धि पयः इत्यादि । **ननु** गां दोग्धि पयः इत्यस्यायमर्थः–गौः पयस्त्यजति, चैत्रो गवा पयस्त्याजयति, तत्र प्रयोक्तृव्यापारेणाप्यमानत्वाद्गोः कर्मत्वम्, न तु दोहादिनेति । **नैतदस्ति** । यथा ण्यन्तेषु धातुषु क्रियाविष्टः प्रयुज्यते इति प्रतीतिः–यथा पचन्तं प्रयुङ्क्ते पाचयति, नैवमिह, निष्क्रियस्यापि गवादेर्दोहनयनादिषु विनियोगात् । **ननु** ओदनं पचतीति लोके शास्त्रे च प्रयुज्यते, तत्रौदनः पच्येतेति द्रव्यान्तरमभिनिर्वर्त्तेतेत्यर्थः स्यात्, ओदनशब्दस्य तण्डुलविकारविशेषवचनत्वात्, पचेश्च विक्लित्त्युपसर्जनविक्लेदवचनत्वात्, निर्वृत्तस्यौदनस्य विक्लेदान्तरकरणं स्यात्, नचेत्थं लोके प्रतीतिरस्ति । **नैष दोषः** । तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति, ओदनार्थास्तण्डुला ओदन इति गौणार्थाश्रयेणैव सर्वलोकस्य प्रयोगदर्शनादिदं न नोदनीयम्, मुख्यस्यैवोदनस्य पुनर्विक्लित्तिकारके कस्मादयं प्रयोगो न भवतीति । ओदनविकारविशेषप्रतिपादनाय च गौणार्थपरिग्रहः । तण्डुलान् पचतीत्युक्ते विकारान्तरमपि प्रतीयते इति । **अथ** कथं भविष्यति ?–तण्डुलानोदनं पचति, आहोस्वित्तण्डुलानामोदनं पचति इत्युभयथा प्रयोगदर्शनात् प्रकृतिविकृत्योः साक्षादुपादानात्तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यानुपपत्त्या विक्लेदनवचने पचौ तण्डुलानामोदनं पचतीति प्रयोगाभावप्रसङ्गात् । **उच्यते** । उभयथापि भवितव्यमिह तावत्तण्डुलानोदनं पचतीति द्व्यर्थः पचिस्तण्डुलान्पचति ओदनं निर्वर्त्तयति । अत्र हि विक्लेदनोपसर्जने निर्वर्त्तने पचिर्वर्त्तते । तण्डुलान् विक्लेदन्नोदनं निर्वर्त्तयति । तत्रोपसर्जनविक्लेदनक्रियापेक्षं तण्डुलानां कर्मत्वम्, प्रधानभूतनिर्वर्त्तनापेक्षं त्वोदनस्य । तण्डुलानामोदनं पचतीत्यत्रापि व्यर्थः पचिः, विकारयोगे षष्ठी । तण्डुलविकारमोदनं निर्वर्त्तयतीति । अत्र तण्डुलानां सम्बन्धिनं विकारमोदनं विक्लित्त्या निर्वर्त्तयतीत्यर्थः । सा च विक्लित्तिः सामर्थ्यात्तण्डुलानामेव विज्ञायते इत्युभयमपि समञ्जसम् । **अथ** द्विकर्मकेषु दुहादिधातुषु कर्मणि तिवादय उत्पद्यमानाः प्रधानाप्रधानाभ्यां भिन्नकक्षमनेकं कर्म युगपदभिधातुमसमर्थाः, किं प्रधाने कर्मण्युत्पद्यन्ते, अथ गुणकर्मणीति ? **तत्र** प्रधानाप्रधानसन्निधौ प्रधानाभिधानस्यैव न्याय्यत्वमिति केचित्, **तदयुक्तम्**–दुहादीनां अप्रधानकर्मण्येव त्यादिकृत्यखलर्था इति, गौर्दुह्यते दुग्धा दोह्या वा पय इति । अयमर्थः–यतः पयोऽर्थी प्रथमं गवि प्रवर्त्तते ततोऽन्तरङ्गत्वाद्दुह्यादिषु गुणकर्मणि तिवादयो भवन्ति । उक्तं च—

"गुणकर्मणि त्यादिविधिः" पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगात् ।
मुख्यं कर्मप्रेप्सुर्यस्माद्गव्ये च यतते प्राक् ॥ १ ॥

तस्मात् शुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः ।
गोदुहिना पयसस्तु प्रोक्तस्तस्माज्ञादयस्तस्मिन्निति ॥ २ ॥"

गोर्दुह्यते–दुहेः "तत्साप्यानाप्यात्कर्मभावे कृत्यक्तखलर्थाश्च" (३।३।२१) इति कर्मण्यात्मनेपदेन 'क्यः शिति' (३।४।७०) इति क्यसहितेन गुणकर्मणाऽभिहितत्वम्; एवं याच्यते पौरवः कम्बलम्, अवरुध्यते गां व्रजः, पृच्छयते धर्ममाचार्यः, भिक्षते गां चैत्रः, अवचीयते वृक्षः फलानि, उच्यते शिष्यो धर्मम्, शिष्यते शिष्यो धर्मम्, जीयते शतं चैत्रः, गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्, "येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा, देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे । व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः, खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः" ॥ १ ॥ इति **किरातपञ्चमसर्गे त्रिंशत्तमं पद्य**मित्यादि ।

नीवहिहृरतिप्रभृतीनां तु प्रधाने कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवति । नीयते नेता नेतव्या ग्राममजा, अजादेः प्राधान्यान्नेतुश्च तत्रैव पूर्वं क्रियाप्रवर्त्तनादन्तरङ्गत्वाच्च तत्रैव प्रधाने कर्मजः प्रत्यय इति ।

अत्र केचिदाहुः–नामी नयत्यादयो द्विकर्मका अन्यकर्मकत्वात् । अजां नयति ग्रामम्–अजां गृहीत्वा ग्रामं यातीति ह्यत्रार्थः, नयतिस्तु प्राप्तिमात्रवाची; गम्यमानक्रियापेक्षयापि कर्मत्वं दृश्यते यथा प्रविश पिण्डीमिति भक्षणक्रियापेक्षयेति । **एतच्चायुक्तम्**–अजा नीयते ग्राममित्यत्र कर्मण्युत्पद्यमानेनात्मनेपदेनाजाकर्मणोऽभिधानं न प्राप्नोति; गृह्णातेरजा कर्म न नयतेरिति, तस्मादन्यकर्मत्वमजाया नैष्टव्यम् । एवं उह्यते भारो ग्रामं, ह्रियते कुम्भो ग्रामं, कृष्यते ग्रामं शाखा इति गत्यर्थानामकर्मकाणां च णिगन्तानां प्रधान एव कर्मणि अणिगवस्थायां कर्तृभूते कर्मणीति यावत् कर्मजः प्रत्ययो भवति, प्राधान्यं च तस्य "गतिबोधाहारार्थ०" (२।२।५) इति कर्मसंज्ञाया विधीयमानत्वेन कृत्रिमत्वात् कर्त्तुः प्रथमप्रवृत्तिविषयत्वाच्च–यथा गमयति मैत्रं ग्रामम्, गम्यते गमितो गम्यो वा मैत्रो ग्रामम् चैत्रेण, आसयति मासं मैत्रम्, आस्यते मासं मैत्रश्चैत्रेण, । **अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति**–गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण, आस्यते मासो मैत्रं चैत्रेण । **बो**धाहारार्थशब्दकर्मकाणां तु णिगन्तानामुभयत्र–बोधयति शिष्यं धर्मं, बोध्यते शिष्यो धर्मं, बोध्यते शिष्यं धर्म इति वा, भोजयत्यतिथिमोदनं भोज्यतेऽतिथिरोदनं भोज्यतेऽतिथिमोदन इति वा, पाठयति शिष्यं ग्रन्थं, पाठ्यते शिष्यो ग्रन्थं, पाठ्यते शिष्यं ग्रन्थ इति वा । अत्रायमाशयः–बोधयति शिष्यं धर्ममित्यादावनियतो गुणप्रधानभावः; तथाहि–वाक्यस्य धर्मप्रतिपादनपरत्वे धर्मस्य प्राधान्यम्, शिष्यादेर्गुणभावः; शिष्यादिसंस्कारपरायां तु प्रवृत्तौ, शिष्यादेः प्राधान्यम्, धर्मस्य गुणभावः; तथा अर्थस्य शब्देन प्रतिपाद्यत्वाच्छब्दस्य प्राधान्यं प्रमाणयन्तोऽभिधाव्यापारेण प्रयोक्तृव्यापारस्य प्राधान्यात्प्रयोज्यस्यैव कर्मणः प्राधान्यम्, गुणभूतप्रयोज्यव्यापारकर्मणस्तु गुणभावः, शब्दस्यार्थपरत्वादर्थस्यैव प्राधान्यमाचार्याः समर्थयन्त, आर्थेन तु न्यायेन प्रयोज्यव्यापारस्य प्राधान्यम्, तदर्थत्वात्प्रयोजकव्यापारस्य, तत्प्राधान्याच्च तत्कर्मणोऽपि प्राधान्यमिति विवदन्ते आचार्याः । स्मृतिरियम्, न स्वमतिपरिकल्पनात्र ज्यायसीत्युभयत्र पर्यायेण सिद्धः कर्मजः प्रत्यय इति कर्मजप्रत्ययेनैव कर्मणोऽभिहितत्वात्सर्वत्र कर्मणि द्वितीया न भवति । यत्र हि तिवादिभिः कर्मादय उच्यन्ते, तत्र गवादिशब्दः स्वार्थाव्यतिरिक्तेऽर्थमात्र एवेति प्रथमैव ततो युक्ता, न द्वितीयादयः, कर्मादौ वृत्त्यभावादिति । अथ कर्त्तुर्व्याप्यं कर्मेत्यत्र कर्त्तुरिति किम्? । माषेष्वश्वं बध्नातीत्यत्र बध्नातिक्रियया अश्वः कर्त्रा यथा विशेषेणाप्तुमिष्यते तथा भक्षणादिक्रियया प्रतीयमानयाश्वेन माषा इत्यसति कर्तृग्रहणे कर्मणाश्वेन व्याप्यमाणाना-

---

१ वस्त्वन्तरं विशेषेणाप्तुं कर्त्तैवेच्छति, नान्यत्तदधीनकरणादिकमिति मन्यमानस्य प्रश्नमिदं पृच्छति कर्मणोऽपि निमित्तं यदाप्तुमिष्यते तस्यापि कर्मसंज्ञा स्यादिति मन्यमानः प्रत्याचष्टे माषेष्विति ।

मपि माषाणामधिकरणसंज्ञां बाधित्वा कर्मसंज्ञा स्यात्कर्तृग्रहणात्तु न भवतीत्यर्थः । **नन्वेवमपि** कर्त्तुर्गुणत्वाद्गुणे च सङ्ख्याया विवक्षणाद्वाभ्यां कर्तृभ्यां बहुभिर्वा यद्विशेषेणाप्तुमिष्यते तस्य कर्मसंज्ञा न स्यात् । **नैष** दोषः । कारकान्तरव्याप्यस्य कर्मसंज्ञाप्रसङ्गनिवारणपरत्वात्, शास्त्रस्य च लक्ष्यसंस्कारत्वात्, कर्त्तुर्गुणस्यापि सङ्ख्या न विवक्ष्यते । सङ्ख्याया अविवक्षणाच्च प्रधानस्यानियमेन विस्फारः । यथेह कटं करोति, कटौ करोति, कटान् करोतीति कर्मसंज्ञा भवति, तथेहापि भवति—कटं कुरुतः, कटं कुर्वन्तीति । व्याप्यं च कर्मसंज्ञया संश्रियमाणत्वात् प्रधानमिति तस्य सङ्ख्या न विवक्ष्यते इत्येतस्य चार्थस्य ज्ञापकमेकशेषसूत्रे एकग्रहणमिति । किञ्च वीति किमिति—पयसा ओदनं भुङ्क्ते—अत्र करणस्य मा भूत् । अयं भावः—कर्तुः साध्यत्वात् क्रिया पूर्वमाप्तुमिष्टा, कर्म तु तत्फलत्वेन, ततश्च क्रियाया आप्तुमिष्टाया विशेषणं फलम् । पयसा ओदनं भुङ्क्ते इत्यत्र तु पयसः संस्कारकत्वादोदनस्य संस्कार्यस्यैव विशेषेणाप्तुमिष्टत्वमिति तस्यैव कर्मत्वं न पयसः करणस्य । **नन्वेवं** तर्हि यदा कश्चित्कञ्चिदामन्त्रयते—सिद्धं भुज्यतामिति, स आह—प्रभूतं भुक्तवानस्मि, आमन्त्रयमाण आह—दधि खलु भविष्यति, पयः खलु भविष्यति । आमन्त्र्यमाण आह—दध्ना खलु भुञ्जीय, पयसा खलु भुञ्जीय । अत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दधिपयसोरेव विशेषेणाप्यत्वात्कर्मसंज्ञा प्राप्नोति, नत्वोदनस्येति ? **उच्यते** । तस्याप्योदन एवाप्तुमिष्टः, दधिपयसोस्तु संस्कारकत्वात्करणभावः । गुणेषु ह्युपकारकेषु केवलेषु नादरः, किं तर्हि ? तत्संस्कृते ओदनादौ, तद्यथा—भुञ्जीयाहमोदनम्, यदि मृदुविशदः स्यादिति । यद्यत्र मार्दवमात्रे आदरः स्यात्, पङ्कमपि भक्षयेत्, वैशद्यमात्रादरे तु सिकता अपि । एवमिहापि दध्यादिगुणमोदनं भुञ्जीयेत्यदोषः । कर्मव्याप्यप्रदेशाः "कर्मणोऽण्" (५।१।७२) "व्याप्याच्चेवात्" (५।४।७१) इत्यादयः ।

एवं च कर्मकारके युक्तैर्दिग्मात्रमत्र निर्णीतम् । श्रीसिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिकान्यासमनुसृत्य ॥ १ ॥

अथ विनेयजनानुग्रहाय अकर्मकाणां सकर्मकतायां गत्यर्थादीनामेककर्मकाणां च द्विकर्मकतायां सूत्रपद्धतिर्लिख्यते—

"वा कर्मकाणामणिक्कर्ता णौ" (२।२।४) अकर्मकाणां धातूनामणिगवस्थायां यः कर्त्ता स णिगि सति कर्म वा स्यात् । **ननु** द्विधाऽकर्माणः—सकर्मकाणोऽप्यविवक्षितकर्माणः, सर्वथाऽविद्यमानकर्माणश्चेति । तत्केषामिह ग्रहणमित्य**त्रो**च्यते—उत्तरसूत्रे नित्यग्रहणादत्राविवक्षितकर्माण एव ग्राह्याः । यथा पचति चैत्रः, पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा । **नन्वो**दनं पचतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् कथं पचादीनामविवक्षितकर्मत्वमित्य**त्रो**च्यते—शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वात्परेण च किं करोतीति व्यापारमात्रस्य जिज्ञासितत्वादन्यथोन्मत्तत्वप्रसङ्गात्प्रतिपादयितुस्तावन्मात्रस्यैव विवक्षितत्वादौदासीन्यमात्रनिवृत्तिपरतया प्रयोगाच्छब्देन कर्मणोऽसमर्प्पणादविवक्षितकर्मत्वम् । यदाह—

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥"

धातोरर्थान्तरे वृत्तिर्द्विधा । एका स्वाभाविकी, धातूनामनेकार्थत्वात् यथा—भारं वहतीत्यत्र सकर्मकोऽपि वहतिर्नदी वहतीत्यत्राकर्मकः । द्वितीया चोपसर्गसन्निधिकृता—यथोद्गच्छति सूर्य इत्यत्र गमिरकर्मकः, 'जीव प्राणधारणे' इति धात्वर्थेन कर्मण उपसङ्ग्रहात् चैत्रो जीवतीत्यत्र जीवतिरकर्मकः, प्रसिद्धेर्यथा—गर्जति शरदि न वर्षतीत्यत्र जलस्य कर्मणः प्रसिद्धत्वादकर्मकत्वमिति । **"गतिबोधाहारार्थशब्दकर्मनित्याकर्मणामनीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम्"** (२।२।५) गतिर्देशान्तरप्राप्तिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः; बोधो ज्ञानमात्रं तद्विशेषश्च, सोऽर्थो येषां ते बोधार्थाः; आहारो भोजनम्, सोऽर्थो येषां ते आहारार्थाः; शब्दः कर्म क्रियाव्याप्यं च येषां ते शब्दकर्माणः; नास्ति कर्म येषां तेऽकर्माणः; नित्य-

मकर्माणो नित्याकर्माणः, सर्वथाऽविद्यमानव्याप्या इत्यर्थः; नीखाद्यदिह्वयतिशब्दायतिक्रन्दिवर्जितानां गत्यर्थबोधार्थाहारार्थानां शब्दकर्मणां नित्याकर्मणां च धातूनामणिगवस्थायां यः कर्त्ता स णौ सति कर्म स्यात् । गत्यर्थ.—गच्छति मैत्रो ग्रामम्, गमयति मैत्रं ग्रामम्, याति मैत्रो ग्रामम्, यापयति मैत्रं ग्रामम्; देशान्तरप्राप्तेरन्यत्र न भवति—स्त्रियं गमयति मैत्रेण चैत्रः, भजनार्थोऽत्र गमिः ॥ सामान्यबोधार्थ.—बुध्यते शिष्यो धर्मम्, बोधयति गुरुः शिष्यं धर्मम्, जानाति शिष्यो धर्मम्, ज्ञापयति गुरुः शिष्यं धर्मम् । एवम् उपलम्भयति अवगमयतीत्यादि ॥ विशेषबोधार्थ.—पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणं वणिक्; एवम् प्रापयति मैत्रमुत्पलम्, स्पर्शयति मैत्रं वस्त्रम्, श्रावयति शिष्यं धर्मम्, स्मारयति शिष्यं धर्मम्, अध्यापयति शिष्यं शास्त्रम् । अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य दृशेरेवेच्छन्ति नान्येषाम्—तन्मते जिघ्रत्युत्पलं चैत्रः, घ्रापयत्युत्पलं चैत्रेण मैत्रः; एवं स्पर्शयति चैत्रेण वस्त्रम्, श्रावयति धर्मं शिष्येण इत्यादौ प्रयोज्यकर्तरि तृतीयैव भवति ॥ आहारार्थ.—भुङ्क्ते बटुरोदनम्, भोजयति बटुमोदनम्, अश्नाति बटुर्भक्तम्, आशयति बटुं भक्तम् ॥ शब्दक्रिय.—जल्पति मैत्रो द्रव्यम्, जल्पयति मैत्रं द्रव्यम्; एवम् आलापयति मित्रं मैत्रम्, सम्भाषयति मैत्रं भार्याम् । शब्दव्याप्य.—शृणोति शब्दं मैत्रः, श्रावयति शब्दं मैत्रम्, अधीते बटुर्वेदम्, अध्यापयति बटुं वेदम् । एवम् जल्पयति मित्रं वाक्यम्, विज्ञापयति गुरुं वाक्यम्, उपलम्भयति शिष्यं विद्याम् ॥ ननु शब्दकर्मेत्यनेनैकप्रयत्नेनोभयाग्रहणाद्वाक्यभेदप्रसङ्गात्कथं शब्दक्रिय-शब्दकर्मकाणामुभयेषां परिग्रहः ? उच्यते—ह्वयत्यादीनां त्रयाणां शब्दक्रियत्वेन प्राप्त्यभावात्, प्रतिषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, कर्मशब्दस्य क्रियावचनता । ह्वयत्यादयो हि धातवः साध्यमानावस्थं क्रियारूपं शब्दमभिदधतीति शब्दक्रियत्वादतिप्रसङ्गे सति प्रतिषेधो विधीयते । शब्दायतेश्च शब्दं करोतीति क्यङि शब्दक्रियालक्षणस्य कर्मणोऽन्तर्भावात्कर्मान्तरायोगाच्चाकर्मकत्वादपि संज्ञाप्रसङ्ग इति । एवम् जल्पति—विलपत्याभाषतीनां जल्पयति देवदत्तमित्यादौ शब्दनक्रियावृत्तीनां शब्दनक्रियाग्रहणे सिद्ध्यति । देवदत्तं जल्पतीत्यादीनां शब्दकर्मत्वाभावात् । एवं च कर्मग्रहणानर्थक्यं गतिबोधाहारशब्दार्थेति कृते सिद्ध्यतीति कर्मग्रहणं साधनकर्मपरिग्रहार्थम्, तेन शृणोति विजानाति उपलभते इत्येषामपि सिद्ध्यति; शृणोत्यादयो हि उपलब्धिरूपेऽर्थे वर्त्तमानाः शब्दक्रिया न भवन्ति, शब्दसाधनकर्माणस्तु भवन्ति, तद्विषयत्वेनैव प्रयोगात् । एवं जल्पत्यादीनामपि श्लोकादिद्रव्यविशेषकर्मणां साधनकर्मपरिग्रहादेव सिद्धिः न चैषां बुद्ध्यर्थता, बोधशब्देन बोधसामान्याश्रयणपक्षे वेत्त्यादयो ज्ञानमात्रप्रवचना बुद्ध्यर्थाः । विजानात्युपलभत इत्येतौ यद्यप्युपलब्धिमात्रवचनौ तथापि प्रयोजकव्यापारविवक्षायां करणादिवशाद्यदा शब्दादिविषयामेवोपलब्धिं प्रत्याययतस्तदा साधनकर्मवचनात्सिद्ध्यति नत्वन्यथेत्युभयार्थोऽत्र कर्मशब्दः; न च वाक्यभेदः श्वेतो धावतीतिवत् ॥ नित्याकर्मक.—आस्ते मैत्रः, आसयति मैत्रं चैत्रः, शेते मैत्रः, शाययति मैत्रं चैत्रः; नित्यग्रहणं पूर्वत्राविवक्षितकर्मपरिग्रहणार्थमन्यथा विभागो न ज्ञायेत । कालाध्वभावदेशैश्च सर्वेऽपि धातवः सकर्मका एवेत्यन्यकर्मापेक्षया नित्याकर्मका वेदितव्याः । गत्यर्थादीनामिति किम् ? पचत्योदनं चैत्रः, पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः । अणिक्कर्त्तेत्येव—गमयति चैत्रो मैत्रम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्तः । नयत्यादिवर्जनं किम् ? नयतेः प्रापणोपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेन गत्यर्थत्वम्—अत्र प्रापणीया उपसर्जनं तच्चासौ प्राप्तिश्चेति विग्रहः, खाद्यद्योराहार्थत्वम्, ह्वाशब्दायक्रन्दां च शब्दकर्मत्वम्, तत एषां कर्मत्वं प्राप्तं प्रतिषिद्ध्यते । यथा नयति भारं चैत्रः, नाययति भारं चैत्रेण; खादयत्यपूपं मैत्रेण, आदयति ओदनं मैत्रेण; ह्वाययति चैत्रं मैत्रेण; शब्दाययति चैत्रं मैत्रेण, क्रन्दयति मित्रं मैत्रेण । कर्मसंज्ञाप्रतिषेधात्स्वव्यापाराश्रयं कर्तृत्वमेव । प्रेषणाध्येषणादिना प्रयोजकव्यापारेण

णिगन्तवाच्येनाणिक्कर्त्तुर्व्याप्यत्वात्कर्मसंज्ञा सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, प्रयोजकव्यापारेण व्याप्यमानस्य गत्यर्थादिसम्बन्धिन एव प्रयोज्यकर्त्तुः कर्मसंज्ञा भवति, तेनान्यधातुसम्बन्धिनः कर्त्तृत्वमेव भवति । तथोक्तम्—

"द्विकर्म्यहेतुरहिते णिगन्तधातौ द्विकर्त्तृता तत्र । उक्तः प्रयोजकः स्यात् कर्त्तानुक्तः प्रयोज्यस्तु" ॥१॥

यथा "भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्" । एतच्च कर्त्रुक्तौ, कर्मोक्तौ तु कर्मणि उक्तत्वम् । कर्त्रोस्तु द्वयोरप्यनुक्तत्वं यथा "जाप्यतेऽन्तर्द्विषस्तीर्थकृता भव्यजनव्रजैः" इति । **"भक्षेर्हिंसायाम्"** (२।२।६) भक्षेः स्वार्थिकण्यन्तस्य हिंसार्थस्याणिक्कर्त्ता णौ सति कर्मसंज्ञो भवति । भक्षयन्ति सस्यं बलीवर्दास्तान् प्रयुङ्क्ते भक्षयति सस्यं बलीवर्दान्मैत्रः । उक्ते च कर्मणि भक्ष्यन्ते यवं बलीवर्दाः, भक्ष्यते यवो बलीवर्दान्मैत्रेणेति वा । वनस्पतीनां प्रसवप्ररोहादिमत्त्वेन चेतनत्वात्तद्विशेषस्य सस्यस्य प्राणविप्रयोगस्तल्लक्षणात्, स्वाम्युपघातो वाऽत्र हिंसेति भक्षेर्हिंसार्थता । हिंसायामिति किम् ? भक्षयति पिण्डीं शिशुस्तं प्रयुङ्क्ते भक्षयति पिण्डीं शिशुना । भक्षयति राजद्रव्यं नियुक्तेन । भक्षयति पुत्रान् गार्ग्या—भक्षयतिरत्राक्रोशे । आहारार्थत्वात्प्राप्ते नियमार्थं वचनम् । **"वहेः प्रवेयः"** (२।२।७) प्रवीयते प्राजनक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः, नियन्तुः सारथेः प्रयोजयितुर्व्यापारस्य कर्मेत्यर्थः । वहेरणिक्कर्त्ता प्रवेयो णौ कर्मसंज्ञो भवति । वहन्ति बलीवर्दा भारम्, तन्नियन्ता प्रयुङ्क्ते वाहयति भारं बलीवर्दान्, वाहयिता भारस्य बलीवर्दान्, वाहयिता बलीवर्दानां भारम्, वाह्यन्ते भारं बलीवर्दाः, प्रवेय इति किम् ? वाहयति भारं मैत्रेण—नात्र मैत्रो बलीवर्दादिवत् प्रवेयः । वहतिः प्राप्त्यर्थो यथा—वहन्ति बलीवर्दा देशान्तरं प्राप्नुवन्तीति । प्रापणार्थो यथा, ग्रामं भारं वहन्ति बलीवर्दाः—ग्रामं प्रापयन्तीति । अत्रापि प्रापणोपसर्जनप्राप्तिरस्त्येव । अकर्मको यथा, वहति नदी; तत्र प्राप्तेर्गतिरूपत्वात्प्राप्त्यर्थस्याकर्मकस्य च गत्यादिसूत्रेण सिद्धत्वान्नियमार्थमिदम्—वहेः प्रवेय एव कर्त्ता णौ कर्म भवति नान्य इति । यदापि वहेरविवक्षितकर्मत्वं तदापि "वा कर्मणाम०" (२।२।४) इति विकल्पात्पक्षेऽप्राप्तिरिति विध्यर्थमिदम् । न चैवं विधौ सति नियमो नोपपद्यते इति वाच्यम् । आवृत्त्योभयार्थपरिग्रह इति । **"हृक्रोर्नवा"** (२।२।८) हरतेः करोतेश्चाणिक्कर्त्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति । प्राप्ते चाप्राप्ते च विकल्पः । **प्राप्ते** यथा—विहरति देशं गुरुर्विहारयति देशं गुरुं गुरुणा वा । एवमाहारयत्योदनं बालं बालेन वा । विकुर्वते सैन्धवाः, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा । विकुरुते स्वरं क्रोष्टा, विकारयति स्वरं क्रोष्टारं क्रोष्टुना वा । अत्र गत्याहारार्थनित्याकर्मकशब्दकर्मकत्वेन यथासङ्ख्यं प्राप्तिः । **अप्राप्ते**—हरति द्रव्यं मैत्रः, हारयति द्रव्यं मैत्रं मैत्रेण वा । करोति कटं चैत्रः, कारयति कटं चैत्रं चैत्रेण वा । अत्र हरतिश्चौर्यार्थो न प्रापणार्थ इत्यप्राप्तिः । प्रापणार्थे तु प्राप्ते विभाषा—कारयिता कटस्य देवदत्तं देवदत्तेन वा । कारयिता कटं देवदत्तस्य देवदत्तेन वा । अत्र च "वैकत्र द्वयोः" (२।२।८५) इति वक्ष्यमाणसूत्रेण प्रथमप्रयोगे कटलक्षणे कर्मणि षष्ठी देवदत्तलक्षणे कर्मणि तु कर्मसंज्ञया द्वितीया, तदभावे कर्त्तृत्वविहिता वक्ष्यमाणेन "द्विहेतोरस्यणकस्य" वा (२।२।८७) इति सूत्रेण वैकल्पिकी तृतीया । द्वितीयप्रयोगे देवदत्तलक्षणे कर्मणि षष्ठी, कर्मसंज्ञाऽभावे प्राग्वत्तृतीया, कटलक्षणे कर्मणि तु वैकत्रेति "कर्मणि कृतः" (२।२।८३) इति प्राप्तषष्ठीविकल्पात् षष्ठीविमुक्तपक्षे द्वितीया । **तथोक्तं लघुन्यासे**—प्रथमप्रयोगे देवदत्तशब्दात्, द्वितीयप्रयोगे तु कटशब्दा"द्वैकत्र द्वयोः" इत्यनेन प्राप्तषष्ठी विकल्पाद् द्वितीया । तद्विमुक्तकर्मणि "कर्मणि कृतः" इत्यनेन षष्ठी । यद्यत्र "वैकत्र द्वयोः" इत्यनेन षष्ठीप्रवृत्तिः स्यान्न विकल्पस्तदा द्वितीये कर्मणि "कर्मणि कृतः" इत्यनेन नित्यं षष्ठी स्यात् । कर्त्तृप्रधानदेवदत्तशब्दात्तु "द्विहेतोरस्यणकस्य वा"

इत्यनेन प्राप्तकर्त्तृषष्ठीविकल्पात् तृतीया। "वैकत्र द्वयोः" इत्यस्य "द्विहेतोरुयणकस्य वा" इत्यस्य च प्रवृत्त्युदाहरणं तु कारयिता कटस्य देवदत्तस्य, कटं देवदत्तस्य वेति गम्यमपि ज्ञेयम्। अत्र तु निष्प्रयोजनत्वान्न दर्शितमिति। तदेवमत्र कारयितेत्यादिप्रयोगद्वयेन वैकत्रेति सूत्रस्य षष्ठीविकल्पपक्षो दर्शितः, एतत्सूत्रस्य वृत्तौ तु प्रवृत्तिपक्षो दर्शितोऽस्ति, तथाहि—प्रथममेकस्मिन्कर्मणि विकल्पेन षष्ठी, द्वितीयकर्मणि "कर्मणि कृतः" इति नित्यं षष्ठी; पक्षे तु द्वयोरपि कर्मणोः षष्ठी, तथा च तत्रोदाहृतम्—अजाया नेता स्रुघ्नम्, अजाया नेता स्रुघ्नस्य, । अथवा अजां नेता स्रुघ्नस्य, अजाया नेता स्रुघ्नस्य इति प्रवृत्तिपक्षः। विकल्पपक्षे तु प्रथममेकस्मिन्कर्मणि षष्ठी, द्वितीयकर्मणि द्वितीया। पक्षेऽपि व्यत्ययेनैकत्र कर्मणि षष्ठी, द्वितीये द्वितीया तथैव कारयिता कटस्येत्यादि दर्शितम्। **"दृश्यभिवदोरात्मने"** (२।२।९) दृशेरभिपूर्वस्य वदतेश्चात्मनेपदविषयेऽणिक्कर्त्ता णौ सति कर्मसंज्ञो वा भवति। पश्यन्ति राजानं भृत्यास्तान् राजैवानुकूलाचरणेन प्रयुङ्क्ते—दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा। अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयति गुरुः शिष्यं शिष्येण वा। उभयत्रापि "अणिक्कर्मणिकर्तृकात्०" (३।३।८८) इत्यात्मनेपदत्वम् अथवा अभिवदति गुरुं शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते—अभिवादयते गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः। "परिमुहायमायस०" (३।३।९४) इत्यात्मनेपदविषयत्वम्। एवं दर्शयमानो राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा। अभिवादयमानो गुरुः शिष्यं शिष्येण वा। अथवा अभिवादयमानो गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः। आत्मन इति किम्? पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्; अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयति गुरुं शिष्येण। दृशेर्बोधार्थत्वेन नित्यं कर्मत्वे प्राप्तेऽभिवदेस्तु नित्यमप्राप्ते विकल्पः। यदा त्वभिवदिर्न प्रमाणार्थः, किन्तु शब्दक्रियस्तदा अभिवादयति गुरुं शिष्यं मैत्र इति नित्यं प्राप्ते विभाषेति। 'वदिण् भाषणे' इत्यस्य णिजन्तस्यापि वदेर्णिगीच्छन्त्येके। अभिवादयति गुरुर्देवदत्तम्, तस्मिन्नाशिषं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः। अभिवादयते गुरुं देवदत्तः गुरुणेति वा, आत्मन्याशिषं प्रयोजयतीत्यर्थः। णिगन्तस्यापीति कश्चित्—अभिवदति गुरुः स्वयमाशिषम्, तं शिष्यः प्रयुङ्क्ते—अभिवादयति गुरुमाशिषं शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते—अभिवादयते गुरुमाशिषं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः। नामधातोरभिवादयतेरपीच्छन्त्यन्ये। एतत्सर्वं "कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म" इत्यनेन सङ्गृहीतं ज्ञेयम्। **अथ कर्मणो विभक्तिमाह—**

कर्मणि ॥ ४ ॥ [सि० २।२।४०]

द्वितीया स्यात्। कटं करोति। काष्ठं दहति। ग्रामं गच्छति। राज्यं प्राप्नोति। विषमत्ति। ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति ॥ ४ ॥

कर्म० स्पष्टम्। कटं करोतीति निर्वर्त्त्यं कर्म, काष्ठं दहतीति विकार्यम्, ग्रामं गच्छतीति प्राप्यम्। एवं राज्यं प्राप्नोतीति इष्टम्, विषमत्तीत्यनिष्टम्, तृणं स्पृशतीत्युदासीनम्। **ननु** क्रियते कटः, कृतः कटः, शतेन क्रीतः शत्यः पटः, आरूढः कपिर्यं स आरूढकपिस्तरुरित्यादिषु कर्मसु द्वितीया कुतो न स्याद**त्रो**च्यते—त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहितत्वाल्लोकशास्त्रयोरभिहितेऽर्थे शब्दप्रयोगायोगात्। **यद्येवं** कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमिति भीष्मादिगुणविशिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियया व्याप्यत्वात्कर्मत्वम्, तच्च कटशब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाभिहितमिति भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति, यथा कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोतेः क्तप्रत्ययेनेति। **नैवम्**। भीष्मत्वादियुक्तस्य कटस्य सम्बन्धि कर्मत्वं प्रतिपाद्यम्, नच जातिशब्दाः सम्भविनोऽपि गुणान् प्रतिपादयितुं शक्ता इति तत्प्रतिपादनाय यथा भीष्मादिशब्दप्रयोगो भवति तथा द्वितीयापि तेभ्यो भविष्यति। नहि सामान्यवाचिनः कटशब्दादुत्पद्यमाना

द्वितीया भीष्मादीनाम[1]नियताधाराणां गुणानां कर्मत्वमभिधातुं शक्नोति । यदि वा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि । यथैव ह्ययं कटं करोत्येवं तद्गतान् भीष्मादीनपि । तत्र यद्यत्करोतिना व्याप्तुमिष्टं तत्सर्वं द्रव्यं गुणश्च कर्मेति सर्वेषां पृथक्कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीया पश्चात्त्वेकवाक्यतया विशेषणविशेष्यभाव इति । यदि वा द्रव्यस्य क्रियासु साक्षादुपयोगादस्तु कटस्यैव कर्मत्वम्, भीष्मादीनां तु न[2] केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति नियमादविभक्तिकानामप्रयोगार्हत्वादेकविभक्तिमन्तरेण च सामानाधिकरण्यविशेषणत्वायोगाद्यथेश्वरसुहृदां स्वयं निर्द्धनत्वेऽपि तदेकै[3]योगक्षेमत्वात्तद्धनेनैव फलभाक्त्वं भवति । एवमकर्मणामपि कटकर्मत्वेनैव द्वितीया भविष्यति । कुतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इत्यत्र तु करोतेरुत्पद्यमानः क्तो यस्य यस्य तया क्रियया सम्बन्धस्तस्य तस्य साकल्येन कर्मत्वमभिदधातीति क्वचिदपि द्वितीया न स्यात् । कथं तर्हि कृतं पश्य, आहृतमाहर, कत्री क्रियते, दात्रेण लुनाति, दानीयाय ददाति, भीमाद्बिभेति, प्रासादे प्रसीदति, शयने शेते इत्यादिषु क्तादिभिरभिहितेषु कर्मादिषु द्वितीयादयः स्युः । उच्यते—[4]कर्मादिसामान्यं कृद्भिरभिहितम्, [5]तत्राप्यभिहितः सोऽर्थोऽन्त[6]र्भूतो नामार्थः सम्पन्न इति कर्मादिशक्तियुक्तं[7] द्रव्यमेतदन्तैः शब्दैरभिधीयते यथेदं कर्मेदं करणमिति । [8]तत्र यासौ स्वरूपकालभिन्नायां क्रियायां [9]स्वव्यापारतया कर्मादिरूपता तदभिधानाय [10]यथायथं द्वितीयादयो भवन्ति । यत्र पुनरेकद्रव्याधारा प्रधानाप्रधानक्रियाविषयानेका शक्तिः स्यात्तत्र प्रधानक्रियाविषयायां शक्तौ प्रत्ययैरभिहितायामप्रधानक्रियाविषया शक्तिः [11]प्रधानशक्त्यनुरोधादभिहितवत् प्रकाशमाना विभक्त्युत्पत्तौ निमित्तं न भवति । यथौदनः पक्त्वा भुज्यते चैत्रेणेति भावाभिधायिना क्त्वाप्रत्ययेन ओदनाधिकरणाप्रधानपचिक्रियाविषया कर्मशक्तिरनभिहितापि प्रधानभुजिक्रियाविषयात्मनेपदेनाभिहितेति तद्वत् प्रकाशमाना द्वितीयोत्पत्तौ निमित्तं न स्यात्—[12]यथा च ग्रामो गन्तुमिष्यते चैत्रेणेति ग्रामस्य प्रधानेषिक्रियाविषयां कर्मशक्तिमात्मनेपदेनाभिदधताऽप्रधानगमिक्रियाविषयापि कर्मशक्तिरुपभुक्तेति तदभिधानाय द्वितीयाचतुर्थ्यौ न भवत इति । [13]इह च [14]गौणत्वं क्रियापेक्षं तेनाजां नयति ग्राममित्यादौ ग्रामाद्यपेक्षयाजादेः प्रधानत्वेऽपि गौणत्वं [15]न विहन्यत इति । इह तु कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्, व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ यः कृतादिभिः कटादेरभिसम्बन्धः स प्रत्ययेऽर्थान्तराभिधायिन्युत्पन्ने कृतादीनामुपसर्जनत्वान्निवर्त्तते । वृत्तेः परार्थाभिधायित्वात् क्रियया तु सह सम्बन्धोऽस्तीति द्वितीया स्यात् । अयमर्थः—क्रियावता तद्धितादिप्रत्ययवाच्येन कटादिः सम्बद्ध्यमानस्तत् क्रियया व्याप्यते इति कर्मत्वम् । व्याकरणस्य सूत्राणि करोतीति णिच्—अत्र प्रत्ययोत्पत्तौ सूत्रव्याकरणयोः सम्बन्धो निवर्त्तते, अस्ति च व्याकरणेन करोतेरभिसम्बन्ध इति द्वितीया स्यात् प्रक्रियागतविभागाश्रयणेन चेदमुच्यते परमार्थतो धात्वन्तरं सूत्रिः । "सूत्रण् क्रियावचने" इति ।

अथ कर्मसंज्ञायां प्रसिद्धप्रयोगोपयोगीनि कतिचित्सूत्राणि कण्ठतो निर्दिशति—

---

१ नहि भीष्मादीनां कट एवाधारः किन्त्वन्येऽपि । २ नापदं प्रयुञ्जीतेति न्यायात् । ३ अलब्धलाभो योगः; लब्धपरिरक्षणं क्षेमः तस्य देवदत्तादेर्यावेकौ योगक्षेमौ तयोर्भावः । ४ करणादिक्रियामात्रयोग्यमित्यर्थः । ५ सामान्यकर्माभिधानेऽपि । ६ तत्राभिहितोऽपि कश्चिन्नान्तर्भवति, यथा राज्ञः पुरुष इत्यत्र वाक्ये । ७ कर्मादिशक्तियुक्ते द्रव्ये । ८ कृताहृतेत्यादिक्रियापेक्षया पश्याहरेत्यादिका क्रिया भिन्ना । ९ कारकत्वेनेत्यर्थः । १० या यस्य स्वा इत्यर्थः । ११ एकस्मिन् वाक्ये युगपदनेकप्रधानक्रियाणामसम्भवात्प्रधानाप्रधानक्रियाविषयैवानेका शक्तिरिति तत्क्रियापेक्षया शक्तेरपि गुणप्रधानभावो भवतीत्यत आह–प्रधानशक्त्य० । १२ उदाहरणान्तरम् । १३ ननु गौणान्नाम्नः कर्मणि द्वितीयेत्युक्तम् अजां नयति ग्राममित्यादौ तु ग्रामाद्यपेक्षया अजादेः प्रधानत्वान्न ततो द्वितीया प्राप्नोतीत्याह इह चेति । १४ आख्यातपदेनासमानाधिकरणं गौणमिति गौणत्वस्य द्वयोरपि कर्मणोर्भावात् क्रियापेक्षं गौणत्वमाश्रितम् । १५ तेन गौणत्वादजाशब्दादपि द्वितीया सिद्धा ।

स्मृत्यर्थदयेशः ॥ ५ ॥ [सि० २।२।११]

एषां व्याप्यस्य कर्मत्वं वा, कर्मत्वे द्वितीयाऽन्यथा षष्ठी । मातरं स्मरति मातुः स्मरति । मातुः स्मर्यते, माता स्मर्यते । सर्पिषो दयते । सर्पिर्दयते । लोकानामीष्टे । लोकानीष्टे । "नाथः" (२।२।१०) । तथा सर्पिर्नाथते । सर्पिषो नाथते ॥ ५ ॥

स्मृत्य० । स्मृतिः स्मरणमर्थो येषां ते स्मृत्यर्थास्तेषां दयतेरीशश्च व्याप्यं कर्म वा भवति । कर्मत्वे इत्यादि–ननु कर्माविवक्षायां पक्षे माषाणामश्नीयादित्यादिवत् शेषषष्ठी सिद्धैव तत्किमनेन ? सत्यम्, किन्तु "षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" (३।१।७६) इत्यत्र अयत्नजे शेषे षष्ठ्याः समासो वक्ष्यते । ततो मातुः स्मृतमित्यादौ समासो मा भूदित्यनेन प्रकारेण यत्नाच्छेषो विधीयते, नियमार्थं च; तेनैषां धातूनां कर्मैव शेषरूपेण विवक्ष्यते न कारकान्तरं तेन मात्रा स्मृतम्, मनसा स्मृतमित्यादौ कर्तृकरणयोः शेषविवक्षाऽभावात्षष्ठी न भवति–माता स्मर्यते इति–एवं मातुः स्मर्त्तव्यम्, माता स्मर्त्तव्या, मातुः स्मृतम्, माता स्मृता, मातुः सुस्मरम्, माता सुस्मरा । मातुः स्मृतः पुत्रः, अकर्मकत्वे कर्त्तरि क्तः । माता स्मृता पुत्रेण । स्मृ[3]त्यर्थग्रहणात् मातुरध्येति मातरध्येति 'इंक् स्मरणे'ऽधिपूर्वः इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः । 'ध्यैं चिन्तायाम्' मातुर्ध्यायति, मातरं ध्यायति । मातुरुत्कण्ठते, मातरमुत्कण्ठते–इत्यादि उत्पूर्वः 'कठुङ् शोके' इति धातुः । 'दयि दानादौ' 'ईशिक् ऐश्वर्ये' सर्पिषो दयते सर्पिर्दयते ददातीत्यर्थः । "नाथः" तथेति–आत्मनेपदविषयस्य नाथतेर्व्याप्यं कर्म वा स्यादित्यर्थः; आत्मनेपदविषयत्वं चास्य उपतापैश्वर्याशीर्याचनलक्षणार्थचतुष्टये वर्त्तमानस्यापि "आशिषि नाथः" (३।३।३६) इति वचनादाशिष्येवेति तत्रैवाऽयं विधिः । सर्पिषो नाथमानः, सर्पिर्नाथमानः सर्पिषो नाथिष्यमाणः । सर्पिर्नाथिष्यमाणः । सर्पिषो नाथ्यते सर्पिर्नाथ्यते । आत्मन इत्येव–पुत्रमुपनाथति पाठाय उपयाचत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रुजाऽर्थस्याऽज्वरिसन्तापेर्भावे कर्त्तरि ॥ ६ ॥ [सि० २।२।१३]

ज्वरिसन्तापिवर्जपीडार्थधातूनामपि व्याप्यं कर्म वा, भावे कर्त्तरि सति । चौरस्य चौरं वा रुजति रोगः । "जासनाटक्राथपिषो हिंसायाम्" (२।२।१४) चौरस्य चौरं वोज्जासयति ॥ ६ ॥

रुजा० । 'रुजोंत् भङ्गे' इत्यस्माद्भिदादित्वादङि रुजा पीडा साऽर्थो यस्येति । भावे इति–साध्यरूपस्य भावस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः सामान्यशब्दोऽपि भावशब्दः सिद्धरूपे भावे वर्त्तते । चौरस्येति–'चुरण् स्तेये' इत्यस्याणिजन्तस्य भिदाद्यङि चुरा सा शीलमस्य चौरः "अङ्ग्छाछत्रादेरञ्" (६।४।६०) इत्यञि वृद्धिः, रुजतीति "पदरुजविशस्पृशो घञ्" (५।३।१६) घञि रोगः । एवमपथ्याशिनां रुज्यते रोगेण, अपथ्याशिनो रुज्यन्ते रोगेण । अत्र कर्मत्वाभावे "तत्साप्यानाप्यादिति०" (३।३।२१) भावे आत्मनेपदम्, कर्मसंज्ञायां तु कर्मणि । चौरस्य रुग्णं रोगेण–अत्र कर्मत्वाभावे "क्लीबे क्तः" (५।३।१२३) इति भावे क्तः । चौरो रुग्णो रोगो–अत्र कर्मसंज्ञायां कर्मणि क्तः । रुजार्थग्रहणात् 'अमण् रोगे' चौरस्य चौरं वा आमयति । एवं 'व्यथिष् भयचलनयोः' व्यथयति 'पीडण् गहने' पीडयति । रुजार्थेति किम् ? "एति जीवन्तमानन्दः" । ज्वरिसन्तापिवर्जनं किम् ? आधूनं ज्वरयति, अत्याशिनं

---

१ व्यापारेषु नियुङ्क्ते स्वायत्तीकरोतीत्यर्थः । २ सर्पिर्मे भूयादित्याशास्ते । ३ सामान्येन चिन्तनार्थं उक्तोऽपि स्मृधातुरनुभूतस्यार्थस्य विशिष्टे चिन्तने वर्त्तमानो गृह्यते; एवंविधाश्च अध्येत्यादयोऽपि गृह्यन्ते, तेन मनसा परिकल्पितचिन्तनार्थानां समीक्षादीनां व्युदासः ।

सन्तापयति रोग इत्यत्र कर्मसंज्ञाविकल्पो न भवति । कर्तरीति किम् ? चैत्रं रुजयत्यत्यशने वातः—अत्र योऽत्यशनरूपो भावो न स कर्त्ता यस्तु वातरूपः कर्त्ता स द्रव्यं, न भावः । भाव इति किम् ? मैत्रं रुजति श्लेष्मा, अत्र श्लेष्मा द्रव्यं, न तु भावः ॥ श्लिष्यतेर्मनि "मन्" (उणा० ९११) श्लेष्मा, रोगो व्याधिरामयः शिरोऽर्त्तिरित्यादयो भावरूपाः कर्त्तार इति। अत्र सूत्रे व्यथितप्योर्गत्यादिसूत्रेण अणिकर्तुः कर्मत्वम् । **"जास०"** हिंसायामिति 'ब्रूसपिसजसबर्हण् हिंसायाम्' 'जसण् ताडने' इति चुरादी गृह्येते न च 'जसूच् मोक्षणे' इति दैवादिकस्तस्य हिंसार्थत्वाभावात् । चौरस्येति—एवं चौरस्योज्जास्यते चौर उज्जास्यते चैत्रेण । तथा 'नटण् अवस्यन्दने' इत्ययमपि चुरादिर्न तु 'णट नृत्तौ' इति भ्वादिः । चौरस्य चौरं वा उन्नाटयति । 'स्नथक्नथक्रथक्लथहिंसार्थाः' इति घटादौ चौरस्योत्क्राथयति चौरमुत्क्रथयति । 'पीष्लंप् संचूर्णने' चौरस्य चौरं वा पिनष्टि । ननु जसनटक्रथेति धातवः पठ्यन्ते, ततोऽत्र जासनाटक्राथेत्याकारः किमर्थः ? ण्यन्तनिर्देशः, तर्हि जासिनाटिक्राथीति भवितव्यमिति । अत्रोच्यते—अत्राकारेण न जस्यादिधातुमात्रं निर्दिश्यतेऽपि तु यदेषामाकारवद्रूपं तदुच्यते तेन यत्र प्रयोगे एषां धातूनामाकारस्तत्रैवायं विधिर्नान्यत्र, तेनेह न भवति—दस्युमुदजीजसत् अनीनटत् उदचिक्रथत् । जसेर्नटेश्च चुरादित्वात् णिच् उत्क्रथति कश्चित्तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (३।४।२०) "ञ्णिति" (४।३।५०) इति तस्य वृद्धिस्ततोऽद्यतन्यादि, "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि ङः" (३।४।५८) इति ङस्ततः 'उपान्त्यस्यासमानलोपिशास्वृदितो ङे' (४।२।३५) इति ह्रस्वस्ततो द्विर्वचनादिः । अत्र जासेत्याद्याकारवद्रूपं नास्तीति नायं विकल्पः । अथ चौरस्योत्क्राथयतीति कथमाकारः, घटादित्वात् "घटादेर्ह्रस्वो दीर्घस्तु वा ञिणम्परे" (४।२।२४) इति ह्रस्वेनैव भवितव्यमिति क्राथेति रूपाभावे तदनुकरणमपि सूत्रेऽनुपपन्नमिति । अत्रोच्यते—सूत्रे क्राथेत्युपादानाद्विज्ञायते—सत्यपि घटादित्वे अस्ति णिगि क्रथेराकारोऽन्यथास्यानुपपत्तेः, न च णिगं विनास्य कर्मास्त्यकर्मकत्वात्स च यद्याकारः सर्वत्र स्यात्तदा घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव ह्रस्वो न भवति, कर्मत्वे तु ह्रस्वत्वमेव—चौरमुत्क्रथयतीति । हिंसायामिति किम् ? चौरं बन्धनाज्जासयति—मोचयतीत्यर्थः । नटं नाटयति—नर्तयतीत्यर्थः । अभावकर्तृकार्थं वचनम् ॥ ६ ॥

निप्रेभ्यो घ्नः ॥ ७ ॥ [सि० २।२।१५]

समस्तव्यस्तविपर्यस्ताभ्यां निप्राभ्यां परस्य हन्तेर्व्याप्यं कर्म वा स्यात् । चौरस्य चौरं वा निप्रहन्ति निहन्ति प्रहन्ति प्रणिहन्ति *इत्यादि । ❀"अधेः शीङ्स्थास आधारः" (२।२।२०) कर्म नित्यं स्यात् । ग्राममधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते ॥ ७ ॥

निप्रे० । समस्तेत्यादि—अयं चार्थो बहुवचनाल्लभ्यते । सर्वत्र बहुवचनमधिकारार्थसंसूचनार्थमित्येष न्यायोऽत्र व्याकरणे द्रष्टव्य इति । चौरस्येत्यादि—एवं चौराणां निप्रहण्यते राज्ञा इति भावे, चौरा निप्रहण्यन्ते राज्ञा इति कर्मणि प्रयोगः । *इत्यादिकरणाच्च **"कृगः प्रतियत्ने"** (२।२।१२) पुनर्यत्नः प्रतियत्नः । सतो गुणान्तराधानाय अपायपरिहाराय वा समीहा । अयं भावः—प्रथमं तावदर्थस्यात्मलाभाय यत्नो भवति, ततो लब्धात्मनोऽधिकान् गुणानुत्पादयितुं परिपूर्णगुणस्य वा तावदवस्थान्तं (ताद-

---

१ क्राथिर्घटादिर्गृह्यते ननु 'क्रथ अर्दिण् हिंसायाम्' इति यौजादिक इति वैयाकरणानां मतम्, धातुपारायणकारैस्तु उपलक्षणत्वात् यौजादिकोऽपि । ननु यथा घटादेर्ह्रस्वः पक्षे निषिध्यते तथा दस्युमदजीजसदित्यादौ 'उपान्त्यस्य०' इत्यस्यापि किं न निषेधः ? सत्यम्, यस्मिन् प्राप्त एवेतिन्यायात् घटादेरित्यस्यैव निषेधः । २ ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् 'रुजार्थस्य०' इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमनेनेति; अथ जासनाटक्राथेत्याकारश्रवणार्थमिदं सूत्रं विधीयते, तदा पिषग्रहणमनर्थकं स्यात्तस्मात्पूर्वेणैव सिद्धमित्याह—अभा० ।

वरुथ्यं) रक्षितुं यो यत्नः स प्रतियत्नस्तस्मिन्वर्त्तमानस्य करोतेर्व्याप्यं कर्म वा स्यात्। ऐधोदकस्योपस्कुरुते, एधोदकमुपस्कुरुते। शतपत्रस्योपस्कुरुते, शतपत्रमुपस्कुरुते। "उपाद्भूषासमवायप्रतियत्नविकारवाक्याध्याहारे" (४।४।९२) इति स्सट्। प्रतियत्न इति किम्? कटं करोति। व्याप्यमित्येव—एधोदकस्योपस्कुरुते। बुद्ध्या करणस्य मा भूत्। **"विनिमेयद्यूतपणं पणिव्यवहोः"** (२।२।१६) विनिमेयः क्रेयविक्रयोऽर्थः, द्यूतपणो द्यूतजेयम्। पणतेर्व्यवपूर्वस्य च हरतेर्व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः। शतस्य पणायति शतं पणायति। दशानां व्यवहरति दश व्यवहरति। क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनियुङ्क्ते इत्यर्थः। विनिमेयद्यूतपणमिति किम्? साधून् पणायति स्तौतीत्यर्थः। शलाकां व्यवहरति विगणयन् गोपायतीत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। वचनभेदो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः। **"उपसर्गाद्दिवः"** (२।२।१७) उपसर्गात्परस्य दिवो व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः। शतस्य प्रदीव्यति शतं प्रदीव्यति। **"न"** (२।२।१८) विनिमेयद्यूतपणौ दिवो व्याप्यौ कर्मसंज्ञौ न भवतः। उपसर्गपूर्वस्य विकल्पविधानादनुपसर्गस्यायं निषेधः। शतस्य दीव्यति। निषिद्धे च कर्मणि "शेषे" (२।२।८१) इति षष्ठ्येव भवति। शतस्य दीव्यते, शतस्य द्यूतम्, शतस्य देवितव्यम्, शतस्य सुदेवम् इत्यादौ भावे आत्मनेपदकृत्यक्तखलः सिद्धाः। शतस्य द्यूतो मैत्र इत्यत्र कर्त्तरि क्तः। विनिमेयद्यूतपणमित्येव—जिनं दीव्यति—स्तौतीत्यर्थः। भूमिं दीव्यति—सन्धिना विजिगीषते—समर्थेन सह सन्धिं कृत्वाऽन्येषां भूमिं विजिगीषत इत्यर्थः। सन्धिपणोऽत्र, न द्यूतपणः। द्यूतं दीव्यति, अक्षान् दीव्यति। अत्र क्रिया तत्साधनं च व्याप्यं न तु पणः। **"करणं च"** (२।२।१९) दीव्यतेः करणं कर्मसंज्ञं चकारात्करणसंज्ञं च भवति, कर्मकरणसंज्ञे युगपद्भजतीत्यर्थः। अक्षान् दीव्यति, अक्षाणां देवनम्, अक्षा दीव्यन्ते, अक्षा देवितव्या, अक्षाः सुदेवाः, अक्षदेवः, अक्षा द्यूताश्चैत्रेण—एषु कर्मत्वे द्वितीयाषष्ठ्यात्मनेपदतव्यखलण्क्तप्रत्ययास्तन्निमित्ताः सिद्धाः। अक्षैर्दीव्यति, अक्षैर्देवनम्, अक्षैर्दीव्यते, अक्षैर्देवितव्यम्, अक्षैः सुदेवं मैत्रेण, अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण, अक्षा देवनाः—एषु करणत्वेन तृतीयानटौ, भावे आत्मनेपदादयश्च सिद्धाः, आत्मनेपदादिभिश्चोक्तयोः कर्मकरणयोर्द्वितीयाषष्ठीतृतीया यथायोगं न भवन्ति। करणं वेत्येव सिद्धे चकारः संज्ञाद्वयसमावेशार्थः, तेन अक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेण इत्यत्र करणत्वात्तृतीया भवति, कर्मत्वाच्च गत्यादिसूत्रेण नित्याकर्मकलक्षणमणिकर्त्तुः कर्मत्वम्, देवयतेश्च "अणिगिप्राणिक०" (३।३।१०७) इत्यादिनाऽकर्मकलक्षणं परस्मैपदं न भवति। ❀**"अधेः०"** अधेः सम्बद्धानां 'शीङ्क् स्वप्ने' 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' 'आसिक् उपवेशने' इत्येषां धातूनामाधारस्य कर्मत्वं नित्यं स्यादित्यर्थः। ग्राममधिशेते इति; एवं ग्रामस्याधिशयनम्, ग्रामोऽधिशायितः, ग्राममधितिष्ठति, ग्राममध्यास्ते। अधेरिति किम्? शयने शेते, गृहे तिष्ठति, कटे आस्ते। आधार इति किम्? ग्रामोऽधिशयितो मैत्रेण, पौरुषेणाधितिष्ठति। कर्त्तृकरणे न भवतः॥ अकर्मका अपि हि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति सिद्धं सकर्मकत्वमाधारबाधनार्थं तु वचनम्॥ ७॥

---

१ एधाश्च उदकानि च "अप्राणिपश्वादेः"। (३।१।१३६) इत्येकत्वम्। २ अभूतः सन् निर्वर्त्यः कटोऽत्र। यत्र तु वर्णिकया रक्तं कटं करोति, तत्रापि विकार्यमेव कर्म न प्रतियत्नः। उपपूर्वस्यैव करोतेः प्रतियत्नविषयत्वात् 'गन्धन' इत्यात्मनेपदं चोपपूर्वस्यैव। मूलोदाहरणेष्वपि उपपूर्व एव दर्शितः। ३ प्रकृतिग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां ग्रहणमिति सूत्रे पणेत्युक्तेऽपि पणातेरिह 'क्रमेर्णिङ्' (३।४।२) इत्यत्र णिङिति ङकारोदानात् आत्मनेपदं प्रत्ययं न्यायोऽनित्यः। ४ चकारस्यान्यत्समुच्चेतव्यं नास्ति इति करणमेव प्रतीयते। करणस्य कर्मसंज्ञायामप्राप्तायां विधीयमानायां निर्वर्त्त्यादयो धर्मा न चिन्त्या असम्भवात्। ५ फलं भवतु मा वा, संज्ञाद्वयं तु सर्वप्रयोगेषु वेदितव्यम्, न च संज्ञाद्वयं युगपन्निरवकाशम्—अक्षैर्देवयते इत्यत्र चरितार्थत्वात् अत्र अक्षान् देवयते इत्यपि प्रयोगो भवति। ६ न च विकल्पेऽपि संज्ञाद्वयं भविष्यतीति वाच्यम्—विकल्पस्य पाक्षिकप्रवृत्तिनिवृत्तिफलत्वात्।

उपान्वध्याङ्वसः ॥ ८ ॥ [सि० २।२।२१]

एभ्यो वसतेराधारोऽप्येवम् । ग्राममुपवसति ॥ ८ ॥

उपा० । एभ्य इत्यादि—उप-अनु-अधि-आङ्भिर्विशिष्टस्य वसतेर्य आधारः स कर्मसंज्ञो भवतीति । ग्राममुपवसतीति—एवं ग्राममुपोषितः ग्रामस्योपवसनम्, ग्राम उपोष्यते । एवं ग्राममनुवसति अधिवसति आवसति । अन्वादिसाहचर्यादुपस्य स्थानार्थस्यैव ग्रहणं नाशननिवृत्त्यर्थस्य; तेन ग्रामे उपवसति भोजननिवृत्तिं करोतीत्यत्र न भवति । अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ग्रहणमिति वस्तेर्न भवति ॥ ८ ॥

वाऽभिनिविशः ॥ ९ ॥ [सि० २।२।२२]

अभि-निपूर्वस्य विश आधारः कर्म वा स्यात् । व्यवस्थितविभाषेयम्, तेन क्वचित्कर्मसंज्ञा क्वचिदाधारसंज्ञाऽपि । ग्राममभिनिविशते । कल्याणे अभिनिविशते । "कालाध्वभावदेशं वा कर्म चाकर्मणाम्" (२।२।२३) मासमास्ते । मास आस्यते । "क्रियाविशेषणात्" (२।२।४१) । द्वितीया । क्रियाऽव्ययविशेषणे इत्यस्य क्लीबत्वम् । स्तोकं पचति । सुखं स्थाता ॥ ९ ॥

वाऽभि० । अभिनीति—अभिपूर्वो निः अभिनिः । अभि-निरुपसर्गसमुदायः पूर्वो यस्य तादृशस्य । विश इति 'विशंत् प्रवेशने' इत्यस्य धातोः । व्यवस्थितेति—नात्र वाशब्दो विकल्पार्थो येन समकक्षतया द्वितीयासप्तम्यौ स्याताम्, किन्तु प्रयोगव्यवस्थायै इति । तत्रेयं व्यवस्था—अभि-निपूर्वस्य विशेरस्ति समुदायार्थोऽवयवार्थश्च, तत्र यत्रावयवार्थानुगमस्तत्र कर्मभावः, ग्राममभिनिविशते इति—अत्र हि ग्राममाभिमुख्येन निविशत इति प्रतीयते । यत्र तु समुदायार्थ एव, नावयवार्थस्तत्राधिकरणभावः; यथा कल्याणेऽभिनिविशते । एतेषां शब्दानामेतेष्वभिनिविष्टानाम् । एवमर्थेऽभिनिविष्ट इति—अत्र हि धातूपसर्गसमुदायेन मनस एकाग्रता तात्पर्यमुच्यते । यथा ग्रामे उपवसतीति भोजनत्यागः । या या संज्ञा यस्मिन्यस्मिन्संज्ञिन्यभिनिविशते, इत्यत्र च संज्ञानां विषयेणाव्यभिचारः । "काला०" अनिर्ज्ञातपरिमाणायाः क्रियायाः परिच्छेदिका निर्ज्ञातपरिमाणा क्रिया कालः, स च मुहूर्त्तादिः । अध्वा गमनार्हं क्षेत्रं क्रोशादिः, तेनाध्वशब्दाभिधेयस्याध्वनः कर्मसंज्ञा न भवति । नह्यसावध्वविशेषः क्रोशयोजनादिवद्गमनमर्हति (यद्वा अर्थप्रधानोऽयं निर्देशः—तेन कालाध्वभावदेशानां साक्षात्प्रयोगे न भवति अपि तु तदर्थप्रतिपादकशब्दप्रयोगे) भावः—क्रिया, घञादिवाच्या, सिद्धताख्या गोदोहादिर्न तु साध्यमाना । देशो जनपदग्रामनदीपर्वतादिः (आदिशब्दात्खेटकर्वटमडम्बादिर्गृह्यते) अकर्मकाणां धातूनां प्रयोगे कालादिराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति अकर्म च । यत्रापि पक्षे कर्मसंज्ञा तत्राकर्मसंज्ञापि भवतीत्यर्थः । मास आस्यते इति आत्मनेपदेन कर्मणोऽभिहितत्वान्मासात् प्रथमा, तत्रापि गौणाधिकारात् "कालाध्वनोर्व्याप्तौ (२।२।४२) इत्यनेनापि द्वितीया न भवति । एवं सर्वत्र । एवं दिवसं शेते, दिवसः शय्यते इति कालः । **अध्वा**—क्रोशं स्वपिति क्रोशः सुप्यते । **भावः**—गोदोहमास्ते गोदोह आस्यते । ओदनपाकं शेते ओदनपाकः शय्यते । अत्र गोदोहनपाकादीनां सत्यपि क्रियारूपत्वेन कालत्वे मासादय एव तद्वाच्यत्वेन लोके प्रसिद्धाः, न तु गोदोहादय इति भावस्य पृथगुपादानम् । **देशः**—कुरूनास्ते कुरव आस्यन्ते, ग्रामं वसति ग्राम उष्यते । अविवक्षितकर्माणः सकर्मका अप्यकर्मकाः—मासं पचति मासः पच्यते, क्रोशमधीते क्रोशोऽधीयते, ओदनपाकं पठति ओदनपाकः पठ्यते, कुरून् पठति कुरवः पठ्यन्ते, पक्षे रात्रौ सुप्यते, गोदोहे आस्ते,

१ शब्दशक्तिप्रामाण्यात् अन्वादिपूर्वो वसतिः स्थानार्थमाचष्टे । २ स्थानार्थद्योतकत्वादुपशब्दोऽपि स्थानार्थः । ३ अत्र सामीप्यक आधारः । यदा तु गोदोहविशिष्टः कालो विवक्ष्यते, तदा नैमित्तिकोऽपि । एवमोदनपाक इत्यत्रापि ।

ओदनपाके स्वपिति, पञ्चालेषु वसति, ग्रामे वसति, ग्रामे वासः, ग्रामे वासी। तथा रात्रावधीतं दिवसे भुक्तम्। कालाध्वभावदेशमिति किम्? प्रासादे आस्ते, शय्यायां शेते। अकर्म चेति किम्? मासमास्यते क्रोशं सुप्यते, अत्र कर्मणि सति भावे आत्मनेपदं न स्यात् सकर्मकत्वादिति। कर्मण्यात्मनेपदे तु तेनैवाभिहितत्वात् कर्मणो द्वितीया न स्यात्। नह्यभिहिते कर्मणि व्याप्तावपि द्वितीयेष्यते, ततः कर्मसंज्ञा अकर्मसंज्ञा च युगपद्भवत इति भावः; ततश्च गोदोहमासितः इदं गोदोहमासितं गोदोह आस्यते कुरून् सुप्यते एषु "तत्साप्यानाप्यादिति" (३।३।२१) "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" (५।१।११) इति "अद्यर्थाच्चाधारे" (५।१।१२) इति भावे कर्त्तर्याधारे च यथायथमात्मनेपदक्तौ सिद्धौ। अकर्मकाणामिति किम्? रात्रावुद्देशोऽधीतः। कथं पचत्योदनं मासम्, भक्षयति धानाः क्रोशम्, पिबति पयो गोदोहम्, भजति सुखं कुरून्,—द्विकर्मकत्वात् "कर्त्तुर्व्याप्यं कर्म" (२।२।३) इत्येव भविष्यति। अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे कालाध्वभावानामत्यन्तसंयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति। मासमास्ते, दिवसं पचत्योदनम्, क्रोशं पठति वेदम्, क्रोशं स्वपिति, गोदोहमास्ते, गोदोहं पचत्योदनम्; अनेन कर्मसंज्ञायां कर्मणि त्याद्यादयोऽपि—आस्यते मासः, सुप्यते मासः, आशितो मासः, शयितो मासः, शयितः क्रोश इत्यादि। कालाध्वनोर्व्याप्ताविति च मासं गुडधानाः, क्रोशं कुटिला नदीत्यादौ गुणद्रव्ययोगे एवेच्छन्ति, न तु मासमधीते इत्यादौ क्रियायोगे—अत्यन्तसंयोगादन्यत्र तु रात्रौ शेते अध्वनि स्थित इत्यादावाधारत्वमेव। "क्रिया०" करोतेर्भावे कर्मणि वा शप्रत्यये क्रियापूर्वात्। 'शिष्लंप् विशेषणे' इत्यतो विशिष्यतेऽवच्छिद्यतेऽनेनेति करणेऽनटि विशेषणं धात्वर्थः। क्रिया परिणामपरिस्पन्दवर्त्तनालक्षणा त्रिधा तस्या यद्विशेषणमवच्छेदकं ततो द्वितीया भवतीति। ननु च रूपाद्युपाधिवत्क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधिः, न चोपाधेरुपाध्यन्तरसम्भवः, 'निर्गुणा गुणाः क्रिया च' इति वचनात्, कथं क्रियाया विशेषणसम्भवः? सत्यमेतत्। किन्तु सजातीयस्य द्रव्योपाधेरपेक्षयोत्कर्षो दृश्यते—यथा शुक्लः शुक्लतरः शुक्लतम इति रूपरसादीनां कला इति प्रविभागप्रचयापचयाभ्यामुत्कर्षापकर्षवृत्तित्वं स्यान्न तूपाध्यन्तरयोगात्। तदाहुस्तत्त्वविदः—

"भवेद्द्विगुणमाधुर्यमनन्तगुणकालकम्। द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमात्रफलादिकम्" ॥ १ ॥

यथा च रूपादीनां तथा क्रियाणामपि परस्परापेक्षया विशेषसम्भवे शोभनं पचतीत्येवं विशेषणयोगः स्यात्कथमन्यथा पापच्यते पचतितरामित्यादौ तासामेकरूपत्वाद्यङादिप्रत्ययविधिः स्यात्। ननु चासत्त्वभूता क्रिया तदुपाधिस्तु सुतरामसत्त्वभूतस्तत्कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपाद्यते इति? उच्यते—धातुप्रकृतिवाच्याऽसत्त्वभूतैव क्रिया यथा क्रियाशब्देन नामरूपेण सत्त्वरूपापन्ना प्रतिपाद्यते, तथा चोपाधिरपि सत्त्वापन्नः शोभनादिशब्देनेत्यदोषः। कथं पुनरसत्त्वभूतोऽर्थः सत्त्वरूपेण प्रकाश्यते इति चेत्? स्ववाचकप्रकाशबलादिति ब्रूमः। स्वशक्तिरियं वाचकानां यदसत्त्वं सत्त्वरूपतया प्रकाशयति, पदार्थस्य वा स्वरूपमिदमीदृशं यद्विशिष्टेन वाचकेनाभिधीयमानो असत्त्वरूपः सत्त्वरूपतयापि प्रकाशते; तदुक्तम्—

"व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी। सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिदर्शनी ॥ १ ॥"
"स्फटिकादि यथा द्रव्यं भिन्नरूपैरुपाश्रयैः। स्वशक्तियोगात्सम्बद्धं ताद्रूप्येणैव गम्यते" ॥ २ ॥

उदाहरणम्—स्तोकं पचतीति। ननु "क्रियाऽव्ययविशेषणे" (है० लिङ्गा०) इति लिङ्गकारिकावचनान्नपुंसकत्वमेकत्वं च क्रियाविशेषणानामभिहितं तत्र "नाम्नः प्रथमै०" (२।२।३१) इति सूत्रेण सामान्येन विहिता यथाऽव्ययेभ्यस्तथा क्रियाविशेषणादपि प्रथमा भविष्यति। अन्ये त्वाहुः—धात्वर्थः क्रिया सा

च कारकचक्रनिःपाद्यत्वात्कर्मरूपतां नातिक्रामति । ततो यथा भीष्ममुदारं दर्शनं करोतीत्यादौ कटादिकर्मविशेषणतया भीष्मादिशब्देभ्यो द्वितीया, तथा मन्दमञ्चति साधुर्गच्छति इत्यादौ कर्मत्वात्क्रियाविशेषणादपि भविष्यति, किमनेन सूत्रेण इति ? **अत्रोच्यते**–द्वितीयार्थमिदं सूत्रम्, न कर्मसंज्ञार्थम्, तेन कृद्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति । अयमर्थः–यदीदं न स्यात्तदा यथौदनस्य पक्तेत्यादौ कृदन्तकर्मत्वादोदनादिशब्दात्कर्मणि षष्ठी, एवं ओदनस्य शोभनं पक्तेत्यादौ शोभनशब्दादपि स्यात् । नासाविष्टा शिष्टासम्मतत्वात्; यथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी चानिष्टा स्यादिति । **नन्वस्तु** प्रथमा, प्रथमाद्वितीयैकवचनरूपं प्रत्ययविशेष इत्युक्तत्वाद्दोषाभावात् । **नैवम्**, प्रथमाविधाने अथो पचति शोभनं ते भार्येत्यादौ ते मे विधानं "सपूर्वात्प्रथमान्ताद्वा" (२।१।३२) इत्यन्वादेशे विकल्पितं स्यान्नित्यं चेष्यते इति प्रथमाविधिर्नेष्ट इत्येतत्सर्वं मनसिकृत्याह–द्वितीयेति । तत्राप्यसत्त्वात्मिकायाः क्रियाया विशेषणत्वेन सङ्ख्याद्ययोगादौत्सर्गिकद्वितीयाया एकवचनमेव च भवति ॥ ९ ॥

उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ १० ॥ (सि० २।२।३९)

उत्कृष्टार्थादनूपाभ्यां युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । अनुसिद्धसेनं कवयः । उपहेमचन्द्रं वैयाकरणाः । तेषु तौ उत्कृष्टौ इत्यर्थः ॥ १० ॥

"उत्कृष्ट०" उत्कृष्टशब्दो हीनापेक्षः तेन हीनोत्कृष्टसम्बन्धेऽनुना द्योत्ये द्वितीया विधीयते । उत्पूर्वात् कृषतेः कर्मणि क्ते यद्भाव इति सप्तम्यामुत्कृष्टे इति । अनुसिद्धसेनं कवय इति–सिद्धसेनकविनिर्दिष्टस्य हीनोत्कृष्टसम्बन्धस्यापेक्षणक्रियाजनितत्वमनुना ख्याप्यते, यथात्र सिद्धसेनमुत्कृष्टमनूद्य कवीनां हीनत्वविधाने दत्तमुदाहरणम्, तथा कवीन् हीनाननूद्य सिद्धसेनस्योत्कृष्टत्वेऽप्युदाहरणं द्रष्टव्यम् । यथानुकवीन् सिद्धसेन इति । तथा चाह–तेषु तौ उत्कृष्टौ इति ताभ्यामन्ये कवयो वैयाकरणाश्च हीना इति यावत् ।

सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोक्तस्य इत्यादिशब्दस्यात्रानुवृत्त्यान्यस्याप्यव्ययस्य योगे द्वितीया स्यात्, तथाहि–**"लक्षणवीप्स्येत्थम्भूतेष्वभिना"** (२।२।३६) लक्ष्यते दर्श्यते येन तल्लक्षणम्–चिह्नम् । अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तीच्छा वीप्सा, तत्कर्म वीप्स्यम् । केनचिद्विवक्षितेन विशेषेण भाव इत्थंभावस्तद्विषय इत्थम्भूतः । एष्वर्थेषु वर्त्तमानादभिना युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । वृक्षमभिविद्योतते विद्युत्–अत्र वृक्षो लक्षणम्, विद्योतमाना विद्युत् लक्ष्यम्, अनयोश्च लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धोऽभिना द्योत्यते । अत्र सम्बन्धस्य द्विष्ठतया विद्युतोऽभिना योगेऽपि गौणादिति वचनात् प्रधानत्वात्ततो न द्वितीया । वृक्षं वृक्षमभिसेकः, एकैकस्य वृक्षस्य सेक इत्यर्थः । अत्र सेकेन वृक्षाणां वीप्स्यमानानां सेकं प्रति यस्तेषां साध्यसाधनभावलक्षणः सम्बन्धः सोऽभिना द्योत्यते । वीप्सा तु द्विर्वचनद्योत्यैव । **अन्ये** तु वीप्सावीप्स्यमानयोः सम्बन्धो द्विर्वचनेनैव द्योत्यते नत्वभिना इति सम्बन्धमद्योतयतापि तेन योगे वचनाद्द्वितीयेति । साधुर्देवदत्तो मातरमभि-मातृविषये साधुत्वप्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । अत्र मातुर्देवदत्तस्य साधुभावं प्रति विषयता–देवदत्त इत्थम्प्रकारं मातृविषये प्राप्त इत्यर्थः । योऽसौ मातुरित्थम्भावप्राप्त्या विषयविषयिभावलक्षणः सम्बन्धः सोऽभिना द्योत्यत इति **"भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः"** (२।२।३७) स्वीक्रियमाणोंऽशो भागस्तत्स्वामी भागी तत्र लक्षणादिषु चार्थेषु वर्त्तमानात् प्रति-परि-अनुभिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । भागिनि–यदत्र मां प्रति मां परि मामनु स्यात्, योऽत्र मम भाग आभवति स दीयतामित्यर्थः । लक्षणे–वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत् । वीप्स्ये–वृक्षं वृक्षं प्रति वृक्षं वृक्षं परि वृक्षं वृक्षमनुसेचनम् । इत्थम्भूते–साधुर्मैत्रो मातरं प्रति

---

१ वृक्षं प्राप्य विद्योतत इति प्राप्तिक्रियाजनित इति शेषः ।

मातरं परि मातरमनु । "**हेतुसहार्थेऽनुना**" (२।२।३८) हेतुर्द्विधा–जनको ज्ञापकश्च, तत्र ज्ञापकस्य लक्षणत्वात् तत्र पूर्वसूत्रेणैव द्वितीया सिद्धेति जनक एवेह गृह्यते । सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च तस्य च सहार्थस्य तुल्ययोगादेर्योऽसौ विषय आश्रयः पर्वतादिरर्थः सोऽप्युपचारात्सहार्थशब्दवाच्यः । तयोर्वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः–अत्र जिनजन्मोत्सवो हेतुः, सुरागमनं हेतुमत्, तत्र जिनजन्मोत्सवस्य हेतुभावः सुरागमनापेक्षः, सोऽनुना द्योत्यते, तेन हेतुनेत्यर्थः । अत्र "हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे" (२।२।४४) इति प्राप्तां तृतीयां बाधित्वा द्वितीया भवतीत्यर्थः । नदीमन्ववसिता सेना–अत्र नद्यायाः सहभावः सोऽनुना द्योत्यते; "सहार्थे" (२।२।४५) इति प्राप्तां तृतीयां बाधित्वानेन द्वितीया । अन्ये तु तृतीयार्थमात्र इच्छन्ति–पर्वतमन्ववसिता सेना, पर्वतेन कर्त्रा करणेन वा कृतान्तेत्यर्थः । अवपूर्वस्य सिनोतेः कर्मणि क्ते अवसितेति रूपम् । अत्र कर्तृता करणभावो वा तृतीयार्थ इति तृतीयापवादोऽयं योगः ॥ १० ॥

गौणात्समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया ॥ ११ ॥

[सि० २।२।३३]

क्रियान्वयि मुख्यम्, परं गौणम् । समयादिभिर्नवभिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । समया ग्रामम् । निकषा गिरिं नदी । हा मैत्रं व्याधिः । धिग् जाल्मम् । अन्तरा निषधं नीलं च विदेहाः । अन्तरेण धर्मं क्व सुखम् । अति वृद्धं कुरून् बलम् । येन पश्चिमां गतस्तेन पश्चिमां नीतः ॥११॥

"गौणा०" । मुख्यमुपकार्यं यदर्थमन्यदुपादीयते यस्याख्यातपदेन सामानाधिकरण्यम्, ततोऽन्यत्तस्योपकारकं यत्तदर्थं तद्विशेषणं यस्याख्यातपदेनासामानाधिकरण्यम्, तद्गौणमित्यभिप्रेत्याह–क्रियान्वयीत्यादि–समया ग्राममित्यादि–अत्र समयेत्यादिसमीपवचनस्य ग्रामादिविशेषणं नद्यादिविशेष्यमित्युभयोरपि युक्तत्वम् । तत्र नद्यादिविशेष्यमस्तीत्याद्याख्यातपदेन समानाधिकरणं मुख्यम्, ग्रामादिपदं तु न तथेति गौणमिति ततो द्वितीया । सर्वत्र सम्बन्धषष्ठ्यां प्राप्तायां द्वितीयाविधानम् । हा मैत्रमिति–अत्र शोच्यता देवदत्तस्य हाशब्देन द्योत्यते । व्याधिरिति–वर्धते इति शेषः । धिग् जाल्मम्–अत्र जाल्मस्य निन्द्यता । अन्तरेति–निषधनीलयोर्मध्ये विदेहा इत्यर्थः, मध्यशब्दस्य सप्तम्यन्तस्य यादृशोऽर्थस्तादृशोऽन्तराशब्दस्यापि–उद्भूताधारशक्तिकोऽयमित्यर्थः ॥ अन्तरेणशब्दस्य त्वेको दर्शितोऽर्थोऽपरो विनार्थश्चेत्याह–अन्तरेणेति । समयादिसाहचर्यादेतौ निपातौ । नत्वन्तराशब्दः स्त्रियामाबन्तः, न चान्तरेणशब्दस्तृतीयान्त इति; तेनान्तरायां पुरि वसति, किं तयोरन्तरेण ज्ञातेनेत्यत्र द्वितीया न भवति ॥ हा तात धिग्जाल्म हा सुभ्रु इत्यादावामन्त्र्यतया विवक्षा न हादियुक्तत्वेनेति न भवति ॥ एवमतिवृद्धं कुरून् बलम् । कुर्वतिक्रमेण वृद्धमित्यर्थः । येन पश्चिमां गतः तेन पश्चिमां नीतः । बहुवचनादन्येनापि युक्ताद्भवति–बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । धातुसम्बन्धोऽत्र प्रतिस्तेन भागिनि च प्रतिपर्यनुभिरिति न सिद्ध्यतीति ॥ ११ ॥

द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ १२ ॥ [सि० २।२।३४]

द्विरुक्तैरेभिर्युक्ताद्द्वितीया स्यात् । अधोऽधो ग्रामम् । अध्यधि ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः । द्वित्व इति किम् ? अधो गृहस्य ॥ १२ ॥

"द्वित्वे०" । अधःप्रभृतयः कृतद्विर्वचनाः समीपवचना एव, अन्यत्र द्वित्वाभावात् । यस्य तत्सामीप्यं ग्रामादेस्ततः सम्बन्धे षष्ठ्यां प्राप्तायामयं योगः । अधोऽध इत्यादि–सर्वत्र सामीप्येऽधोऽध्युपरिदेशकृता

कालकृता वा प्रत्यासत्तिः सामीप्यं तस्मिन् विवक्षिते एतानि द्विरुच्यन्ते इति सूत्रेण द्विर्वचनम् । अधो गृहस्येति–उत्तराधर्यमात्रमत्र विवक्षितं न सामीप्यमिति द्वित्वाभावाद्द्वितीयाभावे षष्ठी ॥ १२ ॥

सर्वोभयाभिपरिणा तसा ॥ १३ ॥ [सि० २।२।३५]

सर्वादिभिश्चतुर्भिस्तसन्तैर्युक्ताद् द्वितीया स्यात् । सर्वतो ग्रामं वनानि ॥ १३ ॥

"सर्वो०" । तसन्तैरिति–तसेति सर्वादिविशेषणत्वाद् "विशेषणमन्तः" (७।४।११३) इति न्याया-त्तदन्तप्रतिपत्तिरिति सर्वतो ग्राममित्यादि । एवमुभयतो ग्राममभितो ग्रामं परितो ग्राममिति । सर्वत उभयत इति सप्तम्यन्तात् "आद्यादिभ्य" (७।२।८४) इति तसुः । अभिपरिशब्दाभ्यां "पर्यभेः सर्वोभये" (७।२।८३) इति तसुः । आभिमुख्यवृत्तिरपि तसन्तप्रतिरूपकोऽभितः शब्दोऽस्ति, सोऽपीह गृह्यते, ततस्तद्योगेऽपि षष्ठी मा भूदिति षष्ठ्यपवादोऽयं योगः ॥ १३ ॥

कालाध्वनोर्व्याप्तौ ॥ १४ ॥ [सि० २।२।४२]

द्वितीया । व्याप्तिर्नैरन्तर्यम् । मासमधीते । क्रोशं गिरिः ॥ १४ ॥ । इति द्वितीया ।

"काला०" । नैरन्तर्यमिति–स्वसम्बन्धिना द्रव्यगुणक्रियारूपेणात्यन्तसंयोग इति यावत् । मासमधीते इति–कालस्य क्रियया व्याप्ताविदमुदाहरणम्, द्रव्येण व्याप्तौ तु मासं गुडधाना इति, गुणेन व्याप्तौ मासं कल्याणीति । क्रोशं गिरिरिति–अध्वनो द्रव्येण व्याप्तावुदाहरणम्, गुणेन व्याप्तौ क्रोशं कुटिला नदीति, क्रियया व्याप्तौ क्रोशमधीते इति । कालाध्वनोरिति किम् ? स्थाल्यां पचति । व्याप्ताविति किम् ? मासस्य मासे वा द्व्यहं गुडधानाः । भावादपीच्छन्त्यन्ये–गोदोहं वक्रः । षष्ठ्याः सप्तम्या वायमपवादः ॥ १४ ॥ **अत्रापवादमाह—**

सिद्धौ तृतीया ॥ १५ ॥ [सि० २।२।४३]

मासेनावश्यकमधीतम् । सिद्धाविति किम् ? मासमधीतो नत्वाचारोऽनेन गृहीतः ॥ १५ ॥

"सिद्धौ०" । सिद्धौ क्रियाफलनिष्पत्तौ द्योत्यायां कालाध्ववाचिनो नाम्नस्तृतीया स्यात् । मासमधीत इति–अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिरिति । **द्वितीयापवादोऽयं योगः** ॥ १६ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ १६ ॥ [सि० २।२।२]

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टो यः स कर्ता स्यात् । तथाहुः—

निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके ।
व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥
फलार्थी यः स्वतन्त्रः सन्फलायारभते क्रियाम् ।
नियोक्ता परतन्त्राणां स कर्ता नाम कारकम् ॥ २ ॥

चैत्रेण कृतम् । यत्तु चैत्रः कटं करोतीत्यादौ प्रथमा सा उक्तत्वात् । आख्यातकृत्प्रत्ययेनोक्ते हि सर्वत्र कारके प्रथमा । यथा घटः क्रियते । स्नानीयं चूर्णम् । दानीयो मुनिः । भयानको व्याघ्रः । गुडाधानी स्थाली ॥ १६ ॥

"स्वतन्त्र०" स्वतन्त्रशब्दो रूढिवचनः समासप्रतिरूपकः प्रधानार्थः । स्वशब्द आत्मवचनस्तन्त्रशब्दः प्रधानार्थः । स्वतन्त्रमस्येति तु पदघटनामात्रमिति । यस्यागुणभावेन धातुना व्यापार उच्यते स स्वतन्त्र इति तात्पर्यम् । एतत्सर्वं मनसिकृत्याह–क्रियासिद्धौ स्वप्रधान इत्यादि । ननु सामग्रीतः क्रियोत्पादात्स-

र्वेषां तत्र साम्यान्न कस्यचित् प्राधान्यं सम्भावयाम इत्यत्रोच्यते—सर्वेषां साधनानां कर्त्ता प्रवर्त्तयिता भवति, तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वात्तस्य च प्रागन्यतः शक्तिलाभात् प्रतिनिध्यदर्शनात् करणाद्यभावेऽप्यास्ते शेते इत्यादौ केवलस्य कर्त्तुर्दर्शनात् कर्तृरहितानां करणादीनामदर्शनात्प्राधान्यम् कर्त्तुरिति । यद्वा सर्वेषां साधारणक्रियायां कर्तृत्वमवान्तरव्यापारविवक्षायां तु करणादिरूपत्वम् । यथा मातापित्रोरपत्योत्पादने कर्तृत्वम्, तदविवक्षायां तु अयमस्मामियमस्माद्वा जनयतीत्यधिकरणत्वमपादानत्वं च व्यवतिष्ठते । एवं च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोर्विरोधाभावात्करणं कारकमित्यादिविशेषणविशेष्यभावोऽपि । कर्तृसंज्ञा तु करणाद्यवस्थायां न भवति, "स्वतन्त्रः कर्ता" (२।२।२) इत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुनः स्वतन्त्रश्रुतिर्नियमार्था; तेन स्वातन्त्र्यमेव यस्य तस्य कर्तृसंज्ञा न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य । कारकसंज्ञा तु वस्तुस्थित्याविद्यमानमुद्भूतत्वेनाविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीनां विधानसामर्थ्यात् प्रवर्त्तते । यत्र च शक्तीनां निमित्तनिमित्तिभावेन युगपद्विवक्षा तत्र संज्ञानां विप्रतिषेध उच्यते—यथा धनुषा विध्यतीति विनाऽपायविवक्षया धनुषः साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे परः "स्पर्द्धे" (७।४।११९) इत्यत्र परग्रहणस्येष्टवाचित्वात्क्वचित्पूर्वमिति करणसंज्ञा;—एवमसिश्छिनत्ति इति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृसंज्ञा; तदा तु तैक्ष्ण्यादीनां करणत्वम् । तैक्ष्ण्यादीनां तु कर्तृत्वविवक्षायामात्मनः करणत्वम् । तैक्ष्ण्यमेव हि वस्तुस्थित्यैकमपि विवक्षावशात्कर्तृत्वेन करणत्वेन द्वेधावतिष्ठते इति कर्तृत्वं करणत्वस्याबाधकमिति ॥ एवं स्थाली पचतीति अधिकरणरूपायाः स्थाल्याः स्वातन्त्र्यविवक्षया कर्तृत्वम् । किञ्च प्रेषितः करोतीत्यत्र प्रयोज्यावस्थायामपि स्वातन्त्र्यस्याहानेः कर्तृत्वमस्त्येव ॥ अस्य च कर्तुरधिश्रयणादयः पचिक्रियायामवान्तरव्यापारा वर्त्तन्ते । एतान् कुर्वन् देवदत्तः पचतीत्युच्यते । एषु तदा पचिर्वर्त्तते इति भावः । प्रयोजकोऽपि स्वतन्त्रत्वात्कर्त्तैव पचन्तं मैत्रं प्रयुङ्क्ते पाचयति मैत्रेण चैत्रः । **ननु** अत्र मैत्रेणेत्यत्र कर्तृतृतीया न प्राप्नोति अस्वतन्त्रत्वात्, यथा कर्तृसन्निधौ करणादीनां स्वातन्त्र्याभावस्तथा प्रयोजकसन्निधौ प्रयोज्यस्यापीति । **नैष** दोषः, प्रयोजकसन्निधानेऽपि प्रयोज्यस्य करणादिकारकविनियोगादिना क्रियासिद्धौ स्वातन्त्र्यसद्भावाद् ; यदि तु प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्यं न स्यान्नैवासौ साधनान्तरविनियोगादिना क्रियां कुर्यात् । **यद्भन्दिरत्नमतिः—**

"यः क्रियां कर्मकर्तृस्थां कुरुते मुख्यभावतः । अप्रयुक्तः प्रयुक्तो वा स कर्त्ता नाम कारकम्" ॥ १ ॥

भाष्यकृताप्युक्तम्—नहि कश्चित् परोऽनुगृहीतव्य इति प्रवर्त्तते, सर्व इमे स्वभूत्यर्थं यतन्त इति प्रेषितोऽप्यसौ स्वार्थदर्शनादिच्छायां सत्यां क्रियां करोति, तददर्शनान्न करोतीति स्वतन्त्र एवेति । **ननु** प्रैषादूर्ध्वं प्रयोज्यस्य स्वव्यापारे प्रवर्त्तनात् स्वातन्त्र्यमिति सिद्ध्यति तृतीया, प्रैषकाले तु कथम्? तत्र स्वव्यापाराप्रवर्त्तनात्प्रवृत्तौ च प्रैषवैयर्थ्यात्स्वातन्त्र्यं नास्ति, स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः प्रयोक्तेति तद्व्यापारे णिग् न स्यात् । **नैष** दोषः । तस्य स्वतन्त्रत्वाद्दृष्टसामर्थ्यः सम्भावितसामर्थ्यो वा क्रियायां स्वातन्त्र्येण समाश्रित एव नियोज्यशब्देनोच्यते । **नन्वे**कस्य स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च प्रतिषिद्धम्, प्रयोजकसन्निधौ पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्यस्य तिरस्कृतत्वाद्यौगपद्यानुपपत्तिः । **उच्यते** । एकापेक्षया विरोधोऽत्र प्रैषापेक्षया पारतन्त्र्यं करणाद्यपेक्षया च स्वातन्त्र्यमित्यविरोधः । **यद्येवं** नदीकूलं पततीत्यादौ स्वातन्त्र्याभावात्कर्तृत्वाभावः, तथाहि—स्वातन्त्र्यं नाम परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्वं चेतनव्यापारो नाचेतनस्य कूलादेः सम्भवति । **उच्यते** । सामान्येन कर्तृव्यापारे पदं निष्पाद्य पश्चात्पदान्तरयोगः, नह्यन्तरङ्गं पदसंस्कारं बहिरङ्गः पदान्तरसम्बन्धो बाधते । **तत्त्वं** तत्त्वक्रियाकर्तृत्वं काष्ठादौ पाकाद्यनुकूलव्यापारवत्त्वप्रतिसन्धाने कर्तृपदप्रयोगाभावात् कृताकृतविभागादिना सिद्ध्यत्स्वशक्तिकेन कृधातुना तृजन्तेन सिद्धस्य कर्तृपदस्य यत्नाश्र-

यत्वबोधनाच्च, अचेतने कर्तृपदप्रयोगस्तु गौण इत्याद्याहुः । **निष्पत्तिमात्रे** इत्यादिकारिकाद्वयं व्याख्यातार्थम् । चैत्रेण कृतमिति—इदं कार्यमिति शेषः । अत्र "कर्तृतृतीयाया आश्रयोऽर्थः—तथाहि—स्वतन्त्रः कर्त्ता, स्वातन्त्र्यं च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्, 'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते' इति वाक्यपदीयात्; अत एव यदा यदीयो व्यापारो धातुनाभिधीयते तदा स कर्त्तेति । स्थाली पचति, अग्निः पचति, एधांसि पचन्ति, तण्डुलः पच्यते स्वयमेवेत्यादि सङ्गच्छते" इति **भूषणे** । इदं कार्यजननानुकूलस्य व्यापाराश्रयश्चैत्र इति भावः । यत्तु चैत्र इत्यादि स्पष्टम् । घटः क्रियते इत्यादिषु कर्मादिशक्तीनामुक्तत्वात्तदभिधायिन्यो द्वितीयादिविभक्तयो न स्युः । अर्थप्रत्यायनाय लोके शब्दः प्रयुज्यते, सचार्थो यदा शब्दान्तरेण प्रतिपादितः स्यात्तदा प्रयोजनाभावाच्छब्दान्तरप्रयोगेण न भाव्यम्, अक्षिनिकोचत्वादिभिरप्यधिगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते; किं पुनः शब्दान्तरप्रतिपादिते यथा चित्रगुरित्यत्र बहुव्रीहिणोक्तार्थत्वान्मत्वर्थीयो न भवतीति ॥ १६ ॥

साधकतमं करणम् ॥ १७ ॥ [सि० २।२।२४]

क्रियात्वेनाव्यवधानेन विवक्षितं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणं स्यात् । दानेन लभते भोगम् ॥ १७ ॥

"साधक०" तमबर्थः प्रकर्षः स चाव्यवधानेन फलजनकव्यापारवत्ता तादृशव्यापारवत्कारणं प्रधानोपकारकं तच्च विवक्षयेत्यभिप्रेत्याह—क्रियासिद्धावित्यादि—ननु सामग्र्यधीना हि क्रियासिद्धिरेकस्याप्यभावे न भवति, तदस्यामनेकसाध्यायां कोऽस्य प्रकर्षो येन करणं साधकतमं स्यान्नान्यानि ? अत्रोच्यते । अव्यवधानेन विवक्षितमिति—अयं भावः—वस्तुवृत्त्या साधकतमस्य सम्भवो नास्ति यद्व्यापारसामनन्तर्येण तु क्रियासिद्धिर्विवक्ष्यते तस्य कल्पनया साधकतमस्येयं संज्ञा, युक्तं चैतत्, एवं हि नैयत्येन किञ्चित्करणम्; तथाहि—काष्ठैः पचतीति काष्ठानि करणम्, काष्ठसम्बन्धज्वलनलक्षणव्यापारसामनन्तर्येण पचिक्रियासिद्धेर्विवक्षितत्वात् । कदाचित्स्थाल्या पचतीति स्थालीव्यापारसम्भवेन धारणलक्षणसामनन्तर्येण पचिक्रियासिद्धौ विवक्षितायां स्थाली करणं यदाह—

"क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा यत्र करणत्वं तदा स्मृतम्" ॥ १ ॥
"वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम् । स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः" ॥ २ ॥

अत्र च तमग्रहणात् अपादानादिसंज्ञाविधौ तरतमयोगो नास्ति इति ज्ञेयम् । तेन कुशूलात्पचति गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति व्यवहितोपचरितयोरप्यपादानत्वमधिकरणत्वं च भवति । अन्यं च कारकान्तरापेक्षया प्रकर्षो न स्वकक्षायां तेनैकस्यां क्रियायामनेकमपि करणं भवति । नावा नदीस्रोतसा व्रजति, रथेन पन्था दीपिकया याति, सूपेन सर्पिषा लवणेन पाणिना ओदनं भुङ्क्ते इति । तार्किकास्तु कारकान्तरेऽचरितार्थत्वे सति क्रियाहेतुत्वं करणत्वं कारकान्तरनिष्ठव्यापारद्वारा क्रियाहेतुभावः सत्यन्तार्थः कर्तृकर्मणोः कुठारादिकरणनिष्ठव्यापारद्वारा छिदादिहेतुत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्याहुः ॥ १७ ॥

हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे ॥ १८ ॥ [सि० २।२।४४]

एषु चतुर्षु तृतीया स्यात् । तत्र फलसाधनयोग्यो हेतुः । दानेन लभते भोगान् धनेन कुलम् । चैत्रेण कृतम् । दात्रेण लुनाति । *किञ्चित्प्रकारमापन्नस्य चिह्नं इत्थम्भूतलक्षणं कमण्डलुना छात्रं लक्षयेः, कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् ॥ १८ ॥

“हेतु०”। हेत्वादीन् व्याचष्टे–तत्रेत्यादि। फलं कार्यम्, तस्य साधनं निष्पादनं कारणमिति यावत्; तत्र योग्यः सामान्यतो दृष्टसामर्थ्यः, योग्यग्रहणमन्तरेण तु फलसाधन इत्युच्यमाने यः फलं साधयति क्रियाविष्टस्तत्र प्रतिपत्तिः स्यात्, योग्यग्रहणे तु योग्यतामात्रप्रतिपत्तावकुर्वन्नपि तत्फलं हेतुरिति हेतुत्वं फलसाधनयोग्यत्वं तेन रूपेण पदार्थो हेतुरुच्यते इति हेतुतृतीयया, तत्र तस्य योग्यतामात्रं द्योत्यते तथा च धनादीनि कुलमकुर्वन्त्यपि योग्यतामात्रेण तृतीयामुत्पादयन्ति । यत्रापि क्रिया दृश्यते अन्नेन वसतीति तत्रापि क्रियायामन्नादेर्योग्यतामात्रविवक्षयैव हेतुतृतीया, प्रकृष्यमाणव्यापारविवक्षायां तु करणे तृतीयेति। द्रव्यादिसाधारणं च हेतुत्वं करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः पुण्येन दृष्टो जिनः । फलमपीह हेतुः अध्ययनेन वसति । तथोक्तम्–निर्व्यापारमपि हेतुत्वं भवति; करणत्वं तु क्रियायां एव व्यापारवद्भवतीत्यनयोर्विशेष इति कौमुद्याम् । दानेनेति अत्र भोगलाभे दानस्य शुभकर्मोपार्जनद्वारा हेतुत्वमिति शुभकर्म्मोपार्जनमवान्तरव्यापारः। काष्ठानां पचिक्रियायां ज्वलनमिव अवान्तरव्यापारशालिन एव कारकत्वादिति। *किञ्चित्० सामान्यस्य भेदको धर्मः प्रकारो यथा–मनुष्यसामान्यस्य भेदकश्छात्रत्वादिको धर्म इति। इमं कञ्चित्प्रकारं भूत आपन्न इत्थम्भूतः स लक्ष्यते येन तदित्थम्भूतलक्षणम्, यथा छात्रत्वादिकं प्रकारमापन्नस्य मनुष्यस्येत्यर्थः, कमण्डल्वादिलक्षणं ततस्तृतीयेति कमण्डलुनेत्युदाहरणम् । **ननु** कमण्डल्वादिलक्षणस्य हेतुत्वमप्यस्तीति तद्वारेणैव तृतीया भविष्यतीत्यत्रोच्यते–न तावच्छात्रादिस्वरूपं लक्षणाधीनमिति न तस्य लक्षणं हेतुः, छात्रादिप्रतीतेस्तु तद्धेतुः न चेह तत्प्रतीतिः केनचिदभिधीयते । सूत्रेण त्वनेन तृतीया विधीयमाना लक्षणमवद्योतयतीति युक्तोऽस्यारम्भ इति। एवं जटाभिस्तापसः जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्टस्तापस इति। चूल्या परिव्राजकः। सहार्थ इत्येव सिद्धौ लक्ष्यलक्षणभावे षष्ठी मा भूदिति वचनम्। यत्तु धान्येनार्थी मासेन पूर्वः मासेनावरः असिना कलहः वाचा निपुणः गुडेन मिश्रः आचारेण श्लक्ष्णः माषेणोनः माषेण न्यूनः मासेन विकलः पुंसानुजः शङ्कुलया खण्डः गिरिणा काणः इत्यादौ तृतीया सा तु हेतौ कृता, भवत्यादिगम्यमानक्रियापेक्षया कर्तरि करणेवेति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

सहार्थे ॥ १९ ॥ [सि० २।२।४५]

सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च। तस्मिन्गम्यमाने नाम्नस्तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः स्थूलो गोमान्।

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भरम्।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥ १ ॥ १९ ॥

“सहा०” सहस्य सहशब्दस्यार्थः सहार्थः तुल्यः साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना यः सम्बन्धः स तुल्ययोगः। विद्यमानता सत्ता। तस्मिन् गम्यमाने इति शब्दादर्थाद्वेति शेषः। **ननु** च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव सत्तया सहोभयोः सम्बन्धात् सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीत्यत्र सहैव दशभिः पुत्रैः सतीति शक्यं प्रतिपत्तुम् तत्किं तुल्ययोगाद्विद्यमानतायाः पृथग्ग्रहणेन ? उच्यते। विवक्षितयोगाभावात्सहैव दशभिरित्यत्र वहनमात्रं विवक्षितं तद्गर्दभ्या एव न तत्पुत्राणाम्, तेषां तु विद्यमानतैव विवक्षिता–दशभिः पुत्रैः विद्यमानैरपि भारं वहतीति विवक्षितत्वात् । पुत्रेण सहागत इत्यत्रागमनक्रियया पितापुत्रयोस्तुल्ययोगः, पुत्रेण सह स्थूल इत्यत्र स्थौल्येन गुणेन, पुत्रेण सह गोमानित्यत्र च गोभिर्द्रव्येण। एवं शिष्येण सह ब्राह्मण इत्यत्र जात्येति। सर्वत्रात्र यद्यप्युभयोः क्रियादियोगस्तथाप्यागत इत्यादिशब्देनाभिधीयमानः क्रियादियुक्तः केनचित्प्रयोजनेन मुख्यतया विव-

क्षितः पित्रादिरभिधायां प्रधानमितरदप्रधानं तत्र षष्ठ्यां प्राप्तायां तृतीया । "सहार्थे" (२।२।४५) इत्यत्रार्थग्रहणात्सहशब्दाप्रयोगेऽपि तदर्थसद्भावे तृतीया भवति, तदप्रयोगे तदर्थसद्भावो द्विधा भवति— पर्यायशब्दप्रयोगादर्थप्रकरणादेश्च तदर्थप्रतिपत्तेः । तत्र पुत्रेण समं सार्द्धं साकममा युगपदिति पर्यायशब्दप्रयोगे । अर्थप्रकरणादेस्तदर्थावगमे तु पुत्रेणागतः वृद्धो युनेत्यादि, सुखेनास्ते, दुःखेन जीवति, कष्टेन क्रामति, अनायासेन करोतीत्यादौ आस्यादिक्रियादिभिः सह सुखादेः सहार्थोऽस्ति । क्रियाविशेषणत्वविवक्षायां द्वितीयैव सुखमास्ते, दुःखं जीवतीत्यादि । गौणादित्येव—"सहोभौ चरतो धर्मम्" अत्रोभयोरपि प्राधान्येन क्रियायोगान्मुख्यत्वमिति । चैत्रमैत्राभ्यां सह कृतमिति तु कर्त्तर्येव तृतीया ॥ १९ ॥

यद्भेदैस्तद्वदाख्या ॥ २० ॥ [सि० २।२।४६]

यस्य भेदिनो भेदैः प्रकारैस्तद्वतोऽर्थस्य प्रसिद्धिः स्यात् ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । प्रकृत्या दर्शनीयः । आख्येति प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम् । तेनाक्ष्णा दीर्घ इति न स्यात् ॥ २० ॥

"यद्भे०" यस्येत्यादिभेदिनः काणत्वादिविशेषवतो यस्याक्ष्यादेरवयवस्य भेदैर्विशेषैः काणत्वादिभिस्तद्वतोऽक्ष्यादिमतश्चैत्रादेरर्थस्य काणोऽयमित्यादिप्रसिद्धिः स्यात्ततस्तृतीया स्यादिति भावः । अक्ष्णा काण इति । एवं पादेन खञ्जः, हस्तेन कुणिः, शिरसा खल्वाटः, प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः प्रायेणेति स्वभावेन । गोत्रेण काश्यपः, जात्या ब्राह्मणः, जात्या सुशीलः, स्वभावेनोदारः, निसर्गेण प्राज्ञः, वर्णेन गौरः, स्पर्शेन शीतः, वचनेन मृदुः, रसेन स्वादुः, मुखेन सरूपः, उरसा विशालः, बाहुभ्यां दृढः । सर्वत्र पुरुषस्तद्वान् सम्बध्यते । ननु प्रकृत्या दर्शनीयः प्रायेण वैयाकरण इति युक्तः प्रयोगः, दर्शनीयत्वं प्राकृतमन्यच्च वैयाकरणत्वं च प्रायिकमन्यच्च स्यात्तत्रेतरव्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चाऽर्थवत् । काणादिस्त्वक्ष्यादिभिरेव भवतीत्यव्यभिचारेण प्रतीतेरक्ष्यादीनां प्रयोग एवायुक्तः क्व तृतीया स्यादिति । अत्रोच्यते । लोकोऽत्र पर्यनुयोक्तव्यो योऽर्थवतोऽनर्थकतामनपेक्ष्य प्रतीतेऽपि शब्दान् प्रयुङ्क्ते, लोके च न सर्व एव सूक्ष्मेक्षिकया शब्दान् प्रयुङ्क्ते, यस्त्वेवं समीक्ष्यते स न प्रयुङ्क्ते । तत्रापि चोपचरितार्थनिवृत्तिरक्ष्णेत्यादिप्रयोगे प्रयोजनम्—सत्यमयं काणो नतूपचारत इति । कृतभवत्यादिक्रियाध्याहारेण कर्तृकरणयोस्तृतीया सिद्धैव, सम्बन्धषष्ठीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् ॥ २० ॥

कृताद्यैः ॥ २१ ॥ [सि० २।२।४७]

एभिर्निषेधार्थैर्युक्तात्तृतीया स्यात् । कृतं तेन । किं गतेन ॥ २१ ॥ इति तृतीया ।

"कृता०" कृतम् भवतु अलम् किम्; एवं प्रकाराः कृतादयो निषेधार्थाः । ननु गर्गादिगणवत्सन्निविष्टाः केचन । निषेधार्थवृत्तित्वं च कृतादीनामनेकार्थत्वाल्लक्षणातो वा स्यात् । किं गतेनेति—नायं प्रश्ने किंशब्दः, किं तर्हि ? निषेधे; यद्वा प्रश्नार्थवृत्तिरेवायं प्रक्रमात्तु निषेधप्रतीतिः सामर्थ्याक्षिप्ता लक्षणया नतु शाब्दीति युक्ततरः पक्षः । अत्र प्रागुक्तेत्यादिशब्दानुवर्त्तनात् **"काले भान्नवाऽऽधारे"** (२।२।४८) काले वर्त्तमानान्नक्षत्रवाचिनो गौणान्नाम्नः आधारे तृतीया वा स्यात् । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तः कालः पुष्यः "चन्द्रयुक्तात्काले लुप्त्वप्रयुक्ते" (६।२।६) इत्यण् तल्लुप् च । पुष्येण पुष्ये वा पायसमश्नीयात् । काल इति किम् ? पुष्येऽर्कः । स्थाल्या पच्यत इत्यादिवदाधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिद्ध्यति, सम्बन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् । **"प्रसितोत्सुकाववद्धैः"** (२।२।४९) एतैर्युक्तादाधारे वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नस्तृतीया स्यात् । केशैः केशेषु ३२

---

१ वैकृतम् ।

प्रसितः, प्रकर्षेण सितो बद्धः 'षिंञ् बन्धने' इत्यस्य रूपम्, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः । गृहेण गृहे वा उत्सुकः, केशैः केशेषु वाऽवबद्धः । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात् क्रियार्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र ग्राह्यः । "**व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम्**" (२।२।५०) व्याप्ये वर्त्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायां वा तृतीया भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति द्विद्रोणं द्विद्रोणं क्रीणाति तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीया, तस्य द्विर्वचनं न भवति; द्वितीया तु कर्मणि विहिता न वीप्सायामतस्तदन्तस्य द्विर्वचनं भवति । द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः । आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गर्गादिवत्सन्निविष्टा इति । "**समो ज्ञोऽस्मृतौ वा**" (२।२।५१) अस्मृतौ वर्त्तमानस्य सम्पूर्वस्य जानातेर्व्याप्यं तत्र वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः तृतीया वा स्यात् । मात्रा सञ्जानीते मातरं सञ्जानीते "सम्प्रतेरस्मृतौ" (३।३।६९) इत्यात्मनेपदम् । सम इति किम् ? मातरं जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं संवेत्ति । अस्मृताविति किम् ? मातरं सञ्जानाति मातुः सञ्जानाति–स्मरतीत्यर्थः । व्याप्ये इति किम् ? मातरं स्वरेण सञ्जानाति । करणे विकल्पो न भवति । मातुः संज्ञातेति कृतिपरत्वात् षष्ठी । "**दामः सम्प्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च**" (२।२।५२) सम्पूर्वस्य दामः सम्प्रदानेऽधर्म्येऽधर्मरूपे वर्त्तमानान्नाम्नस्तृतीया स्यात्तत्सन्नियोगे च दामः आत्मनेपदं भवति । दास्या सम्प्रयच्छते, कामुकः सन् द्रव्यं दास्यै ददातीत्यर्थः । दाम इति किम् ? दास्यै सन्ददाति । सम्प्रदान इति किम् ? द्रव्यं वृषल्या सम्प्रयच्छते इत्यत्र कर्मणि तृतीया मा भूत् । अधर्म्ये इति किम् ? पत्न्यै सम्प्रयच्छति । सम इत्येव–दास्यै प्रयच्छति–इह सम्पूर्वस्य दामः प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाभावात्तद्व्यवधानेऽपि भवति । तदुक्तं **हैमबृहन्न्यासे**–नहि तद्व्यवधानमन्तरेण सम्पूर्वस्य दामः संयच्छतीति प्रयोगो यत्र त्वस्ति तत्र यमेरेव; एवं च येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपीति वचनप्रामाण्यात्प्रशब्देन व्यवधानमाश्रीयत इति । **कौमुद्यां** तु अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया–दास्या संयच्छते कामुकः, धर्मे तु भार्यायै संयच्छति इत्युक्तम् ॥ २१ ॥

कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम् ॥ २२ ॥ [सि० २।२।२५]

कर्मणा व्याप्येन क्रियया वा योऽभिसम्बध्यते स सम्प्रदानं स्यात् । "चतुर्थी" (२।२।५३) सम्प्रदाने । देवाय बलिं दत्ते । राज्ञे कार्यमाचष्टे । पत्ये शेते । "स्पृहेर्व्याप्यं वा" (२।२।२६) सम्प्रदानम् । साधुभ्यः साधून् वा स्पृहयति । (क्रुद्द्रुहेर्ष्यासूयार्थैर्यं प्रति कोपः (२।२।२७) स सम्प्रदानम्) मैत्राय क्रुध्यति । द्रुह्यति ॥ २२ ॥

"कर्मा०" कर्मणेत्यादि । अयं भावः–कर्म्मणा व्याप्येन क्रियया वा करणभूतेन कर्त्रा यमभिप्रेयते श्रद्धानुग्रहादिकाम्यया यमभिसम्बध्नाति स कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानकारकं स्यात् । ननु कर्मणः कथं करणत्वम् ? उच्यते । क्रियाभेदात् यथा देवाय बलिं दत्ते इत्यादौ ददातिना ह्याप्तुमिष्टत्वाद्बल्यादिरर्थः कर्म, तेन देवादिरभिसम्बध्यते इत्यभिसम्बन्धेन साधकतमत्वात्करणम्, यथा निपीयमानेन मधुना मत्त इति । अवान्तरव्यापारवत एव कारकत्वादस्यावान्तरव्यापाराः अनिराकरणं प्रेरणमनुमतिश्च तान् कुर्वंस्त्यागादौ कारकत्वं लभते । यथा देवाय बलिम्, द्विजाय गाम्, याचकायार्थं दत्ते । अत्र देवो बलिकर्मकं दानमनिराकुर्वन्, द्विजश्च गोकर्मकं दानमनुमन्यमानः, याचकादिश्चार्थादिकर्मके दाने प्रेरणां कुर्वंस्तत्र निमित्तं भवति । तथोक्तम्—

"अनिराकरणात्कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् । प्रेरणानुमतिभ्यां वा लभते सम्प्रदानताम् ॥ १ ॥

एवं राज्ञे कार्यमाचष्टे–अत्र कार्यकर्मकमाचक्षाणमनुमन्यमानो अनिराकुर्वन् वा राजा सम्प्रदानं

भवति । एवं क्रियया करणभूतया कर्त्ता यमभिसम्बध्नाति सोऽपि सम्प्रदानं भवति । यथा पत्ये शेते इत्युपसर्प्पणाङ्गे शयने शक्तिर्वर्त्तते, अत्रापि शयनक्रियामनिराकुर्वन् अनुमन्यमानो वा पतिः सम्प्रदानं भवति । एवं श्राद्धाय निगृह्णते—नास्तिकत्वान्निन्दति । युद्धाय सन्नह्यते सन्नहनाङ्गे निश्चये सन्नहिर्वर्त्तते सन्नहनपूर्वकं निश्चयं करोतीत्यर्थः, न कर्त्तव्यमनेनैव सिद्धत्वात् । अत्र कर्मग्रहणेनैव तन्त्रेण क्रियापि गृहीता क्रियां हि लोके कर्मेत्युपचरन्ति, कां क्रियां करिष्यति किं कर्म करिष्यसीति । एवमपि कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवतीति न प्राप्नोति । नैवम् । क्रियापि हि कृत्रिमं कर्म । तथापि न सिद्ध्यति पत्ये शेते इत्यादौ क्रियान्तरानुपादानात्, एकस्या एव क्रियायाः कर्मकरणभावस्यैकदात्मन्येव विरोधात् । किञ्च कर्तुर्व्याप्यं कर्मेत्युच्यते कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति । अत्रोच्यते । क्रियापि सन्दर्शनप्रार्थनाध्यवसायादिक्रियाभिरवश्यं पूर्वभाविनीभिराप्तुमिष्टत्वात्कर्म भवति । तथाहि—प्रेक्षापूर्वकारी बुद्ध्या कञ्चिदर्थं पश्यति; सन्दृष्टे प्रार्थना, प्रार्थनायामध्यवसायः, अध्यवसाये आरम्भः, आरम्भे निवृत्तिः, निवृत्तौ फलावाप्तिरित्येवं क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति प्रतीयमानक्रियापेक्षस्यापि प्रविश पिण्डीमित्यादाविव कारकत्वाव्याहतेः । नन्वेवं ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाभिसम्बद्ध्यमानस्य सम्प्रदानसंज्ञाप्रसङ्गः । नैष दोषः । यदा सन्दर्शनादयो धात्वर्थाद्भेदेन विवक्ष्यन्ते, तदा तेषां प्राप्तकर्मभावया क्रियया यदभिसम्बद्ध्यते तस्येयं सम्प्रदानसंज्ञा, अत्र तु भेदस्याविवक्षितत्वाद्गम्यर्थत्वात्सन्दर्शनादीनां गमिवाच्यतैव । गमनं ह्यत्र विततविततमन्तर्भूतसन्दर्शनादिकं विवक्षितम्, तत्कथमात्मन एवात्मना व्याप्यमानता स्यात्, सा च भेदाभेदविवक्षा प्रयोगदर्शनवशेन नियतविषयैवाश्रीयते इति प्रयोगासङ्करः । कर्माभिप्रेय इत्यत्र केवलस्य ईयतेर्गमनं वाच्यमित्यभिग्रहणं विशिष्टसम्बन्धप्रतिपत्त्यर्थम् विशिष्टश्च सम्बन्धः कर्त्तुः श्रद्धानुग्रहापायापगमादिकामनाजनितस्ततो रजकस्य वस्त्रं ददाति, घ्नतः पृष्ठं ददाति, राज्ञो दण्डं ददातीत्यादौ वस्त्रादिकर्मणा रजकादीनामभिसम्बध्यमानत्वेऽपि सम्प्रदानसंज्ञा न भवति । वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटां ददाति इत्यादौ तु श्रद्धादिजनितसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद्भवति । यत्तु कैश्चिदन्वर्थसंज्ञाविज्ञानाद्ददातिक्रियाविषयैव सम्प्रदानसंज्ञेत्यभ्युपगतं दानं च स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापत्तिपर्यन्तेति प्रत्यज्ञायि; तदुभयमपि न युक्तम्; अन्यत्रापि भाष्यकारेण संज्ञाया अभ्युपगमात्तथा स्वत्वनिवृत्त्यभावेऽपि ददातेः प्रयोगस्य दर्शनाद्यथा न पापाय मतिं दद्यात् । खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति चेति । "**चतुर्थी**" । सोदाहरणं सूत्रं सुगमम् । "**स्पृहे०**" स्पृहयतीति अत्रादन्तत्वात्स्पृहेरकारलोपस्य "स्वरस्य परे प्राग्विधौ" (७।४।११०) इति स्थानिवद्भावाल्लघूपान्त्यगुणाभावः । अत्र हि साध्वादेः कर्त्तुः स्पृहादिक्रियाव्याप्यत्वान्नित्यं कर्मसंज्ञायां प्राप्तायां पक्षे सम्प्रदानसंज्ञा विधीयते, तस्यां च धातोरकर्मकत्वाद्भावे आत्मनेपदादयः कर्त्तरि च क्तः सिद्ध्यति, पुष्पेभ्यः स्पृह्यते मैत्रेण पुष्पेभ्यः स्पृहयितव्यम्, पुष्पेभ्यः सुस्पृहम्, पुष्पेभ्यः स्पृहयिता मैत्र इति । "**क्रुद्द्रु०**" 'क्रुधंच् कोपे' 'द्रुहौच् जिघांसायाम्' 'सूर्क्ष्य-ईर्क्ष्य-ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थाः' असूयेति 'असुः सौत्रः कण्ड्वादिर्यगन्तः' ॥ क्रोधोऽमर्षः, द्रोहोऽपचिकीर्षा, परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोष ईर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया, एतदर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपः स सम्प्रदानम् । मैत्राय क्रुध्यतीत्यत्रार्थग्रहणात् कुप्यति रुष्यतीत्यादि । द्रुह्यतीत्यत्रापचिकीर्षति अपकरोतीत्यादि । ईर्ष्यतीत्यत्र सूर्क्ष्यति ईर्क्ष्यतीत्यादि । यं प्रतीति किम् ? यस्मिन्नित्युच्यमाने कर्त्तुरपि सम्प्रदानसंज्ञा स्यात्—मैत्रेण क्रुध्यते । कोप इति किम् ? शिष्यस्य कुप्यति विनयार्थम् । ननु कोपाद्द्रोहादयो भिन्नस्वभावा व्याख्यातास्तत्कथं तदर्थानां यं प्रति कोप इति सामान्येनैतद्विशेषणं घटते ? यं प्रति द्रोहो यं प्रतीर्ष्या यं प्रत्यसूयेत्येव घटते । नैष दोषः । क्रोधस्तावत्कोप एव, द्रोहादयोऽपि द्विप्रकाराः केचित्कोपहेतुकाः केचिद्वस्त्वन्तरहेतुकास्तत्रेह पूर्वेषां ग्रहणं यथा स्यादुत्तरेषां

मा भूदिति यं प्रति कोप इति सामान्येन विशेषणमुपात्तमन्यथाऽव्यभिचाराभावादिदमनुपादेयं स्यात् । कोपशब्दोऽपि द्विप्रकारोऽत्र परिगृहीतो मुख्यार्थो गौणार्थश्च । गौणार्थत्वं च तस्य कार्ये कारणोपचारात् कोपकार्यद्रोहाद्यर्थवृत्तित्वात् । सामान्यविवक्षया चैकवचनम् । एवं च भार्यामीर्ष्यतीति कोपकारणिकाया ईर्ष्याया भार्यायामसम्भवान्न प्रवर्त्तते सम्प्रदानसंज्ञा । अत्र हि परकर्तृकदर्शननिमित्ता भार्यायामीर्ष्या–मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । तथा शिष्यस्य कुप्यतीत्यादिषु पूर्वोक्तरोदाहरणेषु क्रोधादीनामकोपप्रभवत्वात्सम्प्रदानसंज्ञाभावः । अत्रापि सम्प्रदानसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधितत्वाद्भावे आत्मनेपदादयः कर्त्तरि क्तश्च सिद्ध्यति । मैत्रायेर्ष्यते चैत्रेण मैत्रायेर्षितव्यं मैत्राय दुरीर्ष्यं मैत्रायेर्ष्यितश्चैत्रः । एवमसूय्यते असूयितव्यम्, दूरसूयम्, असूयितश्चैत्रः । चौरस्य द्विषन्नित्यत्र द्विषेः क्रुधाद्यर्थत्वाच्चौरस्य कथं सम्प्रदानसंज्ञा न भवति ? उच्यते–अप्रीत्यर्थत्वात्, अयमर्थः–अत्रानभिनन्दने द्विषिर्वर्त्तते यथौषधं द्वेष्टीति ॥२२॥

नोपसर्गात्क्रुद्द्रुहा ॥ २३ ॥ [सि० २।२।२८]

सोपसर्गाभ्यां क्रुद्द्रुहिभ्यां योगे तु न । मैत्रमभिक्रुध्यति ॥ २३ ॥

"नोप०" यद्यप्येतावनुपसर्गावकर्मकौ तथापि सोपसर्गौ सकर्मकौ भवतः । मैत्रमभिक्रुध्यति मैत्रमभिगम्याभिमुखीकृत्य वा क्रुध्यति इति । अकर्मका अपि हि धातवः सोपसर्गास्सकर्मका भवन्तीत्यत्र "कर्मणि" (२।२।४०) इति द्वितीया ॥ २३ ॥

तादर्थ्ये ॥ २४ ॥ [सि० २।२।५४]

तस्मै इदमिति गम्यमाने चतुर्थी स्यात् । यूपाय दारु । रन्धनाय स्थाली ॥ २४ ॥

"ताद०" किञ्चिद्वस्तु सम्पादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये सम्बन्धविशेषे द्योत्ये गौणान्नाम्नः षष्ठ्यपवादश्चतुर्थी स्यात् । यूपायेति–एवं कुण्डलाय हिरण्यम् । तादर्थ्ये इति कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनेति समवायिकारणनिमित्तकारणसाधारः कार्यकारणभावश्चतुर्थ्या बोध्यते । तत्र यूपादेर्दार्वादिकं समवायिकारणम्, रन्धनादेः स्थाल्यादिकं निमित्तकारणमिति । ननु तस्मै इदं तदर्थमिति सत्यां चतुर्थ्यां समासः, सति च समासे तदुपादाने चतुर्थीविधानमितीतरेतराश्रयादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति । उच्यते । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यर्थशब्दयोगेन चतुर्थीति, यदयं तादर्थ्य इत्यर्थशब्देन समासं शास्ति । षष्ठी समासो वा, सम्बन्धसामान्यविवक्षायामस्त्येव षष्ठी, यथा गुरोरिदं गुर्वर्थमिति ॥ २४ ॥

रुचिक्लृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ २५ ॥ [सि० २।२।५५]

रुच्यर्थैः क्लृप्यर्थैर्धारिणा च योगे यथासङ्ख्यं प्रेयविकारोत्तमर्णेभ्यश्चतुर्थी स्यात् । मैत्राय रोचते धर्मः । मूत्राय कल्पते यवागूः । चैत्राय शतं धारयति ॥ २५ ॥

"रुचि०" रुच्यर्थैरिति रुचिसमानार्थैः, क्लृप्यर्थैरिति क्लृपिसमानार्थैः । यथासङ्ख्यमिति रुच्यर्थैः प्रेये प्रीयमाणे प्रीणातेः "य एचातः" (५।१।२८) इति कर्मणि यप्रत्यये रूपम् । चैत्राय रोचते धर्म इति 'रुचि अभिप्रीत्यां च' । एवं 'ष्वदि आस्वादने' मैत्राय स्वदते दधि तस्याभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेयसम्बन्धादभिलाषार्थस्य रुचेर्ग्रहणादिह न भवति–ममैतद्रोचते, तव कथमिति प्रतिभातीत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैरिति । सम्बन्धविवक्षायामियं षष्ठी अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयता न विवक्षिता,

१ ननु कोपः क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते । प्रथमामनुद्भूतां कोपावस्थां द्वितीयां चोद्भूतां विकृतवाक्कायव्यापारानुमीयमानामाश्रित्य नाकुपितः क्रुध्यतीत्येवुच्यते इत्यदोषः ।

किन्तु क्रियासम्बन्धमात्रं विवक्षितमिति न चतुर्थी ॥ क्लृप्यर्थैर्विकारे—मूत्राय कल्पते यवागूः । अर्थग्रहणात् उच्चाराय सम्पद्यते यत्रान्नम्, तद्विकाररूपमापद्यते इत्यर्थः । गौणादित्येव—मूत्रमिदं सम्पद्यते यवागूः, अत्र विकारविकारिणोरभेदविवक्षया विकारः प्रधानमेवेति मूत्रस्य क्रियान्वयित्वाद्गौणत्वाभावः । मूत्रं सम्पद्यते यवाग्वा इत्यपायविवक्षायां पञ्चमी, यवाग्वा अपगच्छदिदं मूत्रं सम्पद्यतेऽपायविवक्षा ॥ 'धृंङ् स्थाने' ध्रियते तिष्ठति स्वरूपान्न प्रच्यवते इत्यर्थः, ततो ध्रियमाणं प्रयुङ्क्ते इति णिगि धारिस्ततो धारिणा धातुना योगे उत्तमर्णे धनिके चतुर्थी "अधमर्णो ग्राहकः स्यादुत्तमर्णस्तु दायक" इति ।

इत्यादिशब्दानुवर्त्तनात् । **"प्रत्याङः श्रुवार्थिनि"** (२।२।५६) प्रत्याङ्भ्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिनि वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नश्चतुर्थी स्यात् । द्विजाय गां प्रतिशृणोति याचितो[1]ऽयाचितो वा, प्रतिजानीते इत्यर्थः । **"प्रत्यनोर्गृणा ख्यातरि"** (२।२।५७) प्रत्यनुभ्यां परेण गृणातिना योगे आख्यातरि वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नश्चतुर्थी स्यात् । आचार्याय प्रतिगृणाति अनुगृणाति । आचार्योक्तमनुवदति प्रशंसन्तं वा प्रोत्साहयतीत्यर्थः । प्रत्यनोरिति किम् ? आचार्यं गृणाति, आचष्टे इत्यर्थः । अत्राचार्यमाचक्षमाणमिति प्रतिपत्तव्यमन्यथा ह्यङ्गविकलत्वं स्यात् । **"यद्वीक्ष्ये[2] राधीक्षी"** (२।२।५८) वीक्ष्यं सन्देहपूर्वकं निरूपणीयमदृष्टमनिष्टानिष्टफलं पुण्यपापरूपमप्रत्यक्षं पराभिप्रायादिकं वा तस्यैव निरूपणार्हत्वात्, 'राधंच् वृद्धौ' 'ईक्षि दर्शनाङ्कयोः' यत्सम्बन्धिनि वीक्ष्ये राधीक्षी वर्त्तेते तस्मिन्वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सामर्थ्यात् राधीक्षीभ्यामेव युक्ताच्चतुर्थी स्यात् । मैत्राय राध्यति ईक्ष्यते, तस्य दैवं[3] पर्यालोचयतीत्यर्थः । स्त्रीभ्य ईक्ष्यते—स्त्रीणामभिप्रायः कीदृश इति विमतिपूर्वकं निरूपयतीत्यर्थः । "ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम् । सङ्क्रुद्ध्यसि मृषा किं त्वं दिदृक्षुर्मां मृगेक्षणे" इति भट्टिकाव्ये परस्त्रीणामभिप्राये सन्देहादीक्षितव्यं किमेवं करोषि नवेति तद्रक्षसां कुलधर्मो न दोषः । दैवे[4] एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके[5] स्त्रीभ्य ईक्ष्यते इत्यादौ न मन्यन्ते । राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपीच्छन्त्येके[6]—मैत्राय राधयति साधयति पश्यति जानीते इति चोदाहरन्ति । यद्ग्रहणं किम् ? मैत्रस्य शुभाशुभमीक्षते—शुभाशुभान्मा भूत् । मैत्रात्तु राधीक्षीभ्यां योगादेव न भवति । एवं तर्हि मैत्राय राध्यतीत्यादावपि सम्बन्धाभावान्न स्यात् । **न** । तत्र मैत्रेणैव सह राधीक्ष्योः सम्बन्धो विवक्षितोऽन्यस्याश्रुतत्वात् । वीक्ष्यग्रहणं किम् ? मैत्रमीक्षते । राधीक्ष्यर्थविषयाद्विप्रष्टव्यादिच्छत्यन्यैः[7], लाभाय राध्यति राधयति साधयति ईक्षते पश्यति ॥ २५ ॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २६ ॥ [सि० २।२।५९]

उत्पात आकस्मिकं निमित्तम्, तेन ज्ञाप्याच्चतुर्थी स्यात् । वाताय कपिला विद्युत् ॥ २६ ॥

"उत्पा०" वातायेति० "वाताय कपिला विद्युत्, आतपायातिलोहिनी । पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता स्मृता" ॥ १ ॥ उत्पात इति किम् ? राज्ञ इदं च्छत्रमायातं विद्धि राजानम्, नात्र छत्रमुत्पातः, उत्पातो हि नाम शुभाशुभसूचकः कादाचित्को महाभूतपरिणाम उच्यते इति राज्ञश्चतुर्थी न भवति ज्ञाप्यज्ञापकसम्बन्धविवक्षया षष्ठ्यपवादो योगः ।

---

१ अधमर्णाद्याचमाने महत्त्वादयाचमानेऽपि केनाप्याकारादिना स्वाभिलाषं समर्पयति द्विजादौ ओमिति तस्य प्रतिजानीते प्रतिपद्यते अभ्युपगच्छतीत्यर्थः । २ विविधा विशेषानुलम्भादेकस्मिन्वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेकपक्षालम्बनानवधारणात्मिका मतिर्विमतिः संदेहज्ञानमिति यावत्, तत्पूर्वकं निरूपणीयं वीक्ष्यम् विप्रश्नविषय (विचारविषयी दैवादिर्लाभालाभादिर्वा) इति यावत्, तद्विषया क्रियाऽपि पर्यालोचनादिका वीक्ष्यम् । ३ शुभाशुभम् । ४ नत्वभिप्रायादौ । ५ शाकटायनाः । ६ चान्द्राः । राधिरपरपठितश्चुरादिर्णिगन्तो वा, साधिर्णिगन्त । ७ रत्नमतिबौद्धः ।

इत्यादिग्रहणात् **"श्लाघह्नुस्थाशपा प्रयोज्ये"** (२।२।६०) ज्ञाप्ये इत्यनुवर्त्तते, 'श्लाघृङ् कत्थने' 'ह्नुङ् अपनयने' 'ष्ठां गतिनिवृत्तौ' 'शपीं आक्रोशे'। श्लाघादिभिर्युक्ताद् ज्ञाप्ये प्रयोज्येऽर्थे वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नश्चतुर्थी स्यात्। मैत्राय श्लाघते मैत्रायात्मानं परं वा श्लाघ्यं कथयति। मैत्राय ह्नुते ह्नोतव्यं किञ्चिन्मैत्रं ज्ञापयति। मैत्राय तिष्ठते "ज्ञीप्साखेये" (३।३।६४) इत्यात्मनेपदम्, स्थानेनात्मानं ज्ञापयति प्रकाशयतीति। मैत्राय शपते "शप उपलम्भने" (३।३।३५) इत्यात्मनेपदम्। वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन नाहं जाने न मया कृतमिति मैत्रं ज्ञापयति प्रकाशयतीति। श्लाघाह्नवस्थानशपथान् कुर्वाण आत्मानं परं वा ज्ञाप्यं जानन्तं मैत्रं प्रयोजयतीत्यर्थः। प्रयोज्य इति किम्? मैत्रायात्मानं श्लाघते। अत्र ह्यात्मा ज्ञाप्यप्रयोज्यो न भवति, जानातेः कर्मत्वादिति प्रयोज्यग्रहणात्ततो न चतुर्थी। मैत्राय शतं ह्नुते, शते न चतुर्थी। केचित्तु द्विकर्मकोऽयं ज्ञापिस्तत्र केचिद्यस्मै आख्यायते तं ज्ञाप्यं सम्प्रदानत्वेन प्रतिपन्नाः। केचिद्य आख्यायते तमिति। **"तुमोऽर्थे भाववचनात्"** (२।२।६१) क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् वक्ष्यते, तस्यार्थे ये भाववाचिनो घञादयः प्रत्यया विधास्यन्ते तदन्ताद्गौणान्नाम्नः स्वार्थे चतुर्थी स्यात्। पाकाय व्रजति, इज्यायै व्रजति, पक्तुं यष्टुं वा व्रजति इत्यर्थः। तादर्थ्यस्य प्रत्ययेनैवोक्तत्वात् चतुर्थी प्राप्नोतीति शेषषष्ठी, हेतुहेतुमद्भावविवक्षायां वा हेतुतृतीया स्यादिति चतुर्थ्यर्थं वचनम्॥ २६॥

[1]गम्यस्याप्ये॥ २७॥ [सि० २।२।६२]

यस्यार्थो गम्यते न च शब्दः प्रयुज्यते तस्य तुमो व्याप्याच्चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो[2] व्रजति। गम्यस्येति किम्? फलान्याहर्तुं याति॥ २७॥

"गम्य०" गम्यस्य तुम इति किम्? प्रविश पिण्डीं द्वारम्, अत्र भक्षय विधेहीति च गम्यम्। वाक्येषु वाक्यैकदेशा अप्यर्थतः प्रकरणाच्छब्दान्तरसन्निधेर्वाऽवगमिततदर्थाः साधव इष्यन्ते। यदुक्तम्—वाक्येषु वाक्यैकदेशा वर्त्तन्ते पदेषु पदैकदेशाः। तत्र प्रविशेर्गृहं कर्म पिण्ड्यपि। पिण्डीद्वारे तु भक्षयति पिदधात्योर्गम्यमानयोर्व्याप्ये न तु गम्यस्य तुमो व्याप्ये इत्यत्र चतुर्थी न भवतीति॥ २७॥

गतेर्नवाऽनाप्ते॥ २८॥ [सि० २।२।६३]

गतिः पादविहरणम्, तस्या आप्यादप्राप्ताच्चतुर्थी वा स्यात्। ग्रामं ग्रामाय वा याति॥ २८॥

"गते०" गतिशब्दस्य ज्ञानाद्यर्थत्वेऽप्यनाप्त इति वचनात्पादविहरणरूपैव गतिर्गृह्यते, ज्ञानादिव्याप्यस्यानाप्तत्वासम्भवादित्याह—गतिः पादविहरणमिति। एवं स्त्रियं गच्छतीत्यत्र मैथुनार्था गतिः, मनसा मेरुं गच्छतीत्यत्र ज्ञानार्थेत्यत्र चतुर्थी न भवति। आप्ये इत्येव—ग्रामादागच्छति। अनाप्त इति किम्? पन्थानं गच्छति। कृद्योगे तु परत्वात्षष्ठ्येव ग्रामस्य गन्ता। द्वितीयैवेत्यन्ये[3]—ग्रामं गन्ता। चतुर्थी चेत्यन्ये[4]। [5]ग्रामं गन्ता। ग्रामाय गन्तेति॥ २८॥

---

१ शब्दोऽर्थवानप्रयुज्यमानः प्रयुज्यमानश्च भवति। अप्रयुज्यमानश्चार्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानैः प्रतीयमानार्थः स च गम्य इत्युच्यते। २ ननु फलार्थं व्रजतीति तादर्थ्य एव चतुर्थी भविष्यति किमनेन? उच्यते—व्रज्यायाः फलाहरणार्थतायां विश्रामोऽस्ति न तु फलार्थतायामिति न सिद्ध्यति। ३ सारसङ्ग्रहकारादयः, ते हि 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ' इति सूत्रेण कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादो वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते इति पक्षे द्वितीया सिद्धैवेति द्वितीयाग्रहणात् ग्रामं गन्तेत्यत्र कृतः कर्मणि अपवादभूतामपि षष्ठीं बाधित्वा द्वितीयैव भवति, चतुर्थी तु षष्ठ्या परत्वाद्बाध्यत एवेति मन्यन्ते। ४ उत्पल इत्यर्थः। स एवं मन्यते द्वितीयाविषय इयं वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते, द्वितीयायाश्चापवादात्कुतोऽपि विषय उपनत इति तद्विषये पक्षे चतुर्थी प्रवर्तत एव। ५ एतेषु चायमस्मदभिमतः षष्ठीपक्षः, श्रीशेषभट्टारकस्यापि सम्मतः। कथं हि शब्दानां साधुत्वं युक्तिबलेन शक्यं व्यवस्थापयितुम्। यत्र तुल्यपदार्थे उष्णं च तदुदकं च उष्णोदकमिति साधुः, उष्णं च तत्पानीयं

मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकुत्सने ॥ २९ ॥ [सि० २।२।६४]

अत्यन्तं कुत्सायां गम्यायां मन्यतेर्व्याप्याच्चतुर्थी वा स्यात् । न त्वां तृणाय तृणं वा मन्ये । नावादिगणान्नैवम् । न त्वां नावमन्नं काकं शुकं शृगालं वा मन्ये । 'हितसुखाभ्याम्' (२।२।६५) । योगे वा चतुर्थी । चैत्राय चैत्रस्य वा हितं सुखम् । आशिषि गम्यायां हितसुखभद्रायुष्यक्षेमार्थार्थैर्योगे वा चतुर्थी हितं पथ्यं सुखं भद्रं आयुष्यं क्षेमं कल्याणं अर्थः कार्यं जीवेभ्यो जीवानां वा भूयात् ॥ २९ ॥

"मन्य०" अतीव कुत्स्यते येनेत्यतिकुत्सनं तस्मिन्मनतेराप्ये वर्त्तमानाच्चतुर्थी स्यादिति सङ्क्षेपेणाह–अत्यन्तं कुत्सायामित्यादि, न त्वां नावमित्यादि, नौवान्नयोरपि परप्रणेयताऽनायासोच्छेद्यतादिभिरतिकुत्सनत्वं भवति, परमनावादिभ्य इति वचनात् चतुर्थी न भवति । नावादयो लक्ष्यदर्शनेनानुसर्त्तव्याः । मन्यस्येति किम् ? न त्वा तृणं चिन्तयामि । श्यनिर्देशः किम् ? न त्वा तृणं मन्वे । कुत्सन इति किम् ? न त्वां रत्नं मन्ये–रत्नादपि अधिकं मन्ये इति प्रशंसा । कुत्स्यतेऽनेनेति करणाश्रयणं किम् ? न त्वा तृणाय मन्य इति युष्मदो न भवति । अतिग्रहणं किम् ? त्वां तृणं मन्ये, सुवर्णं तृणं मन्ये, अत्र नञ्प्रयोगाभावे साम्यमात्रं प्रतीयते नत्वतिकुत्सा । कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके–तृणाय त्वां मन्ये । तृणाय मन्यमानः सर्वान् । हरिमपि अमंसत तृणाय । न त्वां तृणस्य मन्तेति क्तृयोगे परत्वात्षष्ठी । चतुर्थ्यपीति कश्चित्–न तव बुसाय बुसस्य मन्ता । न चैत्रस्य शुने मन्ता, न चैत्रस्य शुनो मन्तेति । उक्तकर्मणि तु न त्वं बुसो मन्यसे मया । न चैत्रः श्वा मन्यते मयेत्यादौ प्रथमैव । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । **"हित०"** सूत्रं स्पष्टम् । **आशिषीति** अत्र सूत्रम्–**"तद्भद्रायुष्यक्षेमार्थार्थेनाशिषि"** (२।२।६६) इति । तदिति हितसुखयोः परामर्शः, अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते; हिताद्यर्थै युक्ताद्गौणान्नाम्न आशिषि गम्यायां चतुर्थी वा स्यादिति भावः । तथैवोदाहरति–हितं पथ्यमित्यादि । आशिषीति किम् ? आयुष्यं प्राणिनां घृतम् । तत्त्वाख्याने न भवति । भद्रक्षेमार्थयोरन्यत्रैकार्थत्वेऽपि क्षेममापदोऽभावः भद्रं सम्पदुत्कर्षमित्यर्थभेदाद्द्वितयोपादानम्–हितसुखाभ्यां पूर्वेण विकल्पः सिद्ध एव तदर्थार्थं तु तद्ग्रहणम् । तर्हि प्रागप्यर्थग्रहणमस्तु । सत्यम् । तदर्थानामाशिषि नियमार्थमिदम् ।

इत्यादिग्रहणात् **"परिक्रयणे"** (२।२।६७) परिक्रीयते नियतकालं स्वीक्रियते येन तत्परिक्रयणं वेतनादि आदिशब्दाद्भाटकादिपरिग्रहः । तस्मिन् वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नश्चतुर्थी वा स्यात् । शताय परिक्रीतः, शतेन परिक्रीतः । सम्भोगाय परिक्रीतः 'कर्त्ताऽस्मि तव नाप्रिय'मिति **भट्टिकाव्ये** । सम्भोगेन वा शतादिना नियतकालं स्वीकृत इत्यर्थः । परीति किम् ? शतेन क्रीणाति, क्रयस्यात्र करणं न परिक्रयस्य ।

च उष्णपानीयमिति कालदृष्टोऽपशब्दः । तापसश्चायं कुमारश्च तापसकुमार इति साधुः । तापसी चेयं कुमारी च तापसकुमारीति अचिकित्स्योऽपशब्दः । पानीयोष्णं कुमारतापसी चेति साधुरेव ।

१ शुकः पाठितो भणति त्वं तदपि न । २ अथ नावान्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात्कथमतिकुत्सनत्वं गम्यते इत्याह ना० । ३ आदिशब्दादचेतनत्वविनश्वरत्वादिग्रहः । ४ युष्मदोऽपि मन्यव्याप्यत्वात्पक्षे चतुर्थी प्राप्नोतीत्याह कुत्स्य० । ५ कर्मणि कृत इत्यनेन तृणशब्दात् नित्यं षष्ठी, युष्मच्छब्दात्तु वैकत्रद्वयोः इति षष्ठी विकल्पाद्द्वितीया । यदा तु युष्मदग्रतः कर्मणि कृतः इत्यनेन नित्यं षष्ठी तदा तृणशब्दाद्वैकत्र द्वयोरित्यनेन विकल्पेन षष्ठी तद्विकल्पे चतुर्थ्यपि । न तव तृणाय मन्ता तृणस्य मन्ता तृणं मन्तेति वा । ६ अजितयशोवादी दुर्गसिंहश्च कर्मणि कृतः इत्यनेन षष्ठी प्राप्तौ, वैकत्र द्वयोरित्यस्य तु पक्षे सिद्धैव । ७ अत्र विशेषणविशेष्यभावेन उभयमपि कर्म उक्तम् यथा कटः क्रियन्ते वीरणानि । ८ स्वीकारो ह्यात्मसात्करणं परिक्रय उच्यते, परिशब्दोऽत्र प्रत्यासत्तिं द्योतयति यथा परिसहस्रा गाव इति सहस्रप्रत्यासन्नाः सम्भाव्य परिसहस्रा गाव उच्यन्ते; एवमत्रापि क्रयप्रत्यासन्नोऽल्पकालो वेतनादिना स्वीकारः परिक्रय उच्यते । तत्र यत्करणं परिक्रयक्रियायां साधकतमं वेतनादि तत्करणव्युत्पत्त्या परिक्रय उच्यते ।

करणाश्रयणं किम्? शताय परिक्रीतो मासम्–मासाय मा भूत्॥ करणाश्रयणं विना परिक्रीयतेऽस्मिन्निति अनया व्युत्पत्त्या मासादपि स्याच्चतुर्थी ॥ २९ ॥

शक्तार्थवषड्नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाभिः ॥ ३० ॥ [सि० २।२।६८]

एभिर्योगे नित्यं चतुर्थी। शक्तः प्रभुर्वा मल्लो मल्लाय। वषडग्नये। नमोऽर्हद्भ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। स्वाहेन्द्राय। स्वधा पितृभ्यः॥ ३०॥ इति चतुर्थी।

"शक्ता०" शक्तार्थैर्वषडादिभिश्च युक्ताद्गौणान्नाम्नश्चतुर्थी नित्यं स्यादिति–नमोऽर्हद्भ्य इति–तृतीयया योगाभिधानादिह न भवति–नमो जिनानामायतनेभ्यः, नात्र जिनानां नमसा योगः। नमस्यति जिनानित्यत्रापि नमस्यधातुना योगो न नमसा, अत्र हि नमस्यधातुरर्थवान्नतु तदेकदेशो नमःशब्द इति, अथवा पदान्तरसम्बन्धानपेक्षणादन्तरङ्गया कारकविभक्त्या द्वितीययोपपदविभक्तिश्चतुर्थी बहिरङ्गा बाध्यते "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इति न्यायात्। ननु कारकविभक्तिरपि क्रियापदापेक्षिणीति कथमन्तरङ्गा स्यात्? नैष दोषः। कारकस्य क्रियामात्रसम्बन्धाव्यभिचारात्स्वरूपान्तर्गतैव सापेक्षा, विशिष्टक्रियापदश्रयणेन तु सैवापेक्षा नियम्यत इति, उपपदार्थापेक्षा तूपपदविभक्तिः प्रकृतेर्नाम्नो न स्वार्थाभिधेयान्तर्गतेति। नन्वेवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यत्र कथं चतुर्थीत्यत्रोच्यते–नानेनात्र चतुर्थी किन्तु नमस्कृतिलक्षणया क्रिययाभिप्रेयमाणत्वात्सम्प्रदाने चतुर्थी, सम्प्रदानत्वाविवक्षायां स्वयम्भुवं नमस्कृत्येति द्वितीयैवेति ॥ ३० ॥

अपायेऽवधिरपादानम् ॥ ३१ ॥ [सि० २।२।२९]

अपायो विश्लेषः। "पञ्चम्यपादाने" (२।२।६९) वृक्षात्पत्रं पतति। व्याघ्राद्बिभेति। पापाज्जुगुप्सते। धर्मात्प्रमाद्यति। चौराद्रक्षति। शृङ्गाच्छरो जायते। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे। यवेभ्यो गां रक्षति। उपाध्यायादन्तर्धत्ते। वलभ्याः शत्रुञ्जयः षड् योजनानि। माथुराः स्रौघ्नेभ्य आढ्याः॥ ३१॥

"अपा०" अपायो विश्लेष इति विश्लेषो विभागस्तज्जनकक्रियापि। तथा तत्र यदवधिभूतं विश्लेषजनकक्रियानाश्रितं तदपादानं भवति, तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वमिति फलितम्। वृक्षात्पर्णं पततीत्यत्र पर्णस्यापादानत्वनिरासाय सत्यन्तम्। धावतोऽश्वात्पततीत्यत्राश्वस्य क्रियाश्रयत्वाद्विश्लेषहेत्विति। कुड्यात्पततोऽश्वात्पततीत्यत्राश्वस्य कुड्यविश्लेषजनकक्रियाश्रयत्वेऽपि पुरुषविश्लेषजनकक्रियाश्रयत्वादपादानत्वम्। कुड्यस्य चाश्वविश्लेषजनकक्रियानाश्रयत्वादश्वापेक्षयापादानत्वमिति। नन्वेवमुभयकर्मजविभागस्थले विभागस्यैक्यात्तद्विश्लेषजनकक्रियानाश्रयत्वाभावात्परस्परस्मादपसरत इति न स्यादित्यत्रोच्यते—आश्रयभेदेनापसरणं भिद्यते तत्रैकतरस्यापसरणेऽन्यस्यापादानत्वम्, नतु प्रवेशादन्यतरापसरणक्रियानाश्रयत्वादुभयोरपि तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वमस्तीति भवति परस्परस्यापादानत्वमिति। यदपि **श्रीसूरिभिरुक्तम्**–सावधिकं गमनमपायस्तत्र यदवधिभूतमपायेनानधिष्ठितं तदपादानमिति तस्याप्ययमेवाभिप्रायः–गमनशब्देन विश्लेषस्यैवोक्तत्वात् अपायेनानधिष्ठितमिति विश्लेषजनकक्रियानाश्रितमित्यर्थः। यदपि **पाणिनीयसूत्रम्**–"अपाये ध्रुवमपादानमिति" तस्याप्ययमेवाभिप्रायः–अपायविषयं यदविचलत्वं अपाययुक्ते गच्छत्यगमनं पतत्यपतनं तदिह ध्रुवं तच्चाश्वस्य विद्यत एवेति। तथोक्तं **वाक्यप्रदीपे**—

१ क्रीत इति रूपं कर्मणि कर्त्तरि वा, तथाहि परिक्रीयते स्म परिक्रीतः क्तः कर्मतापन्नश्चैत्रः कं मासम्। कोऽर्थः? मासे। यद्वा परिक्रिणीतेस्म कर्तरि क्तः कर्मणोऽविवक्षितत्वात्। अथात्र मासमिति कर्म विद्यते तत्कथं कर्त्तरि क्तः? उच्यते–मासमित्यत्र 'कालाध्वभाव०' इत्यनेनाधारस्य युगपत्कर्मसंज्ञाऽकर्मसंज्ञा च। तत्र कर्मसंज्ञायां कर्मणि द्वितीया अकर्मसंज्ञायां तु कर्त्तरि क्तः।

"अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम् । ध्रुवमेवातदावेशात्तदापादानमुच्यते" ॥ १ ॥
"पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ । तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते" ॥ २ ॥
"उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मके । विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते" ॥ ३ ॥
"मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक् । मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक्" ॥ ४ ॥

अपाये विश्लेषहेतुक्रियायामुदासीनमनाश्रयः अतदावेशात्तत्क्रियानाश्रयत्वादिति । **नन्वेवं** ग्रामान्न गच्छतीत्यत्र कथमपादानसंज्ञा? आगमनलक्षणस्यापायस्याभावात् । **नैष** दोषः । अत्र ह्यपादानसंज्ञायां जातायां पश्चान्निषेधेन सम्बन्धः । अन्यथा निषेधविषयाप्रतिपादनात् । तथाह्यपादानसाधना गमनक्रिया-प्रतिषेद्धुमिष्टा, यदि चादावेव प्रतिषेधसम्बन्धः स्यात् तदा गमनाभावात्तदसम्बन्धस्य ग्रामस्यापादान-संज्ञा न स्यात् । ततश्च या प्रतिषेध्यापादानसाधना गमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषयः सा न शक्यते प्रद-र्शयितुं न चाप्रदर्शितविषयः प्रतिषेधः प्रयुज्यते, तस्मात्पूर्वमपादानसंज्ञा भवति । ग्रामावधिकागमना-भाववान् ग्रामान्न गच्छतीत्यस्यार्थः । तच्च त्रिविधम्; तथोक्तम्—

"निर्दिष्टविषयं किञ्चित् उपात्तविषयं तथा । अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते" ॥ १ ॥

इति **वाक्यप्र**दीपे । यत्र साक्षाद्धातुनाऽपायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तन्निर्दिष्टविषयम्—यथा ग्रामादा-गच्छति, यत्र तु धातुर्धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा बलाहकाद्विद्योतते विद्युत्—अत्र हि निस्सरणाङ्गे विद्योतने विद्युतिर्वर्त्तते । यथा च कुसूलात्पचति—अत्राप्यादानाङ्गे पाके पचति-र्वर्त्तते । यत्र तु क्रियावाचिपदं न श्रूयते केवलं यत्र क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा कुतो भवान् पाटलीपुत्रादत्रागत इति क्रियापदमध्याहृतान्वयः कार्य इति । **"पञ्च०"** वृक्षादित्यादि—विश्लेषश्चात्र कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वकश्चेति द्विविधोऽपि ग्राह्यः; "साधकतमं करणम्" (२।२।२४) इत्यत्र तमग्रहणेन गौणग्रहणस्यापि ज्ञापितत्वात् । तत्र कायसंसर्गपूर्वको यथा—वृक्षात्पत्रं पतति, एवं ग्रामादा-गच्छति, गिरेरवरोहति, सार्थाद्धीनः धावतोऽश्वात्पतति, पततो देवदत्ताद्धावत्यश्वः, मेषान्मेषोऽपसर्पती-त्यादि । बुद्धिसंसर्गपूर्वको यथा—व्याघ्रादित्यादि—व्याघ्रं कष्टहेतुं बुद्ध्या प्राप्य तस्मान्निवर्त्तते इति, एवं पापाज्जुगुप्सते, धर्मात्प्रमाद्यति, अधर्माद्विरमति । निवृत्त्यङ्गेषु जुगुप्साविरामप्रमादेष्वेते धातवो वर्त्तन्ते, अध्ययनात्पराजयते, अध्ययनमसहमानस्ततो निवर्त्तते । चौराद्रक्षतीति मैनं चौरोऽद्राक्षीदिति बुद्ध्या चौरेण संयोज्य ततो निवर्त्तयति । शृङ्गादित्यादि—उक्तं च **गोपुराणे** "गोलोमाज्जायते दूर्वा, गोमयाद्वृश्चिकः स्मृतः । गोदोहाद्गोरसं प्राहुर्गोशृङ्गादुच्यते शरः" ॥ १ ॥ एवं बीजादङ्कुरो जायते । अत्र शृङ्गादिभ्यः शरादयः स्फुटमेव निष्क्रामन्तीति कायसंसर्गपूर्वोऽत्र विश्लेषः । यत्तु नात्यन्ताय निष्क्रामन्ति तत्सन्तत-त्वादन्यान्यप्रादुर्भावाद्वेति । हिमवत इत्यादि—अत्राप्यापः सङ्क्रामन्तीति साक्षात् संसर्गपूर्व एव विश्लेषः, अन्यान्यप्रादुर्भावाच्च नात्यन्तमपक्रामन्तीति । कार्तिक्या इत्यादि—ततः प्रभृति मासे गते भवतीत्यपायः स्फुट एव । यवेभ्य इत्यादि—इहापि गोयवसंसर्गबुद्ध्या समीक्ष्यान्यतरविनाशं पश्यन् यवेभ्यो गां निव-र्त्तयति, एवं कूपादन्धं निषेधयति । उपाध्यायादित्यादि—मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवति इत्य-पायः । वलभ्या इत्यादि—वलभ्या निःसृत्य गतानि योजनानि गतेषु वा तेषु भवतीत्यर्थः, स्फुट एवात्रा-पायः "गते गम्येऽध्वनोन्ते नैकार्थ्ये वा" (२।२।१०७) इति प्रयोगसिद्धिः । माथुरा इत्यादि—

"बुद्ध्या समीहितैकत्वान् पञ्चालान् कुरुभिर्यथा । बुद्ध्या विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते" ॥ १ ॥

चैत्रान्मैत्रः पटुः, अयमस्मादधिक ऊनः । अत्र मैत्रादयः पुंस्त्वादिना संसृष्टाः पटुत्वादिना धर्मेण ततो विभक्ताः प्रतीयन्ते इति । एवं रूपं रसात्पृथक् इत्यादि—सर्वत्राप्यपायविवक्षा, विवक्षान्तरे त्वपादान-

त्वाभावे यथायोगं विभक्तयो भवन्ति । बलाहके विद्योतते बलाहकं विद्योतते । अधर्मं जुगुप्सते । चौरै-र्भयम् । चौरैर्बिभेति चौरेषु बिभेति चौराणां बिभेति । भोजने पराजयते । यवेषु गां वारयति । शृङ्गे शरो जायत इति ॥ ३१ ॥

आङाऽवधौ ॥ ३२ ॥ [सि० २।२।७०]

अवधिर्मर्यादाऽभिविधिश्च । तद्वृत्तेराङा युक्तात्पञ्चमी स्यात् । आ सुघ्नाद्वृष्टो मेघः ॥ ३२ ॥

"आङा०" अवधिर्मर्यादेति–प्रवृत्तस्य यत्र निरोधः सा मर्यादेति । अभिविधिश्चेति । मर्यादाविशेष एवाभिविधिः–मर्यादाभूतमेव यदा क्रियया व्याप्यते तदाभिविधिरिति । आ सुघ्नादिति–सुघ्नमभि-व्याप्य मर्यादीकृत्य वा वृष्टो मेघ इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ॥ ३३ ॥ [सि० २।२।७१]

आभ्यां युक्ताद्वर्जनीयात्पञ्चमी स्यात् । परिसाकेतात् अपसाकेताद्वृष्टो मेघः ॥ ३३ ॥

"पर्य०" । वर्ज्यवर्जकभावसम्बन्धः पर्यपाभ्यां द्योत्यते इति सम्बन्धषष्ठ्यां प्राप्तायामनेन पञ्चमी विधीयते इति । परिसाकेतादिति–अत्र **"वाक्यस्य परिवर्जने"** (७।४।८८) वाक्यस्यावयवो यः परिशब्दो न पदस्य, स वर्जने वर्त्तमानो वा द्विः स्यादिति परि परिसाकेतादित्यपि प्रयोगः स्यादिति ॥३३॥

यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ ३४ ॥ [सि० २।२।७२]

प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोऽर्थः, प्रतिदानं गृहीतस्य विशोधनम्, ते यतः स्यातां ततः प्रतिना योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नो वासुदेवात्प्रति । तिलेभ्यः प्रति माषान् प्रयच्छति । "गम्ययपः कर्माधारे" (२।२।७४) । पञ्चमी । गृहादासनात्प्रेक्षते । गम्येति किम्? प्रासादमारुह्यासने उपविश्य भुङ्क्ते । "स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे" (२।२।७९) । पञ्चमी वा । स्तोकेन स्तोकान्मुक्तः ॥ ३४ ॥

"यतः" । मुख्यो यः कश्चित्कार्ये रूढसम्बन्धो यथार्जुनः शत्रुञ्जये, तस्यासन्निधाने यस्तत्कार्ये तद्बुद्ध्या नियुज्यते स प्रतिनिधिः; तथा चाह–मुख्यसदृशोऽर्थ इति । गृहीतस्य विशोधनमिति–तुल्यजा-तीयेनातुल्यजातीयेन वेति शेषः । ते यतः स्यातामिति–यत इति यच्छब्दान्मुख्यपूर्वदत्तप्रतिपादकाद्गम्यस्य यपः कर्माधार इति कर्मणि पञ्चमी; यमपेक्ष्य प्रतिनिधिप्रतिदाने भवतस्ततः पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नस्य वासुदेवप्रतिनिधित्वाद्वासुदेवात्पञ्चमी । एवमभयः श्रेणिकतः प्रति; "प्रतिना पञ्चम्याः" (७।२।८७) इति तसुः । तिलग्रहणमपेक्ष्य माषाणां प्रतिदानमिति तिलशब्दात्पञ्चमी ।

अत्रादिशब्दग्रहणात् **"आख्यातर्युपयोगे"** (२।२।७३) आख्याता प्रतिपादयिता तत्र वर्त्तमा-नाद्गौणान्नाम्नः पञ्चमी स्यात्, उपयोगे नियमपूर्वकविद्याग्रहणे । नियमो विद्याग्रहणार्थं गुरुशुश्रूषादि शिष्यवृत्तं ख्यायते न तूपयोगमात्रम् ; यत उपयोगमात्रं नटादपि भवत्येतस्मादपि स्यात्पञ्चमी । उपाध्याया-दधीते । उपयोग इति किम्? नटस्य शृणोति, उपयोगविवक्षायां तु नटाद्भारतं शृणोतीति स्यादेव । अपादानत्वेनैव सिद्धे उपयोग एव यथा स्यादिति वचनम् । **"गम्य०"** ननु कुसूलात्पचतीत्यादिव-द्गृहात् प्रेक्षते इत्यादावपि अपक्रमणाङ्गे दर्शने दृशेर्वर्त्तमानत्वादपादानपञ्चम्येव भविष्यति । **सत्यम् ।** किन्तु आरुह्योपविश्येति यबर्थोऽपि गम्यते ततो यबन्ते प्रयुज्यमाने यथा कर्माधिकरणयोर्द्वितीयासप्तम्यौ भवतस्तथा प्रयुज्यमानेऽपि तदर्थप्रतीतेस्ते प्रसज्येयातामिति सूत्रारम्भः । **"स्तोका०"** असत्त्वे इति स्तोकादयः शब्दा यत्र सामानाधिकरण्यमनुभवन्ति स्तोकं धनमिति तद्द्रव्यं सीदन्त्यस्मिन् गुणा इति

व्युत्पत्त्या सत्त्वमुच्यते, सत्त्वादन्यदसत्त्वम् । **ननु** किं तदित्यत्रोच्यते अनन्तपर्यायात्मके हि द्रव्ये प्रवर्त्तमानः शब्दः कञ्चिदेव स्वभावमुपादाय प्रवर्त्तते, तत्र योऽसौ द्रव्ये स्तोकादिकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतः पर्यायभेदः स गुणिद्रव्ये परार्थतया प्रतीयमानत्वादसत्त्वम्, तेनैव वा रूपेणाभिधीयमानं द्रव्यादि, तस्मिन् करणे वर्त्तमानेभ्यः स्तोकादिभ्यः पञ्चमी वा स्यात् । स्तोकेन स्तोकान्मुक्तो राहुणा शशीति, राहुग्रासे शशिनि स्तोकं ग्रस्तं स्तोकमग्रस्तमभूदिति भावः । तथाहुः–"स्तोकस्य चाभिनिर्वृत्तेरनिर्वृत्तेश्च तस्य वा । प्रसिद्धिं करणत्वस्य स्तोकादीनां प्रचक्षते" ॥ १ ॥ इति पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्यात्र करणत्वमन्यथा स्तोकादीनामसत्त्ववाचितया क्रियासाधकतमत्वाभावात् करणत्वं न सम्भवतीति । करण इति किम् ? क्रियाविशेषणान्मा भूत्–स्तोकं चलति । इह च स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद्द्वित्वबहुत्वासम्भवे एकवचनमेव । एवमल्पादल्पेन कृच्छ्रात्कृच्छ्रेण कतिपयात् कतिपयेन मुक्तः । असत्त्व इति किम् ? स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः, कृच्छ्रेण भोजनेन निर्विण्णः । विषादिद्रव्यसामानाधिकरण्यादत्र सत्त्ववृत्तितेति ॥ ३४ ॥

प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिराराादितरैः ॥ ३५ ॥ [सि० २।२।७५]

एभिर्योगेऽपि पञ्चमी । ततः प्रभृति । ग्रीष्मादारभ्य । अन्यो भिन्नो मैत्रात् । ग्रामात्प्राग् वसति । पश्चिमो रामात्कृष्णः । बहिर्ग्रामात् । आराद्ग्रामात् ॥ ३५ ॥ इति पञ्चमी ।

"प्रभृ०" एभिर्योगे इति प्रभृत्यर्थैरन्यार्थैर्दिग्शब्दैर्बहिस्-आरात्-इतर-इत्येतैश्च शब्दैर्युक्ताद्गौणान्नाम्नः पञ्चमी स्यात् । अन्यो भिन्नो मैत्रादिति–एवमर्थान्तरं घटात्, व्यतिरिक्तः पटात्, विलक्षणोऽश्वात्, पृथग् जनात्, हिरुक् गार्ग्यादित्यादि । दिक्शब्देति–दिशि वाचकत्वेन दृष्टाः शब्दा दिक्शब्दाः, न तु दिशि वर्त्तमाना एव, तेन दिग्वाचिशब्दस्य देशे काले आदिशब्दात् भावे द्रव्ये च वृत्तावपि तद्योगे पञ्चमी, एतदर्थमेव शब्दशब्दोऽपादानम् । देशे यथा–पूर्व उज्जयिन्या गोनर्दः । काले यथा–पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्तः । द्रव्ये यथा–पश्चिमो रामात् कृष्णः । ग्रामात् प्राग् वसतीति प्रपूर्वादञ्चतेः क्विप्, ततः प्राची दिग्, प्राङ् देशः कालो वेति । "दिग्शब्दाद्दिग्देशकालेषु प्रथमापञ्चमीसप्तम्याः" (७।२।११३) इति धाप्रत्ययः, "अदूरे एनः" (७।२।१२२) इत्यनेन एनप्रत्ययो वा, तस्य "लुबञ्चेः" (७।२।१२३) इति लुब् । गम्यमानेनापि च दिक्शब्देन भवति, क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यते, परेणेति गम्यते । "कमेर्णिङ्" (३।४।२) (कमेः) परो (णिङ्) भवतीति गम्यते । बहिस्–बहिर्ग्रामात् । आरादित्यव्ययं दूरसमीपयोर्वाचकं तेन तद्योगे पञ्चमी । वक्ष्यमाणस्यारादर्थैरिति विकल्पस्यापवादोऽयम् । आरात् ग्रामात् क्षेत्रम्, आरान्मैत्रात्पीठम् । इतरशब्दो द्वयोरुपलक्षितयोरन्यतरवचनस्तेनान्यार्थाद्भिद्यते–इतरश्चैत्रात्तस्य द्वितीयो मैत्र इत्यर्थः ।

अत्रादिशब्दोपादानात् **"ऋणाद्धेतोः"** (२।२।७६) फलसाधनयोग्यपदार्थो हेतुः, हेतुभूतं यदृणं तद्वाचिनो गौणान्नाम्नः पञ्चमी स्यात्, तृतीयापवादः । शताद्बद्धः । अत्रोत्तमर्णायाधमर्णेन धार्यमाणं शतं बन्धनस्यानाविष्टव्यापारतया निमित्तभूतं लौकिको हेतुस्ततस्तृतीयाबाधिकानेन पञ्चमी विधीयते । हेतोरिति किम् ? शतेन बद्धः, शतेन बन्धितः, शतेन चैत्रेण बन्धितः । आद्ये शतमृणं बन्धकत्वेन विवक्षितमिति कर्त्तरि तृतीया, द्वितीये शतं बन्धकमन्यस्य णिक्क्रियाकर्त्तुः प्रयोज्यत्वेन विवक्षितमिति प्रयोज्यकर्त्तरि तृतीया, तृतीये शतं णिगर्थकर्तृत्वेन विवक्षितं चैत्रस्य प्रकृतकर्त्तुः प्रयोजकमिति

१ अयमर्थः–अन्य इति प्रकृतिविलक्षणोऽर्थ उच्यते, इतर इति दृश्यमानप्रतियोगीत्यर्थः ।

प्रयोजककर्त्तरि तृतीयेति । हेतुर्हि फलसाधनयोग्यतामात्रेण विनापि क्रियां हेतुराख्यायते कर्त्रादिकारकं च न व्यापारमन्तरेणेति कर्त्रादिभ्योऽन्य एव हेतुरत एव "हेतुकर्तृकरणे०" (२।२।४४) इति सूत्रे हेतोः पृथगुपादानमिति । **"गुणादस्त्रियां न वा"** (२।२।७७) द्रव्याश्रितः पर्यायो गुणः, अस्त्रियां वर्त्तमानाद्धेतुभूतगुणवाचिनो गौणान्नाम्नः पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन बद्धः, ज्ञानात् ज्ञानेव वा मुक्तः । गुणादिति किम् ? धनेन कुलम्, द्रव्यं धनं हि न गुणः । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः, विद्यया यशः । अस्त्यत्राग्निर्धूमात् इत्यादौ नाग्न्यादेर्धूमादिर्हेतुः किन्त्वग्निज्ञानस्य । कथं तर्हि पञ्चमी ? "गम्ययपः कर्माधारे" (२।२।७४) इति भविष्यति । धूमादिकमुपलभ्याग्निः प्रतिपत्तव्य इति ह्यत्रार्थः । ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां हेतुलक्षणा तृतीया धूमेनाग्निरिति । **"आराद्थैः"** (२।२।७८) आरादित्यव्ययं दूरान्तिकयोः साधारण्येन वर्त्तते, तत्रेणोभयग्रहणम् । एकप्रयत्नेनानेककार्यसाधकं शास्त्रं तन्त्रम् । ततश्च दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च शब्दैर्युक्ताद्गौणान्नाम्नः पञ्चमी वा स्यात् । दूरं विप्रकृष्टमसन्निहितं ग्रामात् ग्रामस्य । अन्तिकमभ्यासं सन्निकृष्टं सन्निहितं ग्रामात् ग्रामस्य । आराच्छब्दयोगे तु प्रभृत्यादि-सूत्रेण नित्यमेव पञ्चमी । अन्ये त्वसत्त्ववचनैरेवाराद्थैरिच्छन्ति ।

आदिग्रहणात् **"अज्ञाने ज्ञः षष्ठी"** (२।२।८०) ज्ञानादन्यत्रार्थे वर्त्तमानस्य जानातेः सम्बन्धिनि करणे वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः षष्ठी स्यात् । सर्पिषो जानीते, सर्प्पिषा करणभूतेन प्रवर्त्तते इत्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्धातूनां प्रवृत्तौ जानातिरत्र वर्त्तते, तत्र च सर्प्पिरादि प्रवृत्तेः साधकतमं भोजनादिवस्तु-प्रवृत्तेर्विषयः । अत एवाकर्मकत्वात् "ज्ञः" (३।३।८२) इत्यात्मनेपदम्, अथवा सर्पिषि रक्तो विरक्तो वा चित्तभ्रान्त्या सर्वमेवोदकादि सर्प्पिष्ट्या प्रतिपद्यते इत्यर्थः; इति मिथ्याज्ञानवचनोऽत्र जानातिः, मिथ्याज्ञानं चाज्ञानमेव ज्ञानकार्याकरणात् । करण इति किम् ? तैलं सर्प्पिषो जानाति, तैलं सर्प्पीरूपतया प्रतिपद्यते । अत्र तैलात्कर्मणः षष्ठी न स्यात् सर्पिषस्तु करणाद्भवत्येवेति तृतीयापवादो योगः ॥ ३५ ॥

क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम् ॥ ३६ ॥ [सि० २।२।३०]

क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वाऽऽधारोऽधिकरणं स्यात् । तच्च वैषयिकौपश्लेषिकाभिव्यापक-सामीप्यकनैमित्तिकौपचारिकभेदात् षोढा । "सप्तम्यधिकरणे" (२।२।९५) । दिवि देवाः । कटे आस्ते । तिलेषु तैलम् । वटे गावः । युद्धे सन्नह्यते । अङ्गुल्यग्रे करी ॥ ३६ ॥

"क्रिया०" । क्रियाया आश्रयः क्रियासम्पादक इत्यर्थः । स च कर्त्ता कर्म च । क्रिया हि द्विविधा–कर्तृस्था कर्तृसमवायिनी, कर्मस्था कर्मसमवायिनी च, ते तां जनयन्ती तस्या आश्रयौ भवतः; एतन्मनसिकृत्याह–क्रियाश्रयस्येत्यादि–नन्वेवं क्रियाश्रयोपकारकत्वात्क्रियासिद्धौ व्यापाराभावात्कथमस्य कारकत्वमित्यत्रोच्यते–क्रियाश्रयधारणद्वारेण क्रियासिद्धावुपकारकत्वात्कारकत्वमित्यदोषः । तदुक्तं **वाक्यप्रदीपे**—

"कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत्क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥ १ ॥

अधिकरणभेदानाह–तच्चेत्यादि–षोढेति सम्बन्धः । **वै**षयिकेति अनन्यत्रभावो विषयः–यथा चक्षुरादीनां रूपादयो विषयास्ते हि तत्र विसीयन्ते नान्यत्र भवन्तीत्युच्यन्ते । एवं देवादीनामन्यत्र प्रवृत्त्य-भावाद्दिवादयो विषया इति । 'तस्मै योगादेः शक्ते' (६।४।९४) इति इकणि वैषयिकम्, यथा दिवि देवा इति, एवं नभसि तारकाः, भुवि मनुष्याः, पाताले पन्नगाः । **औ**पश्लेषिकेति एकदेशमात्रसंयोग उपश्लेषः "अध्यात्मादिभ्य०" (६।३।७८) इतीकण्, यथा कटे आस्ते इति कटादेर्देवदत्तादिनैकदेशमात्रसंयोगस्य सम्भवात्, एवं पर्यङ्के शेते, शाखायां लम्बते, गृहे तिष्ठतीत्यादि । **अ**भिव्यापकेति यस्याधेयेन

समस्तावयवसम्बन्धस्तदभिव्यापकं तद्ध्याधेयेनाभिव्याप्यते आधेयं वाभिव्याप्नोतीति कृद् "बहुलम्" (५।१।२) इति कर्मण्यपि णः, यथा तिलेषु तैलमिति अत्र तिलाद्यवयवास्तैलाद्यवयवान् व्याप्यावतिष्ठन्ते, तैलाद्यवयवा वा तिलाद्यवयवानिति । एवं दध्नि सर्पिः । एतत्समवायसम्बन्धेन अनवयवस्यापि गोत्वादेर्व्यक्त्याद्यवयवान् व्याप्यावतिष्ठमानस्य व्यक्त्यादिरभिव्यापक एवाधारः—यथा गवि गोत्वम्, तन्तुषु पट इति । क्रियाया अश्रवणेऽपि प्रतीयमानक्रियापेक्ष आधारः यदाधेयसन्निधिमात्रेण क्रियाहेतुस्तत्सामीप्यकमिति—'भेषजादित्वात् स्वार्थिकष्ट्यण्' ततो 'यावादित्वात्कः' यथा वटे गाव इति । एवं गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्, बन्धुष्वास्ते, गुरौ वसति । नन्वाश्रय आधारो भवति, आश्रयश्च संयोगसमवायाभ्याम्, नचावस्थितिक्रियाश्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्तः । नैष दोषः । यदायत्ता हि यस्य स्थितिः स विनापि संयोगसमवायौ तस्याश्रयो भवति—यथा राजाधीन-स्थितिकः पुरुषो विनापि संयोगसमवायौ तस्याश्रयो पुरुष इति लोके व्यपदिश्यते । घोषादीनां च गङ्गाद्यायत्ता स्थितिरिति सन्निधिमात्रेण क्रियाहेतुत्वाद्युक्तो गवादीनामाश्रयभावः, यदा तु गङ्गादिशब्देन तत्समीपदेश एवाभिधीयते तदौपश्लेषिक एवाधार इति । नैमित्तिकेति—'विनयादित्वात्स्वार्थिक इकण्' यथा युद्धे सन्नह्यत इति—अत्र हि सन्नहनादीनां युद्धादिनिमित्तादीनां विवक्षितत्वात् युद्धादिर्नैमित्तिक आधारो भवति, सन्नहनादयस्त्वन्यत्रापि केनचिन्निमित्तेन भवन्तीति न युद्धादिर्वैषयिकः । एवं तु शरदि पुष्यन्ति सप्तच्छदाः, आतपे क्लाम्यति, छायायामाश्वसितीति ॥ अन्यत्रावस्थितस्यान्यत्राध्यारोप उपचारस्तत्र भव औपचारिकमध्यात्मादित्वादिकण् यथाङ्गुल्यग्रे करीति—अत्र ह्यन्यत्र स्थितस्य करिणः केनापि प्रयो-जनादिनाङ्गुल्यग्रे आरोप्यमाणस्याङ्गुल्यग्रमौपश्लेषिकाद्भिन्न औपचारिक आधारो भवति । यदा त्वङ्गुल्य-ग्रादिशब्देनोपचारादाधेयाधिष्ठितो देश एवोच्यते तदा औपश्लेषिक एवाधारोऽत एवाहुः—

"आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः कटाकाशतिलादिषु । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव च" ॥ १ ॥

"सप्तम्य०" सोदाहरणं सूत्रं स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः ॥ ३७ ॥ [सि० २।२।९८]

एभिर्योगे वा सप्तमी । गवां गोषु वा स्वामी ॥ ३७ ॥

"स्वामी०" । एभिरिति—एभिर्युक्ताद्गौणान्नाम्नः सप्तमी वा स्यात्, पक्षे शेषषष्ठी । गवां गोषु वा स्वामीति—एवमीश्वरोऽधिपतिः । पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगेन न भवति—ग्रामस्य पतिरित्यादौ षष्ठ्येव स्यात् । एवं साक्षी प्रतिभूरित्यत्रापि—"प्रतिभूभिः श्रियः कीर्तौ धर्मे नीतेश्च साक्षिभिः । शुक्रे गुरोः प्रसूतैर्नु दायादैर्न्वायि मन्त्रिभिः" (३ सर्गे ६१ वृत्त) इति द्व्याश्रयकाव्ये । मन्त्रिभिरायि आगतं नृपान्तिके महामतित्वात् शुक्रे गुरोः प्रसूतैर्नु अपत्यैरिव, यद्वा शुक्रस्य गुरोश्च दायादैरिव गोत्रिभिरि-वेत्यर्थः । सप्तम्यर्थं वचनम् ।

इत्यादिशब्दाश्रयणात् **"नवा सुजर्थैः काले"** (२।२।९६) सुचोऽर्थो वारलक्षणो येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्तात्कालेऽधिकरणे च वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सप्तमी वा स्यात् । द्विरह्नि भुङ्क्ते पक्षे "शेषे" (२।२।८१) इति षष्ठी द्विरह्नो भुङ्क्ते । एवं मासे मासस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, बहुधाह्नि बहुधाह्नो भुङ्क्ते । सुजर्थैरिति किम् ? अह्नि भुङ्क्ते, रात्रौ शेते । बहुव्रीह्याश्रयणात् सुजर्थप्रत्ययस्यार्थप्रयोगे तदर्थे गम्यमाने च मा भूत् । काल इति किम् ? द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते । आधारत्वाविवक्षायां षष्ठीसिद्धौ नियमार्थमिदम्, तेन सुजर्थैरेव योगे काले एव वा सप्तमीत्युभयथापि नियमात्प्रत्युदाहरणेष्वाधारसप्तम्येव न तु शेष-

षष्ठीति । "**कुशलायुक्तेनासेवायाम्**" (२।२।९७) कुशलो निपुणः, आयुक्तो व्यापृतः; आभ्यां युक्तादाधारे वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सप्तमी वा स्यात्, आसेवायां तात्पर्ये गम्ये । कुशलो विद्याग्रहणे, आयुक्तस्तपश्चरणे; पक्षेऽधिकरणाविवक्षायां शेषषष्ठी–कुशलो विद्याग्रहणस्य, आयुक्तस्तपश्चरणस्य । आसेवायामिति किम् ? कुशलश्चित्रकर्मणि न च करोति । आयुक्तो गौः शकटे, आकृष्य युक्त इत्यर्थः । आधारत्वाविवक्षयैव विकल्पे सिद्धेऽनासेवायामाधाराविवक्षानिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥ ३७ ॥

व्याप्ये क्तेनः ॥ ३८ ॥ [सि० २।२।९९]

क्ताद् य इन् तदन्तस्य व्याप्ये सप्तमी नित्यं स्यात् । व्याकरणेऽधीती ॥ ३८ ॥

"व्याप्ये०" । क्ताद्य इन् इत्यादि–"**इष्टादेः**" (७।१।१६८) इति सूत्रेण इष्टादिभ्यः क्तान्तेभ्य इष्टमनेनेत्याद्यर्थे तद्धित इन् वक्ष्यते । तदन्तस्य व्याप्ये वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सप्तमी स्यात् । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्यावस्थायामभिधायाधीतीति वृत्त्योक्तेनाभिहिते कर्मणि प्रत्ययार्थकर्तृकेण[1] च धात्वर्थेन व्याप्यमाने कृतपूर्वी कटमित्यादाविव द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादः सप्तमी । यथैव ह्यधीती व्याकरणे इत्यत्र कर्मणोऽधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात्सप्तमी प्रवर्त्तते तथा कृतपूर्वी कटमित्यादावपि प्रवर्त्तेत तस्माद्विवक्षाप्रविभागायेदं सूत्रम् । क्तेनः कर्मविषयेऽधिकरणविवक्षा नान्यत्रेति ॥ ३८ ॥

तद्युक्ते हेतौ ॥ ३९ ॥ [सि० २।२।१००]

कर्मसम्बन्धाद्धेतौ सप्तमी स्यात् ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः ॥५॥

असाधुसाधुनिपुणयोगेऽपि सप्तमी । असाधुर्मैत्रो मातरि । प्रत्यादियोगे तु न । साधुर्मैत्रो मातरं प्रति ॥ ३९ ॥

"तद्यु०" । हेतोरिति हेतुर्निमित्तकारणमिति । चर्मणीत्यादि, द्वीपिनमिति–अभिधानद्वीपिनाविति प्रतिपदपाठात्पुंक्लीबलिङ्गोऽकारान्तः । सीम्नि पुष्पलक इति–पुष्पं लातीति डेऽज्ञाताद्यर्थविवक्षायां के च पुष्पलकः[2] अत्रानेकार्थः पुष्पलकस्तु कीलके कृपणे गन्धमृगे च । सीमाशब्दस्तु मर्यादायामाम्नायान्मुष्केऽपि ततोऽस्य द्विधा व्याख्या–वृषणार्थमरण्यबिडालो हतो मर्यादार्थं कीलको वेति हेतुतृतीयापवादोऽयम् । असाध्वित्यादिना सूत्रद्वयस्य सङ्क्षेपमाह–तथाहि–"**अप्रत्यादावसाधुना**" (२।२।१०१) असाधुशब्दयुक्ताद्गौणान्नाम्नः प्रत्यादिप्रयोगाभावे सप्तमी स्यात् । प्रति-परि-अनु एते प्रत्यादयः । "**साधुना**" (२।२।१०२) अत्रापि तथैव, परं निपुणशब्दयोगेऽर्चायां विधानादनर्चायां तु व्यावृत्तेस्तत्त्वाख्यानेऽयं विधिरिति । "**निपुणेन चार्चायाम्**" (२।२।१०३) अर्चायां गम्यायां निपुणेन साधुना च योगे सप्तमी । षष्ठ्यपवादः । मातरि निपुणः, साधुः । अर्चायामिति किम् ? निपुणः साधुर्मैत्रो मातुः–मातैवेनं निपुणं साधुं मन्यते इत्यर्थः । अप्रत्यादावित्येव–निपुणः साधुर्मैत्रो मातरं प्रतीत्यादि ।

आदिशब्दाकर्षणात् "**स्वेशेऽधिना**" (२।२।१०४) स्वे ईशितव्ये ईशे च स्वामिनि वर्त्तमानादधिना युक्तात्सप्तमी । अधिः स्वस्वामिसम्बन्धं द्योतयति । तत्र स्वस्वामिवाचिनोर्यद्गौणत्वेन विवक्ष्यते ततः स्यादिति अधिमगधेषु श्रेणिकः अधिश्रेणिके मगधाः । षष्ठ्यपवादोऽयम् । "**उपेनाधिकिनि**"

---

१ प्रत्ययस्यार्थः प्रत्ययार्थः, प्रत्ययार्थः कर्ता यस्य धात्वर्थस्य अध्ययनलक्षणस्य स तथा । तेन व्याप्यमाने व्याकरण इति ।
२ पुष्पलकः क्षुद्रग्रामधिपतिः स हतो मारितः । अथवा पुष्पलकः सीमादिकार्थं निक्षिप्तः पाषाणः स केनचित्सीमास्वामिना हतो भिन्नः इति मुद्रितलघुन्यासटिप्पणिकायाम् ।

(२।२।१०५) उपेन युक्तादधिकिनि वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सप्तमी स्यात् । उपोऽधिकाधिकिसम्बन्धं द्योतयति । उप खार्यां द्रोणः—द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थः; उप निष्के कार्षापणः—कार्षापणोऽधिको[1] निष्कस्येत्यर्थः । उपेनेति किम् ? खार्या उपरि द्रोणः । अधिकिनीति किम् ? अधिके मा भूत् तेन उप द्रोणे खारीति न भवति ॥ ३९ ॥

यद्भावो भावलक्षणम् ॥ ४० ॥ [सि० २।२।१०६]

भावः क्रिया । यस्य भावेनान्यो भावो लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥४०॥

"यद्भावो०" । प्रसिद्धं लक्षणं अप्रसिद्धं लक्ष्यम् । भावः क्रियेत्यादि—यस्य क्रिययाऽन्या क्रिया लक्ष्यते तस्मिन्क्रियावति वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः दुग्धास्वागतः—अत्र कालतः प्रसिद्धेन गवां दोहेन भावेनान्यस्य गमनमप्रसिद्धं लक्ष्यते । गम्यमानेनापि भावेन भावलक्षणे भवति—आम्रेषु कलायमात्रेषु गतः, अत्र जातेष्विति गम्यते । यत्र क्रियार्हाणां कारकत्वं तद्विपर्ययो वा यथा ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते, ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुञ्जते । यत्र च क्रियानर्हाणामकारकत्वं तद्विपर्ययो वा यथा दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते, दरिद्रेषु भुञ्जानेषु ऋद्धा आसते तत्राप्यनेनैव सप्तमी । तच्च भावलक्षणं त्रिविधं भवति—तथाहुः—'कर्त्तरि कर्मणि भावे त्रिविधं तद्भावलक्षणं तत्र । साप्यानाप्यकधातुप्रयोगतः कर्त्तरि द्विविधम् ॥ १ ॥ यथा सूर्योऽभ्युदयं गच्छति कजेषु विकसत्सु रात्रिरगात् इति कर्त्तरि भावलक्षणम्; रविणा क्रियमाणेऽहन्युदीयमाने च याति तमः इति कर्मणि कर्त्तरि भावे च भावलक्षणमित्यादि **वाक्यप्रकाशतो** ज्ञेयम् । भाव इति किम् ? यो जटाभिस्तस्य भोजनम् अत्र न भावो भावस्य लक्षणमपि तु द्रव्यम् । भावलक्षणमिति किम् ? यस्य भोजनं स मैत्रः । तृतीयापवादो योग इत्थम्भूतलक्षणेऽर्थे ।

आदिशब्दोपादानात् "**गते गम्येऽध्वनोऽन्ते नैकार्थ्यं वा**" (२।२।१०७) कुतश्चिदवधेर्विवक्षितस्याध्वनोऽवसानमन्तः, यद्भावो भावलक्षणम्, तस्याध्वनोऽध्ववाचिशब्दस्याध्वन ऽन्तेऽन्तवाचिना सहैक्यार्थं सामानाधिकरण्यं वा भवति । तद्विभक्तिस्तस्माद्भवतीत्यर्थः । गते गतशब्दे गम्ये, शब्दतोऽप्रयुज्यमाने इत्यर्थः । गवीधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि—चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यर्थः; पक्षे पूर्वेण सप्तमी—गवीधुमतः साङ्काश्यं चतुर्षु योजनेषु । ननु अन्तेन सहाध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? सत्यम् । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे इत्यादि कालेऽप्येवं मा भूदिति वचनम् ॥ ४० ॥

षष्ठी वाऽनादरे ॥ ४१ ॥ [सि० २।२।१०८]

अनादरे गम्ये भावलक्षणा षष्ठी वा, पक्षे सप्तमी । रुदतो लोकस्य रुदति लोके वा प्रव्रजितः ॥४१॥

"षष्ठी०" । रुदतीत्यादि—रुदन्तं लोकमनादृत्य प्राव्राजीदित्यर्थः ॥ ४१ ॥

सप्तमी चाविभागे निर्धारणे ॥ ४२ ॥ [सि० २।२।१०९]

समुदायादेकदेशस्य जातिगुणक्रियादिभिरविभागे पृथक्करणेऽप्येवम् । क्षत्रियो नृणां नृषु वा शूरः । कृष्णा गवां गोषु वा बहुक्षीरा ॥ ४२ ॥ इति सप्तमी ।

"सप्त०" जात्यादिभिः समुदायात् बुद्ध्या पृथक्करणमेव निर्द्धारणम्, तस्मिन् गम्ये षष्ठीति सप्तमी च स्यात् । अविभागे इति—निर्द्धार्यमाणस्यैकदेशस्य समुदायेन सह कथञ्चिदैक्ये शब्दाद्गम्यमाने । क्षत्रिय

१ साधुर्भृत्यो राज्ञ इतिवन्निष्कस्याधिकशब्देन सह सम्बन्धाभावात् 'अधिकेन भूयसस्ते' इत्यनेन निष्कशब्दान्न पञ्चमी ।

इति जात्या निर्द्धारणम्, कृष्णेति गुणेन, धावन्तो गच्छतां गच्छत्सु वा शीघ्रतमा इति क्रियानिर्द्धारणम्। अविभागे इति किम्? पञ्चालाः कुरुभ्यः सम्पन्नतमाः, मैत्रश्चैत्रात्पटुः—अत्र हि शब्दाद्भेद एव प्रतीयते नतु कथञ्चिदैक्यमिति न भवति । पञ्चमीबाधनार्थं वचनम् । अन्ये तामपीच्छन्ति—गोभ्यः कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा ।

अत्रादिशब्दात् **"क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च"** (२।२।११०) क्रिययोर्मध्ये योऽध्वा कालश्च तस्मिन् वर्त्तमानाद्गौणान्नाम्नः पञ्चमी सप्तमी च स्यात् । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशात् क्रोशे वा लक्ष्यं विध्यति । इह धानुष्कावस्थानमिषुमोक्षो वैका क्रिया, लक्ष्यव्यधश्च द्वितीया, तन्मध्ये क्रोशोऽध्वा। अद्य भुक्त्वा मुनिर्द्व्यहात् भोक्ता; अत्र द्वयोर्भुक्तिक्रिययोर्मध्ये द्व्यहः काल इति । **"अधिकेन भूयसस्ते"** (२।२।१११) अधिरूढ इत्यर्थेऽधिकशब्दो निपात्यते । अधिरूढ इति च कर्त्तरि कर्मणि वा क्तो भवति । तत्र यदा कर्त्तरि तदाधिक इत्यनेनाल्पीयानित्युच्यते, यदा तु कर्मणि तदा भूयान् । तत्र सामर्थ्यादल्पीयोवाचिनाधिकशब्देन युक्ताद्भूयोवाचिनो गौणान्नाम्नः सप्तमीपञ्चम्यौ स्याताम् । अधिको द्रोणः खार्यां खार्या वा ॥ ४२ ॥

शेषे ॥ ४३ ॥ [सि० २।२।८१]

कर्मादिभ्योऽन्यस्तदविवक्षारूपः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । उपगोरपत्यम् । माषाणामश्नीयात् ॥ ४३ ॥

शेषे शेषशब्दस्यानेकार्थत्वेऽपि केषुचिदर्थेषूपयुक्तेषु केषुचिच्चानुपयुक्तेषु उपादीयमानोऽत्र शेषशब्द उपयुक्तेतरवचन इत्याह—कर्मादिभ्योऽन्य इति । ते हि पूर्वमुपयुक्तानामार्थस्य प्रथमाविषयत्वात्कर्मादिभ्योऽन्यः सम्बन्ध एवावतिष्ठते इति सामर्थ्यात्सम्बन्धे षष्ठी भवति । **ननु** यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलमिति नामार्थादप्रच्युतं विशेष्यसामानाधिकरण्येन प्रयोगात्ततोऽतः प्रथमैव भवति न षष्ठी विशेषणविशेष्यभावस्य नामार्थव्यतिरिक्तस्य वाक्यार्थत्वात् । यदुक्तं **भाष्ये**—आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वादिति, तथा राज्ञः पुरुष इत्यत्रापि सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वात्षष्ठी न प्राप्नोति? **नैष दोषः** । राज्ञ इति पदं सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वात्प्रयुक्तमित्यतः सम्बन्धे षष्ठी कृता, एतच्च भाष्य एव निर्णीतमित्यास्ताम् । स्यादेतदत्र द्वयीकल्पना नामार्थस्य कदाचित्प्रयोक्तृविवक्षया क्रियाभिसम्बन्धः कदाचित्स्वनिष्ठ एव यदा तावत्क्रियाभिसम्बन्धस्तदा कर्मादिशक्तीनां सम्भवो यथा वृक्षं पश्येत्यत्र दृशिक्रियाविशेषात्कर्मत्वम्, यदा तु स्वनिष्ठोऽव्यतिरिक्त एव तदा प्रथमाया विषयो नचापरो नामार्थोऽस्ति यत्र कर्मादिविशेषव्यतिरिक्तत्वमिति कः शेषो नामावतिष्ठते यत्रेयं षष्ठी स्यादित्याशङ्क्याह—क्रियाकारकपूर्वक इति । अयमर्थो राज्ञः पुरुष इत्यत्र योऽयं राजपुरुषयोः सम्बन्धो नायं कारणान्तरनैरपेक्ष्येणाकस्मादुपजायते, अपि त्वन्तर्भूतक्रियाकारकसम्बन्धनिबन्धनः; यतः पुरुषो योगक्षेमकामो राजानमुपसर्प्पति, राजापि तमभिलषितधनदानादिना बिभर्त्ति; क्रियान्तरं वा प्रकल्पनीयम्; ततो राज्ञोऽसौ सम्बन्धीभूत इति राज्ञः पुरुष इति । एतच्चानैकान्तिकमित्याह—तदविवक्षारूप इति कर्माद्यविवक्षारूप इत्यर्थः; यतः कारकाणां कर्मादीनामविवक्षायां सामान्यकारकविवक्षायामेव केवलायां सम्बन्धस्य प्रादुर्भावात्कारकशेष इति व्यवह्रियते; अत एव द्विविधोऽसौ—श्रूयमाणक्रियोऽश्रूयमाणक्रियश्च; तथाहुः—

"सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः, क्रियाकारकपूर्वकः । श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते" ॥ १ ॥

तत्र राज्ञः पुरुष इत्यादौ क्रियाकारकपूर्वकोऽश्रूयमाणक्रियः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः । माषाणामश्नीयादित्यादौ तु श्रूयमाणक्रियो यतोऽत्र सदपि कर्मत्वाद्यविवक्षितत्वाद्विशेषणविशेष्यभाव एव प्रतिपाद्यते

माषसम्बन्ध्यशनमिति । **ननु** क्रियामन्तरेण सम्बन्धाभावात्तत्र च कर्मादेरवश्यम्भावात्कथं तस्याविवक्षेत्युच्यते–भवति सतोऽप्यविवक्षा–यथानुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति । **ननु** सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वाद्राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजशब्दादुत्पन्नया षष्ठ्या राजगतपुरुषसम्बन्धाभिधानेऽपि पुरुषगतराजसम्बन्धाभिधानाय पुरुषशब्दादपि षष्ठी प्राप्नोतीत्यत्रोच्यते–द्विष्ठोऽप्यसावेक एव, य एव राज्ञि स एव पुरुषे नान्यस्तेनैकेन द्वावपि सम्बद्धौ; एकत्वाच्च तस्यैकस्मादेवोत्पन्नया षष्ठ्या प्रत्यायितत्वाद्द्वितीयसम्बन्धिनो नार्हति भवितुम्, तत्रापि गौणाधिकारादप्रधानादेव भवति । **नन्वेवं** प्रधानात्प्रतिषिद्धायामपि षष्ठ्यां नामार्थमात्रे विधीयमानायाः प्रथमाया अप्राप्तिः सम्बन्धस्याधिकस्य भावात् । **नैष दोषः**, अधिकस्य वाक्यार्थत्वमित्युक्तत्वात् । राज्ञ इति–सन्निधाने हि पुरुषस्य सम्बन्धित्वं प्रतीयते नान्यथा । पुरुषनाम तु स्वार्थमात्रे वर्त्तते इति प्रथमा सिद्ध्यति । **यद्येवं** पुरुषशब्दसन्निधाने एव राज्ञः पुरुषसम्बन्धित्वावगमो नान्यथाऽतो राजशब्दादपि प्रथमाप्रसङ्गः । **नैष दोषः** । राज्ञ इति केवले पदे उच्चार्यमाणे सम्बन्धित्वमनियतप्रतियोगि-राज्ञो गम्यते यस्माद्राजा परोपकारित्वेन विवक्षितो न स्वनिष्ठत्वेन पुरुषस्य तु राजशब्दमन्तरेण सोऽर्थो न प्रतीयते इति वाक्यार्थः । अस्त्यत्र कारणं राजशब्दाद्धि भवान् षष्ठीमुच्चारयति अत्र हि पुरुषशब्दादुच्चारितात् गम्यते सोऽर्थ इति । **ननु** नैतेनैवं भवितव्यम्–नहि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियेते; किं तर्हि ? अर्थस्य प्रतिपादयिषाविषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ, तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात्षष्ठी भवति पुरुषस्य तूपकार्यत्वेन स्वनिष्ठतया विवक्षितत्वात्प्रथमा । तदुक्तं **हरिणा**—

"द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते । तत्राभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते" ॥ १ ॥

तस्मादर्थरूपमेवैतदेवंजातीयकं येनात्रान्तरेणापि पुरुषशब्दप्रयोगं राजनि सोऽर्थो गम्यत इति । किं पुनस्तत्स्वामित्वम् ? समासकृत्तद्धितेषु भावप्रत्ययेन सम्बन्धाभिधानमिति वचनात् स्वस्वामिभावसम्बन्ध इत्यर्थः । स्वामित्वं च स्वसापेक्षमित्यनियतं स्वमपेक्ष्य राज्ञः सम्बन्धाश्रयः षष्ठ्युत्पद्यते पुरुषशब्दसन्निधौ तु स्वविशेषप्रतिपत्तिरिति । **ननु** यथैवं राजनि स्वकृतं स्वामित्वमेवं पुरुषेऽपि राजकृतं स्वत्वमिति ततः षष्ठी प्राप्नोति ? **उच्यते**–राज्ञः पुरुष इति गुणप्रधानभावेनार्थद्वयमवस्थितम्, तत्र सम्बन्धो गुणे पदं न्यस्य द्विष्ठत्वात् प्रधानमपि स्पृशति, गुणश्च प्रधानोपकाराय प्रवृत्तौ रूपान्तरमाश्रयति, प्रधानं तु स्वनिष्ठमेव न रूपान्तरं भजत इति । प्राधान्यं तु पुरुषादेरुत्तरपदस्य क्रियापदसामानाधिकरण्यात्, यदा तु पुरुषो राजानं प्रति गुणत्वं प्रतिपद्यते तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । राज्ञः पुरुषस्य कम्बल इत्यत्र तु राजापेक्षया पुरुषस्य प्राधान्येऽपि कम्बलापेक्षया गौणत्वाद्भवति । **स्वस्वामिभावादिरित्यत्रादिशब्दात्** उपगोरपत्यमित्यत्र जन्यजनकभावः सम्बन्धः, पशोः पाद इत्यत्रावयवावयविभावः, वृक्षस्य शाखा इत्यत्राधाराधेयभावः, क्षीरस्य विकार इति प्रकृतिविकृतिभावः, गवां समूह इति समूहसमूहिभावः, कुम्भस्य समीपमिति समीपसमीपिभावः, पृथिव्याः स्वामीति पाल्यपालकभावः, माषाणामश्नीयादिति भोज्यभोजकभावः, सुभाषितस्य शिक्षते इति शिक्षणशिक्षणीयभावः, नटस्य शृणोतीति श्रवणश्रवणावधिभावः, वृक्षस्य पर्णं पततीति पतनपतनावधिभावः, न ते सुखस्य जानते इति ज्ञानज्ञेयभावः, अन्नस्य नो देहीति दानदेयभावः, अक्षाणां दीव्यतीति देवनद्यूतभावः, घ्नतः पृष्ठं ददातीति प्रहार्यप्रहरणभावः, महतां विभाषते इति विभाष्यविभाषणभावसम्बन्ध इत्यादयः सम्बन्धाः स्वयं ज्ञेयाः । प्रथमापवादोऽयं योगः ॥ ४३ ॥

कर्मणि कृतः कर्तरि च ॥ ४४ ॥

कृदन्तस्य कर्तृकर्मणोः षष्ठी स्यात् । अपां स्रष्टा । भवत *आसिका । क्वचिद्वा । विचित्रा सूत्राणां कृतिराचार्यस्याचार्येण वा ॥ ४४ ॥

"**कर्मणि कृतः**" (२।२।८३) *"**कर्तरि**" (२।२।८६)। सूत्रद्वयं स्पष्टम् । प्रथमसूत्रे अपां स्रष्टेति–एवं पुरां भेत्ता, वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्त्ता, उदकस्य पिबः, ग्रामस्य गमनम्, गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शस्त्रेण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्यापि कर्मत्वाभावान्न भवति–स्तोकं पचति । कृत इति किम् ? कटं करोति, कृतपूर्वीकटमित्यादि, त्यादितद्धितयोः कर्मणि मा भूत् । कथमर्थस्य त्यागीति, विषयाणां जयी, वीराणां प्रसविनीति ? एषां मत्त्वर्थीयेनन्तानां कर्मणि कथं षष्ठीत्याक्षेपः । परिहारस्तु अत्र ताच्छीलिकयोर्घिनणिनोः कर्मेति भवतीति द्वितीयापवादोऽयम् । **क्वचिद्वेति "द्विषो वाऽतृशः"** (२।२।८४) अतृश्प्रत्ययान्तस्य द्विषः कर्मणि षष्ठी वा स्यात् । चौरस्य चौरं द्विषन् । तृन्नादिसूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् । "**वैकत्र द्वयोः**" (२।२।८५) द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्र षष्ठी वा स्यात् । अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता स्रुघ्नम् । अजाया नेता स्रुघ्नस्य । अथवा अजां नेता स्रुघ्नस्य । अजाया नेता स्रुघ्नस्य । पयसो दोहको गाम् । पयसो दोहको गोः । यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रधाने विकल्पमिच्छन्ति । उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये । ***द्वितीयसूत्रे** कृदन्तस्य कर्त्तरि षष्ठी स्यात्, तृतीयापवादः । *आसिकेति–आसितुं पर्याय आसिका । एवं भवतः शायिका, भवतोऽग्रगामिका । शयितुं पर्यायः, अग्रे गन्तुं पर्याय इति "पर्यायार्हणोत्पत्तौ च णकः" (५।३।१२०) । भवतः स्वापः । भवत आसना–आसनं आसना "णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देरनः" । (५।३।१११) कृत इत्येव–त्वया शय्यते । **क्वचिद्वे**ति वचनात् "**द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा**" (२।२।८७) स्त्र्यधिकारविहिताभ्यामकारणकाभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृतः कर्तरि षष्ठी वा स्यात् । नित्यप्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रेति–एवं साधु शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याचार्येण वा । साधु खलु पयसः पानं मैत्रस्य मैत्रेण वा । गम्यमानेऽपि कर्मणि भवति–'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति' यस्यादर्शनमिच्छतीति वा, आत्मनः कर्मतापन्नस्येति गम्यते । **पञ्चमीविधायकं पाणिनीयं सूत्रमिदम्**; अस्य चायमर्थः–अन्तर्द्धौ अन्तर्द्धिविषये आत्मनः कर्मतापन्नस्य येनोपाध्यायादिना कर्तृभूतेन यददर्शनं तदिच्छतीत्यर्थः । द्विहेतोरित्येकवचननिर्देशात् आश्चर्यमोदनस्य पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इति, भिन्नकृतोः कर्तृकर्मषष्ठीहेतुत्वमत्रेति न भवति । अस्त्र्यणकस्येति किम् ? चिकीर्षा मैत्रस्य काव्यानाम्–चिकीर्षणं चिकीर्षा "शंसिप्रत्ययात्" (५।३।१०५) इति अप्रत्ययः । भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम्, भेत्तुं पर्यायो भेदिका; णिगन्तभिदेस्तु भेदयितुं पर्यायः । भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानाम्–अत्र द्वयोरपि कर्त्रोः "कर्त्तरीति" षष्ठ्येव न तु द्विहेतोरिति तृतीया णकवर्ज्जनात्, णकसूत्रं च "पर्यायोऽर्हणोत्पत्तौ च णक" इति । कर्त्तरीत्येव–साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याचार्येण वेत्यत्र शब्दशब्दात्कर्मणि विकल्पो न स्यात् । अन्ये तु घञलूप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्त्तरि–आश्चर्यं इन्द्रियाणां जयो यूना ॥ ४४ ॥

कृत्यस्य वा ॥ ४५ ॥ [सि० २।२।८८]

ध्यण्तव्यानीययक्यपः कृत्याः । एषां कर्त्तरि षष्ठी वा स्यात् । त्वया तव कार्यं कर्तव्यं करणीयं देयं कृत्यम् ॥ ४५ ॥

"कृत्य०" कर्त्तरीत्येव—गेयो बटुर्गाथानाम् । गायतीति गेयः "भव्यगेयजन्य०" (५।१।७) इत्यादिना निपातः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य—प्रवक्तीति "प्रवचनीयादयः (५।१।८) इति निपातः ।

अत्रायं विशेषः—**"नोभयोर्हेतोः"** (२।२।८९) उभयोः कर्तृकर्मणोः षष्ठीहेतोः कृत्यस्य सम्बन्धिनोरुभयोरेव षष्ठी न स्यात् । नेतव्या ग्राममजा मैत्रेण । उभयोर्हेतोरिति किम् ? एकैकहेतोर्मा भूत्—उपस्थापनीयः पुत्रः पितुः । उपस्थापनीयः पिता पुत्रस्येति ॥ ४५ ॥

रिरिष्टात्स्तादस्तादसतसाता ॥ ४६ ॥ [सि० २।२।८२]

एभिः सप्तभिर्योगे षष्ठी स्यात् । गृहस्योपरि उपरिष्टात् परस्तात् पुरस्तात् पुरः दक्षिणत उत्तराद्वा ॥ ४६ ॥

"रिरि०" । उपरीत्यादिप्रयोगस्थितानाम् "ऊर्द्ध्वाद्रिरिष्टातावुपश्चास्य" (७।२।११४) इति—"परावरात्स्तात्" (७।२।११६) इति "पूर्वावराधरेभ्योऽसस्तातौ पुरवधश्चैषाम्" (७।२।११५) इति "दक्षिणोत्तराच्चातस्" (७।२।११७) इति "अधरापराच्चात्" (७।२।११८) इत्यादिभिर्विहितानां प्रत्ययानां रिरिष्टादित्याद्यनुकरणम् । गृहस्योपरीति—ऊर्द्ध्वशब्दस्य दिग्देशकालार्थस्य ऊर्ध्वादित्यनेनोपभावः—एवं पूर्वावराधराणां "पूर्वावराधरेभ्यो०" इति यथाक्रमं पुर् अव् अध् इति पश्चादित्यपरशब्दस्य पश्चादेशः । पञ्चम्यपवादो योगः ॥ ४६ ॥

तृन्नुदन्ताव्ययक्वस्वानातृश्शतृङिणकच्खलर्थस्य ॥ ४७ ॥ [सि० २।२।९०]

एषां दशानां कृतां कर्मकर्त्रोः षष्ठी न स्यात् । वदिता धर्मम् । विश्वं जिष्णुः । कटं कृत्वा । ओदनं भोक्तुं याति । अन्नं पेचिवान् । कटं चक्राणः । अधीयंस्तत्त्वार्थम् । कटं कुर्वन् । कष्टं सासहिः । कटं कारको याति । सुकरो धर्मः । सुज्ञानं तत्त्वं भवता ॥ ४७ ॥

"तृन्नु०" । वदितेति—'तृन् शीलधर्मसाधुषु' (५।२।२७) इति तृन् जिष्णुरिति—एवं कन्यामलङ्करिष्णुः, शरान् क्षिप्नुः, अन्नं बुभुक्षुः, देवान् वन्दारुः, धारुर्वत्सो मातरम्, श्रद्धालुस्तत्त्वम्—ओदनं भोक्तुमिति—एवं पयः पायं व्रजति । आनेति उत्सृष्टानुबन्धग्रहणात् कानशानानशां ग्रहणम् । कटं चक्राण इति कानः; एवं वचनमनूचानः । मलयं पवमानः पवते इति पवमानः "पूङ्यजःशानः" (५।२।२३) कतीह कवचमुद्वहमानाः, कतीह शत्रून्निघ्नानाः, कतीह वपुर्भूषयमाणाः, त्रिष्वपि "वयःशक्तिशीले" (५।२।२४) इति शानः । आनश्—ओदनं पचमानः, मैत्रेण पच्यमानः, कटं करिष्यमाणः । अधीयन्निति—"धारीङोऽकृच्छ्रेऽतृश्" (५।२।२५) । कष्टं सासहिरिति "ङौः सासहिवावहिचाचलिपापतिः" (५।२।३८) "सस्निचक्रिजज्ञिदधिनेमिः" (५।२।३९) एवं कटं चक्रिः, दधिश्चित्तम् । कटं कारको यातीति "क्रियायां क्रियार्थायां तुम्-णकच्-भविष्यन्ती" (५।३।१३) इति चिन्निर्देशात् णकस्य न भवति—वर्षशतस्य पूरकः । सुकरो धर्म इति—"दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात् खल्" (५।३।१३९) । सुज्ञानं तत्त्वमिति—"शासियुधिदृशिधृषिमृषातोऽनः" (५।३।१४१) ।

इत्यादिशब्दोपादानात् **"क्तयोरसदाधारे"** (२।२।९१) सतो वर्त्तमानादाधाराच्चान्यस्मिन्नर्थे विहितौ यौ क्तौ क्तक्तवतू तयोः कर्मकर्त्रोः षष्ठी न स्यात् । कटः कृतो मैत्रेण, कटं कृतवान्मैत्रः । असदाधार इति किम् ? राज्ञा ज्ञातः, बुद्धः, मतः, इष्टः, पूजितः—ज्ञानेच्छार्चादिसूत्रेण वर्त्तमाने क्तः । कथं शीलितो मैत्रेण रक्षितश्चैत्रेण ? भूतेऽयं क्तः, वर्त्तमानताप्रतीतिस्तु प्रकरणादिनेति । अन्ये तु ज्ञानेच्छार्चार्थात् ञीच्छील्यादिभ्योऽतीते क्तं नेच्छन्ति, तन्मतेऽपशब्दावेतौ । आधारे—इदमोदनस्य भुक्तम्, इदं

सक्तूनां पीतम्, इदमहेः प्रसृप्तम्, इदमेषामासितम्, "अद्यर्थाच्चाधारे" (५।१।१२) इति क्तः। **"वा क्लीबे"** (२।२।९२) क्लीबे यो विहितः क्तस्तस्य कर्त्तरि षष्ठी वा स्यात्। छात्रस्य छात्रेण वा हसितम्, मयूरस्य मयूरेण वा नृत्तम्, कोकिलस्य कोकिलेन वा व्याहृतम्, इहाहेः सृप्तम्, इहाहिना सृप्तम्। क्लीब इति किम्? चैत्रेण कृतम् "क्तक्तवतू" (५।१।१७४) इति भावेऽत्र क्तः। पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम्। **"अकमेरुकस्य"** (२।२।९३) कमेरन्यस्य उकप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठी न स्यात्। आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः। भोगानभिलाषुकः। अकमेरिति किम्? दास्याः कामुकः। **"एष्यदृणेनः"** (२।२।९४) एष्यदर्थे ऋणे च विहितस्येनः कर्मणि षष्ठी न स्यात्,—इन् इति इन् णिनोर्ग्रहणम्। ग्रामं गमी औणादिक इन्। ग्राममागामी औणादिको णिन्। शतं दायी ददातीत्येवंशीलो "णिन्चावश्यकाधमर्ण्ये" (५।४।३६) इति णिन्। एवं कारी मेऽसि कटम्, हारी मेऽसि भारम्। एष्यदृणेन इति किम्? अवश्यङ्कारी कटस्य, साधुदायी वित्तस्य, यदा त्वयमावश्यके णिन् एष्यत्काले भवति, तदा एष्यदृणेन इति षष्ठीनिषेधे द्वितीयैव—तथा च प्रयोगः—"भव लघु युताकान्तः सन्ध्यामुपास्स्व तपोऽमल, त्वरयति कथं सन्ध्येयं त्वां न नाम निशानुजा। द्युतिपतिरथावश्यंकारी दिनोद्यमासिता, हरिपतिहरित्पूर्णभ्रूणायिता कियतः क्षणान्"। इति नैषधीये सर्गे १९ वृत्तं २२॥ ४७॥

पृथग्नाना पञ्चमी च ॥ ४८ ॥ [सि० २।२।११३]

आभ्यां योगे तृतीयापञ्चम्यौ स्याताम्। पृथग् मैत्रान्मैत्रेण। अनुमानहेतोरप्येवम्—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वेन कृतकत्वाद्वा॥ ४८॥

"पृथ०"। यदा पृथग्नानाशब्दावन्यार्थौ तदा "प्रभृत्यादि०" (२।२।७५) सूत्रेण पञ्चमी सिद्धैव तृतीयैवानेन विधीयते, यदात्वसहायार्थौ तदा पञ्चमीविधानार्थमपीदम्॥ ४८॥

ऋते द्वितीया च ॥ ४९ ॥ [सि० २।२।११४]

ऋतेयोगे द्वितीयापञ्चम्यौ स्याताम्। ऋते धर्मं धर्माद्वा कुतः सुखम्॥ ४१॥

"ऋते०" ऋते इत्येतदव्ययं वर्जनार्थम्। यद्यपि पाणिन्यादिभिर्ऋते योगे द्वितीया नोक्ता तथापि शिष्टैः प्रयुक्ता; तथाहि—

"चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्"॥ १॥

विना ते तृतीया च ॥ ५० ॥ [सि० २।२।११५]

विनायोगे द्वितीयापञ्चमीतृतीयाः स्युः। विना पापं पापात् पापेन सुखं स्यात्॥ ५०॥

"विना०"। ते इति द्वितीयापञ्चम्यावित्यर्थः। पाणिन्यादयो द्वितीयां नेच्छन्ति॥ ५०॥

तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ ५१ ॥ [सि० २।२।११६]

मात्रा तुल्यः मातुस्तुल्यः॥ ५१॥

"तुल्या०" अर्थग्रहणं पर्यायार्थम्—तेन मात्रा सदृशः मातुः सदृशः सदृक्षः सम इत्याद्यपि भवति। उपमा नास्ति कृष्णस्येत्यादौ त्वयं विधिर्न स्यात्, तुलोपमादयो हि शब्दाः सादृश्यवाचका न तु सदृशवाचका इति। गौणाधिकाराच्च गौरिव गवयो यथा गौस्तथा गवय इत्यादौ न भवति। तृतीयामविकल्प्य

षष्ठीविधानं सप्तमीबाधनार्थम्, तेन गवां तुल्यः स्वामी, गोभिस्तुल्यः स्वामीत्यत्र "स्वामीश्वर०" (२।२।९८) इत्यादिना सप्तमी न भवति ॥ ५१ ॥

द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चेः ॥ ५२ ॥ [सि० २।२।११७]

पूर्वेण ग्रामं ग्रामस्य । अनञ्चेरिति किम् । प्राग् ग्रामात् ॥ ५२ ॥

"द्विती०" । एनप्रत्ययान्तेन युक्ताद्गौणान्नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यौ स्यातां न चेत्सोऽञ्चेः परो विहितो भवति । पूर्वेणेति–ग्रामाददूरा पूर्वा इति "अदूरे एनः" (७।२।१२२) इत्येनप्रत्ययः । प्राग् ग्रामादिति–"लुबञ्चेः" (७।२।१२३) इत्येनप्रत्ययस्य लुब् । अनञ्चेरिति प्रतिषेधाद्द्वितीयाषष्ठ्योरभावात् "प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्देति" ग्रामात्पञ्चमी ॥ ५२ ॥

हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ ५३ ॥ [सि० २।२।११८]

हेत्वर्थैर्योगे तृतीयाद्याः सर्वा विभक्तयः स्युः । धनेन हेतुना । धनाय हेतवे । धनाद्धेतोः । धनस्य हेतोः । धने हेतौ वसति । एवं निमित्तादिभिरपि ॥ ५३ ॥

"हेत्व०" । हेतुर्निमित्तं कारणमिति पर्यायाः । हेत्वर्थैर्युक्तात्प्रत्यासत्तेस्तैरेव समानाधिकरणाद्गौणान्नाम्नस्तृतीयाद्याः सर्वा विभक्तयः स्युः । अयं भावः–हेत्वर्थैर्युक्तादसर्वादेरनेन तृतीयाद्याः पञ्च विभक्तयो भवन्ति, उत्तरसूत्रेण हेत्वर्थैर्युक्तात्सर्वादेः सर्वाः सप्तापि विभक्तय इति ॥ ५३ ॥

सर्वादेः सर्वाः ॥ ५४ ॥ [सि० २।२।११९]

हेत्वर्थैर्युक्तात्सर्वादेः सर्वा विभक्तयः स्युः । को हेतुः । कं हेतुम् । केन हेतुना । कस्मै हेतवे । कस्माद्धेतोः । कस्य हेतोः । कस्मिन् हेतौ याति ॥ ५४ ॥

"सर्वा०" । को हेतुरित्यादि । प्रथमां नेच्छन्त्येके द्वितीयामपरे । इत्यादिशब्दात् "**असत्त्वारादर्थाट्टाङसिङ्यम्**" (२।२।१२०) सत्त्वं द्रव्यम्, ततोऽन्यदसत्त्वम्, आराद्दूरान्तिकयोस्तत्रोभयोर्ग्रहणम् । असत्त्ववाचिनो दूरार्थादन्तिकार्थाच्च टा ङसि ङि अम् इत्येते प्रत्यया भवन्ति । गौणादिति निवृत्तम्[1] । दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद्वा, दूराद्ग्रामस्य ग्रामाद्वा, दूरे ग्रामस्य ग्रामाद्वा, दूरं ग्रामस्य ग्रामाद्वा वसति । इदंतदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यार्थाभिधायकत्वेऽप्येतेषां धर्ममात्रेण प्रयोगादसत्त्वरूपार्थाभिधायित्वं न विरुध्यते । एवं विप्रकृष्टेन विप्रकृष्टात् विप्रकृष्टे विप्रकृष्टं ग्रामस्य ग्रामाद्वा तिष्ठति । अन्तिकार्थे–अन्तिकेन अन्तिकात् अन्तिके अन्तिकं ग्रामस्य ग्रामाद्वसति । अभ्यासेन अभ्यासात् अभ्यासे अभ्यासं ग्रामस्य ग्रामाद्वा । ग्रामशब्दात् आराद्दर्थैरिति विकल्पेन पञ्चमी, पक्षे "शेषे" (२।२।८१) इति षष्ठी । केचिदारादर्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात्पञ्चमीं नेच्छन्ति, तेन दूरात् अन्तिकात् ग्रामस्येत्येव भवति न तत्सर्वसम्मतम् । पञ्चम्या अपि दर्शनात्—

"दूरादावसथान्मूत्रम् दूरात्पादावसेचनम् । दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपिताद्गुरोः" ॥ १ ॥

इति । असत्त्व इति किम् ? दूरः पन्थाः, अन्तिकः पन्थाः–अत्र सत्त्ववाचित्वाद्दूरान्तिकार्थादपि टादयो न भवन्ति, किन्तु यथास्वं प्रथमादय इति ॥ ५४ ॥

---

[1] विभक्तिसम्बन्धत्वात्तन्निवृत्तावित्यर्थः । अत्र हि टादीनि वचनान्युपात्तानि, न तृतीयाद्या विभक्तयः ।

अविशेषणे द्वौ चास्मदः ॥ ५५ ॥ [सि० २।२।१२२]

विशेषणरहितस्यास्मदो द्वावेकश्चार्थो बहुवद्वा स्यात् । आवां ब्रूवः । अहं ब्रवीमि । वयं ब्रूमः । विशेषणे तु आवां गार्ग्यौ ब्रूवः । अहं चैत्रो ब्रवीमीति यथाप्राप्तम् ॥ ५५ ॥

"अवि०" । नन्वेकसङ्ख्याकप्रत्यङ्गात्मकवचनत्वादस्मदः कथं द्वावर्थौ स्यातामिति । नैष दोषः । आत्मत्वं यदा परत्रोपचर्यते—अयं मे द्वितीय आत्मा अहमेव वाऽयमिति, त्वं चाहं चावामित्येकशेषो वा, तदा परस्याप्यस्मदर्थोपपत्तेरुपपन्नमस्मदर्थस्य द्वित्वमिति । आवां गार्ग्यौ इत्यादि; एवमहं पण्डितो ब्रवीमीति । अत्र गोत्रं धर्मान्तरं संज्ञा ? चास्मदर्थस्य भेदकत्वेन उपादीयते इति सविशेषणत्वान्न भवति । ननु "नाट्ये च दक्षा वयम् । त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः" इत्यादौ कथं सविशेषणस्य बहुवद्भावो दृश्यते इति ? अत्रोच्यते । यदनूद्यमानमवच्छेदकं तद्विशेषणं दक्षत्वादिकं च विधीयमानं नानूद्यमानमिति नैवंविधो विषयः प्रतिषेधस्य । एकानेकस्य भावस्यात्मनोऽनेकस्वभावविवक्षायां बहुवचनं सिद्धमेव । सविशेषणे निषेधार्थं तु वचनम्—अयं भावः—एकोऽप्यात्मा यथैकत्वेनानुभूयते तथा द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यादि नानात्वेनापि । नह्येकान्तेनैकत्वेनानेकत्वेन वेतरविनिर्मुक्तेन प्रतिपत्तिरस्ति । तत्रैकत्वेन द्वित्वेन बहुत्वेन च तस्मिन् विवक्षिते एकद्विबहुवचनानि भवन्ति । यथा युष्मदर्थे गुरौ चैकस्मिन्नपि बहुवचनं प्रयुज्यते । यूयं ब्रूथ, भवन्तो ब्रुवन्ति इति; एवं चास्मदर्थस्यापि बहुवचने सिद्धे सविशेषणे तस्मिन् विवक्षिते द्वयोरेकत्र च बहुत्वविवक्षानिषेधार्थं वचनमिति ।

इत्यादिशब्दात् **"फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे"** (२।२।१२३) फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च भे नक्षत्रे वर्त्तमानस्य द्वावर्थौ बहुवद्वा स्याताम् । कदा पूर्वे फाल्गुन्यौ, कदा पूर्वाः फाल्गुन्यः । कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे, कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । आभ्यां नक्षत्राभ्यां चन्द्रयुक्ताभ्यां युक्तः काल इत्यर्थः । "चन्द्रयुक्तात्काले लुस्त्वप्रयुक्ते" (६।२।६) इति सिद्धिः । उदिते पूर्वे फाल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फाल्गुन्यः । उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः, ज्योतिर्विशेष इत्यर्थः । भ इति किम् ? फल्गुनीषु जाते फल्गुन्यौ माणविके । द्वावित्येव—तेनैकस्मिन् ज्योतिषि न भवति—दृश्यते फल्गुनी । एकवचनान्तः प्रयोग एव नास्तीत्यन्ये । शब्दपरनिर्देशात्पर्यायस्य मा भूत्—अद्य पूर्वे भद्रपदे ॥ ५५ ॥

जात्याख्यायां नवैकोऽसङ्ख्यो बहुवत् ॥ ५६ ॥ [सि० २।२।१२१]

सङ्ख्याविशेषणरहितो जातिशब्द एकवच्च बहुवच्च वा स्यात् । सम्पन्नो यवः । सम्पन्ना यवाः । सङ्ख्याविशेषणे तु एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोतीत्येकत्वमेव ॥ ५६ ॥

"जात्या०" । जायतेऽनया भिन्नेष्वभिन्नावभिधानप्रत्ययाविति जातिः सामान्यम् । जातेराख्यायामभिधाने एकोऽर्थो जातिलक्षणोऽसङ्ख्यः सङ्ख्यावाचिविशेषणरहितो बहुवद्वा स्यादित्यर्थः । जातिर्नामायमेकोऽर्थस्तदभिधाने एकवचनमेव प्राप्तमत इदमारभ्यते । अथ च बहुवदित्यतिदेशेन बहुवद्भावो जात्यर्थस्य । ननु जातिशब्दस्य तथात्वे हि सम्पन्ना यवा इत्यत्र यवशब्दादेव जातिशब्दाद्बहुवचनं स्यान्न तु सम्पन्नशब्दात्तद्विशेषणात् । जात्यर्थस्य तु बहुवद्भावे सम्पन्नादिविशेषणान्यपि सामानाधिकरण्याद्यवादिशब्दोपात्ते जात्यर्थे वर्त्तन्ते इति तेभ्योऽपि बहुत्वाश्रयं बहुवचनमुपपन्नमिति । जातिग्रहणं किम् ? चैत्रः—यदृच्छाशब्दत्वान्नायं जातिवाची, जातिर्हि शबलधवलाद्यनेकव्यक्तिषु गौर्गौरित्याद्यनुवृत्तिप्रत्ययहेतुसामान्यम् । यदि च बालकुमाराद्यवस्थाभेदेष्वनुवर्त्तमानं चैत्रमैत्रादिकं जातिरुच्येत तदा न जातिः कश्चिच्छब्दार्थोऽस्तीति जातिग्रहणमनर्थकं स्यादिति । आख्याग्रहणं किम् ? काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः—भव-

त्ययं जातिशब्दो नत्वनेन जातिराख्यायते किं तर्हि ? तत्प्रतिकृतिः । एक इत्येकसङ्ख्याक इत्यर्थः । लौकिक्या भेदपरिगणनरूपया सङ्ख्यया जातिलक्षणोऽर्थोऽसावेकः, न तु वैशेषिकाभिप्रेतगुणपदार्थसङ्गृहीतया, सा हि गुणत्वाद्द्रव्य एव समवेता न पदार्थान्तरे; ततश्चैकग्रहणात्सम्पन्नौ व्रीहियवौ इत्यादौ न बहुवद्भावः । अत्र हि द्वयोर्जात्योराख्या नत्वेकस्या इति । "मगधेषु स्तनौ पीनौ कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे" इत्यादावपि सव्येतरत्वलक्षणावान्तरजातिद्वयोपाधियोगादेकत्वं नास्तीति बहुवद्भावो न स्यात् । जातिमात्रविवक्षायां भवत्येव—मगधेषु स्तनाः पीनाः इति । सङ्ख्याविशेषणे त्वित्यादि । अत्र एके व्रीहयः सुभिक्षं कुर्वन्तीति न भवति ॥ ५६ ॥

गुरावेकश्च ॥ ५७ ॥ [सि० २।२।१२४]

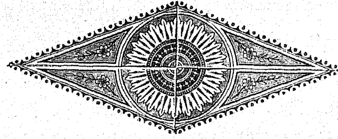
गुरौ गौरवार्हे द्वावेकश्चार्थो बहुवद्वा स्यात् । युवां गुरू । यूयं गुरवः । एष मे पिता । एते मे पितरः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां कारकप्रक्रिया समाप्ता ।

"गुरा०" । गौरवार्हे इति गौरवार्थे वर्त्तमानस्य शब्दस्येत्यर्थः । एष मे पितेत्यादि—नन्वेकस्मिन्नेव पितरि कथमेकत्वं बहुत्वं च, किञ्च एकस्मिन्नपि जलकणे बहुवचनान्तोऽप्शब्दः प्रयुज्यते, एकस्यामपि योषिति पुंलिङ्गो बहुवचनान्तश्च दारशब्दः, वर्षा इत्येकस्मिन्नपि ऋतौ स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तः । एकस्मिन्नपि गृहे बहुवचनान्तः पुंलिङ्गो गृहशब्दः, पञ्चाला जनपद इत्येकस्मिन्नपि बहुत्वैकत्वानुपपत्तिः । नह्येक एवार्थ एकोऽनेकश्च भवति, विरोधात्कथञ्चित्तथाभावे तूभयमप्युभयसङ्ख्यायोगि स्यान्न चैतदिष्यते । एवं गोदौ ग्राम इति द्वित्वैकत्वनियमायोगः । खलतिकं वनानीत्येकवचनान्तेन बहुवचनाभिधानमनुपपन्नं, हरीतक्यः फलानीति स्त्रीनपुंसकलिङ्गायोगः, पञ्चालमथुरे इत्यनुत्तरपदस्य देशवृत्तेर्बहुविषयस्य बहुवद्भावप्रतिषेधानुपपत्तिः । एवं चञ्चाभिरूपो मनुष्य इत्यादावपि चञ्चादिलिङ्गता स्यादित्यादि सर्वं कथं समञ्जसं भवतीत्यत्रोच्यते—सर्वलिङ्गसङ्ख्ये वस्तुनि स्याद्वादमनुपतति, मुख्योपचरितार्थानुपातिनि च शब्दात्मनि रूढितस्तत्तल्लिङ्गसङ्ख्योपादानव्यवस्थानुसर्त्तव्येति । अयं भावः—सर्वाणि त्रीण्यपि लिङ्गानि सर्वाश्चैकत्वद्वित्वबहुत्वलक्षणाः सङ्ख्या एकस्मिन्नेव वस्तुनि सन्ति, तथाहि—वस्त्वर्थो मात्रेतिशब्दाः सर्वत्रवस्तुतत्त्वे घटवस्तु घटार्थो घटमात्रेति प्रवर्त्तन्ते इति लिङ्गानि दृश्यन्ते । गुणगुणिद्रव्यपर्यायावयवावयविरूपे वस्तुनि घट इत्यभेदविवक्षायामेकत्वसङ्ख्या,—गुणगुणिनौ द्रव्यपर्यायावयवावयविनौ घटो नैकैकमात्र इति द्वित्वसङ्ख्या, गुणपर्यायावयवानां बहुत्वात्तद्भेदविवक्षायां गुणाश्च गुणी गुणिनो घटा इति बहुत्वसङ्ख्या । न चैतदेकस्मिन्नपि वस्तुनि स्याद्वादानुपातिनि विरुद्धम् । स्यादित्यनेकान्तद्योतकमव्ययं ततश्च कथञ्चिदिति वादः स्याद्वादः तथाहि—स एवायं मैत्र इत्याजन्ममरणमविच्छेदः प्रतीयते, तन्न भेदमात्रं वस्तु । बालोऽयं न युवा, युवायं न बालः; सुप्तोऽयं नोत्थितः, उत्थितोऽयं न सुप्त इति विच्छेदश्च प्रतीयते तन्नाभेदमात्रम्; न च तयोर्भेद एव, मैत्रो बालो मैत्रो युवेत्येकत्वेन प्रतिभासनाद्गौरश्व इतिवद्भेदप्रतिभासाभावादेकान्तेन चाभेदेऽन्यतरविलोपः, तथा च भेदाभेदप्रतिभासायोगो नचान्यतरस्य मिथ्यात्वमितराविशेषात्तस्मादन्तरालावस्थं वस्तु, तदेतत्स्याद्वादानुपातीति नात्रानेकरूपता विरुध्यते । तदेवं क्रमाक्रमभाव्यनेकभेदात्मके वस्तुनि सर्वमुपपद्यते, तेन आपः दारा इत्यादिषु गुणपर्यायावयवभेदोपादानाद्वस्तुसामर्थ्याद् बहुत्वोपपत्तिः । एवं पञ्चाला इति वस्तुशक्तिस्वाभाव्यादवयवद्वारेण प्रवर्त्तते । जनपद इति समुदायद्वारेण । एवं गोदौ ग्राम इत्यादावप्येकानेकसङ्ख्योपपत्तिः । हरीतक्यः फलानीति लिङ्ग-

भेदश्च सर्वलिङ्गत्वाद्वस्तुनः । पञ्चालमथुरे इति पञ्चालादीनां बहुत्वविषयाणां समासे उत्तरपदादन्यत्र समुदायाभिधानं नत्ववयवाभिधानमिति बहुत्वाभावः । नियतविषयाश्च शब्दशक्तयो भवन्ति, यथा राज्ञः पुरुष इति वाक्ये राजशब्दो विशेषणादियोगिनमर्थमाचष्टे, वृत्तौ तु तद्विलक्षणं राजपुरुष इति । चञ्चाभिरूपो मनुष्य इति सादृश्यान्मनुष्यवृत्तेश्च तद्रूपं यत्नविशेषणयोगि । पञ्चालादिशब्दानां च क्षत्रियाद्यर्थवृत्तीनामपि सोऽयमित्यभिसम्बन्धादुपचाराज्जनपदाद्यर्थेऽपि वृत्तिरित्युक्तं मुख्योपचारितार्थानुपातिनीत्यादि । अत्र च रूढिः प्रमाणम्, रूढिश्च शिष्टव्यवहारप्रसिद्धिरिति ॥ ५७ ॥

यां शिष्योऽद्भुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ सम्प्रति कारकप्रकरणं सम्पूर्णतामासदत् ॥ १ ॥



अथ समासो निरूप्यते

अथेति–कारकप्रक्रियायां यथाविधि नाम्नां विभक्तयो विहिताः, अथ तेषां मिथः समासकथनं युक्तमित्यत आह–अथ समासो निरूप्यते इति ।

नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् ॥ १ ॥ [सि० ३।१।१८]

नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये सामर्थ्यविशेषे सति समासो बहुलं स्यात् । लक्षणं चेदमधिकारश्च, तेन बहुव्रीह्यादिसंज्ञाऽभावे यत्रैकार्थता तत्रानेनैव समासः–विस्पष्टपटुः । स च षोढा–बहुव्रीहिः १ अव्ययीभावः २ तत्पुरुषः ३ कर्मधारयो ४ द्विगुः ५ द्वन्द्वश्च ६ । तत्र बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानः । अव्ययीभावः पूर्वपदार्थप्रधानः । द्विगु–तत्पुरुषौ परपदार्थप्रधानौ । द्वन्द्वकर्मधारयौ चोभयपदार्थप्रधानौ । तस्य क्रियाभिसम्बन्धात् ऐकपद्यादिकं च समासप्रयोजनम् । समर्थः पदसमुदायो विग्रहो वाक्यमिति च ॥ १ ॥

"नाम०" । नाम नाम्नेत्यादि, अयं भावः–नाम नाम्ना सह ऐकार्थ्ये एकार्थीभावे सति समाससंज्ञं बहुलं भवतीति । सामर्थ्यविशेषे इति–स च सामर्थ्यविशेषः पृथगर्थानां पदानां क्वचित्परस्परव्यपेक्षालक्षणं सामर्थ्यमनुभूय भवति–यथा, राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः, नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलम् । क्वचिदननुभूयैव भवति यथा, उपकुम्भम्, कुम्भकारः । वाक्यान्तरेण त्वर्थः प्रदर्श्यते–कुम्भस्य समीपं कुम्भं करोतीति । क्वचिन्न भवत्येव यथा, छात्राणां पञ्चमः रामो जामदग्न्य इति । विस्पष्टं पटुः विस्पष्टपटुः, विचित्रं कटुकः विचित्रकटुकः । एवं विविक्तकषायः व्यक्तलवणः सम्पन्नमधुरः पट्वम्लः निपुणपण्डितः कुशलदक्षः चपलवत्सलः इत्यादिषु गुणविशेषणस्य गुणवचनेन समासः ॥ काष्ठापरं प्रकर्षमध्यायकः काष्ठाध्यायकः । दारुणमध्यायकः दारुणाध्यायकः । अमातापुत्रमध्यायकः अमातापुत्राध्यायकः, निष्ठुरमध्यायक इत्यर्थः । वेशं सुभगमध्यायकः वेशाध्यायकः । एवमनाज्ञाताध्यायकः अयुताध्यायकः अद्भुताध्यायकः भृशाऽध्यायकः घोराध्यायकः परमाध्यायकः स्वध्यायकः अत्यध्यायकः इत्यादिषु क्रियाविशेषणस्य क्रियावता समासः ॥ तथा सर्वश्चर्मणा कृतः सार्वचर्मीणो रथः, अद्य श्वो वा विजायते अद्यश्वीना गौः, दशभिरेकादश गृह्णाति दशैकादशिकः, ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवमौर्ध्वमौहूर्त्तिकम्, एवमौर्ध्वदेहिकम्, और्ध्वन्दमिकम्, कृतः पूर्वं कटोऽनेन कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्, गतपूर्वी ग्राममित्यादिषु तद्धितार्थे समासः ॥ तथा कन्ये इव, दम्पती इव, वाससी इव, इत्यादिष्विवेनालुप्समासः । ऐकपद्यं च समासफलम्; तथोक्तं **सिद्धान्तकौमुद्याम्**–"इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च–जीमूतस्येव" । अत्र **मनोरमा**–"इवेनेति अयमपि समासः पूर्ववत् क्वाचित्क एव,

---

१ ननु अधिकारोऽयं लक्षणं वा ? उभयमपि ब्रूमः । अधिकारस्तावद्देवदत्तः पचतीत्यत्र विशेषसमासनिवृत्त्यर्थः । अन्यथा हि पचतीत्यनेन कर्तृसामान्यं यदुपात्तं तद्देवदत्त इत्यनेन कर्तृविशेषेण विशेष्यते इति सामानाधिकरण्येन विशेषणविशेष्यभावोऽस्ति । नञित्यादावुत्तरपदानुपादाने उत्तरपदोपस्थापनार्थश्च । लक्षणं च यस्य समासस्यान्यल्लक्षणं नास्ति तस्येदं लक्षणं तेन विस्पष्टादीनि गुणविशेषणानि गुणवचनेन विस्पष्टं पटुः, विस्पष्टपटुरिति समस्यन्ते । पट्वादयः शब्दाः पटुत्वादिगुणयोगात् मुख्यतया गुणिनि वर्तमाना अपि गौणतया पाटवादावपीति विस्पष्टादयः पट्वादीनां प्रवृत्तिनिमित्तस्य पाटवादेर्विशेषणानि न तु द्रव्यस्येति विस्पष्टमिति नपुंसकत्वम् । अत एव मुख्यं सामानाधिकरण्यं नास्ति इति कर्मधारयतत्पुरुषाभावः । २ यत्र सर्वाणि सत्त्वार्थाभिधायीनि पदानि भवन्ति । ३ यत्र त्वेकमसत्त्वाभिधाय्युपकुम्भमित्यादौ तत्र सामर्थ्यमननुभूयैव समासः । नित्यसमासत्वादिति शेषः ।

तेन जीमूतस्येवेत्यादौ तैत्तिरीयाणां पृथक्पदत्वेन पाठः । "उद्बाहुरिव वामन" इत्यादौ व्यस्तप्रयोगश्च सङ्गच्छते इति" । तथा भूतः पूर्वं भूतपूर्वः, एवं दृष्टपूर्वः श्रुतपूर्वः । सर्वेषु चैषु विशेषसंज्ञाप्राप्तावनेनैव समासः । बहुलमिति शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् । नामेति किम् ? चरन्ति गावो धनमस्य । नाम्नेति किम् ? चैत्रः पचति । बहुलवचनादेवं क्वचिदनामापि समस्यते—भात्यर्कोऽत्र भात्यर्कं नभः, नभसा सामानाधिकरण्यं समासफलम् । क्वचिदनाम्नापि—अनुव्यचलत्, अनुप्रावर्षत्, यद् व्यकरोत्, यत् परियन्ति । अत्र नित्यसन्ध्यादिसमासफलम् । समासस्य च नामत्वेऽपि सञ्ज्ञायास्त्यादिभिरेवोक्तत्वान्न स्यादयो भवन्ति । पदत्वार्थमुत्पन्नस्य वा प्रथमैकवचनस्य त्याद्यन्तार्थप्राधान्यान्नपुंसकत्वे लोपो भवति । अत्र **मनोरमा**—एतदपि योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वादेव लभ्यते छन्दस्येवेति एतच्च सम्प्रदानसंज्ञासूत्रे **पदमञ्जर्यां** स्पष्टम् । यदि हि लोकेऽपि स्यात्तर्हि अभिप्रैतीत्यादौ समासात् स्यादयः स्युः । पचतिकल्पमित्यादौ तद्धितान्ताद्यथा । न च लिङ्गसर्वनामनपुंसकताभ्युपगमेन निर्वाहः, यत्प्रकुरुते इत्यादौ ह्रस्वापत्तेः प्रकुर्वीरन्नित्यत्र नलोपापत्तेश्चेति । समासप्रदेशाः—"वौष्ठौतौ समासे" (१।२।१७) इत्यादयः । समासभेदानाह—स **च षोढेति**—तत्पुरुषविशेषः कर्मधारयस्तद्विशेषो द्विगुरिति विवक्षायां चतुर्द्धापि । इयं च भेदसङ्ख्या प्रायिकी एतदतिरिक्तानामपि पूर्वोक्तयुक्त्या नाम नाम्नेति समासविधानात् । **यद्वैवं समासभेदानाहुः**—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा । सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः" ॥१॥

सुपा राजपुरुषः, तिङा पर्यभूषयत्, नाम्ना कुम्भकारः, धातुना कटप्रूः न जसतीत्यजस्रम्, तिङां तिङा—पिबत खादताऽखादतमोदता । तिङां सुपा—कृंधि विचक्षणमिति यस्यां क्रियायां सा कृंधिविचक्षणा । एहीडादयोऽन्यपदार्थे इति—मयूरव्यंसकादिपाठात्समासः । षण्णामपि नामान्याह—बहुव्रीहिरित्यादि । षण्णामपि प्रधानपदार्थव्यवस्थामाह—तत्र बहुव्रीहिरित्यादि । एतदपि प्रायिकं सूपप्रति उन्मत्तगङ्गमित्याद्यव्ययीभावे, अतिमालादौ तत्पुरुषे, द्वित्रा इत्यादि बहुव्रीहौ, दन्तोष्ठमित्यादि द्वन्द्वे चाभावात् । पूर्वपदादिप्राधान्ये हेतुमाह, तस्येत्यादि—क्रियान्वयि प्रधानमिति वचनात् । समासप्रयोजनमाह—एकपद्यादिकमिति । आदिशब्दादैकस्वर्यं तच्च वेदेऽधिकृतम् । समासप्राग्भाविनो वाक्यस्य लक्षणं संज्ञा चाह—समर्थ इत्यादि । अयं भावः—समासैकशेषकृत्तद्धितक्यनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । परार्थाभिधानं वृत्तिः, वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स द्विधा—लौकिकोऽलौकिकश्च । परिनिष्ठितत्वात्साधुर्लौकिकः, प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिकः । यथा राज्ञः पुरुषः—राजन् अस् पुरुषस् इति । अविग्रहो नित्यसमासः अस्वपदविग्रहो वेति ॥ १ ॥

आरूढाः १-२ पुरुषा १-२ यमिति वाक्ये—

यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमं बहुव्रीहिसमासप्रक्रियामाह—आरूढा इत्यादि—

एकार्थं चानेकं च ॥ २ ॥ [सि० ३।१।२२]

एकमनेकं चैकार्थं समानाधिकरणं नाम, अव्ययं च, नाम्ना, द्वितीयाद्यन्तान्यपदस्यार्थे, समस्यते । स च बहुव्रीहिः ॥ २ ॥

---

१ ऐकपद्यात् 'ह्रस्वोऽपदे वा' इति ह्रस्वविकल्पाप्रवृत्तेर्नित्यं यत्वादि भवतीत्यर्थः । २ अन्ये त्वाहुः—एको द्वावित्यादिवदुक्तेष्वप्येकत्वादिषु नामार्थत्वात् केवलायाश्च प्रकृतेः प्रयोगाभावाद्भाव्यमत्र प्रथमैकवचनेन तस्य च 'दीर्घङ्याब्' इत्यनेन लुप् 'अनतो लुप्' इति तन्मतग्रहणायाह पदत्वार्थमिति । ३ त्याद्यन्तस्य साध्यार्थप्रधानत्वादसत्त्ववाचित्वम् असत्त्वं च सामान्यम्; सामान्यं च नपुंसकम् ततः 'अनतो लुप्' ।

"एका०" । एकः समानोऽर्थोऽधिकरणं यस्य तदेकार्थं समानाधिकरणमित्यर्थः ॥ २ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रमाह—

ऐकार्थ्ये ॥ ३ ॥ [सि० ३।२।८]

ऐकार्थ्यमैकपद्यं तन्निमित्तस्य स्यादेर्लुप् स्यात् । अत एव लुब्विधानात् नाम नाम्नेत्युक्तावपि स्याद्यन्तानां समासः (अव्ययेभ्यः स्यादयोऽनुमीयन्ते इति बृहद्वृत्तौ) । 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति यच्छब्दाप्रयोगे *आरूढपुरुषो गिरिः । अयं चान्यपदार्थप्राधान्यात्तत्सम्बन्धिनीर्लिङ्गसङ्ख्याविभक्तीरनुसरति । कृतानि पुण्यानि येन सः कृतपुण्यः । एवं दत्तदानो वीतदुःखो बहुधनोऽनन्तज्ञानः । अनेकं च—आरूढबहुपुरुषो गिरिः । अव्ययं खल्वपि । उच्चैर्मुखः ॥ ३ ॥

"ऐका०" । एकार्थस्य भाव ऐकार्थ्यम् । आरूढाः पुरुषा यम् । इदं हि लौकिकं वाक्यम्, अलौकिके वाक्ये तु—आरूढ अस् पुरुष अस् इति स्थिते विभक्तिलोपे आरूढपुरुष इति । एवं पुत्रमिच्छति पुत्रीयति पुत्रकाम्यति, कुम्भं करोतीति कुम्भकारः, उपगोरपत्यमौपगवः—एषु पुत्र अम् य, पुत्र अम् काम्य, कुम्भ अम् कार, उपगु अस् अ इति स्थिते ऐकार्थ्ये सति तन्निमित्तस्य स्यादेर्लुप् । ऐकार्थ्ये इति निमित्तसप्तमीविज्ञानादैकार्थ्योत्तरकालस्य न भवति चित्रगुः । ऐकार्थ्ये इति किम् ? चित्रा गावो यस्येत्यादि वाक्ये न भवति ॥ *आरूढपुरुषो गिरिरिति द्वितीयाबहुव्रीहिः । एवं कृतपुण्य इत्यादयस्तृतीयादिबहुव्रीहयो ज्ञेयाः । **अनेकं चेति**—अनेकमपि समानाधिकरणं नाम नाम्ना द्वितीयाद्यन्तान्यपदस्यार्थे समस्यते, स च समासो बहुव्रीहिर्यथा—आरूढा बहवः पुरुषा यं स आरूढबहुपुरुषो गिरिः । एवं ऊढा बहवो रथा येन स ऊढबहुरथोऽनड्वान् । शोभनाः सूक्ष्मजटाः केशा यस्य स सुसूक्ष्मजटकेशः । शोभनं नतमजिनं वासोऽस्य सुनताजिनवासाः । सञ्जातान्यन्तेषु शितानि रन्ध्राण्यस्मिन्—समन्तशितिरन्ध्रः । पञ्च गावो धनमस्य पञ्चगवधनः । पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः । नामनाम्नेति विवक्षितसङ्ख्यत्वादनेकस्य समासो न स्यादित्यनेकग्रहणम् । **अव्ययं खल्वपि**—उच्चैर्मुखमस्योच्चैर्मुखः, एवं नीचैर्मुखः; अन्तरङ्गमस्यान्तरङ्गः, एवं बहिरङ्गः, कर्तुं कामोऽस्य कर्तुकामः, एवं हर्तुमनाः । व्यधिकरणत्वादव्ययस्य न प्राप्नोतीत्यव्ययाकर्षणार्थश्चकारः । सामानाधिकरण्ये त्वेकार्थमित्यनेनापि सिद्ध्यति—अस्ति क्षीरमस्या अस्तिक्षीरा गौः । क्रियावचनत्वे त्वस्त्यादीनां नाम नाम्नेत्यादिनैव सिद्धम् । ऐकार्थ्यग्रहणं किम् ? पञ्चभिर्भुक्तमस्य । द्वितीयाद्यन्यार्थ इत्येव—वृष्टे मेघे गतः । यथा मे माता तथा मे पिता । सुस्नातं भोः । इह कस्मान्न भवति, वृष्टे मेघे गतं पश्य—बहिरङ्गाऽत्र द्वितीयान्ततेति । शब्दे कार्यासम्भवादर्थे लब्धे यदर्थग्रहणम्, तदन्यपदार्थस्य या लिङ्गसङ्ख्याविभक्तयस्ता यथा स्युरित्येवमर्थम् । बहुलाधिकारात्—राजन्वती भूरनेन, प्राग्ग्रामो अस्मात्, पञ्च भुक्तवन्तोऽस्येत्यादिषु न भवति ॥ ३ ॥

उष्ट्रमुखादयः ॥ ४ ॥ [सि० ३।१।२३]

एते बहुव्रीहिसमासा निपात्यन्ते । उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः । वृषस्कन्धः ॥ ४ ॥

"उष्ट्र०" वृषस्कन्ध इव स्कन्धोऽस्य स वृषस्कन्धः । एवमिभकुम्भाविव स्तनौ यस्याः सेभकुम्भस्तनी । एवं नागनासोरूः, हरिणाक्षी, हंसगमना, चन्द्रमुखी, कमलवदना, बिम्बोष्ठी, चक्रनितम्बा । पितुरिव स्थानमस्य पितृस्थानः । पितरीव स्थानीयमस्मिन् पितृस्थानीय इत्यादि । अत्रोपमानमुपमेयेन

---

१ समासेऽपि विभक्तेः सम्भव इति । २ ऐकार्थ्यस्य च पूर्वकालवार्त्तिन्येव विभक्तिर्निमित्तं तस्यामैकार्थ्यस्य भावात्, उत्तरकालभाविन्यास्तु विभक्तेरैकार्थ्यमेव निमित्तम्, सत्यैकपद्ये तस्याः सम्भवादिति ।

सामान्यवाचिना च सह समस्यते । उपमेयसरूपस्य चोपमानपदस्य यथासम्भवं लोपः । कण्ठे स्थिता इत्यलुप्समासस्ततः कण्ठे स्थिताः काला यस्य स कण्ठेकालः, एवमुरसि स्थितानि लोमान्यस्योरसिलोमा, एवमुदरेमणिः, वहेगडुरित्यादिषु सप्तमीपूर्वपदं समानाधिकरणं समस्यते उत्तरपदस्य च लोपः । व्यधिकरणो वा कण्ठेकालादिषु बहुव्रीहिः । केशसङ्घातश्चूडाऽस्य केशचूडः, सुवर्णविकारोऽलङ्कारोऽस्य सुवर्णालङ्कार इत्यादिषु सङ्घातविकारापेक्षया षष्ठ्या समस्तं सामानाधिकरण्यं समस्यते, उत्तरपदलोपश्च ॥ केशसङ्घातचूडः, सुवर्णविकारालङ्कारः इत्यप्यन्यः ॥ तथा प्रपतितानि पर्णान्यस्य प्रपर्णः प्रपतितपर्णः, प्रपलाशः प्रपतितपलाशः, उद्रश्मिः उद्गतरश्मिरित्यादिषु प्रादिपूर्वं धातुजं पदं समस्यते, तस्य च विकल्पेन लोपः । तथा अविद्यमानः पुत्रोऽस्य अपुत्रः अविद्यमानपुत्र इत्यादिषु नञ्पूर्वमस्त्यर्थपदं समस्यते, तस्य च वा लोपः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ४ ॥ **बहुव्रीहिविशेषमाह—**

सहस्तेन ॥ ५ ॥ [सि० ३।१।२४]

तेनेति तृतीयान्तेन सहशब्दोऽन्यपदार्थे समस्यते ॥ ५ ॥

"सह०" । तेनेति अयं भावः—तुल्ययोगे विद्यमानार्थे च वर्त्तमानं सह इत्येतन्नाम तृतीयान्तेन नाम्ना अन्यपदार्थे समस्यते, स समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति ॥ ५ ॥ **अत्रोपयोगिसूत्रमाह—**

सहस्य सोऽन्यार्थे ॥ ६ ॥ [सि० ३।२।१४३]

बहुव्रीहौ सहस्य सो वा स्यात् । सपुत्रः सहपुत्रो वा गतः *क्वचिन्नित्यम्—सरसा दूर्वा । *साग्निः कपोतः । सद्रोणा खारी । [1]क्वचिन्न—स्वस्ति गुरवे सहशिष्याय ॥ ६ ॥

"सहस्य०" । आगत इति अत्र तुल्ययोगे सहशब्दः आगमनक्रियया पितापुत्रयोरुभयोरपि योगात् । विद्यमानार्थे—सह कर्मणा वर्त्तते सकर्मकः; विद्यमानताऽत्र सहार्थो न तु तुल्ययोगः । सह इति किम् ? सार्द्धं सत्रा अमा पुत्रेणागतः । बहुलाधिकाराद्विद्यमानार्थे क्वचिन्न भवति—सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी । सहैव धनेन भिक्षां भ्रमति । प्रथमान्तान्यपदार्थ आरम्भः **सहस्तेनेति सूत्रे** । अन्यार्थ इति किम् ? सह कृत्वा सह युध्वा सहकारी सहजः । ***क्वचिदित्यादि—"नाम्नि"** (३।२।१४४) अन्यार्थे समासे उत्तरपदे सहशब्दस्य सादेशो नित्यं भवति, संज्ञायां विषये । सरसा दूर्वेति—एवं सहाश्वत्थेन वर्त्तते साश्वत्थं, सपलाशं सशिंशिपं वनम् । एवंनामानि वनानि । अन्यार्थे इत्येव—सह चरतीति सहचरः कुरण्टकः । सह दीव्यति सहदेवः कुरुः । ***साग्निरित्यादि** । अत्र सूत्रम्—**"अदृश्याधिके"** (३।२।१४५) अदृश्यं परोक्षम् । अधिकमधिरूढम् । तद्वाचिनोरुत्तरपदयोरन्यार्थे समासे सहशब्दस्य नित्यं सादेशो भवति । तत्र अदृश्ये—साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या । अधिके सद्रोणा खारी, समाषः कार्षापणः । [1]**क्वचिन्नेति** अत्र सूत्रम्—**"नाशिष्यगोवत्सहले"** (३।२।१४८) आशिषि गम्यायां गवादिवर्जिते उत्तरपदे परे सहशब्दस्य सादेशो न भवति । अगोवत्सहले इति किम् ? स्वस्ति भवते सगवे सहगवे, सवत्साय सहवत्साय, सहलाय सहहलाय । एतत्सर्वं *कचिदित्यादिना सङ्क्षेपेणाह ॥६॥ पुनरपि **बहुव्रीहिविशेषमाह—**

दिशो रूढ्यान्तराले ॥ ७ ॥ [सि० ३।१।२५]

दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक् । सर्वादयोऽस्यादौ इति पुंवद्भावः । *इत्यादयोऽपि बहुव्रीहिसमासा ज्ञेयाः । *यत्र प्रधानस्यैकदेशो विशेषणतया ज्ञायते स तद्गुणसंविज्ञानः । लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः ॥ ७ ॥

---

१ साधारणधर्मवाचिनावस्थानादिना रूपेणेत्यर्थः ।

"दिशो०" । रूढ्या दिशः सम्बन्धिनाम रूढ्यैव दिशः सम्बन्धिना नाम्नाऽन्तराले अन्यपदार्थेऽभिधेये समस्यते, स समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । दक्षिणपूर्वा दिगिति एवं पूर्वोत्तरा, उत्तरपश्चिमा, दक्षिणपश्चिमा । **"सर्वादयोऽस्यादौ"** (३।२।६१) इति–सूत्रमिदम्; अस्यायमर्थः–सर्वादिगणः परतः स्त्री पुंवत्स्यात्, अस्यादौ–स्यादिपरश्चेन्न स्यात् । स्यादिवर्जनात् प्रत्यये पदे च परे भवति । सर्वासां प्रियः सर्वप्रियः, भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः, एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्, एकस्या आगतम् एकरूप्यम्, एकमयम्, तया प्रकृत्या तथा तेन प्रकारेणेत्यर्थः । स्त्रीत्वव्यक्त्यर्थमेवं निर्देशः (**अथ** चात्र पुंवद्भावः किमर्थः समजनि ? उच्यते–अत्र पुंवद्भावे सति स्त्रियामाप् न भवति । एवं यथा तदेत्यादि) एवं यथा । तस्यां वेलायां तदा । एवं यदा कदा सर्वदा अन्यदा तर्हि यर्हि कर्हि । सर्वामिच्छति सर्वकाम्यति, भवत्काम्यति, एककाम्यति । [1]परत्वात्प्रतिषेधविषयेऽपि–सर्वा प्रियाऽस्य सर्वप्रियः (सर्वादय इति किम् ? कन्यापुरम् कुमारीवासः । कन्याशब्दो व्याकरणे कन्य इति पुमानपि प्रसिद्ध इत्यत्र सूत्रसाफल्यम्) अस्यादाविति किम् ? सर्वस्यै दक्षिणपूर्वस्यै । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन **भूतपूर्वसर्वादेरपि**–दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्, "न सर्वादिः" (१।४।१२) इति सर्वादित्वाभावः ॥ कथं पश्चिमदक्षिणा, पश्चिमोत्तरा कथम्, कर्मधारयोऽयम्, बहुव्रीहौ हि सर्वनाम्नः पूर्वनिपातः स्यात् । रूढिग्रहणं यौगिकनिवृत्त्यर्थं तेन ऐन्द्र्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर्यदन्तरालं इति वाक्यमेव—

*इत्यादयोऽपीति इत्यत्रादिशब्दात् **"आसन्नादूराधिकाध्यर्द्धार्द्धादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे"** (३।१।२०) आसन्नादीनि चत्वारि अर्धशब्दपूर्वपदं च पूरणप्रत्ययान्तं नाम सङ्ख्यावाचिना नाम्नैकार्थ्ये समस्यते, द्वितीयाद्यन्तस्यान्यस्य पदस्यार्थे सङ्ख्येयरूपेऽभिधेये, स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । आसन्ना दश दशत्वं येभ्यो येषां वा ते आसन्नदशाः–नवैकादश वा । एवमासन्नविंशाः–एकोनविंशतिरेकविंशतिर्वा, एवमदूरदशा अदूरविंशा । अधिका दश येभ्यो येषु वा ते अधिकदशा एकादशादयः । अधिकत्वं च दशानामेकाद्यपेक्षम् । अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः । एवमधिकविंशा एकविंशत्यादयः । अद्ध्यर्द्धा विंशतिर्येषां ते अद्ध्यर्द्धविंशाः, त्रिंशदित्यर्थः । एवमद्ध्यर्द्धत्रिंशाः । अर्द्धपञ्चमा विंशतयो येषां ते अर्द्धपञ्चमविंशाः, नवतिरित्यर्थः । एवमर्द्धचतुर्थविंशाः, सप्ततिरित्यर्थः । अर्द्धतृतीयविंशाः, पञ्चाशदित्यर्थः **"अव्ययम्"** (३।१।२१) अव्ययं नाम सङ्ख्यावाचिना नाम्नैकार्थ्ये समस्यते, द्वितीयान्ताद्यन्यार्थे सङ्ख्येयेऽभिधेये, स च समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । उप समीपे दश येषां ते उपदशाः–नवैकादश वा । एवमुपविंशाः, उपत्रिंशाः, उपचत्वारिंशाः । पुनरपि **बहुव्रीहिविशेषमाह**–

*यत्रेत्यादि निगदसिद्धम् ॥ ७ ॥ **अथ बहुव्रीहौ पूर्वपदव्यवस्थामाह—**

विशेषणं सर्वादिसङ्ख्यं बहुव्रीहौ ॥ ८ ॥ [सि० ३।१।१५०]

विशेषणं सर्वादिकं सङ्ख्यावाचि च बहुव्रीहौ प्राक् स्यात् । गौणस्य गोशब्दस्य ङ्याद्यन्तस्य चान्तस्थस्य ह्रस्वो वक्तव्यः । चित्रगुः । सर्वशुक्लः । द्विकृष्णः ॥ ८ ॥

"विशेषण०" चित्रगुरिति–चित्रा गावोऽस्येत्यत्र चित्रस्य विशेषणत्वात् पूर्वनिपातः । अत्र कार्यविशेषं लेशेनाह–गौणस्येत्यादि, ङ्याद्यन्तस्येति–ङ्यन्तस्याबन्तस्य ऊङन्तस्येत्यर्थः–अत्रायं सूत्रसम्प्रदायः **"गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिसमासेयो बहुव्रीहौ"** (२।४।९६) गौणस्याक्विपो गोशब्दस्य ङ्याद्यन्तस्य च नाम्नोऽन्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वो भवति, न चेदसावनंशिसमासान्त ईयस्वन्तबहुव्रीह्यन्तो वा

१ कल्याणी प्रियेत्यादौ 'नाप्प्रियादौ' (३।२।५३) इत्यादि प्रतिषेधः सावकाशः । भवत्पुत्र इत्यादौ त्वयं विधिः । सर्वा प्रियाऽस्य सर्वप्रिय इत्यादौ तूभयप्राप्तौ द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वे परत्वादनेन पुंवद्भावः ।

भवति । एवं पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः, कोशाम्ब्या निर्गतो निःकोशाम्बिः, खट्वामतिक्रान्तोऽतिखट्वः, अतिब्रह्मबन्धुः, प्रियवामोरुः । गौणस्येत्येव–सुगौः, किंगौः, राजकुमारी, नक्षत्रमाला, परमब्रह्मबन्धूः । अक्विप इत्येव–गामिच्छति क्यन् गव्यतीति क्विप् गौः ततः प्रिया गौरस्य प्रियगौः । कुमारीमिच्छति क्यन्, क्विप् ततः, कुमारी, ततः प्रियश्चासौ कुमारी च प्रियकुमारी चैत्रः । गोश्चेति किम् ? अतितन्त्रीः, अतिलक्ष्मीः, अतिश्रीः, अतिभ्रूः । अन्त इति किम् ? गोकुलम्, कुमारीप्रियः, कन्यापुरम्–अत्र गोशब्दो ङ्याद्यन्तं च समासार्थे न्यग्भूतत्वाद्गौणम् । अनंशिसमासेयो बहुव्रीहाविति किम् ? अर्द्धं पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली, बह्वयः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसीपुरुषः ॥ सर्वशुक्ल इति सर्वं शुक्लमस्य सर्वशुक्लः–अत्र सर्वादित्वात्सर्वशब्दस्य पूर्वनिपातः । द्विकृष्ण इति–द्वौ कृष्णावस्य द्विकृष्णम्, चतुर्ह्रस्वः, पञ्चदीर्घः, षडुन्नतः, सप्तरक्तः; उन्नतरक्तशब्दौ न क्तान्तावपि तु गुणशब्दौ तेन स्पर्द्धे क्तलक्षणः पूर्वनिपातो न भवति–शब्दस्पर्द्धे परत्वात् सर्वादिसङ्ख्ययोः सङ्ख्याया एव पूर्वनिपातः । त्र्यन्यः, द्वियुष्मत्कः, द्व्यस्मत्कः । उभयोस्तु[2] सर्वादित्वे स्पर्द्धे परस्य पूर्वनिपातः–द्व्यन्यः । बहुव्रीहाविति किम् ? उपसर्वं 'प्रथमोक्तं प्राक्' (३।१।१४८) इत्यनियमे प्राप्ते नियमार्थं वचनम् । सर्वादिसङ्ख्ययोर्विशेषणत्वेऽपि[3] पृथग्वचनं शब्दपरस्य स्पर्द्धार्थम् ॥ ८ ॥

क्ताः ॥ ९ ॥ [सि० ३।१।१५१]

क्तान्तं नाम बहुव्रीहौ प्राक् स्यात् । कृतकटः । *क्वचिद्वा । शाङ्गरजग्धी जग्धशाङ्गरा । मासयाता यातमासा । जातसुखा सुखजाता । [1]आहिताग्निः अग्न्याहितः । △ उद्यतासिः अस्युद्यतः "प्रियः" (३।२।१५७) । प्राग्वा । गुडप्रियः, प्रियगुडः ॥ ९ ॥

क्ताः । कृतकट इति–कृतः कटो येन सः तथा । क्तान्तस्य विशेषणत्वात्पूर्वेण सिद्ध्यति, विशेष्यार्थं तु वचनम् । कटे कृतमनेन कृतकटः । स्पर्द्धे परत्वार्थं च कृतभव्यकटः । बहुवचनं व्याप्त्यर्थं तेन कृतप्रिय इत्यत्रापि परेणापि स्पर्द्धे क्तान्तस्यैव पूर्वनिपातः । *क्वचिद्वेति क्वचिद्बहुव्रीहौ समासे क्तान्तं वा पूर्वं निपतति । अत्रेयं सूत्रपद्धतिः **"जातिकालसुखादेर्नवा"** (३।१।१५२) जातिवाचिभ्यः कालवाचिभ्यः सुखादिशब्ददशकाच्च बहुव्रीहौ क्तान्तं वा पूर्वं निपतति । **जाति.**–शाङ्गरो जग्धोऽनयेति विग्रहे "अनाच्छादजात्यादेर्नवा" (२।४।४७) इति क्तान्ताद् ङीविकल्पे शाङ्गरजग्धी शाङ्गरजग्धा । क्तान्तस्य पूर्वनिपातपक्षे तु जग्धशाङ्गरा । जातिविशेषवचनोऽयम् । कटकृतः कृतकटः, व्यक्तिविवक्षायां तु "क्ताः" इत्यनेन कृतकट इत्याद्येव भवति । **काल.**–मासयाता । यातमासा । **सुखादयो दश**–सुखयाता यातसुखा दुःखहीना हीनदुःखा । सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र अलीक करुण कृपण सोढ प्रतीप इति सुखादिः ॥ १० ॥ [1]अग्न्याहित इति **"आहिताग्न्यादिषु"** (३।१।१५३) आहिताग्न्यादिषु बहुव्रीहिसमासेषु क्तान्तं वा पूर्वं निपतति । आहितोऽग्निर्येन स आहिताग्निः, अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः २, जातदन्तः २, जातश्मश्रुः २, पीततैलः २, पीतघृतः २, पीतमद्यः २, पीतविषः २, ऊढभार्यः २, गतार्थः २, छिन्नशीर्षः २ । बहुवचनमाकृतिगणार्थं तेन पीतदधिः दधिपीत इत्यादयोऽपि भवन्ति । △ अस्युद्यत इति **"प्रहरणात्"** (३।१।१५४) प्रहरणवाचिनः

---

१ अस्यायं तात्पर्यार्थः–अल्पस्वरत्वात्सङ्ख्याशब्दस्य पूर्वप्रयोगे प्राप्ते लक्षणातिक्रमेण विशेषणं सर्वादिसङ्ख्यमिति निर्देशः शब्दपरस्पर्द्धार्थः तेन तत्र सङ्ख्येति सर्वादीति चोभयोः प्रसङ्गे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् सङ्ख्येति पूर्वप्रयोगो भवति । २ सामान्येऽपि सर्वादित्वे पाठापेक्षया यः परः सर्वादिस्तेन भाव्यम् । सङ्ख्याशब्दस्य तु सर्वादित्वेऽसर्वादित्वे च पूर्वनिपात एवसूत्रे परत्रोपादानात् । ३ ननु सर्वादिसङ्ख्याभ्यामारब्धेऽपि बहुव्रीहावन्यपदार्थस्यैव प्राधान्यात्तस्य च विशेष्यत्वादेतयोर्विशेषणत्वाद्विशेषणग्रहणेनैव भविष्यति, किमर्थं पृथगुपादानमित्याशङ्का ।

शब्दात् क्तान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं निपतति । उद्यतोऽसिरनेन उद्यतासिः असुद्यतः, कलितप्रहरणः प्रहरणकलितः, आकृष्टधन्वा धनुराकृष्टः, उद्यतमुसलः मुसलोद्यतः । "प्रियः" । स्पष्टम् ॥ ९ ॥

न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च ॥ १० ॥ [सि० ३।१।१५५]

इन्द्वादिभ्यः प्रहरणार्थाच्च सप्तम्यन्तं बहुव्रीहौ प्राग् न स्यात् । इन्दुमौलिः । चक्रपाणिः । "गड्वादिभ्यः" (३।१।१५६) । वा । कण्ठेगडुः । गडुकण्ठः ॥ १० ॥

"न स०" इन्दुमौलिरिति इन्दुमौलौ यस्य स इन्दुमौलिः । एवं शशिशेखरः, पद्मनाभः, पद्महस्तः, शङ्खपाणिः, दर्भपवित्रपाणिः पद्मपाणिरित्यादि । प्रहरणात्–चक्रं पाणौ यस्य स चक्रपाणिः–एवं असिपाणिः शूलपाणिः शार्ङ्गपाणिः धनुःपाणिः धनुर्हस्तः पाशहस्तः खड्गहस्तः वज्रहस्तः वज्रपाणिः । बहुलाधिकारात् पाणिवज्रः हस्तवज्र इत्यत्र पूर्वनिपातोऽपि । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम्, एवमुत्तरत्रापि । **"गड्वा०"** कण्ठेगडुरिति–एवं शिरसि गडुः गडुशिराः, शिरस्यरुः अरुःशिराः, मध्ये गुरुः गुरुमध्यः, अन्ते गुरुः गुर्वन्तः, । व्यवस्थितविभाषया वहेगडुरित्येव भवति ॥ १० ॥ **अथ बहुव्रीहौ पूर्वपदस्य कार्यविशेषमाह—**

परतः स्त्रीपुंवत्स्त्र्येकार्थेऽनूङ् ॥ ११ ॥ [सि० ३।२।४९]

परतो विशेष्यवशात्स्त्रीलिङ्गः स्त्रीवृत्तावेकार्थे उत्तरपदे परे पुंवत्स्यात् न तूङन्तः । दर्शनीया भार्या यस्य सः दर्शनीयभार्यः । परत इति किम् ? द्रुणीभार्यः । स्त्र्येकार्थ इति किम् ? गृहिणीनेत्राः । अनूङिति किम् ? करभोरूभार्यः ॥ ११ ॥

"परतः०" । दर्शनीयभार्य इति–'गुणवृत्तेराश्रयाद्वचनलिङ्गे' इति वचनात् दर्शनीयाशब्दः परतः स्त्री, एवं पटुभार्यः, कल्याणभार्यः, शोभनभार्यः । एनी भार्या यस्य स एनभार्यः । युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः । **कर्मधारयेऽपि**–कल्याणी चासौ पञ्चमी च कल्याणपञ्चमी, पट्वी च मृद्वी च पट्वीमृद्व्यौ ते भार्ये यस्य स पट्वीमृदुभार्यः । अत्र द्वन्द्वपदानां परस्परार्थसङ्क्रमात् द्व्यर्थस्य मृदुशब्दस्य द्व्यर्थेन भार्याशब्देन सामानाधिकरण्यमिति पुंवद्भावः । पूर्वस्य तु व्यवधानान्न भवति । अनूङिति किम् ? ब्रह्मबन्धूभार्यः । अनूङिति प्रसज्यप्रतिषेधात्, इडविडोऽपत्यं स्त्री "राष्ट्रक्षत्रियात्सरूपात्०" (६।१।११४) इत्यञ् "द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः" (६।१।१२३) इति तस्य लुप् इडविड् सा चासौ भार्या च ऐडविडभार्येत्यादिषु "पुंवत्कर्मधारये (३।२।५७) इत्यनेन पुंवद्भावः, नत्वनेन–स्वाङ्गाद् ङीर्जातिश्चेति निषेधात् । पर्युदासे हि ऊङ्सदृशप्रत्ययान्तस्यैव पुंवद्भावः स्यादिति ॥ नन्वनूङिति निषेधोऽत्र सूत्रे किमुच्यते ? "नाप्रियादौ" (३।२।५३) इत्यादौ निषेधाधिकारे एव युक्तः । सत्यम् । यद्यत्रैवं न कुर्यात्तत्रैव ऊङिति सूत्रान्तरं विदध्यात्ततो यथा नाप्रियादीनां निषेधानां "पुंवत्कर्मधारये" (३।२।५७) इति प्रतिप्रसव उक्तस्तथाऽस्यापि स बाधकः स्यात्, स मा भूदित्येवमर्थमनूङिति वचनमत्र युक्तम् ॥ द्रुणीभार्य इति–द्रोण्यादिशब्दानां नित्यस्त्रीत्वान्न परतः स्त्रीत्वम्, एवं द्रोण्यादिशब्दानामपि । एवं कुटीभार्यः, पात्रीभार्यः । ननु कुटपात्रशब्दावन्यलिङ्गावपि स्तस्तत्कथमाविष्टलिङ्गत्वम् ? सत्यम्, कुटशब्दो गेहे पात्रशब्दस्तु भाजने वर्त्तमानः स्त्रीलिङ्ग एव कैश्चिदुक्तस्तदभिप्रायेणेदमुच्यते इति । ननु द्रोण्यादीनां त्रयाणामाविष्टलिङ्गानां पुंवद्भावे किं स्यादित्याशङ्कायामाह–अत्र पुंवद्भावे शब्दतः प्रत्यासन्ना द्रोणकुटपात्रशब्दाः प्राप्नुयुः द्रुणीभार्यः वरटाभार्यः वडवाभार्यः । ननु द्रुणशब्दस्य वृश्चिकवाचकस्य 'वृश्चिको द्रुणः आल्यालिः' इति वचनात्पुंस्त्वमपि दृश्यते तत्कथं नित्यस्त्रीत्वम् ? सत्यम् । न तद्वैयाकरणसम्मतं किन्त्वऽभिधानकारणा-

मेव । ननु द्रुण्यादीनां त्रयाणामाविष्टलिङ्गानां पुंलिङ्गे प्रयोगादर्शनात्पुंवद्भावे किं स्यादित्यत्रोच्यते—अत्र पुंवद्भावेऽर्थतः प्रत्यासन्नाः कूर्महंसाश्वशब्दाः प्राप्नुयुः । परतः स्त्रीत्यत्र स्त्रीति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः—अत्र ग्रामणिशब्दस्य परतो नपुंसकस्य पुंस्त्वं मा भूत् । गृहिणीनेत्रा इति—नेत्रमिव नेत्रम्, गृहिणीनेत्रं येषां ते तथा; अत्र यद्यपि नेत्रशब्दो गृहिणीशब्देन सहैकार्थोऽस्ति, तथापि नासौ स्त्रीवृत्तिरिति । कल्याण्याः माता कल्याणीमातेत्यत्र स्त्रीवृत्तावुत्तरपदे सत्यपि नैकार्थ्यमिति ॥ ११ ॥

अत्र पुंवद्भावस्य विधिसूत्राणि चत्वारि सन्ति । तेष्वेकमिदमुक्तम्, त्रीणि च तद्धिते पूरणप्रत्ययाधिकारे वक्ष्यन्ते । अतः परं चत्वारि पुंवद्भावप्रतिषेधसूत्राणि निरूप्यन्ते—

स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चामानिनि ॥ १२ ॥ [सि० ३।२।५६]

स्वाङ्गाद्यो ङीस्तदन्तो जातिवाची च परतः स्त्रीपुंवन्न स्यात् । दीर्घकेशीभार्यः । शूद्राभार्यः । कठीभार्यः । अमानिनीति किम् ? दीर्घकेशमानिनी । ❀क्वचिदन्यत्राप्येवम्—कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीप्रियः । मद्रिकाभार्यः । कारिकाभार्यः । द्वितीयाभार्यः । दत्ताभार्यः ॥ १२ ॥

"स्वाङ्गा०" । स्वाङ्गादित्यादि स्पष्टम् । अमानिनीति—मानिनि शब्दे चोत्तरपदे पुंवद्भावनिषेधो न भवति । दीर्घकेशमानिनी कठमानिनी । जातिवाचित्वेऽपि "आकृतिग्रहणाज्जातिः, अत्रिलिङ्गा च यान्विता । आजन्मनाशमर्थानां सामान्यमपरे विदुः" ॥ १ ॥ अत्र प्रथमजातिलक्षणानुसारेण कुमारीभार्यः किशोरीभार्यः इति भवति, द्वितीयलक्षणानुसारेण तु कुमारभार्यः किशोरभार्यः इति भवति, नहि कुमारत्वाद्युत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशमनुवर्त्तते, दीर्घकेशीभार्यः इति दीर्घाः केशाः यस्याः सा तथा "असहनञ्विद्यमान०" (२।४।३८) इत्यादिना ङीः । कठीभार्य इति 'गोत्रं च चरणैः सहेति' कठीशब्दस्य जातिवाचित्वम् । ❀क्वचिदन्यत्राप्येवमिति—बहुव्रीह्यादौ पूर्वपदस्य पुंवद्भावो न भवतीत्यर्थः । कल्याणीत्यादि—अत्रेयं सूत्रवीथी—"**नाप्प्रियादौ**" (३।२।५३) पूरण्यप्प्रत्ययान्ते स्त्र्येकार्थे उत्तरपदे प्रियादौ च परे परतः स्त्री पुंवन्न भवति । कल्याणी पञ्चमी रात्रिर्यासां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, "**पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप्**" (७।३।१३०) पूरणप्रत्ययान्तः स्त्रीलिङ्गशब्दः पूरणी, तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति, तत्प्राधान्ये—तस्याः पूरण्याः प्राधान्ये । समासेनाभिधीयमानो ह्यर्थः प्रधानं भवति । अत्र रात्रयः समासार्थस्तासु पञ्चम्यपि रात्रित्वेनानुप्रविष्टेति प्रधानम् । कल्याणीप्रिय इति—कल्याणी प्रिया यस्य स तथा, एवं भव्याप्रियः प्रियासुभगः कल्याणीदुर्भगः ॥ प्रिया मनोज्ञा कल्याणी सुभगा दुर्भगा स्वा क्षान्ता कान्ता वामना समा सचिवा चपला बाला तनया दुहितृ भक्ति इति षोडशकः प्रियादिगणः । वामेत्यप्यन्ये प्रियावामः । कथं दृढभक्तिरिति—दृढं भक्तिरस्येत्येवमस्त्रीपूर्वपदस्य विवक्षितत्वात् । मद्रिकाभार्य इत्यादि अत्र सूत्रम् "**तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्याः**" (३।२।५४) तद्धितप्रत्ययस्याऽकप्रत्ययस्य च यः कः स उपान्त्यो यासां तास्तद्धिताककोपान्त्याः, पूरणीप्रत्ययान्ता आख्याः संज्ञाः तद्रूपाश्च परतः स्त्रियः पुंवन्न भवन्ति । तद्धितक—मद्रिकाभार्यः वृजिकाभार्यः "वृजिमद्राद्देशात्कः" (६।३।३८) इति च भवार्थे कः । लाक्षिकीभार्यः ॥ अक—कारिकाभार्यः ॥ पूरणी—द्वितीयाभार्यः पञ्चमीभार्यः ॥ आख्या—दत्ताभार्यः ॥ क्यङ्मानिपित्तद्धिते परेऽप्यासां परतः स्त्रीणां पुंवद्भावो न भवति । मद्रिकायते वृजिका वेश्या । एवं पाचिकायते पाचिकामानिनी पाचिकाकल्पा । पञ्चमीयते षष्ठीमानिनी द्वितीयाकल्पा । दत्तायते दत्तामानिनी दत्ताकल्पा ।

"**तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्तविकारे**" (३।२।५५) स्वरस्थानीयाया वृद्धेर्यो हेतुस्तद्धितो रक्ताद्विकाराद्यान्यत्रार्थे विहितस्तदन्तः परतः स्त्रीलिङ्गः पुंवन्न भवति । माथुरीभार्यः । माथुरीदेश्या ।

नादेयीचरी । सौतङ्गमीयते । स्त्रौघ्नीमानिनी । तद्धित इति किम् ? कुम्भकारी भार्याऽस्य स कुम्भकारभार्यः । वृद्धिहेतुरिति किम् ? अर्द्धप्रस्थे भवा अर्द्धप्रस्थी सा भार्याऽस्य, अर्द्धप्रस्थभार्यः । *"**अर्द्धात्परिमाणस्याऽनतो वा त्वादेः**" (७।४।२०) इति आदिस्वरस्य वृद्धिविकल्पे आर्द्धप्रस्थीत्यपि । *अर्द्धात्परिमाणस्येति सूत्रस्यायमर्थः—अर्द्धशब्दात्परस्य परिमाणवाचिनः कुडवादेः शब्दरूपस्य ञ्णिति तद्धिते परे स्वरेष्वादेः स्वरस्यानतोऽकाररहितस्य वृद्धिर्भवति, वा त्वादेः—परिमाणात्पूर्वस्य त्वर्द्धशब्दस्य वा भवति । अर्द्धकुडवेन क्रीतं अर्द्धकौडविकम् आर्द्धकौडविकम् । अनत इति किम् ? अर्द्धप्रस्थिकम् आर्द्धप्रस्थिकम्—आदिविकल्प उत्तरपदवृद्ध्यनपेक्ष इति भवत्येव । अतः प्रतिषेधादाकारस्य वृद्धिर्भवत्येव । अर्द्धखार्या भवा अर्द्धखारीकः । कः पुनरत्र विशेषः सत्यामसत्यां वा वृद्धौ ? । उच्यते । अर्द्धखारी भार्याऽस्य अर्धखारीभार्य इति । यद्यत्र वृद्धिप्रतिषेधः स्यात्तदायं तद्धितो न वृद्धिहेतुरिति पुंवद्भावप्रतिषेधो न स्याद्यथा अर्द्धप्रस्थभार्य इति । स्वरेति किम् ? वैयाकरणभार्यः । अन्ये तु वृद्धिमात्रहेतोर्ञ्णितस्तद्धितस्य पुंवत्प्रतिषेधमिच्छन्ति—तन्मते वैयाकरणीभार्यः । अरक्तविकार इति किम् ? कषायेन रक्ता काषायी, सा बृहतिकाऽस्य काषायबृहतिकः । लोहस्य विकारो लौही, लौही ईषाऽस्य लौहेषः ॥ १२ ॥ **अथ बहुव्रीहिसमासे समासप्रत्ययप्रकरणं सङ्क्षेपेणाह—**

टडापसन्कचितः ॥ १३ ॥

सप्तैते समासान्तास्तद्धिता बहुव्रीहेः स्युः । पङ्कजाक्षीत्यादि ॥ १३ ॥

टडापेत्यादि—टश्च डश्च अप् च अस् च अन् च कच् च इत् च टडापसन्कचितः । सप्तैते इत्यादि स्पष्टम् । तद्धिता इति—एते समासान्ताः प्रत्ययास्तद्धितीया भवन्तीति ज्ञेयम् । पङ्कजाक्षीति—पङ्कजमिव अक्षिणी यस्याः सा तथा । अत्र पङ्कज अक्षि इति स्थिते—

सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे (७।३।१२६)

स्वाङ्गवाची यः सक्थिशब्दोऽक्षिशब्दश्च तदन्ताद्बहुव्रीहेष्टः समासान्तो भवति ॥ १३ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रमाह—

अवर्णेवर्णस्य ॥ १४ ॥ [सि० ७।४।६८]

अपदस्यानयोस्तद्धिते परे लुक् स्यात् । टित्प्रत्ययान्तानां स्त्रियां ङीः । पङ्कजाक्षी स्त्री ॥ १४ ॥

"अवर्णे०" । अवर्णश्च इवर्णश्च अवर्णेवर्णम्, तस्य । अनयोरिति—अवर्णेवर्णयोः । अपदस्येति किम् ? शुक्लतमः ऊर्णायुः अत्र "नामसिदय्व्यञ्जने" (१।१।२१) इति पदसंज्ञा । तद्धित इत्येव—वृक्षैः, अग्न्योः । टित्प्रत्ययान्तानामिति—"अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (२।४।२०) इति ङीः । पङ्कजाक्षी । एवं गौरं सक्थ्यस्या गौरसक्थी । स्वाङ्ग इति किम् ? दीर्घसक्थि शकटम्, स्थूलाक्षिरिक्षुः । **टसमासान्तस्य** शेषसूत्राण्येवम्—"**बहुव्रीहेः काष्ठे टः**" (७।३।१२५) अङ्गुल्यन्ताद्बहुव्रीहेः काष्ठे वर्त्तमानाट्टः समासान्तो भवति । द्वे अङ्गुली यस्य तत् द्व्यङ्गुलम्, त्र्यङ्गुलम्, चतुरङ्गुलम्, पञ्चाङ्गुलम् अङ्गुलीसदृशावयवं धान्यकण्टकादीनां विक्षेपणकाष्ठमुच्यते । अङ्गुलिशब्दादयं विधिः । अङ्गुलीशब्दात्तु द्वावङ्गुलीसदृशावयवौ यस्य, द्व्यङ्गुलीकं दार्वित्याद्येव भवति ॥ "**द्वित्रेर्मूर्ध्नो वा**" (७।३।१२७) द्विमूर्द्धः द्विमूर्द्धा, त्रिमूर्द्धः त्रिमूर्द्धा, द्विमूर्द्धी स्त्री । **इति टप्रकरणम्** ॥ १४ ॥

ड इति—डः ३३

---

१ समासान्तविधेरनित्यत्वात् "अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे" (७।३।८५) इत्यनेनापि न भवति ।

सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहिः ॥ १५ ॥ [सि० ३।१।१९]

वारविकल्पार्थयोः सङ्ख्या सङ्ख्यया बहुव्रीहिः स्यात्, सङ्ख्येयार्थे । "प्रमाणीसङ्ख्याड्डः" (७।३।१२८) द्विर्दश द्विदशा घटाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः पञ्चषाः ॥ १५ ॥

"सुज्वा०" सुचोऽर्थो वारः, वाऽर्थो विकल्पः संशयो वा । सुज्वार्थे वर्त्तमानं सङ्ख्यावाचि नाम सङ्ख्येये वर्त्तमानेन सङ्ख्यावाचिना नाम्ना सहैकार्थ्ये समाससंज्ञं बहुव्रीहिसंज्ञं च भवति । **"प्रमाणी०"** प्रमाणीशब्दान्तात् सङ्ख्यावाचिशब्दान्ताच्च बहुव्रीहेर्डः समासान्तो भवति । स्त्री प्रमाणी येषां ते स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः । सङ्ख्या. द्विदशा द्वित्रा इत्यादि । एवं त्रिर्दश त्रिदशाः, द्विर्विंशतिर्द्विविंशास्त्रिर्विंशतिस्त्रिविंशाः । सुज्विकल्पार्थयोः समासेनैवाभिहितत्वादप्रयोगः । प्रमाणशब्देन सिद्धे कजभावार्थं प्रमाणीशब्दग्रहणम् । सङ्ख्यान्तस्य प्रतिपदोक्तस्य बहुव्रीहेर्ग्रहणादिह न भवति । अत्रिः, प्रियपञ्चानः ॥ **"सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाऽजपदप्रोष्ठपदभद्रपदम्"** (७।३।१२९) एते नव बहुव्रीहयो डप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोभनं कर्म प्रातरस्य सुप्रातः पुमान् । शोभनं कर्म श्वोऽस्य सुश्वः । शोभनं कर्म दिवाऽस्य सुदिवः । शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः । चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः । एण्या इव पादावस्य एणीपदः । एवमजपदः । प्रोष्ठपदः—प्रोष्ठो गौः । भद्रौ पादावस्य भद्रपदः । निपातनात् पद्भावो विषयव्यवस्था च भवति । **इति डप्रकरणम्** ॥ १५ ॥

अप् । अत्र सूत्राणि—"पूरणीभ्यस्तत्प्राधान्येऽप्" (७।३।१३०) व्याख्यातं चेदं प्राक्—

नञ्सुव्युपत्रेश्चतुरः ॥ १६ ॥ [सि० ७।३।१३१]

अचतुराः । सुचतुराः । विचतुराः । उपचतुराः । त्रिचतुराः । "नाभेर्नाम्नि" (७।३।१३४) पद्मनाभः । "नञ्सुदुर्भ्यः सक्तिसक्थिहलेर्वा" (७।३।१३६) । सञ्जनं सक्तिः । असक्तः असक्तिः ॥ १६ ॥

"नञ्०" । अविद्यमानानि अदृश्यानि वा चत्वारि यस्य सोऽचतुरः । एवं सुचतुरः विचतुरः । चत्वारः समीपे येषां ते उपचतुराः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । **"नाभे०"** पद्मं नाभौ यस्य स तथा । एवं ऊर्णनाभः, हेमनाभः, वज्रनाभः, हिरण्यनाभः, । नाम्नि इति किम् ? सरोजनाभिः । एवं **"अन्तर्बहिर्भ्यां लोम्नः"** (७।३।१३२) अन्तर्लोमान्यस्य अन्तर्लोमः । एवं बहिर्लोमः **"भान्नेतुः"** (७।३।१३३) भान्नक्षत्रवाचिनः परो यो नेतृशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो भवति । मृगो नेता यासां ता मृगनेत्रा रात्रयः । नेत्रशब्देनैव सिद्धे नेतृशब्दात् कच् मा भूदिति वचनम् । **"नञ्-बहोर्ऋचो माणवचरणे"** (७।३।१३५) न विद्यन्ते ऋचोऽस्य अनृचो माणवः । एवं बह्वृचश्चरणः । **"नञ्०"** नञादिभ्यो ये सक्त्यादयस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरप् समासान्तो वा भवति । असक्त इति किम् ? 'षंजी सङ्गे', सञ्जनं सक्तिः । अविद्यमाना सक्तिरस्य असक्तः, पक्षे असक्तिः । एवं सुसक्तः २, दुःसक्तः २, अहलः २, सुहलः २, दुर्हलः २ । हलसक्तशब्दाभ्यां सिद्धे कजभावार्थं वचनम्, तेन न विद्यते हलमस्य अहलक इत्यादि न भवति । सक्थिशब्दान्नेच्छन्त्यन्ये । वचनभेदो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः । **इत्यप् समासान्तप्रकरणम्—**

"प्रजाया अस्" (सि० ७।३।१३७) "प्रजा०" नञादयोऽनुवर्त्तन्ते । नञादिभ्यः परो यः प्रजाशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरस्समासान्तो भवति ॥ १६ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रमाह—

नञत् ॥ १७ ॥ [सि० ३।२।१२५]

उत्तरपदे परे नञः अः स्यात् । अप्रजाः सुप्रजाः ॥ १७ ॥

"नञत्" स्पष्टम् । अप्रजा इति अविद्यमानाः प्रजा अस्य अप्रजाः । अप्रजसौ । असूप्रत्ययान्तानां सुवचसूशब्दवद्रूपाणि ॥ १७ ॥

मन्दाल्पाच्च मेधायाः ॥ १८ ॥ [सि० ७।३।१३८]

नञादिभ्यस्त्रिभ्यो मन्दाल्पाभ्यां च मेधाया अस् । अमेधाः । मन्दमेधाः । अल्पमेधाः ॥१८॥

"मन्दा०" अमेधा इति-एवं सुमेधाः दुर्मेधाः मन्दमेधाः । **इत्यसूसमासान्तः** ॥ १८ ॥

द्विपदाद्धर्मादन् ॥ १९ ॥ [सि० ७।३।१४१]

"समानस्य धर्मादिषु" (३।२।१४९) धर्मादावुत्तरपदे समानस्य सः । सधर्मा ॥ १९ ॥

"द्विप०" । धर्मशब्दान्ताद्विपदाद्बहुव्रीहेरन् समासान्तो भवति । अत्रोपयोगिसूत्रमाह **"समा०"** सधर्मेति-समानो धर्मोऽस्य सधर्मा, तथा समानो वा धर्मः सधर्मः । एवं समाना जातिरस्य सजातीयः । समानं नामास्य सनामा, समानं नाम सनाम इति वा । धर्म जातीय नाम गोत्र रूप स्थान वर्ण वयस् वचन ज्योतिस् जनपद रात्रि नाभि बन्धु पक्ष गन्ध पिण्ड देश कर लोहित कुक्षि वेणि इति द्वाविंशतिः धर्मादयः । (धर्मादिषु वचनान्तेषु नवसु) विकल्पमिच्छन्त्येके-कल्याणधर्मा कल्याणधर्मकः । द्विपदादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । इह कस्मान्न भवति परमः स्वधर्मोऽस्य परमस्वधर्मः ? प्रत्यासत्तेर्द्विपदस्य बहुव्रीहेर्यदि धर्म एवोत्तरपदं भवति तदा स्यात् इतीह न भवति । एवं **"सुहरिततृणसोमाज्जम्भात्"** (७।३।१४२) । जम्भशब्दोऽभ्यवहार्यवचनो दंष्ट्रा-वचनो वा । "दाढिका दंष्ट्रिका दाढा दंष्ट्रा जम्भो" इति **अभिधानचिन्तामणिः** । "जम्भः स्याद्दान-वान्तरे''''दन्तभोजनयो"रिति **अनेकार्थः** । स्वादिपूर्वो यो जम्भशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरन् समासान्तो भवति-शोभनो जम्भो जम्भा वास्य सुजम्भा, हरितजम्भा तृणजम्भा, दंष्ट्रापक्षे तृणमिव जम्भोऽस्य तृण-जम्भा एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? चारुजम्भः पतितजम्भः । **"दक्षिणेर्मा व्याधयोगे"** (७।३।१४३) । ईर्म्मं बहु व्रणं वा दक्षिणमङ्गमीर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः-व्यद्धुकामस्य व्याधस्य दक्षिणं भागं बहूकृत्य व्यधनानुकूलं स्थितो व्याधेन वा दक्षिणभागे कृतव्रण एवमुच्यते । व्याधयोग इति किम् ? दक्षिणेर्म्मं शकटम्, दक्षिणेर्म्मः पशुः । **इत्यन्समासान्तः** ॥ १९ ॥

इनः कच् ॥ २० ॥ [सि० ७।३।१७०]

बहुदण्डिका सेना । "ऋन्नित्यदितः" (७।३।१७१) । बहुकर्तृको बहुनदीको बहुवधूको देशः । "दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छालेः" (७।३।१७२) । प्रियदधिकः । व्यूढोरस्कः । "पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे" (७।३।१७३) । प्रियपुंस्कः । "नञोऽर्थात्" (७।३।१७४) । अनर्थकं वचः । "शेषाद्वा" (७।३।१७५) । बहुखट्वकः बहुखट्वः । *क्वचिन्न-बहुश्रेयान् बहुश्रेयसी ॥ २० ॥

"इन०" इन्नन्ताद्बहुव्रीहेः स्त्रियां कच् स्यात् । बह्वित्यादि-बहवो दण्डिनोऽस्यां सा तथा "अनिनस्-मिन्ग्रहणान्यर्थवतानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्तीति" मिनाद्यन्तानामपि भवति-बहुस्वामिका बहु-वाग्मिका पुरी । स्त्रियामित्येव-बहुदण्डिको राजा । चकारो "न कचि" (२।४।१०५) इति विशेष-

णार्थः । "**ऋन्नि०**" । "स्त्रीदूतः" (१।४।२९) इति सूत्रेण येभ्यो ङितां नित्यं दैदासाद्यादेशा भवन्ति ते नित्यदितः । ऋकारान्तान्नित्यदिदन्ताच्च बहुव्रीहेः कच् स्यात् । "**दध्युः०**" दध्यादिषट्कान्ताद्बहुव्रीहेः कच् स्यात् । व्यूढोरस्क इति—एवं प्रियसर्पिष्कः प्रियमधुकः प्रियोपानत्कः प्रियशालिकः । "**पुम०**" एकत्वविषये एतत्पञ्चकान्ताद्बहुव्रीहेः कच् स्यात् । प्रियपुंस्क इति—एवं प्रियानडुत्कः प्रियनौकः प्रियपयस्कः प्रियलक्ष्मीकः । एकत्व इति किम् ? द्विपुमान् द्विपुंस्कः । केचिल्लक्ष्मीशब्दाद्द्वित्वबहुत्वयोरपि नित्यं कचमिच्छन्ति । अपरे तुल्ययोगेऽपि—सलक्ष्मीको विनाशित इति । "**नञो०**" नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेः कच् स्यात् । न विद्यतेऽर्थोऽस्य अनर्थकं वचः । नञ इति किम् ? अपार्थम् अपार्थकम् । "**शेषा०**" यस्माद्बहुव्रीहेः समासान्तप्रत्ययः आदेशो वा न विहितः स शेषस्तस्मात्कच् स्यात्, वा ॥ अस्यापवादमाह—*कचिन्नेत्यादि । अत्रायं विवेकः—"**न नाम्नि**" (७।३।१७६) । संज्ञायां कच् न स्यात् । बहुदेवदत्तः, एवंनामा ग्रामः । विश्वदेवः, पद्मश्रीः; एवंनामानौ स्त्रीपुंसौ । "**ईयसोः**" (७।३।१७७) । ईयस्वन्ताद्बहुव्रीहेः कच् न स्यात् । बहुश्रेयानिति । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् बहवः श्रेयांसो बह्व्यः श्रेयस्यो वा यस्याः सा बहुश्रेयसी । एवं बहुप्रेयसी । "**सहात्तुल्ययोगे**" (७।३।१७८) । तुल्ययोगार्थसहशब्दादेर्बहुव्रीहेः कच् न स्यात् । तुल्ययोगो वर्त्तिपदार्थस्य पुत्रादेर्वृत्त्यर्थेन पित्रादिना सह क्रियागुणजातिद्रव्यैः साधारणः सम्बन्धो यथा सपुत्र आगतः । तुल्ययोग इति किम् ? सह विद्यमानानि लोमान्यस्य सलोमकः । सपक्षकः । "**भ्रातुः स्तुतौ**" (७।३।१७९) । शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता । स्तुताविति किम् ? मूर्खभ्रातृकः । "**नाडीतन्त्रीभ्यां स्वाङ्गे**" (७।३।१८०) । स्वाङ्गे यौ नाडीतन्त्रीशब्दौ तदन्तात्समासात् कच् न स्यात् । बहुनाडिः कायः । बहुतन्त्री ग्रीवा । तन्त्री धमनी, ङ्याद्यन्ताभावान्न ह्रस्वः । स्वाङ्ग इति किम् ? बहुनाडीकः स्तम्बः । बहुतन्त्रीका वीणा । "**निष्प्रवाणिः**" (७।३।१८१) । अत्र कजभावो निपात्यते । प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी, तन्तुवायशलाका, सा निर्गतास्मादिति निःप्रवाणिः पटः कम्बलो वा । तन्त्रादचिरोद्धृत इत्यर्थः । 'गोश्चान्ते ह्रस्व०' । इत्यादिना ह्रस्वः । ऊयतेऽस्यामिति वानिः । प्रभृता वानिः प्रवाणिः । सा निर्गता तन्तुभ्योऽस्येति निष्प्रवाणिः सदश इत्येके । "**सुभ्र्वादिभ्यः**" (७।३।१८२) । एभ्यः कच् न स्यात् । सुभ्रूः लेखाभ्रूः शलाकाभ्रूः कोमलोरूः वरोरूः पीवरोरूः । जातिवचनत्वादूदन्ता एते । एवं हि आमन्त्र्ये सौ ह्रस्वो भवति । एतत्सर्वं *कचिन्नेति सङ्क्षेपेणाह । **इति कच्समासान्तः** ॥ २० ॥

सुपूत्युत्सुरभेर्गन्धादिद्गुणे ॥ २१ ॥ [सि० ७।३।१४४]

स्वादिपूर्वाद्गन्धादित्स्यात् । सुगन्धि द्रव्यम् । "वाऽऽगन्तौ" (७।३।१४५) । सुगन्धिः सुगन्धो वा कायः । "वाल्पे" (७।३।१४६) । सूपगन्धि सूपगन्धं वा भोजनम् "वोपमानात्" (७।३।१४७) । पद्मगन्धि पद्मगन्धं वा मुखम् । *बहुव्रीहौ पादादीनां पात्प्रभृतयः आदेशाः समासान्ताः स्युः ॥ २१ ॥

"सुपू०" । गन्धादिति—गन्धशब्दान्ताद्बहुव्रीहेरित्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । "**वाग०**" स्वादिचतुष्टयात्पर आगन्तौ आहार्ये गुणे वर्त्तमानो यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरित्स्यात् । काय इति—कायस्य स्वाभाविकसुगन्धित्वाभावात्तस्यागन्तुत्वम् । "**वा०**" अल्पेऽर्थे यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरित् वा स्यात् सूपगन्धीति—सूपस्य गन्धो मात्राऽस्मिन् सूपगन्धि—अल्पसूपमित्यर्थः । असमानाधिकरण्येऽपि उष्ट्रमुखा-

---

१ समवेते तु 'सहात्तुल्ययोगे' इति निषेधात्कच् न भवति । २ वर्तन्ते पूर्वोत्तरपदान्यत्र 'विदि वृत्तेर्वा इः' वर्त्तिः समासस्तस्य पदानि तेषामर्थः ।

दित्वात्समासः । "**वोप०**" उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरित् स्यात् । पद्मगन्धीति—पद्ममिव गन्धो यस्य स तथा । **इतीत्समासान्तः** ॥ २१ ॥

अथ बहुव्रीहौ आदेशान् समासान्तान् सङ्क्षेपतो वक्तुमुपक्रमते—*बहुव्रीहावित्यादि ।

पात्पादस्याहस्त्यादेः ॥ २२ ॥ [सि० ७।३।१४८]

हस्त्यादिवर्जादुपमानात्पादस्य पात्, अघुट्स्वरादौ, पदादेशश्चास्य । व्याघ्रपात् । व्याघ्रपदः पश्य । हस्त्यादिनिषेधात् हस्तिपादः । "**सुसङ्ख्यात्**" (७।३।१५०) । सुपात् द्विपात् । "**वयसि**" (७।३।१५१) । दन्तस्य दतृः । ऋकारो नोऽन्तार्थः । सुदन् द्विदन् बालः । "**वाग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूषिकशिखरात्**" (७।३।१५४) । कुन्दाग्रदन् कुन्दाग्रदन्तः । शुद्धदन् शुद्धदन्तः । "**धनुषो धन्वन्**" (७।३।१५८) । शार्ङ्गधन्वा । "**वा नाम्नि**" (७।३।१५९) । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः । "**जायाया जानिः**" (७।३।१६४) । भूजानिः । "**स्त्रियामूधसोऽन्**" (७।३।१६९) । कुण्डोध्नी गौः ॥ २२ ॥ **इति बहुव्रीहिः ।**

"पात्पा०" अघुट्स्वरादाविति—अत्र सूत्रम्, "**यस्वरे पादः पदणिक्यघुटि**" (२।१।१०२) णिक्यघुट्वर्जे यादौ स्वरादौ च प्रत्यये पादस्य पद् स्यात् । व्याघ्रपादोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रपदः पश्य । अणिक्यघुटीति किम् ? व्याघ्रपादमाचष्टे व्याघ्रपादयति । व्याघ्रपादमिच्छति व्याघ्रपाद्यति । व्याघ्रपादौ । हस्त्यादीत्यादि—हस्तिन् अश्व कटोल कटोलक कण्डोल कण्डोलक गण्डोल गण्डोलक गडोल गडोलक गण्ड महेला दासी गणिका कुसूल कपोल जाल अज १८ इति अष्टादशको हस्त्यादिः । "**कुम्भपद्यादिः**" (७।३।१४९) । कुम्भपद्यादयः शब्दाः कृतपात्समासान्ता ङयन्ता एव बहुव्रीहयो निपात्यन्ते । कुम्भपदी जालपदी एकपदी शतपदीत्यादि । "**सु०**" । सुपूर्वस्य सङ्ख्यापूर्वस्य च पादशब्दस्य बहुव्रीहौ पादित्ययमादेशः समासान्तः स्यात् । "**वयसि**" । सुपूर्वस्य सङ्ख्यापूर्वस्य च दन्तशब्दस्य बहुव्रीहौ वयसि गम्यमाने दतृ इत्ययमादेशः समासान्तः स्यात् । "**वाग्रां०**" । अग्रान्तेभ्यः शुद्धादिभ्यः सप्तभ्यश्च परस्य दन्तशब्दस्य बहुव्रीहौ दतृ इत्यादेशः स्यात् ।

अत्रेदं ज्ञेयम्—"**स्त्रियां नाम्नि**" (७।३।१५२) । नित्यम् । अयोदती फालदती परशुदती—एवंनामा काचित् । "**श्यावाऽरोकाद्वा**" (७।३।१५३) । संज्ञायाम् । श्यावाः कपिशाः, अरोका निश्छिद्रा निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य श्यावदन् श्यावदन्तः, अरोकदन् अरोकदन्तः । **पात्**प्रभृतय इत्यत्र प्रभृतिग्रहणाच्च ज्ञ्वादयोऽप्यादेशाः सूचिताः । तथाहि "**सम्प्राज्जानोर्ज्ञुज्ञौ**" (७।३।१५५) । सङ्गते जानुनी अस्य संज्ञुः संज्ञः । प्रगते प्रवृद्धे प्रणते प्रकृष्टे वा जानुनी अस्य प्रज्ञुः प्रज्ञः । "**वोर्ध्वात्**" (७।३।१५६) । ऊर्ध्वज्ञुः ऊर्ध्वज्ञः ऊर्ध्वजानुः । "**सुहृद्दुर्हृन् मित्रामित्रे**" (७।३।१५७) । मित्रे सख्यौ अमित्रे शत्रावभिधेये एतौ निपात्येते । मित्रामित्र इति किम् ? सुहृदयो मुनिः, दुर्हृदयो व्याधः "**खरखुरान्नासिकाया नस्**" (७।३।१६०) । खरा खरस्येव नासिकाऽस्य खरणाः । खुर इव नासिका यस्य खुरणाः । "**अस्थूलाच्च नसः**" (७।३।१६१) । स्थूलवर्जितात्पूर्वपदात् खरखुराभ्यां च नासिकाया नसः स्यात्, नाम्नि । द्रुणसः खरणसः खुरणसः । अस्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । "**उपसर्गात्**" (७।३।१६२) । उपसर्गग्रहणं प्रादीनामुपलक्षणम्, नासिकाशब्दस्याक्रियार्थत्वेन तं प्रत्युपसर्गत्वायोगात् । "यत्रोपसर्गत्वं न सम्भवति तत्रोपसर्गशब्देन प्रादयो लक्ष्यन्ते न तु सम्भवत्यु-

पसर्गत्वे" इति न्यायात्, अस्मात्परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ नस इत्ययमादेशो भवति । प्रगता प्रवृद्धा वा नासिकाऽस्य प्रणसं मुखं "नसस्य" (२।३।६५) इति णः । उन्नता उद्गता वा नासिकाऽस्य उन्नसं मुखम् । असंज्ञार्थं वचनम् । **"वेः खुखग्रम्"** (७।३।१६३) । विशब्दादुपसर्गात्परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ एते आदेशाः स्युः । विगता नासिकाऽस्य विखुः विखः विग्रः । उपसर्गादित्येव—वेः पक्षिण इव नासिकाऽस्य विनासिकः । **"व्युदः काकुदस्य लुक्"** (७।३।१६५) । आभ्यां परस्यास्य बहुव्रीहौ लुगन्तादेशो भवति । विगतं काकुदं तालवस्य विकाकुद् उत्काकुत् । **"पूर्णाद्वा"** (७।३।१६६) । पूर्णकाकुद् पूर्णकाकुदः । **"ककुदस्यावस्थायाम्"** (७।३।१६७) । अवस्था वयः, ककुदं वृषस्कन्धम्, कूटम्, ककुदशब्दस्य बहुव्रीहौ अवस्थायां गम्यमानायां लुग् समासान्तो भवति । न सञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुद्—बालः । पूर्णककुद्—युवा । स्थूलककुद्—बलवान् । यष्टिककुद्—नातिस्थूलो नातिकृशः । सन्नककुद्—कृशः । पन्नककुद्—वृद्धः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । ककुच्छब्देनैव सिद्धे ककुदशब्दस्यास्मिन् विषये प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् **"त्रिककुद् गिरौ"** (७।३।१६८) । निपात्यते । त्रीणि ककुदानि तदाकाराणि शिखराण्यस्य स तथा । निपातनं गिरिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं तेनान्यस्मिन् गिरौ त्रिककुद इत्येव । **"धनु०" "वा ना०" "जाया०"** इति सूत्रत्रयं स्पष्टम् । **"स्त्रियां०"** । स्त्रियां वर्त्तमानस्य ऊधस्शब्दस्य बहुव्रीहौ नकारादेशः समासान्तो भवति ॥ २२ ॥

—इति बहुव्रीहिः ।—

'अथाव्ययीभावं निरूपयति'

विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम् ॥ २३ ॥ [सि० ३।१।३९]

एष्वर्थेषु वर्त्तमानमव्ययं नाम्ना सह पूर्वपदार्थे वाच्ये नित्यं समासोऽव्ययीभावः स्यात् । विभक्तिः—विभक्त्यर्थः कारकम् । स्त्रीषु अधि इति विग्रहे ॥ २३ ॥

"विभक्ति०" एष्वर्थेष्विति विभक्त्यादिषु अन्तपर्यन्तेषु पञ्चदशस्वर्थेषु इत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रसङ्गात्सर्वत्रापि समासप्रकरणे पूर्वपदव्यवस्थामाह—

प्रथमोक्तं प्राक् ॥ २४ ॥ [सि० ३।१।१४८]

अत्र समासप्रकरणे प्रथमान्तेन सूत्रे यन्निर्दिष्टं तत्प्राक् स्यात् इत्यव्ययस्य पूर्वभावः, "ऐकार्थ्ये" (३।२।८) इति विभक्तिलोपः । अधिस्त्रि इति भवति ॥ २४ ॥

*"द्वन्द्वैकत्वाव्ययीभावौ" इत्यव्ययीभावस्य क्लीबत्वात् ह्रस्वत्वम् । नामसंज्ञायां स्यादिः ।

"प्रथमोक्तं०" । स्पष्टम् । स्त्रीषु अधीति सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः । स्त्रीषु अधि इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम् । अत्र निपातेनाभिहितेऽप्यधिकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमीति **कौमुद्याम् । न्यासे** तु—अत्राधिशब्दस्य क्लृप्तानेकार्थवृत्तेराधाररूपविभक्त्यर्थवृत्तित्वं प्रकाशयितुमुक्ताधारस्यापि सप्तम्यन्तेन स्त्रीशब्देन समास इति ॥ २४ ॥ अधिस्त्रि इत्यत्र *द्वन्द्वैकत्वेत्यादिलिङ्गानुशासनवचनात् क्लीबत्वे ह्रस्वत्वे स्याद्युत्पत्तौ च सूत्रम् ।

अनतो लुप् ॥ २५ ॥ [सि० ३।२।६]

अदन्तवर्जस्याव्ययीभावस्य स्यादेर्लुप् स्यात् । अधिस्त्रि गृहकार्यम् ॥ २५ ॥

"अन०" स्पष्टम् । अधिस्त्रि गृहकार्यमिति **विभक्त्यर्थे**ऽव्ययीभावः ॥ २५ ॥ अथ **समीपार्थे**ऽव्ययीभावमाह—तत्र कुम्भस्य समीपमिति विग्रहे प्राग्वत् उपकुम्भ इति जाते स्याद्युत्पत्तौ सूत्रम् ।

अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः ॥ २६ ॥ [सि० ३।२।२]

अदन्तस्याव्ययीभावस्य स्यादेरम् स्यात्, न तु पञ्चम्याः । उपकुम्भमस्ति, पश्य, देहि, देशः । उपकुम्भादानय । **"वा तृतीयायाः"** (३।२।३) । उपकुम्भं उपकुम्भेन कृतम् । **"सप्तम्या वा"** (३।२।४) । उपकुम्भं उपकुम्भे निधेहि ॥ मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् ॥ विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् ॥ अर्थाभावो धर्मिणोऽसत्त्वम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् ॥ अत्ययोऽतीतत्वम् । वर्षाणामत्ययोऽतिवर्षम् ॥ असम्प्रति इति वर्त्तमानकाले उपभोगाद्यभावः । कम्बलस्यासम्प्रति अतिकम्बलम् ॥ रथस्य पश्चादनु रथं याति ॥ ज्येष्ठस्य क्रमेणानुज्येष्ठं प्रविशन्तु ॥ भद्रबाहोः ख्यातिरिति भद्रबाहु अहो भद्रबाहु ॥ चक्रेण युगपत् सचक्रं धेहि । **"अकालेऽव्ययीभावे"** (३।२।१४६) सहस्य सः ॥ व्रतेन सदृक् सव्रतम् ॥ ब्रह्मणः सम्पत् सब्रह्म साधूनाम् ॥ तृणैः सह सकलं सतृणं भुङ्क्ते ॥ पिण्डेषणापर्यन्तमिति सपिण्डेषणमधीते ॥ अत्र सर्वत्राव्ययार्थप्राधान्यमित्यादि प्राग्वत् ॥ २६ ॥

"अम०" स्पष्टम् । तृतीयायां विशेषमाह—सूत्रम् **"वा०"** स्पष्टम् । सप्तम्यां विशेषसूत्रम् **"सप्त०"** । उपकुम्भमित्यादि—अस्तीत्यादिक्रियापदैः प्रथमाद्यन्तत्वमव्ययीभावे दर्शितम् । समीपार्थग्रहणात् समया ग्रामम्, निकषा लङ्काम् । आराद्वनादित्यत्र तु नाव्ययीभावः । अभितः—परितः—अन्यारादिति द्वितीयापञ्चम्योर्विधानसामर्थ्यादिति **कौमुद्याम्** । **श्रीहेमसूरिभिस्तु** नेदमुदाहृतम् । समया-निकषायोगेऽपि द्वितीयाविधानसामर्थ्यस्य जागरूकत्वादिति । **इति समीपार्थेऽव्ययीभावः । अथ शेषेष्वर्थेषु क्रमेणाव्ययीभावानाह—समृद्धि**रिति । सम् इत्याधिक्ये ऋद्धेराधिक्यमित्यर्थः । **व्यृद्धि**रिति ऋद्धेरभाव इत्यर्थः । अत्र दुर्यवनमित्यादौ यवनादेरुत्तरपदार्थस्य यो धर्मः ऋद्धिलक्षणस्तस्याभावो, नतूत्तरपदार्थस्य धर्मिण इत्यर्थाभावात् भिद्यते, तत्र हि निर्मक्षिकमित्यादौ धर्मिण एवाभाव इति धर्मिणोऽसत्त्वमिति । अत्र धर्मिणो मक्षिकादेरनुत्पत्तिरेव, नतु सतोऽभाव **इत्यर्थाऽभावोऽत्यया**द्विशिष्यते । अत्ययो हि सतोऽतिक्रान्तकालसम्बन्धिनी सत्तैवोच्यते, न साम्प्रतिकवस्त्वभाव इत्यर्थाभावाद्भिद्यते । **नतु** च वर्षाणामत्ययो नाम वर्षाणामभाव एव, प्रध्वंसाभावो हि सः, तत्रार्थाभाव इत्येव सिद्धे किमर्थमत्ययग्रहणमित्य**त्रो**च्यते—अर्थाभाव इति । धर्मिणोऽसद्भावमात्रमुच्यते; यथा निर्मक्षिकमिति मक्षिका भूत्वा वा माभूवन्नभूत्वा वा परमधुना तास्तत्र सर्वथा न सन्तीत्येतावन्मात्रं प्रतीयते नतु प्राक् पश्चाद्वेति विशेषः । अत्ययस्तु सत एवातिक्रान्तत्वमिति । **असम्प्रतीति**—सम्प्रतीत्यव्ययमिदानीमित्यर्थे—"साम्प्रतमधुनेदानीं सम्प्रत्येतर्हि" इति **अभिधानचिन्तामणिवचनात्** । बाहुलकादसमर्थसमासोऽयम्—यथाऽसूर्यम्पश्या इत्यत्र सूर्यमपि न पश्यन्तीति परपुरुषाविलोकिन्यो ज्ञायन्तेऽन्यथा सूर्यं तु पश्यन्त्येवेत्यसमर्थपदत्वम्, एवमत्राप्यसम्प्रतीति न सम्प्रतिकालो निषिध्यते किन्तु सम्प्रतिकाले उपभोग इति । अतिकम्बलमिति, कम्बलस्योपभोगं प्रति नायं काल इत्यर्थः । एवं निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रम् इति । अनुरथमिति—**नतु** पश्चादित्यव्ययस्यापि पश्चादर्थत्वाव्यभिचारान्नित्यसमासत्वाच्च रथस्य पश्चादिति वाक्यं न प्राप्नोतीत्य**त्रो**च्यते—पश्चाच्छब्दस्य तु नायं समासः, ततः पश्चात् स्रंस्यते इति भाष्ये प्रयोगादिति **कौमुद्याम्** । **न्यासे** तु "सर्वपश्चादादयः" (३।१।८०) इति वचनात्पश्चाच्छब्दस्याव्ययीभावसमासविषये नाव्ययत्वम्, तथात्वे ह्यस्याव्ययीभावप्राप्तौ तत्पुरुषो न स्यात् ।

तत्र हि "गतिकन्यस्तत्पुरुषः" (३।१।४२) इत्यतोऽन्य इत्यधिकारादन्य इत्यस्य च बहुव्रीह्यादिलक्षणरहित इत्यर्थात्। ज्येष्ठस्येति, क्रमेणेति–**क्रम** आनुपूर्व्यम्। **ख्याति**रिति ख्यातिः शब्दप्रथा इति। भद्रबाह्विति–एवं तद्भद्रबाहु अहो भद्रबाहु भद्रबाहुशब्दस्य लोके प्रकाश इत्यर्थः इति । तत् अहो इत्येषां चादित्वादसत्त्ववृत्तित्वेऽपि अत्र ख्यातिवाचित्वाद्वृत्तिविषये सत्त्ववृत्तित्वम् । निष्कौशाम्बिरतिखट्वः प्रकटो विकट इत्यादिवृत्तिविषये तथादर्शनात्ततश्च भद्रबाहोः ख्यातिरिति स्वरूपपरेण षष्ठ्यन्तेन भद्रबाहुशब्देन ख्यात्यर्थानामिति प्रभृतीनां समास इति। चक्रेण युगपदिति–**युगपत्** एककालार्थः। सचक्रं धेहीति चक्रेण सहैककालं चक्राणि वा युगपद्धेहीत्यर्थः। शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चान्यपदार्थप्रधानोऽयम्, यौगपद्यार्थो ह्ययमव्ययीभावः। अत्रोपयोगिसूत्रम्–**"अका०"**। अयं भावः–सहशब्दस्याऽकालवाचिन्युत्तरपदेऽव्ययीभावे समासे सादेशो भवति। अकाल इति किम्? सपूर्वाह्णं शेते साकल्येऽयमव्ययीभावः। **अत्रायं विशेषः–"ग्रन्थान्ते"** (३।२।१४७)। ग्रन्थान्तवाचिन्युत्तरपदेऽव्ययीभावे सहस्य सः स्यात्। कलामन्तं कृत्वा सकलज्योतिषमधीते। एवं सकाष्ठं समुहूर्त्तम्। कलादिशब्दाः कालविशेषवाचिनोऽपि तत्सहचारिषु ग्रन्थेषु वर्तन्ते इति ग्रन्थान्तवाचित्वमुत्तरपदस्य अन्त इत्यव्ययीभावः। कालार्थ आरम्भः। सव्रतमिति व्रतस्य **सदृश**मित्यर्थः। एवं सशीलं सदेवदत्तमित्यादि। ब्रह्मणः सम्पदिति **सम्पत्** सिद्धिः। सिद्धिरात्मभावनिष्पत्तिः, समृद्धिस्तु ऋद्धेराधिक्यमित्यनयोर्मिथो विशेषः। साधूनां सब्रह्मेति, सम्पन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। एवं सवृत्तं मुनीनाम्, सक्षत्रमिक्ष्वाकूणाम्। सतृणमिति तृणमप्यपरित्यज्य भुङ्क्ते। अत्र न किञ्चित्त्यजतीति **साकल्ये** तात्पर्यं न तु तृणभक्षणे इति। प्राग्वदसमर्थसमासोऽयम्। अन्ते इति **अन्तः** समाप्तिः। पिण्डेषणेति दशवैकालिकश्रुतस्कन्धस्य पञ्चममध्ययनम्। तत्पर्यन्तमधीते, न तु सकलग्रन्थमिति। **तथाहुः श्रीसूरयः**–अत्र समाप्तिरसकलेऽप्यध्ययने प्रतीयते इति साकल्येऽनन्तर्भावः। पूर्वपदार्थ इत्येव–समृद्धा मद्राः सुमद्राः। अव्ययमित्येव–समीपं कुम्भस्य ॥ २६ ॥

योग्यतावीप्सार्थाऽनतिवृत्तिसादृश्ये ॥ २७ ॥ [सि० ३।१।४०]

एतदर्थानामव्ययानामव्ययीभावः स्यात्। रूपस्य योग्यमनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थं समीक्ष्यते। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति दत्ते। शीलस्य सादृश्यमिति सशीलमनयोः ॥ २७ ॥

"योग्यता०"। एतदर्थानामिति–एते चत्वारोऽर्था येषामिति। अनुरूपमिति–अत्रानुर्योग्यतायाम्। प्रत्यर्थमिति–अत्र प्रति वीप्सायाम्, समासेन वीप्साया उक्तत्वान्न तन्निमित्ता द्विरुक्तिः। "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (२।२।३७) इति द्वितीयाविधानादत्र वाक्यमपि भवति। वाक्ये तु लक्षणाद्यनेकार्थसम्भवाद्द्विरुक्तिमन्तरेण वीप्सा न प्रतीयते इति "वीप्सायाम्" (७।४।८०) इत्यनेन द्विर्भावः। वीप्सा च पृथक्सङ्ख्यायुक्तानां बहूनां सजातीयानामर्थानां साकल्येन प्रत्येकं क्रियया गुणेन द्रव्येण जात्या वा युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा, तस्यां यद्वर्त्तते शब्दरूपं तद्द्विरुच्यते। वीप्सा च स्याद्यन्तेष्वेव भवतीति तेषामेव द्विर्वचनम्–वृक्षं वृक्षं सिञ्चति, ग्रामो ग्रामो रमणीयः, गृहे२ऽश्वाः, योद्धा २ क्षत्रिय इत्यादि। यथाशक्तीति–यथाशब्दो अत्र अर्थानतिवृत्तौ, अर्थानतिवृत्तिश्च पदार्थानतिक्रमः। पदमुत्तरपदं शक्त्यादिरूपं तस्यार्थः सामर्थ्यं तस्यानतिक्रम इति। नात्र विन्यासविशेष इति क्रमाद्भेदः। मूर्त्तस्यानेकस्य पदार्थस्य नियतदेशाद्यपेक्षं व्यवस्थापनं विन्यासः, स एव विशेषः। पूर्वसूत्रे सदृग्ग्रहणेनैव सिद्धे इह सादृश्यग्रहणं मुख्यसादृश्यपरिग्रहणार्थम्, सदृग्शब्दो हि धर्मिवाचीति चैत्रस्य सदृग् स चैत्रमैत्र इत्यादि सामानाधिकरण्यमेव स्यात्। सादृश्यशब्दस्तु धर्मवाचीति, इह सादृश्यग्रहणे चैत्रस्य सादृश्यं स चैत्रमैत्रस्येति वैयधिकरण्यमपि सिद्ध्यति ॥ २७ ॥

यथाऽथा ॥ २८ ॥ [सि० ३।१।४१]

थाप्रत्ययरहितमव्युत्पन्नं यथेत्यव्ययं नाम्ना समस्यते । यथारूपं चेष्टते । अथेति किम्? यथा चैत्रस्तथा मैत्रः ॥ २८ ॥

"यथा०" थाप्रत्ययेत्यादि—अयं भावः—द्वौ यथाशब्दौ; एकस्तावत् थाप्रत्ययरहितमव्युत्पन्नमव्ययम्, अन्यस्तु थाप्रत्ययान्तं व्युत्पन्नमव्ययम् । तत्राव्युत्पन्नस्य यथेत्यव्ययस्य योग्यतादिष्वनेनाव्ययीभावः स्याद्यथारूपं चेष्टते रूपस्य योग्यमित्यर्थः । यथावृद्धमर्चय—वीप्सेयम्,—ये ये वृद्धास्तानित्यर्थः । नन्वत्र क्रमोऽपि प्रतीयते—उच्यते, प्रतीयतां क्रमो वीप्सापि तु प्रतीयते, नह्येकोऽनेकार्थो न स्यात् । यथासूत्रं चेष्टते-सूत्रानतिवृत्त्येत्यर्थः । एतच्च "योग्यतावीप्सा०" (३।१।४०) इत्यादिसूत्रेण सिद्ध्यत्येव, परन्त्वस्य सादृश्ये समासप्रतिषेधार्थं वचनमत एवायमव्युत्पन्नः सादृश्ये नास्तीति प्रतीयते, व्युत्पन्नस्य थाप्रत्ययान्तस्य यथाशब्दस्य "विभक्तिसमीप०" (३।१।३९) इत्यादिसूत्रेण सदृगर्थे "योग्यतावीप्सा०" इत्यादिसूत्रेण वा सादृश्यार्थे प्राप्तोऽव्ययीभावोऽथेत्यनेन निषिध्यते । तथाहुः **श्रीसूरयः**—पूर्वेणैव सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थं वचनमिति । **ननु** यथा चैत्रस्तथा मैत्र इत्यादौ चैत्रसदृशो मैत्र इत्यर्थ एव प्रतीयते इति सदृगर्थ एवायं न तु सादृश्यार्थ इति किमुक्तं सादृश्ये प्रतिषेधार्थमित्यत्रो**च्यते**—सादृश्योपाधिकत्वात्सदृगपि सादृश्यशब्देनोच्यते इति यथा चैत्र इत्यादि । "**प्रकारे था**" (७।२।१०२) । सप्तम्या इति निवृत्तम् । यथासम्भवं विभक्तिसामान्यस्य विद्यमानस्य भेदान्तरानुप्रवृत्तौ भेदः प्रकारस्तस्मिन् वर्त्तमानात् किमद्यादिसर्वाद्यऽवैपुल्यबहोः थाप्रत्ययो भवति । सर्वेण प्रकारेण सर्वथा । एवं यथा तथा उभयथा अन्यथा अपरथा इतरथा; बहोस्तु परत्वाद्धा भवतीत्यादि । अयं च थाप्रत्ययान्तो यथाशब्दः केवलः सादृश्ये । तथोक्त**मलङ्कारचूडामणौ**—उपमावाचका इव-वा-यथाशब्दाः । अत्रोदाहरणं "क्षणं कामज्वरोच्छित्त्यै भूयः सन्तापवृद्धये । वियोगिनामभूचान्द्री चन्द्रिका चन्दनं यथा" ॥ १ ॥ तथायं प्रकृतार्थो प्रदर्शने—यथा**लङ्कारचूडामणौ**—सा उपमा वाक्ये वृत्तौ च भवति । वाक्ये यथाशब्दः प्रस्तुतार्थो प्रदर्शने प्रयुक्तः किं च तथाशब्दसमभिव्याहृतोऽयं सादृश्ये यथा चैत्रस्तथा मैत्र इति । अयमुपेक्षायाम्—यथातथा वा तद्ब्रूयादनेनाप्रस्तुतेन किम्? अयमविचारितभाषणेऽपि—यथातथा जल्पति बालिशोऽयमिति । सत्येऽप्ययम्—ऋतं तथ्यं यथातथमित्यादि । सर्वेषामप्येषां थाप्रत्ययान्तत्वादेव न समासस्ततः सुसूचितमाचार्यैः यथाऽथेति । **कौमुद्यां** तु "यथाऽसादृश्ये" असादृश्ये एव यथाशब्दः समस्यते इत्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

यावदियत्त्वे ॥ २९ ॥ [सि० ३।१।३१]

इयत्त्वे गम्ये यावदिति समस्यते । यावन्त्यमत्राणि तावन्त इति यावदमत्रं श्राद्धान् भोजय ॥ २९ ॥

"याव०" इयं परिणाममेषामियन्तः "इदं किमोऽतुरियूकिय् चास्य" (७।१।१४८) इति सिद्धिः । इयतां परिच्छिन्नसङ्ख्यानामियतो वा परिच्छिन्नपरिमाणस्य भाव इयत्त्वम्, तस्मिन् गम्य इति । यावन्त्यमत्राणीत्यत्र विज्ञातसङ्ख्यापरिमाणैरमत्रैस्तावन्त इति श्राद्धपरिमाणमिह गम्यते । एवं यावानोदनो यावदोदनम्, यावानवकाशो यावदवकाशमित्यत्रावच्छिन्नपरिमाणेनोदनादिना श्राद्धपरिमाणमवधार्यते । यावदित्यव्ययमनव्ययं च गृह्यते । अव्ययमेवेत्यन्ये । तत्रानव्ययं यच्छब्दात् "यत्तदेतदो डावादिः" (७।१।१४९) इति डावादिना वतुप्रत्ययेन सिद्धम् । अव्ययपक्षे यावदमत्राणीति वाक्यम् । अन-

व्ययपक्षे तु यावन्त्यमत्राणीति । पूर्वार्थ(पूर्वपदार्थ ?)प्रधानत्वादव्ययत्वे सिः, अनव्यये तु जस् समासात् । ततोऽम्भावः । इयत्त्व इति किम् ? यावद्दत्तं तावद्भुक्तं कियद्दत्तं कियद्भुक्तमिति नावधारयति अत एवात्र तावदित्युपादीयते । समासे तु उक्तार्थत्वान्न तत्प्रयोगः ॥ २९ ॥

पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या ॥ ३० ॥ [सि० ३।१।३२]

पर्यादीनि पञ्च पञ्चम्यन्तेन समस्यन्ते । परित्रिगर्तेभ्यः परित्रिगर्तम् । एवमपत्रिगर्तम् । बहिर्ग्रामम् । आग्रामम् । प्राग्ग्रामं वृष्टो मेघः ॥ ३० ॥

"पर्य०" परित्रिगर्त्तमिति–"पर्यपाभ्यां वर्ज्ये" (२।२।७१) इति पञ्चमी ततोऽनेन समासः । एवमपत्रिगर्त्तेभ्यः अपत्रिगर्त्तम् । त्रिगर्त्तं नाम नगरं वर्जयित्वा वृष्टो मेघ इत्यर्थः ॥ आग्रामं इति–"आङावधौ (२।२।७०) इति पञ्चमी, आग्रामात्, ततोऽनेन समासः । बहिर्ग्राममिति–"प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दबहिरारादितरैः" (२।२।७५) इति पञ्चमी, बहिर्ग्रामात्ततोऽनेन समासः । पर्यादिसाहचर्यात् अञ्चतिरिह धा एनलुबन्तोऽव्ययं गृह्यते प्राग्ग्रामात् प्राग्ग्राममिति । एवं प्रत्यग्ग्रामात् प्रत्यग्ग्रामम् । अपाग्ग्रामात् । अपाग्ग्रामम् । उदग्ग्रामात् उदग्ग्रामं वृष्टो मेघः । अव्ययग्रहणादिह न भवति–प्राङ् ग्रामात् चैत्रः । पञ्चम्येति किम् ? परिवृक्षं विद्योतते विद्युत् ॥ ३० ॥

लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये ॥ ३१ ॥ [सि० ३।१।३३]

आभिमुख्ये वर्त्तमानौ अभिप्रती चिह्नवाचिना समस्येते । अभ्यग्नि प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । "दैर्घ्येऽनुः" (३।१।३४) । अनुगङ्गं काशी । "समीपे" (३।१।३५) । अनुवनमशनिर्गता "तिष्ठद्ग्वित्यादयः" (३।१।३६) । साधवः । तिष्ठद्गुः कालः ॥ ३१ ॥

"लक्षणे०" । अभ्यग्नीति–"भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (२।२।३७) इति द्वितीयायामनेन समासः । अभि अग्निं अभ्यग्नि । प्रति अग्निं प्रत्यग्नि शलभाः पतन्तीति–अत्राग्निना शलभपातो लक्ष्यते इत्यग्निलक्षणं भवति, तस्य चाभिप्रतिभ्यामाभिमुख्यं द्योत्यते । लक्षणेनेति किम् ? स्रुघ्नं प्रतिगतः, प्रतिनिवृत्त्य स्रुघ्नमेवाभिमुखं गत इत्यर्थः । "**दैर्घ्येऽनुः**" दैर्घ्ये आयामविषये यल्लक्षणं तद्वाचिनाऽनुः समस्यते । अनुगङ्गा दीर्घा अनुगङ्गं काशी–गङ्गाया लक्षणभूताया दैर्घ्येण काश्या दैर्घ्यं लक्ष्यते । दैर्घ्ये इति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्–अत्र वृक्षो विद्योतनस्य लक्षणं न तु दैर्घ्यस्य । लक्षणेनेति किम् ? लक्ष्येण काश्यादिना अनोः समासो मा भूदिति । "**समीपे**" समीपेऽर्थे वर्त्तमानोऽनुः समीपिवाचिना समस्यते । अनुवनमिति–अनोरव्ययत्वाद् "विभक्तिसमीप०" (३।१।३९) इत्यादिनैव समासे सिद्धे विकल्पार्थं वचनं, तेन वाक्यमपि भवति–अनुवनस्याशनिर्गता । पृथग्वचनम् लक्षणेनेत्यस्य निवृत्त्यर्थमिति **श्रीसूरयः । पाणिनी**यादयस्तु अत्रापि लक्षणेनेत्यनुवर्त्तनीयं समीपसमीपिनोर्लक्ष्यलक्षणभावोऽनुना द्योत्यते । वनसामीप्यगताया अशनेर्वनं लक्षणमित्याहुः "**तिष्ठद्ग्वित्यादयः**" तिष्ठद्गुप्रभृतयः समासशब्दा अव्ययीभावसंज्ञा भवन्ति । यथायोगमन्यपदार्थे पूर्वपदार्थे चाभिधेये । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले गर्भग्रहणाय दोहाय वा वत्सेभ्यो निवासाय जलपानार्थं वा स कालः । एवं वहन्ति गावो यस्मिन् स कालो वहद्गुः । इणः शतरि "श्निणोरव्वि०" (४।३।१५) इति यत्वे ङ्यां आयत्यो गावो यस्मिन् स कालः आयतीगवम् । अत्र पूर्वपदस्य पुंवद्भावाभावः समासान्तश्च निपातनात्–एते अन्यपदार्थे काले ॥ तथा खले यवा यस्मिन् स कालः खलेयवम् । खलेबुसम्–निपातनात्सप्तम्या अलुप् । एवं लूनयवम् । लूयमानयवम् । एवं पूतयवं पूयमानयवम्, संहृतयवं

संह्रियमाणयवम्, संहृतबुसं संह्रियमाणबुसम्—एते प्रथमैकवचनान्ता एवाऽन्यपदार्थे । काले देशेऽपी-त्यन्ये—तेन खलेयवं पश्य, खलेयवेन कृतमित्यादयः प्रयोगा असाधवः (द्वितीयाद्यन्ता इति शेषः) । द्वितीयादिविभक्त्यन्ता अप्येते साधव इत्यन्ये ॥ 'नाभेरधः' अधोनाभं निपातनादत्समासान्तः । पूर्व-पदार्थप्रधानोऽयं तथा 'समत्वं भूमेः' समभूमि, एवं समपदाति, पक्षे पूर्वपदस्य मान्तत्वमपि निपा-त्यते समंभूमि । समंपदाति । एतौ देशकालभावेष्वन्यपदार्थेष्वित्यन्ये; उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु समा भूमिः समभूमिः, समपदातिरिति कर्मधारय एव । तथा शोभनत्वं समस्य शोभनत्वं समायाः शोभना समा यत्र सुषमम्, एवं विषमं दुःषमं निष्षमं अपरसमम्, उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु तत्पुरुष एव । शोभना समा सुषमा, शोभने समे सुषमे । समशब्देनाव्ययीभाव इत्यन्ये । तथा समाया आयतीत्वं आयती समा, यत्र आयतीसमेति वा आयतीसमम् । एवं पापसमं पुण्यसमम् । समशब्देन तृतीयास-मास इत्यन्ये । आयत्या समम् आयतीसमम् एवं पापसमं पुण्यसमम् । तथा प्रगतत्वं प्रकृष्टत्वं वाह्नः प्राह्नं निपातनादह्नादेशः एवं प्ररथम् प्रमृगम् प्रदक्षिणम् । अन्यत्र प्रगता मृगा अस्मात् प्रमृगो देशः । देशेऽप्यन्ये । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु तत्पुरुष एव ॥ प्राह्णः प्ररथः प्रमृगः प्रदक्षिणा । तथा एकत्वम-न्तस्य एकोऽन्त इति वा एकान्तम्, देशेऽन्यपदार्थेऽपीत्यन्ये, एवं प्रान्तं समपक्षं समानतीर्थं समानतीरम्, तथा सम्प्रत्यसम्प्रत्यप्रदक्षिणानि यथासङ्ख्यं वर्त्तमानावर्त्तमानवामेषु, तथा युद्धे इजन्तं च—केशाकेशि दण्डादण्डि द्विदण्डि द्विमुशलि । तिष्ठद्गु इत्यत्रेतिशब्दः स्वरूपपरिग्रहार्थस्तेनेह समासान्तरं न भवति । परमं तिष्ठद्गु, तिष्ठद्गु प्रियमस्य इति वाक्यमेव भवति । अत एव प्रदक्षिणसम्प्रतिभ्यां सह नञ्समासेन सिद्धावप्रदक्षिणासम्प्रत्योः पाठः । इजन्तस्य तिष्ठद्ग्वादिपाठः "इच् युद्धे" (७।३।७४) इत्यनेन इज-न्तस्य समासान्तरप्रतिषेधार्थः, द्विदण्ड्यादेरव्ययाभावार्थश्च । अन्ये तु परपदेनैव समासं प्रतिषेधन्ति, तन्मते परमतिष्ठद्गु आतिष्ठद्गु जपन्सन्ध्याम् इत्यादयोऽपि साधवः । तिष्ठद्ग्वादिराकृतिगणस्तेन प्रसव्यं अपसव्यं यत्प्रभृति तत्प्रभृति इतःप्रभृति इत्यादि सिद्धम् ॥ ३१ ॥

नित्यं प्रतिनाऽल्पे ॥ ३२ ॥ [सि० ३।१।३७]

अल्पेऽर्थे वर्त्तमानेन प्रतिना नित्यं समस्यते, सोऽव्ययीभावः स्यात् । शाकस्याल्पत्वं शाक-प्रति ॥ ३२ ॥

"नित्यं०" शाकप्रतीति । एवं सूपस्य मात्रा सूपप्रति । पूर्वपदार्थे इत्यधिकारेप्यसम्भवादत्रोत्तरपदार्थ-प्रधान एवायं समासः । अथवाव्ययानां दोषामन्यमहर्दिवामन्यारात्रिरितिवद्वृत्तिविषये सत्त्वप्रधा-नत्वदर्शनान्मात्रावति प्रतिशब्दस्य वृत्तेरविरोधादल्पः सूप इति विग्रहः ।

इत्यादिरित्यत्रादिशब्दसामर्थ्यात् **"सङ्ख्याक्षशलाकं परिणा द्यूतेऽन्यथावृत्तौ"** (३।१।३८)। सङ्ख्यावाचिनाम अक्षशलाके च द्यूतविषयेऽन्यथावर्त्तने परिणा समस्यन्ते, तथा चैषां कर्तृत्वात्तृतीया-न्तत्वमक्षशलाकयोस्त्वेकवचनान्तयोरेवेष्यते । पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकादिभिर्वा भवति तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाचो वा पतन्ति तदा पातयितुर्जयः, अन्यथापाते पराजयः । एकेनाक्षेण शलाकयाऽन्यथावृत्तं एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि, यावच्चतुःपरि । पञ्चसु त्वेकरूपेषु जय एव भवतीति पञ्चपरीति न भवति । अक्षेण शलाकया वेदं तथावृत्तं यथापूर्वं जये अक्षपरि शलाकापरि । केचि-त्समविषमद्यूते सममित्युक्ते यदा विषमं भवति, तदाक्षपरि शलाकापरीति प्रयुज्यत इत्याहुः । अन्ये पूर्वं पदमाहूतं तच्च पतितमिष्टं सिद्धम्, पुनस्तदाहूतं यदा न पतति तदायं प्रयोगोऽक्षपरिशलाकापरी-त्याहुः । **"नदीभिर्नाम्नि"** (३।१।२७) । नदीवाचिभिर्नामभिर्नाम संज्ञायामन्यपदार्थे समस्यते ।

उन्मत्ता गङ्गा यत्र स उन्मत्तगङ्गं देशः, एवं लोहितगङ्गं तूष्णीङ्गङ्गं शनैर्गङ्गम् इमानि देशनामानि। नदीभिरिति बहुवचननिर्देशान्नदीविशेषाणां तत्स्वरूपस्य च ग्रहणम्। उत्तरसूत्रे पञ्चनदमित्यत्र स्वरूप-ग्रहणाच्च पर्यायाणां स्रोतस्विनी-निम्नगा-सिन्धुप्रभृतीनां च ग्रहः। नाम्नीति किम्? शीघ्रगङ्गो देशः। **"वंश्येन पूर्वार्थे"** (३।१।२९)। विद्यया जन्मना वा प्राणिनामेकलक्षणः सन्तानो वंशस्तत्र भवो वंश्यः। स इहाद्यः कारणपुरुषो गृह्यते, तद्वाचिना नाम्ना सङ्ख्यावाचि नाम समस्यते, पूर्वपद-स्यार्थेऽभिधेयेऽव्ययीभावश्च समासो भवति। एको मुनिर्वंश्य एकमुनि व्याकरणस्य। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य। विद्यया तद्वतामभेदविवक्षायां द्विमुनिव्याकरणमित्यादि सामानाधिकरण्यं भवति। सप्त काशयो वंश्या राज्यस्य सप्तकाशि राज्यस्य। पूर्वार्थे इति किम्? द्वौ मुनी वंशावस्य द्विमुनिकं व्याकरणमित्याद्यन्यपदार्थे बहुव्रीहिरेव। अन्ये तु पूर्वार्थे इति विशेषं नेच्छन्ति, तन्मते एकश्चासौ मुनिश्चेति कर्मधारयप्रसङ्गे, द्वौ मुनी समाहृताविति द्विगुप्रसङ्गे, एको मुनिर्वंश्योऽस्येति बहुव्रीहिप्रसङ्गे चाव्ययीभाव एव स्यादिति। एतत्सर्वं इत्यादिशब्दात् ग्राह्यम्॥ ३२॥

पारेमध्येऽग्रेन्तः षष्ठ्या वा ॥ ३३ ॥ [सि० ३।१।३०]

एषां चतुर्णां षष्ठ्यन्तेन सहाव्ययीभावो वा स्यात्। गङ्गायाः पारे पारेगङ्गम्। मध्येगङ्गम्। अग्रेवणम्। अन्तर्गिरि। निपातनादेत्वम्। पक्षे गङ्गापारम्॥ ३३॥

"पारे०" निपातनादेत्वमिति—आद्यानां त्रयाणां पक्षे गङ्गापारमिति वावचनात् पक्षे षष्ठीसमास इत्यर्थः॥ ३३॥

*तत्रादायमिथस्तेनप्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययीभावः ॥३४॥ [सि० ३।१।२६]

सप्तम्यन्तं मिथ आदायेति तृतीयान्तं च मिथः प्रहृत्येति युद्धे वाच्ये सरूपेण नाम्नाव्ययी-भावः स्यात्॥ ३४॥

"तत्रा०" स्पष्टम्॥ ३४॥

इच् युद्धे ॥ ३५ ॥ [सि० ७।३।७४]

युद्धे यः समासस्तस्मादिच् समासान्तः स्यात्॥ ३५॥

"इच्०" स्पष्टम्॥ ३५॥

इच्यस्वरे दीर्घ आच्च ॥ ३६ ॥ [सि० ३।२।७२]

इजन्तेऽस्वरादावुत्तरपदे पूर्वपदस्य दीर्घत्वमाच्च स्याताम्। केशेषु केशेषु मिथो गृहीत्वा कृतं युद्धं केशाकेशि। मुष्टिभिर्मुष्टिभिर्मिथः प्रहृत्य कृतं युद्धं मुष्टीमुष्टि। मुष्टामुष्टि। अस्वर इति किम्। अस्यसि॥ ३६॥

"इच्य०"। मुष्टामुष्टीति, एवं बाहूबाहवि बाहाबाहवि। दीर्घत्वात्वयोरकारान्तादन्यत्र विशेषः। दीर्घसाहचर्यादात्वमपि स्वरान्तानामेव भवति। दोर्दोषि धनुर्धनुषि अस्यसीति—एवमिष्विषवीत्यादि। *तत्रेति तेनेति च किम्? केशांश्च केशांश्च गृहीत्वा कृतं युद्धम्। मुखं च मुखं च प्रहृत्य कृतं युद्धम्। आदायेति प्रहृत्येति किम्? केशेषु केशेषु च स्थित्वा कृतं युद्धम् पक्षिभ्याम्। केशशब्देनात्र नीत्राण्यु-च्यन्ते। दण्डैश्च दण्डैश्चागत्य कृतं युद्धमेताभ्याम्। मिथ इति क्रियाव्यतिहारः किम्? केशेषु केशेषु च गृहीत्वा युद्धमनेन एकः सकेशोऽन्यश्च मुण्ड इति मिथो नास्ति। सरूपेणेति किम्? हस्ते पादे च गृहीत्वा

कृतं युद्धम् । युद्ध इति किम् । हस्ते च हस्ते च गृहीत्वा कृतं सख्यम् । युद्ध इति विषयनिर्देशाद्युद्धोपाधिकायामन्यस्यामपि क्रियायां भवति यथा **माघे** "रोषावेशादाभिमुख्येन कौचित् पाणिग्राहं रंहसैवोपयातौ । हित्वा हेतीर्मल्लवन्मुष्टिघातघ्नन्तौ बाहूबाहवि व्यासृजेताम्" ॥ १ ॥ बाह्वोश्च २ मिथो गृहीत्वा व्यासङ्गं कृतवन्तौ इत्यर्थः । क्रियाव्यतिहारे आत्मनेपदम् ह्यस्तनीआताम् ॥ ३६ ॥

अथाव्ययीभावात्समासान्तविधिं दर्शयति—

प्रतिपरोऽनोरव्ययीभावात् ॥ ३७ ॥ [सि० ७।३।८७]

प्रत्यादिपूर्वादक्ष्यन्तादव्ययीभावादत् स्यात् । प्रत्यक्षम् । परोक्षम् । अन्वक्षम् ॥ ३७ ॥

"प्रति०" । प्रत्यक्षमिति–अक्षिणी प्रति प्रत्यक्षम्, "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इतीकारलोपः । परोक्षमिति परसमानार्थः परस्शब्दोऽव्ययम् अक्ष्णोः परः परोऽक्षम् अत्ययेऽव्ययीभावः । अन्वक्षमिति–अक्ष्णोः समीपमन्वक्षम् । **कथं** प्रत्यक्षोऽर्थः परोक्षः काल इत्यादेरव्ययीभावस्य सत्त्ववचनता ? अभ्रादेराकृतिगणत्वादप्रत्ययेन भविष्यति । अक्षशब्देनेन्द्रियपर्यायेण सिद्धे प्रत्यादिपरस्याक्षिशब्दस्याव्ययीभावे प्रयोगो मा भूदिति वचनम् ॥ ३७ ॥

अनः ॥ ३८ ॥ [सि० ७।३।८८]

अन्नन्तादव्ययीभावादत् स्यात् ॥ ३८ ॥

नोऽपदस्य तद्धिते ॥ ३९ ॥ (सि० ७।४।६१) नकारान्तस्यापदस्य तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुक् । उपराजम् ॥ ३९ ॥ "नपुंसकाद्वा" ॥ ४० ॥ (सि० ७।३।८९) उपचर्मम् उपचर्म ॥ ४० ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टम् ।

"गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायण्यपञ्चमवर्ग्याद्वा" ॥ ४१ ॥ (सि० ७।३।९०) अन्तर्गिरम् अन्तर्गिरि । उपसमिधम् उपसमित् ॥ ४१ ॥

"गिरि०" अपञ्चमवर्ग्याद्वेति–पञ्चमरहिता ये वर्ग्यास्तदन्तादिति । एवं उपनदं उपनदि । उपपौर्णमासं उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणं उपाग्रहायणि । अपञ्चमवर्ग्ये. उपस्रुचम् उपस्रुक् । अधिस्रजं अधिस्रक् । उपैडविडं उपैडविट् । प्रतिमरुतं प्रतिमरुत् । उपदृषदं उपदृषद् । उपककुभम्, उपककुब् ॥ ४१ ॥

सङ्ख्या समाहारे ॥ ४२ ॥ [सि० ३।१।२८]

नदीभिरित्यव्ययीभावे "सङ्ख्याया नदीगोदावरीभ्याम्" (७।३।९१) । अत् स्यात् । पञ्च नद्यः पञ्चनदम् । द्विगोदावरम् । "शरदादेः" (७।३।९२) । प्रतिशरदम् । "जराया जरस् च" (७।३।९३) । उपजरसम् । "सरजसोपशुनानुगवम्" (७।३।९४) । एतेऽदन्ता अव्ययीभावा निपात्याः ॥ ४२ ॥ इत्यव्ययीभावः ।

"सङ्ख्या०" सङ्ख्यावाचि नाम नदीवाचिभिर्नामभिस्समस्यते, समाहारे गम्यमाने, स समासोऽव्ययीभावः स्यात् । द्वयोर्यमुनयोः समाहारो द्वियमुनम् । एवम् त्रिगङ्गम्, पञ्चनदम्, सप्तगोदावरम्– अत्राव्ययीभावे समासान्तोऽम्भावश्च सिद्धो भवति । अन्ये तु पूर्वपदप्राधान्येऽव्ययीभावः–गोदावरीणां सप्तत्वं सप्तगोदावरम्, समाहारे तु सप्तगोदावरीति द्विगुरेवेत्याहुः । **"सङ्ख्या०"** । सङ्ख्यावाचिनः परौ यौ नदीगोदावरीशब्दौ तदन्तादव्ययीभावादत् समासान्तः स्यात् । पञ्चनदमिति–इह नदीग्रहणं नित्यार्थम् । **"शर०"** । शरद् त्यद् तद् यद् कियद् हिरुक् हिमवत् उपसद् सदस् (अदस् ?)

अनस् मनस् विपाश् दिश् दृश् विश् उपानत् अनडुह् चतुर् दिव् १९ इति एकोनविंशतिकः शरदादिः। अत्रापञ्चमवर्गान्त्यपाठो नित्यार्थः। "जरा०"। जराशब्दान्तादव्ययीभावादत्समान्तस्तत्सन्नियोगे च जराशब्दस्य जरसादेशः। "सर०"। सह रजसा सरजसमभ्यवहरति–साकल्येऽव्ययीभावः। शुनः समीपे उपशुनं तिष्ठति–अत्र निपातनाद्वस्योत्वम्। गामन्वायतं अनुगवं "दैर्घ्येऽनुः" (३।१।३४) इत्यव्ययीभावः, दैर्घ्यादन्यत्र न भवति–गवां पश्चादनुगु यानम्॥ ४२॥

इत्यव्ययीभावः।

अथ तत्पुरुषं निरूपयति—

प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्तक्रुष्टग्लानक्रान्ताद्यर्थाः प्रथमाद्यन्तैः॥ ४३॥ [सि० ३।१।४७]

प्रादयो गताद्यर्थाः प्रथमान्तैरत्यादयः क्रान्ताद्यर्था द्वितीयान्तैरवादयः क्रुष्टाद्यर्थास्तृतीयान्तैः पर्यादयो ग्लानाद्यर्थाश्चतुर्थ्यन्तैर्निरादयः क्रान्ताद्यर्थाः पञ्चम्यन्तैर्नित्यं समस्यन्ते, स तत्पुरुषः। प्रगतः प्रकृष्टो वा आचार्यः प्राचार्यः। गौणस्य ङ्यावन्तस्यान्तस्थस्य ह्रस्वः। अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः। अवक्रुष्टः कोकिलयाऽवकोकिलः। परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। निर्गतः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। "अव्ययं प्रवृद्धादिभिः" (३।१।४८)। समस्यते। पुनः प्रवृद्धं बर्हिः॥ ४३॥

"प्रात्य०" प्राचार्य इति–एवं सङ्गतोऽर्थः समर्थः। विरुद्धः पक्षो विपक्षः। प्रत्यर्थी पक्षः प्रतिपक्षः। प्रतिबद्धं वचः प्रतिवचः॥ अतिखट्व इति–एवं उद्गतो वेलां उद्वेलः। प्रतिगतोऽक्षं प्रत्यक्षः। अनुगतः प्रतिगतो वा लोमानि अनुलोमः प्रतिलोमः। अभिप्रपन्नो मुखमभिमुखः॥ अवकोकिल इति–एवं परिणद्धो वीरुद्भिः परिवीरुत्। अनुगतमर्थेन अन्वर्थं नाम। सङ्गतमक्ष्णा समक्षं वस्तु। एवं सङ्गतमर्थेन समर्थं पदम्, विमुक्तमर्थेन व्यर्थं वचः॥ पर्यध्ययन इति–एवं उद्युक्तः सङ्ग्रामाय उत्सङ्ग्रामः। शक्तः कुमार्यै अलङ्कुमारिः। शक्तः पुरुषेभ्योऽलम्पुरुषीणः॥ निष्कौशाम्बिरिति–एवं अपगतः शाखायाः अपशाखः। अन्तर्गतोऽङ्गुल्या अन्तरङ्गुलो नखः। उत्क्रान्ता कुलात् उत्कुला कुलटा। एवं उद्वेलः समुद्रः। उच्छास्त्रं वचः। उत्सूत्रो न्यायः। उच्छृङ्खलः कलभः। अपगतमर्थात् अपार्थं वचः। अपक्रमं कार्यमित्यादि॥ बहुलाधिकारात् षष्ठ्यन्तेनापि–अन्तर्गतो गार्ग्यस्य अन्तर्गार्ग्यः॥ सप्तम्यन्तेनापि–प्रतिगतमुरसि प्रत्युरसम्। (गताद्यर्था इति किम्? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति) अन्य इत्येव–प्राचार्यको देशः। वक्ष्यमाणे "गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः" (३।१।४२) इति तत्पुरुषलक्षणसूत्रे अन्य इत्यस्य हि अन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणरहितस्तत्पुरुषो भवति इत्यर्थः॥ बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। "अव्य०"। पुनरुत्स्यूतं वासः,। पुनर्निष्क्रीतो रथः, पुनरुक्तं वचः, पुनर्नवं वयः, पुनःश्रृतं पयः, स्वर्यातः, अन्तर्भूतः, प्रातःसवनं, उच्चैर्घोषः, नीचैर्गतं अधस्पदम्[1], अनद्धापुरुषः[2], प्रायश्चित्तम्, सद्यस्क्रीः, प्राग्वृत्तम्, पुराकल्पः, श्वःश्रेयसम्, श्वोवसीयसं इति प्रवृद्धादयः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्॥ ४३॥

ङस्युक्तं कृता॥ ४४॥ [सि० ३।१।४९]

कृत्प्रत्ययविधायकसूत्रे ङस्यन्तनाम्नोक्तं कृदन्तेन नाम्ना नित्यं समस्यते। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। "कर्मणोऽण्" (५।१।७२) इत्यण्। "गतिकारकङस्युक्तानां कृदन्तैर्विभक्त्युत्पत्तेः

१ अधःस्थाने पदमित्येव कार्यं न त्वधस्तादिति तस्याप्यव्ययत्वात्। २ अनिर्णयोऽनद्धा तेन पुरुषः न विद्यते द्धा संशयोऽस्येति व्युत्पत्त्याद्धा धर्मी उच्यते। न अद्धा अनद्धा संशयितः पुरुषः ससंशयः पुरुषो वा।

प्रागेव समासः"। "तृतीयोक्तं नवा" (३।१।५०)। मूलकेनोपदंशं मूलकोपदंशं भुङ्क्ते। पार्श्वयोः पार्श्वाभ्यां वोपपीडं पार्श्वोपपीडं शेते ॥ ४४ ॥ *यथायोगं द्वितीयाद्यन्तं नाम प्रथमान्तेन समस्यते, स द्वितीयादितत्पुरुष इति वक्तव्यम्। धर्मप्राप्तः। मदपटुः। आत्मकृतम्। यूपदारु। गोहितम्। वृकभयम्। राजपुरुषः पानशौण्डः "सिंहाद्यैः पूजायाम्" (३।१।८९)। सप्तम्यन्तं समस्यते। समरसिंहः, भूमिवासवः। "काकाद्यैः क्षेपे" (३।१।९०)। तीर्थकाकः तीर्थश्वा इत्यादि।

"ङस्यु०" विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समास इति—तेन चर्मन् टा क्रीत इत्यादौ कच्छ अम् प इत्यादौ च समासे सत्यकारान्तत्वात् ङीः सिद्धः । चर्मक्रीती कच्छपी इत्यादि। यदि पुनर्विभक्त्यन्तैः कृदन्तैः समासः स्यात्तदान्तरङ्गत्वाद्विभक्तेः प्रागेवापः प्राप्तावकारान्तत्वाभावात् ङीर्न स्यात्। तथा माषान् वापिन् इत्यादौ समासे नकारस्यानन्तत्वात् "वोत्तरपदान्तनस्यादे०" (२।३।७५) इति णत्वम् सिद्धम्। माषवापिणी। विभक्त्यन्तेन तु समासेऽन्तरङ्गत्वाद्विभक्तेः प्रागेव ङीप्राप्तौ नकारस्यान्त्यत्वाण्णत्वं न स्यात्। पूर्वपदस्य च विभक्त्यन्तत्वनियमात् चर्मक्रीतीत्यादिषु पदकार्यं नकारलोपादिकं सिद्धम्। **"तृतीय०"**। "दंशेस्तृतीयया" (५।४।७३) इत्यारभ्य यत् तृतीयोक्तं नाम, तत् कृता नाम्ना, वा समस्यते। वाशब्दो नित्यसमासनिवृत्त्यर्थः। तेन वाक्यमपि भवति ॥ ४४ ॥

सङ्क्षेपेण तत्पुरुषसमासप्रकरणं सङ्गृहीतुकामः फक्किकामाह। ***यथायोगमित्यादि**। तत्र सूत्राणि चैवम्। **"द्वितीया खट्वा क्षेपे"** (३।१।५९)। द्वितीयान्तं खट्वा इत्येतन्नाम क्तान्तेन समस्यते। क्षेपः समासार्थो न वाक्येन गम्यते इति नित्य एवायं समासः। खट्वारूढो जाल्मः—उत्पथप्रस्थित एवमुच्यते ॥ **"कालः"** (३।१।६०)। द्वितीयान्तं कालवाचि क्तान्तेन समस्यते। रात्रिमधिरूढाः रात्र्यधिरूढाः। अव्याप्त्यर्थ आरम्भः ॥ **"व्याप्तौ०"** (३।१।६१)। गुणक्रियाद्रव्यैरत्यन्तसंयोगो व्याप्तिः। व्याप्तौ या द्वितीया तदन्तं कालवाचि नाम व्यापकवाचिना नाम्ना समस्यते। मुहूर्त्तं सुखं मुहूर्त्तसुखम् ॥ **"श्रितादिभिः"** (३।१।६२)। द्वितीयान्तं श्रितादिभिः समस्यते। धर्मं श्रितो धर्मश्रितः। श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त प्राप्त आपन्न गमित आगामिन् इति नव श्रितादयः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। तेन ओदनबुभुक्षुः। हिताशंसुः। तत्त्वबुभुत्सुः। सुखेच्छुरित्यादि सिद्धम् ॥ **"प्राप्तापन्नौ तयाच"** (३।१।६३)। प्राप्तापन्नौ सामर्थ्यात् प्रथमान्तौ तया द्वितीयान्तेन समस्येते। तत्सन्नियोगो चानयोरन्तस्य अकारो भवति। प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविका। आपन्ना जीविकां आपन्नजीविका। अद् वचनं स्त्रीलिङ्गार्थम्, प्राप्तापन्नयोः प्रथमोक्तत्वात्पूर्वनिपातार्थं वचनम्। श्रितादित्वाच्चानयोर्द्वितीयाया अपि प्रथमोक्तत्वाज्जीविकाप्राप्तो जीविकापन्न इत्यपि भवति ॥ **"ईषद्गुणवचनैः"** (३।१।६४) गुणे वर्त्तित्वा तद्योगाद्ये गुणिनि वर्त्तन्ते, ते गुणवचनास्तैरीषदिति समस्यते। ईषदल्पं पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः॥ इति द्वितीयातत्पुरुषः ॥

"तृतीया तत्कृतैः" (३।१।६५)। तृतीयान्तं तत्कृतैर्गुणवचनैः समस्यते। शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डश्चैत्रः। एवं गिरिकाणः। मदपटुः। क्षारशुक्लः। कुसुमसुरभिः। कृतार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति कृतशब्दो न प्रयुज्यते। गुणवचनैरित्युक्तत्वात् शुद्धगुणवाचिना समासो न भवति—घृतेन पाटवम्; अत्रापि समासो भवतीति कश्चित् ॥ **"चतस्रार्द्धम्"** (३।१।६६)। तृतीयान्तोऽर्द्धशब्दस्तत्कृतार्थेन चतसृशब्देन समस्यते। अर्द्धेन कृताश्चतस्रः अर्द्धचतस्रो मात्राः। एवं अर्द्धचतस्रः खार्यः।

१ स्त्र्येकार्थोत्तरपदाभावात् 'परतः स्त्री०' इति पुंवद्भावो न प्राप्नोतीत्यत्करणम्।

चतसेति किम्? अर्द्धेन कृताश्चत्वारो द्रोणाः ॥ **"ऊनार्थपूर्वाद्यैः"** (३।१।६७)। तृतीयान्तमूनार्थैः पूर्वाद्यैश्च समस्यते। माषेणोनं माषोनम्, एवं माषविकलम्। मासेन पूर्वः मासपूर्वः, एवं मासावरः। पूर्व अवर सदृश सम कलह निपुण मिश्र श्लक्ष्ण इत्यष्टौ पूर्वाद्याः। आकृतिगणोऽयम्, तेन धान्येनार्थः धान्यार्थः। आत्मना पञ्चमः। आत्मना षष्ठः। आत्मनः पूरण इत्यलुक्समासः। माषेणाधिकं माषाधिकम् कार्षापणम्, भ्रात्रा तुल्यः भ्रातृतुल्यः। एकेन द्रव्यत्वम् एकद्रव्यत्वम् इत्यादि सिद्धम्। पूर्वादियोगे यथायोगं हेत्वादौ तृतीया ॥ **"कारकं कृता"** (३।१।६८)। कारकवाचि तृतीयान्तं सामर्थ्यात् कर्तृकरणरूपं कृदन्तेन समस्यते। **कर्तृ**–आत्मना कृतम् आत्मकृतम्। "कृत् सगतिकारकस्यापि" (७।४।११७) विशेषणम्। चैत्रेण नखनिर्भिन्नः चैत्रनखनिर्भिन्नः। एवं सुजनसुलभः। दुर्जनदुर्लभः। अरिदुर्जयः। **करण**–परशुना च्छिन्नः परशुच्छिन्नः। एवं नखनिर्भिन्नः। पादप्रहारः। पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः। तलाहतिः। शस्त्रप्रहृतिः। बहुलाधिकारात् स्तुतिनिन्दार्थतायां प्रायेण कृत्यैः समासः– **कर्तृ.** काकपेया नदी–एवं पूर्णेत्यर्थः। श्वलेह्यः कूपः–एवमासन्नोदक इत्यर्थः। कुक्कुटसम्पात्या ग्रामा–एवमासन्ना इत्यर्थः। **करण.** कण्टकसञ्चेय ओदनः–एवंनाम विशद इत्यर्थः। बाष्पच्छेद्यानि तृणानि–एवंनाम मृदूनीत्यर्थः। अन्यत्रापि बुसोपेन्ध्यम् तृणोपेन्ध्यम्–ते[1]जसोऽल्पताख्यायते। घे[2]नघात्यः–कृच्छ्रसाध्यत्वमुच्यते। कारकमिति किम्? विद्ययोषितः। अन्नेनोषितः। तेन हेतुनेत्यर्थः। (पुत्रेण गतः छात्रेणागतः, तेन[3] सहेत्यर्थः। कृतेति किम्? गोभिर्वपावान्, धान्येन धनवान्, बहुलाधिकारादेव क्तवतुना क्त्वया तव्यानीयाभ्यां च न भवति। दात्रेण लूनवान्, परशुना छिन्नवान्, दात्रेण कृत्वा, परशुना छित्त्वा, काकैः पातव्यः, श्वभिर्लेढव्यः।) **"नविंशत्यादिनैकोऽच्चान्तः"** (३।१।६९) तृतीयान्त एकशब्दो नविंशत्यादिना समस्यते। एकशब्दस्य चादन्तो भवति। एकान्नविंशतिः। पक्षे एकाद् नविंशतिः। एवम् एकान्नत्रिंशत् इत्यादि। नविंशत्यादिनेति निर्देशात् "नञत्" (३।२।१२५) (इति नञोऽत्) न भवति। इति तृतीयातत्पुरुषः।

"चतुर्थी प्रकृत्या" (३।१।७०)। प्रकृतिः परिणामिकारणम्, चतुर्थ्यन्तं विकृतिवाचि प्रकृतिवाचिना समस्यते। यूपाय दारु यूपदारु। प्रकृत्येति किम्? रन्धनाय स्थाली। मूत्राय सम्पद्यते यवागूरित्यादौ तु विकारस्याप्रधानस्य सम्पद्यते इत्यादि क्रियासापेक्षत्वात् न भवति ॥ **"हितादिभिः"** (७।३।७१)। चतुर्थ्यन्तं हितादिभिः समस्यते। गोभ्यो हितं गोहितम्। हित सुख रक्षित बलि इति चत्वारो हितादयः। आकृतिगणश्चायम्। तेन अश्वघासः, श्वश्रूसुरा, श्वश्रूसुरम्, हस्तिविधानम्, धर्मनियमः, धर्मजिज्ञासा, नाट्यशाला, आ[4]त्मनेपदम्, प[5]रस्मैपदम् इत्यादि सिद्धम्। कृत्यप्रत्ययान्तं चेह पठ्यते–देवदेयम्। इह न भवति–ब्राह्मणाय दातव्यम् ॥ इति चतुर्थीतत्पुरुषः।

"पञ्चमी भयाद्यैः" (३।१।७३)। पञ्चम्यन्तं भयाद्यैः समस्यते। वृकाद्भयं वृकभयम्। भय भीत भीति भी भीरु भीलुक निर्गत जुगुप्स अपेत अपोत मुक्त पतित अपत्रस्त इति त्रयोदश भयादयः। आकृतिगणश्चायम्, तेन द्वीपान्तरानीतः, स्थानभ्रष्टः, तात्परः, तपर इति सिद्धम्। बहुलाधिकारात् इह न भवति–प्रासादात्पतितः ॥ **"क्तेनासत्त्वे"** (३।१।७४)। असत्त्वे वर्त्तमाना या पञ्चमी, तदन्तं नाम क्तान्तेन समस्यते। स्तोकान्मुक्तः। "स्तोकाल्पकृच्छ्र०" (२।२।७९) इति पञ्चमी, ततोऽनेन

१ नात्र निन्दा स्तुतिर्वा किन्तु स्वरूपकथनम्। २ घात्यस्य काठिन्यं प्रतिपाद्यते। ३ एवं शिक्षया परिव्राजक इतीत्थम्भूतलक्षणेऽप्यनुक्तमपि ज्ञेयम्। अनीयप्रयोग श्वभिर्लेहनीय इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ४ पचत इत्येवमादीनामात्मा स्वभावस्तदर्थं पदम् ते आते इत्यादि आत्मनेपदम्। ५ तिवाद्यवयवापेक्षया प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पचतीत्यादिलक्षणः परोऽर्थस्तदर्थं तिवादिकं पदम्।

समासः । दूरादागतः "आरादर्थैः" (२।२।७८) इति पञ्चमी, ततोऽनेन समासः । सर्वत्र "असत्त्वे ङसेः" (३।२।१०) इत्यलुप्समासे तद्धिताद्युत्पत्तिः फलम् । स्तोकान्मुक्तिरित्यादि । इति पञ्चमीतत्पुरुषः ।

"षष्ठ्ययत्नाच्छेषे" (३।१।७६) उक्तकारकव्यतिरिक्तः शेषस्तत्र तदन्तं नाम नाम्ना समस्यते । अयत्नात्, न चेत्स शेषो "नाथः" (२।२।१०) इत्यादिर्यत्नाद्भवति । राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यादौ सापेक्षत्वात्समासो न भवति । देवदत्तस्य गुरुकुलम्, जिनदत्तस्य दास-भार्येत्यादौ तु सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वाद्भवति । अयत्नादिति किम् ? सर्पिषो नाथितम् । मातुः स्मृतम् । **"कृति"** (३।१।७७) । "कर्मणि कृतः" (२।२।८३) इति "कर्त्तरि" (२।२।८६) इति च सूत्राभ्यां या षष्ठी, तदन्तं नाम नाम्ना समस्यते । गणधरोक्तिः । इध्मव्रश्चनः । **"याजकादिभिः"** (३।१।७८) । एभिः षष्ठ्यन्तं समस्यते । ब्राह्मणानां याजकः ब्राह्मणयाजकः । एवं गुरुपूजकः । याजक पूजक परि-चारक परिवेषक स्नापक अध्यापक आच्छादक उन्मादक उद्वर्त्तक होतृ भर्तृ इति एकादश याजकादयः । आकृतिगणोऽयम् । तेन तुल्यार्था अपि–गुरुसदृशः गुरुसमः । तथा अन्यत्कारकम् विश्वगोप्ता, तीर्थकर्त्ता तत्प्रयोजको हेतुश्च, जनिकर्त्तुः प्रकृतिः इत्यादि सिद्धं भवति । **"पत्तिरथौ गणकेन"** (३।१।७९) । पत्तिगणकः रथगणकः । **"अकेन क्रीडाजीवे"** (३।१।८१) । आजीवो जीविका, क्रीडायामाजीवे च गम्यमाने षष्ठ्यन्तमकप्रत्ययान्तेन समस्यते । शालभञ्जिका–क्रीडायाः संज्ञा, दन्तलेखकः–दन्तलेखनमस्या-जीवः । क्रीडाजीवौ वाक्येन न गम्येते इति नित्यसमासा एते "कर्मजा तृचा च" (३।१।८३) इति प्रतिषेधे प्राप्ते सूत्रत्रयम् । क्वचित्षष्ठीतत्पुरुषे पूर्वपदस्य पुंवद्भावो वा स्यात् । तथाहि–**"मृगक्षीरादिषु वा"** (३।२।६२) । एतेषु समासशब्देषु परतः स्त्रीलिङ्गमनेकार्थे अरूयेकार्थे चोत्तरपदे पुंवद्वा स्यात् । मृग्याः क्षीरं मृगक्षीरं मृगीक्षीरं, मृगपदम् मृगीपदम्, मृगशावः मृगीशावः, कुक्कुटाण्डं कुक्कुट्यण्डम्, मयूराण्डं मयूर्यण्डम्, काकाण्डं काक्यण्डम्, काकशावः काकीशावः । मृगक्षीरादयः प्रयोगतोऽनुस-र्त्तव्याः । पुंस्त्रीलिङ्गपूर्वपदभेदेन समासविवक्षायां सूत्रानारम्भे मृगक्षीरादयो न सिद्ध्यन्ति । इति षष्ठी-तत्पुरुषः ।

"सप्तमी शौण्डाद्यैः" (३।१।८८) । सप्तम्यन्तं शौण्डाद्यैः समस्यते । पाने प्रसक्तः शौण्डः पानशौण्डः मद्यपः । अक्षेषु प्रसक्तः शौण्ड इव अक्षशौण्डः, शौण्डशब्द इह गौणो व्यसनिनि वर्त्तते, वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । शौण्ड धूर्त्त कितव व्याल सव्य, आयस व्यान एतौ अलसासक्तपर्यायौ । सवीण. दक्षिणपर्यायोऽयम् । अन्तर् अधीन पटु पण्डित कुशल चपल निपुण सिद्ध शुष्क पक्व बन्ध इत्येकोनविंशतिः शौण्डादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन शिरःशेखरः, हस्तकटकः, आपातरमणीयः, अवसानविरसः, पृथिवीविदितः, पृथिवीप्रणतः, अन्तेगुरुः, मध्येगुरुः, गलेवो-पकः(?) त्वचिसारः, ऋणेऽधमः अधमर्णः, ऋणे उत्तमः उत्तमर्णः, राजदन्तादित्वात्परनिपातः इत्यादि सिद्धम् । **"सिंहा०"** (३।१।८९) । समरसिंह इति समरे सिंह इवेति उपमयात्र पूजा गम्यते । एवं कलियुधिष्ठिरः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । **"काका०"** (३।१।९०) । तीर्थकाक इति तीर्थे काक इव उपमयाऽत्र क्षेपो गम्यते । एवं तीर्थध्वाङ्क्षः तीर्थवायसः तीर्थबकः तीर्थश्वा तीर्थसारमेयः तीर्थकुक्कुटः तीर्थशृगालः । यथा काकादिस्तीर्थफलमजानन्न चिरस्थायी भवति; एवं यः कार्याण्यारभ्य तेष्वनिर्वाहकः सोऽनवस्थित एवमुच्यते । बहुवचनं प्राग्वत्—

१ ननु मृगस्य पदं मृगपदम्, मृग्याः पदं मृगीपदमिति कृते सेत्स्यति किमर्थमिदमित्याशङ्का । २ आदिशब्दात् मयूराण्ड-मित्यादि । एतच्च मृग्याः क्षीरमिति कृते द्रष्टव्यम् ।

इत्यादिशब्दाच्च **"क्तेन"** (३।१।९२) सप्तम्यन्तं क्तान्तेन समस्यते, क्षेपे गम्यमाने । भस्मनि हुतम्, प्रवाहे मूत्रितम्, उदके विशीर्णम्; निष्फलं कृतमेवमुच्यते । अवतप्ते नकुलस्थितम् कार्येष्वनस्थितत्वमुच्यते, सर्वत्रोपमानेन क्षेपो गम्यते नित्यसमासाश्चैते । **"तत्राहोरात्रांशम्"** (३।१।९३) पृथग्योगात् क्षेप इति निवृत्तम्, तत्रेत्येतत्सप्तम्यन्तं नाम अहरवयवा रात्र्यवयवाश्च सप्तम्यन्ताः क्तान्तेन समस्यन्ते । तत्र कृतं तत्र भुक्तम् । पूर्वाह्णे कृतं पूर्वाह्णकृतम् । एवमपराह्णकृतं पूर्वरात्रकृतम्, तद्धिताद्युत्पत्तिः समासफलम्—तात्रकृतिः । **"नाम्नि"** (३।१।९४) संज्ञाविषये सप्तम्यन्तं नाम नाम्ना समस्यते । अरण्ये तिलकाः, पूर्वाह्णे स्फोटकाः । **"कृत्येनावश्यके"** (३।१।९५) सप्तम्यन्तं नाम "य एच्चातः" (५।१।२८) इति कृत्यप्रत्ययान्तेन समस्यते, अवश्यम्भावे गम्यमाने । मासे अवश्यं देयं मासदेयम् । य इति किम् ? मासे स्तुत्यः, मासे दातव्या भिक्षा, संवत्सरकर्त्तव्यमिति तु बहुलाधिकारात् । आवश्यक इति किम् ? मासे देया भिक्षा इति सप्तमीतत्पुरुषः । **अत्र विशेषमाह ।**

तदर्थार्थेन ॥ ४५ ॥ [सि० ३।१।७२]

चतुर्थ्यर्थेनार्थशब्देन चतुर्थ्यन्तं समस्यते । पूजार्था स्रग् । "परः शतादिः" (३।१।७५) । पञ्चमीतत्पुरुषाः । "सर्वपश्चादादयः" (३।१।८०) । षष्ठीतत्पुरुषाः (पात्रेसमितेत्यादयश्च) सप्तमीतत्पुरुषा निपात्याः । (यत्नजषष्ठ्यन्तं न समस्यते) सर्पिषो नाथितम् ॥ ४५ ॥

"तद०" पूजार्था स्रगिति । ङेऽर्थो वाच्यवदिति वाच्यलिङ्गता तेन उदकार्थो घटः, पित्रर्थं पयः इत्यादि । नित्यसमासश्चायं चतुर्थ्यैव तदर्थस्योक्तत्वादर्थशब्दाप्रयोगे वाक्यासम्भवात् समासस्तु वचनाद्भवति । तदर्थेत्यर्थविशेषणं किम् ? पित्रेऽर्थः—तदर्थं धनमित्यर्थः । **"पर शतादिः"** इत्यादि—शतात्परे—परःशताः, सहस्रात्परे परःसहस्राः, लक्षाल्लक्षाया वा परे परोलक्षाः । परशब्दस्य पूर्वनिपातः सकारागमश्च । निपातनात् परशब्दसमानार्थः परः शब्दः सकारान्तोऽस्तीत्यन्ये । **"सर्वपश्चादादयः"** इति सर्वेषां पश्चात्पदं वर्त्तते । सर्वचिरं जीवति । तदुपरिष्टाद्धुक्मं निदधाति । अव्ययप्रतिषेधापवादोऽयम् । बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् । "गुणान्तरेण तरलोपश्चेति वक्तव्यम् । तरबन्तं यद्गुणवाचि तेन सह समासः 'न निर्द्धारण' इति 'पूरणगुण' इति च निषेधस्य प्रतिप्रसवोऽयम् । सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः, सर्वेषां महत्तरः सर्वमहान्" इति **कौमुद्याम् । "पात्रेसमितेत्यादयः"** (३।१।९१) इति क्षेपे गम्ये एते सप्तमीतत्पुरुषा निपात्यन्ते । पात्रे एव समिता इति पात्रशब्देन पात्रसहचारि भोजनं लक्ष्यते, ततो भोजन एव समिता मिलिताः सन्ति न कार्यान्तरे इत्यवधारणात् क्षेपो गम्यते । एवं गेहे नर्दी गेहे शूर इत्यादि । इतिशब्दः समासान्तरनिवृत्त्यर्थस्तेन परमाः पात्रे समिताः पात्रे समितानां पुत्र इत्यादिषु समासो न भवति । निपातनात् सप्तम्या अलुप् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।

अथ षष्ठीसमासनिषेधमाह—**"षष्ठ्ययत्नाच्छेषे"** (३।१।७५) । यत्नजेत्यादि—यस्या विधानाय सूत्रान्तरकरणं सा यत्नजा षष्ठी तदन्तं नाम न समस्यते । सर्पिषो नाथितमिति—"नाथः" (२।२।१०) इति सूत्रेण व्याप्ये षष्ठी । एवं मातुः स्मृतम् सर्पिषो दयितं मातुरीशितम् "स्मृत्यर्थदयेशः" (२।२।११) इति षष्ठी । एधोदकस्योपस्कृतम् "कृगः प्रतियत्ने" (२।२।१२) इति षष्ठी । चौरस्य रुग्णं "रुजार्थस्याऽज्वरिसन्तापेर्भावे कर्त्तरि" (२।२।१३) इति षष्ठी । चौरस्योज्जासितं "जासनाटक्राथपिषो हिंसायाम्" (२।२।१४) इति षष्ठी । यत्नजशेषषष्ठ्यन्तमिति किम् ? गोस्वामी पृथिवीश्वर इत्यादौ समासो भवत्येव "स्वामीश्वरा०" (२।२।९८) इत्यादिसूत्रस्य नित्यं षष्ठीप्राप्तौ सप्तमीविधानार्थत्वात् ।

सङ्घस्य भद्रं भूयादित्यादौ त्वाशिषि षष्ठ्याः समासो न भवति, असामर्थ्यादनभिधानाद्वा—नहि सङ्घभद्रं भूयादित्युक्ते सङ्घस्य भद्रं भूयादिति प्रतीयते किन्तु सङ्घसम्बन्धि भद्रं कस्यचिद्भूयादिति प्रतीयते ॥४५॥

न कर्त्तरि ॥ ४६ ॥ [सि० ३।१।८२]

कर्तृजषष्ठ्यन्तमकान्तेन न समस्यते । तव शायिका ॥ ४६ ॥

"न क०" । तव शायिकेति शयितुं पर्यायः शायिका "पर्यायार्हर्णोत्पत्तौ च णकः" (५।३।१२०) इति णकः ॥ ४६ ॥

कर्मजा तृचा च ॥ ४७ ॥ [सि० ३।१।८३]

कर्मजषष्ठ्यन्तमकान्तेन तृजन्तेन च न समस्यते । भक्तस्य भोजकः । अपां स्रष्टा । "तृतीयाम्" (३।१।८४) । कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ ४७ ॥

"कर्म०" । कर्मजषष्ठ्यन्तमिति—कर्त्तरीत्यनुवर्त्तते तच्चाकस्य विशेषणम्, कर्मणि विहिता षष्ठी कर्मजा, तदन्तं नाम कर्त्तरि विहितो योऽकप्रत्ययस्तदन्तेन तृजन्तेन च न समस्यते । कर्मजेति किम् ? सम्बन्धषष्ठ्याः प्रतिषेधो मा भूत् । गुणो गुणिविशेषकः, गुणिनः सम्बन्धी विशेषक इत्यर्थः । कथं भूभर्त्ता वज्रभर्त्ता इति ? भर्तृशब्दो यः पतिपर्यायस्तेन सम्बन्धषष्ठ्या, याजकादिपाठात्कर्मषष्ठ्या वाऽयं समासः । क्रियाशब्दस्य तु तत्राग्रहणादनेन प्रतिषेधः । भुवो भर्त्ता वज्रस्य भर्त्ता । **"तृती०"** कर्त्तरीति—कर्त्तरि या तृतीया तस्यां सत्यां कर्मजा षष्ठी न समस्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तृप्तार्थपूरणाव्ययाऽतृश्शत्रानशा ॥ ४८ ॥ [सि० ३।१।८५]

एभिः षड्भिः सह षष्ठ्यन्तं न समस्यते । फलानां तृप्तः । तीर्थकृतां षोडशः । राज्ञः साक्षात् । रामस्य द्विषन् । चैत्रस्य पचन् । मैत्रस्य पचमानः । "ज्ञानेच्छार्चार्थाधारक्तेन" (३।१।८६) । राज्ञा ज्ञातः इष्टः पूजितः । इदमेषां यातम् । "अस्वस्थगुणैः" (३।१।८७) । पटस्य शुक्लः । काकस्य कार्ष्ण्यम् ॥ ४८ ॥

"तृप्ता०" । सुगमम् । **"ज्ञाने०"** । "ज्ञानेच्छार्चार्थाञ्जीच्छील्यादिभ्यः क्तः" (५।२।९२) इति सूत्रेण ज्ञानेच्छार्चार्थेभ्यो वर्त्तमाने विहितो यः क्तो यश्च "अद्यर्थाच्चाधारे" (५।१।१२) इति सूत्रेणाधारे विहितः क्तस्तदन्तेन षष्ठ्यन्तं न समस्यते । **"अस्व०"** । ये गुणाः स्वात्मन्येवावतिष्ठन्ते न द्रव्ये ते स्वस्थास्तत्प्रतिषेधेनास्वस्थगुणवाचिभिर्नामभिः सह षष्ठ्यन्तं न समस्यते । पटस्य शुक्लः—अत्रार्थात्प्रकरणाद्वाऽपेक्ष्यस्य वर्णादेर्निर्ज्ञाने योऽयं शुक्लादिः स पटादेरिति सामर्थ्योपपत्तेः समासः प्राप्नोतीति प्रतिषिध्यते । तथा पटस्य शौक्ल्यं गुडस्य माधुर्यमत्र पूर्वत्र च शुक्लादेर्गुणस्य शुक्लः पट इत्यादौ द्रव्येऽपि वृत्तिदर्शनादस्वास्थ्यमस्त्येव । शौक्ल्यशब्दश्च यद्यपि शुक्लवत्साक्षात्पटे न वर्त्तते तथापि भूतपूर्वगत्या द्रव्यवृत्तिरित्यस्याप्यस्वस्थत्वम् । गुणाश्चेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा अभिप्रेतास्तत्तद्विशेषैरेवायं प्रतिषेधस्तेन यत्नगौरवं बुद्धिकौशलं करणपाटवं भेरीशब्दो गौशब्दमित्यादौ प्रतिषेधो न भवति । अस्वस्थगुणैरिति किम् ? घटवर्णः कन्यारूपं कपित्थरसः चन्दनगन्धः स्तनस्पर्शः । बहुलाधिकारात् कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् वृषलस्य धाष्ट्यर्मित्यादिषु समासो न भवति, चन्दनसौरभ्यमित्यादिषु च भवतीति ॥ ४८ ॥

नञ् ॥ ४९ ॥ [सि० ३।१।५१]

नञ् नाम्ना सह समस्यते, स तत्पुरुषः ।

द्वौ नञौ प्रकृतौ लोके पर्युदासप्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ १ ॥

तदन्यतद्विरुद्धादयो नञोऽर्थाः । "नञत्" (३।२।१२५) । असाधुः । "त्यादौ क्षेपे" (३।२।१२६) । नञः अः । स्यात् अपचसि त्वं जाल्म ॥ ४९ ॥

"नञ्०" । द्वौ नञावित्यादि कारिकाया अयं भावः—निवर्त्त्यमानतद्भाव उत्तरपदार्थः पर्युदासे नञ्समासार्थः, स चतुर्द्धा—तत्सदृशः १ तद्विरुद्धः २ तदन्यः ३ तदभाव ४ श्च । अब्राह्मणः अशुक्ल इति तत्सदृशः क्षत्रियादिः पीतादिश्च प्रतीयते १ । अधर्मः असित इति तद्विरोधी पाप्मा कृष्णश्च प्रतीयते २ । अनग्निरवायुरिति ताभ्यामन्यः प्रतीयते ३ । अवचनमवीक्षणमिति तदभावः प्रतीयते ४ । उत्तरपदार्थस्य तद्भावनिवृत्तिस्तु अर्थत एव नतु शब्दतः, तेनासः अतस्मिन् इत्यादौ उत्तरपदप्राधान्यात्सर्वादिकार्यं गणकार्यं च सिद्धं भवति—यथा अत्वन्त्वं सम्पद्यते त्वद्भवतीत्यत्र युष्मदर्थस्य गौणत्वेन प्रथमत्रिकेऽपि शब्दमात्राश्रयात्त्वादेशो भवति । नन्वस्योत्तरपदार्थप्राधान्येन तल्लिङ्गसङ्ख्यत्वे सति कथं किरातादौ "भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मय" इत्यादिप्रयोगे बहुवचनम् ? असाधव एवेदृशाः शब्दाः इति श्रीसूरिपादाः । कश्चिदेकशब्दस्यान्यार्थस्यैकशेषादेके इति साधयित्वा पश्चान्नञ्समासं मन्यन्ते । "अध्यारोपितैकत्वानां प्रकृत्यर्थतया तत्र वास्तवबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनम्, यद्वा समुदायबहुत्वे बहुवचनं रथोऽश्वो गजश्च प्रत्येकमनेकस्ततः अनेकश्चानेकश्चानेकश्चेत्येकशेष इति" तु **मनोरमायाम्** । प्रसज्यप्रतिषेधे तु नञ् पदान्तरेण सम्बध्यते इत्युत्तरपदं वाक्य इव स्वार्थे एव वर्त्तते, तत्रासामर्थ्येऽपि यथाभिधानं बाहुलकात्समासः । सूर्यमपि न पश्यन्त्यसूर्यम्पश्या राजदाराः, पुनर्न गीयन्ते अपुनर्गेयाः श्लोकाः, श्राद्धं न भुङ्क्तेऽश्राद्धभोजी, वत्सेभ्यो न हितोऽवत्सीयः, वधं नार्हतीत्यत्रावध्यो ब्राह्मण इत्यादि । अन्यत्र तु घटो नास्तीत्यादावसामर्थ्यादेव न समासः । अन्य इत्येव—न विद्यन्ते मक्षिका अत्रेत्यमक्षिकाकः, मक्षिकाणामभावोऽमक्षिकम्, अन्यपदार्थप्राधान्ये बहुव्रीहिः, पूर्वपदार्थप्राधान्येऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्राधान्ये तत्पुरुष इति विवेकः ।

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः" ॥ १ ॥

अब्राह्मणः, अपापं, अनश्वः, अनुदरा कन्या, अपशवोऽन्ये गोभ्यः, अधर्म इति क्रमेणोदाहरणानीति । तथा आरोपितत्वं नञा द्योत्यते आरोपमात्रविषयत्वं तु संसर्गः । तथा च अब्राह्मणशब्दादारोपितो ब्राह्मण इति बोधे अर्थाद् ब्राह्मणभिन्न इति पर्यवस्यति, अत एवानुपसर्जनत्वादतस्मिन्नित्यादौ सर्वनामकार्यं सिद्ध्यति । तत्पुरुषस्यौत्सर्गिकमुत्तरपदार्थप्राधान्यमप्येवं सति निर्बाधम् । "**मीमांसकादयस्तु** ब्राह्मणभिन्न इत्यादि शाब्दबोध एवेत्याहुस्तन्मतेऽस इत्यादेरतिसर्व इत्यादि समकक्षत्वात्सर्वनामसंज्ञाकार्यं गणकार्यं च न स्यात्" इत्यादि **मनोरमायाम्** । "**त्यादौ०**" । त्याद्यन्ते पदे परतः क्षेपे गम्ये नञ् अकारो भवति । "अ मो नो नाः प्रतिषेधे" इत्यकारेण निषेधार्थेन सिद्धौ, क्षेपे नञः श्रवणवारणामर्थसमासार्थं च वचनम् ॥ ४९ ॥

अन् स्वरे ॥ ५० ॥ [सि० ३।२।१२९]

स्वरादौ परे नञोऽन् स्यात् । अनार्यः ॥ *नखनासत्यादयो निपात्याः (अत्र "नखादयः" (३।२।१२८) इति सूत्रं ज्ञेयम्) ॥ ५० ॥

"अन्०" । अन् इति स्वरूपनिर्देशात् नलोपो द्वित्वं च न भवति । *"**नख०**" नास्य खमस्तीति नखः । सत्सु साधुः सत्यः, न सत्यः असत्यः; न असत्यः, नासत्यौ अश्विनीपुत्रौ । आदिशब्दात् न

न भ्राजते इति नभ्राट् । न न मुञ्चतीति नमुचिः । न न कुलमस्य नकुलः । सर्वत्र पृषोदरादित्वादेकस्य नञो लोपः, यद्वा न भ्राजते इति नभ्राट् इत्येकेनैव नञा रूपाणि ॥ न पुमान्न स्त्रीति नपुंसकम्, अत एव निपातनात् स्त्रीपुंसयोः पुंसकादेशः ॥ न क्षीये न क्षरति वा नक्षत्रम् । न क्रामति न क्रीणाति वा नक्रः । नास्मिन्नंदुः खमस्ति नाकं । एवं नग्नः, नागः, नभागः नाराचः नापितः नमेरुः ननन्दा, नान्तरेण भवति नान्तरीयकम् । नाचिकेतः । आकृतिगणत्वाच्च नास्तिकः नभः नारङ्गमित्यादयो द्रष्टव्याः । तथा **"नगोऽप्राणिनि वा"** (३।२।१२७) । न गच्छतीति नगः अगो वा गिरिः । अप्राणिनीति किम् ? अगो वृषलः शीतेन ॥ ५० ॥

दुर्निन्दाकृच्छ्रे ॥ ५१ ॥ [सि० ३।१।४३]

एतन्निन्दाकृच्छ्रवृत्तिनाम्ना समस्यते । दुर्जनः दुष्कृतम् । "सुः पूजायाम्" (३।१।४४) । सुजनः ॥ ५१ ॥

"दु०" । निन्दितो जनो दुर्जनः । कृच्छ्रेण कृतम् दुष्कृतम् ॥ **"सुः०"** । स्पष्टम् ॥ ४९ ॥

अतिरतिक्रमे च ॥ ५२ ॥ [सि० ३।१।४५]

अतिरतिक्रमेऽर्चायां च समस्यते । अतिस्तुत्यः अतिराजा । "आङल्पे" (३।१।४६) । आकडारः। "पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना" (३।१।५२) । समस्यते । पूर्वकायः । "समेंऽशेऽर्धं न वा" (३।१।५४) । अर्धपिप्पली पिप्पल्यर्धम् । "जरत्यादिभिः" (३।१।५५) । अप्यर्धो वा समस्यते । अर्धजरती जरत्यर्धः । "सायाह्नादयः" (३।१।५३) । साधवः ॥ ५२ ॥

"अति०" । अतिस्तुत्येति—अतिक्रमेण स्तुत्वेत्यर्थः । शोभनो राजातिराजेत्यर्थः । **"आ०"** । ईषत्कडारः आकडारः । **"पूर्वा०"** । अंश एकदेशस्तद्वानंशी । पूर्वादयोऽंशवाचिनोऽंशिना समस्यन्ते न चेत्सोऽंशी भिन्नः प्रतीयते । पूर्वः कायस्य पूर्वकायः । एवमपरकायः अधरकायः उत्तरकायः । पूर्वादिग्रहणं किम् ? दक्षिणं कायस्य । अभिन्नेनेति किम् ? पूर्वं छात्राणामामन्त्रयस्व, बहुवचनाद्भेदप्रतीतिः—छात्रानां सम्बन्धिनं कस्मादपि छात्रात्पूर्वमित्यर्थः । प्रसज्यप्रतिषेधः किम् ? पूर्वं पाणिपादस्य अत्र समाहारस्यैकत्वेऽपि पाणिः पाद इति भेदप्रतीतेर्न भवति । पूर्वग्राम इत्यादौ तु न ग्रामशब्दात्प्रासादादिभेदप्रतीतिः । अंशिनेति किम् ? पूर्वो नाभेः कायस्य—अत्र नाभेर्यः पूर्वो भागः स कायस्यावयव इत्यर्थः । नाभेरिति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । अत्र पूर्वस्य भागस्य नाभिरवधिर्नत्वेकदेशिनी अतो नाभ्या सह समासो नेत्यर्थः । कायेन तु स्यादेव । पूर्वकायो नाभेरिति । **"समें०"** । समेंऽशे वर्त्तमानमर्द्धमभिन्नेनांशिना समस्यते । अर्द्धपिप्पलीति—परलिङ्गो द्वन्द्वोऽंशीति लिङ्गानुशासनात् स्त्रीत्वम् । पक्षे पिप्पल्यर्द्धमिति तुल्यभागेऽर्द्धमिति नपुंसकत्वम् । समेंऽश इति किम् ? ग्रामार्द्धः, अत्र अर्द्धसुदर्शनेति पुंस्त्वम् । अर्द्धं च सा पिप्पली चेति कर्मधारयेणैव सिद्धे भेदविवक्षायां पक्षे षष्ठीसमासबाधनार्थं अर्द्धं पिप्पलीनामिति असमांशे चार्द्धश्चासौ ग्रामश्चेति कर्मधारयनिषेधार्थं वचनम् । कथमर्द्धपिप्पल्य इति ? अर्द्धं पिप्पल्या इत्यभिन्नेन समासे सत्येकशेषात्, अर्द्धराशिरित्यत्र राशेरभेदप्रतिभासाद्भविष्यति । अत्र समेंशेऽर्द्धशब्द आविष्टलिङ्गो नपुंसकलिङ्गः, असमासे तु पुंल्लिङ्गः । अन्ये त्वसमांशे वाच्यलिङ्गमेनमाहुरसमांश एव च षष्ठीसमासम्, समांशे तु नित्यमंशितत्पुरुषमिच्छन्ति । अर्द्धपिप्पलीत्यादावर्द्धशब्दस्य प्रथमोक्तत्वात्प्राग्नि-

---

१ अयमर्थः—सूत्राभावे भेदाभेदविवक्षायां प्रयोगद्वयं सिद्ध्यति । सूत्रकृतौ तु भेदविवक्षायामेव पक्षे षष्ठीसमासं बाधित्वा प्रयोगद्वयं सिद्धम् । अन्यथा भेदे षष्ठीसमास एव स्यात् । २ पिप्पल्याख्यस्यांशिनोऽनेकद्रव्यस्वभावत्वादभिन्नत्वात्समासाभावः । षष्ठीसमासस्तु भवत्येते पिप्पल्यर्द्धमिति । प्रकरणादिना बहुत्वस्याप्यन्तर्गतबहुवचनान्तस्यापि प्रवृत्तिरविरुद्धा ।

पातः । **"जर०"** । अर्द्धो जरत्या अर्द्धजरती । तत्तुल्यमर्द्धजरतीयम् "काकतालीयादयः" (७।१।११७) इति सिद्धिः । एवमर्द्धवैशसं अर्द्धो वैशसस्य–अर्द्धमरणमित्यर्थः । अर्द्धोक्तमर्द्धविलोकितमित्यादि । पक्षे तु जरत्यर्द्धं इत्याद्यपि भवति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । असमांशार्थोऽयमारम्भः । **"साया०"** । एतेऽशितत्पुरुषाः साधवः स्युः । सायमह्नः सायाह्नः, मध्यमह्नः मध्याह्नः, मध्यं दिनस्य मध्यंदिनम्, मध्यं रात्रेः मध्यरात्रः, "उपारताः पश्चिमरात्रगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् । तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोन्मुखं गवां गणाः प्रस्तुतपीवरौधसः" ॥ १ ॥ इति **किरातार्जुनीये** । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चाला इतिवत्समुदायवाचिनामंशेऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्सामानाधिकरण्ये सति कर्मधारयेणैव सिद्धम् । पूर्वश्चासौ कायश्च पूर्वकायः । सायं च तदहश्च सायाह्नः इति । तत्पुरुषविधानं तु "पूर्वापर०" (३।१।१०३) इति सूत्रेऽत्र सूत्रे च अह्नः सायं कायस्य पूर्वमिति षष्ठीसमासबाधनार्थम्[1] ।

अत्रादिशब्दानुवृत्तेः **"द्वित्रिचतुःपूरणाग्रादयः"** (३।१।५६) । पूरणप्रत्ययान्ता द्यादयोऽग्रादयश्चांशवाचिनो भिन्नेनांशिना वा समस्यन्ते । द्वितीयं भिक्षाया द्वितीयभिक्षा । एवं तृतीयभिक्षा । चतुर्थभिक्षा । तुर्यभिक्षा । तुरीयभिक्षा । अग्रं हस्तस्याग्रहस्तः । एवं तलपादः । पक्षे भिक्षाद्वितीयं हस्ताग्रमित्यादि । नित्याधिकाराभावाद्वाक्यसिद्धावप्यत्र वानुवृत्तेर्निषिद्धोऽपि पूरणेन षष्ठीसमासो भवति । **"कालो द्विगौ च मेयैः"** (३।१।५७) । कालवाचि नामैकवचनान्तं द्विगौ च विषये वर्त्तमानं मेयवाचिना समस्यते । मासो जातस्य मासजातः । द्विगौ–एको मासो जातस्य एकमासजातः । द्वे अहनी सुप्तस्य द्व्यहसुप्तः । कथं द्व्यहजातः ? समाहारद्विगोर्जातेन काल इत्यंशेन समासः । यद्यप्यत्र जातादि कालस्य विशेषणं तथापि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्समासो जातादिप्रधानस्तेन समासे तदीयं लिङ्गादिकं भवति । काल इति चैकवचनं द्विगोर्[2]न्यत्र प्रयोजकम्, तेन मासौ मासा वा जातस्येत्यत्र न भवति । द्विगौ तु (द्वौ त्रयो वा मासा जातस्य द्विमासजातः त्रिमासजात इत्यपि) भवति । द्विगुग्रहणं त्रिपदसमासार्थम्, अन्यथा नाम नाम्नेत्यनुवृत्तेर्द्वयोरेव स्यात् । मेयैरिति किम् ? [3]मासश्चैत्रस्य, जातादेरेव हि मेयत्वम्, जन्मादेः प्रभृति जातादिसम्बन्धित्वेनैवादित्यगतिपरिच्छेदान्न द्रव्यमात्रस्य । क्तान्तेनैव मेयेन प्रायेणायं समासस्तेन मासो गच्छत इत्यादौ समासो न भवति । षष्ठीसमासापवादोऽयं योगः । **"स्वयंसामी क्तेन"** (३।१।५८) । एते अव्यये क्तान्तेन समस्येते । स्वयं धौतौ पादौ, धौत इति कर्मकर्त्तरि वा क्तः, यतः करणशक्तेः कर्तृशक्तेर्वा वाचकः स्वयंशब्दः, स्वयमात्मनेत्यर्थः–अत्र करणे कर्त्तरि वा तृतीया । सामिकृतं अर्द्धमित्यर्थः । "सामिघटिता मुक्तानुमन्दाकिनीति" **नैषधीये** । ऐकपद्यं तद्धितावुत्पत्तिश्च समासप्रयोजनम्–स्वायंधौतिः सामिकृतिः ॥ ५२ ॥

गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः ॥ ५३ ॥ [सि० ३।१।४२]

गतिसंज्ञाः कु इत्यव्ययं च नाम्ना समस्यते । समासो*ऽन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणरहितस्तत्पुरुषः स्यात् । ऊरीकृत्य । प्रणम्य । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । नित्यसमासोऽयमविग्रहोऽस्वपदविग्रहश्च नित्यसमासः स्यात् ॥ ५३ ॥

"गति०" । कु इत्यव्ययं पापाल्पयोर्वर्त्तते । प्रागुक्ता गतिसंज्ञकाः कुश्च नाम्ना सह नित्यं समस्यन्ते, समासस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति । ऊरीकृत्य । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । अव्ययमित्येव–कुर्विशाला,

---

१ ननु सायमोऽव्ययत्वात् 'तृप्त०' इत्यादिना षष्ठीसमासस्य निषेधेन प्राप्तिरेव नास्ति, किमुच्यते षष्ठीसमासबाधनार्थमिति ? उच्यते । यदाऽकारान्तः सायंशब्दोऽनव्ययं नपुंसकलिङ्गस्तदा प्राप्नोति । २ अन्यत्र चरितार्थमित्यर्थः, द्विगौ तु द्विवचनाद्यन्तमपि समस्यते इति भावः । ३ अत्र न मासश्चैत्रस्य परिच्छेदकत्वेन सम्बन्धी किं तूत्सवास्पदत्वेनान्येन वा प्रकारेणेति ।

पृथ्वीत्यर्थः । तत्पुरुषस्य सामान्यतो लक्षणमाह–*अन्य इति बहुव्रीह्यादिलक्षणरहित इत्यर्थः । तेन कुत्सिताः पुरुषा यस्य स कुपुरुषकः, अत्रान्यपदार्थप्राधान्याद्बहुव्रीहिरेव (बहुव्रीहित्वात्कच् भवति) । तत्पुरुषप्रदेशाः "गोस्तत्पुरुषात्" (७।३।१०५) इत्यादयः ।

अथात्रादेशविशेषानाह—

"कोः कत्तत्पुरुषे" (३।२।१३०) । स्वरादौ परे । कदन्नम् । "रथवदे" (३।२।१३१) । तथा । कद्रथः । कद्वदः ।

"**कोः०**" । तत्पुरुष इति किम् ? कुत्सिता उष्ट्रा अस्मिन् कूष्ट्रो देशः । स्वरादावित्येव–कुब्राह्मणः । "**रथ०**" । कुत्सितो रथः कुत्सितो रथोऽस्येति वा कद्रथः । वदतीति वदः "अच्" (५।१।४९) कुत्सितो वदः, कुत्सितो वदोऽस्येति वा कद्वदः । तत्पुरुष एवेच्छन्त्येके । अन्यत्र कुरथो राजा कुवदो मूर्खः । एवं "**तृणे जातौ**" (३।२।१३२) । कुत्सितं तृणमस्याः कत्तृणा नाम रौहिषाख्या तृणजातिः । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि । "**कत्रि**" (३।२।१३३) । कुशब्दस्य किंशब्दस्य वा त्रिशब्दे उत्तरपदे कदादेशो निपात्यते । कुत्सितास्त्रयः के वा त्रयः कत्रयः । कुत्सितास्त्रयः के वा त्रयोऽस्य कत्रिः । किमो नेच्छन्त्येके कित्रयः ॥ ५३ ॥

काऽक्षपथोः ॥ ५४ ॥ [सि० ३।२।१३४]

अनयोः परयोः कोः का स्यात् । काक्षः । कापथम् । "पुरुषे वा" (३।२।१३५) । कापुरुषः कुपुरुषः ॥ ५४ ॥

"काक्ष०" । अक्षशब्दस्याकारान्तस्य कृतसमासान्तस्य च ग्रहणम् । कुत्सितो अक्षः पाशकादिः काक्षः, कुत्सितमक्षमिन्द्रियं काक्षम्, कुत्सितोऽक्षोऽस्य काक्षो रथः । कुत्सितमक्षमक्षि वाऽस्य काक्षः । कुत्सितः पन्थाः कापथम् पथः सङ्ख्याव्ययेति नपुंसकत्वम् । **अमरो गौड**श्च पुंस्त्वमाह–व्यध्वो विपथकापथौ इति । कुत्सितः पन्था अस्मिन् कापथो देशः । साकोऽपि भवति । ककुःकुत्सितोऽक्षः काक्षः । पथिन्निर्देशात्तत्पर्यायेऽव्युत्पन्ने पथशब्दे न भवति ।–कुत्सितः पथः कुपथः (न तु कुपथम्) । कुपथं वनम् । अनीषदर्थं वचनम् । "**पुरुषे०**" कुत्सितः पुरुषः, कुत्सिताः पुरुषा अस्मिन्निति विग्रहे वा कापुरुषः, कुपुरुषो ग्रामः । अनीषदर्थे विकल्पः । ईषदर्थे तूत्तरेण नित्यमेव । तत्रापि विकल्प एवेति कश्चित् ॥ ५४ ॥

अल्पे ॥ ५५ ॥ [सि० ३।२।१३६]

ईषदर्थस्य कोः का स्यात् । काच्छम् ॥ ५५ ॥

"अ०" । कु ईषदच्छं काच्छम् । स्वरादावपि परत्वात् कादेश एव न तु कदादेशः ॥ ५५ ॥

काकवौ वोष्णे ॥ ५६ ॥ [सि० ३।२।१३७]

ईषदर्थस्य कोरुष्णे परे का कवौ वा स्याताम् । कोष्णम् । कवोष्णम् । कदुष्णम् ॥ ५६ ॥

"का०" । कु ईषत् कुत्सितं वोष्णं कवोष्णं कोष्णम् । पक्षे यथाप्राप्तमिति । तत्पुरुषे कदुष्णम् । बहुव्रीहौ तु कदादेशो न भवति । कूष्णो देशः । अन्यस्तु अग्नावपीच्छति–काग्निः कवाग्निः कदग्निः ॥५६॥

मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥ ५७ ॥ [सि० ३।१।११६]

एते तत्पुरुषाः समासा निपात्यन्ते । मयूरव्यंसकः । एहीडं वर्त्तते । अश्नीतपिबता क्रिया । एहिरेयाहिरा । कुरुकटो वक्ता । गतप्रत्यागतम् । शाकपार्थिवः । त्रिभागः ॥ ५७ ॥

“मयू०” मयूरव्यंसक इति–विगतावंसावस्य व्यंसस्तत्तुल्यो व्यंसकस्तादृशो मयूरः । व्यंसयति वा छलयति यः स व्यंसकः । लुब्धकानां मयूरो गृहीतशिक्षो योऽन्यान् वन्यान् छलयति तद्रूपेण लोकस्यापि वञ्चकः धूर्त्त इत्यर्थः (एवं छात्रव्यंसकः, मुण्डश्चासौ कम्बोजश्च कम्बोजमुण्डः, एवं यवनमुण्डः, व्यंसका चासौ मयूरी च मयूरव्यंसका कर्मधारयलक्षणः पुंवद्भावः ।) एतेषु विशेष्यस्य पूर्वनिपातो निपातनात् । एहीडादयोऽन्यपदार्थे एहि इडे स्वि इति जल्पो यस्मिन्कर्मणि काले वा तत् एहीडमिति (एहि यवैरिति जल्पो यत्र कर्मणि काले वा तदेहियवं वर्तते । एतौ निपातनान्नपुंसकौ) एहि वाणिजेति जल्पो यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । (एवं एहिवाणिजा, अपेहिवाणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, एहिप्रघसा, अपेहिप्रघसा, एहिविघसा, अपेहिविघसा, एहिप्रकसा, अपेहिप्रकसा, प्राहेकटमिति जल्पो यस्यां सा प्राहेकटा क्रिया, एवं प्राहेकर्दमा, प्राहेकपर्दा, उद्धम चूडे उद्धम चूडामिति वा जल्पो यस्यां सोद्धमचूडा क्रिया, आहार चेलमिति यस्यां सा आहारचेला क्रिया, एषमाहरवसना, आहारवितता, कृन्धि विचक्षणेति कृन्धि विचक्षणमिति वा यस्यां सा कृन्धिविचक्षणा क्रिया, भिन्धि लवणमिति यस्यां सा भिन्धिलवणा, एवं पचलवणा, उद्धरोत्सृजेति जल्पो यस्यां सोद्धरोत्सृजा, एवमुद्धरावसृजा, उद्धमविधमा, उद्वपनिवपा, उत्पतनिपता, उत्पचनिपचा, कृन्धि विक्षिणीहीति विक्षणु इति वा यस्यां सा कृन्धिविक्षणा, उन्मृजावमृजेति यस्यां सोन्मृजावमृजा, अत एव निपातनादिहैव च मृजेर्हौ शो भवति । (आख्यातमाख्यातेन सातत्ये) आख्यातमाख्यातेन सातत्ये इति शाकटायनसूत्रम् । अश्नीतपिबतेति–अश्नीतपिबतेति सातत्येनोच्यते यस्यां सा क्रिया । (एवं अश्नीतपचता । खादतमोदता, पचतभृज्जता, लुनीतपुनीता, खादाचामा, आहरनिवपा, आवपनिष्किरा, पचमकूला, इह द्वितीयेति यस्यां क्रियायां सेह द्वितीया, एवमिहपञ्चमी, अद्यद्वितीया, अद्यपञ्चमी) तथा एहिरे याहिरेति यस्यां क्रियायां सैहियाहिरा । एवं एहिरेगच्छरा, अहो अहं पुरुष इति यस्यां सा अहोपुरुषिका । अहं पूर्व इति यस्यां सा अहम्पूर्विका । एवमहम्प्रथमिका । अहमहमिति यस्यां सा अहमहमिका विकृतं प्रकृतं च यस्यां सा विप्रका, (विचप्रका ?) निश्चितं च प्रचितं च यस्यां सा निश्चप्रचा । या इच्छा यस्यां सा यदृच्छा । एषु सर्वेषु क्रियैवान्यपदार्थस्तत्प्राधान्याचाप् । कुरुकटो वक्तेति कुरुकटमित्यभीक्ष्णं य आह स कुरुकटो वक्ता । 'ह्यन्तं स्वकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तरि समासाभिधेये' । एवं जहिजोडमित्यभीक्ष्णं य आह स जहिजोडः, (एवमुज्जहिजोडः, जोडो दासः । जहिस्तम्बः, उज्जहिस्तम्बः, कुरुकटः, बहुलवचनान्न च भवति, पचौदनमित्यभीक्ष्णमाह, स्नात्वा कालीभूतः स्नात्वाकालकः, एवं पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वासुहितः, प्रोष्य विप्रयुक्तो भूत्वा पापीयान्निःस्नेहो भवति स प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्याकाशे भूत्वा या पाकलापाण्डुर्भवति सोत्पत्यपाकला, निपत्य भूमौ निपतिता रोहिणी या रक्ता भवति सा निपत्यरोहिणी, निषद्य निषण्णा सती श्यामा जाता निषद्यश्यामा, निषण्णा श्यामा जाता निषण्णश्यामा ।) । उदक् चावाक् चेति उच्चितं चावचितं चेति वा उच्चावचम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चितं च निचितं चेति वा उच्चनीचम् । आचितं चोपचितं च आचोपचम् । आचितं चावचितं च आचोवचम् । आचितं च पराचितं च अर्वाक् च परस्ताच्चेति वा आचपराचम् । निश्चितं च प्रचितं च निश्चप्रचम् । निकुषितं च निरस्तवचितं च निश्चत्वचम् । न भवति किञ्चन न क्वचिदुपयुज्यते इत्यकिञ्चनम् । नास्य कुतो भयमस्तीत्यकुतोभयम् ॥ तथा अन्तरशब्दो

भिन्नवाची मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे अन्तरमात्रशब्दाभ्यां सह नित्यसमासः अन्यो राजा राजान्तरं चिदेव चिन्मात्रमिति **मनोरमायाम्** ॥ गतप्रत्यागतादय इति–गतं च तत्प्रत्यागतं च गतप्रत्यागतम् । एवं यातानुयातम् (महान् क्रयोऽल्पः क्रयिका क्रयावयवयोगात् क्रयः, क्रयिकावयवयोगात् क्रयिका, क्रयश्चासौ क्रयिका च क्रयक्रयिका समुदायः । एवं पुटापुटिका, फलाफलिका, मानोन्मानिका, एषु व्यवस्थितपूर्वोत्तरपदसमासः ।) शाकपार्थिव इति–शाकप्रियः शाकभोजी शाकप्रधानो वा पार्थिवः पृथोरपत्यं शाकपार्थिवः पृथिव्या ईश्वरः पार्थिव इति वा तेन शाकपार्थिवः (कुतपवस्त्र-सौश्रुतः, सुश्रुतोऽपत्यं सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः । अजापण्यस्तौल्वलिः अजातौल्वलिः) । एवं यष्टिप्रहरणो मौद्गल्यो यष्टिमौद्गल्यः, परशुरामः, घृतप्रधाना रोटिः घृतरोटिः, एवम् ओदनपाणिनिः, आणिमाण्डव्यः, बलाकाकौशिकः, विदर्भीकौण्डिण्यः । सहस्रबाहुरर्जुनः सहस्रार्जुनः । त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या । एकाधिका दश एकादश । एवं द्वादश षोडश । एकविंशतिः द्वाविंशतिः । एकेनाधिकं शतं एकशतम् द्विशतम् । दध्युपसिक्त ओदनः दध्योदनः, एवं घृतौदनः । गुडमिश्रा धाना गुडधानाः, एवं तिलपृथुकाः । अश्वयुक्तो रथो अश्वरथः, एवं गजरथः । घृतपूर्णो घटो घृतघटः । अत्र शाकपार्थिवादिषु प्रियादेरुत्तरपदस्य लोपः । त्रिभाग इति तृतीयो भागस्त्रिभागः । एवं त्र्यंशः । षड्-भागः षडंशः । त्रिदिवं तृतीयदिवम्, त्रिविष्टपं तृतीयविष्टपम् इत्यादिषु पूरणप्रत्ययस्य वा लुग् भवति (तथा सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः, एवं सर्वमहान्–अत्र गुणेन तरबन्तेन निर्द्धारणषष्ठीसमासस्तरब्लो-पश्च । एवमविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः) यच्चेह लक्षणेनानुपन्नं तत्सर्वं निपातना-[1]त्सिद्धम् । इतिशब्दः स्वरूपावधारणार्थः तेन परमो मयूरव्यंसक इति समासान्तरं न भवति । उत्त-रपदेन भवत्येवेत्यन्ये । मयूरव्यंसकप्रिय इत्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन विस्पष्टम्पटुः विस्पष्ट-पटुः । पुना राजा पुनाराजः । एवं पुनर्गवः । पादाभ्यां ह्रियते इति पादहारकः । गले चोप्यते इति गलेचोपकः । सायन्दोहः, प्रातर्दोहः, पुनर्दोहः, सायमाशः, प्रातराशः इत्यादयो द्रष्टव्याः ।

अथात्र लुगादेशादिकमाह—

समासे यथायोगं लुग्दीर्घह्रस्वादिकं वाच्यम् । मांस्पाकः मांसपाकः ।

समासे इत्यादि । मांस्पाक इति "**मांसस्यानड्घञि पचि नवा**" (३।२।१४१) । मांसशब्द-स्यानडन्ते घञन्ते पचावुत्तरपदे लुग् वाऽऽदेशो भवति । मांसस्य पचनं मांस्पचनं मांसपचनम् । मांस्प-चनी २ । अनड्घञीति किम् ? मांसपङ्क्तिः । पचाविति किम् ? मांसदाहः । "**कृत्येऽवश्यमो लुक्**" (३।२।१३८) । अवश्यकार्यम्, एवं स्तुत्यं देयं कर्त्तव्यं करणीयम् । कृत्य इति किम् ? अवश्यंलावकः । "**समस्ततहिते वा**" (३।२।१३९) । सततं सन्ततम्, सन्तन्यतेस्म संहितम् सहितम्, सन्धीय-तेस्म । "धागः" (४।४।१५) इति हिः । "**तुमश्च मनः कामे**" (३।२।१४०) । भोक्तुं मनोऽस्य भोक्तुमनाः । गन्तुं कामोऽस्य गन्तुकामः । सम्यग् मनोऽस्य समनाः । एवं सकामः । "**ते लुग्वा**" (३।२।१०८) । नामविषये ये पूर्वोत्तरपदे ते लुग् वा भवतः । देवदत्तः–देवः, दत्तः । सत्यभामा–सत्या, भामा । देवदत्तवाचिनश्च देवशब्दस्य शब्दसाम्येऽपि प्रकरणादेरर्थनिश्चयः[2] । "**हविष्यष्टनः कपाले**" (३।२।७३) । हविष्यभिधेयेऽष्टन्शब्दस्य कपाले उत्तरपदे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । अष्टसु कपालेषु संस्कृतं अष्टाकपालं हविः । "**गवि युक्ते**" (३।२।७४) । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति

१ निपात्यन्ते गम्यन्तेऽनुरूपाण्यविहितान्यपि लक्षणान्यस्मिन्निति निपातनं सूत्रे लक्ष्यस्य स्वरूपेणोपादानमिति । २ ननु पूर्वपदस्योत्तरपदस्य वा लोपे यः समुदायमनुवर्त्तते देवादिशब्दः स देवदत्ताद्यर्थेन च त्रिदशार्थेन च समान इति कथं निश्चयो भवति, अयं देवदत्तार्थ एव, न तु त्रिदशाद्यर्थ इत्याह—शब्देत्यादि-शब्दानां भिन्नार्थानां साम्येऽपि तुल्यरूपत्वेऽपि ।

त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते उत्तरपदे परे द्वयोर्द्विगुः । "गोस्तत्पुरुषात्" (७।३।१०५) इत्यदसमासान्तस्तत्र दीर्घत्वेन युक्तार्थसम्प्रत्ययाद्गतार्थत्वाद्युक्तशब्दस्य निवृत्तिः । अष्टागवं शकटम् । **"नाम्नि"** (३।२।७५) । अष्टौ पदान्यत्र अष्टापदः कैलाशः । अष्टापदं सुवर्णम्, अष्टसु लोहेषु पदं प्रतिष्ठा यस्येति । **"कोटर-मिश्रकसिध्रकपुरगसारिकस्य वणे"** (३।२।७६) । कोटरावणम् । "पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः" (२।३।६४) इति णत्वे सिद्धे अत्र वणनिर्देशो नियमार्थस्ततो दीर्घसन्नियोग एव पूर्वपदस्थादिति वनस्य णत्वमन्यत्र तु कुबेरवनमित्यादौ संज्ञायामपि णत्वं न भवति । **"अञ्जनादीनां गिरौ"** (३।२।७७) । अञ्जनागिरिः । अञ्जन भाञ्जन किंशुक किंशुलुक साल्व लोहित कुकुट खड्रण नल पिङ्गल इति दशकोऽञ्जनादिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । **"ऋषौ विश्वस्य मित्रे"** (३।२।७९) विश्वामित्रः । **"नरे"** (३।२।८०) । विश्वे नरा अस्य विश्वानरो नाम कश्चित् । **वसु-राटोः"** (३।२।८१) । पृथग्योगान्नाम्नीति निवृत्तम् । विश्वं वस्वस्य विश्वावसुः, विश्वस्मिन् राजते इति च विश्वाराट् । राडिति विकृतनिर्देशादिह न भवति—विश्वराजौ । **"स्वामिचिह्नस्याऽविष्टाऽष्टपञ्च-भिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य कर्णे"** (३।२।८४) । स्वामी चिह्नयते येन तत् स्वामिचिह्नम्, तद्वाचिनो विष्टादिवर्जस्य कर्णे उत्तरपदे दीर्घः स्यात् । दात्रं चिह्नं कर्णे यस्य स दात्राकर्णः पशुः । विष्टादिवर्जनं किम् । विष्टकर्णः, अष्टकर्णः । **"गतिकारकस्य नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहि-तनौ क्वौ"** (३।२।८५) । गतिसंज्ञस्य कारकवाचिनश्च नह्यादिषु सप्तसु क्विबन्तेषु उत्तरपदेषु परेषु दीर्घोऽन्तादेशो भवति । उपनह्यति उपनह्यते वा उपानत्, परीणत् । वृत्—नीवृत् उपावृत् । वृष्—प्रावृट् परीवृट् । व्यध्—श्वावित् मर्मावित् । रुच्—नीरुक् अतीरुक् अभीरुक् ॥ सह—तुरासट् तुरेर्जुहोत्यादिपाठात्—तुतोर्त्ति"नाम्न्युपान्त्य०" (५।१।५४) इति कः । तुरं सहति तुरासट् । तुरासाडिति तु छान्दसः । अभिधानचिन्तामणौ तु तुरं त्वरितं साहयत्यभिभवत्यरीन् (तुरं वेगं सहते वा) पृषोदरादित्वात् तुरा-षाट् । (अरणभृतिः पीडा तां सहते) ऋतीषट् भीरुष्ठानादित्वात् षत्वम् । जलाषट् ॥ तन्—परीतत् । "गमां क्वौ" (४।२।५८) इति न लोपः ॥ गतिकारकस्येति किम् ? पटुरुक् तिग्मरुक् तीव्ररुक् श्वेतरुक् कमलरुक् । केचित्तु रुजाविच्छन्ति न रुचौ । तेन रुचिरुज्योर्मतभेदेन विकल्पः सिद्धः । रुज्—निरुक् नीरुक् । रुच्—अतीरुक् अतिरुक् । क्वाविति किम् ? उपनद्धम् विततम् । इह क्विग्रहणादन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिर्लभ्यते । तेनायस्कृतम् अयस्कार इत्यादौ सकारः सिद्धो भवति । अन्यथा ह्ययस्कृदित्यत्रैव स्यात् । **"घञ्युपसर्गस्य बहुलम्"** (३।२।८६) । घञन्त उत्तरपदे परे उपसर्गस्य बहुलं दीर्घोऽ-न्तादेशो भवति । नीक्लेदः नीमेदः नीमार्गः नीवारः प्रावारः नीशारः । क्वचिन्न भवति—निषादः विषादः प्रतापः प्रभावः प्रहारः । क्वचिद्विकल्पः—प्रतीवेशः प्रतिवेशः, प्रतीबोधः प्रतिबोधः, परीणामः परिणामः, प्रतिहारः प्रतीहारः, प्रतीकारः प्रतिकारः, अतीसारः अतिसारः, वीसर्प्पः विसर्प्पः । क्वचिद्विषयभेदेन—प्रासादो गृहम्, प्रसादोऽन्यः । प्राकारो वप्रः, प्रकारोऽन्यः । अपामार्गः ओषधिः, अपमार्गोऽन्यः । नीहारो हिमम्, निहारोऽन्यः । परीरोधो मृगावरोधः, परिरोधोऽन्यः । परीहारो देशानुग्रहः परिहा-रोऽन्यः । वीतंसः पक्षिबन्धनम्, वितंसोऽन्यः । उपसर्गस्येति किम् ? चन्दनसारः, खदिरसारः, मार्ग-मतिक्रान्तः अतिमार्गः । घञीति किम् ? अवसायः अवहारः—णप्रत्ययोऽयम् । बहुलवचनादनुपसर्गस्यापि अघञ्यपि च भवति । दक्षिणापथः उत्तरापथः । क्वचिद्विकल्पः—अन्धतमः अन्धातमः । अन्धतमसं अन्धातमसम् । क्वचिद्विषयभेदेन—अधीदन्तः अधीकर्णः अधीकण्ठ अधीपादः; एते आधिक्ये । अन्यत्र अधिदन्त इत्यादि भवति । क्वचिदनुत्तरपदेऽपि विकल्पः—पूरुषः पुरुषः, नारकः नरकः, सादनं सद-नम् । अतिशायनम् अतिशयनम् । काशशब्दे च घञन्ते विकल्पः—नीकाशः निकाशः, प्रतीकाशः प्रति-

काशः, अजन्ते तूत्तरो विधिः । **नामिनः काशे**" (३।२।८७) । नाम्यन्तस्योपसर्गस्य "अच्" (५।१।४९) इत्यजन्ते काशशब्दे उत्तरपदे परे दीर्घोऽन्तादेशो भवति । निकाशते निकाश्यत इति वा नीकाशः, वीकाशः, अनूकाशः, प्रतीकाशः । बहुलाधिकारान्निकाश इत्यपि । नामिन इति किम् ? प्रकाशत इति प्रकाशः । "**चितेः कचि**" (३।२।८३) । चितिशब्दस्य कचि प्रत्यये दीर्घः स्यात् । एका चितिरस्मिन् एकचितीकः । द्विचितीकः । त्रिचितीकः । "**अपीत्वादेर्वहे**" (३।२।८९) । वहतीति वहम् । "अच्" इत्यच् । ऋषीणां वहं ऋषीवहम् । मुनीवहम्, कपीवहम्, एवं नामानि नगराणि । घान्ते तु ऋषीवह इत्यादि । अपीत्वादेरिति किम् ? पीलुवहम् दारुवहम् चारुवहम् । "**शुनः**" (३।२।९०) । श्वन् इत्यस्योत्तरपदे दीर्घः । शुनो दन्तः श्वादन्तः । श्वाकर्णः (श्वाकर्दः, श्वाकूर्दः, श्वावहम् । बहुलाधिकारात् क्वचिद्विकल्पः श्वापुच्छम् श्वपुच्छम् । क्वचिद्विषयान्तरे—शुनः पदमिव पदमस्य श्वापदं व्याघ्रादि । क्वचिन्न—श्वफल्कः (कल्पः ?) ।

क्वचित्समासे पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं स्यात् ।

"**वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे**" (२।४।९८) । ईकारोकारयोरुत्तरपदे परे ह्रस्वो वा स्यात् । नचेत्ताव्ययौ य्वृतौ ईजूरूपौ ङीरूपौ इयुवस्थानौ च भवतः । लक्ष्मिपुत्रः लक्ष्मीपुत्रः । ग्रामणिपुत्रः २ । ब्रह्मबन्धुपुत्रः २ । खलपुपुत्रः २ । ईदूत इति किम् ? खट्वापादः, गोकुलम् । अव्ययादिवर्जनं किम् ? अव्यय. काण्डीभूतम् ऊरीकृत्य । य्वृत्. इन्द्रं ह्वयतीति "असरूपोऽपवादे०" (५।१।१६) इत्यणपवादे, क्विपि "यजादिवचेः किति" (४।१।७९) इति य्वृति, "दीर्घमवोऽन्त्यम्" (४।१।१०३) इति दीर्घे इन्द्रहूपुत्रः । ईच्. कारीषगन्धीपुत्रः । ङी. गार्गीपुत्रः । इयुव्. श्रीकुलम् भ्रूकुलम् यवक्रीकुलम् कटप्रूकुलम् । उत्तरपद इति किम् ? अग्नी पश्य, पटू पश्य । "**ङ्यापो बहुलं नाम्नि**" (२।४।९९) । ङ्याबन्तस्य उत्तरपदे बहुलं ह्रस्वः स्यात्, नाम्नि विषये । भरणिगुप्तः रोहिणिमित्रः महित्रातः शिलवहम् शिलप्रस्थम् । क्वचिद्विकल्पः—रेवतिमित्रः रेवतीमित्रः । पृथिविदत्तः २ । पृथिविगुप्तः २ । गङ्गमहः गङ्गामहः । गङ्गदेवी २ । शिंशपस्थलम् २ । क्वचिन्न भवति—फल्गुनीमित्रः, नान्दीमुखम्, नान्दीतूर्यम्, नान्दीकरः, नान्दीघोषः, महीफलम्, महीकरः, महीविशालः, लोमकागृहम्, लोमकाखण्डः, लेपिकागृहम्, लेपिकाखण्डः, गङ्गाद्वारम् । ङ्याप इति किम् ? श्रीपुरम् । "**भ्रुवोऽच्च कुंसकुट्योः**" (२।४।१०१) । भ्रूशब्दस्यानयोरुत्तरपदयोर्ह्रस्वोऽकारश्च स्यात् । भ्रुकुंसः भ्रकुंसः । भ्रुवु (?) भ्रूपरः कुंसो नटः स्त्रीवेशधारकः । भ्रुकुटिः भ्रकुटिः । भ्रूकुंसभ्रूकुटिशब्दावपि इच्छन्त्यन्ये । "**मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलचिते**" (२।४।१०२) । मालाप्रभृतीनां त्रयाणां केवलानामन्ते वर्त्तमानानां च भारिप्रभृतिषु त्रिषूत्तरपदेषु ह्रस्वः स्यात्, यथासङ्ख्यम् । मालां बिभर्त्तीत्येवंशीलो मालभारी । उत्पलमालभारी । मालभारिणी उत्पलमालभारिणी । इषीकतूलम् मुञ्जेषीकतूलम् । इष्टकचितम् पक्वेष्टकचितम् । इदमेवान्तग्रहणं ज्ञापकम्—ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिरिति । तेन दिग्धपादोपहतः सौत्रनाडीरित्यादौ पदादेशायनणप्रभृतयो न स्युः । "**गोण्या मेये**" (२।४।१०३) । गोणीशब्दस्य मानवाचिन उपचारान्मेये वर्त्तमानस्य ह्रस्वः स्यात् । गोण्या मितो गोणिः । "**ङ्यादीदूतः के**" (२।४।१०४) ङीप्रत्ययस्याकारेकारोकाराणां च के प्रत्यये ह्रस्वः स्यात् । कुमारिका पट्विका सोमपकः कीलालपकः । सोमपिका कीलालपिका लक्ष्मिका तन्त्रिका वधुका यवागुका ब्रह्मबन्धुका । ङीग्रहणं पुंवद्भावबाधनार्थम् । सोमपिकेत्यादौ ह्रस्वस्य, दारदिकेत्यादौ च पिति पुंवद्भावस्य सावकाश-

---

१ अत्र वहशब्दोऽजन्तो घान्तश्च गृह्यते, लिङ्गाच्च विशेषो वाच्यः । २ भ्रूकुंसभ्रूकुटिशब्दावपि नारायणकण्ठी मन्यते ।

त्वात्पङ्क्तिकेत्यादौ चोभयप्राप्तौ परत्वात्पुंवद्भावे पङ्क्तिकेत्यादि न सिद्ध्यतीति ङीग्रहणम्, तद्धि निरवकाशत्वात्पुंवद्भावं बाधते। काकः पाक इत्यादौ तु "प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्" इति न्यायान्न स्यात्।

अथात्रादेशविशेषमाह—

उदकादेरुदादिर्यथायोगम्। उदधिः। उदकुम्भः उदककुम्भः। उदबिन्दुः उदकबिन्दुः। लवणोदः। *द्वीपम्। †अनूपः।

उदकादेरित्यादि, अदधिरिति—"**उदकस्योदः पेषन्धिवासवाहने**" (३।२।१०४)। उदकेन पिनष्टि उदपेषं पिनष्टि तगरम्। उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिर्घटः। उदकस्य वास उदवासः। एवं उदवाहनः। अनामार्थं वचनम्। नाम्न्युत्तरेणैव सिद्धम्। "**वैकव्यञ्जने पूर्ये**" (३।२।१०५)। पूरयितव्यवाचिन्यसंयुक्तव्यञ्जनादावुत्तरपदे तथा। उदकुम्भः उदककुम्भ इति। व्यञ्जन इति किम्? उदकामत्रम्। एक इति किम्? उदकस्थालम्। पूर्य इति किम्? उदकपर्वतः। "**मन्थौदन-सक्तु-बिन्दु-वज्र-भार-हार-वीवध-गाहे वा**" (३।२।१०६)। उदमन्थः उदकमन्थ इत्यादि। 'मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः'। अपूर्यार्थो यत्नः। "**नाम्न्युत्तरपदस्य च**" (३।२।१०७)। चकारात् पूर्वपदस्य। उदमेघो नाम, यस्यौदमेघिः सुतः। उदपानं निपानम्। उदधिः समुद्रः। उत्तरपदस्य लवणोदः, क्षीरोदः, कालोदः; एते समुद्राः। लोहितोदा क्षीरोदा नाम नदी। अच्छोदम्, सितोदम्, अरुणोदम्, लोहितोदम्, एवन्नामानि सरांसि। *द्वीपमिति—"**द्व्यन्तरनवर्णोपसर्गादप ईप्**" (३।२।१०९)। द्विधा गता आपोऽस्मिन्निति। द्वीपम्। एवमन्तरीपम्, नीपम्, प्रतीपम्, समीपम्, अन्वीपम् वीपम्। "**अनोर्देशे उप्**" (३।२।११०)। अनुगता आपो अस्मिन् †अनूपो देशः। देश इति किम्? अन्वीपं वनम्। कथं कूपः, सूपः, यूपः? पृषोदरादित्वात्। "**हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये**" (३।२।९४)। लासलेखयोरणि ये च प्रत्यये हृदयस्य हृदादेशः। हृदयस्य लासो हृल्लासः, हृदयं लिखतीति हृल्लेखः। अण् सन्निधानाल्लेखशब्दोऽणन्तो गृह्यते, तेन घञन्ते न भवति। हृदयस्य लेखो हृदयलेखः। अण्. हृदयस्येदं हार्दम्, सौहार्दम् दौहार्दम्। य. हृदयस्य प्रियो हृद्यः। हृदये भवं हृदयाय हितं हृद्यम्। "**पदः पादस्याज्यातिगोपहते**" (३।२।९५)। आज्यादिषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यादेशो भवति। पादाभ्यामजति अतति वेत्यौणादिके इणि पदाजिः पदातिः। अत एव निर्देशादजेर्वी न भवति। पादाभ्यां गच्छति पदगः। "नाम्नो गम०" (५।१।१३१) इति डः। पादाभ्यामुपहतः पदोपहतः। पदशब्देनैव सिद्धौ आज्यादिषु पादप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम्। "**हिमहतिकाषिये पद्**" (३।२।९६)। हिमादिषूत्तरपदेषु पादस्य पदित्यादेशः। पादयोर्हिमं पद्धिमम्। पादाभ्यां हतिः पद्धतिः। पादौ कषतीत्येवंशीलः, पुनः २ पादौ कषति, पादाभ्यां साधु कषतीति पत्काषी। य. पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः। पादयोर्भवाः पद्याः पांसवः। पादाभ्यां हितं पद्यं घृतम्। कथं पादार्थमुदकं पाद्यम्? "पाद्यार्घ्ये" (७।१।२३) इति निपातनात्। "**ऋचः शसि**" (३।२।९७)। ऋचः सम्बन्धिनः पादस्य शस्प्रत्यये पदादेशः स्यात्। पादं पादं गायत्र्याः शंसति पच्छो गायत्रीं शंसति। "**शब्दनिष्कघोषमिश्रे वा**" (३।२।९८)। पादयोः शब्दः पच्छब्दः, पादशब्दः। पन्निष्कः २। पद्घोषः २। पादाभ्यां मिश्रः पन्मिश्रः पादमिश्रः। "**नस् नासिकायास्तःक्षुद्रे**" (३।२।९९)। तस्प्रत्यये क्षुद्रे चोत्तरपदे नासिकाया नसित्यादेशः स्यात्। नस्तः, नः क्षुद्रः। "**दिक्शब्दात्तीरस्य तारः**" (३।२।१४२)। वा। दक्षिणस्या दिशो दक्षिणस्य वा देशस्य तीरं दक्षिणतारम् २॥ दिक्शब्दादिति किम्? गङ्गातीरम् इत्यादि सर्वमुदकादेरित्यादिना सङ्गृहीतं ज्ञेयम्।

अथात्र "प्रथमोक्तं प्राक्" (३।१।१४८) इत्यस्यापवादमाह—

"राजदन्तादिषु" (३।१।१४९)। प्राङ्निपातार्हपदस्य विपर्ययः। दन्तानां राजा राजदन्तः।

"राज०"। राजदन्त इति अत्र "षष्ठी०" (३।१।७६) इति प्रथमोक्तत्वेन दन्तस्य पूर्वनिपाते प्राप्तेऽनेन विपर्ययः। ऋणेऽधमः अत्र "सप्तमी" (३।१।८८) इति प्रथमोक्तत्वेन ऋणस्य प्राग्निपाते प्राप्ते विपर्ययः। एवमुत्तमर्णः। दारजारौ। दारशब्द एकवचनान्तोऽप्यस्ति । अत्रानियमे दारशब्दस्यैव प्राग्निपातः। दारार्थौ विष्वक्सेनार्जुनौ शूद्रार्यौ विषयेन्द्रियाणि प्राणिगजाश्वौ अवन्त्यश्मकाः—अत्रार्थादीनां स्वराद्यदन्तत्वात्, उलूखलमुशले तण्डुलकिण्वे—अत्र मुशलकिण्वयोरल्पस्वरत्वात्; चित्रास्वाती—माणविके, केशश्मश्रू, पुत्रपशू शिरोजानू शिरोबिजू, बिजुः कृकाटिका। भार्यापती पुत्रपती स्वसृपती जायापती जम्पती दम्पती, इत्यादौ स्वात्यादीनामिदुदन्तत्वात्प्राग्निपाते प्राप्ते विपर्ययः। गणपाठाज्जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते। नरनारायणौ सोमारुद्रौ कुबेरकेशवौ उमामहेश्वरौ काकमयूरौ, इत्यादाव-र्च्यत्वान्नारायणादीनाम्; पाण्डुधृतराष्ट्रौ विष्णुवासवौ, इत्यत्र धृतराष्ट्रवासवयोर्ज्येष्ठभ्रातृत्वात्प्राग्निपाते प्राप्ते विपर्ययः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। तेन क्वचिद्विकल्पः—पुरुषोत्तमः उत्तमपुरुषः, मध्यगृहम् गृहमध्यम्, अधरबिम्बम् बिम्बाधरः। ओष्ठबिम्बः बिम्बौष्ठः इत्यादि।

—अथात्र समासान्तविधिमाह—

तत्पुरुषादतद्समासान्तौ यथायोगं वक्तव्यौ। "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" (७।३।७६)। राज्ञः पूः राजपुरम्। मोक्षस्य पन्थाः मोक्षपथः।

तत्पुरुषादित्यादि, तत्पुरुषादित्युपलक्षणम्, यथासम्भवमन्यसमासादप्ययमत्समासान्तो भवति। तथाहि—"ऋक्पू०"। ऋच्-पुर्-पथिन्-अप् एतदन्तात्समासादत्समासान्तः स्यात्। ऋचोऽर्द्धमर्द्धर्चः। ऋचः समीपमुपर्चम्। उच्चारितर्चः। श्रियाः पूः श्रीश्चासौ पूश्चेति वा श्रीपुरम् त्रिपुरम्[1] स्फीतपुरो देशः। पथिन्. जलथलः उपपथम् प्रतिपथम्। विशालपथं नगरम्। अप्. द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपम् समीपम् प्रतीपम्। बह्वपं तडागम्। पुरपथशब्दाभ्यां सिद्धेऽस्मिन् विषये पुर्पथिन्शब्दप्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् (समासान्तविषये व्यञ्जनान्तयोः प्रयोगो न भवतीत्यर्थः)। **"धुरोऽनक्षस्य"** (७।३।७७)। धुरन्तात्समासादत्, अनक्षस्येति सा चेद्[2]धूरक्षसम्बन्धिनी न भवति। राज्यधुरा द्विधुरी[3] त्रिधुरी उपधुरम् महाधुरम् शकटम्। अनक्षस्येति किम्? अक्षधूः, दृढधूरक्षः। **"सङ्ख्यापाण्डूदक्कृष्णाद् भूमेः"** (७।३।७८)। द्वयोर्भूम्योः समाहारो द्विभूमम्। द्वे भूमी अस्य द्विभूमः प्रासादः। पाण्डुर्भूमिः पाण्डुभूमम्, पाण्डुभूमो देशः। उदीची भूमिरुदग्भूमम्, उदग्भूमो देशः। कृष्णा भूमिः कृष्णभूमम्, कृष्णभूमो देशः। भूमोऽसङ्ख्यात एकार्थे इति पाण्डुभूमादेर्नपुंसकत्वम्। सङ्ख्यादिभ्य इति किम्? सर्वभूमिः। **"उपसर्गादध्वनः"** (७।३।७९)। प्रगतमध्वानं प्राध्वं शकटम्, प्राध्वो रथः। **"समवान्धात्तमसः"** (७।३।८०)। सन्ततं तमः सन्ततं तमसा सन्ततं तमोऽस्मिन्निति वा सन्तमसम्। अवहीनं तमोऽवहीनं तमसा अवहीनं तमोऽस्मिन्निति वा अवतमसम्। अन्धं करोतीत्यन्धम्, अन्धं च तत्तमश्च, अन्धंतमोऽस्मिन्निति वाऽन्धतमसम्। अन्धश्च तमश्च अन्धतमसमन्धतमसे इति वा। **"तप्तान्ववाद्रहसः"** (७।३।८१)। (तप्तं) तप्ताय इवानधिगम्यं रहस्तप्तरहसम्। तप्तं रहोऽस्येति तप्तरहसः।

१ तिसृणां पुरां समाहारः। उत्तरपदस्यादन्तत्वाभावात् स्त्रीत्वाभावः। किन्तु अन्यस्तु सर्वो नपुंसकः। २ शब्दद्वारकमेतन्नार्थद्वारकम्, तेन महाधुरं शकटमिति सिद्धम्। ३ द्वयोर्धुरोः समाहारः तिसृणां धुरां समाहारः। अन्यस्तु सर्वो नपुंसक इति वचने सत्यपि तद्बहुलमिति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीः।

अनुगतं रहोऽनुगतं रहसा वाऽनुरहसम् । अनुगतं रहोऽस्येत्यनुरहसः । अवहीनं रहोऽवहीनं रहसा वाऽवरहसम् । अवहीनं रहोऽस्येत्यवरहसः । "**प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः**" (७।३।८२) । प्रतिगतं साम प्रतिसामम् । प्रतिगतं सामास्य प्रतिसामः । एवमनुसामम्, अनुसामः । अवसामम्, अवसामः । प्रतिलोमम्, प्रतिलोमः । अनुलोमम्, अनुलोमः । अवलोमम्, अवलोमः ।

कतिचित्प्रसिद्धप्रयोगान् साक्षान्निर्देष्टुमाह—

ब्रह्महस्तिराजपल्याद्वर्चसः (७।३।८३) । ब्रह्मवर्चसम् ।

"ब्रह्म०" । ब्रह्मणो वर्चः ब्रह्मवर्चसम्, वर्चस्तेजो बलं वा । पल्यं कटकृतं पलालवर्त्तिकृतं वा धान्यभाजनम् हस्तिविधा वा । कथं त्विषिमान् राजवर्चसीति ? समासान्तविधेरनित्यत्वात् । एतच्च "ऋकपूः पथ्यपोऽदिति" निर्देशात्सिद्धम् । "**प्रतेरुरसः सप्तम्याः**" (७।३।८४) । प्रतेः परो य उरःशब्दः सप्तम्यन्तस्तदन्तात्समासादत् समासान्तः स्यात् । उरसि वर्त्तते प्रत्युरसम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उरसि प्रतिष्ठितं प्रत्युरसम् "प्रात्यव०" (३।१।४७) इत्यादिना तत्पुरुषः । (सप्तम्या इति किम् ? प्रतिगतमुरः, उरः प्रति वा प्रत्युरः) । "**अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे**" (७।३।८५) । लवणस्याक्षि लवणमक्षीवेति वा लवणाक्षम्, पुष्कराक्षम्, गवाक्षः, रुद्राक्षम् । महिषाक्षो गुग्गुलः । *कबराक्षमश्वानां मुखप्रच्छादनं बहुच्छिद्रकम् । अप्राण्यङ्ग इति किम् ? अजाक्षि उपाक्षि वामाक्षि । "**सङ्कटाभ्याम्**" (७।३।८६) । सङ्गतमक्ष्णा समीपमक्ष्णो वा समक्षम् । 'कटे वर्षावरणयोः' कटति वर्षति मदजलं स्रवति कटः, करिगण्डः । कटस्याक्षि कटाक्षः, प्राण्यङ्गार्थं वचनम् । इत्यत्समासान्तप्रकरणम् ॥ ५७ ॥

अथ **अट्समासान्तं** निर्देष्टुमाह—

गोस्तत्पुरुषात् ॥ ५८ ॥ [सि० ७।३।१०५]

गवान्तात्तत्पुरुषादट् स्यात् । सुरगवी । "राजन्सखेः" (७।३।१०६) । देवराजः राजसखः ॥ ५८ ॥

"**गो०**" गोशब्दान्तात्तत्पुरुषादलुकोऽट् समासान्तः स्यात् । सुराणां गौः सुरगवी, टित्वात् स्त्रियां ङीः । कर्मधारयद्विगुसमासयोरपि तत्पुरुषसंज्ञत्वात् पुमांश्चासौ गौश्च पुङ्गवः, स्त्रीगवी, पञ्चगवम् । तत्पुरुषादिति किम् ? चित्रगुः । अलुक इत्येव । पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः । "**राज०**" । अलुक इति निवृत्तम् । देवानां राजा देवराजः । एवं महांश्चासौ राजा च महाराजः । अतिक्रान्तो राजानमतिराजः, अतिराजी । पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजी । पञ्चभी राजभिः क्रीतः पञ्चराजः । सखि. राज्ञः सखा राजसखः । एवं महांश्चासौ सखा च महासखः, अतिसखः अतिसखी । राजन्निति नान्तनिर्देशादनकारान्ते न भवति । मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । सखीशब्दात्त्वटि सत्यसति वा न रूपभेदः । एवं "**राष्ट्राख्याद्ब्रह्मणः**" (७।३।१०७) । सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः, सौराष्ट्रको ब्राह्मणः इत्यर्थः । एवमवन्तिब्रह्मः काशिब्रह्मः । राष्ट्राख्यादिति किम् ? देवब्रह्मा नारदः । **कुमहद्भ्यां वा**" (७।३।१०८) । पापो ब्रह्मा कुब्रह्मा कुब्रह्मः । महाब्रह्मो महाब्रह्मा । पापो महांश्च ब्राह्मण एवमुच्यते । "**ग्रामकौटात्तक्ष्णः**" (७।३।१०९) । ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः ग्रामसाधारण इत्यर्थः । कुटी शाला तस्यां भवः

१ नामग्रहण इति न्यायादटि सति जातिश्च णि'—इति पुंवद्भावे मद्रराजीति प्राप्नोतीत्याशङ्का । २ सखीशब्दस्य ईकारान्तस्यापि पञ्चानां सखीनां समाहार इति 'क्लीबे' इति ह्रस्वत्वे इदन्तादेवाट् भवति, तथा च पञ्चसखमिति, तथा सखीमतिक्रान्त इति कृते सखीशब्दादडभावेऽपि 'गोश्चान्त'—इति कृते सखिद्वारेणाट् प्राप्नोत्येव, तथा पञ्चानां सखी इत्यपि कृते अटि अडभावेऽपि तत्पुरुषस्योत्तरपदप्रधानत्वात् पञ्चसखीत्येव रूपम्, एवमन्यदपि रूपभेदाहेतुकमभ्यूह्यम् । * (कचराक्षम् ?)

कौटः कौटस्तक्षा कौटतक्षः स्वतन्त्रः स्वापणे शालायां यः कर्म करोति । **"गोष्ठातेः शुनः"** (७।३।११०)। गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः, अतिक्रान्तः श्वानं अतिश्वो वराहः अतिजवन इत्यर्थः। अतिश्वः सेवकः सुष्ठु स्वामिभक्त इत्यर्थः। अतिश्वी सेवा अतिनीचेत्यर्थः। **"प्राणिन उपमानात्"** (७।३।१११)। प्राणिवाचिन उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्। व्याघ्र इव व्याघ्रः सचासौ श्वा च व्याघ्रश्वः। "उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ" (३।१।१०२) इति समासः। अत एव वचनात् श्वन्शब्दस्य परनिपातः। मयूरव्यंसकादित्वाद्वा समासः। प्राणिन उपमानादिति पूर्वपदविज्ञानादिह न भवति। वानरः श्वेव वानरश्वा। प्राणिन इति किम्? फलकमिव श्वा फलकश्वा। उपमानग्रहणं किम्? देवदत्तश्वा। प्राणी उपमानभूतो यः श्वशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादिच्छन्त्येके व्याघ्रः श्वेव व्याघ्रश्वः। तन्मते वानरश्वेत्यत्र समासान्तविधेरनित्यत्वान्न भवति। **"अप्राणिनि"** (७।३।११२)। अप्राणिनि वर्त्तते य उपमानवाची श्वन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्। श्वेव श्वा आकर्षश्चासौ श्वा च आकर्षश्वः। एवं फलकश्वः शकटश्वः। पूर्वसूत्रे उपमानादिति पूर्वपदस्य विशेषणं इह तु शुनः। अप्राणिनि वर्त्तते य उपमानवाची श्वन्शब्दस्तदन्तादिति। अप्राणिनीति किम्? वानरः श्वेव वानरश्वा। उपमानादित्येव—आकर्षे श्वा आकर्षश्वा। कुर्कुरवच्छारेऽपि श्वन्शब्दो रूढो नोपमानम्। तत्राप्युपमानादेव वर्त्तत इत्येके। तन्मते आकर्षश्व इत्येव भवति। केचित्तूपमानादिति नापेक्षन्ते तन्मते आकर्षश्व इत्येव भवति। अन्ये तूपमानादप्राणिनीत्येकमेव योगमारभन्ते तन्मते व्याघ्रश्व इत्यादि न भवति। **"पूर्वोत्तरमृगाच्च सक्थ्नः"** (७।३।११३)। पूर्वं सक्थि सक्थ्नः पूर्वं वा पूर्वसक्थम्, एवमुत्तरसक्थम्। मृगस्य सक्थि मृगसक्थम्। चशब्दादुपमानात् फलकमिव फलकम्। फलकं च तत् सक्थि च फलकसक्थम् व्याघ्राश्वादिवत्समासः। पूर्वशब्दान्नेच्छन्त्येके। कुक्कुटादपि इच्छन्त्यन्ये। कुक्कुटसक्थम्। **"उरसोऽग्रे"** (७।३।११४)। अग्रं मुखं प्रधानं वा तत्र वर्त्तमानो य उरस्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्। अश्वाश्च ते उरश्च अश्वोरसं दृश्यते, सेनाया अश्वा मुखमित्यर्थः। एवं हस्त्युरसम् रथोरसम्। **"सरोऽनोऽश्माऽयसो जातिनाम्नोः"** (७।३।११५)। एतच्चतुरन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्। यथासम्भवं जातावभिधेयायाम्, नाम्नि च विषये। जातसरसम् मण्डूकसरसम् एवं नाम्नी सरसी। महानसम्। स्थूलाश्मः अमृताश्मः कनकाश्मः; अश्मजातिविशेषा एते। पिण्डाश्मः संज्ञा जातिर्वा। कालायसम् लोहितायसम् तीक्ष्णायसम्; अयोजातिविशेषा एते। लोहितायसमिति नामेत्येके ॥ ५८ ॥

कांश्चित् प्रयोगान् साक्षाद्दर्शयितुमाह—

अह्नः ॥ ५९ ॥ [सि० ७।३।११६]

अस्मादट्। देवाहः। पुण्याहम्। **"सङ्ख्यातादह्नश्च वा"** (७।३।११७)। सङ्ख्यातमहः सङ्ख्याताह्नः सङ्ख्याताहः। **"सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात्"** (७।३।११८)। सर्वमहः सर्वाह्णः। पूर्वाह्णः। द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः पटः। अत्यह्नी कथा। **"सङ्ख्यातैकपुण्यवर्षादीर्घाच्च रात्रेरत्"** (७।३।११९)। सङ्ख्यातरात्रः। सर्वरात्रः। अर्धरात्रः ॥ ५९ ॥

"अह्नः"। अस्मादिति अहन्शब्दान्तात्तत्पुरुषादट् समासान्तः स्यादित्यर्थः। देवानामहः देवाहः। परवल्लिङ्गत्वे प्राप्ते "अहनिर्यूहकलहा" इति पुंस्त्वम्। पुण्यं च तदहश्च पुण्याहम्। "पुण्याहदेहौ" इति पुन्नपुंसकत्वम्। **"सङ्ख्या०"**। अह्नादेशार्थं वचनम्। अट् तु पूर्वेणैव सिद्धः। चकार उत्तरत्राह्नादेशस्याट्सन्नियोगशिष्टत्वार्थः। अन्यथा ह्यटोपवादोऽह्नादेशो[1] विज्ञायेत, तथा च स्त्रियां ङीर्न स्यात्।

१ 'अतोऽह्नस्य' इति 'सङ्ख्यासायवे०' इति च ज्ञापकान्न प्रत्ययशङ्का।

"सर्वां०"। सर्वशब्दादंश एकदेशस्तद्वाचिभ्यः सङ्ख्यावाचिभ्योऽव्ययेभ्यश्च परो योऽहन्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्तस्य चाहन्शब्दस्याह्नादेशः। अंश. पूर्वमहः पूर्वाह्णः। एवं मध्याह्नः सायाह्नः। "अर्द्धसुदर्शनदेवनमह्ना" इति पुंस्त्वम्। सङ्ख्या. द्व्यह्नः पट इति। अव्यय. अतिक्रान्ताऽहः अत्यह्नी कथा। **"सङ्ख्या०"**। सङ्ख्याता रात्रिः सङ्ख्यातरात्रः। एवमेकरात्रः पुण्यरात्रः। वर्षाणां रात्रिर्वर्षारात्रः दीर्घरात्रः। चकारात् सर्वांशसङ्ख्याव्ययेभ्योऽपि–सर्वरात्रः। अंश. पूर्वरात्रः अपररात्रः अर्द्धरात्रः द्वितीयरात्रः। सङ्ख्या. द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रः "सिचयनिकाय्यरात्रवृत्रा" इति पुंस्त्वम् परवल्लिङ्गत्वापवादः। द्वयो रात्र्योर्भवो द्विरात्रः पटः, द्विरात्रा कथा, द्विरात्रप्रियः, द्विरात्रजातः। अव्यय. अतिरात्रः अतिरात्रा कथा। पूर्वसूत्रात् सङ्ख्यानुवृत्तावपि इह सूत्रे एकग्रहणं ज्ञापयति यत् "सर्वांशसङ्ख्याव्यये"त्यत्र सङ्ख्याशब्देनैकस्य ग्रहणं नास्ति। तत एकमहः एकाहम् इत्येव भवति। अटि प्रकृतेऽद्विधानं स्त्रियां ङ्यभावार्थम्॥ ५९॥

पुरुषायुषद्विस्तावत्रिस्तावम्॥ ६०॥ [सि० ७।३।१२०]

एतेऽदन्तास्तत्पुरुषाः साधवः॥ ६०॥

"पुरु०"। पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम्, द्विस्तावती द्विस्तावा, त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः। वेद्यामनयोः प्रयोगः। अतीशब्दलोपो निपातनात्। प्रकृतौ यावती वेदिस्तावती द्विगुणा त्रिगुणा वा विकृतौ। प्रकृतिविकृती यागविशेषौ। अन्यत्रापि दृश्यते द्विस्तावस्त्रिस्तावोऽग्निः। **"श्वसो वसीयसः"** (७।३।१२१)। श्वसः परो यो वसीयस्शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषादट् स्यात्। वसुमच्छब्दादीयसौ, मतोरन्त्यस्वरादिलोपे, वसीयस्। शोभनं वसीयः श्वोवसीयसं कल्याणम्। **"निसश्च श्रेयसः"** (७।३।१२२)। निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसं निर्वाणम्, शोभनं श्रेयः श्वश्रेयसम्।

अथ डसमासान्तं सङ्क्षेपत आह—

क्वचित्तत्पुरुषात् डः। न दश अदशाः। क्वचिन्न–किंराजा, सुसखा॥ इति तत्पुरुषः।

क्वचिदित्यादि। अत्रैवं सूत्रपद्धतिः। **"नञव्ययात्सङ्ख्याया डः"** (७।३।१२३)। न दश अदशाः। अनवाः। न्यूना दश न्यूना नवेत्यर्थः, नञ्पूर्वोऽयम् वैकल्ये दृश्यते। अव्यय. निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलेभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः। निस्त्रिंश इव क्रूरकर्मा निस्त्रिंशः खलः। त्रिंशतो निर्गतानि निस्त्रिंशान्यहानि। एवं निश्चत्वारिंशानि निष्पञ्चाशानि। नञव्ययादिति किम्? गोत्रिंशत्। नञ्ग्रहणं "नञ्तत्पुरुषात्" इति निषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थम्। सङ्ख्याया इति किम्? निःशक्रत्। तत्पुरुषादित्येव–न विद्यन्ते त्रयो यस्य स अत्रिः। सुत्रिः। निर्गतास्त्रिंशदस्य निस्त्रिंशत्। डित्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम्। **"सङ्ख्याव्ययादङ्गुलेः"** (७।३।१२४)। द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्व्यङ्गुलम्, त्र्यङ्गुलम्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य 'मात्रट्' तस्य लुप् ततः समासान्तः, द्व्यङ्गुलम् त्र्यङ्गुलम्। द्व्यङ्गुलप्रियः त्र्यङ्गुलप्रियः। अव्यय. निरङ्गुलम् अत्यङ्गुलम्। तत्पुरुषादित्येव–उपाङ्गुलि, पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः। कथं आत्माङ्गुलमित्यादि? अङ्गुलशब्दः प्रमाणवाची प्रकृत्यन्तरम्। हस्ताङ्गुलैः षड्गुणितैश्चतुर्भिरित्यादिप्रयोगात्।

अथ समासान्तनिषेधमाह। क्वचिन्नेत्यादि–किंराजेति **"न किमः क्षेपे"** (७।३।७०)। निन्दायां यः किम्शब्दस्तस्मात्परे ये ऋगादयो यानुपादाय समासान्तो विहितस्तदन्तात्समासाद्यथोक्तः समासान्तो न भवति। किंधूर्या न तथा गुर्वी। किंराजा यो न रक्षति। किंसखा योऽभिद्रुह्यति। किङ्गौर्यो न वहति। का कुत्सिता धूरस्य किन्धूः शकटः। के कुत्सिते अक्षिणी अस्य किमक्षिर्ब्राह्मणः।

किम इति किम् ? कुराजः । क्षेप इति किम् ? केषां राजा किंराजः । **"नञ्तत्पुरुषात्"** (७।३।७१) । न यथाविहितः समासान्तः । न ऋक् अनृक् । अराजा असखा अपन्थाः । अपथमिति तु पथशब्दस्य— यथा कुपथम् । तत्पुरुषादिति किम् ? न विद्यते धूरस्य अधुरं शकटम् । सुसखेति—**"पूजास्वतेः प्राक्टात्"** (७।३।७२) पूजायां यौ स्वती ताभ्यां परे ये ऋगादयस्तदन्तात्समासात् "बहुव्रीहेः काष्ठे टः" (७।३।१२५) इति टप्रत्ययात्प्राग् यः समासान्तः स न स्यात् । शोभना धूः सुधूः । अतिधूः । सुराजा । अतिराजा । सुधू अतिधूः शकटम् । सुसखा अतिसखा । सुगौः अतिगौः । पूजाग्रहणं किम् ? अतिक्रान्तो राजानमतिराजः । प्राक्टादिति किम् ? स्वङ्गुलम् अत्यङ्गुलम् काष्ठम् । **"बहोर्डे:"** (७।३।७३) डप्रसङ्गो यत्र ततो बह्वन्तात्समासान्तो डः कच्च न स्यात् । आसन्ना बहवो येषां ते आसन्नबहवः उपबहवः । "प्रमाणीसङ्ख्याड्डः" (७।३।१२८) इति डः समासान्तो न भवति । बहोरिति किम् ? द्वित्राः, उपदशाः । ड इति किम् ? प्रिया बहवोऽस्य प्रियबहुकः ॥ ६० ॥

॥ इति तत्पुरुषः ॥

विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च ॥ ६१ ॥ [सि० ३।१।९६]

एकार्थं विशेषणवाचि विशेष्यवाचिना समस्यते स तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलम् । श्वेतगवी । एकार्थमिति किम् ? वृद्धस्योक्षा वृद्धोक्षा ॥ ६१ ॥

"विशे०" एकार्थमिति—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिरैकार्थ्यम्, सामानाधिकरण्यमिति यावत् । तद्वदेकार्थम् । विशेषणवाचीति—विशिष्यतेऽनेकप्रकारं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्यतेऽनेनेति विशेषणम्, विशेष्यवाचिनेति—व्यवच्छेद्यम् विशेष्यमिति । श्वेतगवीति—श्वेता चासौ गौश्च अस्य तत्पुरुषसंज्ञत्वात् "गोस्तत्पुरुषात्" (७।३।१०५) इत्यट् समासान्तः ॥ विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धिशब्दत्वादेकतरोपादानेनैव द्वये लब्धे द्वयोरुपादानं परस्परमुभयोर्व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकत्वे समासो यथा स्यादित्येवमर्थम् । यथा नीलोत्पलमित्यत्र नीलशब्देन रक्तोत्पलादिकं व्यवच्छिद्यते । उत्पलशब्देन नीलपटादिकं व्यवच्छिद्यते इति । ततश्च तक्षकः सर्पः लोहितस्तक्षक इत्यादौ समासो न भवति । नह्यसर्पोऽन्यवर्णो वा तक्षकोऽस्ति ॥ कथं तर्हि आम्रवृक्ष इति ? आम्रशब्दस्य वटादिवृक्षव्यवच्छेदकत्वेऽपि वृक्षशब्दस्य व्यवच्छेद्याभावात्, नह्यवृक्षः आम्रः कश्चिदस्ति ? अत्रोच्यते—नाम्रादयो वृक्षविशेषवचना एव किन्तु तत्फलादिवचना अपि । तत आम्रफलादिव्यवच्छेदकत्वेन वृक्षशब्दस्यापि व्यवच्छेदकत्वम् । एवं तक्षकाहिः शेषाहिः इत्यादयोऽपि भवन्ति । यदि वाऽऽम्राणां फलानां सम्बन्धी वृक्षः आम्रवृक्ष इति षष्ठीसमासः ॥ नन्वेवमुभयोर्मिथो व्यवच्छेदकत्वे उत्पलस्यापि विशेषणत्वेन उत्पलनील इत्यपि स्यात् । नैवम् । व्यवच्छेदकत्वाविशेषेऽपि अप्रधानस्यैव प्रधानेन समासः । प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानामेव—द्रव्यस्यैव साक्षात्क्रियाभिसम्बन्धात् । यद्यप्युत्पलादिशब्दा जातिशब्दास्तथाप्युत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशात् द्रव्येण जातेरभिसम्बन्धात् द्रव्यशब्दा उच्यन्ते । गुणक्रिययोस्तु तथा द्रव्येण सम्बन्धाऽ-

---

१ 'आसन्नादूर', इति सः, 'बहुगणं भेदे' इति संख्यावद्भावात् 'प्रमाणीसंख्याड्डः' इति डप्रत्ययः प्राप्नोति, तस्मिन्निषिद्धे 'शेषाद्वा' इति कच्च प्राप्नोति, उभयस्यापि सामान्येनायं प्रतिषेध इत्युभयमपि न भवति । २ 'अव्ययम्' इति समासः । ३ 'एकार्थं चानेकं च' इति सामान्यसमासः, ततः 'प्रमाणीसंख्याड्डः' इत्यत्र प्रतिपदोक्तबहुव्रीहेर्ग्रहणात् बहोर्वैपुल्यार्थत्वेन वा संख्यात्वाभावे डः समासान्तो न भवति किन्तु कच् । ४ एकः साधारणोऽर्थो द्रव्यलक्षणस्तदतदात्मको यस्य तदेकार्थं तस्य भावः । ५ नीलादि अन्याश्रितत्वादप्रधानमुत्पलं तु तस्याश्रयत्वात् प्रधानम्, उत्पलं हि द्रव्यरूपत्वात् क्रियासिद्धये साक्षादुपयुज्यमानं प्राधान्येन विवक्ष्यते, नीलस्तु गुणत्वात् द्रव्यव्यवधानेन क्रियायामुपयोगादुत्पलस्य विशेषणं संपद्यते इति । ६ ननु प्राधान्यं च द्रव्यशब्दानामित्युक्तमुत्पलादयस्तु जातिशब्दास्तत्कथमित्याह—यद्यपीति ।

भावात् न तन्निमित्ताः शब्दा द्रव्यशब्दा इति नीलोत्पलमित्याद्येव भवति, नतूत्पलनीलादीति ॥ यस्तु गुणादिशब्दानामेव समासस्तत्रोभयोरपि पदयोरप्रधानत्वात्कामचारेण पूर्वापरनिपातः । खञ्जकुण्टः कुण्टखञ्जः शुक्लकृष्णः कृष्णशुक्ल इति । एवं क्रियाशब्दद्रव्यशब्दयोरपि—याचकपाचकः पाचकयाचकः, धन्विदण्डी दण्डिधन्वीत्यादि । पूर्वा चासावुत्तरा च पूर्वोत्तरा उत्तरपूर्वेत्यादि । वृद्धोक्षेति—अत्र कर्मधारये तु समासान्तः स्यात् । चकारस्तत्पुरुषकर्मधारयसंज्ञासमावेशार्थः । कर्मधारयप्रदेशाः "कडारादयः कर्मधारये" (३।१।१५८) इत्यादयः ॥ ६१ ॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम् ॥ ६२ ॥ [सि० ३।१।९७]

पूर्वः कालो यस्य तद्वाचि एकादीनि चैकार्थानि नाम्ना समस्यन्ते । पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः । एकशाटीत्यादि ॥ ६२ ॥

"पूर्व०" पूर्वः कालो यस्येति स पूर्वकालः । पदार्थसम्बन्धिशब्दत्वादपरकालेन पदार्थेन समस्यते । स्नातानुलिप्त इति । एवं लिप्तवासितः, पूर्वं कृष्टा पश्चान्मतीकृता कृष्टमतीकृता भूमिः । मतं लोष्टमर्दनकाष्ठम्, मतमस्या अस्तीति मतिनी क्षेत्रभूमिः, अमतिनी मतिनीकृतेति च्वौ पुंवद्भावे दीर्घत्वे च मतीकृता । छिन्नप्ररूढो वृक्षः । एकशाटीति—एका शाटी एकशाटी, एवं एकषर्यः, एकचौरः, एकधनुर्धरः । एकशब्दः संख्याऽन्याऽसहायाऽद्वितीयेषु वर्त्तते इति । सर्वशब्दो द्रव्यावयवप्रकारगुणानां कार्त्स्न्ये वर्त्तते । सर्वशैलाः, सर्वरात्रः, सर्वान्नम्, सर्वशुक्लः, जरद्गवः, पुराणवैयाकरणः, नवोदकम्, नवोक्तिः, केवलमसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम्, केवलजरत्, केवलपुराणम् । पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं "स्पर्द्धे" (७।४।११९) परम् इति पूर्वनिपातस्य विषयदर्शनार्थम्, पूर्वापरकालवाचिनोरद्रव्यशब्दत्वादनियमे प्राप्ते पूर्वकालवाचिन एव पूर्वनिपातार्थं च ।

इत्यादिकरणाच्च "**दिगधिकं संज्ञातद्धितोत्तरपदे**" (३।१।९८) । दिग्वाचि अधिकमित्येतच्च नामैकार्थं परेण नाम्ना सह समस्यते, संज्ञायां तद्धिते च प्रत्यये विषयभूते उत्तरपदे च परतः । दक्षिणाः कोशला दक्षिणकोशलाः, उत्तरकोशलाः, एवन्नामानो जनपदाः । संज्ञायां नित्यसमासः, नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते । पूर्वोत्तरविभागप्रदर्शनार्थं तु विग्रहवाक्यम् । तद्धिते—दक्षिणस्यां शालायां भवो दाक्षिणशालः, औत्तरशालः । अधिकं खल्वपि—अधिकया षष्ट्या क्रीतोऽधिकां षष्टिं भूतो भावी वा आधिकषाष्टिकः । अयमपि नित्यसमासः, नहि तद्धिते वाक्यमस्ति । उत्तरपदे—दक्षिणे(णो ?) गौर्धनमस्य दक्षिणगवधनः, पूर्वगवीप्रियः । अत्र तत्पुरुषलक्षणः समासान्तः । उत्तरपदेऽपि नित्यसमासः । त्रयाणामेकार्थीभावे एवोत्तरपदसम्भवात्तत्र च द्वयोर्व्यपेक्षाभावात् । "विशेषणं विशेष्येण" इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम् । दिगधिकं संज्ञादिष्वेव समस्यते, नान्यत्रेति । दक्षिणा गावोऽस्य सन्ति दक्षिणगुः इत्यादौ सन्तीत्येतदनपेक्ष्यान्तरङ्गत्वेन बहुव्रीहिभावादुक्तार्थत्वेन मत्त्वर्थीयतद्धितीयविषयभाव एव नास्तीत्यनेन समासो न भवति । "**पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीरम्**" (३।१।१०३) । पूर्वादीनि नव परेण नाम्ना समस्यन्ते । पूर्वपुरुषः वीरपुरुषः । "विशेषणं विशेष्येण०" (३।१।९६) इत्यादिनैव सिद्धे "स्पर्द्धे" परमिति सूत्रनिर्देशे परस्य पूर्वनिपातार्थम् । अद्रव्यवाचिनोरनियमे पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् । एकवीर इत्यादि तु बहुलाधिकारात् । **सुधाकरस्त्वाह** । यद्यप्येकवीर इति शिष्टप्रयुक्तस्तथापि शिष्टप्रयोगात् साक्षात् स्मृतिरेव बलीयसीत्यसाधुरेवायमिति । "**श्रेण्यादि कृताद्यैश्च्व्यर्थे**" (३।१।१०४) । श्रेण्यादि नामैकार्थं कृताद्यैः समस्यते, च्व्यर्थे गम्यमाने । अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः श्रेणिमताः श्रेणिमिताः श्रेणिभूताः । च्व्यर्थे समासेनाऽभिधेयेऽयं

समासः । साक्षात् च्व्यन्तानां तु गत्यादिसूत्रेण नित्यसमास एव । श्रेणि, ऊक, पूग, कुन्दुम, कन्दुम, राशि, निचय, विशिष्ट, निर्द्धन, कृपण, इन्द्र, देव, मुण्ड, भूत, श्रमण, वदान्य, अध्यायक, अध्यापक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण २५ इति श्रेण्यादयः पञ्चविंशतिः । अत्र अनूका ऊकाः कृताः ऊककृता राशिस्थानीकृता इत्यर्थः । कन्दुमः कान्दविकः, निचयः समूहो गन्धद्रव्यं च ॥ कृत, मत, मित, भूत, उप्त, उक्त, समाज्ञात, समाख्यात, समाम्नात, सम्भावित, अवधारित, अवकल्पित, निराकृत, उपकृत, अपाकृत, अपकृत, कलित, उदाहृत, उदीरित, उदित, दृष्ट, विश्रुत, विहित, निरूपित, आसीन, आस्थित, अवबद्ध २७ इति कृतादयः सप्तविंशतिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । यत्र सामर्थ्यं नास्ति तत्रेति शब्दाध्याहारो द्रष्टव्यः । अनिर्द्धना निर्द्धना इत्युपकृता निर्द्धनोपकृताः, अचपलाश्चपला इत्यपाकृताश्चपलापाकृताः । (अभूता भूता इति निराकृताः) । श्रेणिकृताः इत्यादौ क्रियाकारकसम्बन्धमात्रं न विशेषणविशेष्यभाव इति वचनम् । **"क्तं नञादिभिन्नैः"** (३।१।१०५) नञादयो नञ्प्रकारास्तैरेव भिन्नैर्नामभिः सह क्तान्तं नामैकार्थं सामर्थ्यादऽनञ् समस्यते । कृतं च तदकृतं च कृताकृतम्, एवं भुक्ताभुक्तम् । इटः क्तावयवत्वाद्विकारस्य त्वेकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्न भेदकत्वम् । तेन क्लिष्टाक्लिशितम् । आदिग्रहणात् कृतापकृतम् भुक्तविभुक्तम् पीतावपीतम् । नञादिभिरेव भिन्नैरित्यवधारणेन कृतं चाविहितं चेति प्रकृतिभेदे, कृतं चाकर्त्तव्यं चेति प्रत्ययभेदे, गतश्च प्राप्तोऽगतश्चाज्ञात इत्यर्थभेदे, सिद्धं चाभुक्तं चेति प्रकृत्यर्थयोर्भेदे च न स्यात् । **"सेट् नाऽनिटा"** (३।१।१०६) । सेट् क्तान्तं नञादिभिन्नेनानिटा न समस्यते । पूर्वस्यापवादः । क्लिशितमक्लिष्टम् । इट्ग्रहणमर्थभेदाहेतोर्विकारस्योपलक्षणम्[1] । तेन शिताशातं छिताच्छितमित्यादि न भवति । कथं विन्नावित्तम् त्राणात्रातम् "क्तादेशोऽषि" (२।१।६१) इति परे समासे नत्वस्यासत्त्वाद्भविष्यति । **"कतरकतमौ जातिप्रश्ने"** (३।१।१०९) समस्येते । कतरश्चासौ कठश्च कतरकठः । कतमकठः । जातिप्रश्न इति किम् ? गुणक्रियाद्रव्यप्रश्ने न भवति । कतरः शुक्लो, गन्ता, कुण्डली । **"पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यायकधूर्त्तप्रशंसारूढैर्जातिः"** (३।१।१११) । जातिवाचि नाम पोटादिभिस्त्रयोदशभिः प्रशंसारूढैश्च सह समस्यते । इभ्या च सा पोटा च इभ्यपोटा । पोटा पुरुषवेषधारिणी स्त्री, गर्भं एव दास्यं प्राप्ता वा, स्त्री नृलक्षणा वा, भुजिष्यदासी वा । इभ्ययुवतिः । अग्निश्चासौ स्तोकं च अग्निस्तोकम्, दधिकतिपयम्, गौश्चासौ गृष्टिश्च गोगृष्टिः, सकृत् प्रसूतिका । गौश्चासौ धेनुश्च गोधेनुः, धेनुर्नवप्रसूता । गोवशा, वशा वन्ध्या । गोवेहत्, वेहद्गर्भघातिनी । गोबष्कयिणी, बष्कयेण वृद्धवत्सेन या दुह्यते प्रौढवत्सा बष्कयिणी । कठप्रवक्ता, प्रवक्ता उपाध्यायः । कठश्रोत्रियः, श्रोत्रियश्छन्दोध्यायी । कठाध्यायकः, अध्यायकोऽध्येता । मृगधूर्त्त "निन्द्यं कुत्सनैर०" (३।१।१००) इत्यत्र शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायां समासः । इह तु तदाश्रयाकुत्सायामिति धूर्त्तग्रहणम् । प्रशंसायां रूढा मतल्लिकादयः आविष्टलिङ्गास्तैः समासः । गौश्चासौ मतल्लिका च गोमतल्लिका । "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्यास्तल्लजश्च मतल्लिका ॥ मचर्चिका प्रकाण्डो द्वौ प्रशस्यार्थप्रकाशकाः" । तातपादाः, आर्यमिश्राः, केशपाशः, केशहस्तः, अंसभित्तिः, वक्षःस्थलम्, कपोलपाली, उरःकपाटः, स्तनतटम् । रूढग्रहणादिह न भवति—गौः रमणीया । रमणीयादयो हि रमणीयत्वादिगुणमादाय प्रशंसायां वर्त्तमाना न रूढा इति विशेष्यस्य जातेः पूर्वनिपातार्थं वचनम् **"चतुष्पाद् गर्भिण्या"** (३।१।११२) । चतुष्पाद्गवादिजातिस्तद्वाचि नाम गर्भिणीनाम्ना समस्यते । गौश्चासौ गर्भिणी च गोगर्भिणी । **"युवा खलतिपलितजरद्वलिनैः"** (३।१।११३) ।

[1] तेन सविकारमविकारेण न समस्यते इत्यपि सिद्धम् ।

युवन् इत्येतन्नाम खलत्यादिभिः समस्यते । युवा चासौ खलतिश्च युवखलतिः, युवपलितः, युवजरन्, युववलिनः । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः "अङ्गादित्वात्" नः । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति युवतिश्चासौ खलतिश्च युवखलतिः । पूर्वनिपातार्थं वचनम् । **"कृत्यतुल्याख्यमजात्या"।** (३।१।११४) । कृत्यप्रत्ययान्तं तुल्याख्यं तुल्यपर्यायं च नाम अजात्या अजातिवाचिनाम्ना सह समस्यते । भोज्यं च तदुष्णं च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । तुल्याख्यः; तुल्यश्वेतः, तुल्यसन्, सदृशश्वेतः, सदृशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य ओदनः । तुल्यो वैश्यः । कथं शीतपानीयम् ? पानीयशब्दोऽयमौणादिको जलवाची, तस्यायं विशेषणसमासः । जात्या समासस्याजातेः पूर्वत्वस्य च प्रतिषेधार्थं वचनम् । **"कुमारः श्रमणादिना"** (३।१।११५) । कुमार इत्येतन्नाम श्रमणादिना नाम्ना समस्यते । कुमारी चासौ श्रमणा च कुमारश्रमणा । श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, बन्धकी, दासी, एते सप्त स्त्रीलिङ्गा एव । अध्यायक, अभिरूपक, पटु, मृदु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण । येऽत्र स्त्रीलिङ्गास्तैः सह स्त्रीलिङ्गः एव कुमारशब्दः समस्यते । शेषैस्तूभयलिङ्गः । (नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति हि न्यायः) [१]श्रमणादीनां स्त्रीलिङ्गानां पाठात् पुंलिङ्गैः पूर्वनिपाते कामचारः । कुमारश्रमणः, तापसकुमारः । कुमारशब्दस्य पूर्वनिपातनियमार्थं वचनम् । एतत्सर्वमादिशब्देन सङ्गृहीतं बोद्धव्यम् ॥ ६२ ॥ अथ कियत्कण्ठत आह ।

निन्द्यं कुत्सनैरपापाद्यैः ॥ ६३ ॥ [सि० ३।१।१००]

निन्द्यं निन्दावाचिभिः समस्यते, स समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च स्यात् । तार्किकखसूची । अपापाद्यैरिति किम् ? पापमुनिः । हतविधिः ॥ ६३ ॥

"निन्द्यं०" । तार्किकखसूचीति—तार्किकश्चासौ खसूची च तार्किकखसूची, यः पृष्टः सन्निःप्रतिभत्वात्खं सूचयति स एवमुच्यते । तार्किकखसूचिरित्यन्ये । एवं मीमांसकदुर्दुरूढः, दुर्दुरूढो नास्तिकः । क्षत्रियभीरुः, भिक्षुविटः, मुनिखेटः, ब्राह्मणचेलः, ब्राह्मणब्रुवः, राक्षसहतकः, ब्राह्मणजाल्मः, तापसापसदः, काण्डीरकाण्डस्पृष्टः, ग्राम्यधृष्टः, मुनिधूर्त्तः, कविचौरः, आरक्षितस्करः, पाषण्डिचण्डालः । निन्द्यमिति किम् ? वैयाकरणश्चौरः । प्रत्यासत्तेर्निन्द्यशब्दनिवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयं समास इष्यते, न चात्र चौर्येण वैयाकरणत्वं कुत्स्यते किन्तु तदाश्रयं द्रव्यम् । वैयाकरणत्वं तु तदुपलक्षणमात्रम् । तेनात्र विशेषणसमास एव चौरवैयाकरणः ॥ ६३ ॥

उपमानं सामान्यैः ॥ ६४ ॥ [सि० ३।१।१०१]

उपमानवाचि उपमानोपमेयसाधारणधर्मवाचिभिः समस्यते, स तत्पुरुषः कर्मधारयश्च स्यात् । शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा ॥ ६४ ॥

"उप०" । शस्त्रीव श्यामेत्यर्थकथनम् । समासस्तु शस्त्रीव शस्त्री, शस्त्री चासौ श्यामा च शस्त्रीश्यामेति । "विशेषणं विशेष्येण०" (३।१।८६) इत्येव समासे, उपमानोपमेययोः साधारणधर्मप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यैव पूर्वनिपाते च सिद्धे, उपमानं सामान्यैरेवेति नियमार्थं वचनम् । तेनाग्निर्माणवक इत्यादौ विशेषणसमासोऽपि न भवति ॥ ६४ ॥

---

१ हिशब्दोऽत्र यस्मादर्थे, यद्येवं नामग्रहणपरिभाषयैव स्त्रीलिङ्गेऽपि समासस्य सिद्धत्वात् किमर्थं स्त्रीलिङ्गानां श्रमणादीनां पाठ इत्याह ।

उपमेयं व्याघ्राद्यैः साम्यानुक्तौ ॥ ९५ ॥ [सि० ३।१।१०२]

उपमेयवाचि उपमानवाचिभिर्व्याघ्राद्यैः साधारणधर्मानुक्तौ समस्यते, स तत्पुरुषः कर्मधारयश्च। पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । साम्योक्तौ तु पुरुषो व्याघ्र इव शूर इत्यत्र न स्यात् ॥ ९५ ॥

"उपमेयं०" । साधारणधर्मानुक्ताविति—न चेदुपमानोपमेययोः साधारणधर्मवाची शब्दः प्रयुज्यते । व्याघ्र इव व्याघ्रः पुरुषः, स चासौ व्याघ्रश्च पुरुषव्याघ्रः । राज्ञी चासौ व्याघ्री च राजव्याघ्री, कर्मधारयात्पुंवद्भावः । न स्यादिति—इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्—प्रधानस्य सापेक्षत्वेऽपि समासो भवति । तेन राजपुरुषो दर्शनीय इत्यादि सिद्धम् । व्याघ्र, सिंह, ऋषभ, वृषभ, महिष, चन्दन, वृक, वराह, हस्तिन्, कुञ्जर, रुरु, पृषत, पुण्डरीक, पलाविका पक्षिणीविशेषः, कुञ्चा, (क्रुचा ?), एते षोडश (पञ्चदश ?) व्याघ्रादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन वाग्वज्रः मुखपद्मम् पाणिपल्लवम् करकिसलयम् वदनेन्दुः पार्थिवचन्द्रः वानरश्वा कुचकुम्भः स्तनकलश इत्यादयोऽपि भवन्ति । उपमानं सामान्यैरेवेत्यनेन विशेषणसमासे प्रतिषिद्धे समासविधानार्थं वचनम् ॥ ९५ ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूजायाम् ॥ ९६ ॥ [सि० ३।१।१०७]

पूजायां गम्यायामेतानि पञ्च पूज्यवाचिभिः समस्यन्ते, स तत्पुरुषः कर्मधारयश्च ॥ ९६ ॥

"सन्म०" ॥ ९६ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रमाह ।

जातीयैकार्थेऽच्वेः ॥ ९७ ॥ [सि० ३।२।७०]

महतोऽच्व्यन्तस्य जातीयरि प्रत्यये एकार्थे च पदे परे डाः स्यात् । महाजातीयः । महाराजः ॥ ९७ ॥

"जाती०" । महान् प्रकारोऽस्य महाजातीयः । "प्रकारे जातीयर्" (७।२।७५) एकार्थे—महान् भागोऽस्य महाभागः । महायशाः । महती चासौ देवी च महादेवी । महती कीर्तिरस्य महाकीर्त्तिः । महान्तमात्मानं मन्यते महामानी । एवं महम्मन्यः । खशि डा ह्रस्वत्वे मोऽन्तः । अच्वेरिति किम् ? अमहान् महान् भूतो महद्भूतश्चन्द्रमाः । अमहती महतीभूता महद्भूता कन्या । पूजायामिति किम् ? सन् घटः, विद्यमान इत्यर्थः । कथं महोदधिः, वैपुल्यं ह्यत्र गृह्यते न पूजा ? बहुलाधिकाराद्भवति । पूजायामेवेति नियमार्थं वचनम्, पूर्वनिपातव्यवस्थार्थं च । तेन सच्छुक्ल इत्यादौ खञ्जकुण्टादिवदनियमेन पूर्वनिपातो न भवति । परमजरन् महावीरः परममहान् इत्यादौ च "स्पर्द्धे" (७।४।११९) परमिति यथापरं पूर्वनिपातश्च सिद्धो भवति ।

अत्रामी विशेषाः **"महतः करघासविशिष्टे डाः"** (३।२।६८) । करादिषु त्रिषूत्तरपदेषु महतो डा वा स्यात् । वैयधिकरण्ये इयं विभाषा, सामानाधिकरण्ये तु "सन्महत्०" (३।१।१०७) इति नित्य एव विधिः । महतः करो महाकरः महत्करः । कर एव वा कारः महाकारः २ । महाघासः २ । महाविशिष्टः २ । **"स्त्रियाम्"** (३।२।६९) । स्त्रियां वर्त्तमानस्य महतः करादिषु त्रिषु नित्यं डाः स्यात् । महत्याः करः महाकरः, महाघासः महाविशिष्टः । **"न पुम्वन्निषेधे"** (३।२।७१) । महतः पुंवन्निषेधविषये डा न स्यात् । महती प्रियाऽस्य महतीप्रियः, महतीमनोज्ञः । **"रिति"** (३।२।५८) । परतः स्त्र्यनूङ् रितिप्रत्यये जातीये देशीये च पुंवत् स्यात् । पट्वी प्रकारोऽस्याः पटुजातीया । ईषदपरिसमाप्ता पट्वी पटुदेशीया ॥ ९७ ॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः ॥ ६८ ॥ [सि० ३।१।१०८]

एभिः सह पूज्यवाचि समस्यते । मुनिवृन्दारकः । "किम् क्षेपे" (३।१।११०)। समस्यते । क्षेपार्थात्किमः पूजार्थाभ्यां स्वतिभ्यां नञ्तत्पुरुषाच्च यथायोगं समासान्तनिषेधो वक्तव्यः । किंराजा । किंगौः ॥ ६८ ॥

"वृन्दा०" । "किंक्षेपे" इति सूत्रद्वयं सुगमम् ॥ ६८ ॥

अथात्र समासान्तविधिमाह ।

जातमहद्वृद्धादुक्ष्णः कर्मधारयात् ॥ ६९ ॥ [सि० ७।३।९५]

कर्मधारये एभ्य उक्ष्णोऽत्स्यात् । जातोक्षः ॥ ६९ ॥

"जात०" । जातोक्ष इति–एवं 'महोक्षः स्यादुक्षतरः, वृद्धोक्षस्तु जरद्गवः' । कर्मधारय इति किम् ? वृद्धस्योक्षा वृद्धोक्षा ॥ ६९ ॥ अथात्र पुंवद्भावविधिमाह ।

पुंवत्कर्मधारये ॥ ७० ॥ [सि० ३।२।५७]

अनूङ्परतः स्त्री स्त्येकार्थे उत्तरपदे पुंवत्स्यात् । कल्याणी चासौ प्रिया च कल्याणप्रिया ॥ ७० ॥ इति कर्मधारयः ।

"पुंव०"—कल्याणप्रियेति एवं कल्याणमनोज्ञा । योऽपि "नाप्प्रियादौ" (३।२।५३) इत्यादौ पुंवद्भावनिषेधस्तमपि बाधित्वात्र पुंवद्भावो भवति । तथाहि "तद्धिताककोपान्त्यपूरण्याख्याः" (३।२।५४) इत्युक्तं तत्रापि भवति—मद्रिका चासौ भार्या च मद्रिकभार्या । लाक्षिकबृहतिका, पाचकवृन्दारिका, पञ्चमवृन्दारिका, दत्तवृन्दारिका । "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुररक्तविकारे" (३।२।५५) इत्युक्तम्, तत्रापि भवति—माथुरी चासौ वृन्दारिका च माथुरवृन्दारिका । "स्वाङ्गान्ङीर्जातिश्चाऽमानिनि" (३।२।५६) इत्युक्तं तत्रापि भवति—चन्द्रमुखी चासौ वृन्दारिका च चन्द्रमुखवृन्दारिका, दीर्घकेशवृन्दारिका, कठवृन्दारिका बह्वृचवृन्दारिका । सर्व्वत्र जातिलक्षणङीबाधको वृन्दारिकाशब्दे जातित्वादाप्, "ङ्येषसूतपुत्रवृन्दारकस्य" (२।४।१०९) इति विकल्पेनेत्वम् । **"वतण्डात्"** (६।१।४५) । वतण्डशब्दादाङ्गिरसे वृद्धेऽपत्यविशेषे यञ् स्यात् । वतण्डस्यापत्यं वातण्ड्यः, स्त्रीत्वे वतण्डी । **"स्त्रियां लुप्"** (६।१।४६) वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे स्त्रियां यञो लुप् भवति । वतण्डी चासौ वृन्दारिका च वातण्ड्यवृन्दारिका । गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः स्त्री चेद्गार्गी, सा चासौ वृन्दारिका च गार्ग्यवृन्दारिका । कपोतपाक एव कपोतपाक्यः, स्त्री चेत् कपोतपाका, कपोतं पचति अण् अत्राण्लक्षणं जातिनिमित्तं वा ङीप्रत्ययं बाधित्वा "अजादेः" (२।४।१६) इत्याप् कापोतपाका चासौ वृन्दारिका च कापोतपाक्यवृन्दारिका । कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जायन्यः । **"कुञ्जादेर्ञायन्यः"** (६।१।४७) । कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो वृद्धेऽपत्येऽर्थे ञायन्यः स्यात् । स्त्रीचेत्कौञ्जायनी । **"स्त्रीबहुष्वायनञ्"** (६।१।४८) । कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो बहुत्वविशिष्टे वृद्धे स्त्रियां वा बहुत्वेऽपि आयनञ् स्यात् । कौञ्जायनी चासौ वृन्दारिका च कौञ्जायन्यवृन्दारिका । अङ्गस्यापत्यानि अङ्गाः "पुरुमगध०" (६।१।११६) इत्यण् "बहुष्वस्त्रियाम्" (६।१।१२४) इति न लुप् (?) स्त्रिय आङ्ग्यः । ताश्च ता वृन्दारिकाश्च अङ्गवृन्दारिकाः । गर्गवृन्दारिकाः । इडविड् पृथ् दरद् उशिज् एते जनपदशब्दाः क्षत्रियवाचिनः, एभ्योऽपत्यप्रत्ययस्य स्त्रियां लुपि, इडविट् चासौ वृन्दारिका

चेत्यादि विग्रहे ऐडविडवृन्दारिका । पार्थवृन्दारिका, दारदवृन्दारिका, औशिजवृन्दारकेति भवति । परतः स्त्रीत्वे च खट्वावृन्दारिका । अनूङित्येव—ब्रह्मबन्धूवृन्दारिका ॥ ७० ॥

इति कर्मधारयः ।

अथ द्विगुसमासमाह ।

सङ्ख्या समाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम् ॥ ७१ ॥ [सि० ३।१।९९]

सङ्ख्यावाचि परेण नाम्ना समस्यते, संज्ञातद्धितयोर्विषये उत्तरपदे च परे समाहारार्थे च, स समासस्तत्पुरुषसंज्ञः कर्मधारयसंज्ञश्च स्यात् । **अयमेव चासंज्ञायां द्विगुसंज्ञश्च भवति । सप्तर्षयः । द्वैमातुरः । पञ्चगवधनः । संज्ञादिषु नित्यसमासः । समाहारे तु वाक्यमपि भवति ॥७१॥**

"सङ्ख्या०" । सप्तर्षय इति । समुदायेषु वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते इति बहुसङ्ख्याकाम्राद्यभिधायकाः पञ्चाम्रादिशब्दा एकस्मिन्नप्याम्रादौ प्रयुज्यन्ते इति फलित एकः पञ्चाम्रः । उदितास्वयः सप्तर्षय इति ॥ ७१ ॥

द्विगोः समाहारात् ॥ ७२ ॥ [सि० २।४।२२]

समाहाराद्विगोरदन्तात्स्त्रियां ङीः स्यात् । पञ्च ग्रामाः समाहृताः पञ्चग्रामी । "पात्रादिगणान्त इकाराद्यन्तश्च समाहारद्विगुर्नपुंसकम्" द्विपात्रम् । चतुर्मासम् । त्रिभुवनम् । चतुष्पथम् । त्रिगुप्ति । "अन्नन्तावन्तान्तो वा नपुंसकम्" ॥ ७२ ॥

"द्विगो०" । स्पष्टम् । पात्रादीति—द्विपथम् । त्रिपथम् । चतुर्युगम् । त्रिपुरम् । **भाष्ये** तु त्रिपुरीत्युक्तम् । पात्रादयः शिष्टप्रयोगगम्याः ॥ ७२ ॥

अत्र समासान्तविधिमाह ।

द्विगोरन्नह्नोऽट् ॥ ७३ ॥ [सि० ७।३।९९]

अन्नन्तादहन्नन्ताच्च समाहारद्विगोरट् स्यात् । "नोऽपदस्य०" इति । पञ्चराजी पञ्चराजम् । त्र्यहः इत्यादि । पञ्चमाली पञ्चमालम् । त्रिसन्ध्यमिति तु क्लीबम् । त्रिफलेति च रूढितः ॥ ७३ ॥

इति द्विगुः ।

"द्विगो०" । त्र्यह इति, द्वयोरह्नोः समाहारो त्र्यहः । **"अनीनादट्यह्नोऽतः"** (७।४।६६) ईन-अत्-अट्-वर्जिते तद्धिते परे पदस्याह्नोऽकारस्य लुक् स्यादित्यटि उपान्त्यलोपनिषेधे, "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलोपे त्र्यह इति । "द्विगुरन्नावन्तान्तो वान्यस्तु सर्वो नपुंसक" इति स्त्रीनपुंसकत्वे प्राप्ते "अहर्निर्यूहकलहा" इति **लिङ्गानुशासन**लक्षणेन पुंस्त्वम् । अन्नन्तत्वेनैव सिद्धे अह इदमह्विधानं समाहारे "सर्वांशसङ्ख्याव्ययात्" (७।३।११८) इति परस्याप्यटो बाधनार्थम् । तस्मिन् हि सत्यह्नादेशः स्यात् । एवं त्र्यहः, पञ्चाहः, सप्ताहः, । **"द्वित्रेरायुषः"** (७।३।१००) । द्वित्रिभ्यां परो य आयुशब्दस्तदन्तात्समाहारे द्विगोरट् स्यात् । द्व्यायुषम् । समाहार इत्येव । द्व्यायुः त्र्यायुः प्रियः । **"वाञ्जलेरलुकः"** (७।३।१०१) । द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिस्तदन्ताद्विगोरड्वा स्यात्, न चेत्स द्विगुस्तद्धितलुगन्तो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्व्यञ्जलम् द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलम् त्र्यञ्जलि । अलुक इति किम् ? द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिर्घटः । **"खार्या वा"** (७।३।१०२) । पृथग् योगात् द्वित्रेरिति निवृत्तम् । खारीशब्दान्ताद्विगोरलुकोऽट् समासान्तो वा भवति । द्विखारम्, पक्षे क्लीब इति

ह्रस्वत्वे द्विखारि । केचिदत्र पुंस्त्वमपीच्छन्ति, तन्मते "गोश्चान्ते०" (२।४।९६) इत्यादिना ह्रस्वत्वे द्विखारिः । स्त्रीत्वमप्यन्ये तन्मते पूर्ववत् ह्रस्वत्वे "इतोऽक्त्यर्थात्" (२।४।३२) इति ङ्यां द्विखारी । एवं पञ्चखारम् पञ्चखारी । तद्धितविषये उत्तरपदे च परे द्विगुसंज्ञायां द्वाभ्यामञ्जलिभ्यामागतं व्यञ्जलमयम् व्यञ्जलिमयम् । द्वावञ्जली प्रियौ यस्य व्यञ्जलप्रियः व्यञ्जलिप्रियः । पञ्चखाररूप्यम् पञ्चखारीरूप्यम् । पञ्चखारधनः पञ्चखारीधनः । इत्यादि सर्वमित्यादिशब्देन सङ्गृहीतं ज्ञेयम् ॥ ७३ ॥

॥ इति द्विगुः ॥

अथ द्वन्द्वसमासमाह ।

चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ ॥ ७४ ॥ [सि० ३।१।११७]

नाम नाम्ना सह चार्थे समस्यते, सहोक्तिविषये सति, स समासो द्वन्द्वः स्यात् । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्रैकस्मिन् द्व्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यकक्षतया ढौकनं समुच्चयः—चैत्रः पचति पठति चेति । गुणमुख्यभावेनैकस्मिन् द्व्यादीनां क्रियादीनां ढौकनमन्वाचयः—बटो भिक्षामट गां चानय इत्येतयोः सहोक्त्यभावान्न समासः । परस्परसापेक्षाणां द्रव्याणां क्रियां प्रति ढौकनमितरेतरयोगसमाहारौ । तत्रोद्भूतावयवभेद इतरेतरयोगोऽत एवात्रावयवद्वित्वबहुत्वापेक्षया द्विवचनबहुवचने । चैत्रश्च मैत्रश्च चैत्रमैत्रौ पश्यतः । चैत्रमैत्रदत्ताः पश्यन्ति । न्यग्भूतावयवभेदस्तु समाहारोऽतस्तत्रैकवचनमेव । धवखदिरपलाशम् ॥ ७४ ॥

चार्थे० । नाम नाम्नेत्यनुवर्त्तमानेऽपि "लघ्वक्षरा०" (३।१।१६०) इत्यादि सूत्रे एकग्रहणाद्बहूनामपि द्वन्द्वो भवति । तद्ध्यनेकस्य पूर्वनिपातप्रसक्तावेकस्य पूर्वनिपातनियमार्थम्, द्वयोश्च द्वन्द्वेऽनेकस्य पूर्वनिपातप्रसङ्गाभावादेकग्रहणमनर्थकं स्यादिति । ततो बहूनां द्वन्द्वे होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वे हि होता पोता नेष्टोद्गातार इत्येव स्यात् । चार्थ इति किम् ? ग्रामो ग्रामो रमणीयः अत्र वीप्सायां सहोक्तिसद्भावेऽपि चार्थाभावाद्द्वन्द्वाभावः । सहोक्ताविति किम् ? प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च वीक्ष्यताम्—अत्र प्रत्येकं क्रियया सम्बन्ध इति सहोक्त्यभावः । खञ्जश्चासौ कुण्टश्चेत्यादि कर्मधारयविषयेऽपि न सहोक्तिः । विशेष्यस्यैव प्राधान्यात्; सहोक्तिस्तु द्वयोर्धर्मयोर्धर्मिणोर्वा भिन्नयोः प्राधान्ये सति सम्भवतीति । का पुनरियं सहोक्तिः ? यद्वृत्तिपदैः प्रत्येकं तदर्थानां (पदार्थानां) युगपदभिधानं सा सहोक्तिः । प्लक्षन्यग्रोधावित्यत्र हि प्लक्षोऽपि द्व्यर्थो न्यग्रोधोऽपि द्व्यर्थः । प्लक्षश्च न्यग्रोधश्चेति वाक्येऽपि चकारेणायमेवार्थः कथ्यते । **ननु** प्लक्षन्यग्रोधावितिशब्दक्रमात् क्रमवदर्थानुगमान्नैकेनानेकस्याभिधानं सम्भवतीति चेत् ? **न** । एवं हि द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः । यतः प्लक्षशब्दः सार्थको निवृत्तोऽन्यो न्यग्रोधशब्द उपस्थितस्तत्र न्यग्रोधार्थप्रतिपत्तिकाले यदि प्लक्षार्थावगतिर्न स्यात्तदा न्यग्रोधशब्दादेकार्थत्वादेकवचनं स्यादेव, शशकुशपलाशा इत्यादिबहुवचनेऽपि । ततश्च द्विवचनान्यथानुपपत्त्या प्लक्षन्यग्रोधावित्यादावेकैकोऽनेकार्थाभिधायीत्यभ्युपगन्तव्यम् । **नन्वेवं** तर्हि कथं प्लक्षश्च न्यग्रोधश्चेत्येकवचनान्तयोर्वाक्यं वृत्तौ प्रदर्शितम्, द्विवचनान्तयोर्न्याय्यम् । **सत्यम्** । लौकिकमेतद्वाक्यम्, न प्रक्रियावाक्यम् । यदा तु परस्परशक्त्यनुप्रवेशेन द्वन्द्वो भविष्यतीत्यभिधित्सयातिवाहिकशरीरस्थानीयं वाक्यं क्रियते, तदा खल्वलौकिकं समीपगतपदान्तरवस्तुखचितं द्विवचनान्तयोर्वाक्यं क्रियते ॥ **यद्भाष्यम्**, सति प्रदर्शयितव्ये वरमेव वाक्यं धवौ च खदिरौ चेति । अलौकिकत्वाच्च वृत्तौ न प्रदर्शितम् । **न** चैवं प्लक्षन्यग्रोधयोर्द्विकद्वयकल्पनेनानेकार्थत्वाद्बहुवचनं प्राप्नोतीति वाच्यम् । यतो नात्र चत्वारोऽर्थाः । किं तर्हि ? द्वावेवार्थौ यकाभ्यामेवात्रैकः शब्दो द्व्यर्थस्ताभ्यामपरोऽपि । नहि द्वाभ्यां लक्षाभ्यामविभक्तकौ भ्रातरौ चतुर्लक्षौ भवतः ।

समुदायरूपो हि द्वन्द्वार्थः प्रत्यवयवमवयविवत्प्रतिसङ्क्रान्तो यथा वनविटपिषु वनमिति । नन्वेवं लौकिकात्प्रयोगाच्छब्दानामर्थावधारणं तत्र यथा घटशब्दः पटार्थं न प्रत्यायति, तथा प्लक्षन्यग्रोधशब्दौ परस्परार्थप्रत्यायकौ न युक्तौ । नैवम् । वृत्तिविषये ह्येकैकस्य द्वावर्थाविति स्वार्थावेवैतौ, लोकप्रसिद्ध्या त्वर्थान्तराभिधायित्वमुच्यते । ननु परस्परसन्निधानेन यद्द्वयोः सामर्थ्यमभिहितं तदन्यतरविगमेऽपि न हीयते । वह्निविगमेऽपि वह्निसम्पादितपाकजरूपादिवदिति प्लक्षेणोक्तत्वान्न्यग्रोधस्याप्रयोगः प्राप्नोति । नैवम् । न्यग्रोधार्थस्य प्लक्षेणानुक्तत्वान्न्यग्रोधशब्दप्रयोगः । उक्तं ह्येतत्—द्वन्द्वावयवानामेवानेकार्थाभिधायित्वं न केवलानां यथा वह्निसन्निधावेव ताम्रं द्रवरूपं भवति, न तु तन्निवृत्तावेवमिहापि सहभूतावेवान्योन्यार्थमाहतुर्नतु पृथग्भूतौ भारोद्वाहकवत्सहभूतानां परस्परशक्त्याविर्भावादिति, ततश्च प्लक्षस्य न्यग्रोधस्य चानेकार्थत्वे यद्यपि बहुत्वं प्राप्तम्, तथापि द्वन्द्वावयवत्वेन बाह्यमतो गौणं न तु मुख्यमिति न बहुवचनमिति । नन्वस्तु यथाकथञ्चित्सहोक्तिः, समाहारे तु सा न सम्भवति, तस्यैकत्वात्सहोक्तेश्च भेदनिबन्धनत्वादित्यत्रोच्यते—समाहारो हि सङ्घातः । स च संहन्यमानानां धर्मः, संहन्यमानाश्च सहोच्यमाना एव न पृथगुच्यमाना इति तत्रापि सहोक्तिसम्भव इत्यदोषः । उत्तरपदेन समुदायेन वा यद्वर्त्तिपदार्थानां युगपदभिधानं सा सहोक्तिरित्यन्ये । वर्त्तिपदार्थानामेव सह क्रियादिसम्बन्धस्य यद्वाक्येनाभिधानं सा सहोक्तिरित्यपरे । चार्था इति चकारद्योत्या अर्था इत्यर्थः । तत्रैकस्मिन्नित्यादि अयमर्थः—अर्थः क्रियाकारकद्रव्यरूपः, एकमर्थं प्रति द्व्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानामविरोधिनामनियतक्रमयौगपद्यानामात्मरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयः । शीतोष्णादीनां च विरोधितया, बाल्ययौवनादीनां नियतक्रमतया, रूपरसादीनां नियतयौगपद्यतया च न चीयमानताऽतो गौणमुख्यभावेनातुल्यबलानामपि न तथेति । ततश्चैकस्मिन् कारके अनेकक्रियाणाम् १ एकस्यां क्रियायामनेककारकाणां २ एकस्मिन् द्रव्येऽनेककारकाणां ३ एकस्मिन् कारकेऽनेकद्रव्याणां ४ एकस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माणां ढौकनं समुच्चय ५ इति । यथाक्रममेषामुदाहरणानि—चैत्रः पचति पठति च १ चैत्रो मैत्रश्च पचति २ । राज्ञो गौश्चाश्वश्च ३ । राज्ञो ब्राह्मणस्य च गौः ४ । शुक्लश्चायं कृष्णश्च, नीलं च तदुत्पलं चेति ५ । चशब्दमन्तरेणापि समुच्चयः सम्भवति यथा, "अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् । वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ॥ १ ॥" गुणमुख्यभावेनेति—अयमत्रार्थः—गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः यथा "रुधां स्वराच्छ्नो न लुक् च" (३।४।८२) इति—अत्र विधीयमानं श्नं नलोपोऽपेक्षते । यत्र श्नस्तत्र नलोपो यथा 'भञ्जोंप् आमर्दने' भनक्ति । श्नस्तु नलोपं नापेक्षते तदभावेऽपि प्रवर्त्तते यथा युनक्तीति । बटो भिक्षामटेत्यादि—स हि भिक्षां तावदटति यदि च गां पश्यति तदा तामप्यानयति । ततो भिक्षाटनस्य मुख्यत्वं गवानयनस्य च गौणत्वमिति । द्विवचने बहुवचने इति—नन्वेकविंशतिरित्यादिसङ्ख्याद्वन्द्वो यद्यवयवप्रधानस्तदैकविंशतिरिति द्विवचनम्, द्वाविंशतिरिति बहुवचनं प्राप्नोति यदि च समुदायप्रधानस्तदा नपुंसकत्वं स्यादित्यत्रोच्यते । एकविंशतिर्द्वाविंशतिरित्यादि सङ्ख्याद्वन्द्वः समुदायसङ्ख्यैकत्वानुरोधेन विंशत्यादिवत्सङ्ख्येयमाचष्टे इतीतरेतरयोगेऽप्येकवचनान्तो भवति । समाहारेऽपि च "आशताद्द्वन्द्वे" इति लक्षणात्स्त्रीलिङ्गो भवति । सङ्ख्याद्वन्द्वादन्यत्र तु एको देवदत्ताय दीयतां विंशतिश्चैत्रायेति एकविंशती अनयोर्देहि । एवं त्रिंशच्चत्वारिंशतौ षष्टीसप्तत्यशीतयः इत्यादौ द्विवचनबहुवचनान्तता ॥ ७४ ॥

समानामर्थेनैकः शेषः ॥ ७५ ॥ [सि० ३।१।११८]

तुल्यार्थानां द्वन्द्व एकः शिष्यतेऽन्ये निवर्त्तन्ते । वक्रश्च कुटिलश्च वक्रौ, कुटिलौ वा ॥ ७५ ॥

है० प्रका० पूर्वा० ३९

“समा०” । एकः शिष्यते इति–तत्र विशेषानुपादानात्पर्यायेण शेषो भवति । समानामिति बहुवचनमतन्त्रम्, तेन बहूनां द्वयोरपि चैकः शिष्यते । सितश्च शुक्लश्च श्वेतश्च सिताः शुक्लाः श्वेता वा । इहैकशेषे षट्पक्षाः सम्भवन्ति, तत्र प्रत्येकमेव विभक्तौ परतो विभक्तिपरित्यागेन नामैकशेषः स्यात् १ । अथवा सविभक्तिकानां वृक्षस् वृक्षस् वृक्षस् इति स्थिते एकस्य वृक्षस् इत्यस्य शेषः अन्ये निवर्त्तन्ते २ । अथ वृक्षश्च ३ इति द्वन्द्वे कृते सत्येकस्य वृक्ष इत्यस्य शेषः (अपरे निवर्त्तन्ते) ३ । अथवा विभक्तिमनुत्पाद्यैव नाममात्रेण वृक्ष वृक्षेत्येवंविधानामेव शेषः कार्यः । ततो विभक्तिः ४ । अथवा सहोक्तौ वृक्षश्च वृक्षश्चेति द्वन्द्वे प्राप्ते एकशेषः ५ । अथवा नामसमुदायस्यैवार्थवत्त्वान्नामसंज्ञायां द्विवचनाद्युत्पत्तौ एकशेषः ६ । इति षट् पक्षाः ॥ तत्राद्यं पक्षत्रयं सावद्यकमिति तत्परिहारेणेतरत्पक्षत्रयमिहाश्रीयते । (यथा हि) तत्र प्रथमे पक्षे, नामैकशेषेऽनेकविभक्तिश्रवणं स्यादिति दोषः । द्वितीये, विभक्त्यन्तस्य लोपे कृते विभक्तभ्रातृधनन्यायेन शिष्यमाणस्य निवर्त्तमानपदसङ्ख्यासम्बन्धेऽपि विभक्त्यन्तत्वाद्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः स्यात्ततश्च वृक्ष इति नित्यमेव स्यादिति दोषः । तृतीये तु समासान्तदोषः, तथाहि–ऋक् च ऋक् चेति द्वन्द्वे तत एकशेषे “चवर्गदषहः०” (७।३।९८) इति समासान्तः स्यादिति प्रथमपक्षत्रयं दुष्टम् ॥ इतरपक्षत्रये तु न कश्चिद्दोषस्तथाहि–वृक्ष वृक्ष इति स्थितानां नाम्नां विभक्तिमनुत्पाद्यैवैकशेषप्रवृत्तिरिति प्रथमः पक्षः । तुल्यकालं नामानि यदा [1]विवधवैवधिकन्यायेन परस्परशक्त्यनुप्रवेशादभिधेयमाहुस्तदा द्वन्द्वैकशेषाविष्टाविति द्विवचनं बहुवचनं चोपपन्नमिति द्वितीयः । नामसमुदायस्यैवार्थवत्त्वान्नामत्वाद्विभक्त्युत्पत्तिरिति तृतीयः ॥ एवं पक्षत्रयेऽपि प्राप्तो द्वन्द्वोऽनेनापोद्यते इति द्वन्द्वापवादोऽयं योगः ॥ ७५ ॥

स्यादावसङ्ख्येयः ॥ ७६ ॥ [सि० ३।१।११९]

सर्वस्यादिषु तुल्यरूपाणां भिन्नार्थानामप्येकशेषः स्यात्, सङ्ख्येयवाचिशब्दं वर्जयित्वा । अक्षश्च अक्षश्च अक्षश्च अक्षाः । शकटाङ्गपाशकबिभीतकाः ॥ ७६ ॥

“स्यादा०” । सर्वस्यादिषु तुल्यरूपाणामिति–माता च जननी, माता च धान्यस्य, मातृमातरौ । अत्र ह्येकस्य मातरावन्यस्य मातारावित्यौकारे रूपं भिद्यते इति नैकशेषः । अन्ये तु यस्मिन् स्यादौ ये शब्दास्तुल्यरूपा भवन्ति तस्मिन् स्यादौ तेषां स्याद्यन्तरे विरूपाणामप्येकशेषो भवति, तेन मातृभ्यां मातृभिः मातृभ्यः मात्रोः मातृषु इत्याद्यपि भवतीत्याहुः । अपरे त्वत्रापि बहुवचने ताभिस्तैरित्याद्यनुप्रयोगवैषम्यान्न भवितव्यमेकशेषेण, द्विवचनेन तु ताभ्यां तयोरित्यनुप्रयोगसाम्याद्भवितव्यमेवेत्याहुः । सङ्ख्येयवाचिशब्दं वर्जयित्वेति–एकश्च एकश्च, द्वौ च द्वौ च, इत्यादौ द्वन्द्वोऽपि न स्यादनभिधानात् । सङ्ख्येयेति कर्मनिर्देशात्सङ्ख्यानवाचिनो भवत्येव । विंशतिश्च विंशतिश्च विंशती । द्वन्द्वापवादोऽयं विधिस्तेनाकृतद्वन्द्वानामेवैकशेषे वाक् च, वाक् च, वाचौ इत्यादि सिद्धमन्यथा द्वन्द्वे कृते परत्वात्समासान्ते कृते वैरूप्यादेकशेषो न स्यात् ॥ ७६ ॥

त्यदादिः ॥ ७७ ॥ [सि० ३।१।१२०]

अन्येन सहोक्तौ त्यदादिः शिष्यते । मिथः सहोक्तौ तु यथापरम् । स च चैत्रश्च तौ । स च यश्च यौ ॥ ७७ ॥

---

१ भारोयन्तृन्यायेन इति मुद्रितलघुन्यासे ।

"त्यदा०" । मिथ इति—त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ तु यद्यत्पाठे परं तत्तदेवैकं शिष्यते । स च यश्च यौ इति । एवं यश्च एषश्च एतौ । स च त्वं च युवाम् । त्वं च भवांश्च भवन्तौ । अहं च कश्च कौ । अहं च स च त्वं च वयम् । बहुलाधिकारात् क्वचित्पूर्वमपि[1] शिष्यते । स च यश्च तौ । अयं च एष च इमौ । त्वं च भवांश्च युवाम् । त्यदादेः[2] कृतैकशेषस्य स्त्रीपुन्नपुंसकलिङ्गानां युगपत्प्रयोगायोगात्पर्यायप्राप्तौ शिष्यमाणलिङ्गप्राप्तौ वा स्त्रीपुन्नपुंसकलिङ्गानां 'सहवचने स्यात्पर'मिति यथापरमेव लिङ्गं भवति । सा च चैत्रश्च तौ । स च देवदत्ता च तौ—अत्र स्त्रीपुंसलिङ्गयोः परं पुंल्लिङ्गमेव भवति । सा च कुण्डे च तानि—अत्र स्त्रीनपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति । स च कुण्डं च ते । तच्च चैत्रश्च ते—अत्र पुन्नपुंसकयोः परं नपुंसकमेव भवति । कथं[3] स च कुक्कुटः सा च मयूरी ते कुक्कुटमयूर्यौ ? उच्यते—"परलिङ्गो द्वन्द्वोऽंशीति[4]" समासार्थस्य लिङ्गातिदेशात्तद्विशेषणस्य त्यदादेरपि तल्लिङ्गतैव न्याय्येति ॥ ७७ ॥

भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः ॥ ७८ ॥ [सि० ३।१।१२१]

स्वस्रादिभिः सहोक्तौ भ्रात्रादिः शिष्यते । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ । **"श्वशुरः श्वश्र्वा वा"** (३।१।१२३) । शिष्यते । श्वशुरौ श्वश्रूश्वशुरौ । **"पिता मात्रा वा"** (३।१।१२२) । तथा । पितरौ ॥ ७८ ॥ पक्षे—

"**भ्रातृ०**" । बहुवचनं पर्यायार्थम् । सोदर्यश्च स्वसा च सोदर्यौ । भ्राता च भगिनी च भ्रातरौ । सुतश्च दुहिता च सुतौ । भ्राता च भ्राता च भ्रातरौ, भ्राता च स्वसा च भ्रातरावित्युभयप्रतिपत्तावपि प्रकरणादिना विशेषावगतिः । "**श्वशु०**" (३।१।१२३) । श्वश्र्वामिति द्विवचनं जातौ धवयोगे च वर्तमानयोः श्वश्र्वोः परिग्रहार्थम् । तेन जातौ तन्मात्रभेदे "पुरुषः स्त्रिया" (३।१।१२६) इति नित्यविधिर्न भवति । "**पिता०**" । तथेति । मातृशब्देन सहोक्तौ पितृशब्द एकः शिष्यते मातुरर्च्यत्वात् पूर्वनिपातः ॥ ७८ ॥

मातरपितरं वा ॥ ७९ ॥ [सि० ३।२।४७]

मातृपित्रोर्द्वन्द्वे ऋतोऽरो वा निपात्यः । मातरपितरौ ॥ ७९ ॥ पक्षे—

आ द्वन्द्वे ॥ ८० ॥ [सि० ३।२।३९]

ऋतां द्वन्द्वे विद्यायोनिसम्बन्धे पूर्वपदस्य आः स्यात् । होतापोतारौ । मातापितरौ । "पुत्रे" (३।२।४०) । पितापुत्रौ मातापुत्रौ होतापुत्रौ ॥ ८० ॥

---

१ न केवलं तावत् स्पर्द्धे यत्परं तच्छिष्यत इति क्वचिच्च पूर्वमपीत्यर्थः । २ शिष्यमाणस्य लिङ्गानुशासने लिङ्गस्य चिन्तायां कृतायामपि विस्मरणशीलं प्रति स्मारयितुमाह—त्यदादेः कृतैकशेषस्येत्यादि । ३ यदि लिङ्गानां सहविवक्षायां परमेव लिङ्गं भवति कथं ते कुक्कुटमयूर्यौ इति स्त्रीलिङ्गतेत्याशङ्कार्थः ।—उच्यत इत्यादिनात्र परिहारमाह—अयमर्थो द्वन्द्वस्य परलिङ्गत्वात् त्यदादेश्चात्र द्वन्द्वशेषत्वात् द्वन्द्वलिङ्गतैव द्रष्टव्या, द्वन्द्वाभावे तु सहोक्तौ तौ कुक्कुटो मयूरीति चार्थे गम्ये तौ कुक्कुटो मयूरी चेत्येकयोगे तौ कुक्कुटश्च मयूरी चेति चकारद्वययोगे च भवति स्त्रीपुन्नपुंसकानामिति वचनात् । ४ तच्चार्द्धं पिपल्या इति अर्धकथनम्, तत् पिपल्यर्द्धं सा च अर्धपिप्पलीत्यपि कृते (समानामर्थे)—इति क्लीबे स्त्रियां च न विशिष्यते दिगम्बरसमाधिवत्, ततश्च स्वाद्व्यौ अर्धपिप्पल्यौ स्वादुनी पिप्पल्यर्द्धे इति युक्ते उदाहरणे पिप्पल्यर्द्धस्य अर्धपिप्पल्याश्च शेषत्वाभावे तद्विशेषणानामेकशेषे तु नपुंसकलिङ्गतैव स्त्रीनपुंसकानां सहेति भणनात् ।

"मातर०" । **"आ द्व०"** । पक्षे इति–एकशेषविकल्पे द्वन्द्वप्राप्तौ वैकल्पिकं सूत्रद्वयं सुगमम् । पितरौ, मातापितरौ, मातरपितरौ, इति रूपत्रयम् ॥ **"पुत्रे"** । अस्य सूत्रस्यायं भावः–पुत्रशब्दे उत्तरपदे परे द्वन्द्वे विद्यायोनिसम्बन्धे सति प्रवर्त्तमानानामृकारान्तानामाकारोऽन्तादेशो भवति ।

अत्र प्रसङ्गाद्द्वन्द्वे पूर्वपदस्यात्वादिकं सङ्क्षेपेण दर्शयति—

देवताद्वन्द्वे पूर्वपदस्यात्वादिकं वक्तव्यम् । सूर्याचन्द्रमसौ । *अग्नीषोमौ ।

देवताद्वन्द्वे इत्यादि–अत्रैवं सूत्रपद्धतिः–**"वेदसहश्रुताऽवायुदेवतानाम्"** (३।२।४१) । वेदे सहश्रुतानां वायुवर्जदेवतानां द्वन्द्वे पूर्वपदस्यात्वं स्यात् । सूर्याचन्द्रमसाविति–एवं इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्रापूषणौ, इन्द्राबृहस्पती, शुनासीरौ, अग्नामारुतौ, अग्नेन्द्रौ, अग्नाविष्णू, सोमारुद्रौ, मित्रावरुणौ । सहेति किम् ? विष्णुशक्रौ । श्रुतेति किम् ? चन्द्रसूर्यौ एतौ वेदे शब्दान्तरेण विद्येते चन्द्रसूर्य-इत्यादिशब्दैस्तु न श्रुतौ । वायुवर्जनं किम् ? अग्निवायू वाय्वग्नी ॥ *अग्नीषोमौ इति–**"ईः षोमवरुणेऽग्नेः"** (३।२।४२) । षोमेति निर्देशादीकारसन्नियोगे षत्वं निपात्यते । एवं अग्नीवरुणौ । **"इर्वृद्धिमत्यऽविष्णौ"** (३।२।४३) । विष्णुवर्जिते वृद्धिमत्युत्तरपदे देवताद्वन्द्वेऽग्निरिकारोऽन्तादेशो भवति । ईकाराकारयोरपवादः । अग्नीषोमौ देवताऽस्य अग्निषौमं कर्म । **"देवतानामात्वादौ"** (७।४।२८) । देवतार्थानां शब्दानामात्वादौ विषये ञ्णिति तद्धिते परे पूर्वोत्तरपदयोरादिस्वरवृद्धिः स्यात् । "वेदसहश्रुताऽवायुदेवतानाम्" (३।२।४१) इत्यत आरभ्य "उषासोषसः" (३।२।४६) इति यावदात्वादयः इत्युभयपदवृद्धिः । वृद्धिमतीति किम् ? अग्नीवरुणौ–**"आतो नेन्द्रवरुणस्य"** (७।४।२९) । आकारान्तात्पूर्वपदात्परस्य इन्द्रशब्दस्य वरुणशब्दस्य चोत्तरपदस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य वृद्धिर्न भवति । इति वृद्धिनिषेधादयं वरुणशब्दो वृद्धिमान्न भवति । *अविष्णाविति किम् ? अग्नाविष्णू देवताऽस्य अग्नावैष्णवं चरुं निर्वपेत । **"दिवो द्यावा"** (३।२।४४) । द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमी, द्यावाक्षमे, द्यावाक्ष्मे । द्यावानक्ते–नक्तशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्त्यनव्ययम् । **"दिवस् दिवः पृथिव्यां वा"** (३।२।४५) । दिव्शब्दस्य पृथिव्यामुत्तरपदे दिवस् दिवः इत्येतावादेशौ वा भवतः । दिवस्पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ दिवःपृथिव्यौ । दिव इति विसर्गान्तस्य निर्देशाद्दिवसिति सकारस्य रुत्वं न भवति । **"उषासोषसः"** (३।२।४६) । देवताद्वन्द्वे उत्तरपदे परे उषस्शब्दस्य उषासा इत्ययमादेशो भवति । उषश्च सूर्यश्च उषासासूर्यम् । उषासानक्तम् । उषासानक्ते । केचित्तु सूर्यशब्दस्यापीच्छन्ति–सूर्यश्च सोमश्च उषासासोमौ । प्रभातवाचक उषस्शब्दो द्विस्वरसन्तत्वान्नपुंसकलिङ्गः, सन्ध्यावाचकस्तु "अलाबु जम्बूडुरुषः" इति वचनात् स्त्रीक्लीबलिङ्गः ।

अथात्रैकशेषप्रकरणे उक्तशेषोऽयम्

"वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे" (३।१।१२४) । वृद्धः पौत्रादिरपत्यम्, युवा जीवद्वंश्यादिः । यूना सहोक्तौ वृद्धवाच्येकः शिष्यते, तन्मात्र एव चेद्भेदो विशेषो भवति (न चेत्प्रकृतिभेदोऽर्थभेदो वान्यो भवतीत्यर्थः) । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । तन्मात्रभेद इति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ, अत्र प्रकृतिरन्या । भागवित्तिभागवित्तिकौ *"भागवित्तितार्णबिन्दवाऽकशापेयान्निन्दायामिकण् वा" (६।१।१०५) सौवीरेषु वृद्धे वर्त्तमानेभ्य एभ्यो यून्यपत्ये इकण् वा स्यात् । निन्दायां गम्यायाम् । अत्र कुत्सा सौवीरदेशत्वं चान्योऽर्थः । **"स्त्री पुंवच्च"** (३।१।१२५) । वृद्धस्त्रीवाची युववाचिना सहोक्तौ एकः शिष्यते ।

१ नन्वत्र पुंवद्ग्रहणं किमर्थम्, स्त्र्येवोच्यतां ततश्च स्त्रीवाचिनो युववाचिना पुंसा एकशेषे स्त्रीपुन्नपुंसकानामित्येव पुंस्त्वं भविष्यति । नत्र वाच्यं युववाचिनो यदा स्त्रीत्वं तदा किं भविष्यतीति । अयुवेतिभणनात् स्त्रीवाचिनो युवत्वसंज्ञाया अभावात् ।

पुंवत्पुंलिङ्गा चेयं भवति । [1]इत्यर्थः पुमर्थो भवतीत्यर्थः तन्मात्रभेदे । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यो, गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः । अत्र पुंवद्भावात् ङीनिवृत्तौ यञो लुप् । गर्गानिति "शसोऽता सश्च नः पुंसि" (१।४।४९) इति नत्वं च । इमौ गार्ग्याविल्यनुप्रयोगस्यापि पुंस्त्वम् । **"पुरुषः स्त्रिया"** (३।१।१२६)। पुरुषशब्दोऽयं प्राणिनि पुंसि रूढः । स्त्रीवाचिना सहोक्तौ पुरुषवाची एकः शिष्यते । तन्मात्रभेदे स्त्रीपुरुषमात्रश्चेद्भेदो भवति । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ । गौश्चायं गौश्चेयं इमौ गावौ । तन्मात्र भेद इत्येव—हंसश्च वरटा च हंसवरटे, अत्र प्रकृतिभेदः । इन्द्रेन्द्राण्यौ, अत्र धवलक्षणोऽर्थभेदः, । कलभहस्तिन्यौ अत्र प्रकृत्यर्थयोर्भेदः । अन्ये तु तन्मात्रभेदादधिके प्रकृतिभेदे एवैकशेषं नेच्छन्ति, अर्थभेदे त्विच्छन्त्येव—इन्द्रश्चेन्द्राणी च इन्द्रौ । एवं पूर्वसूत्रेऽपि भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्ती । **"ग्राम्याशिशुद्विशफसङ्घे स्त्री प्रायः"** (३।१।१२७) ग्राम्या अशिशवो ये द्विशफा द्विखुरा अर्थात्पशवस्तेषां सङ्घे स्त्रीपुरुषाणां सहोक्तौ प्रायः स्त्रीवाच्येकः शिष्यते । स्त्रीपुरुषमात्रश्चेद्भेदः, । पूर्वेण पुरुषशेषे प्राप्ते स्त्रीशेषार्थं वचनम् । गावश्च स्त्रियः गावश्च पुरुषा इमा गावः । ग्राम्येति किम्? आरण्यानां मा भूत् । रुरवश्चेमे रुरवश्चेमाः इमे रुरवः । अशिशुग्रहणं किम्? वत्साश्चेमे वत्साश्चेमा इमे वत्साः । द्विशफेति किम्? अश्वाश्चेमेऽश्वाश्चेमा इमेऽश्वाः । सङ्घग्रहणं किम्? गौश्चायं गौश्चेयं इमौ गावौ । प्राय इति किम्? उष्ट्राश्च उष्ट्र्यश्च उष्ट्राः, छागाश्च छाग्यश्च छागाः, व्यावृत्तौ सर्वत्र पूर्वेण पुरुषशेष एव भवति । तन्मात्रभेद इत्येव—गोबलीवर्दम् । **"क्लीबमन्येनैकं च वा"** (३।१।१२८) क्लीबं नपुंसकं नामान्येनाक्लीबेन सहोक्तावेकं शिष्यते । तन्मात्रभेदे—क्लीबाक्लीबमात्र एव चेद्भेदो भवति । तच्च शिष्यमाणमेकमेकार्थं वा । अर्थस्यैकत्वे तद्विशेषणानामपि तथा भावः । शुक्लं च वस्त्रं शुक्लश्च कम्बलः तदिदं शुक्लं ते इमे शुक्ले वा । शुक्लं च वस्त्रं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च शाटी तदिदं शुक्लं तानीमानि शुक्लानि वा । क्लीबग्रहणं किम्? स्त्रीपुंसयोरपि शेषः स्यात्—क्लीबग्रहणमन्तरेण यथा क्लीबस्याक्लीबेन सहोक्तावेकशेषस्तथा स्त्रीपुंसयोरपि स्त्रीपुंसाभ्यां सह वचने स्यात् । अन्येनेति किम्? शुक्लं च शुक्लं च शुक्ले । "स्यादावसङ्ख्येयः" (३।१।११९) इत्येकशेषः । अनेन त्वेकशेषे विकल्पेनैकार्थत्वं प्रसज्येत । तन्मात्रभेद इत्येव । हिमं च हिमानी हिमान्यौ । अत्रार्थभेदोऽस्ति इति नैकशेषः । **इत्येकशेषप्रकरणम्** ॥ ७९ ॥ ८० ॥

अथ समाहारद्वन्द्वप्रकरणं सङ्क्षेपेण दर्शयति—

पशुव्यञ्जनानाम् ॥ ८१ ॥ [सि० ३।१।१३२]

एषां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो वा स्यात् । गोमहिषम् । गोमहिषौ । दधिघृतम् दधिघृते । "तरुतृणधान्यमृगपक्षिणां बहुत्वे" (३।१।१३३)। वैकार्थता । धवन्यग्रोधम्, धवन्यग्रोधाः । कुशकाशम्, कुशकाशाः । तिलमाषम् २ । शशैणम् २ । हंसशुकम् २ । "सेनाङ्गक्षुद्रजन्तूनाम्" (३।१।१३४) बहुत्वे नित्यमेकार्थता । अश्वरथम् । यूकालिक्षम् । "प्राणितूर्याङ्गाणाम्" (३।१।१३७) जातिवैरवतां "नित्यवैरस्य" (३।१।१४१) इत्यनेन च तथा । हस्तपादम् । मार्दङ्गि-

नापि युववाचिनो नपुंसकत्वं वाच्यम्, आपत्यतद्धितस्य स्त्रीपुंस्त्वस्यैवोक्तत्वात्, ततः पुंस्त्वस्य सिद्धत्वात् पुंवद्ग्रहणमतिरिच्यते । न । स्त्रीपुन्नपुंसकानामित्यस्य प्रायस्त्यदादिविषय एव प्रवर्त्तनात्तेन प्रायिकत्वात् नियमार्थं वचनम् । किञ्च अरुणाचार्येण अपत्यप्रत्ययान्तानामाश्रयलिङ्गत्वमुक्तम्, ततश्च गार्गी च गार्ग्यायणं चेत्यपि कृते तन्मतेऽपि पुंस्त्वं यथा स्यात् ।

१ स्त्रीलक्षणोऽर्थो यस्य शब्दस्य स पुमर्थः, यद्वा शब्दस्येति वृत्तावध्याहर्त्तव्यम् । तस्य सम्बन्धी स्त्रीलक्षणोऽर्थः पुमर्थः । अर्थग्रहणाच्च विशेषणानामपि पुंस्त्वं सिद्धम् । शब्दस्यैव पुंस्त्वे विशेषणानां न स्यात् । गार्ग्यावित्यत्र पुंवद्भावेनानुप्रयोगे विशेषः । शोभनौ गार्ग्यौ । २ अत्र वृद्धो यूनेति नानुवर्त्तते अघटनात्, तदनुवृत्तौ हि वृद्धः पुरुषो यूना युवसंज्ञया स्त्रियेति स्यात्, न चैतदस्ति, अस्त्रीति वचनात् स्त्रिया युवसंज्ञाया अभावात् इति सामान्येनाह—स्त्रीवाचिनेत्यादि ।

कृपाणविक्रम् । अहिनकुलम् । "गवाश्वादिः" (३।१।१४४) गवाश्वमित्यादि । "न दधिपय आदिः" (३।१।१४५) । दधिपयसी । "सङ्ख्याने" (३।१।१४६) तथा । दश गोमहिषाः ॥८१॥

"पशु०" एषां स्वैरिति–पशवः प्रतीताः । येनान्नादे रसो व्यज्यते तद्दधिघृतशाकसूपादि व्यञ्जनम् । पशुत्वेन व्यञ्जनत्वेन मिथः स्वत्वम् । "**तरु०**" धवेत्यादीनि क्रमेण तरुतृणादीनामुदाहरणानि । "**सेनां०**" क्षुद्रजन्तूनामिति–"क्षुद्रो दरिद्रे कृपणे निकृष्टेऽल्पनृशंसयोः" **इत्यनेकार्थवचनात् ।** अल्पपरिमाणा जन्तवः क्षुद्रजन्तवः । तथोक्तम्—

"क्षुद्रजन्तुरनस्थि स्यादथवा क्षुद्र एव यः । शतं वा प्रसृतिर्येषां केचिदानकुलादपि" ॥ १ ॥

"क्षुद्रजन्तुरकङ्कालो, येषां स्वं नास्ति शोणितम् । नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥ २ ॥

बहुत्व इति किम् ? अश्वरथौ, यूकालिक्षे । "**प्राणितूर्याङ्गाणाम्**" इत्यादि । अश्वरथमित्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि । **जातिवैर**वतामुदाहरणं तु अहिनकुलमिति । पशुविकल्पः पक्षिविकल्पश्चानेन बाध्यते । अश्वमहिषम्, काकोलूकम् । **अन्ये** तु वैर एवाभिधेये समाहारमिच्छन्ति–श्वावराहं वैरमिति । वैरिषु यथाप्राप्तम् । दक्षिणाद्ग्रामगमनं प्रशस्तम् । श्वशृगालयोरिति (विद्यते लोके औत्पत्तिको (जन्मप्रभवः) विरोधो यथा मार्जारमूषिकयोः)

अत्रेत्यादिकरणाच्च "**पुष्यार्थाद्भे पुनर्वसुः**" (३।१।१२९) । पुष्यार्थाच्छब्दाद्भे नक्षत्रे वर्त्तमानात्परो भ एव वर्त्तमानः पुनर्वसुशब्दः सहोक्तौ गम्यायां सामर्थ्यात् द्व्यर्थः सन्नेकार्थो भवति । उदितौ पुष्यपुनर्वसू । अन्यथा हि पुनर्वसुशब्दस्य द्व्यर्थत्वाद्बहुवचनं स्यात् । अर्थग्रहणं पर्यायार्थम्–तिष्यपुनर्वसू । समाहारे तु पुष्यपुनर्वसु । एकत्वानेकत्वयोर्विशेषो नास्तीति । भ इति किम् ? पुष्यपुनर्वसवो माणवकाः । "**विरोधिनामद्रव्याणां नवा द्वन्द्वः स्वैः**" (३।१।१३०) । अद्रव्याणां गुणादीनां विरोधिनां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो वा भवति । सुखदुःखम् सुखदुःखे । विरोधिनामिति किम् ? रूपरसगन्धस्पर्शाः । अद्रव्याणामिति किम् ? सुखदुःखाविमौ ग्रामौ, अत्रोपचारात् सुखदुःखशब्दौ द्रव्ये वर्त्तेते । द्रव्यं चात्र गुणाश्रयो द्रव्यमिति तार्किकप्रसिद्धं गृह्यते न तु वैयाकरणप्रसिद्धम् इदंतदित्यादिलक्षणम्, तस्मिंस्तु गृह्यमाणे सुखदुःखादीनामपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः । छायातपमिति न भवति–तयोर्द्रव्यत्वादिति । स्वैरिति किम् ? बुद्धिसुखदुःखानि । अत्र सुखदुःखे विरोधिनी, बुद्धिस्त्वविरोधिनी । समाहारे चार्थे एकत्वस्य इतरेतरयोगे चानेकत्वस्य सिद्धत्वाद्विकल्पे सिद्धे, सर्वमिदं विकल्पानुक्रमणं नियमार्थम् । विरोधिनामेवाद्रव्याणामेव स्वैरेवेति । तथा च प्रत्युदाहरणे इतरेतरयोग एव । "**अश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराः**" (३।१।१३१) । एते त्रयो द्वन्द्वा वा एकार्था भवन्ति, स्वैः । अश्वश्च वडवा च अश्ववडवम् अश्ववडवौ । अश्ववडवेति निर्देशादेवेतरेतरयोगे ह्रस्वत्वं निपात्यते । पशुविकल्पेनैव सिद्धे अश्ववडवग्रहणं तत्पर्यायनिवृत्त्यर्थम्–हयवडवेति । स्वैरित्येव–अजाश्ववडवाः । प्राग्वत् (समाहारेतरेतरलक्षणात् न्यायात्) विकल्पे सिद्धे पूर्वापरादिग्रहणं पदान्तरनिवृत्त्यर्थम्, तेन पूर्वपश्चिमौ दक्षिणापरौ इत्यादौ विकल्पो न भवति । "**फलस्य जातौ**" (३।१।१३५) । फलवाचिनां बहुत्वे वर्त्तमानानां जातौ विवक्षायां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो भवति । बदराणि चामलकानि च बदरामलकम् । जाताविति किम् ? व्यक्तिपरत्वे मा भूत्–एतानि बदरामलकानि तिष्ठन्ति । बहुत्वे इत्येव–बदरामलके । "**अप्राणिपश्वादेः**" (३।१।१३६) । बहुत्व इति निवृत्तम्, पूर्वयोगारम्भात्[3] । प्राणिभ्यः

---

१ एकस्याप्यावृत्त्या उभयस्यापि विशेषणम् । २ अनेकश्च नियमो वाक्यभेदेन समर्थ्यते, सर्वत्रापि च प्रत्युदाहरणं व्यवच्छेद्यम् । ३ फलस्याप्राणित्वेन अनेनैव सिद्धत्वात् ।

पश्वादि सूत्रोक्तेभ्यश्च येऽन्ये द्रव्यभूताः पदार्थास्तेषां जातौ वर्त्तमानानां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो भवति । आरा च शस्त्री च आराशस्त्रि । जातिविवक्षायामयं विधिर्व्यक्तिविवक्षायां तु यथाप्राप्तम्–आराशस्त्रि आराशस्त्र्याविमे ॥ प्राणिपश्वादिवर्जनं किम्? ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रम् । गोमहिषम् गोमहिषौ । दधिघृते दधिघृतम् । प्लक्षन्यग्रोधौ २, कुशकाशौ २, व्रीहियवौ २, रुरुपृषतौ २, हंसचक्रवाकौ २, अश्वरथौ २ । अप्राणीति किम्? प्राणिनो द्रव्यस्य पर्युदासेनाप्राणिनोऽपि द्रव्यस्य ग्रहणादिह न भवति–रूपरसगन्धस्पर्शाः । उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि । स्वैरित्येव । बदरशृगालौ । यत्राप्राणीतिवचनात्प्राप्तिस्तत्र पश्वादिसूत्रोक्ता व्यञ्जनादयो ग्राह्याः, न तु पशवस्तत्राप्राणीत्यनेनैव निषेधसिद्धेः । **"चरणस्य स्थेणोऽद्यतन्यामनुवादे"** (३।१।१३८) । शाखाध्ययननिमित्तकव्यपदेशभाजो द्विजन्मानश्चरणाः कठादयः । [1]प्रमाणान्तरप्रतिपन्नस्यार्थस्य शब्देन सङ्कीर्तनमनुवादः । यज्ञकर्मणि [2]शंसितानुशंसनमित्येके । [3]अनुकरणमित्यपरे । अद्यतन्यां परभूतायां यौ स्थेणौ तयोः अनुकथने कर्तृत्वेन सम्बन्धिनो ये चरणास्तद्वाचिनां शब्दानां स्वैर्द्वन्द्वोऽनुवादविषये एकएकार्थो भवति । प्रत्यष्ठात्कठकालापम्, उदगात्कठकौथुमम्, प्रत्यष्ठान्मोदपैप्पलादम् । एषामुदयप्रतिष्ठे कश्चिदनुवदति । चरणस्येति किम्? उदगुस्तार्किकवैयाकरणाः । स्थेण इति किम्? अगमन् कठकालापाः । अद्यतन्यामिति किम्? अतिष्ठन् कठकालापाः । अनुवाद इति किम्? उदगुः कठकालापाः–अप्रसिद्धं कथयति । अन्ये तु स्थेणोऽद्यतनीप्रयोगादनु पश्चाद्वादश्चरणद्वन्द्वस्येत्यनुवादस्तत्रेच्छन्ति । तन्मते इह न भवति । कठकालापाः प्रत्यष्ठुः । गौणमुख्ययोरिति न्यायान्मुख्यः कर्त्ता प्रथमान्तो लभ्यते । तेन भावे प्रत्यष्ठायिकठकालापाभ्यामिति स्यान्न तु समाहारः । **"अक्लीबेऽध्वर्युक्रतोः"** (३।१।१३९) । अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः, तेषां वेदोऽप्यध्वर्युस्तत्र विहिताः क्रतवोऽश्वमेधादयोऽध्वर्युक्रतवः । ससोमको यागः क्रतुः । अध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो भवति, अक्लीबे–क्लीबे चेदध्वर्युक्रतुवाची शब्दो न भवति । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । अर्कादयः पुंलिङ्गाः । अक्लीबग्रहणं किम्? गवामयनादित्यानामयने । [4]प्रसज्यप्रतिषेधः किम्? । राजसूयं च वाजपेयं च राजसूयवाजपेये । इमौ क्रतू पुंलिङ्गावपि स्त इति पर्युदासाश्रयणेऽत्रापि स्यात् । अध्वर्युग्रहणं किम्? इषुवज्रौ उद्भिद्बलभिदौ । इष्वादयः सामवेदे विहिताः । क्रतुग्रहणं किम्? दर्शपौर्णमासौ । **"निकटपाठस्य"** (३।१।१४०) । निकटः पाठो येषामध्येतॄणां ते निकटपाठास्तद्वाचिनां द्वन्द्व एकार्थो भवति, स्वैः । पदमधीते पदकः, एवं क्रमकः । पदकश्च क्रमकश्च पदकक्रमकम् । पदानन्तरं क्रमकस्य पाठात्पाठयोर्निकटत्वम् । **"नदीदेशपुरां विलिङ्गानाम्"** (३।१।१४२) । विविधलिङ्गानां नदीदेशपुराभिधायिनां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो भवति । उध्यश्च इरावती च उध्येरावति । नदीविशेषो नद इत्यभेदोपचारान्मिथः स्वत्वम् । देश. कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम् । पुर. मथुरापाटलीपुत्रम् । विलिङ्गानामिति किम्? गङ्गायमुने मद्रकेकयाः मथुरातक्षशिले । **"पात्र्यशूद्रस्य"** (३।१।१४३) । यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण भस्मोद्वर्त्तनादिना, "शुद्ध्यति भस्मना कांस्यम्, ताम्रमम्लेन शुद्ध्यति", इत्यादि **मन्वा**दिशास्त्रोक्तेन शुद्ध्यति ते पात्र्याः । पात्र्यशूद्रवाचिनां स्वैर्द्वन्द्व एकार्थो भवति । तक्षायस्कारम्, रजकतन्तुवायम्, किष्किन्धगन्धिकम्, शकयवनम् एते चत्वार आर्यावर्त्ताद्वाह्या म्लेच्छभेदाः । द्विविधा हि पात्र्यशूद्रा आर्यावर्त्तान्तर्गतास्तद्वाह्याश्च । तदन्तर्गतानां तक्षादीनां तदन्तर्गतैरयस्कारादिभिः स्वत्वम्, तद्वाह्यानां तद्वाह्यैरिति । पात्र्येति किम्? जनङ्गम-

---

१ शब्दात्प्रमाणादन्यत्प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरं तेन प्रतिपन्नम् । २ शंसितस्य कथितस्यानुशंसनम् । ३ पूर्वकृतस्य पश्चात्, सादृश्येन वा, करणं क्रिया । ४ क्लीबे चेदध्वर्युक्रतुवाची न भवतीति यः प्रसज्यप्रतिषेधो वृत्तौ दर्शितः स किमर्थः, प्रसज्यो हि नञ् क्रियया संबध्यते, इतरस्तु नाम्ना ।

बुक्कसाः, नह्येतेभ्यो जनङ्गमादिभ्यस्त्रैवर्णिकाः स्वं पात्रं प्रयच्छन्ति । तैर्भुक्ते पात्रस्य संस्कारेणाशुद्धेरिति । शूद्रग्रहणं किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियविशः । **"गवा०"** (३।१।१४४) अयं द्वन्द्व एकार्थो भवति । गौश्चाश्वश्च गवाश्वम्, गवैडकम् अजाविकम् अजैडकम् कुब्जवामनम् कुब्जकैरातम् कुब्जकैरातकम् पुत्रपौत्रम् । नित्यवैराभावपक्षे श्वचाण्डालम् । नित्यवैरपक्षे तु "नित्यवैरस्य" (३।१।१४१) इति सिद्धमेव । स्त्रीकुमारम्, दासीमाणवकम्, शाटीपच्छिकम्, (पच्छिका छाजिकेति प्रसिद्धा) उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् मूत्रशकृत्, मूत्रपुरीषम्, यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनपुरुषम्, तृणोलपम् ॥ कुडीकुडम्–कुडत् बाल्ये, "नाम्न्युपान्त्य०" (५।१।५४) इति के "वयस्यनन्त्ये" (२।४।२१) इति ङ्यां कुडी बाला, कुडो बालः । दासीदासम्, भागवतीभागवतम् त्रिष्वेतेषु "पुरुषः स्त्रिया" (३।१।१२६) इत्येकशेषो न भवति–निपातनात् ॥ गवाश्वादिषु यथोच्चारितरूपग्रहणादन्यत्र नायं विधिः । गोऽश्वौ गोऽश्वम् । गोअश्वौ गोअश्वम् "वात्यऽसन्धिः" (१।२।३१) "स्वरे वाऽनक्षे" (१।२।२९) इत्याभ्यां त्रैरूप्ये द्वयोः पशुविभाषैव । इति **आ**दिशब्दसङ्गृहीतं **सर्वं समा**हारद्वन्द्वप्रकरणं ज्ञेयम् ।

अथात्र **अपवाद**माह । **"न दधि०"** (३।१।१४५) दधिपयःप्रभृतिर्द्वन्द्व एकार्थो न भवति । दधि च पयश्च दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिषी । हरिवासवौ । ब्रह्मप्रजापती, ब्रह्मणो व्यतिरिक्तश्चतुर्दशविधः प्रजापतिः । शिववैश्रवणौ । स्कन्दविशाखौ, विनायकः स्वामी कार्त्तिकेयश्च । परिजाकौशिकौ; आद्या नदी, द्वितीयः पर्वतः । प्रवर्ग्योपसदौ । आद्यावसाने । सूर्याचन्द्रमसौ । मित्रावरुणौ । अग्नीषोमौ । सोमारुद्रौ । नारदपर्वतौ, ऋषी । खण्डामर्कौ, देवताविशेषौ । नरनारायणौ । रामलक्ष्मणौ । भीमार्जुनौ । कम्बलाश्वतरौ । मातापितरौ । पितापुत्रौ । श्रद्धामेधे । शुक्लकृष्णे । इध्माबर्हिषी, पूर्वस्य दीर्घत्वं निपातनात् । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अत्र "ऋग्सामर्ग्यजुष०" (७।३।९७) इत्यादिना अकारान्तत्वम् । याज्यानुवाक्ये । दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । श्रुततपसी । मेधातपसी । अध्ययनतपसी । उलूखलमुसले । अत्राद्येषु त्रिषु व्यञ्जनविकल्पे, शुक्लकृष्णे इत्यत्र "विरोधिनामद्रव्याणाम्०" (३।१।१३०) इति विकल्पे, इध्माबर्हिषी उलूखलमुसले इत्यत्र "अप्राणिपश्वादेः" (३।१।१३६) इति नित्यमेकत्वे, शेषेषु च "चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ" (३।१।११७) इत्युभयस्मिन् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । चण्डालमृतपादयश्चात्र द्रष्टव्याः । **"सङ्ख्याने"** (३।१।१४६) इयत्तापरिच्छेदः सङ्ख्यानम्, वर्त्तिपदार्थानां सङ्ख्याने गम्ये द्वन्द्व एव एकार्थो न भवति । यथा दश गोमहिषाः । एतावन्ति दधिघृतानि । बहवः प्लक्षन्यग्रोधाः । दश हस्त्यश्वाः । शतं यूकालिक्षाः । तावन्ति बदरामलकानि । बहवः पाणिपादाः । कति मार्दङ्गिकपाणविकाः । उदगुदर्दशेमे कठकालापाः । द्वावर्काश्वमेधौ । द्वादशपदकक्रमकाः । द्वौ गङ्गाशोणौ । पञ्च तक्षायस्काराः । इयन्तो गवाश्वाः ।

अत्रायं विशेषः–**"वान्तिके"** (३।१।१४७) वर्त्तिपदार्थानां सङ्ख्यानस्यान्तिके समीपे गम्यमाने द्वन्द्व एकार्थो वा भवति । उपगता दश यस्य येषां वा उपदशं गोमहिषम्, उपदशा गोमहिषाः । उपदशेभ्यो गोमहिषेभ्यः । द्वन्द्वार्थस्यैकत्वात्तदनुप्रयोगस्यापि बहुव्रीहेरेकवचनान्तत्वम् । यदा तु दशानां समीपमुपदशमित्यव्ययीभावस्तदा उपदशं गोमहिषायेति भवति ॥ ८१ ॥

अथ द्वन्द्वसमासे समासान्तविधिमाह ।

चवर्गदषहः समाहारे ॥ ८२ ॥ [सि० ७।३।९८]

एतदन्तात्समाहारद्वन्द्वादत्स्यात् । वाक्त्वचम् । सम्पद्विपदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् ।

***स्त्रीपुंसौ । वाङ्मनसे । अहोरात्रः । रात्रिन्दिवम् । नक्तन्दिवम् । अक्षिभ्रुवम् । दारगव-मित्यादयोऽदन्ता द्वन्द्वाः साधवः ॥ ८२ ॥**

"चवर्ग०" वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । एवं श्रीस्रजम् । वाग्विप्रुषम्, गोगोदुहम् ॥ **अथात्र समासान्तविधिं सङ्क्षेपेण सङ्गृह्णाति ।** *स्त्रीपुंसौ इति–अत्र सूत्रम् **"स्त्रियाः पुंसो द्वन्द्वाच्च"** (७।३।९६) । स्त्रीशब्दात्परो यः पुम्स्शब्दस्तदन्ताद्द्वन्द्वात्कर्मधारयाच्चात्समासान्तो भवति । स्त्रीपुंसम्, स्त्रीपुंसौ, स्त्रीपुंसाः । कर्मधारयात्–स्त्री चासौ पुमांश्च स्त्रीपुंसः, शिखण्डी । स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् ॥ वाङ्मनसे इत्यादि–अत्र सूत्रम् **"ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनसाऽहोरात्ररात्रिन्दिवनक्तन्दिवाऽहर्दिवोर्वष्ठीवपदष्ठीवाऽक्षिभ्रुवदारगवम्"** (७।३।९७) । ऋक्सामादयो द्वन्द्वा अ–प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । ऋक् च साम च ऋक्सामे । ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम् ॥ धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनडुहौ, धेन्वनडुहाः, असमासार्थं धेन्वनडुहग्रहणम्, समाहारे तु "चवर्गदषह०" इत्यादिनैव सिद्धम् ॥ वाक् च मनश्च वाङ्मनसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः, 'रात्राह्नाः' इति पुंस्त्वम् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिन्दिवम्, रात्रिन्दिवानि पश्यति, निपातनात् पूर्वपदस्य मोऽन्तः । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् अत्रापि मोऽन्तः । अहश्च दिवा च अहर्दिवम्, पर्याययोरपि वीप्सायां द्वन्द्वो निपातनात्, अहरहरित्यर्थः, रात्रिपर्यायोऽन्यतर इत्येके, अहर्निशमित्यर्थः ॥ ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्–निपातनादन्त्यस्वरादिलोपः ॥ पादौ चाष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम्–अत्र पद्भावश्च ॥ अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम्, अत्र निपातनात् भ्रुव उवादेशोऽक्षिदारशब्दयोश्च पूर्वनिपातः ॥ ८२ ॥

अथ द्वन्द्वे पूर्वपदनियमं दर्शयति ।

लघ्वक्षराऽसखीदुत्स्वराद्यदल्पस्वरार्च्यमेकम् ॥ ८३ ॥ [सि० ३।१।१६०]

लघ्वक्षरं सखिवर्जेकारोकारान्तं स्वराद्यकारान्तमल्पस्वरं पूज्यवाचि चैकं द्वन्द्वे प्राक् स्यात् । करशीर्षम् । पतिसुतौ । वायुतोयम् । अश्वशस्त्रम् । प्लक्षन्यग्रोधम् । श्रद्धामेधे ॥ ८३ ॥

"लघ्व०" । सखिवर्जनादत्रानियमः । सुतसखायौ । सखिसुतौ ॥ असखीदुल्लघ्वक्षरयोः "स्पर्द्धे" (७।४।११९) परमेव–व्रीहियवौ । असखीदुदित्यैकपद्यादिदुतोः स्पर्द्धे कामचारः–पतिवसू । वसुपती । स्वराद्यकारान्तमिति स्वराद्यदन्तलघ्वक्षरयोः स्पर्द्धे परमेव उष्ट्रखरम् । अल्पस्वरमिति लघ्वक्षराल्पस्वरयोः स्पर्द्धे परमेव–वागर्थौ, धवाश्वकर्णौ । श्रद्धामेधे इति–अर्थग्राहिणी श्रद्धा, शब्दग्राहिणी मेधेति श्रद्धायाः पूज्यत्वम् । अत्रापि स्पर्द्धे दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । मेधातपसी अत्र तपसो लघ्वक्षरत्वेऽपि दीक्षाश्रद्धामेधानां बहूपकारकत्वान्मूलभूतत्वाच्च पूज्यत्वम् । मातापितरौ–गर्भधारणपोषणादिना मातुः पूज्यत्वम् । वधूवरौ–विवाहस्य स्त्रीप्रधानत्वाद्वध्वाः पूज्यत्वम् । लघ्वादिग्रहणं किम् ? कुक्कुटमयूरौ मयूरकुक्कुटौ ॥ एकमिति किम् ? युगपदनेकस्य पूर्वनिपाते एकस्यैव यथाप्राप्तं पूर्वनिपातः । शेषाणां तु कामचार इति प्रदर्शनार्थम्–शङ्खदुन्दुभिवीणाः । वीणादुन्दुभिशङ्खाः । शङ्खवीणादुन्दुभयः, "प्राणितूर्याङ्गाणाम्" (३।१।१३७) इति बहुवचनं क्वचिदेकत्वविधेरनित्यत्वार्थम्, तेनात्रैकत्वाभावः । अत्र दुन्दुभिशब्दादिदन्तादल्पस्वरत्वेन परयोः शङ्खवीणाशब्दयोः युगपत्पूर्वनिपातप्राप्तावेकग्रहणादेकस्यैव क्रमेण पूर्वनिपातः ॥ एवं अश्वरथेन्द्राः इन्द्राश्वरथाः इन्द्ररथाश्वाः । एकस्यैवेत्युक्तेऽपि दुन्दुभिरथादीनां न पूर्वनिपातः–शब्दस्पर्द्धपरत्वात् न भवति ॥ ८३ ॥

मासवर्णभ्रात्रऽनुपूर्वम् ॥ ८४ ॥ [सि० ३।१।१६१]

एतद्वाचि द्वन्द्वे यथाक्रमं प्राक् स्यात् । तुल्यस्वराणां भर्तॄनामप्येवम् ("भर्तुतुल्यस्वरम्" (३।१।१६२) इत्यनेन) फाल्गुनचैत्रौ । ब्राह्मणक्षत्रियौ । रामकृष्णौ । ज्येष्ठामूले । ग्रीष्मवर्षाः । "**सङ्ख्यास मासे**" (३।१।१६३) । द्वित्राः ॥ धर्मार्थादिष्वनियमः ("**धर्मार्थादिषु द्वन्द्वे**" (३।१।१५९) इत्यनेन) धर्मार्थौ अर्थधर्मौ । शब्दार्थौ अर्थशब्दौ ॥ ८४ ॥

इति द्वन्द्वः

"मास०" । स्पष्टम् । तुल्यस्वराणामिति वार्त्तिकं स्पष्टम् । तुल्यस्वराणां भर्तॄनामित्युक्तेः पुष्यपुनर्वसू ग्रीष्मवसन्ते इत्यादौ यथाप्राप्तम् । "**सङ्ख्या०**" । सर्वा सङ्ख्या प्रथमोक्तेत्यनियमे प्राप्ते आनुपूर्व्याः सङ्ख्यायाः पूर्वनिपातार्थं वचनम् । समासमात्रे सङ्ख्यावाचिनामानुपूर्व्यं पूर्वं निपतति । बहुव्रीहौ–द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । त्रिचतुराः, पञ्चषाः । द्विगौ–द्वे शते समाहृते द्विशती । "अनवक्लृप्त्यवमर्षयो०" (पा० ३।३।१४५) इति पाणिनीयसूत्रेण स्वराद्यदन्तस्य प्राग्निपातानित्यत्वज्ञापकात् हरिहरौ शुचीनौ इत्यादयः प्रयोगाः साधव इति **कृष्णपण्डिताभिप्रायः** । द्वन्द्वे, एकश्च दश च एकादश । "**धर्मा०**" धर्मार्थादौ द्वन्द्वसमासेऽप्राप्तपूर्वनिपातं वा पूर्वं निपतति । एवं आद्यन्तौ अन्तादी । अग्नेन्द्रौ इन्द्राग्नी । चन्द्रार्कौ अर्कचन्द्रौ । अश्वत्थकपित्थौ कपित्थाश्वत्थौ, इत्यादिषु स्वराद्यदन्तत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते; सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी । गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ । दीर्घलघू लघुदीर्घौ । चन्द्रराहू राहुचन्द्रौ, इत्यादिषु इदुदन्तत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते; तपःश्रुते, श्रुततपसी । द्रोणभीष्मौ, भीष्मद्रोणौ । इत्यादिष्वर्च्यत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते; शकृन्मूत्रम् मूत्रशकृत् । कुशकाशम् काशकुशम् । करभरासभौ रासभकरभौ, इत्यादिषु लघ्वक्षरत्वात्पूर्वनिपाते प्राप्ते; समीरणाग्नी अग्निसमीरणौ । आदित्यचन्द्रौ चन्द्रादित्यौ । पाणिनीयरौढीयाः रौढीयपाणिनीयाः । रूढस्यापत्यं रौढिस्तस्य छात्रा रौढीयाः । जित्याविपूयविनीयाः विपूयविनीयजित्याः इत्यादिष्वल्पस्वरत्वान्नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते; ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः शूद्रविट्क्षत्रियविप्राः । भीमसेनार्जुनौ अर्जुनभीमसेनौ । देवापिशन्तनू शन्तनुदेवापी इति वर्णभ्रातृलक्षणेऽनुपूर्वं निपाते प्राप्ते; विकल्पार्थं वचनम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन वसन्तग्रीष्मौ ग्रीष्मवसन्तौ । शुक्रशुची शुचिशुक्रौ इत्यादयोऽपि द्रष्टव्याः । **इति द्वन्द्वः** ॥ ८४ ॥

अथ समासप्रकरणे आदेशविशेषान्निरूपयति ।

एकादश-षोडश-षोडत्-षोढा-षड्ढा ॥ ८५ ॥ [सि० ३।२।९१]

एते साधवः । षड् दन्ता यस्य षोडन् ॥ ८५ ॥

"एका०" । एकोत्तरा दश, एकं च दश च वा एकादश–अत्र पूर्वपदस्य दीर्घः ॥ षडुत्तरा दश, षट् च दश च वा षोडश–अत्र षषोऽन्तस्योत्वम्, उत्तरपददकारस्य च डकारः ॥ षड् दन्ता अस्य षोडन्–अत्र दन्तशब्दस्य दतादेशे दस्य डत्वं षषोऽन्तस्योत्वं च । एवं षोडन्तौ षोडन्तः । स्त्रियां तु षोडती, अन्ये तु दत्रादेशे कृते षोडन्निति नकारान्तं (स्वमते तु तकारान्तो निपातः) शब्दान्तरं राजन्शब्दवन्निपातयन्ति । ततश्च षोडानमिच्छतीति क्यनि नकारलोपे ईत्वे च षोडीयतीति सिद्ध्यतीति मन्यन्ते ॥ षड्भिः प्रकारैः षोढा षड्ढा, अत्र धाप्रत्यये षषोऽन्तस्य वोत्वम् धकारस्य तु नित्यं ढत्वम् । **यत्तु** षड्धेति रूपम् न तत् धाप्रत्यये, किन्तु षड् दधाति धयति वा इति "आतो डोऽह्वावामः" (५।१।७६) इति डे कृते स्त्रियामपि च भवति । निपातस्य चेष्टविषयत्वादत्रोत्वढत्वे न भवतः ॥ ८५ ॥

द्वित्र्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक् शतादनशीतिबहुव्रीहौ ॥ ८६ ॥ [सि० ३।२।९२]

शतात्प्राक् सङ्ख्यायामुत्तरपदे परे द्व्यादीनां द्वादय आदेशाः स्युः । न त्वशीतौ, बहुव्रीहिविषये च । द्वादश । त्रयोविंशतिः । अष्टात्रिंशत् । "चत्वारिंशदादौ वा" (३।२।९३) । द्वाचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशत् । अनशीतिबहुव्रीहाविति किम् ? द्व्यशीतिः । द्वित्राः । *अन्याद्दोऽन्तोऽर्थादिषु वा । अन्यदर्थः अन्यार्थः ॥ ८६ ॥

"द्वित्र्य०" । द्व्यादय आदेशा इति–द्विशब्दस्य द्वा इत्यादेशः–द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत् । त्रिशब्दस्य त्रयस् इत्यादेशः–त्रयोदश त्रयोविंशतिः त्रयस्त्रिंशत् । अष्टशब्दस्य अष्टा इत्यादेशः–अष्टादश अष्टाविंशतिः अष्टात्रिंशत् । **"चत्वा०"** द्वित्र्यष्टानां प्राक् शताचत्वारिंशदादौ सङ्ख्यायामुत्तरपदे द्व्यादय आदेशा वा भवन्ति । त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिचत्वारिंशत् । अष्टाचत्वारिंशत् अष्टचत्वारिंशत् । एवं द्विपञ्चाशत् द्वापञ्चाशत् इत्यादि । ***अन्याद्दोऽन्त** इत्यादि । अत्र सूत्रम् **"अषष्ठीतृतीयादन्याद्दोऽर्थे"** (३।२।११९) । अषष्ठ्यन्तादतृतीयान्ताच्चान्यशब्दादर्थशब्द उत्तरपदे दोऽन्तो वा भवति । अन्योऽर्थो (अन्यश्चासावर्थश्च) अन्योऽर्थोऽस्येति वा अन्यदर्थः अन्यार्थः । अन्यस्मै इदं अन्यदर्थं अन्यार्थम् । अन्यस्मिन्नर्थः अन्यदर्थः अन्यार्थः । अषष्ठीतृतीयादिति किम् ? अन्यस्यार्थः अन्यार्थः । अन्येनार्थः अन्यार्थः । [1]अर्थादिष्वित्यत्रादिशब्दस्यायमर्थः–**"आशीराशाऽऽस्थिताऽऽस्थोत्सुकोतिरागे"** (३।२।१२०) । वेति निवृत्तम्, पृथग्योगात् । आशीःप्रभृतिषु सप्तसूत्तरपदेषु अषष्ठीतृतीयान्तादन्यशब्दाद्दोऽन्तो नित्यं भवति । अन्या आशीः अन्यदाशीः । अन्या आशा अन्यदाशा । अन्यमास्थितः अन्यदास्थितः । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्यस्मिन् उत्सुकः अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः अन्यदूतिः । अन्यत्र रागः अन्यद्रागः । अषष्ठीतृतीयादित्येव–अन्यस्याशीः अन्याशीः । अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ।

इत्यादिशब्दाच्च **"ईय कारके"** (३।२।१२१) । पृथग्योगादषष्ठीतृतीयादिति निवृत्तम् । अन्यशब्दादीये प्रत्यये कारके चोत्तरपदे दोऽन्तो भवति । अन्यस्यायमन्यदीयः । गहादित्वादीयः ("गहाऽऽदिभ्यः" ६।३।६३) अन्यस्मै हितमन्यदीयम् । अन्यस्यान्येन वा कारकः अन्यत्कारकः, अन्यत्कारिका । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः, अन्यत्कारिका ॥ ८६ ॥

परस्पराऽन्योऽन्येतरेतरस्याम् स्यादेर्वाऽपुंसि ॥ ८७ ॥ [सि० ३।२।१]

एषामपुंसि स्यादेराम् वा स्यात् । स्त्रियौ कुले वा परस्परां परस्परं भोजयतः । स्त्रीभिः कुलैर्वा परस्परां परस्परेण भोज्यते । पुंसि तु नराः परस्परं पश्यन्ति । त्रयोऽप्यमी क्रियाव्यतिहारविषया एकत्वपुंस्त्ववृत्तय इत एव सूत्रनिर्देशात्साधवः ॥ ८७ ॥

"परस्प०" । पूर्वमन्योऽन्येतरेतरशब्दयोर्द्वन्द्वः, पश्चात्परस्परेण, अन्यथा अन्योन्यशब्दस्य स्वराद्यदन्तत्वादल्पस्वरत्वाच्च पूर्वनिपातः स्यात् । स्त्रियौ कुले इत्यादि–भुङ्क्ते परस्परः कर्ता तं भुञ्जानं सख्यौ प्रयुञ्जाते । "गतिबोधाहारार्थ०" (२।२।५) इत्यणिकर्तुः परस्परस्य कर्मत्वम्, विधानसामर्थ्यात् "अवर्णस्यामः साम्" (१।४।१५) इति न भवति ॥ परस्परां परस्परेणेति–अत्र करणार्थे सहार्थे वा यदा

[1] पूर्वपदस्य साक्षादेव निर्देशात् प्राक् शतादित्यवधेरनशीतिपर्युदासाशीतेः सङ्ख्यायाः प्रतिषेधात् सङ्ख्यारूपस्यैवोत्तरपदस्य ग्रहणम् ।

तृतीया तदैको णिग् । यथा भुङ्क्ते जनस्तं भुञ्जानं सख्यः प्रयुञ्जते इति णिग् । केन सह केन कृत्वा वा परस्परेणेति । यदा तु कर्त्तरि तृतीया तदा णिग्द्वयं, कथम् ? भुङ्क्ते जनस्तं भुञ्जानं परस्परः प्रयुङ्क्ते णिग् तं परस्परं भोजयन्तं सख्यः प्रयुञ्जते इति द्वितीयो णिग् । ततः कर्त्तरि तृतीयेति । इत्थमनुक्तस्यापि जनस्यात्र कर्तृत्वं बोध्यम् । अन्यथा "गतिबोधे"त्यादिना परस्परस्य कर्मत्वमेव स्यात् । अथवा प्रथमैकवचनस्यायमाम्भावः । आमभावपक्षे आभिः सखीभिः परस्परो भोज्यते इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवं इमाः सख्यः कुलानि वा परस्परां परस्परस्मै वा प्रयच्छन्ति । परस्परां परस्परस्माद्वा विशन्ति । परस्परां परस्परस्य वा स्मरन्ति । परस्परां परस्परस्मिन्वा स्निह्यन्ति । एवमन्योन्यां अन्योन्यम् । इतरेतरामितरेतरं वा भोजय इत्यादि । अपरोऽर्थः—परस्परादीनामपुंसि प्रयुज्यमानानां सम्बन्धिनः स्यादेरमादेशो वा भवति । आभिः सखीभिः कुलैर्वा परस्परं परस्परेण वा भोज्यते, परस्परं परस्परस्मै वा दीयते । अन्योऽर्थः—परस्परादीनां पुंसि प्रयुज्यमानानां सम्बन्धिनः स्यादेरम्वा भवति । एभिर्नरैः परस्परं परस्परेण वा भोज्यते । परस्परं परस्परस्मै वा दीयते । एवं च स्त्रीनपुंसकयोरमामौ द्वावादेशौ वा भवत इति त्रैरूप्यम् ।

एवमेकैको, *द्वन्द्वमित्यादि ।

एकैक इति—अत्र सूत्रम्—"**लुप् चादावेकस्य स्यादेः**" (७।४।८१) । एकशब्दस्य वीप्सायां द्विरुक्तस्यादौ वर्त्तते य एकशब्दस्तत्सम्बन्धिनः स्यादेः लुप् भवति । पित्करणं पुंवद्भावार्थम्, अत एवातद्वितेऽपि (लुपि) पुंवद्भावः । एकैकः, एकैका, एकैकस्याः, एक एका, एक एकस्याः । अत्र विरामस्य विवक्षितत्वात् पुंवद्भावे (सति न) सन्धिः, यथा अग्रे अग्रे सूक्ष्माः, यथा वा ऋक् ऋक् इति । आदि[1]पदस्य स्यादेः लुप्युत्तरेणाभेदाश्रयणे स्याद्यन्तत्वात् "सर्वादयोऽस्यादौ" (३।२।६१) इति पुंवद्भावो न प्राप्नोतीति लुपः पित्त्वं विधीयते । चकार उत्तरत्र लुप्द्विर्वचनयोः समुच्चयार्थः । इह तु द्विर्वचनं सूत्रक्रमे वीप्सायां पूर्वेणैव सिद्धम् । लुब्मात्रं विधीयते । आदाविति किम् ? उत्तरोक्तौ मा भूत् । *द्वन्द्वमिति, अत्र सूत्राण्येवम्—"**द्वन्द्वं वा**" (७।४।८२) । द्वन्द्वमिति वीप्सायां द्विरुक्तस्य द्विशब्दस्यादौ स्यादेः लुप्, इकारस्याम्भावः, उत्तरत्रेकारस्यात्वं स्यादेश्चाम्भावो वा निपात्यते । द्वन्द्वं तिष्ठतः, द्वौ द्वौ तिष्ठतः । नरकपटलान्यधोऽधो द्वन्द्वं हीनानि, द्वाभ्यां द्वाभ्यां हीनानि । द्वन्द्वं युद्धं वर्त्तते, द्वयोर्द्वयोर्युद्धं वर्त्तते । द्वन्द्वं कृतम्, द्वाभ्यां द्वाभ्यां कृतम् । द्वन्द्वं स्थितम्, द्वयोर्द्वयोः स्थितम् । "**रहस्यमर्यादोक्तिव्युत्क्रान्तियज्ञपात्रप्रयोगे**" (७।४।८३) । वीप्सायामिति निवृत्तम् । द्वन्द्वमिति द्विशब्दस्य द्विर्वचनं शेषं पूर्ववत् रहस्यादिषु गम्यमानेषु निपात्यते । रहस्ये—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते, रहस्यं मन्त्रयन्ते इत्यर्थः । मर्यादोक्तौ—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते—माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण तत्पुत्रेण च मैथुनं यातीत्यर्थः । व्युत्क्रान्तिर्भेदः—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ता द्वैराश्येन भिन्ना इत्यर्थः । द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति द्वे द्वे प्रयुनक्ति इत्यर्थः । (रहस्यादिष्विति किम् ? द्वौ तिष्ठतः) । उक्तिग्रहणं शब्दोपात्तायां मर्यादायां यथा स्यात्, प्रकरणादिगम्यायां मा भूत् ॥ द्वन्द्वः—समासः, कलहश्च । द्वन्द्वम्—युद्धम्, युग्मं च । द्वन्द्वानि सहते—दुःखानीत्यर्थः । अत्र द्वन्द्व इति शब्दान्तरम् । "**लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये**" (७।४।८४) । (लोकज्ञातेऽत्यन्तसाहचर्ये द्योत्ये द्विशब्दस्य पूर्ववत् द्वन्द्वमिति निपात्यते) । द्वन्द्वं नारदपर्वतौ । द्वन्द्वं रामलक्ष्मणौ । द्वन्द्वं बलदेववासुदेवौ । द्वन्द्वं स्कन्दविशाखौ । द्वन्द्वं शिववैश्रवणौ । लोकज्ञात इति किम् ? द्वौ चैत्रमैत्रौ । अत्यन्तसाहचर्य इति किम् ? द्वौ युधिष्ठिरार्जुनौ । द्वन्द्वमिति च सूत्रत्रयेऽपि द्वन्द्वं नपुंसकं वेदितव्यमनुप्रयोगस्य नपुंसकत्वार्थम् ।

---

1 ननु चात्र स्यादेर्लुपा निवृत्तेः 'सर्वादयोऽस्यादौ' इति पुंवद्भावो भविष्यति किं पित्त्वविधानेनेत्याशङ्का ।

अथ समासप्रकरणे यथायोगं विभक्तीनामलुपं सङ्क्षेपेण निर्देष्टुमाह—

समासे क्वचित्स्यादीनामलुप् स्यात् ।

समासे इत्यादि—**अथात्र सङ्क्षेपेण सूत्राणि दर्शयति—**

"न नाम्येकस्वरात्खित्युत्तरपदेऽमः" (३।२।९)। स्त्रीं स्त्रियं वात्मानं मन्यते स्त्रीम्मन्यः स्त्रियम्मन्यः ॥ **"ओजोऽञ्जःसहोऽम्भस्तमस्तपसष्टः"** (३।२।१२)। ओजसाकृतम् ॥ **"आत्मनः पूरणे"** (३।२।१४)। आत्मना चतुर्थः ॥ **"पराऽऽत्मभ्यां ङेः"** (३।२।१७)। नाम्नि । परस्मैपदम् । आत्मनेपदम् ॥ **असत्त्वे ङसेः"** (३।२।१०)। स्तोकान्मुक्तः ॥ **"षष्ठ्याः क्षेपे"** (३।२।३०)। चौरस्य कुलम् ॥ **"पुत्रे वा"** (३।२।३१)। दास्याः पुत्रः दासीपुत्रः ॥ **"पश्यद्वाग्दिशो हरयुक्तिदण्डे"** (३।२।३२)। पश्यतो हरः ॥ **"अदसोऽकञायनणोः"** (३।२।३३)। अमुष्यपुत्रस्य भाव आमुष्यपुत्रिका । अमुष्यापत्यमामुष्यायणः ॥ **"देवानां प्रियः"** (३।२।३४)। इत्यादि ॥ **"अद्व्यञ्जनात्सप्तम्या बहुलम्"** (३।२।१८)। नाम्नि । अरण्ये तिलकाः । युधिष्ठिरः ॥ **अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे"** (३।२।२२)। कण्ठेकालः । उरसिलोमा ॥ ***"क्वचिद्वा"** मनसिजः मनोजः । सरसिजं सरोजम् ॥ †वाचस्पत्यादयो निपात्याः ।

"नना०" । समासारम्भकमन्त्यपदमुत्तरपदम्, नाम्यन्तादेकस्वरात्पूर्वपदात्परस्यामः खित्प्रत्ययान्ते उत्तरपदे परे लुब् भवति । स्त्रीम्मन्य इति "वाम् शसि" (२।१।५५) इति वेय् । एवं श्रियम्मन्यः भ्रुवम्मन्यः नरम्मन्यः रायम्मन्यः गाम्मन्यः नावम्मन्यः । अथ श्रियमात्मानं मन्यते, श्रियम्मन्यं कुलमित्यत्र नपुंसकलक्षणोऽमो लोपः कस्मान्न भवति ? उच्यते—श्रीशब्दस्यात्मसमानाधिकरणस्य नपुंसके वृत्त्यभावादाविष्टलिङ्गत्वाच्च न भवति । अन्ये त्वाहुः—यथा प्रष्ठादयः शब्दा धवयोगात्स्त्रियां वर्त्तमानाः स्वलिङ्गं विहाय स्त्रीलिङ्गमुपाददते, तथा श्रीशब्दः कुले वर्त्तमानः स्वलिङ्गपरित्यागेन वर्त्तते; ततो नपुंसकलक्षणं ह्रस्वत्व—ममो लुप् च भवति—श्रिमन्यं कुलमिति । न चायं नपुंसकलक्षणस्य लोपस्यापवादः किन्त्वैकार्थ्यलक्षणस्योत्तरपदग्रहणात्तत उत्तरपदे विधीयमानोऽयमपवाद उत्तरपदे एव प्राप्तस्य लोपस्य बाधक इति भावः । **"ओजो०"** । ट इति तृतीयैकवचनस्य । ओजसा कृतमिति—एवं अञ्जसा सहसा अम्भसा तमसा तपसा कृतं प्राप्तमित्यादिषु "कारकं कृता" (३।१।६८) इति समासोऽनेनालुप् च । कथं 'सततनैशतमोवृतमन्यतः' इति **किरातार्जुनीये पञ्चमसर्गे पद्यम्** ? उच्यते—यत्र पूर्वपदीभूतस्तमःशब्दस्तत्रायं निषेधः, यत्र तु पदान्तरेण समस्तस्तत्र न प्रतिषेधः । **"पुञ्जनुषोऽनुजान्धे"** (३।२।१३)। पुंसाऽनुजः । जनुषान्धः—अविकृताक्षो जात्यन्ध उच्यते । अन्ये तु जतुशब्दात्तकारश्रुतेरिच्छन्ति । **"आत्म०"** । पूरणे इति—पूरणप्रत्ययान्ते उत्तरपदे परे । आत्मना चतुर्थ इति । ननु कथं "जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एवे"ति ? उच्यते—आत्मा चतुर्थोऽस्येति बहुव्रीहिरयम् । एवं **"मनसश्चाऽऽज्ञायिनि"** (३।२।१५)। मनःशब्दादात्मशब्दाच्च, आज्ञायिन्युत्तरपदे । मनसाज्ञातुं शीलमस्येति मनसाज्ञायी । एवं आत्मनाज्ञायी ॥ आत्मनो नेच्छन्त्येके । **"नाम्नि"** (३।२।१६)। मनसः परस्य टावचनस्योत्तरपदे परे संज्ञायां विषये लुब् न भवति । मनसादेवी, मनसागुप्ता, मनसादत्ता, मनसासङ्गता । एवन्नामा काचित् । **इति तृतीया । "परा०"** परस्मैपदमिति—एवमात्मनेपदम् । परस्मैभाषा, आत्मनेभाषा । "तादर्थ्ये" (२।२।५४) चतुर्थी । हितादित्वात् ["हितादिभिः" (३।१।७१)] समासः । नाम्नीत्येव—परहितम् । कथं परहितो नाम कश्चित् ? नेयमनादिसंज्ञा । **इति चतुर्थी ।**

"असत्त्वे०" । अद्रव्ये विहितो यो ङसिस्तस्योत्तरपदे परे लुब् न भवति । स्तोकान्मुक्त इति । "स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे" (२।२।७९) इति पञ्चमी । एवमल्पान्मुक्तः, कृच्छ्रान्मुक्तः, कतिपयान्मुक्तः, अन्तिकादागतः, अभ्यासादागतः, दूरादागतः, विदूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः । "आरादर्थैः" (२।२।७८) इति पञ्चमी । "क्तेनासत्त्वे" (३।१।७४) इति समासः, सर्वत्रानेनालुप् । असत्त्व इति किम् ? स्तोकभयम् । एवं **"ब्राह्मणाच्छंसी"** (३।२।११) अयमेवं निपात्यते । ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणं 'ब्राह्मणं श्रुताविति नपुंसकम्' ब्राह्मणाद्ग्रन्थादादाय शंसति ब्राह्मणाच्छंसी, ब्राह्मणाच्छंसिनौ, ब्राह्मणाच्छंसिनः । रूढिवशाद् ऋत्विग्विशेषः उच्यते । आदानाङ्गे शंसने शंसिरित्युपात्तविषयमेतदपादानम्, यथा कुसूलात्पचति । निपातनस्येष्टविषयत्वादृत्विग्विशेषादन्यत्र लुब् भवति—ब्राह्मणशंसिनी स्त्री । **इति पञ्चमी । "षष्ठ्याः०"** । क्षेप इति किम् ? चौरकुलम् तत्त्वाख्यानमेतन्न क्षेपः । **"पुत्रे०"** । पुत्रशब्दे उत्तरपदे इति ॥ **"पश्य०"** । पश्यतो हर इति—अनादरे षष्ठीयम् । पश्यन्तमनादृत्य हरते इत्यर्थः । एवं वाचोयुक्तिः दिशोदण्डः; सम्बन्धषष्ठ्यौ । **"अद्०"** । अकञ्प्रत्ययविषये उत्तरपदे आयनणप्रत्यये च इति भावः । आमुष्यपुत्रिकेति—चौरात् "चौरादेः" (७।१।७३) इत्यकञ् । "चौराद्यमनोज्ञाद्यकञ्" इति स्त्रीक्लीबत्वात् आमुष्यपुत्रकमित्यपि । **"द्वे०"** । देवप्रिय इति तु एकत्वद्वित्वयोर्बहुव्रीहौ वा भवति ।

इत्यादिशब्दाच्च **"शेपपुच्छलाङ्गूलेषु नाम्नि शुनः"** (३।२।३५) शुनः शेपमिव शेपमस्य शुनःशेपः । एवं शुनःपुच्छः । शुनो लाङ्गुलः । "मेहनं शेपशेपसी" इति वचनात् शेपःशब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति, इह त्वकारान्तो ग्राह्यः । अन्ये तु सिंहस्य शेपं इत्यादावपीच्छन्ति । तन्मतसङ्ग्रहार्थं बहुवचनम् अनाम्न्यपि विध्यर्थम् । **"ऋतां विद्यायोनिसम्बन्धे"** (३।२।३७) । ऋकारान्तानां शब्दानां विद्याकृते योनिकृते च सम्बन्धे निमित्ते सति प्रवर्त्तमानानां सम्बन्धिन्याः षष्ठ्या विद्यायोनिसम्बन्ध एव निमित्ते सति प्रवर्त्तमाने उत्तरपदे परे लुग् न भवति । होतुः पुत्रः । होतुरन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुरन्तेवासी । ऋतामिति किम् ? आचार्यपुत्रः । मातुलान्तेवासी । **"स्वसृपत्योर्वा"** (३।२।३८) । होतुः स्वसा होतृस्वसा । पितुःष्वसा, पितुः स्वसा, पितृष्वसा । मातुः स्वसा, मातुःष्वसा, मातृष्वसा । अनेनालुब्विकल्पे **"मातृपितुः स्वसुः"** (२।३।१८) । आभ्यां परस्य स्वसृसम्बन्धिनः सकारस्य षो वा भवति **"अलुपि वा"** (२।३।१९) । अलुपि समासे षो वा भवति इति षत्वविकल्पे त्रैरूप्यम् । दुहितुः पतिः दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः स्वसृपतिः । ननान्दुः पतिः ननान्दृपतिः । **इति षष्ठी । "अद्य०"** युधिष्ठिरेति—एवं गविष्ठिरः । "गवियुधेः स्थिरस्य" (२।३।२५) इति षत्वम् । अत एव निर्देशादलुप् । **"अमूर्द्ध०"** । कण्ठेकालः । एवमुदरेमणिः । वह्रेगडुः । पुतेवलिः उरसिलोमा । शिरसिशिखः । अमूर्द्धमस्तकादिति किम् ? मूर्द्धशिखः मस्तकशिखः । (स्वाङ्गादिति किम् ? अक्षशौण्डः । मुखपुरुषा शाला) । अकाम इति किम् ? मुखकामः । अव्यञ्जनादित्येव—अङ्गुलिव्रणः ।

पूर्वोक्त इत्यादिशब्दोऽत्रापि सम्बध्यते ततश्च **"बन्धे घञि नवा"** (३।२।२३) । घञन्ते बन्धशब्दे उत्तरपदेऽव्यञ्जनात्सप्तम्या वा अलुप् । स्वाङ्गादस्वाङ्गाचायं विकल्पः । हस्तेबन्धः हस्तबन्धः । चक्रेबन्धः चक्रबन्धः । घञीति किम् ? अजन्ते मा भूत् । बध्नातीति बन्धः । अव्यञ्जनादित्येव—गुप्तिबन्धः काराबन्धः । **"कालात्तनतरतमकाले** (३।२।२४) । अव्यञ्जनान्तात्कालवाचिनः सप्तम्यास्तनतरतमप्रत्ययेषु कालशब्दे चोत्तरपदे परे वाऽलुप् । पूर्वाह्णेतनः पूर्वाह्णतनः । अपराह्णेतनः अपराह्ण-

१ प्रकृतेरन्यतोऽपि च इति शेषो ज्ञेयः । शेपशब्दस्य लिङ्गानुशासने पुंलिङ्गत्वमुक्तं पान्तत्वात्, अत्र तु नपुंसकत्वं चिन्त्यम् ।

तनः । पूर्वाह्णतराम्, पूर्वाह्णतरे । विवक्षावशात् द्वयोः प्रकृष्टे विभज्ये वा तरप् "द्वयोर्विभज्ये च तरप्" (७।३।६)। यत्र सप्तम्या अलुप्, तत्र प्रथमा–सप्तम्यर्थस्य सप्तम्यैवोक्तत्वात्; यत्र तु सप्तम्या लुप्, तत्र सप्तम्यर्थप्रतिपादनार्थं सप्तमी पुनर्दीयते । एवं पूर्वाह्णेतमां पूर्वाह्णतमे । पूर्वाह्णेकाले पूर्वाह्णकाले । यद्यपि पूर्वाह्णः कालं न व्यभिचरति, तथापि बाहुलकात् समासो यथा, पृथिवीद्रव्यमिति, अथवा पूर्वाह्णे यः कालस्तस्मिन्निति वैयधिकरण्ये वा समासः। अत्र सूत्रे कालग्रहणसामर्थ्याद्वा । एवमपराह्णेकाल इत्यादि । अद्व्यञ्जनादित्येव–रात्रितरायाम् । उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे प्रत्ययमात्रस्य ग्रहणं न तदन्तस्य–"नवा खित्कृदन्ते रात्रेः" (३।२।११७) इत्यत्रान्तग्रहणात्तेनात्र तनतरतमानां स्वरूपेणैव ग्रहणम् । **"शयवासिवासेष्वकालात्"** (३।२।२५)। अकालवाचिनोऽद्व्यञ्जनान्ताच्छब्दात्परस्याः शयादिषूत्तरपदेषु सप्तम्या वा लुब् न स्यात् । बिलेशयः बिलशयः । अन्तेवासी अन्तवासी । ग्रामेवासः ग्रामवासः । बाहुलकात् मनसिशयः कुशेशयमिति नित्यमलुप् । हृच्छयः, चित्तशयः इत्यत्र नित्यं लुप् । अकालादिति किम्? पूर्वाह्णशयः । अद्व्यञ्जनादित्येव–भूमिशयः । **"वर्षक्षरवराप्सरःशरोरोमनसो जे"** (३।२।२६)। एभ्योऽष्टाभ्यो उत्तरपदे सप्तम्या अलुप् वा । वर्षेजः वर्षजः । क्षरेजः क्षरजः । वरेजः वरजः । अप्सुजम् अब्जम् । सरसिजम् सरोजम् । शरेजः शरजः । उरसिजः उरोजः । मनसिजः मनोजः । **"द्युप्रावृड्वर्षाशरत्कालात्"** (३।२।२७)। दिव्प्रभृतिभ्यः पञ्चभ्यो जे उत्तरपदे सप्तम्या नित्यमलुप् । दिविजः । प्रावृषिजः । वर्षासुजः । शरदिजः । कालेजः । **"अपो ययोनिमतिचरे"** (३।२।२८)। अप्शब्दात्सप्तम्या यप्रत्यये योनिमतिचरेषु चोत्तरपदेषु सप्तम्या अलुप् स्यात् । अप्सु भवः अप्सव्यः, "दिगादि०" (६।३।१२४) त्वाद्यः । अप्सुयोनिः । अप्सुमतिः । अप्सुचरः । **"नेन्सिद्धस्थे"** (३।२।२९)। इन्प्रत्ययान्ते सिद्धस्थयोश्चोत्तरपदयोः सप्तम्या अलुप् न, लुबेवेत्यर्थः । स्थण्डिलशायी । साङ्काश्यसिद्धः । समस्थः । **"प्राक्कारस्य व्यञ्जने"** (३।२।१९)। राजलभ्यो रक्षानिर्वेशः कारः । प्राचां देशे यः कारस्तस्य नाम्नि संज्ञायां गम्यायामद्व्यञ्जनात्परस्याः सप्तम्या व्यञ्जनादावुत्तरपदे लुब् न । मुकुटे मुकुटे कार्षापणो दातव्यः, मुकुटेकार्षापणः । एवं स्तूपेशाणः । दृषदिमाषकाः समिधिमाषकः । वृत्तौ वीप्साया दानस्य चान्तर्भावः । व्यञ्जन इति किम्? अविकटे अविकटे उरणो देयः–अविकटोरणः । अविकटोऽविसमूहः । अद्व्यञ्जनादित्येव–नद्यां नद्यां दोहो देयो नद्यीदोहः । अद्व्यञ्जनादित्येव सिद्धे नियमार्थोऽयं योगः । **त्रिविधश्चात्र नियमः**–प्राचामेव, कारस्यैव नाम्नि, व्यञ्जनादावेवोत्तरपद इति । **"तत्पुरुषे कृति"** (३।२।२०)। नाम्नीति निवृत्तम् । अद्व्यञ्जनात्परस्याः कृदन्ते उत्तरपदे सप्तम्या लुब् न । स्तम्बे रमते स्तम्बेरमः । एवं कर्णेजपः । गेहेनर्दी । गेहेक्ष्वेडी । पात्रेसमिताः । प्रवाहेमूत्रितम् । उदकेविशीर्णम् । अवतप्तेनकुलस्थितम् । व्यञ्जन. भस्मनिहुतम् ॥ बाहुलकात् क्वचिदन्यतोऽपि–गोषुचरः । क्वचिन्निषेधो न भवति–मद्रचरः ॥ क्वचिद्विकल्पः–खेचरः खचरः । वनेचरः वनचरः । पङ्केरुहम् पङ्करुहम् । सरसि रुहम् सरोरुहम् । दिविषत् द्युसत् ॥ क्वचिदन्यवदेव–हृदयं स्पृशतीति हृदिस्पृक्, द्वितीयार्थेऽत्र सप्तमी । एवं दिविस्पृक् । **"मध्यान्ताद्गुरौ"** (३।२।२१)। मध्ये गुरुः अन्तेगुरुः । मध्यगुरुः अन्तगुरुः इत्यप्यन्ये ॥ एतत्सर्वं मनसिकृत्याह–क्वचिद्वेत्यादि ॥ **इति सप्तमी** ॥ वाचस्पत्यादय इति । अत्र सूत्रम्–**"वाचस्पतिवास्तोष्पतिदिवस्पतिदिवोदासम्"** (३।२।३६)। एते षष्ठीलुबभावे निपात्यन्ते, नाम्नि विषये । अत्र षत्वं सत्वं च निपातनात् । वाचस्पतिः सुरगुरुः । वास्तोष्पतिर्दिवस्पतिश्च शक्रः । दिवोदासनामा च कश्चित् ।

॥ इत्यलुप्समासप्रकरणम् ॥

अथ समासे षत्वणत्वादिकं सङ्क्षेपेण निरूपयति ।

समासे क्वचित्सकारनकारयोः षत्वणत्वे वक्तव्ये–मातृष्वसा, पितृष्वसा, निष्णः निष्णातः, नदीष्णः, "प्रष्ठोऽग्रगे" (२।३।३२) । प्रस्थोऽन्यः ॥ "निर्दुःसुवेः समसूतेः" (२।३।५६) । षः । निःषमः । दुःषमा । सुषमा ॥ "भ्रातुष्पुत्र–कस्कादयः" (२।३।१४) । एते साधवः ॥ "निष्प्रागेऽन्तःखदिरकार्श्याम्रशरेक्षुप्लक्षपीयूक्षाभ्यो वनस्य (२।३।६६) । नो ण् । निर्वणम् । प्रवणम् ।

समासे क्वचिदित्यादि मातृष्वसा पितृष्वसेति–**मातृपितुः स्वसुः**" (२।३।१८) इति षत्वम् । निष्ण इति–"**निनद्याः स्नातेः कौशले**" (२।३।२०) निनदीभ्यां परस्य स्नातेः सस्य षः स्यान्नैपुण्ये गम्ये । निष्णो निष्णातः कटकरणे । नदीष्णो नदीष्णातः–प्रतरणे; कुशल इत्यर्थः । नद्याः स्नातस्य नेच्छन्त्येके ॥ "**समासेऽग्नेः स्तुतः**" (२।३।१६) अग्निष्टुत् अग्निष्टुतौ ॥ "**ज्योतिरायुर्भ्यां च स्तोमस्य**" (२।३।१७) । ज्योतिष्टोमः । अग्निष्टोमः ॥ "**प्रतेः स्नातस्य सूत्रे**" (२।३।२१) । विशेषानुपादानाच्चोर्णादिसूत्रं व्याकरणादिसूत्रं च गृह्यते । प्रतिष्णातं सूत्रम्–ऊर्णादिसूत्रं क्षालनेन शुद्धम् । व्याकरणादिसूत्रं त्वतिव्याप्त्यादिदोषाभावेन शुद्धमित्यर्थः ॥ "**स्नानस्य नाम्नि**" (२।३।२२) प्रतेः परस्य स्नानस्य समासे षः स्यात्, सूत्रविषये, नाम्नि । प्रतिष्णानं सूत्रमित्यर्थः । नाम्नीति किम् ? प्रतिस्नानमन्यत् ॥ "**वेः स्त्रः**" (२।३।२३) । वेः परस्य स्तृणातेः सस्य षत्वम्, नाम्नि विषये । विष्टरो वृक्षः । विष्टरमासनम् । विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः । विष्टारबृहतीच्छन्दः । नाम्नीत्येव–विस्तरो वचसाम् । विस्तारः पटस्य ॥ "**अभिनिःष्टानः**" (२।३।२४) । अभिनिस्शब्दात्परः स्तानशब्दः समासे कृतषत्वो निपात्यते, नाम्नि । अभिनिःष्टानो वर्णः–विसर्जनीयस्यैषा संज्ञा, वर्णमात्रस्येत्यन्ये । नाम्नीत्येव । अभिनिस्तन्यते अभिनिस्तानो मृदङ्गः ॥ "**गवियुधेः स्थिरस्य**" (२।३।२५) । गविष्ठिरः युधिष्ठिरः ॥ "**एत्यकः**" (२।३।२६) । ककारवर्जितान्नाम्यन्तस्थाकवर्गात्परस्य सस्य एत्येकारे षो भवति, नाम्नि । हरिषेणः । श्रीषेणः । वायुषेणः । मातृषेणः । एतीति किम् ? हरिसिंहः । अक इति किम् ? विष्वक्सेनः । नाम्यन्तस्थाकवर्गादिति किम् ? सर्वसेनः ॥ "**भादितो वा**" (२।३।२७) । इदन्तान्नक्षत्रवाचिनः परस्य सस्य एकारे परे समासे षो वा स्यात्, नाम्नि । रोहिणिषेणः रोहिणिसेनः, रेवतिषेणः रेवतिसेनः । भरणिषेणः भरणिसेनः । "ङ्यापो बहुलं नाम्नि" (२।४।९९) इति ह्रस्वः । इत इति किम् ? पुनर्वसुषेणः । अत्र पूर्वेण नित्यमेव ॥ "**विकुशमिपरेः स्थलस्य**" (२।३।२८) । नाम्नीति निवृत्तम् । विगतम्, वीनां पक्षिणां वा स्थलं विष्ठलम् । कुत्सितं कोः पृथिव्याः स्थलं कुष्ठलम् । शमीनां स्थलं शमिष्ठलम् । "ङ्यापो बहुल"मिति ह्रस्वः । सूत्रे ह्रस्वनिर्देशाद्दीर्घान्न स्यात्–शमीस्थलम् दीर्घादप्येके ॥ परिगतं स्थलं परिष्ठलम् । एभ्य इति किम् ? भूमिस्थलम् ॥ "**कपेर्गोत्रे**" (२।३।२९) । स्थलस्य सस्य षः । गोत्रमिहापत्यसन्ततेः प्रवर्त्तयिता–यन्नाम्नापत्यसन्ततिर्व्यपदिश्यते सोऽभिधीयते । कपिष्ठलो गोत्रप्रवर्त्तयिता यस्य कापिष्ठलिः पुत्रः । "**गोऽम्बाऽऽम्बसव्यापद्वित्रिभूम्यग्निशेकुशङ्कुकङ्गुमञ्जिपुञ्जिबर्हिःपरमेदिवेः स्थस्य**" (२।३।३०) । एभ्योऽष्टादशभ्यः परस्य स्थस्य सः षत्वम् । गोष्ठः । अम्बाष्ठः, "ङ्यापो बहुल"मिति ह्रस्वत्वे अम्बष्ठः । श्लिष्टनिर्देशादुभाभ्यामपि भवति आम्बष्ठः । सव्यष्ठः । अपष्ठः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । भूमिष्ठः । अग्निष्ठः । शेकुष्ठः । शङ्कुष्ठः । कुष्ठः । अङ्गुष्ठः । मञ्जिष्ठः । पुञ्जिष्ठः । बर्हिष्ठः । परमेष्ठः । दिविष्ठः । अत एव निर्देशात्सप्तम्या अलुप् । "तत्पुरुषे कृति" (३।२।२०) इति तु "नेन् सिद्धस्थे" (३।२।२९) इति प्रतिषेधात् नोपतिष्ठते ।

"निर्दुःसोः सेधसन्धिसाम्नाम्" (२।३।३१) निःषेधः दुःषेधः सुषेधः । निःषन्धिः दुःषन्धिः सुषन्धिः । निःषाम दुःषाम् सुषाम । **"भीरुष्ठानादयः"** (२।३।३३) एते समासे कृतषत्वा निपात्यन्ते । भीरूणां स्थानं भीरुष्ठानम् । अङ्गुलीनां सङ्गोऽङ्गुलिषङ्गः । अङ्गुलिषङ्गा यवागुः । भीरुष्ठान, अङ्गुलिषङ्ग, सव्येष्ठ, परमेष्ठिन्, सुष्ठु, दुष्ठु, अपष्ठु, वनिष्ठु, गौरिषक्थ, प्रतिष्णिका नौचेषिका, दुन्दुभिषेवण, इति भीरुष्ठानादयो द्वादश । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ **"ह्रस्वान्नाम्नस्ति"** (२।३।३४) नाम्नो विहिते तकारादौ प्रत्यये ह्रस्वान्नामिन उत्तरस्य सस्य षो भवति; तल्-त्व-तस्-त्य-तय-तरप्-तमपः सप्तैते प्रयोजयन्ति । सर्पिष्टा, यजुष्टा । सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम् । सर्पिष्टः यजुष्टः । निष्ट्यः, चतुष्टयम् । सर्पिष्टरम्, वपुष्टरम् । सर्पिष्टमम् वपुष्टमम् । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति प्लुतत्वस्यासिद्धत्वादिहापि भवति । सर्पि ३ ष्ट्व । चतु ३ ष्टय । ह्रस्वादिति किम् ? गीस्त्वं धूस्त्वम् । इत्यादि **सर्वं** **क्वचिदित्यादिना सङ्ग्रहवाक्येन सङ्गृहीतं ज्ञेयम्** । **"प्रष्ठो०"** (२।३।३२) अग्रेसरेऽभिधेये प्रष्ठः । प्रस्थोऽन्यः । **निर्दु०** (२।३।५६) निःषम इत्यादि । एवं विषमः । निःषूतिः । सुषूतिः । समसूतिनामग्रहणाद्धातोर्वैरूप्ये च न भवति । निःसमति, दुःसमति, सुसमति, विसमति, निःसूतं, (इत्यादि) **"भ्रातु०"** (२।३।१४) भ्रातुष्पुत्र इति "ऋतां विद्यायोनिसम्बन्धे" (३।२।३७) इति षष्ठ्या अलुप् । सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूल, यजुष्पात्राणाम् । "वेसुसोऽपेक्षायाम्" (२ ३।११) इति षत्वे सिद्धेऽपि समस्तार्थमिह पाठः । परमसर्पिष्कुण्डिका परमधनुष्कपालम् परमबर्हिष्पूलः परमयजुष्पात्रम् । अन्ये त्वेषां समस्तानां षत्वं न मन्यन्ते । एते पञ्च भ्रातुष्पुत्रादयः । कस्क इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । कुतः कुत आगतः कौतस्कुतः, "तत आगते" (६।३।१४९) इत्यण् । शुनस्कर्णः "षष्ठ्याः क्षेपे" (३।२।३०) इत्यलुप् । सद्यस्कालः—बहुव्रीहिरसमासो वा, सद्यः क्रयणं सद्यस्क्रीः तत्र भवः साद्यस्क्रः । एवं भास्करः अहस्करः । अयस्काण्डः । तमस्काण्डः । अयस्कान्त । अयस्कुण्ड । मेदस्पिण्ड एते चतुर्दश कस्कादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन यथादर्शनमन्येपि भवन्ति । सर्वत्र नामिनः परस्य रेफस्य षत्वमन्यत्र सत्वं द्रष्टव्यम् ।

एवं कस्कादिवदवस्करादयोऽप्यत्र ज्ञेयाः । तथाहि **"वर्चस्कादिष्ववस्करादयः"** (३।२।४८) अवकीर्यते अवस्करो अन्नमलम् । तत्सम्बन्धात्तद्देशोऽप्यवस्करः, अवकरोऽन्यः । अपस्करो रथाङ्गे (अपकरोऽन्यः । कुत्सिता तुम्बुरुः) कुस्तुम्बुरुरौषधिजातौ, तत्फलानि कुस्तुम्बुरूणि (अन्यत्र कुस्तुम्बुरुस्तिन्दुकवृक्षः ।) परस्परा अवरस्परा वा क्रियासातत्ये, अवरस्पराः सार्थां गच्छन्ति—सततं गच्छन्तीत्यर्थः । (अन्यत्रावरपराः सार्था गच्छन्ति, अवरे च अपरे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः) आस्पदं

---

१ समेति सह मया वर्तत इति समः, गोश्वान्ते-। निर्गतो निश्चितो वा समात्, सम इति समतीति प्रयोगैकदेशः षमष्टमेत्यजन्तस्य च भवति, सूतीत्यादिकस्य इकिश्तिव्-इति श्तिव्यपि भवति, सूतिसूयतिसुवतीनां क्त्यन्तानां च, तत्र 'अवः स्वपः' इत्यनेन पृथग्योगान्नाम्नोरेव ग्रहणम् न धात्वोरित्याह—नाम्नोर्ग्रहणादिति, नामग्रहणे च लिङ्गविशिष्टस्यापि तेन सुषमा इत्यादि, धात्वोरेवेच्छन्तीत्युक्त्वा कथं निःषूतमित्याद्युदाहृतम्, सत्यम्, क्तप्रत्ययात्प्रागेव सूतेरुपसर्गेण योगाद्भविष्यति । २ गणपाठादण, अन्यथा क्वेहामात्र-इति त्यच् स्यात् किंच तसन्तस्य प्रथमान्तत्वेन तत इति पञ्चम्यन्ताद्विधीयमानो न प्राप्नोति, केचित्त्वपञ्चम्यन्तादपि अणमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन तत आगतेन इत्यनेन वाऽण्, ननु द्वित्वे कुत एकपदत्वाभावात्कथं तत आगते इत्यऽण्, सत्यम्, भूतपूर्वकन्यायाद्भविष्यति । ३ अहः किरति लिहाद्यचिति कार्यम्, कृगस्तु 'अतः कृकमि०' इति सिद्धमेव । ४ कनै इत्यस्य रूपं कामयतेस्तु 'अतः कृकमि०' इति सिद्धमेव कामयतेर्वा समस्तार्थमिह पाठः, तेन परमायस्कान्त इत्यपि भवति । ५ यद्येवं कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरिघोरो घुरेत्सूकर इत्यादि कथं, यतस्तत्रापि कस्क इति स्यात् । सत्यम् । परमताभिप्रायेण, ते हि भ्रातुष्पुत्र इति सूत्रं संधिविधौ विदधति, ततो विरामे विवक्षिते सति 'न संधिः' इत्यस्य प्रवृत्तेर्न सत्यम् ।

प्रतिष्ठायाम् । प्रतिष्ठा स्थानमात्मयापनापदम् (अन्यत्र आ ईषत् पदमापदाद्वा आपदम्) आश्चर्यमद्भुते (आश्चर्यं नीला द्यौः अन्यत्र आश्चर्यं कर्म शोभनम्) प्रतिष्कशः सहाये पुरोयायिनि दूते वा, ग्राममध्ये प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः (अन्यत्र कशां प्रति गतः प्रतिकशोऽश्वः) । प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषौ (प्रगतं कण्वं पापमस्मादिति प्रस्कण्वः, हरिश्चन्द्र इवाह्लादको यः स हरिश्चन्द्रः, ऋषेरन्यत्र प्रकण्वो देशः हरिचन्द्रो माणवकः) । मस्करो वेणुदण्डयोः, मा क्रियते प्रतिषिध्यतेऽनेनेति मस्करः, मकरशब्दस्य वाऽव्युत्पन्नस्य मस्कर इति रूपम्, (अन्यत्र मकरो ग्राहः) । मस्करी परिव्राजके, माकरणशीलो मस्करी, स ह्याह मा कृषत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीति, मस्करिन्शब्दस्य वा रूपम् (अन्यत्र मकरीति, समुद्रः) । कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (ईषत्तीरमजस्येव तुन्दमस्येति व्युत्पत्तिमात्रम्, कास्तीरमजस्तुन्दं च नगरम् अन्यत्र कातीरम्, अजतुन्दम्) । कारस्करो वृक्षे (कारं करोति किल कारस्करो वृक्षः कारकरोऽन्यः । वनस्पतिः पुष्पं विना फलवति वृक्षे । सर्वो हरितकायो वनस्पतिरित्यन्ये (वनपतिरन्यः) । पारस्करो देशे (पारं करोति पारस्करो देशः पारकरोऽन्यः) । करस्करो गिरिवृक्षयोः, करं करोतीति करस्करो नाम गिरिः । करस्करो वृक्षः (करकरोऽन्यः) । रथस्पा (नद्यां रथं पाति पिबति वा रथस्पा) नाम नदी (रथपाऽन्या) । (किष्कुरुः प्रहरणे कस्य कुरुः) किष्कुरुर्नाम प्रहरणं (किमो मकारस्य षकारादेशः) । किष्कुः प्रमाणे (किमपीषत्परिमेया कुर्भूमिरस्य किष्कुः) हस्तो वितस्तिर्वा, (किं करोतीति वा किष्कुः; करोतेर्डुप्रत्ययः, किमो मकारस्य षकारादेशः), कार्यं करोतीति वा किष्कुः (डुप्रत्ययः कार्यशब्दस्य च किष्भावः) । (किष्किन्ध इति गुहापर्वतयोः । किमप्यन्तर्दधाति) किष्किन्धा नाम गुहा (किमो द्विर्वचनं पूर्वस्य च मकारस्य षकारः । किं किं दधाति) किष्किन्धः पर्वतः एषु किमो द्वित्वादिकं निपातनम् । आस्कथं नगरे, (आहृताः कथा अस्मिन्नित्यास्कथं नाम नगरम् ॥ तस्करश्चौरे–तत्करोति) तस्करश्चौरः ॥ बृहस्पतिर्देवतायाम् (बृहतां पतिः बृहन् पतिरिति वा बृहस्पतिः, उभयत्र तकारस्य सकारः, अन्यत्र तत्करः बृहत्पतिः) । प्रायश्चित्तप्रायश्चित्ती अतीचारशोधने प्रकर्षेणैत्यागच्छत्यस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकः, चिन्त्यते स्मर्यते इति चित्तम्, चित्तिश्च व्रतम्, प्रायैश्चित्तं चिन्तितं किल्बिषविशुद्धये प्रायश्चित्तमतिचारशोधनम् आलोचनप्रतिक्रमणादि । एवं प्रायश्चित्तिः, पक्षे विसर्जनीयपूर्वः शकार इत्यन्ये (प्रायःश्चित्तम्) प्रायःश्चित्तिः । अन्ये तु प्रायणं प्रायः–परलोकगमनं भोजनत्यागो वा; तस्य चित्तं प्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तिरित्यपि मन्यन्ते ॥ शष्कुली कृतान्ने (शष्कुलशब्दाद्गौरादित्वात् ङीः, कृतान्नादन्यत्र शकुली मत्स्यविशेषः) । गोष्पदं गोसेविते प्रमाणे च–यत्र गावः पद्यन्ते स गोभिः सेवितो ग्रामसमीपादिर्देश उच्यते; प्रमाणे (गोष्पदपूरं वृष्टो देवः) गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, (अत्र गोः पदम्) (अन्यस्येयत्तां परिच्छेत्तुमुपादीयमानं प्रमाणं भवति, अन्यत्र गोपदम् ॥ अगोष्पदं सेवारहिते–न विद्यते गोः पदं येषु तान्यगोष्पदान्यरण्यानि, अगोष्पदेष्वरण्येषु विश्वासमुपजग्मिवान् ॥ ननु गोष्पदप्रतिषेधादगोष्पदमिति सिद्ध्यति ? सत्यम् । किन्तु यत्र गवां प्रसङ्गो न ताभिः सेवितस्तत्रैव स्यात्; यथा यत्र शुक्लगुणप्रसङ्गः स एवाशुक्ल इति भवति, नात्माकाशादि, यत्र तु गवामत्यन्तासम्भवस्तत्र न स्यात्; तत्रापि यथा स्यादित्येवमर्थं निपातनम् । न विद्यते गोः पदं यत्रेति त्रिपदबहुव्रीहिविवक्षायां रूपान्तरनिवृत्त्यर्थम्) । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेनावोवचपरोवरादयोऽपि द्रष्टव्याः । एषु सर्वेषु व्युत्पत्तिव्यावृत्त्यादिकं हैमबृहद्वृत्तेरवसेयम् । **इति षत्वप्रकरणम् ।**

“**निष्प्रा०**” (२।३।६६) । निर्वणं प्रवणमित्यादि । एवमग्रेवणम् “पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा” (३।१।३०) इत्यव्ययीभावस्तत्सन्नियोगे च पूर्वपदस्य एत्वम् । अन्तर्वणम् खदिरवणम् कार्श्य (शाल-

१ एतत्सर्वमत्र सौकर्यार्थं ( ) ईदृशचिह्नयोरन्तरे निवेशितम् ।

वृक्षवनं)वणम् वचनसामर्थ्याच्छकारव्यवधानेऽपि भवति । आम्रवणम्, शरवणम्, इक्षुवणम्, प्लक्षवणम्, पीयुक्षावणम् । पीयुक्षाशब्दोऽव्युत्पन्न आवन्तो द्राक्षापर्यायः ॥ ८७ ॥

द्वित्रिस्वरौषधिवृक्षेभ्यो न वाऽनिरिकादिभ्यः ॥ ८८ ॥ [सि० २।३।६७]

द्वित्रिस्वरेभ्य इरिकादिवर्जेभ्यश्चौषधिवृक्षवाचिभ्यः परस्य वनस्य नस्य णो वा स्यात् । दूर्वावणं दूर्वावनम् । नीवारवणं नीवारवनम् । "गिरिनद्यादीनाम्" (२।३।६८) । वा । गिरिणदी गिरिनदी । *एवं क्षीरपाणं क्षीरपानम् । †व्रीहिवापिणौ व्रीहिवापिनौ । "ग्रामाग्रान्नियः" (२।३।७१) । ग्रामणीः ॥ ८८ ॥

"द्वित्रि०" दूर्वावणमिति—एवं मूर्वावणम् २, व्रीहिवणम् २, माषवणं माषवनमित्यादि द्विस्वरौषध्युदाहरणम् । कोद्रवणम् २, प्रियङ्गुवणम् २, इत्यादि त्रिस्वरौषध्युदाहरणम्, धान्यानामौषधिजातीयत्वात् । शिग्रुवणम् २, दारुवणम् २, इत्यादि द्विस्वरवृक्षोदाहरणम् । करीरवणम् २, शिरीषवणम् २, बदरीवणम् २, इत्यादि त्रिस्वरवृक्षोदाहरणम् । "ओषध्यः फलपाकान्ता लतागुल्माश्च वीरुधः । फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः" ॥ १ ॥ इति यद्यपि भेदोऽस्ति तथाप्यतिबहुत्वार्थबहुवचनबलाद्वृक्षग्रहणे वनस्पतीनामपि ग्रहणं भवति । अत एव च यथासङ्ख्यमपि न । तथा संज्ञायामसंज्ञायां च भवति । द्वित्रिस्वरेति किम् ? देवदारुवनम् । इरिकादिवर्जनं किम् ? इरिकावनम् । इरिका, गिरिका, तिमिर, चीरिका, [क्षीर हरि] [1]कर्मीर, सप्तकोऽयमिरिकादिराकृतिगणः । इरिकादिविशेषवर्जनाद्विशेषाणामेवेह विधिस्तेनेह न भवति । द्रुवनम्, वृक्षवनम् । **"गिरि०"** सूत्रम् स्पष्टम् । *एवं क्षीरपाणमिति **"पानस्य भावकरणे"** (२।३।६९) पूर्वपदस्थेभ्यो रषृवर्णेभ्यः परस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तत्सम्बन्धिनो नकारस्य णो वा भवति । क्षीरपाणम् २, वर्त्तते । करणे क्षीरपाणं २, भाजनम् । कषायपाणः २ कंसः । भावकरण इति किम् ? क्षीरं पीयतेऽस्मिन्निति क्षीरपानो घोषः । एवं **"देशे"** (२।३।७०) । (योगविभागान्नवेति निवृत्तम्) । पीयत इति पानम् । क्षीरं पानमेषां क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः । **"वाह्याद्वाहनस्य"** (२।३।७२) । वोढव्यं वाह्यम् । उह्यतेऽनेनेति वहनम् । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थिकोऽण् । अतो वा निपातनादुपान्त्यदीर्घत्वम् । इक्षुवाहणम् । शरवाहणम् । वाह्यादिति किम् ? सुरवाहनम् । सम्बन्धमात्रमत्र विवक्षितम् । नरवाहनः—नात्र वाह्यात्परं वाहनम्, किं तर्हि वाहनात् ? । **"अतोऽह्नस्य"** (२।३।७३) । पूर्वाह्णः । अपराह्णः । अत इति किम् ? निरह्नः पुरह्नः । **"चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि"** (२।३।७४) चतुर्हायणी त्रिहायणी वत्सा । वयसीति किम् ? चतुर्हायना शाला । कालकृता प्राणिनामवस्था हि वयः । ङीरपि वयस्येव भवति । †"व्रीहिवापिणाविति" । **"वोत्तरपदान्तनस्यादेरयुवपक्वाह्नः"** (२।३।७५) पूर्वपदस्थाद्रषृवर्णात् परस्योत्तरपदान्तभूतस्य तथा नागमस्य स्यादेश्च नकारस्य णो वा भवति, न चेत्स नकारो युवन्-पक्व-अहन्-शब्दसम्बन्धी भवति । उत्तरपदान्त. व्रीहिवापिणी २ कुले । **नागम,** व्रीहिवापाणि २, माषवापाणि २, कुलानि । 'इवु व्याप्तौ इत्यस्यानदि प्रेण्वनम् २ । 'हिवु प्रीणने' 'पिवु सेचने' इत्यनयोः शतरि प्रहिण्वन् प्रहिन्वन् । प्रपिण्वन् २ । हिवोरेव ह्यस्तन्याम्—प्राहिण्वन् प्राहिन्वन् । बहुलवचनादनाम्नापि समासः । समासे हि पूर्वोत्तरपदव्यवहारः । पुरुषश्च वारि च पुरुषवारिणी इत्यत्र तु परमपि विकल्पं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वादेकपदाश्रितं (रषृवर्णादित्यादिना नित्यं) णत्वं स्यात् । **स्यादि.** व्रीहिवापेण २ । व्रीहिवा-

१ मुद्रितबृहद्वृत्तौ कमरि खीर इति शब्दौ स्तः ।

पाणाम् । व्रीहिवापान् माषवापानित्यत्र त्वनन्त्यस्येत्यधिकारान्न भवति । उत्तरपदेति किम् ? गर्गाणां भगो गर्गभगः । सोऽस्यास्तीति समासपदादिन् गर्गभागिणी–अत्रोत्तरपदस्यान्तो नकारो न भवतीति विकल्पो न भवति । एकपदस्थत्वाच्च मातृभोगीण इत्यादिवन्नित्यमेव णत्वं भवति । अन्तादिग्रहणं किम् ? गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी । एवं दाक्षिभगिनी । अत्र न नकारोऽन्तः, किन्तु ङीप्रत्ययः । यद्येवं व्रीहिवापिणी इत्यत्र नकारस्योत्तरपदान्तत्वाभावाद्विकल्पो न प्राप्नोत्यत्रोच्यते–गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समास-वचनं प्राक् प्रत्ययोत्पत्तेरिति न्यायात् प्रागेव स्त्रीप्रत्ययादन्तरङ्गत्वादश्वक्रीतीत्यादावकारान्तेनेव क्रीत-शब्देन नकारान्तेन वापिन्शब्देनोपपदसमासः, पश्चात् स्त्रीप्रत्ययः । विभक्त्यन्तत्वाभावेऽपि च रूढत्वा-दुत्तरपदत्वम् । ततश्चोत्तरपदस्यान्तो नकार इति णत्वविकल्पो भवति । अयुवपक्वाह्न इति किम् ? आर्ययूना, प्रपक्वानि, दीर्घाह्नी शरत् । दीर्घाह्ना निदाघेन । त्र्यहनि । "सङ्ख्यासायवेरह्नस्याहन् ङौ वा" (१।४।५०) इत्यह्नस्याहनादेशः । अलचटतवर्गशसान्तर इत्येव–गर्दभवाहिनौ । **"पूर्वपदस्थान्ना-म्न्यगः"** (२।३।६४) । पूर्वपदस्थाद्रषृवर्णादगकारान्तात्परस्य सामर्थ्यादुत्तरपदस्थस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति, नाम्नि संज्ञायां विषये । द्रुणसः, खरणसः, खरणाः, शूर्पणखा, चन्द्रणखा, वार्ध्रीणसः, हरिवाह्णः, पुष्पणन्दी, श्रीणन्दी स्त्री । नाम्नीति किम् ? मेषनासिकः चर्मनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । एकस्मिन्नेव पदे इति पूर्वसूत्रे विज्ञानादुत्तरपदस्थस्य समासे न प्राप्नोतीति वचनम् । कथं देवदारुवनं कुबेरवनमित्यादौ संज्ञायां णत्वं न भवति ? । उच्यते–"कोटरमिश्रकसिध्रकपुरगसारिकस्य वणे" (३।२।७६) इति णत्वनिपातनस्य नियमार्थत्वात्संज्ञायां कोटरादिभ्य एव वनस्य णत्वं नान्येभ्य इति । **"नसस्य"** (२।३।६५)। पूर्वपदस्थाद्रादेः परस्य नसस्य णत्वं स्यात् । प्रगता प्रवृद्धा वा नासिका यस्य स प्रणसः, निर्णसम् प्रणसम् मुखमिति णत्वप्रकरणम् । इत्यादि सर्वं क्वचिदित्यादिवचनेन सङ्गृहीतं बोद्धव्यम् । **"ग्रामा०"** (२।३।७१) । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ८८ ॥

पृषोदरादयः ॥ ८९ ॥ [सि० ३।२।१५५]

साधवः ॥ ८९ ॥

इति महोपाध्यायश्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां समासप्रक्रिया समाप्ता ।

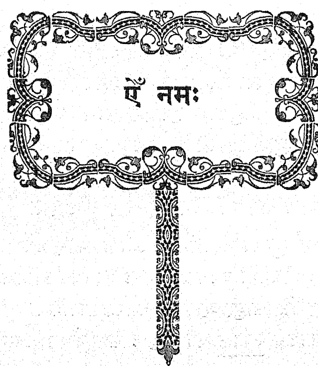
पृषोदर इत्येवंप्रकाराः शब्दाः समासे विहितलोपागमवर्णविकाराः शिष्टैः प्रयुज्यमानाः साधवो भवन्ति । पृषदुदरमुदरेवाऽस्य पृषोदरः । पृषत उदरं पृषोदरम् । पृषत उद्वानं पृषोद्वानम् । पृषत उद्धारं पृषोद्धारम् । अत्र तकारस्य लोपो निपात्यते । जीवनस्य जलस्य मूतः पुटबन्धः जीमूतः अत्र वनस्य लोपः । वारिणो वाहको बलाहकः, अत्र पूर्वपदस्य बः उत्तरपदादेश्च लादेशः । आध्यायन्ति तमित्याढ्यः, अत्र ध्यस्य ढ्यादेशः । कृच्छ्रेण दास्यते नास्यते दभ्यते च खलि दुष्टो, दासो, नासो, दम्भ, इति वा दूडाशः दूणाशः दूडभः । दुष्टं ध्यायति दूढ्यः । एषु पूर्वपदस्य दुसो दूभावः, उत्तरपदादेश्च डत्वणत्वडत्वढत्वानि दम्भेर्नलोपश्च । मह्यां रौतीति मयूरः, रौतेरच्यन्तलोपो महीशब्दस्य मयूभावः । मह्यां शेते महिषः, अत्र पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं शस्य च षत्वम् । पिशितमश्नाति पिशाचः, अत्र पिशितस्य पिशादेशः अश्नातेः शस्य च चादेशः । शवानां शयनं श्मशानम्, पूर्वपदस्य श्मादेशः उत्तरपदस्य च शानादेशः । ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्ति विषीदन्ति वृसी, अत्र डट्प्रत्ययः पूर्वपदस्य वृभावः । ऊर्ध्वं खं बिलं वास्य उदूखलं उलूखलम् वा, अत्र पूर्वपदस्य उदूभावः उलूभावश्च, उत्तरपदस्य खलादेशः । दिवि द्यौर्वा ओक एषां दिवौकसः, अत्राकारागमः । अश्व इव तिष्ठति अश्वत्थः, कपिरिव तिष्ठति कपयोऽस्मिंस्तिष्ठन्ति इति वा कपित्थः, दध्नि तिष्ठति दधित्थः, मह्यां तिष्ठति महित्थः, एषु तिष्ठतेः सकारस्य तकारः । मुहुः स्वनं

लाति मुहुर्मुहुर्लसतीति वा मुसलम्, अत्र मुहुःशब्दस्य मुभावः, स्वनशब्दस्य च सभावः, पक्षान्तरे लसयोर्विपर्ययश्च । ऊर्ध्वौ कर्णावस्येत्युलूकः, अत्रोर्ध्वशब्दस्योलादेशः कर्णशब्दस्य उकादेशश्च । मेहनस्य खं तस्य माला मेखला, अत्र मेहनखे शब्दे हनशब्दस्य मालाशब्दे च माशब्दस्य लोपः । कौ जीर्यति कुञ्जरः, अत्र कुशब्दान्मोऽन्तः । आश्वस्य विषमस्ति आशीविषः, अत्राशुशब्दस्याशीभावः; यदाप्याशिषि दंष्ट्रायां विषमस्येति तदाप्यनेन निपातनम् । बलं वर्द्धयति बलीवर्दः, अत्र बलस्येकारोऽन्तादेशो, वर्द्धे धकारस्य च दकारः । मनस ईष्टे मनीषी, अत्र मनसोऽन्त्यस्वरादिलोपः ईशेः शस्य च षः । बिलं दारयति बिडालः, अत्र बिलशब्दस्य ललोपः, उत्तरशब्दस्य च डालादेशः । मृदमालीयते डः मृणालः, अत्र मृदो दकारस्य णकारः । असृगालीयते डः सृगालः, अत्रादेर्लोपः । असृग्गलति वा सृगालः, अत्रासृज आद्यन्तलोपः । पुरो दाश्यते पुरोडाशः, अत्रोत्तरपदादेर्डत्वम् । अश्वस्याम्बा वडवा, अत्राश्वस्य शो लोपः, ड् चान्तः, अम्बाशब्दे च मो लोपः । शकस्य अन्धुः शकन्धुः, अत्र पूर्वपदान्तस्योत्तरपदादेर्वा लोपः । एवं कर्कन्धुः । अटतीत्यच् अटा, कुलानामटा कुलटा । अव् अवाक् अटन्त्यस्मिन्निति बाहुलकात् "पुन्नाम्नि घः" (५।३।१३०) इति घः, अवटः । हिनस्तीति सिंहः, अत्र सकारहकारयोर्विपर्ययः । कृतकेन शलति कृकलाशः; अत्र तकारस्य लोपः, शकारलकारयोर्विपर्ययः । भ्रमन् रौति डः भ्रमरः, अत्र नलोपः । एवम्प्रकाराः शिष्टैः प्रयुक्ताः पृषोदरादयः । मयूरमहिषादीनामुणादौ व्युत्पादितानामपीह व्युत्पादनमनेकधा शब्दव्युत्पत्तिज्ञापनार्थम् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेन मुहूर्त्तम् आरग्वधो अश्वत्थाम निलयनीत्यादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥ "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥ १ ॥ ८९ ॥

यां शिष्योद्धुतकीर्त्तिकीर्त्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तावद्य समास एष विवृतः सम्पूर्णतामाश्रयत् ॥ १ ॥ २१



१ 'वा ह्वलादेः' इति णः । कृकं लासयतीति ये व्युत्पादयन्ति तन्मते दन्त्यसकारः । २ मुहुरियर्त्तिस 'गत्यर्थ०' इति क्तः प्रत्ययः । ३ आरात् वध्यते 'स्यादिभ्यः कः' तस्य गः । ४ अश्व इव तिष्ठतीति मन् । ५ निलीयतेऽस्या अनट् । ६ स प्रसिद्धोऽर्थस्तदर्थः शब्दलक्षणस्तस्यातिशयो माधुर्यादिस्तेन योगः यथा मयूर इति । अत्र हि रौतेरवर्णार्थस्यातिशयेन योगः ।


ऐँ नमः

अथ तद्धिता निरूप्यन्ते

प्रणम्य परमब्रह्मस्वरूपं ज्योतिरान्तरम् ।
स्वोपज्ञप्रक्रियावृत्तौ तद्धिते किञ्चिदुच्यते ॥ १ ॥

अथ–क्रमप्राप्तं तद्धितं निरूपयितुमाह ।

तद्धितोऽणादिः ॥ १ ॥ [सि० ६।१।१]

***वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तद्धितसंज्ञाः स्युः । "वाद्यात्" (६।१।११) "प्राग्जितादण्" (६।१।१३) [1]इत्याद्यधिकृतम् । उपगोरपत्यम् अनन्तरं वृद्धं चेति वाक्ये ॥ १ ॥**

"तद्धि०" । तस्मै लौकिकवैदिकशब्दसन्दर्भाय, ताभ्यः प्रकृतिवृत्तिभ्यो वा हितः । आद्यं मतं जैनेन्द्रस्य, द्वितीयमुत्पलस्य; "हितादिभिः" (३।१।७१) इति समासः । *वक्ष्यमाणाः प्रत्यया इत्यत्र अणादय इति शेषः । **"वाद्या०"** । वा इति आद्यादिति द्वयमधिकृतं ज्ञेयम् । तत्र वाऽधिकारात् (इत ऊर्द्ध्वं) वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विकल्प्यन्ते । तेन पक्षे वाक्यं समासश्च भवति । उपगोरपत्यमुपग्व-मिति–[1]उत्सर्गरूपस्तु तद्धितोऽपवादविषये "पीलासाल्वामण्डूकाद्वा" (६।१।६८) इत्यादौ वाग्रहणान्न भवति । आद्यादित्यधिकारात्सूत्रे यदादौ निर्दिष्टं तस्मात्प्रत्ययो भवति । तेन "सास्य०" (६।२।९८) इत्यधिकारे "देवता" (६।२।१०१) इत्यादौ सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थौ [2]व्यवस्थितो भवति । इन्द्रो देवताऽस्य ऐन्द्रो मत्र इति । **"प्राग्०"** । तद्धितचतुर्थपादस्यादौ **"तेनजितजयद्दीव्यत्खनत्सु"** (६।४।२) इति द्वितीयसूत्रे यज्जितशब्दसङ्कीर्त्तनं तस्मात्प्राक् सम्पूर्णं पादत्रयं यावद्येऽपत्यादयोऽर्था-स्तेष्वपवादविषयं विहायाण् अधिकृतो भवति । णकारो वृद्ध्यर्थः । [3]अधिकारः परिभाषाविधिर्वायमिति । [1]इत्यादिकरणाच्च **"धनादेः पत्युः"** (६।१।१४) धनादेर्गणात्परो यः पतिशब्दस्तदन्तात्प्राग्जितीये-ऽर्थेऽण्प्रत्ययो वा भवति । धनपतेरपत्यं तत्र भवस्तत आगतो वा धानपतः । आश्वपतः । राष्ट्रपते-रिदं राष्ट्रपतम् ।, धन अश्व, गज, शत, गण, कुल, गृह, पशु, धर्म, धन्वन्, सेना, सभा, क्षेत्र, (अति ?) अधि, राष्ट्र, धान्य, प्राण इति सप्तदशको धनादिः । केचिद् गृहसेनाशब्दौ न पठन्ति । तन्मते गार्हपत्यं सैनापत्यमित्युत्तरेण ञ्य एव । पत्युत्तरपदलक्षणस्य ञ्यस्य, राष्ट्रादित्रये "दोरीयः" (६।३।३२) इति ईयस्य चापवादोऽयम् ॥ **"अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्यु-त्तरपदाञ्ञ्यः"** (६।१।१५) । दिति–अदिति–आदित्य–यमशब्देभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्जितीये-ऽर्थे इदमर्थवर्जितेऽपत्यादावर्थे योऽणोऽपवादः प्रत्ययस्तद्विषये च ञ्यः स्यात् । दितेरपत्यं दितिर्देवतास्य वा दैत्यः । एवं अदितेरादित्यः । आदित्यस्य आदित्यः । यमस्य याम्यः । पत्युत्तरपद. बृहस्पतेर-पत्यं बृहस्पतिर्देवतास्य वा बार्हस्पत्यः । एवं प्राजापत्यः । अणपवादे च यमस्यापत्यं याम्यः–अत्र पर-त्वात् "अत इञ्" (६।१।३१) स्यात् । वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम्–अत्राचित्तलक्षण इकण् स्यात् । **ननु** ञ्योऽप्यणपवाद इञादयोऽपि, तत्र यदीञादयो बाधन्ते तदा ञ्योऽनवकाशः स्यादितीञा-

---

१ नन्वत्र यथा वक्ष्यमाणतद्धितप्रत्ययानां विकल्पनात्पक्षे वाक्यसमासौ दर्श्येते, तथा कथमपवादप्रत्ययानां विकल्पने पक्षे नोत्सर्गप्रत्यय इत्याह–उत्स० । २ आद्यादिति विना तु अस्येति प्रकृतिर्देवतार्थे इत्यपि स्यात् । ३ ननु कोऽत्र परिभाषाधिकार-योर्भेदः, उच्यते, परिभाषा हि एकदेशस्थैव सकलं शास्त्रमभिज्वलन्ती व्यवहितेऽपि अनन्तरोत्तरादौ प्रवर्तमाना न प्रतिहत-शक्तिर्भवति, अधिकारस्तु नदीस्रोतोरूपतया अनन्तर एव प्रवर्त्तते न व्यवहिते, विधिरपि युज्यते एव यतः प्राग्जितायेऽर्थाः तेषामिह बुद्ध्या सङ्कलय्य निर्देशात्, तेनानेनैव सर्वेष्वर्थेष्वण् विधीयते, अतः पक्षत्रयेऽप्यदोष इति ।

दीन् ञ्यो बाधिष्यते, किमणपवादग्रहणेनेत्यत्रोच्यते । अत्र प्रागूजितीयस्याणोऽन्योऽपवादो नास्ति । दित्यदित्यादौ, तत्र ञ्यः सावकाश इति । याम्यवानस्येत्यादावुभयप्राप्तौ परत्वादिञादिरेव स्यात् । अणपवादे चेति वचनात्तुल्य एव स्यादिति । अण्ग्रहणं किम्? असत्यण्ग्रहणे केवलमपवादे चेत्युक्ते स्वापवादविषयेऽपि स्वसमावेशः स्यात्तथा च, वास्तोष्पतिर्देवतास्या इति वाक्ये "देवता" (६।२।१०१) इत्यणपवादोऽनेन ञ्यः प्राप्तस्तदपवादो "द्यावापृथिवी०" (६।२।१०८) इति यस्तस्याप्यपवादोयं पत्युत्तरपदलक्षणो ञ्यः स्यात्ततश्च "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतुः०" (३।२।५५) इत्यादिना पुंवद्भावनिषेधाद्वास्तोष्पत्या भार्य इति स्यात् । अण्ग्रहणे तु अणपवादे एव ञ्यस्य प्राप्तिर्न तु ञ्यस्यापवादेऽपीति । "द्यावापृथिवी०" इति ये सति वास्तोष्पत्याभार्य इति स्यादिष्टं चैतदिति । अनिदमीति किम्? अदितेरपत्यमादित्यस्तस्येदमादितीयम् । "तद्धितयस्वर०" (२।४।९२) इति यलुप् । अत्र इदमर्थे अणपवादे "दोरीय" (६।३।३२) एव न तुल्यः । ञ्य इत्यत्र अकारस्य वृद्धिः । "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति च प्रयोजनम् । तच्चैवम्–यमस्य वृद्धमपत्यं याम्यस्तस्य युवापत्यं 'अत इञ्' तस्य "ञिदार्षादणिञोः" इति लोपे याम्यः पिता पुत्रश्चेति । **"बहिषष्टीकण् च"** (६।१।१६) । बहिष्शब्दात् प्रागूजितीयेऽर्थे टीकण् ञ्यश्च स्यात् । बहिर्जातो बाहीकः बाह्यः, "प्रायोऽव्ययस्य" (७।४।६५) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः, टकारो ङ्यर्थः, बाहीकी । बाहीक इति जातेऽर्थे, भवे तु "यञ्जे ञ्यः" (६।३।१३४) इत्यधिकारे "गम्भीरपञ्चजन०" (६।३।१३५) इति ञ्य एव स्यान्न टीकण् । ञ्योऽप्यत्र जात एव, भवे तु सिद्ध एव । **"कल्यग्नेरेयण्"** (६।१।१७) । आभ्यामेयण् स्यात् । इतः सूत्रादारभ्य **"देवाद्यञ् च"** (६।१।२१) इति सूत्रान्तषट्सूत्र्यां प्रागूजितीयेऽर्थेऽनिदम्यणपवादे चेति द्वयमनुवर्त्तनीयम् । कलिर्देवतास्य, कलौ भवं, कलिना दृष्टं साम, कलेरिदं कालेयम्, एवमाग्नेयम् । अणपवादे च. कलेरागतं कालेयमाग्नेयमत्र "नृहेतुभ्यो रूप्यमयटौ वा" (६।३।१५६) इति रूप्यमयटौ स्याताम् । अन्ये तु जितार्थात्परेष्वपि प्राग्वतीयेष्वर्थेषु एयणमिच्छन्ति । कलये हितं कालेयम्, आग्नेयम् । कलेर्निमित्तमुत्पातः संयोगो वा कालेयः, आग्नेयः । **"पृथिव्या ञाञ्"** (६।१।१८) । पृथिव्यां भवः पार्थिवः ञाञोः स्त्रियां विशेषः । पार्थिवा पार्थिवी । अणपवादे च. पृथिव्या अपत्यं पार्थिवः । अत्र एयण् स्यात् । ङी-बहुषु लुप्, सङ्घादिष्वणिति प्रयोजनमञ्विधानस्य । **"उत्सादेरञ्"** (६।१।१९) उत्सस्येदमौत्समौदपानम् । अणपवादे च. उत्सस्यापत्यमौत्सः, औदपानः । अत्रात इञ् प्राप्नोति, उत्सो निर्झरः । "उत्सः स्रवः प्रस्रवणमिति वचनात्" । तस्यापत्यं तु गाङ्गेयादिवत् । तरुण्या अपत्यं तारुणः, तालुनः । अत्र "ङ्याप्त्यूङः" (६।१।७०) इत्येयण् प्राप्नोति । पञ्चालेषु भवः पाञ्चालः– अत्र "ईतोऽकञ्" (६।३।४१) इत्यधिकारे "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञ् प्राप्नोति । कुरोरपत्यं कौरव्य इति ञ्यविधौ कुरुशब्दोपादानस्यानवकाशत्वाद्भवति । राष्ट्रक्षत्रियवाचकस्य दुनादीत्यादिना ब्राह्मणवाचकस्य तु "कुर्वादेर्ञ्यः" (६।१।१००) इति ञ्यः । कौरव इति त्वपत्यस्यापीदमर्थविवक्षायां भवति । उत्तरत्र बष्कयशब्दस्य समासे प्रतिषेधादुत्साद्यन्तस्यापीह प्रत्ययः । तेन गोधेनुभ्यां आगतं गौधेनवम्, "जङ्गलधेनु०" (७।४।२४) इति वोत्तरपदवृद्धिः, अन्यथा रूप्यमयटौ स्याताम् । उत्स,

१ पार्थिवेति जातिलेऽप्यजादित्वादाप्, यद्वा प्रत्ययद्वयविधानस्य व्याप्तिपुरःसरत्वेन व्याख्यानादाबित्यनेनैवाप् न तु जातिद्वारा ङीः ।—बहुषु लुबिति । पृथिव्या अपत्यानि, अनेनाञ् वा यञञः—इति लुप् 'ङ्याादेः'—इति ङीनिवृत्तिर्न गौरादौ पृथिवीति पाठात् । "गोश्वान्तः"—ह्रस्वत्वे जसि पृथिवयः । संघादिष्विति । पृथिव्या अपत्यानि अञो लुपि पृथिवीनां सङ्घादीति विवक्षायां 'गोत्राददण्ड'—इत्यकञ्विषये 'न प्राग्जितीये'–इति अञो लुबभावे अकञ्बाधके 'सङ्घघोषाङ्क'—इत्यणि पार्थिवः ।

उदपान, विकर, विनद, महानद, महानस, महाप्राण, महाप्रयाण, तरुण, तलुन, धेनु, पङ्क्ति, जगती, बृहती, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ्, जनपद, भरत, उशीनर, ग्रीष्म, अच्छन्दसि, पीलुकुण, उदस्थान, देशे, वृषद्, अंशे, वृषदंश इत्यन्ये । अच्छन्दसीत्यादयोऽर्थविशेषनिर्देशार्थाः सप्तम्यन्ताः । भल्लकीय, रथन्तर, मध्यन्दिन, बृहत्, महिमन्, मिहदित्यपि केचित्, सत्वच्छदी मत्वन्तः । सत्वतोऽपत्यं तत्र भवो वा सात्वतः । अन्ये तु नागममिच्छन्ति सात्वन्तः । कुरु, पञ्चाल, इन्द्रावसान, उष्णिह्, ककुभ् अकारान्तावेतावित्यन्ये । सुवर्ण, हंसपथ, वर्द्धमान, इत्युत्सादिः एकचत्वारिंशत्परिमाणः । **"बष्कयादसमासे"** (६।१।२०)। बष्कते गोर्दूरं "गयहृदयादयः" (उ० ३७०) बष्कतेऽल्पक्षीरतां अच् पृषोदरादित्वात् षत्वम् । "आतो डो०" (५।१।७६) इति डे "ङ्यापो बहुलं नाम्नि" (२।४।९९) इति ह्रस्वे बष्कयस्तस्यापत्यं बाष्कयः । समासे तु इञेव. सुबाष्कयिः । **"देवाद्यञ् च"** (६।१।२१) चकारादञपि । देवस्येदं देवादागतं वा दैव्यम् दैवम् । यञन्तादञन्ताच्च ङ्यां दैवी वाक् । "यञो डायन् च वा" (२।४।६७) इति डायनि दैव्यायनीत्यपि । केचित्तु ञप्रत्ययमिच्छन्ति, तन्मते दैव्या । **"अः स्थाम्नः"** (६।१।२२) स्थामन्शब्दात् प्रागूजितीयेऽर्थे अः प्रत्ययः स्यात् । अश्व इव तिष्ठति "मन्वन्क्वनिप्०" (५।१।१४७) पृषोदरादित्वात्सस्य तः इष्टिवशात्तदन्तविधिः । अश्वस्येव स्थाम यस्येति बहुव्रीहिरिति केचित् । अश्वत्थाम्नोऽपत्यं आश्वत्थामः "नोऽपदस्य तद्धिते" (७।४।६१) इत्यन्तस्वरादिलुक् । **"लोम्नोऽपत्येषु"** (६।१।२३)। अः स्यात् । उडुलोम्नोऽपत्यानि उडुलोमाः । उडुलोमैः । अपत्येष्विति बहुवचनादेकस्मिन्नपत्ये द्वयोश्च बह्वादित्वादिञेव—औडुलोमिना । **"द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः"** (६।१।२४)। अपत्यार्थं विनान्यस्मिन् प्रागूजितीयेऽर्थे उत्पन्नस्य द्विगोः परस्य यकारादेः स्वरादेश्च प्रत्ययस्य लुब्भवति, न तु द्विः । द्वयो रथयोर्द्विरथ्या वायं वोढा द्विरथः "रथात्सादेश्च वोढ्रङ्गे" (६।३।१७५) इति यः, तस्य लुप् । पञ्चसु कपालेषु पञ्चकपाल्यां वा संस्कृतः पञ्चकपालः । पञ्चेन्द्राण्यः पञ्चेन्द्राणि वा देवताऽस्य पञ्चेन्द्रः । चतुरोनुयोगान् चतुरनुयोगं वाऽधीते चतुरनुयोगः । एवं त्रिवेदः; एष्वणो लुप् । द्विगोरिति किम् ? पौर्वशालः—पूर्वा चासौ शाला च । तत्र "भवे" (६।३।१२३) ऽण् । यदा तु पूर्वस्यां शालायां भवः, तदा "दिक्पूर्वादनाम्नः" (६।३।२३) इति णः । "दिगधिकम्०" (३।१।९८) इति समासश्च । त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या तामधीते त्रैविद्यः, नायं द्विगुरिति । अनपत्य इति किम् ? द्वैमातुरः । पाञ्चनापितिः । यस्वरादेरिति किम् ? पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गमयम् । अद्विरिति किम् ? पञ्चसु कपालेषु संस्कृतं पञ्चकपालं, तस्येदं पाञ्चकपालम् । एवं त्रैवेदम् । प्राग्जितादित्येव—द्वौ रथौ वहति द्विरथ्यः । "वहति०" (७।१।२) इत्यादिना यः, तस्य लुब् न भवति ॥ **"प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्स्नञ्"** (६।१।२५)। प्राग्वतो येऽर्थास्तेष्वनिदम्यणपवादे च स्त्रीशब्दात् पुंसशब्दाच्च यथासङ्ख्यं नञ्स्नञ्प्रत्ययौ भवतः । स्त्रिया अपत्यं स्त्रीणां समूहः स्त्रीषु भवं स्त्रैणम् । एवं पौंस्नम् । स्त्रीणामियं स्त्रैणी एवं पौंस्नी । स्त्रीणां निमित्तं संयोग उत्पातो वा स्त्रैणः । पौंस्नः । स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम् । पौंस्नम् । प्राग्वत इति किम् ? स्त्रिया अर्हं कृत्यं स्त्रिया तुल्यं वर्त्तत इति वा स्त्रीवत् । ञकारो ञित्कार्यार्थः ॥ **"त्वे वा"** (६।१।२६)। त्वे विषये भावे इति यावत् एतौ नञ्स्नञौ वा स्याताम् । स्त्रिया भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता । पुनर्वाग्रहणं प्रत्ययविकल्पार्थम् ॥ **"गोः स्वरे यः"** (६।१।२७)। गोशब्दात् स्वरादितद्धितप्रसङ्गे यः प्रत्ययो भवति । गोरपत्यं गवि भवं गोरिदं गव्यम् । गौर्देवताऽस्य, गवा चरति, गव्यः । स्वर इति किम् ? गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यम् । गोमयम् ॥ **"गोत्रोत्तरपदाद्गोत्रादिवाऽजिह्वाकात्यहरितकात्यात्"** (६।१।१२)। गोत्रमपत्यम् । गोत्रप्रत्ययान्तमुत्तरपदं यस्य तस्मात्समुदायात् गोत्रप्रत्ययान्तं यदुत्तरपदं तस्मादिव वक्ष्यमाणः प्रत्ययो

भवति, जिह्वाकात्यहरितकात्यौ वर्जयित्वेति । यथेह ईयो भवति—चारायणीयाः, पाणिनीयाः, जैमिनीयाः, रौढीयाः; तथा कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, कडारजैमिनीयाः, घृतरौढीया इत्यादावपि भवति ॥ यथा वेहाञ् भवति—शाकलाः, काण्वाः, दाक्षाः, पान्नागाराः; तथा त्रैहिशालाः, पैङ्गलकाण्वाः, कापिलदाक्षाः, क्षैरपान्नागाराः, इत्यत्रापि भवति । अजिह्वाकात्यहरितकात्यादिति किम्? यथेह ईयो भवति, कात्यस्य छात्राः कातीयाः, तथा इह न भवति—जिह्वाचपलः कात्यो जिह्वाकात्यस्तस्येमे छात्रा जैह्वाकात्याः । हारितकात्याः ॥ १ ॥

उपगोरपत्यम् अनन्तरं वृद्धं चेति वाक्ये ।

उपगोरपत्यमित्यादि, अत्र सूत्रम् ।

ङसोऽपत्ये ॥ २ ॥ [सि० ६।१।२८]

षष्ठ्यन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे *यथाभिहितमणादयः स्युः ॥ २ ॥

"ङसो०" ङस्ग्रहणस्य षष्ठ्युपलक्षणत्वात्षष्ठी लभ्यते । *यथाभिहितमिति—उपगोरपत्यं औपगवः । धानपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः । अपत्य इत्यपत्यमात्रं विवक्षितं, न लिङ्गसङ्ख्यादि; तेन द्वयोर्बहुषु स्त्रीलिङ्गादौ च भवति । औपगवौ । औपगवाः । औपगवीत्यादि । ङस इति किम्? देवदत्तेऽपत्यम् । अपत्ये इति किम्? भानोरयं भानवीयः 'तस्येदम्' (६।३।१६०) इत्येवाणादिसिद्धावपत्यविवक्षायां तदपवादबाधनार्थं वचनम् । तेन भानोरपत्यं भानवः अत्र "दोरीयः" (६।३।३२) इतीयो न भवति । कम्बल उपगोरपत्यं दत्तस्येत्यत्र तु असामर्थ्यान्न भवति ॥ २ ॥

आद्यात् ॥ ३ ॥ [सि० ६।१।२९]

अपत्यार्थप्रत्यया आद्यात्परमप्रकृतेरेव स्युः । "ऐकार्थ्ये०" (३।२।८) इति विभक्तिलुपि उपगु अण् इति स्थिते, णकारो वृद्ध्यर्थः ॥ ३ ॥

"आद्या०" परमप्रकृतेरेवेति—पौत्राद्यपत्यं सर्वं पूर्वजानामापरमप्रकृतेः पारम्पर्येण सम्बन्धादपत्यं भवति । तत्र तैस्तैः सम्बन्धविवक्षायामनन्तरवृद्धयुवभ्योऽपि प्रत्ययः प्राप्नोतीति नियमार्थमारम्भः । उपगोरपत्यमनन्तरं वृद्धं वा औपगवः, तस्याप्यौपगवः, औपगवेरप्यौपगवः; गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः, गार्गेरपि गार्ग्यः । गार्ग्यस्यापि गार्ग्यः, गार्ग्यायणस्यापि गार्ग्यः । अनन्तरादयोऽपि परमप्रकृतिरूपेणैवापत्ये प्रत्ययमुत्पादयन्ति ॥ ३ ॥

वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते ॥ ४ ॥ [सि० ७।४।१]

ञिति णिति च तद्धिते परे प्रकृतेराद्यस्वरस्य वृद्धिः स्यात् । औपगवः ॥ ४ ॥

"वृद्धिः०" स्वरेष्विति व्यञ्जनापेक्षाव्युदासार्थम् । तेन स्वरापेक्षया य आदिस्वरस्तस्य वृद्धिर्भवतीति । अत्रायं विशेषः—**"केकयमित्रयुप्रलयस्य यादेरियू च"** (७।४।२) एषां त्रयाणामादिस्वरस्य वृद्धिर्यादेश्च शब्दरूपस्य इयादेशो भवति । केकयस्यापत्यं कैकेयः । "राष्ट्रक्षत्रियात्०" (६।१।११४) इत्यञ् । मित्रं यातीति "पीमूगमित्र०" (उणा० ७४१) इति सूत्रेण किदुप्रत्यये मित्रयुर्मित्रवत्सलः । मित्रयोर्भावः मैत्रेयिकया श्लाघते "गोत्रचरण०" (७।१।७५) इत्यादिनाकञ् ।

---

१ तस्य तस्येदमित्यणोऽपवादो यो दोरीय इत्यादिस्तस्य बाधनार्थमन्यथा दुसंज्ञकादपत्यविवक्षायामपि ईय एव स्यात् ।

२ अयमर्थः—उपगोरित्यस्य कम्बलेन सम्बन्धित्वान्न तत्सम्बन्धित्वेनापत्यं वक्तुमण्प्रत्ययः समर्थः ।

प्रलयादागतं प्रालेयं हिमम् । "तत आगते" (६।३।१४९) इत्यण् । **"देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसस्तत्प्राप्तावाः"** (७।४।३) एषां चतुर्णामादिस्वरस्य वृद्धिप्रसङ्गे आकार आदेशो भवति । देविकायां भवं दाविकमुदकम् । देविकाकूले भवा दाविकाकूलाः शालयः । पूर्वदेविका नाम प्राच्यग्रामस्तत्र भवः पूर्वदाविकः; अत्र "प्राग्ग्रामाणाम्" (७।४।१७) इत्युत्तरपदवृद्धिप्राप्तिः ॥ शिंशपाया विकारः शांशपः स्तम्भः । शिंशपास्थले भवाः शांशपास्थलाः शालयः । पूर्वशिंशपा नाम प्राच्यग्रामस्तत्र भवः पूर्वशांशपः ॥ दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम् ॥ श्रेयोऽधिकृत्य कृतं श्रायसं द्वादशाङ्गम् ॥ तत्प्राप्ताविति किमर्थम् ? सुदेविकायां भवः सौदेविक इत्यत्र निषेधार्थम्, पूर्वोत्तरपदानामपि यथा स्यादित्येवमर्थं च, अन्यथा हि केवलानामेव स्यात् ॥ **"वहीनरस्यैत्"** (७।४।४) अस्य ञ्णिति तद्धिते परे आदिस्वरस्य ऐः स्यात् । वहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः । वहीनरस्येदं वैहीनरम् । विहीनरस्य वृद्ध्या सिद्ध्यति, वहीनरस्य वाहीनरिर्मा भूदिति वचनम् । **"प्रोष्ठभद्राज्जाते"** (७।४।१३) पदस्येति अनुवर्त्तते । आभ्यां परस्य पदशब्दस्य आदिस्वरस्य जातार्थे विहिते ञ्णिति तद्धिते परे वृद्धिः स्यात् । प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादः, भद्रपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रौष्ठपदो मेघः । ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक इति "सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके" (५।४।३०) इति निपातनात् । गुरुलाघवमिति गुरोर्लाघवम् गुरुश्च गुरुत्वं लाघवं चेति वा । संहतपाराार्थ्यमिति, संहते पारार्थ्यमिति सिद्धमतो नार्थ उत्तरपदवृद्ध्येति । **"अंशादृतोः"** (७।४।१४)। अंशवाचिनः शब्दात्परस्य ऋतुवाचिन उत्तरपदस्यादिस्वरस्य ञ्णिति तद्धिते वृद्धिः स्यात् । पूर्वासु वर्षासु भवः पूर्ववार्षिकः "वर्षाकालेभ्य" (६।३।८०) इतीकण् । पूर्वशारदः, अपरनैदाघः, पूर्वहैमनः; ऋत्वण् । अंशादिति किम् ? पूर्वासु ऋत्वन्तरैर्व्यवहितासु वर्षासु भवः पौर्ववर्षिकः । **"सुसर्वार्द्धाद्राष्ट्रस्य"** (७।४।१५)। उत्तरपदस्यादिस्वरवृद्धिः, ञ्णिति । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । सुमागधकः । सर्वमागधकः । "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञ् । **"अमद्रस्य दिशः"** (७।४।१६)। दिग्वाचिनः परस्य राष्ट्रवाचिशब्दस्य मद्रशब्दवर्जितस्य उत्तरपदस्यादिस्वरवृद्धिः, ञ्णिति तद्धिते । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । अमद्रस्येति किम् ? पौर्वमद्रः । दिश इति किम् ? पूर्वं पञ्चालानां पूर्वपञ्चालाः, अंशिसमासः; तेषु भवः पौर्वपञ्चालकः । अवयववृत्तेरपि पूर्वशब्दस्य दिशि दृष्टत्वेन दिक्शब्दत्वात्तदन्तविधौ सति "बहुविषयेभ्यः" इत्यकञ् । ये एकत्वस्य दिक्शब्दत्वं नेच्छन्ति, तन्मते तदन्तविध्यभावेऽणेव—पौर्वपञ्चालः । **"प्राग्ग्रामाणाम्"** (७।४।१७)। प्राग्देशग्रामवाचिनां योऽवयवो दिग्वाची ततः परस्यावयवस्य दिशः परेषां च प्राग्ग्रामवाचिनां ञ्णिति तद्धिते परे आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात् । पूर्वकृष्णमृत्तिका नाम प्राक्षु ग्रामस्तत्र भवः पूर्वकार्ष्णमृत्तिकः । एवमपरकार्ष्णमृत्तिकः । पूर्वेषु कामशमी नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः पूर्वेषुकामशमः । एवमपरेषुकामशमः । बहुवचनात् ग्रामग्रहणेन नगरमपि गृह्यते । पूर्वस्मिन् कन्यकुब्जे भवः पूर्वकान्यकुब्जः । अपरकान्यकुब्जः । एवं पूर्वपाटलिपुत्रकः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तं नाम वाहीकग्रामः, पूर्वस्मिन् देवदत्ते भवः पौर्वदेवदत्तः । आपरदेवदत्तः । **"सङ्ख्याधिकाभ्यां वर्षस्याऽभाविनि"** (७।४।१८)। सङ्ख्यावाचिनोऽधिकशब्दाच्च परस्य वर्षशब्दस्य ञ्णिति तद्धिते आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात्, न चेत्स तद्धितो भावीत्यर्थे विहितः स्यात् । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निवृत्तो भूतोऽधीष्टो, द्वे वर्षे भूतो वा द्विवार्षिकः । त्रिवार्षिकः । अधिकवार्षिकः । अभाविनीति किम् ? द्वे वर्षे भावि द्वैवर्षिकं त्रैवर्षिकं धान्यम् । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भृतोऽधीष्टो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति । अधीष्टभृतयोः प्रत्ययो न भाविनीति निषेधो न भवति । गम्यते ह्यत्र भविष्यत्ता न तु प्रत्ययार्थः । **"मानसंवत्सरस्याऽशाणकुलिजस्याऽनाम्नि"** (७।४।१९)। मीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानं

परिमाणादि । सङ्ख्याया अधिकशब्दाच्च परस्य शाणकुलिजवर्जितस्य मानवाचिनः संवत्सरशब्दस्य च ञिणति तद्धिते आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात्, अनाम्नि असंज्ञिविषये । सङ्ख्याधिकाभ्यां मानसंवत्सरस्य वचनभेदान्न यथासङ्ख्यम् । द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य द्विकौडविकः । अधिककौडविकः । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसौवर्णिकं, त्रिसौवर्णिकं, अधिकसौवर्णिकम् । द्वाभ्यां षष्टिभ्यां निवृत्तो द्वाभ्यां षष्टिभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्वेषष्टीभूतो भावी वा द्विषाष्टिकः । त्रिषाष्टिकः । द्विसाप्ततिकः । त्रिसाप्ततिकः । अधिकसाप्ततिकः । द्विषष्ट्यादिशब्दाः सङ्ख्येये काले वर्त्तन्ते इति कालाधिकारविहितं प्रत्ययमुत्पादयन्ति । द्वाभ्यां नवतिभ्यां क्रीतमिति "मूल्यैः क्रीते" (६।४।१५०) इति इकण् तस्य "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इति लुपि द्विनवति द्रव्यम्, तेन द्वौ च नवतिश्च द्विनवतिस्तया वा क्रीतं द्विनावतिकं त्रिनावतिकं संवत्सरः । द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां निर्वृत्तो भृतोऽधीष्टो वा, द्वौ संवत्सरौ, भूतो भावी वा द्विसांवत्सरिकः । त्रिसांवत्सरिकः । संवत्सरग्रहणात्कालो मानग्रहणेन न गृह्यते । तेन द्वैसमिकः । त्रैसमिकः । द्वैराशिकः । त्रैराशिकः । अशाणकुलिजस्येति किम्? द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । द्वे कुलिजे पचति सम्भवत्यवहरति च द्वैकुलिजिकः । त्रैकुलिजिकः । अनाम्नीति किम्? पञ्चलोहिन्यः परिमाणमस्य पाञ्चलोहितिकम् । पाञ्चकलायिकम् । तद्धितान्तमिदं परिमाणविशेषस्य नाम । **"अर्द्धात्परिमाणस्याऽनतो वा त्वादेः"** (७।४।२०) । अर्द्धशब्दात्परस्य परिमाणवाचिनः कुडवादेः शब्दरूपस्य ञिणति तद्धिते आदेः स्वरस्यानतोऽकाररहितस्य वृद्धिः स्यात् । परिमाणात्पूर्वस्य त्वर्द्धशब्दस्य वा भवति । अर्द्धकुडवेन क्रीतं अर्द्धकौडविकम्, आर्द्धकौडविकम् । अर्द्धमौष्टिकम्, आर्द्धमौष्टिकम् । अर्द्धद्रौणिकम् आर्द्धद्रौणिकम् । परिमाणस्येति किम्? अर्द्धकोशः प्रयोजनमस्य आर्द्धकौशिकम् । अनत इति किम्? अर्द्धप्रस्थिकम्, आर्द्धप्रस्थिकम् । अर्द्धकंसिकम् आर्द्धकंसिकम् । अर्द्धचमसिकम्, आर्द्धचमसिकम् । आदिविकल्प उत्तरपदवृद्ध्यनपेक्ष इति भवत्येव । अतः प्रतिषेधादाकारस्य वृद्धिर्भवत्येव । अर्द्धखार्यां भवः अर्द्धखारी । कः पुनरत्र विशेषः सत्यां असत्यां वा वृद्धौ? उच्यते—अर्द्धखारी भार्या यस्य अर्द्धखारीभार्य इति । यद्यत्र वृद्धिप्रतिषेधः स्यादयं तद्धितो न वृद्धिहेतुरिति पुंवद्भावप्रतिषेधो न स्याद्यथा अर्द्धप्रस्थे भवा अर्द्धप्रस्थी । सा भार्या अस्य अर्द्धप्रस्थभार्य इति । **"प्राद्वाहणस्यैये"** (७।४।२१) । वा त्वादेरिति वर्त्तते । प्रशब्दात्परस्य वाहणशब्दस्य एये ञिणति तद्धिते परे आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात्, प्रशब्दस्य तु वा । प्रवाहयति प्रवाहणः, प्रवाहणस्यापत्यं प्रवाहणेयः प्रावाहणेयः "शुभ्रादित्वात्" (६।१।७३) एयण् । अत्राप्युत्तरवृद्धेः प्रागुक्तमेव प्रयोजनम् । तेन प्रवाहणेयीभार्य इति पुंवद्भावप्रतिषेधो भवति । **"एयस्य"** (७।४।२२) । एयप्रत्ययान्तावयवात्प्रशब्दात्परस्य वाहणस्य ञिणति तद्धिते आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात्, आदेस्तु प्रशब्दस्य वा । प्रवाहणेयस्यापत्यं युवा प्रवाहणेयिः, प्रावाहणेयिः । प्रवाहणेयस्येदं सङ्घादि तस्य भावो वा प्रवाहणेयकम्, प्रावाहणेयकम् । बाह्यतद्धितनिमित्ता वृद्धिरेयाश्रयेण विकल्पेनाशक्या बाधितुमिति सूत्रारम्भः । **"नञः क्षेत्रज्ञेश्वरकुशलचपलनिपुणशुचेः"** (७।४।२३) । नञः परेषां क्षेत्रज्ञादीनां षण्णां प्रकृत्यवयवानां ञिणति तद्धिते आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात् आदेस्तु नञो वा । अक्षेत्रज्ञस्येदं अक्षैत्रज्ञम्, आक्षैत्रज्ञम् । अक्षेत्रज्ञस्य भावः कर्म वा अक्षैत्रज्ञ्यम्, आक्षैत्रज्ञ्यम् । राजादित्वात् ट्यण् । एवमनैश्वरम्, आनैश्वरम् । अनैश्वर्यम्, आनैश्वर्यम् । अकुशलस्येदं अकौशलम्, आकौशलम् । एवमचापलमाचापलम् । अनैपुणमानैपुणम् । न शुचिरशुचिस्तस्येदं अशौचमाशौचम् । न विद्यते शुचिरस्येति वा अशुचिस्तस्य भावः कर्म वा अशौचमाशौचम् । क्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानां नञ्पूर्वाणामपि युवादिपाठादणमिच्छन्त्येके । आयथातथ्यमिति समासात्प्रत्ययः । अयाथातथ्यमिति प्रत्यया-

न्तेन समासः । एवमायथापुर्यमयाथापुर्यम् । यथा आचतुर्यमचातुर्यमिति । यथातथा यथापुरा इत्यखण्डमव्ययं वा "नाम नाम्ना०" (३।१।१६) इति वा समासो "यथाऽथा" (३।१।४१) इत्यव्ययीभावो वा अकारान्तः । **"जङ्गलधेनुवलजस्योत्तरपदस्य तु वा"** (७।४।२४) । एतदुत्तरपदानां शब्दानां पूर्वपदस्य ञ्णिति तद्धिते आदिस्वरस्य नित्यं वृद्धिः स्यादुत्तरपदस्य त्वादिस्वरस्य वृद्धिर्वा स्यात् । कुरुजङ्गलेषु भवः कौरुजङ्गलः, कौरुजाङ्गलः । वैश्वधेनवः, वैश्वधैनवः । सौवर्णवलजः, सौवर्णवालजः । **"सारवैक्ष्वाकमैत्रेयभ्रौणहत्यधैवत्यहिरण्मयम्"** (७।४।३०) । एतेऽणादिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । सरय्वां भवं सारवमुदकम् । सरयूशब्दस्याण्प्रत्ययेऽयित्यस्य लोपः । इक्ष्वाकोरपत्यमैक्ष्वाकः राष्ट्रक्षत्रिया(६।१।११४)दिनाञ् इक्ष्वाकोरिदं ऐक्ष्वाकम् । इक्ष्वाकुशब्दस्य अञि अणि च उकारलोपः । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः—मित्रयुशब्दस्य गृष्ट्यादित्वात् (६।१।८४) एयञि युलोपः । भ्रूणघ्नो भावः कर्म वा भ्रौणहत्यम् । धीघ्नो भावः कर्म वा धैवत्यम् । अत्र ट्यणि नकारस्य तकारः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । अत्र मयटि यशब्दलोपः । *औपगव इति—एवं कापटवः । बाभ्रव्यः । माण्डव्यः । शाङ्कं व्यन्दारुपिचव्यः कर्पासः । बाहविः । औपविन्दविः । अपदस्येति किम् ? पटुतरः । इति **वृद्धिप्रकरणम्** ॥ ४ ॥ **अथ कार्यशेषमाह ।**

अस्वयम्भुवोऽव् ॥ ५ ॥ [सि० ७।४।७०]

स्वयम्भूवर्जोवर्णस्यापदस्य तद्धिते परेऽव् स्यात् । औपगवः । अस्वयम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुवः ॥ ५ ॥

"अस्वयं०" । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ५ ॥

अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम् ॥ ६ ॥ [सि० २।४।२०]

एतदन्तानां स्त्रियां ङीः स्यात् । औपगवी । "नोऽपदस्य तद्धिते" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलुकि, मैधावः ॥ ६ ॥

"अण्०" अण् च अञ् च एयश्च इकण् च नञ् च स्नञ् च टित् च तेषाम्, एतदन्तानामिति—अणादिप्रत्ययानां योऽकारस्तदन्तान्नाम्नः प्रत्यासत्तेस्तेषामेव चाणादीनां वाच्यायां स्त्रियां वर्त्तमानाद् ङीः स्यात् । औपगवीति—एवं तपोऽस्या अस्तीति तापसी । कुम्भकारी । काण्डलावी याति "कर्मणोऽण्" (५।१।७२) इति क्रियायां क्रियार्थायाम**ण् । अञ्**—उत्सस्यापत्यं औत्सी[1] । बिदस्यापत्यं पौत्री बैदी । **एय** इति निरनुबन्धनिर्देशः सामान्यग्रहणार्थस्तेन एयण्—एयच्—एयञां ग्रहणम् । एयण्—सुपर्ण्या अपत्यं सौपर्णेयी । वैनतेयी । एयच्—, शिलायास्तुल्या शिलेयी । एयञ्—शैलेयी । "शिलाया एयच्" (७।१।११३) इति । **इकण्**—अक्षैर्दीव्यति आक्षिकी । प्रस्थेन क्रीता प्रास्थिकी ॥ **नञ्**—स्त्रैणी ॥ **स्नञ्**—पौंस्नी ॥ **टित्**—जानुदघ्नी । जानुद्वयसी । पञ्चतयी । द्वयी । त्रयी । प्रत्ययसाहचर्यादागमटितो न भवति, पठिता विद्या, । शुनीन्धयीत्यादौ तु धातोष्टित्करणस्यानन्यार्थत्वादटितोऽपि भवति । अणादीनां षष्ठीनिर्देशेनाकारस्य विशेषणं किम् ? पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । "तदधीते" इत्यण् । तस्य "प्रोक्तात्" (६।२।१२९) इति लोपे पाणिनीया कन्येति ङीर्यथा मा भूत् । प्रत्यासत्त्या तैरेवाणादिभिः स्त्रिया विशेषणं किम् ? गौतमेन प्रोक्ता नीतिर्गौतमी । तामधीते इत्यण् । तस्य प्रोक्तादिति लोपे "ङ्यादेः०" (२।४।९५) इत्यादिना ङीलोपे ङीर्यथा न स्यात् । गौतमा कन्या । अस्व-

[1] अत्र 'उत्सादेरञ्' शेषेषु 'भवे' अण् ।

त्राणोऽकारो न तु तदभिधेया स्त्री प्रत्ययार्हा । यदभिधेया तु कन्यालक्षणा स्त्री प्रत्ययार्हा न तस्याकारोऽस्तीति । तथा बहुकुम्भकारा नगरी बहुकुरुचरा इत्यादि । मैधाव इति–मेधाविनोऽपत्यं मैधावः । एवं मायावः । औडुलोमिः । शारलोमिः । आग्निशर्मिः । द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः । हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । अपदस्येत्येव । मेधाविरूप्यम् । मेधाविमयम् ।

अत्र इत्यादिशब्दानुवृत्तेः **“कलापिकुथुमितैतलिजाजलिलाङ्गलिशिखण्डिशिलालिसब्रह्मचारिपीठसर्पिसूकरसद्मसुपर्वणः”** (७।४।६२) । एषामेकादशानां तद्धितेऽन्त्यस्वरादेर्लुक् स्यात् । अत्र ये इन्नन्तास्तेषामनपत्य इति, शिखण्डिपीठसर्पिणोरपत्येऽपि “संयोगादिनः” (७।४।५३) इति, सूकरसद्मसुपर्वणोस्तु “अणि” (७।४।५२) इति निषेधे प्राप्ते लुग्वचनम् । कलापिना प्रोक्तम् वेदमधीयत इति कालापाः । कौथुमाः । तैतली जाजली लाङ्गली चाचार्याः । तत्कृतो ग्रन्थोऽप्युपचारात्तच्छब्देनोच्यते । तमधीयते तैतलाः । जाजलाः । लाङ्गलाः । शिखण्डिन इमेऽपत्यानि वा शैखण्डाः । शिलालिनः शैलालाः । सब्रह्मचारिणः साब्रह्मचाराः । पीठसर्पिणः पैठसर्पाः । सूकरसद्मनः सौकरसद्माः । सुपर्वणः सौपर्वाः ॥ ६ ॥ **अत्रापवादमाह ।**

अणि ॥ ७ ॥ [सि० ७।४।५२]

अन्नन्तस्याण्यन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात् । सौत्वनः ॥ ७ ॥

“अणि०” सौत्वन इति–सुत्वनोऽपत्यं सौत्वनः । एवं याज्वनः । साम देवताऽस्य सामनः । वैमनः । सन्दिष्टं कर्म कार्मणम् । पर्वणि भवः पार्वणः । अणीति किम् ? कर्म शीलमस्य कार्मः । “अङ्गस्थाछत्रादेरञ्” (६।४।६०) । कर्मणे शक्तं कार्मुकम् । “योगकर्मभ्यां योकञौ” (६।४।९५) इत्युकञ् ।

इत्यादिशब्दोपादानाच्च **“दण्डिहस्तिनोरायने”** (७।४।४५) । अन्त्यस्वरादेर्लुक् न स्यात् । “नोऽपदस्य०” (७।४।६१) इति प्राप्तौ प्रतिषेधः । दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः । हास्तिनायनः । नडाद्या (६।१।५३) यनण् । आयन इति किम् ? दण्डिनां समूहो दाण्डम् । हास्तिकम् । **“वाशिन आयनौ”** (७।४।४६) । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः । “अवृद्धाद्दोर्नवा” (६।१।११०) इत्यायनिञ् । **“एये जिह्माशिनः”** (७।४।४७) । जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः । शुभ्रादित्वात् (६।१।७३) एयण् । **“इकण्यथर्वणः”** (७।४।४९) । अथर्वाणं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः । न्यायादित्वादिकण् । **“यूनोऽके”** (७।४।५०) । यूनो भावः यौवनिका । चौरादित्वात् (७।१।७३) अकञ् । अक इति किम् ? युवा प्रयोजनमस्य यौविकम् । **“संयोगादिनः”** (७।४।५३) । संयोगात्परो य इन् तदन्तस्याणि परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात् । शङ्खिनोऽपत्यं शाङ्खिनः । चाक्रिणः । वाज्रिणः । स्राग्विणः । माद्रिणः । भाद्रिणः । संयोगादिति किम् ? मैधावः । अणीत्येव–प्राकारमर्दिनोऽपत्यं प्राकारमर्दिः बाह्वादित्वात् (६।१।३२) अकञ् । “अनपत्ये” इत्युत्तरेण सिद्धत्वादपत्यार्थोऽयमारम्भः ।

“गाथिविदथिकेशिपणिगणिनः” (७।४।५४) । तथा । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । पाणिनः । गाणिनः । **“अनपत्ये”** (७।४।५५) । इन्नन्तस्यापत्यं विनान्यस्मिन्नर्थे योऽण् तस्मिन् परेऽन्त्यस्वादेर्लुक् न स्यात् । साङ्कूटिनं वर्त्तते साङ्कौटिनम् । सांराविणम् । सांमार्जिनम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् भिक्षादित्वात् (६।२।१०) अण् । गुणिन इदं गौणिनम् । स्रग्विण इदं स्राग्विणम् । अनपत्य इति किम् ? मैधावः । अणीत्येव । गर्भिणां समूहो गार्भम् । दण्डिनां दाण्डम् । चक्रिणां चाक्रम् । “श्वादिभ्योऽञ्” (६।२।२६) इत्यञ् । **“उक्ष्णो लुक्”** (७।४।५६) । अनपत्येऽणि परे । उक्ष्ण इदं औक्षं पदम् । अनपत्ये इत्येव । ऊक्ष्णोऽपत्यमौक्ष्णः । **“ब्रह्मणः”** (७।४।५७) ।

अनपत्येऽणि अन्त्यस्वरादेर्लुक् स्यात् । ब्रह्मण इदं ब्राह्ममस्त्रम् । ब्राह्मो मन्त्रः । योगविभाग उत्तरार्थः । "**जातौ**" (७।४।५८) । ब्रह्मण इयं ब्राह्मी औषधिः । पूर्वेण सिद्धे अनपत्य एवेति [1]नियमार्थं वचनम् । तेनोत्तरसूत्रेणापत्ये लुग् न भवति । ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । जाताविति किम्? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मो नारदः । "**अवर्मणो मनोऽपत्ये**" (७।४।५९) । वर्मन्शब्दवर्जितस्य मन्नन्तस्यापत्यार्थेऽणि अन्त्यस्वरादेर्लुक् स्यात् । सुषाम्नोऽपत्यं सौषामः । माद्रसामः । अवर्मण इति किम्? चाक्रवर्मणः । म्न इति किम्? सौत्वनः । अपत्य इति किम्? चर्मणा छन्नः चार्मणो रथः । "तेन छन्ने रथे" (६।२।१३१) इत्यण् । "**हितनाम्नो वा**" (७।४।६०) । अपत्येऽणि अन्त्यस्वरादेर्लुक् वा भवति । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः, हैतनामनः । अपत्य इत्येव—हैतनामनः । "उक्ष्णो लुक्" इत्यत आरभ्य सर्वेऽणीत्यस्यापवादाः ॥ ७ ॥

अत इञ् ॥ ८ ॥ [सि० ६।१।३१]

अदन्तात्षष्ठ्यन्तादपत्ये इञ् स्यात् । ञकारो वृद्ध्यर्थः । "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इत्यल्लुकि दाक्षिः ॥ ८ ॥

"अत०" । दाक्षिरिति—अणोऽपवादः । एवं अस्यापत्यं इः । अत इति किम्? शुभं यातीति, कीलालं पिबतीति, शुभंयुः कीलालपाः । तस्यापत्यं शौभंयः कैलालपः । केचित्तु आभ्यामणमपि नेच्छन्ति । **कथं**, "प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली?" "तस्येदम्" (६।३।१६०) इति विवक्षायामण् । अपत्यविवक्षायां तु दाशरथिरित्येव भवति । अथ काकबकशुकादेः कस्मादिञ् न स्यात्? उच्यते—जात्यैवापत्यार्थस्य पौत्रादेरनन्तरस्य चाभिहितत्वात् । यत्र त्वर्थप्रकरणादेर्विशेषप्रतीतिरस्ति, तत्र भवत्येव—"कुतश्चरति मायूरिः केन कौपिञ्जलिः कृशः" । एतेन काक्यादिभ्य एयणादयोऽपि व्याख्याताः । कथं तर्हि क्रौञ्चः कौकिलः गौधेरः चाटकैर इति? जातिशब्दा एवैते यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्यन्ते । यथा क्षत्रं क्षत्रियः राजा राजन्यः मनुः मनुष्यः मानुष इति । अनभिधानाच्च शतसर्ववृद्धकारकराजपुरुषमाथुरकुररादिभ्यो न भवति ॥ ८ ॥

बाह्वादिभ्यो गोत्रे ॥ ९ ॥ [सि० ६।१।३२]

स्वापत्यसन्तानस्य स्वव्यपदेशहेतुर्य आद्यपुरुषस्तदपत्यं गोत्रम् । बाह्वादिभ्यो गोत्रे इञ् स्यात् । बाहविः । *क्वचिदिञि स्लुक् । भूयसामपत्यं भौयिः आभ्भिः ॥ ९ ॥

"बाह्वा०" आद्यपुरुष इति । ऋषिरनृषि र्वेति शेषः । गोत्र इति गोत्रापत्येऽर्थे इत्यर्थः । अनकारान्तार्थो बाधकबाधनार्थश्चारम्भः । बाहोरपत्यं बाहविः । एवं औपबाकविः । नैवाकविः औदञ्चिः । इहोदञ्चितिपैलादिषु चोदञ्चीति सनकारस्य पाठादनर्चायामपि नलोपाभावः । गोत्र इति किम्? योऽधत्वे बाहुर्नाम तस्यापत्यं बाहवः । सम्भवापेक्षं च गोत्रग्रहणम्, तेन पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः साप्तिः आष्टिः इत्यादि । बाहु, उपबाकु, निबाकु, वटाकु, चटाकु, उपबिन्दु, चाटाकु, वृकला, कृकला, चूडा, बलाका, जङ्घा, छगला, भगला, लगहा, ध्रुवका, धुवका, मूषिका, सुमित्रा, दुर्मित्रा । वृकलादिभ्यो यथासम्भवमेयणो मानुषीनामलक्षणस्य चाणोऽपवादोऽयमिञ् । युधिष्ठिर, अर्जुन, राम, सङ्कर्षण, कृष्ण, गद, प्रद्युम्न, सा(शा?)म्ब, सत्यक, शूर, असुर, अजीगर्त, मध्यन्दिन, एषु ऋष्याद्यणोऽपवादः । सुधावत्, स्वधावत्, पुष्करसद्, अनुहरत्, अनडुह्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, क्षेम-

1 व्यक्तिवाचिनस्तु ब्रह्मणोऽपत्ये ब्राह्म इति भवत्युत्तरेण लोपात् । सूत्राकरणे तु ब्राह्मण इति स्यात् ।

धन्विन्, माषशिरोविन्, शृङ्खलतोदिन्, खरनादिन्, प्राकारमर्दिन्, नगरमर्दिन्, इन्द्रशर्म्मन्, मद्रशर्म्मन्, अग्निशर्मन्, देवशर्मन्, (उपदङ्क?) उदङ्क, उदङ्कु, कुनामन्, सुनामन्, सुदामन्, शिरस्, लोमन्, एतौ तदन्तौ। हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिः। औडुलौमिः (शारलोमिः) इति बाह्वादयोऽष्टापञ्चाशत्। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्। तेन सख्युरपत्यं साखिः। संवेशिनः सांवेशिः। उदङ्कस्य औदङ्किः। औद्दालकिः। वाल्मीकिः। आरुणिः इत्यादि सिद्धम्। शिवादेश्च प्राक् येऽकारान्ता बिदादयस्तेभ्य ऋष्यणं बाधित्वा उक्तार्थादन्यत्रानेनैवेञ्। "बिदादेर्वृद्धे" (६।१।४१) ऽञ् वक्ष्यते। बिदस्यापत्यमनन्तरं बैदिः और्विः। एवं "गर्गादेर्यञ्" (६।१।४२) गार्गिः वात्सिः। "कुञ्जादेर्ञायन्य" (६।१।४७) कौञ्जिः। "अश्वादेः" (६।१।४९) आयनञ् आश्विः आर्किः। "नडादिभ्य आयनण्" (६।१।५३) नाडिः मौञ्जिः। अनकारान्तेभ्यस्त्वणेव। औपमन्यवः। जामदग्नः। सौमनसः। भास्मः। लैगवः। शारद्वतः॥

इतः प्रभृति गोत्र इत्यधिकारात् गोत्रे सम्भवति ततोऽन्यत्र प्रतिषेधः।

अत्र इत्यादिशब्दोपादानात् "**वर्मणोऽचक्रात्**" (६।१।३३)। चक्रशब्दवर्जितात्परो यो वर्मन्–शब्दस्तदन्तादपत्येऽर्थे इञ् स्यात्। इन्द्रवर्मणोऽपत्यं ऐन्द्रवर्मिः। अचक्रादिति किम्? चाक्रवर्मणः। "**अजादिभ्यो धेनोः**" (६।१।३४)। अपत्ये इञ्। आजधेनविः। बाष्कधेनविः। अजादयः प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्याः। "**ब्राह्मणाद्वा**" (६।१।३५)। ब्राह्मणधेनविः, ब्राह्मणधेनवः। "**शालङ्क्यौदिषाडिवाड्वलि**" (६।१।३७)। एतेऽपत्ये इञन्ता निपात्यन्ते। शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः। उदकस्यौदिः। षण्णां षाडिः। वाचं वदति वाग्वादस्तस्यापत्यं वाड्वलिः–अत्र वाचोऽन्तस्य डत्वं वलभावश्चोत्तरपदस्य। एवं सर्वत्र निपातनादिष्टसिद्धिः। *क्वचिदित्यादि अत्र सूत्रम्–"**भूयःसम्भूयोऽम्भोऽमितौजसः स्लुक् च**" (६।१।३६)। एभ्यश्चतुर्भ्योऽपत्ये इञ्, सलोपश्चैषाम्। भूयसोऽपत्यं भौयिः। एवं साम्भूयिः। आम्भिः। आमितौजिः॥ ९॥

ङ्यासवरुटसुधातृनिषादबिम्बचण्डालादन्तस्य चाक् ॥ १० ॥ [सि० ६।१।३८]

एभ्योऽपत्ये इञन्तस्य चाक् ॥ १० ॥

"ङ्यास०" स्पष्टम् ॥ १० ॥ अत्रोपयोगिसूत्रम्।—

य्वः पदान्तात्प्रागैदौत् ॥ ११ ॥ [सि० ७।४।५]

ञ्णिति तद्धिते परे यौ य्वौ पदान्तौ ताभ्यां प्रागैदौतौ स्यातामिति यकाराद्विश्लेषितस्य वकारस्यैकारागमः। वैयासकिः॥ ११ ॥

"य्व०" ञ्णितीत्यादि। ञिति णिति च तद्धिते परे इवर्णोवर्णयोर्वृद्धिप्रसङ्गे तयोरेव स्थाने यौ यकारवकारौ पदान्तौ, ताभ्यां प्रागैदौतौ स्यातामिति यकारात्प्रागैकार आगमः, वकाराच्च औकार इति। यथा व्याकरणं वेत्त्यधीते वा वैयाकरणः। नैयायिकः। नैयासिकः। व्यसने भवं वैयसनम्। स्वागमं वेत्त्यधीते वा सौवागमिकः। स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विः। पूर्वत्र्यलिन्दो नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः पूर्वत्रैयलिन्दः। परत्वान्नित्यत्वाच्च वृद्धेः प्रागेव सर्वत्रानेनैदौतौ। य्व इति किम्? सौपर्णेयः। पदान्तादिति किम्? यत इमे याताश्छात्राः। यत इतीणः शत्रन्तं रूपम्। वृद्धिप्राप्तावित्येव–दाध्यश्विः। माध्वश्विः। अत्रेदुतोरनादित्वाद्वृद्धिप्राप्तिर्नास्ति। द्वाभ्यामशीतिभ्यां निर्वृत्तो द्वाभ्यामशीतिभ्यामधीष्टो

भूतो वा द्वे अशीतीभूतो भावी वा द्व्याशीतिकः त्र्याशीतिकः । अत्रापि "मानसंवत्सरस्याशाणकुलिजस्याऽनाम्नि" (७।४।१९) इत्युत्तरपदवृद्धौ यकारस्थानिन इकारस्य वृद्धिप्राप्तिर्नास्ति । प्राप्तिश्चाकृते यत्ववत्वे इति वेदितव्यम् । कृते हीवर्णोवर्णयोरभावान्नास्ति प्राप्तिः । वृद्ध्यपवादश्चैदौदागमः । तेन तद्धितस्य स्वरवृद्धिहेतुत्वाभावात्पुंवद्भावप्रतिषेधो न भवति । वैयाकरणभार्यः । सौवश्वभार्यः । वैयासकिरिति—एवं वारुटकिः । सौधातकिः । नैषादकिः । बैम्बकिः । चाण्डालकिः ॥ ११ ॥

पुनर्भूपुत्रदुहितृननान्दुरनन्तरेऽञ् ॥ १२ ॥ [सि० ६।१।३९]

एभ्योऽनन्तरेऽपत्येऽञ् स्यात् । पौनर्भवः । पौत्रः । दौहित्रः । नानान्द्रः । पौत्री ॥ १२ ॥

"पुन०" । अञो ञित्करणमुत्तरार्थमत्र सूत्रे तु अञि च अणि च नास्ति विशेषः । **नन्वस्त्येव** विशेषः—अञि हि "यञञोऽश्यापर्ण०" (६।१।१२६) इत्यादिनाऽञो बहुषु लुप् स्यात् । यथा बैदः बैदौ बिदाः इति, तथा सङ्घाद्यर्थेषु "सङ्घघोषाङ्क०" (६।३।१७२) इत्यादिनाञः परोऽण् स्यात्—यथा बैदमिति; अणि तु तदुभयमपि न भवति—यथौपगवाः, औपगवकमिति । तथा पुत्रशब्दादञ्—प्रत्ययान्तात्ततोऽप्यपत्यविवक्षायां "अत इञ्" (६।१।३१) इतीञि "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति तस्य लुपि पौत्र इति स्यात् । यथा बैदः पिता, बैदः पुत्रः । अणि तु "द्विस्वरादणः" (६।१।१०९) इत्यायनिञ् स्यात् । यथा कार्त्रायणिरिति । उच्यते । पुनर्भ्वाद्यपत्यस्यागोत्रत्वाद्गोत्राधिकारविहिता लुप् सङ्घाद्यण् च न भविष्यति । पौत्रशब्दाच्चावृद्धप्रत्ययान्तत्वादञ्यणि च इञ् आयनिञ् च न भविष्यति इति विशेषाभाव एव । केचित्तु पुनर्भ्व इति लुपमप्युदाहरन्ति । तेषां पुनर्भूरिति गोत्रं तत्रेहाप्यस्ति विशेष इति ।

अत्रादिशब्दानुसन्धानात् **"परस्त्रियाः परशुश्चाऽसावर्ण्ये"** (६।१।४०) । परस्त्रीशब्दादनन्तरेऽपत्येऽञ् स्यात्, परशुभावश्चास्य, चेत्पुरुषेण सह तस्या वर्णो ब्राह्मणत्वादिः समानो न स्यात् । परा पुरुषाद्भिन्नवर्णा स्त्री परस्त्री । तस्या अनन्तरापत्यं पारशवः । असावर्ण्ये इति किम् ? परस्य स्त्री परस्त्री, तस्या अनन्तरापत्यं पारस्त्रैणेयः ॥ १२ ॥

बिदादेर्वृद्धे ॥ १३ ॥ [सि० ६।१।४१]

अञ् । बहुत्वे चास्त्रियामस्य लुप् ॥ १३ ॥

"बिदा०" बहुत्वे चेत्यादि—अत्र सूत्रम्, **"यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः"** (६।१।१२६) । यञन्तस्याञन्तस्य च बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्त्तमानस्य यौ यञञौ तयोरस्त्रियां लुप् स्यात्, गोपवनादिभ्यः श्यापर्णान्तेभ्यो विहितौ वर्जयित्वा । गोपवनादयोऽष्टौ श्यापर्णान्ता बिदादिषु पठ्यन्ते । तेभ्यो बहुत्वेऽपि प्रत्ययलुब् न भवतीत्यर्थः, गौपवनाः । केचित्तु मठर-राजम-अवतान-अश्व-श्यामाकशब्दानपि गोपवनादिषु पठन्ति—माठरा इत्यादि । बैदस्य बैदयोर्वापत्यानि बिदा इत्यत्र त्विञि लुप्ते अञन्तं बहुष्विति लुप् । बिदानामपत्यं बैदः बैदौ इत्यत्र त्विञि लुप्तेऽञन्तं न बहुष्विति न लुप् । इञ्प्रत्ययविषयेऽप्यञो लुग् न भवति—"न प्राग्जितीये०" (६।१।१३५) इति निषेधात् । बिदानामपत्यं बहवो माणवका बिदा इत्यत्र चाञन्तं बहुष्विति भवत्येव । काश्यपप्रतिकृतयः काश्यपाः

१ एषु "निर्वृत्ते" इत्यादिभिरिकण्, अत्राशीतिशब्दो दिवसार्धमाससमासादेः कालस्य सङ्ख्यां ब्रूते इति काले वर्तमानत्वादशीतिशब्दात् "कालात्परिजय्य"—इति कालाधिकारविहितस्तेन 'हस्ताय:' इति तृतीयान्ताधिकारे 'निर्वृत्ते' इत्यादि सूत्रैर्निर्वृत्ताद्यर्थे इकण् । २ वैयाकरण इत्यादिषु य्वोः स्थानिनोरिवर्णोवर्णयोर्वृद्धिप्रसङ्गः ।

इत्यत्र यद्यपि प्रत्ययो गोत्रे उत्पन्नस्तथापि तदन्तं नेदानीं गोत्रे बहुत्वे, क तर्हि ? प्रतिकृतिष्विति लुप् न भवति । अस्त्रियामित्येव–गार्ग्यः, बैद्यः स्त्रियः । पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्गः पटः इत्यत्र त्विकणो लुपः पित्त्वात्पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्तेर्लुप् । गोत्र इत्येव–औत्सात्र्छात्राः "उत्सादेरञ्" (६।१।१९) । पौनर्भवाः पौत्रा, दौहित्रा, नानान्द्राः "पुनर्भूपुत्र०" (६।१।३९) इत्यादिनाञ् । पारशवाः "परस्त्रियाः परशुश्चासावर्ण्ये" (६।१।४०) इत्यञ् ॥ कथं प्रियो गार्ग्यो गार्ग्यौ वा येषां ते प्रियगार्ग्या इति ? अत्र हि यञन्तस्य बहुविषयत्वात् लुप्प्राप्नोति । नैवम्–नात्र यञन्तं बहुषु किं तर्हि समासः । स च "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" (७।४।११५) इति नियमाद्यञन्तो न भवति । प्रिया गर्गा यस्य स प्रियगर्ग इत्यत्र तु यञन्तस्य बहुत्वाद्भवत्येवेति ॥ **"कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती च"** (६।१।१२७) । कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्त्तमानयोर्यञोऽणश्चाऽस्त्रियां लुप् स्यात्, तयोश्च कुण्डिनी–अगस्त्यशब्दयोः कुण्डिन–अगस्ति इत्यादेशौ स्याताम् । आगस्त्यशब्दस्य ऋष्यणन्तत्वाद्यञञौ न सम्भवतः । कुण्डिन्या अपत्यं गर्गादित्वाद्यञ् । अत एव निर्देशात् पुंवद्भावाभावः–कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौ । कुण्डिनाः ॥ आगस्त्यः । आगस्त्यौ । अगस्तयः ॥ प्रत्ययलोपं कृत्वादेशकरणमगस्तीनामिमे आगस्तीया इत्येवमर्थम् । प्रत्ययान्तादेशे हि कृते अगस्तिशब्दस्यादेरकारस्याभावात् "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" (६।१।८) इत्यप्राप्तौ दुसंज्ञाऽभावात्–"दोरीयः" (६।३।३२) इति न स्यात् । प्रत्ययलुब्विधानात्तु ईयप्रत्यये भाविनि "न प्राग्जितीये०" (६।१।१३५) इति निषेधात् प्रत्ययलुप् न् स्यात्, ततश्च आगस्तीया इति सिद्ध्यति । कुण्डिन्यामविशेषः । प्रत्ययान्तादेशे हि कुण्डिनशब्दाददुसंज्ञकात् "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यण् स्यात् । प्रत्ययस्य तु लुपि "न प्राग्जितीय०" इति निषेधात् सत्यामपि दुसंज्ञायामीयापवादः शकलादित्वादञेव स्यात्तत उभयथापि कुण्डिनानामिमे कौण्डिना इत्येव स्यादिति ॥ १३ ॥ **प्रसङ्गागतवृद्धापत्यस्य लक्षणमाह ।**

पौत्रादि वृद्धम् ॥ १४ ॥ [सि० ६।१।२]

परमप्रकृतेर्यत्पौत्राद्यपत्यं तद्वृद्धं स्यात् । बिदस्य वृद्धमपत्यं बैदः और्वः ॥ १४ ॥

"पौत्रा०" स्पष्टम् । बिदा इति । एवं काश्यपः काश्यपौ कश्यपाः । अथेन्द्रहुः सप्तमः[1] काश्यपानां भारद्वाजानां कतमोऽसीत्यत्र बहुषु लुप् कस्मान्न भवति ? नायमञ् किन्त्वस्येदमित्यण् । सर्वेषामपि हि पितरोऽभेदोपचारात् कश्यपाः । यथा बभ्रुः मण्डुः लमक इति । वृद्ध इति किम् ? बिदस्यानन्तरमपत्यं बैदिः । बिद[2] उर्व[3] कश्यप[4] *कुशिक भरद्वाज[5] उपमन्यु[6] किलात[7] कीदर्भ[8] विश्वानर[9] ऋष्टिषेण[10] १० ऋतभाग[11], हर्यश्व[12], प्रियक[13], पियक[14], अपस्तम्भ[15], कुवाचर[16] कूवाचर[17] शरद्वत्[18] (शुनक[19]) सुभग, धेनु[20] २० उत्सा–

---

१ अत्र कश्यपसंतानापेक्षया बहुवचनं न तु भ्रातृवर्गापेक्षया । अथ गणः–२ बिन्दत्यवयवी भवति स्वगोत्रे 'बिन्देर्न लुक्च' इति अः बिदः । ३ उर्वति अष्टप्रकारं कर्म उर्वः । ४ कशामर्हति कश्यः, अनया व्युत्पत्त्या पुरुष एव लभ्यते न मद्यं, न, पुरुषो मद्ययोगात्कशायोग्यः अतस्तदेव कशायोग्यम् कश्यं पिबति कश्यपः । *कुशयति सत्कर्मसु 'कुशिक'–इति साधुः । ५ वजण् वर्जण्गतौ वा भरन्तं वाजयति भरद्वाजः । ६ उपगतो मन्युं बहुव्रीहिर्वा उपमन्युः । ७ किरतीति 'नाम्युपान्त्य'–इति के किलस्तमतति किरातस्य स्थाने वा किलातः । ८ कस्य भार्या की क्यां दर्भ इव पवित्रः कीदर्भः । ९ विश्वे नरा अस्य विश्वानरः । १० ऋष्टयः सेनायाम् ऋष्टिवत् सेना वा यस्य ऋष्टिषेणः । ११ ऋतेन सत्येन भागो भागधेयं यस्य ऋतभागः । १२ हरयो नीलवर्णा अश्वा यस्य हर्यश्वः । १३ प्रिय एव प्रियकः । १४ प्रियं कायति वा पिबति उष्णं पानीयादिकं 'कीचक'–इति पियकः । १५ अपस्तभ्नाति अष्टप्रकारं कर्म्म अपस्तम्भः । १६ कुत्सितं वान्ति विच्, कुवाः तेषां पार्श्वेन चरति कुवाचरति कुवाचरः । १७ बाहुलकाद्दीर्घत्वे कूवाचारः । १८ शरद् उपकारकतयाऽस्यास्ति शरद्वत् । १९ शुनति परमां गतिं 'कीचके'–इति 'नाम्युपान्त्य'–इति के शुन एव शुनकः । २० धीयते अस्मात्तत्त्वमिति धेनुः ।

दिषु धेनुशब्दः सद्यःप्रसूतगव्यादिवाचकः । अयमृषिवचनः । अश्व, शङ्ख, गोपवन[1] १ शिग्रु[2] २ बिन्दु[3] ३ ताजम[4] ४ अश्वावतान[5] ५ श्यामाकं[6] ६ श्यामाक[7] ७ श्यापर्ण ८।३० हरित[8] किन्दास[9], वस्यस्क[10], अर्कलुश[11], वध्योग[12], विष्णुवृद्ध[13], वृष्णिवृद्ध[14], प्रतिबोध[15], रथीतर[16] ४० रथन्तर[17] गविष्ठिर गविष्ठिल निषाद[18], शबर[19], मठर[20], सृदाकु[21], पृदाकु[22] ४८ केचिदेतौ हरितादेः प्राक् पठन्ति । तन्मते "हरितादेरञः" (६।१।५५) इत्यायनण् न भवति । मठरशब्दो गोपवनादावपि[23] अञो लुबभावार्थम् केचित्पठन्ति । अन्ये तु मठरात् यकारादिञमिच्छन्ति–माठर्यः माठर्यौ । बहुष्वञो लुपि सन्नियोगशिष्टत्वाद्यस्यापि निवृत्तिरिति मठराः । अष्टचत्वारिंशद्बिदादयस्तेष्वष्टौ गोपवनादयः श्यापर्णान्ताः ॥ १४ ॥

गर्गादेर्यञ् ॥ १५ ॥ [सि० ६।१।४२]

वृद्धे । गार्ग्यः ॥ १५ ॥

"गर्गा०" वृद्धे इति किम् ? अनन्तरापत्ये गार्गिः । गोत्र इत्येव–गर्गो नाम कश्चित्तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः । ननु मनोरत्र पाठाल्लोहितादित्वात् स्त्रियां नित्यं डायनि ङ्यां च मानव्यायनीति स्यात् तत्कथं मानवी प्रजेत्युच्यते–अपत्यसामान्यविवक्षायां "ङसोऽपत्ये" (६।१।२८) इत्यण् । कथमनन्तरो रामो जामदग्न्यः व्यासः पाराशर्यः ? पुत्रेऽपि पौत्रादिकार्यकरणात्तथोच्यते । अनन्तरापत्यविवक्षायां जामदग्निः । पाराशरिः । कथं पाराशरः ? "तस्येदम्" (६।३।१६०) इति विवक्षायाम् । गर्ग[24], वत्स, वाज, अज, संस्कृति, संकृति व्याघ्रपात्, विदभृत्[25], पितृवधू, प्राचीनयोग, पुलस्ति, रेभ, अग्निवेश, शङ्ख शट । धूम अवट, नमस, चमस, धनञ्जय, (वृक्ष), विश्वावसु जरमाण, कुरुकत, अनडुह्, लोहित, संशित, वक्र ? बभ्रु, बभ्लु, मुण्डु, मङ्क्षु, मङ्खु, शस्थु, शङ्कु, लतु, लिगु, गूहलु, जिगीषु, मनु, तन्तु, मनुतन्तु, मनायी । अणेयणोः प्राप्तावस्य पाठः । पुंवद्भावस्तु "कौण्डिन्यागस्त्ययोः०" (६।१।१२७) इति कौण्डिन्यनिर्देशादनित्य इति न भवति । सूनु, स्रुव, कच्छक, ऋक्ष, रुक्ष, रूक्ष[26], तरुक्ष[27], तलुक्ष, तण्डिन्[28], वतण्ड, कपि, कत, शकल, कण्व, वामरथ[29], गोकक्ष[30], कुण्डिनी[31], यज्ञवल्क[32] पर्णवल्क, अभयजात[33], विरोहित[34], वृषगण[35], रहोगण[36], शण्डिल, मुद्गर, मुद्गल, मुसर, मुसल, पराशर[37], जतूकर्ण, मन्द्रित[38] अश्मरथ[39], शर्कराक्ष[40], पूतिमाष[41], स्थूर, स्थूरा, अरराका[42], पिङ्ग[43], पिङ्गल, कृष्ण, गोलुन्द[44], उलूक, तितिम्भ[45] भिष[46], भिषज, भिष्णज, भण्डित, भडित, दल्भ, चिकित, देवहू इन्द्रहू, यज्ञहू, एकलू,

---

१ गोपानुपवनति वनुते वा गोपवनः । २ शेरते गुणा अत्र शिनोति वा शिग्रु । ३ वेत्तीत्येवंशीलो 'विन्द्विच्छू' विन्दुः । ४ तां लक्ष्मीं जमति ताजमः । ५ अश्वानवतनोति अश्वावतानः । ६ श्यायतेः 'मवाक०' इति श्यामाकः । ७ श्यायन्ते श्याः श्यायां वसतौ गतानां पर्णयति आदीकरोति देशनया श्यापर्णः । ८ 'हृस्रा–' इति हरितः । ९ किमपि दासते किंदासः । १० 'वसिमस्यति–' 'भीण्शलि–' इति के वस्यस्कः । ११ अर्कमपि रुशति तेजसा अर्कलुशः । १२ वधमर्हन्ति वध्यास्तान् उज्झति 'मूलविभूज–' इति के वध्योगः । १३ विष्णुवत् वृष्णिवद्वा वृद्धः विष्णुवृद्धः । १४ वृष्णिवृद्धः । १५ प्रतिबोधयति प्रतिबोधः । १६ रथ्या तरति रथीतरः । १७ 'भृवृजि–' इति खे रथंतरः । १८ निषीदन्ति गुणा अत्रेति निषादः । १९ 'ऋच्छिचटि–' इत्यरे शबरः । २० मठरः । २१ 'सृपृभ्यां दाकुक्' सृदाकुः । २२ पृदाकुः । इति बिदादयः ॥ २३ न केवलं हरितादौ । २४ गिरति वदति निरवद्यमिति 'गम्यमि–' इति 'मावावद्यमि–' इति च गसौ गर्गः । २५ विदं बिभर्ति पितरं बध्नाति क्विप् विदभृत् पितृवधू । २६ रूक्षणं रूक्षः । २७ तरून् क्षयति तरुक्षः । २८ अवश्यं तण्डते तण्डी । २९ प्रसे वामरथः । ३० गोरिव कक्षो भक्ष्यः पार्श्वौ वा अस्य गोकक्षः । ३१ अवश्यं कुण्डते कुण्डिनी । ३२ यज्ञे वल्कोऽस्य यज्ञवल्कः । ३३ प्रसे, अभयः, जायते स्म, जातः, चसे अभयजातः । ३४ विशेषेण रोहति 'हृस्या' इति विरोहितः । ३५ वृषान् गणयति वृषगणः । ३६ रहो गणयति रहोगणः । ३७ परावृत्त्या शृणाति पराशरः । ३८ मन्द्रो गम्भीरः शब्दः सोऽस्यास्ति 'तदस्य–' इतीतः । ३९ अश्मवद्रथोऽस्य अश्मरथः । ४० शर्करावत् अक्षिणी यस्य 'सक्थ्यक्ष्णः–' शर्कराक्षः । ४१ पूतयो माषा यस्य पूतिमाषः । ४२ अरा अराकाराणि भक्ष्याणि राति 'भीण्शलि–' इति अरराका । ४३ 'स्फुलिकसि'–इति पिङ्गः । ४४ गां लुनाति 'कुमुद–' इति गोलुन्दः गोलाया मुनक्ति स्नाति वा । ४५ स्तभ्नाति 'जजल'–इति तितिम्भः । ४६ भिषिः सौत्रः के भिषः ।

पिप्पलू, पर्यल्लू[1], बृंहल्लू[2], पंफल्लू[3], बृहदग्नि, जमदग्नि, सुलामिन, कुटीगु, उक्थ, कुटल, चणक, चुलुक, कर्कंढ, अलापिन्, सुवर्ण, सुलाभिन्, इति गर्गादिः । नवोत्तरं शतं ? गर्गादयस्तेष्वेकोनत्रिंशत् लोहितादयः शकलान्ताः । बहुत्वे चेत्यादि, गर्गा इत्युदाहरणम् ॥ १५ ॥

व्यञ्जनात्तद्धितस्य ॥ १६ ॥ [सि० २।४।८८]

व्यञ्जनात्परस्य तद्धितस्य यो ङ्यां लुक् स्यात् । गार्गी ॥ "कुञ्जादेर्ञायन्यः" (६।१।४७) वृद्धे । कौञ्जायन्यः ॥ "स्त्रीबहुष्वायनञ्" (६।१।४८) । वृद्धे । कौञ्जायनी कौञ्जायनाः ॥ "अश्वादेः" (६।१।४९) आयनञ् । वृद्धे । आश्वायनः ॥ "नडादिभ्य आयनण्" (६।१।५३) । वृद्धे । नाडायणः ॥ १६ ॥

"व्यञ्ज०" स्पष्टम् । यञो विशेषास्त्वेवम्–"**मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिके**" (६।१।४३) वृद्धापत्ये इति ज्ञेयम् । माधव्यो ब्राह्मणः, माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकः, बाभ्रवोऽन्यः । बभ्रोर्गर्गादिपाठाद्यञि सिद्धे कौशिके नियमार्थं वचनम् । गर्गादिपाठस्तु लोहितादिकार्यार्थः । तेन बाभ्रव्यायणीति नित्यं डायन् । केचित्त्वकौशिकेऽपि लोहितादिपाठात् यञमिच्छन्ति, तन्मतेनेदं यञ्विधानं बभ्रोर्लोहितादेर्बहिष्करणार्थम्; तेन कौशिके यञि सति लोहितादि कार्यं न भवति । तथा च स्त्रियां डायन्वा भवति । बाभ्रवी बाभ्रव्यायणी च कौशिकी ॥ "**कपिबोधादाङ्गिरसे**" (६।१।४४) । कपेरपत्यं वृद्धमाङ्गिरसः काप्यः । एवं बौध्यः । अन्यः कापेयः बौधिः ॥ कपिशब्दो गर्गादिषु पठ्यते, तस्येहोपादानं नियमार्थम् । अङ्गिरस एव यञ्, नान्यत्रेति । लोहितादिकार्यार्थश्च गणपाठः, काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु यञन्तयोरुभयम्–माधवी माधव्यायनी । बौधी बौध्यायनी ॥ "**वतण्डात्**" (६।१।४५) । तथा । वतण्डस्यापत्यं वृद्धमाङ्गिरसः वातण्ड्यः । आङ्गिरसादन्यत्र गर्गादिशिवादिपाठाद्यञ् अण् च भवतः । वातण्ड्यः वातण्डः । गर्गादिपाठादेव यञि सिद्धे वचनमाङ्गिरसे शिवाद्यण्बाधनार्थम् । शिवादिपाठोऽप्यस्य वृद्ध एवाण्विधानार्थः । अन्यत्र हि ऋषित्वादेवाण् सिद्धः ॥ "**स्त्रियां लुप्**" (६।१।४६) अनन्तरसूत्रोक्तस्य यञः । वतण्डस्यापत्यं वृद्धं स्त्री आङ्गिरसी वतण्डी । जातिलक्षणो ङीः । अनाङ्गिरसे तु शिवादिपाठाद्वातण्डी, लोहितादिपाठाद्वातण्ड्यायनी ॥ "**कुञ्जा०**" वृद्ध इति किम् ? अनन्तरापत्यं कौञ्जिः । कुञ्ज, ब्रध्न, गण, भसन्, लोमन्, लौमायन्य । तदन्तादेवेति केचित् । औडुलौमायन्यः । शट, अयं गर्गादिष्वपि । शाक, शुण्डा, शुभा, विपाश् अयं शिवादिष्वपि । स्कन्ध, स्कम्भ, शङ्ख अयं गर्गादावश्वादौ बिदादौ च । इति कुञ्जादिः एकादश कुञ्जादयः ॥ "**स्त्री०**" । कुञ्जादिभ्यो ङसन्तेभ्यो बहुत्वविशिष्टे वृद्धे स्त्रियां चाबहुत्वेऽपि आयनञ् स्यात् । कुञ्जस्यापत्यं स्त्री कौञ्जायनी । कुञ्जस्यापत्यानि कौञ्जायनाः । "**अश्वा०**" वृद्ध इत्येव–आश्विः । गोत्र इत्येव–अश्वो नाम कश्चित्तस्यापत्यं वृद्धं आश्विः । अश्व, शङ्ख, जन, उत्स, ग्रीष्म, अर्जुन, वैल्य, अश्मन्, विद, कुट, पुट, स्फुट, रोहिण, खर्जुल, खर्जूर, खर्जूल, पिञ्जूर, भदिल, भटिल, (भडिल) भण्डिल, २० भटक, भडित, भण्डित, प्राहृत, राम, उद, क्षान्ध, ग्रीव, रामोद, रामोदक्ष, अन्धग्रीव ३० काश, काण, गोल, आह्व, गोलाह्व, अर्क, स्वन, अर्कस्वन, शुन, वत्त, ४० पत, पद, चक्र, कुल, ग्रीवा, श्रविष्ठा, पावित्, पवित्रा (पावित्र) पविन्दा गोमिन् ५० श्याम, धूम, धूम्र, वत्स, वाग्मिन्, विश्वानर, विश्वतर, वत, सनख, सत्त, ६० खड, जड, गद, जण्ड, अर्ह (अर्थ) वीक्ष, विशम्प, विशाल, गिरि, चपल, गिरिचपल, ७० चुप, दासक,

---

१ पत्नीं साधुस्तल्लुनाति पत्यल्लः । २ वृहं लुनाति वृहल्लः । ३ फलानि लुनाति पृषोदरादित्वात् पम्फल्लः ।

चुपदासक, धाव्या, धन्य, धर्म्य, पुंसिजात, शूद्रक, सुमनस्, दुर्मनस्, ८० आतव, उत्सातव, कितव, किव, शिव, खिव, खिप, खदिर, आनडुह्य, ८९ आनडुह्यायन इति यञन्तादायनणापि सिद्ध्यति, प्राग्जितीयस्वरादौ तु "यूनि लुप्" (६।१।१३७) इति नित्यलुबर्थमस्योपादानम् । इत्यश्वादिः । एकोनवतिरश्वादयः ॥ अत्र योऽश्वादिर्वृद्धकाण्डेऽन्यत्रापि पठितस्तस्य सोपि स्यात् । यथा अश्वशब्दस्य विदादिपाठादञ् । इहायनञ् । आश्वः । आश्वायनः ॥ शङ्खस्य विदादित्वादञ् । गर्गादित्वाद्यञ् । कुञ्जादित्वात् ञायन्यः । इहायनञ् । शाङ्खः । शाङ्ख्यः । शाङ्खायन्यः । शाङ्खायनः ॥ जनस्य नडादित्वादायनण् । इहायनञ् । तत्र यूनि प्रत्यये विधेयेऽयं विशेषः । जानायनिः, जानायनो युवा ॥ उत्सग्रीष्मयोरुत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थोऽनपत्यार्थश्च । इह तु वृद्धेऽयमेव यथा स्यादित्येवमर्थः । औत्सायनः । ग्रैष्मायणः ॥ अर्जुनशब्दस्य बाह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । वृद्धे त्वयमेव आर्जुनायनः ॥ वैल्येति विलिशब्दो ञ्यान्तस्ततो यूनि प्रत्ययः । वैल्यायनो युवा ॥

आयनञ्विशेषास्त्वेवं **"शपभरद्वाजादात्रेये"** (६।१।५०) वृद्धे । शापायनः । भारद्वाजायनः आत्रेयश्चेत् । आत्रेय इति किम्? अन्यः शापिः । भारद्वाजः भारद्वाजौ विदादौ । **"भर्गात्त्रैगर्त्ते"** (६।१।५१) । वृद्धे । भार्गायनः त्रैगर्त्तश्चेत् । अन्यो भार्गिः । **"आत्रेयाद्भारद्वाजे"** (६।१।५२) आत्रेयाद्वृद्धप्रत्ययान्ताद्भारद्वाजे यून्यपत्ये आयनञ् स्यात् । आत्रेयायणो भारद्वाजो युवा । आत्रेयोऽन्यः । "ञिदार्षात्०" (६।१।१४०) इतीञो लुप् । **"नडा०"** । नडस्य वृद्धापत्यं नाडायनः । वृद्ध इत्येव—अनन्तरापत्यं नाडिः । नड, चर, बक, मुञ्ज, इतिक, इतिश, उपक, लमक, सप्तल, (सत्तल) सत्वल, १० व्याज, (वाज), व्यतिकेत्येके । प्राण, नर, सायक, दाश, मित्र, दाशमित्र, द्वीपा, द्वीप, पिङ्गर, २० पिङ्गल, किङ्कर, किङ्कल, कातर, काथल, काश्यप, काश्य, नाव्य, अज, अमुष्य, ३० लिगु, चित्र, अमित्र, कुमार, लोह, स्तम्ब, स्तम्भ, अग्र, शिंशपा, तृण, ४० शकट, मिकट, मिमत, सुमत, जन, ऋच्, इन्ध, ऋगिन्ध, मित, जनन्धर, जलन्धर, ५० युगन्धर, हंसक, दण्डिन्, हस्तिन्, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, ब्राह्मण, चटक, ६० अश्वल, खरप, बदर, शोण, दण्डम, छाग, दुर्ग, अलोह, आलोह, कामुक (कामक) ब्रह्मदत्त, उदुम्बर, सण, लङ्क, केकर, (ककर) नाव्य, आलाह, ऋग, वृषगण, ८० अध्वर, वालिश, दण्डप, ८३ इति नडादयस्त्र्यशीतिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ १६ ॥

अमुष्यशब्दो यो नडादिषु पठितस्तस्य निष्पत्तिमाह—

अदसोऽकञायनणोः ॥ १७ ॥ [सि० ३।२।३३]

अकञन्ते उत्तरपदे आयनणि चादसः षष्ठ्या अलुप स्यात् । अमुष्यापत्यं आमुष्यायणः ॥ १७॥

"अदसो०" स्पष्टम् ॥ १७ ॥

यञिञः ॥ १८ ॥ [सि० ६।१।५४]

वृद्धे यौ यञिञौ ततो यून्यपत्ये आयनण् स्यात् ॥ १८ ॥

"यञि०" निगदसिद्धम् । अथ प्रसङ्गागतस्य युवापत्यस्य लक्षणमाह ॥ १८ ॥

---

१ अन्यथा 'वायनणानिञोः' इति विकल्पः स्यात् । २ आयनिञो ञित्वात् 'ञिदार्षादणिञोः' इत्यनेन यून्युत्पन्नस्येञो लुब्भवति न त्वायनणः ।

वंश्यज्यायोभ्रात्रोर्जीवति प्रपौत्राद्यस्त्री युवा ॥ १९ ॥ [सि० ६।१।३]

पित्रादिः स्वहेतुर्वंश्यो; वंश्ये, ज्येष्ठभ्रातरि च जीवति प्रपौत्राद्यपत्यं स्त्रीवर्जं युवा स्यात् । *समानसप्तमपुरुषे च वयःस्थानाधिके जीवति जीवद् वा ॥ १९ ॥

"वंश्य०" वंश्य इति–वंशे भवो वंश्यस्तस्मिन्, ज्येष्ठभ्रातरीति ज्येष्ठो वयोऽधिकः एकपितृक, एकमातृको वा भ्राता तस्मिन् । प्रपौत्राद्यपत्यमिति–प्रपौत्रः पौत्रापत्यं परमप्रकृतेश्चतुर्थः, अयमर्थः– स्त्रीवर्जितं प्रपौत्राद्यपत्यं वंश्यज्येष्ठभ्रात्रोर्मध्ये एकस्मिञ्जीवति युवसंज्ञं स्यात् । यथा गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । वंश्यज्यायोभ्रात्रोरिति किम् ? अन्यस्मिञ्जीवति गार्ग्यः । ज्यायोग्रहणं किम् ? कनीयसि भ्रातरि जीवति गार्ग्यः । जीवतीति किम् ? मृते तस्मिन् गार्ग्यः । प्रपौत्रादीति किम् ? पौत्रो गार्ग्यः । अस्त्रीति किम् ? गार्गी । जीवतीत्यत्रैकवचननिर्देशः पृथग्निमित्तत्वद्योतनार्थः । अत्र सङ्क्षेपेण विशेषमाह–*समानेत्यादि, अत्र सूत्रम्–"**सपिण्डेवयःस्थानाधिके जीवद्वा**" (६।१।४) । ययोरेकः पूर्वः सप्तमः पुरुषस्तावन्योऽन्यस्य सपिण्डौ । वयो यौवनादि । स्थानं पिता पुत्र इत्यादि । परमप्रकृतेः स्त्रीवर्जं जीवत् प्रपौत्राद्यपत्यं वयःस्थानाभ्यां द्वाभ्यामभ्यधिके सपिण्डे जीवति जीवदेव युवसंज्ञं वा स्यात् । पितृव्ये पितामहस्य भ्रातरि वा वयोऽधिके जीवति जीवद्गार्गस्यापत्यं गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा । सपिण्ड इति किम् ? मातुलादौ जीवति गार्ग्यः । वयःस्थानाधिक इति किम् ? द्वाभ्यामन्यतरेण वा न्यूने गार्ग्यः । लघौ भ्रातृव्ये (पितृव्यजे) द्वाभ्यां न्यूनत्वम्, लघौ पितृव्येऽन्यतरेण न्यूनत्वम् । जीवदिति किम् ? मृतो गार्ग्यः । सपिण्डो न वंश्यो न भ्रातेति वचनम् ।

अत्रादिशब्दग्रहणात् "**युववृद्धं कुत्सार्चे वा**" (६।१।५) । युवा च वृद्धं चापत्यं यथासङ्ख्यं कुत्सायामर्चायां च विषये युवसंज्ञं वा भवति । यूनः कुत्सायां पक्षे युवत्वं निवर्त्त्यते, तत्र वृद्धप्रत्ययेनाभिधानं भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा कुत्सितो गार्ग्यः गार्ग्यायणो वा जाल्मः–गुर्वायत्तो भूत्वा स्वतन्त्रो यः स एवमुच्यते । कुत्साया अन्यत्र गार्ग्यायण एव । वृद्धस्य चार्चायां पक्षे युवत्वं प्राप्यते– तत्र युवप्रत्ययेनाभिधानं भवति, गर्गस्यापत्यं वृद्धमर्चितम्, तत्रभवान् गार्ग्यायणः गार्ग्यो वा । अर्चाया अन्यत्र गार्ग्य एव । अस्त्रीत्येव–गर्गस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री गार्गी ॥ १९ ॥

अथ युवापत्यार्थप्रत्ययस्य प्रकृतिमाह ।—

वृद्धाद्यूनि ॥ २० ॥ [सि० ६।१।३०]

यून्यपत्ये यः प्रत्ययः स आद्याद्वृद्धप्रत्ययान्तात् स्यात् । गर्गस्य वृद्धापत्यं गार्ग्यस्तस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ॥ २० ॥

"वृद्धा०" । स्पष्टम् ।

आदिशब्दोपसङ्गृहीता आयनण्विशेषास्त्वेवम् । "**हरितादेरञः**" (६।१।५५) । बिदाद्यन्तर्गणो हरितादिः । हरितादिभ्यो वृद्धविहिताञ्प्रत्ययान्तेभ्यो यून्यपत्ये आयनण् स्यात् । हारितस्यापत्यं युवा हारितायनः । हरितादेरिति किम् ? बैदस्यापत्यं युवा बैदः–अत्रेञो लुप् । अञ इति किम् ? हरितस्यापत्यं वृद्धं हारितः । **क्रोष्टृशलङ्कोर्लुक् च**" (६।१।५६) । आभ्यां वृद्धे आयनण्, अनयोरन्त्यस्य लुक् । क्रोष्टुरपत्यं क्रौष्टायनः । शालङ्कायनः । "**दर्भकृष्णाग्निशर्मरणशरद्वच्छुनकादाग्रायणब्राह्मणवार्षगण्यवाशिष्ठभार्गववात्स्ये**" (६।१।५७) । दर्भादिभ्यः षड्भ्यः आग्रयणादिषु षट्सु वृद्धापत्येषु आयनण् स्यात् । दर्भस्यापत्यमाग्रायणश्चेत् दार्भायणः, दार्भिरन्यः । कार्ष्णायनो ब्राह्मणः

कार्ष्णिरन्यः । आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः आग्निशर्मिरन्यः । राणायनो वाशिष्ठः, राणिरन्यः । शारद्वतायनो भार्गवः, शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो वात्स्यः, शौनकोऽन्यः । शरद्वच्छुनकौ बिदादौ ॥ **"जीवन्त-पर्वताद्वा"** (६।१।५८) । जैवन्तायनः, जैवन्तिः । पार्वतायनः पार्वतिः ॥ **"द्रोणाद्वा"** (६।१।५९) । योगविभागाद्वृद्धे इति निवृत्तम् । द्रोणशब्दस्यापत्यमात्रे आयनणू वा स्यात् । द्रौणायनः द्रौणिः ॥ २० ॥

शिवादेरण् ॥ २१ ॥ [सि० ६।१।६०]

इञोऽपवादः । आऽधिकारादपत्ये इत्यनुवर्त्तनीयम् । शैवः । प्रौष्ठः ॥ "ऋषिवृष्ण्यन्धककुरुभ्यः" (६।१।६१) । अण् । वासिष्ठः । वासुदेवः । श्वाफल्कः । नाकुलः ॥ २१ ॥

"शिवा०" गोत्रापत्यानन्तरापत्यवृद्धापत्ययुवापत्याधिकारस्य निवृत्तत्वादतः परमपत्यप्रत्ययाधिकार-समाप्तिं यावद्ये प्रत्यया विधास्यन्ते, तेऽपत्यसामान्ये ज्ञेयास्तथा चाह आऽधिकारादित्यादि शिव, प्रौष्ठ, प्रौष्ठिक, वण्ड, (वण्ट, बृ० वृत्तौ) जम्ब, जम्भ, ककुभ, कुथार, अनभिम्लान, ककुत्स्थ १० कोहड, कहूय, रोध, पिलधर, वतण्ड, तृण, कर्ण, क्षीरह्रद, जलह्रद, परिषिक, शिलिन्द, २० गोपिल (फि० बृ० वृत्तौ) गोहिल, कपिलक, जटिलक, बधिरक, मञ्जिरक, वृष्णिक, खञ्जार, खञ्जाल, ३० रेख, लेख, आलेखन, कंप्र, वर्त्तन, ऋक्ष, वर्त्तनर्क्ष विकट पिटाक वृक्षाक (तृ० बृ० वृत्तौ) ४० नभाक, ऊर्ण-नाभ, सुपिष्ट, पिष्टकर्णक, पर्णक, मसुरकर्ण, मसूरकर्ण, खडूरक, गण्डेरक (गडेरक-बृ०वृत्तौ) ५० यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयस्थूण, भलन्द, भलन्दन, विरूप, विरूपाक्ष, भूरि, सन्धि, ६० भूमि, मुनि, कुञ्चा, कोकिला, इला, सपत्नी, जरत्कारु, उत्केया, काय्या, सुरोहिका, ७० पीठीनासा, महित्री, आर्यश्वेता, ऋष्टिषेण, गङ्गा, पाण्डु, विपाश् , तक्षन्, इति शिवादयः एकोनाशीतिः । अत्र आविरूपाक्षादिञोऽप-वादः । भूर्यादीनामा आर्यश्वेताया एयणः, ऋष्टिषेणस्य सेनान्तस्य (?) सेनान्तञ्येयोः । बिदादिपाठाद्वृद्धेऽ-ञेव, तदन्ताच्च यूनि "अत इञ्" (६।१।३१), तस्य "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति लुपि, आर्ष्टिषेणः पिता, आर्ष्टिषेणः पुत्रः । तथा ऋष्टिषेणस्यापत्यं वृद्धं बहवः बिदाद्यञ् । तस्य "यञञो०" (६।१।१२६) इत्यादिना लुपि, ऋष्टिषेणाः ॥ पाण्डुपाठः शुभ्राद्येयणा, गङ्गापाठस्तिकाद्यायनिञा च समावेशार्थः । तेन पाण्डोर्द्वैरूप्यं गङ्गायाश्च त्रैरूप्यं सिद्धम् । पाण्डवः, पाण्डवेयः, गाङ्गः, गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः ॥ विपाश्पाठः कुञ्जादिलक्षणेन ञायन्येन समावेशार्थः । वैपाशः वैपाशायन्यः ॥ तक्षन्पाठः कुर्वादिञ्येन समावेशार्थः । ताक्ष्णः ताक्षण्यः ॥ **"ऋषि०"** ऋषयो लौकिका वसिष्ठादयः अपत्ययोगात् । वृष्णयोऽन्धकाः । कुरवश्च प्रसिद्धा वंशाख्याः (वंशनिमित्ता आख्या अभिधानं येषां ते) क्षत्रियाः । ऋष्यादिवाचिभ्योऽपत्येऽण् स्यात्, (इञोऽपवादः) । वासिष्ठः इति—एवं वैश्वामित्रः, गौतमः, एते ऋषयः ॥ वासुदेव इति—एवं आनिरुद्धः । वाभ्रः । प्रातिवाहनः । औदारः, एते वृष्णयः ॥ श्वाफल्क इति—एवं रान्ध्रसः चैत्रकः एते अन्धकाः ॥ नाकुल इति—एवं साहदेवः दौःशासनः दौर्योधनः एते कुरवः । अत्र्यादिभ्यस्तु परत्वादेयण् ञ्येञौ च भवतः । आत्रेयः जातसेन्यः । जातसेनिः । औग्रसेन्यः । औग्रसेनिः । वैष्वक्सेन्यः । वैष्वक्सेनिः भैमसेन्यः, भैमसेनिः । दौर्योधनिरिति तु क्रियाशब्दत्वात् दुःखेन युध्यते इति । यौधिष्ठिरिः आर्जुनिरिति तु बाह्वादित्वादिञेव ॥ २१ ॥

एषु केषाञ्चिदृषिवाचिनां बहुत्वेऽस्त्रियामपत्यार्थस्य लुब् भवतीति । तत्र सूत्रमाह—

भृग्वङ्गिरस्कुत्सवसिष्ठगोतमाऽत्रेः ॥ २२ ॥ [सि० ६।१।१२८]

एभ्यः षड्भ्यो बहुत्वे गोत्रार्थप्रत्ययस्याऽस्त्रियां लुप् स्यात् । भृगवः । वसिष्ठाः । स्त्रियस्तु वासिष्ठ्यः ॥ २२ ॥

"भृग्व०" । भृगव इति । एवमङ्गिरसाः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अत्रयः । बहुत्व इति किम् ? भार्गवः भार्गवौ । आङ्गिरसः आङ्गिरसौ । कौत्सः कौत्सौ । वासिष्ठः वासिष्ठौ । गौतमः गौतमौ । आत्रेयः आत्रेयौ । गोत्रार्थप्रत्ययस्येति किम् ? भार्गवाश्छात्राः । अस्त्रियामिति किम् ? स्त्रियस्तु भार्गव्यः । आङ्गिरस्यः । कौत्स्यः । वासिष्ठ्यः । गौतम्यः । आत्रेय्यः ॥ भृग्वादीन् यस्कादिष्वपठित्वेदं वचनम् "व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा" (६।४।१३४) इत्येवमर्थमन्यथा भृगुकुलं भार्गवकुलमिति न सिद्ध्येत् ।

अत्रादिशब्दानुसन्धानात् **"यस्कादेर्गोत्रे"** (६।१।१२५) बहुत्वविशिष्टे गोत्रेऽर्थे वर्त्तमानस्य यस्कादेर्यः स प्रत्ययस्तस्याऽस्त्रियां लुप् स्यात् । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । स्त्रियास्तु यास्क्यः । यस्कस्यापत्यानि यस्कास्तत्प्रतिकृतयो यास्का इत्यत्र गोत्रे उत्पन्नस्यापि प्रत्ययस्य नेदानीं तदन्तं प्रतिकृतिषु वर्त्तमानं गोत्र इति न भवति । यस्क लह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण भलन्दन ६ एभ्यः षड्भ्यः शिवाद्यणो लुप् । खरप असान्नडाद्यायनणः । भडिल भण्डिल भडित भण्डित ४ एभ्योऽश्वाद्यायनञः । सदामत्त, कम्बलहार, पर्णाढक, कर्णाढक, पिण्डीजङ्घ, बकसक्थ रक्षोमुख, जङ्घारथ, उत्काश, कटुमन्थ, कटुकमन्थ, विषपुट निकष (किषकः) कषक, उपरिमेखल, कडम, कुश, पटाक क्रोष्टुपाद, क्रोष्टुमाय, शीर्षमाय, स्थगल, पदक, वर्ष्मक, २३ एभ्योऽत इञः । पुष्करसद् अस्माद्बाह्वादीञः । विश्रि, कुद्रि, अजबस्ति, मित्रयु, एभ्यो गृष्टाद्येयञः । इति यस्कादयः एकोनचत्वारिंशत् । **"प्राग्भरते बहुस्वरादिञः"** (६।१।१२९) बहुस्वरान्नाम्नो य इञ्प्रत्ययस्तदन्तस्य बहुत्वविशिष्टेऽर्थे प्राग्गोत्रे भरतगोत्रे च वर्त्तमानस्य यः स प्रत्ययस्तस्याऽस्त्रियां लुप् स्यात् । क्षैरकलम्भिः क्षैरकलम्भी, क्षीरकलम्भाः । एवं पन्नागाराः । मन्थरषेणाः । एष्वत इञ् । भरत. यौधिष्ठिरिः, यौधिष्ठिरी, युधिष्ठिराः । एवमर्जुनाः । उद्दालकाः । एभ्यो बाह्वादीञः । प्राग्भरत इति किम् ? बालाकयः हास्तिदासयः । कथं तौल्वलयः तैल्वलयः तैल्वकय इत्यादिषु लुप् न भवति ? उच्यते—यस्कादिषु पुष्करच्छब्दपाठात् । अस्य हि बहुस्वरत्वादनेनैवेञ्लोपे सिद्धे तदर्थोऽयं यस्कादिपाठो ज्ञापयति—तौल्वल्यादीनामिञो लुप् न भवतीति । भरताः प्राच्या एव । तेषां पृथगुपादानं प्राग्ग्रहणेनाग्रहणार्थम् । तेन यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्र इत्यत्र, "प्राच्ये ञोऽतौल्वल्यादेः" (६।१।१४३) इति लुब् न भवति । अपरे त्वाहुः—प्राग्ग्रहणं भरतविशेषणम् । क्षीरकलम्भादयो वैश्याः प्राग्भरताः । युधिष्ठिरादयो राजान उदग्भरताः, तत्र प्राग्ग्रहणादुदीच्यभरतेषु राजसु लुब् न भवति । यौधिष्ठिरयः । आर्जुनयः । भरतग्रहणात्तु प्राच्येषु राजसु न भवति—मारसम्बन्धयः । भागवित्तयः । बहुस्वरादिति किम् ? चैङ्कयः । पौष्पयः । काशयः । वाशयः । इञ इति किम् ? शान्तनवाः । **"वोपकादेः"** (६।१।१३०) । एभ्यो बहुत्वविशिष्टे गोत्रे वर्त्तमानेभ्यो यः स प्रत्ययस्तस्याऽस्त्रियां वा लुप् स्यात् । उपकाः औपकायनाः । अस्त्रियामिति किम् ? औपकायिन्यः स्त्रियः । उपक, लमक, आभ्यां नडाद्यायनणो लुप् । भ्रष्टक, कपिष्ठल, कृष्णाजिन, कृष्णसुन्दर, पिङ्गलक, कृष्णपिङ्गलक, कलशीकण्ठ, दामकण्ठ, जतुक, कनक, मदाघ,

---

१ भृगोरपत्यमपत्ये वा ऋष्यण् । भार्गवस्य भार्गवयोर्वा कुलम् । २ तदाऽयञादित्वात्, तत्र हि यञादेर्वेत्युक्तम् । ततश्च 'यञञोऽश्यापर्णः' इत्यारभ्य येषां बहुत्वे लुप् तेषां एकत्वद्वित्वयोरपि लुप् ।

अपजग्ध, अडारक, वटारक, प्रतिलोम, अनुलोम, प्रतान, अनुपद, अभिहित, अनभिहित, खारीजङ्घ, कशकृत्स्न, शलाथल, कमन्दक, कमन्तक, कवन्तक, पिञ्जलक, अडडुक, अवव्वक, पतञ्जल, पदञ्जल, पर्णक, वर्णक, कठेरित, एभ्योऽत इञः । कुषीतक—अत्र काश्यपेऽर्थे "विकर्णकुषीतकात्काश्यपे" (६।१।७५) इत्येयणः, अन्यत्रेञः । लेखाभ्रू अत्र शुभ्राद्येयणः । पिष्ट, सुपिष्ट, मसुरकर्ण, कर्णक, पर्णक, जटिलक, बधिरक, एभ्यः शिवाद्यणः । कठेलिति पतञ्जलि खरीखन एभ्य औत्सर्गिकाणः । इत्युपकादिः । **"तिककितवादौ द्वन्द्वे"** (६।१।१३१) । एषां द्वन्द्ववृत्तीनां बहुषु गोत्रापत्येषु वर्त्तमानेषु तैकायनि—कैतवायनीत्यादीनां यः सप्रत्ययस्तस्याऽस्त्रियां लुप् स्यात् । तैकायनश्च कैतवायनश्च तिककितवाः तिकाद्यायनिञो लुप् ॥ औब्जयश्च काकुभाश्च उब्जककुभाः । उब्जादिञः ककुभाच्छिवाद्यणः ॥ औरशायनश्च लाङ्कटयश्च उरशलङ्कटाः । उरशात्तिकाद्यायञिनः । लङ्कटादिञः ॥ अग्निवेशाश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदशेरकाः । शण्डिलाश्च काशकृत्स्नयश्च शण्डिलकाशकृत्स्नाः । अग्निवेशशण्डिलाभ्यां गर्गादियञः । दशेरकशकृत्स्नाभ्यां तु 'अत इञः' । "वान्येन" (६।१।१३३) इति यञो लुब्विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ॥ औपकायनाश्च लामकायनाश्च उपकलमकाः, अत्र नडाद्यायनणः ॥ भ्राष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च भ्रष्टककपिष्ठलाः । कार्ष्णाजिनयश्च कार्ष्णसुन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः । वाङ्करयश्च भाण्डीरथयश्च वङ्करभण्डीरथाः । पाहकयश्च नारकयश्च पहकनरकाः । बाकनखयश्च स्वागुदपरिणद्धयश्च बकनखस्वगुदपरिणद्धाः । अन्येषां बाकनखयश्च स्वागुदयश्च परिणद्धयश्चेति त्रिपदो द्वन्द्वः । (ता) लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च (ता) लाङ्कशान्तमुखाः एषु सर्वेषु "अत इञः" उपकलमक'—भ्रष्टककपिष्ठल, कृष्णाजिनकृष्णसुन्दर, इत्येषामुपकादिष्वद्वन्द्वार्थः पाठः । द्वन्द्वे त्वयमेव नित्यो विधिः ॥ इति तिककितवादयो द्वादश ॥ **"द्व्येकेषु षष्ठ्यास्तत्पुरुषे यञादेर्वा"** (६।१।१३४) । षष्ठीतत्पुरुषे यत्पदं तस्याः षष्ठ्या विषये द्वयोरेकस्मिंश्च वर्त्तते, तस्य यः स यञादिः प्रत्ययस्तस्य तथा वा लुब् भवति, यथा पूर्वम् । गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वा कुलं गर्गकुलं गार्ग्यकुलम् । बिदकुलं बैदकुलम् । अगस्तिकुलं आगस्त्यकुलम् । भृगुकुलं भार्गवकुलम् । द्व्येकेष्विति किम् ? गर्गाणां कुलं गर्गकुलम् । षष्ठ्या इति किम् ? गार्ग्यहितं परमगार्ग्यः । षष्ठ्या इति तत्पुरुषस्य विशेषणेन प्रतिपदोक्तस्यैव षष्ठीतत्पुरुषस्य परिग्रहादिह न भवति । गार्ग्यस्य गार्ग्ययोर्वान्तर्गतः अन्तर्गार्ग्यः "प्रात्यव०" (३।१।४७) इत्यादिना समासः । द्व्येकेष्वित्यस्य षष्ठ्या इति विशेषणं किम् ? देवदत्तस्य गार्ग्यः देवदत्तगार्ग्यः देवदत्तगार्ग्यौ । तत्पुरुष इति किम् ? गार्ग्यस्य समीपमुपगार्ग्यम् । यञादेरिति किम् ? आङ्गकुलं यास्ककुलम् । **"न प्रागजितीये स्वरे"** (६।१।१३५) । गोत्र इति वर्त्तते । गोत्रे उत्पन्नस्य बहुषु या लुबुक्ता सा प्रागजितीयेऽर्थे यो विधीयते स्वरादिस्तद्धितस्तस्मिन्विषयभूते न भवति । गर्गाणां छात्राः गार्गीयाः । वात्सीयाः । आत्रेयीयाः । आगस्तीयाः । खारपायणीयाः । हारितीयाः । प्रागजितीये इति किम् ? अत्रिभ्यो हितः अत्रीयः । अगस्तीयः । गर्गीयः । वत्सीयः । स्वर इति किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गमयम् । गर्गरूप्यम् । बिदानामपत्यं युवा बैदः बैदौ इत्यत्र तु इञि विषयभूतेऽनेन प्रतिषेधः । इञस्तु लुपि सत्यामञन्तं न बहुषु वर्त्तेत इति लुपः प्राप्तिरेव नास्ति । यत्र त्वस्ति तत्र भवत्येव । बिदानामपत्यानि बिदाः । अथेह कस्मान्न भवति ? अत्रीणां भरद्वाजानां च विवाहः अत्रिभरद्वाजिका । वसिष्ठकश्यपिका । भृग्वङ्गिरसिका । कुत्सकुशिकिकेति । उच्यते । प्रत्यासत्तेर्यस्य प्रत्ययस्य लुप् प्रतिषिध्यते । तल्लोपिप्रत्ययान्तादेव (स लोपी प्रत्ययोऽन्ते यस्य तस्मादित्यर्थः) विधीयमाने स्वरादौ प्रतिषेधः । अत्र तु द्वन्द्वाद्विधीयते । न तल्लोपिप्रत्ययान्तादिति प्रतिषेधो न भवति । "गर्गभार्गविका" (६।१।१३६) इत्युत्तरसूत्रं वा नियमार्थं व्याख्यायते । गर्गभार्गविकाया अन्यत्र द्वन्द्वे वृद्धे यूनि वा प्रतिषेधो न भवति । गोत्र

इत्येव—कुवल्याः फलं कुवलं तस्येदं कौवलम् ॥ **"गर्गभार्गविका"** (६।१।१३६)। अस्माद्द्वन्द्वात्प्रागूजितीये विवाहे योऽकञ्प्रत्ययस्तस्मिन्नणो लुप्प्रतिषेधो निपात्यते। गर्गाणां वृद्धानां भृगूणां वृद्धानां यूनां च विवाहः गर्गभार्गविका। अत्रिभरद्वाजिकादिवदप्राप्तः प्रतिषेधो निपात्यते ॥ **"यूनि लुप्"** (६।१।१३७) यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य प्रागूजितीयेऽर्थे स्वरादौ प्रत्यये विषयभूते अनुत्पन्न एव लुब् भवति। लुपि सत्यां यो यतः प्राप्नोति स तत उत्पद्यते। पण्टाहृतस्यापत्यं पाण्टाहृतिस्तस्यापत्यं युवा पाण्टाहृतः। "पाण्टाहृतिमिमताण्णश्च" (६।१।१०४) इति णः। तस्य छात्रा इति प्रागूजितीये स्वरादौ चिकीर्षिते णस्य लुप्। तत इञन्तं प्रकृतिरूपं सम्पन्नमिति। "वृद्धेऽञः" (६।३।२८) इत्यञ् भवति। पाण्टाहृताः ॥ भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः। तस्यापत्यं युवा भागवित्तिकः। "भागवित्तितार्णबिन्दव०" (६।१।१०५) इत्यादिना इकण्। तस्य छात्रा इति पूर्ववदिकणि निवृत्तेऽञ्—भागवित्ताः ॥ वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिस्तस्यापत्यं युवा वार्ष्यायणीयः "सौयामायनि०" (६।१।१०६) इत्यादिना ईयः। तस्य छात्रा इति पूर्ववदीयस्य लुपि "दोरीयः" (६।३।३२) इतीयः वार्ष्यायणीयाः ॥ कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिस्तस्यापत्यं युवा कापिञ्जलाद्यः। कुर्वादित्वात् ञ्यः। तस्य छात्राः पूर्ववत्। ञ्यस्य लुपि "वृद्धेऽञः" इत्यञ्। कापिञ्जलादाः ॥ ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिः, तस्यापत्यं युवा ग्लौचुकायनः। औत्सर्गिकोऽण्। तस्य छात्रा इति पूर्ववत् अणो लुपि पुनः शैषिकोऽणेव भवति—ग्लौचुकायनाः ॥ स्वर इत्येव—पाण्टाहृतमयम्। वार्ष्यायणीयरूप्यम्। प्रागूजितीय इत्येव—भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ॥ **"वायनणायनिञोः"** (६।१।१३८) अनयोर्यून्यपत्ये विहितयोः प्रागूजितीये स्वरादौ प्रत्यये विषयभूते लुब् वा स्यात्। गर्गस्यापत्यं गार्ग्यस्तस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः "यञिञ" (६।१।५४) इत्यायनण्। तस्य छात्रा गार्गीया गार्ग्यायणीया वा। "दोरीयः" (६।३।३२) इतीयः ॥ चिङ्कस्यापत्यं चैङ्किः तस्य युवापत्यं चैङ्कायनः। तस्य छात्राः चैङ्कीयाः चैङ्कायनीया वा ॥ आयनिञः खल्वपि—होतुरपत्यं हौत्रस्तस्यापत्यं युवा हौत्रायणिः "द्विस्वरादणः" (६।१।१०९) इत्यायनिञ्। तस्य छात्रा हौत्रीया हौत्रायणीया वा। "दोरीयः" इतीयः ॥ आयनणो णित उपादानात् ञितः पूर्वेण नित्यमेव लुप्। अत्रेरपत्यमात्रेयस्तस्यापत्यं भारद्वाजो युवा आत्रेयायणः। "आत्रेयाद्भारद्वाजे" (६।१।५२) इत्यायनञ्। तस्य छात्रा आत्रेयीयाः ॥ **"द्रीञो वा"** (६।१।१३९)। (प्रागजितीये स्वर इति निवृत्तम्)। द्रिसंज्ञो य इञ् तदन्तात्परस्य युवप्रत्ययस्य लुब् वा स्यात्। उदुम्बरस्यापत्यमौदुम्बरिः। 'साल्वांश०' (६।१।११७) इत्यादिनेञ्। तस्य युवापत्यं औदुम्बरिः औदुम्बरायणो वा। "यञिञः" इत्यायनण् ॥ द्रिग्रहणं किम्? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ॥ इञ इति किम्? अङ्गस्यापत्यमाङ्गः "पुरुमगध०" (६।१।११६) इत्यण्। तस्यापत्यमिति "द्विस्वरादणः" (६।१।१०९) इत्यायनिञ्। तस्य "अब्राह्मणात्" (६।१।१४१) इति नित्यं लुप्। आङ्गः पिता आङ्गः पुत्रः ॥ अब्राह्मणादिति नित्यं लुप्प्राप्तौ विकल्पोऽयम्। **"ञिदार्षादणिञोः"** (६।१।१४०)। ञित् आर्षश्च योऽपत्यप्रत्ययस्तदन्तात्परस्य युवप्रत्ययस्य अण इञश्च लुब् भवति। वचनभेदाद्यथासङ्ख्याऽभावः। ञितः, तिकस्यापत्यं तैकायनिः "तिकादेरायनिञ्" (६।१।१०७) तस्यापत्यमौत्सर्गिकोऽण्। तस्य लुप् तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः ॥ बिदस्यापत्यं बैदः। बिदादित्वादञ्। तस्यापत्यं "अत०" (६।१।३१) इतीञ् तस्य लुप्। बैदः पिता, बैदः पुत्रः ॥ कुरोरपत्यं कौरव्यः

---

१ अस्य सूत्रस्य करणात् अन्यथेञन्तात् आयनणैव भाव्यमिति पूर्वेणैव सिद्धे इदं न कुर्यात्, नन्वायनणैव भाव्यमिति न वाच्यं यत उदुम्बरस्यापत्यं स्त्री इञ्, नुर्जातेर्ङी तदा ङ्यन्तात् 'ङ्याप्त्यूङः' इति एयण् प्राप्नोति इति प्रागजितीये स्वरादौ प्रत्यये एतद्विना लोपो न प्राप्नोतीत्येतदर्थं कस्मान्न भवति? सत्यम्, यद्येतदर्थं स्यात्तदा यूनि लुपित्यस्याग्रे इदं कुर्यात्।

"कुर्वादेर्ञ्यः" (६।१।१००) कौरव्यस्यापत्यम् "अत इञ्" तस्य लुप् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः ॥ तिकादिषु औरशशब्दसाहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियगोत्रवृत्तिर्विज्ञायते, अयं तु ब्राह्मणगोत्रवृत्तिरित्यत आयनिञ् न भवति ॥ आर्षात्—, वासिष्ठः पिता, वासिष्ठः पुत्रः । वैश्वामित्रः पिता, वैश्वामित्रः पुत्रः । ऋष्यणन्तादिञ् तस्य लुप् ॥ आत्रेयः पिता, आत्रेयः पुत्रः "इतोऽनिञः" (६।१।७२) इत्येयणन्तादिञ् तस्य लुप् ॥ ञिदार्षादिति किम् ? औपगवः पिता, औपगविः पुत्रः, औत्सर्गिकाणन्तादिञ् । कौहडः कौहडिः पुत्रः शिवाद्यणन्तादिञ् । अणिञोरिति किम् ? दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ॥ **"अब्राह्मणात्"** (६।१।१४१) अस्माद्वृद्धप्रत्ययान्ताद्यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । अङ्गस्यापत्यमाङ्गः "पुरुमगध०" इत्यादिनाण् तस्यापत्यं 'द्विस्वरादणः' (६।१।१०९) इत्यायनिञ्, तस्य लुप् । आङ्गः पिता पुत्रश्च ॥ एवं सौह्मः पिता पुत्रश्च ॥ मगधस्यापत्यं मागधः । "पुरुमगध०" इत्यण् । तस्यापत्यम् "अत इञ्" (६।१।३१) तस्य लुप् । मागधः पिता पुत्रश्च ॥ एवं कालिङ्गः, शौरमसः पिता पुत्रश्च । तथा नाकुलः । साहदेवः । वासुदेवः आनिरुद्धः । रान्ध्रसः । श्वाफल्कः पिता पुत्रश्च । एभ्यः "ऋषिवृष्ण्यन्धककुरुभ्यः" (६।१।६१) इत्यण् । तत इञो लुप् ॥ भाण्डीजाङ्घिः । कार्णखारिः । मायूरिः । कापिञ्जलिः पिता पुत्रश्च—अत्र "अत इञ्" इतीञ् । तत आयनणो लुप् ॥ श्वशुर्यः, कुलीनः पिता पुत्रश्च । अत्रेञो लुप् ॥ अब्राह्मणादिति किम् ? गार्ग्यः पिता गार्ग्यायणः पुत्रः । **"पैलादेः"** (६।१।१४२) एभ्यो यूनि विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । ब्राह्मणार्थमप्राच्यार्थं वचनम् । पीलायाः अपत्यं पैलः । "पीलासाल्वामण्डूकाद्वा" (६।१।६८) इत्यण् । तस्यापत्यं "द्विस्वरादणः" इत्यायनिञ् । तस्य लुप् । पैलः पिता पुत्रश्च ॥ शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः । "शालङ्क्यौदि०" (६।१।३७) इत्यादि निपातनात्तस्यापत्यं "यञिञ" (६।१।५४) इत्यायनण् । तस्य लुप् । शालङ्किः पिता पुत्रश्च ॥ पैल, शालङ्कि, सात्यकि, सात्यङ्कामि, औदन्यि, औदक्षि, औदमज्जि, औदव्रजि, औदभृज्जि, औदमेघि, औदशुद्धि, औदकशुद्धि, दैवस्थानि, पैङ्गलौदयनि, राणि, राहक्षिति, भौलिङ्गि, औद्राहमानि, औजिहानि, औज्जहानि, इति पैलादयो विंशतिः । **"प्राच्येऽञोऽतौल्वल्यादेः"** (६।१।१४३) प्राच्यगोत्रे य इञ् तदन्तात् तौल्वल्यादिवर्जिताद्यून्यपत्ये विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । ब्राह्मणार्थं वचनम् । पान्नागारिः । मान्थरषेणिः क्षैरकलम्भिः पिता पुत्रश्च । अत्र सर्वत्रात इञ् । ततो "यञिञ" इत्यायनण् तस्य लुप् । प्राच्यग्रहणं किम् ? दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । इञ इति किम् ? राघवः पिता । राघविः पुत्रः । तौल्वल्यादिवर्जनं किम् ? तौल्वलिः पिता । तौल्वलायनः पुत्रः । तैल्वलिः पिता । तैल्वलायनः पुत्रः । दालीपिः पिता । दालीपायनः पुत्रः । अत्र दिलीपशब्दस्यात एव निपातनादिञि वृद्धिराकारः । अपरे दलीप इति प्रकृत्यन्तरमाहुः ॥ तौल्वलि तैल्वलि तैल्वकि धारणि रामणि दालीपि दैवोति दैवमति दैवयज्ञि प्राटाहति प्रादाहति चाफट्ट(ट्ट ?)कि आसुरि पौष्करसादि आनुराहति आनुति नैमिश्रि नैमिश्लि नैमिशि आशि, बान्धकि, (बाद्धकि, ?) यासि, आसिनासि, आसिबाद्धकि, चौकि, पौष्पि, आहिंसि, वैरकि, वैलकि, वैशीति वैहति वैकर्णि, वार्कलि, कारेणुपालि, इति तौल्वल्यादिः ।

"अपत्यार्थप्रत्ययानां बहुत्वादिविशेषिणाम् । इत्युक्तं लुप्प्रकरणमेवं शब्दोपजीवनात्" ॥ १ ॥ २२ ॥

अणो विशेषमाह ।

सङ्ख्यासम्भद्रान्मातुर्मातुर्च ॥ २३ ॥ [सि० ६।१।६६]

सङ्ख्यार्थात्सम्भद्राभ्यां च परस्य मातुरण् मातुरादेशश्च । षाण्मातुरः । साम्मातुरः ॥ २३ ॥

"सङ्ख्या०" । सङ्ख्या च सम् च भद्रश्च सङ्ख्यासम्भद्रं तस्मात् अण् सिद्ध एव, आदेशार्थं वचनम् । शेषं स्पष्टम् ।

अत्रादिशब्दसंसर्गात् **"कन्यात्रिवेण्याः कनीनत्रिवणं च"** (६।१।६२) आभ्यामण् इमावादेशौ च । कन्याया अपत्यं कानीनो व्यासः, कर्णश्च । त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः, एयणोऽपवादः । **"शुङ्गाभ्याम्भारद्वाजे"** (६।१।६३) । शुङ्गस्य शुङ्गाया वा अपत्यं शौङ्गो भारद्वाजः । शौङ्गिः शौङ्गेयश्चान्यः । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे परत्वात् "द्विस्वरादनद्याः" (६।१।७१) इत्येयण् प्राप्नोतीति बाधनार्थम् । **द्विवचनेन** स्त्रीलिङ्गः शुङ्गाशब्द उपादीयते । **"विकर्णच्छगलाद्वात्स्यात्रेये"** (६।१।६४) वैकर्णो वात्स्यः, वैकर्णिरन्यः । छागल आत्रेयः, छागलिरन्यः । **"णश्च विश्रवसो विश्लुक् च वा"** (६।१।६५) विश्रवसोऽण् । तद्योगे णकारोऽन्तादेशो णसन्नियोगे विश्लोपश्चास्य वा स्यात् । विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणः । विष्लुकि तु रावणः । आदेशार्थं वचनम् ॥ २३ ॥

अनन्तरमुपयोक्ष्यमाणां **दुसंज्ञां** क्षेपेणाह ।

वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः ॥ २४ ॥ [सि० ६।१।८]

यस्यादिस्वरो वृद्धिसंज्ञः स्यात्, स दुः स्यात् ॥ "त्यदादिः" (६।१।७) । तथा । त्यदादयो दुःसंज्ञाः स्युः ॥ "संज्ञा दुर्वा" (६।१।६) । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः ॥ २४ ॥

"वृद्धि०" वृद्धिसंज्ञ इति–यथा आम्रगुप्तायनि । "अवृद्धाद्दोर्नवा" (६।१।११०) इत्यायनिः । आम्बष्ठ्यः "दुनादि०" (६।१।११८) इति ञ्यः । शालीयः, आर्षभीयः, एनिकायनीयः, औपगवीयः, "दोरीयः" (६।३।३२) इतीयः ॥ **"त्यदा०"** । सर्वाद्यन्तर्गतस्त्यदादिर्गणः तथेति–दुसंज्ञ इत्यर्थः । यथा तदीयं यदीयं "दोरीयः" इतीयः ॥ **"संज्ञा०"** । संज्ञा संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते सा दुसंज्ञा वा स्यात् । देवदत्तीया दैवदत्ताः ।

अत्रादिशब्दसम्बन्धात् **"एदोद्देश एवेयादौ"** (६।१।९) । देश एव वर्त्तमानस्य यस्यादिः स्वर एकार ओकारो वा स्यात्, स ईयादौ प्रत्यये विधातव्ये दुः स्यात् । सैपुरिका सैपुरिकी । स्कौनगरिका स्कौनगरिकी । सेपुरं, स्कोनगरं च वाहीकग्रामौ । सिन्वन्तीति विच् गुणः । सयां पुरं सेपुरम् । तत्र भवा "व्यादिभ्यो णिकेकणौ" (६।३।३४) इत्यधिकारे "वाहीकेषु ग्रामात्" (६।३।३६) इति णिक इकण्वा ॥ देश इति किम् ? [1]दैववाचकं नन्द्यध्ययनम् । एवकारादेशेऽन्यत्र च वर्त्तमानस्य न स्यात् । क्रोडं नाम उदग्ग्रामः । देवदत्तं नाम वाहीकग्रामस्तत्र भवः क्रौडः दैवदत्तः, अत्र न णिकेकणौ । क्रोडशब्दः स्वाङ्गेऽपि वर्त्तते । देवदत्तः पुंस्यपि क्रियाशब्दश्चेति । ईयादाविति किम् ? आयनियादौ न स्यात् । सेपुरस्थः पुरुषोऽप्युपचारात्सेपुरस्तस्यापत्यं सैपुरायणिः । वृद्धादायनिञ् (न च वक्तव्यं देशे एव न वर्तत इति मुख्याभिधेयापेक्षया देशे एव वर्त्तते इत्युक्तमन्यथा उपचारेण स्वार्थं त्यजन्त्येव) । **"प्राग्देशे"** (६।१।१०) अस्मिन्वर्त्तमानस्य यस्यादिस्वर एकार ओकारो वा स्यात्, स ईयादौ विधातव्ये दुः स्यात् । कः पुनः प्राग्देशः ? पूर्वोत्तरेण वहन्त्या ईशानतो नैर्ऋतीं गच्छन्त्याः शरावतीनद्याः यः पूर्वतो दक्षिणतो वा भवति स प्राग्देशः, यस्तु पश्चिमत उत्तरतो वा स उदक् । यदाहुः–"प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा । विदुषां शब्दसंसिद्ध्यै सा वः पायाच्छरावती" ॥१॥ एणीपचने भवः एणीपचनीयः ।

---

१ देवान् वक्ति बाहुलकात् णकः । देववाचकेन कृतं प्रोक्तं वा 'कृते' 'तेन प्रोक्ते' वा अण् । अवश्यं नन्दतीति 'णिन् चावश्यके' इति णिन् । नन्दिनोऽध्ययनं नन्दन्ति भव्यप्राणिनोऽनया नन्दी चासावध्ययनं च इति वा ।

गोनर्दीयः । भोजकटीयः । कोशवृक्षीयः । [1]गोमयह्रदीयः । एकचक्रकः । क्रोडं नाम प्राग्ग्रामस्तत्र भवः क्रोडीयः । दैवदत्तं नाम प्राग्ग्रामस्तस्य काश्यादिपाठात् णिकेकणौ । दैवदत्तिका, दैवदत्तिकी । पूर्वसूत्रे देशग्रहणम् [2]एवकारेण सम्बद्धमिति पुनरिह देशग्रहणम् । देशे [3]एवेति नियमनिवृत्त्यर्थं वचनम् । **इति दुसंज्ञाप्रकरणम्** ॥ २४ ॥

अथ प्रकृतम्—

अदोर्नदीमानुषीनाम्नः ॥ २५ ॥ [सि० ६।१।६७]

दुसंज्ञवर्जान्नदीनाम्नो मानुषीनाम्नश्चापत्ये अण् स्यात् । यामुनः । दैवदत्तः ॥ २५ ॥

"अदो०" । यामुन इति । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रणेता । ऐरावत उध्यः । वैतस्तः पलालशिराः । नार्मदो नीलः । अथ मानुषी, दैवदत्त इति—एवं सौदर्शनः । सौतारः । स्वायम्प्रभः । अदोरिति किम् ? चान्द्रभागेयः । वासवदत्तेयः । नदीमानुषीग्रहणं किम् ? सुपर्ण्याः सुपर्णाया वाऽपत्यं सौपर्णेयः । विनताया वैनतेयः । देव्यावेते इत्येके । पक्षिणाविलन्ये । नामग्रहणं किम् ? शौभनेयः । शोभनाशब्दो नद्यां मानुष्यां च वर्त्तते न तु नामत्वेन । एयणोऽपवादो योगः ।

आदिशब्दात् । "**पीलासाल्वामण्डूकाद्वा**" (६।१।६८) । पैलः पैलेयः । साल्वः साल्वेयः । माण्डूकः माण्डूकिः । पीलासाल्वाभ्यां द्विस्वरैयणि मण्डूकादिञि प्राप्ते वचनम् । वाग्रहणं मण्डूकस्य ईञर्थम् ॥ "**दितेश्चैयण् वा**" (६।१।६९) दितिशब्दान्मण्डूकशब्दाच्चापत्ये एयण् वा स्यात् । दैतेयः दैत्यः । माण्डूकेयः माण्डूकिः । चकारो मण्डूकार्थः । पीलासाल्वाभ्यां ह्यण्विकल्पादेवैयण् सिद्धः । मण्डूके त्रैरूप्यं सिद्धमेव । वाग्रहणं दितेर्ञ्यार्थम् । "इतोऽनिञः" (६।१।७२) इत्येव दितेरेयणि सिद्धे, "अनिदम्यणपवादे च०" (६।१।१५) इत्यनेन तस्य बाधायां प्रतिप्रसवार्थं [4]वचनम् ॥ २५ ॥

ङ्याप्त्यूङः ॥ २६ ॥ [सि० ६।१।७०]

एभ्यश्चतुर्भ्य एयण् स्यात् । सौपर्णेयः । त्रैशलेयः । यौवतेयः । *कद्रूपाण्डूवर्जोवर्णस्य एये लुग् वक्तव्या—कामण्डलेयः । †द्विस्वरनद्यर्थात्तु नैयण्—सैम्रः ॥ २६ ॥

"ङ्या०" । ङी च आप् च तिश्च ऊङ् च ङ्याप्त्यूङ् तस्मात् ।

ऊङन्तस्य विशेषमाह । "**अकद्रूपाण्ड्वोरुवर्णस्यैये**" (७।४।६९) कद्रूश्च पाण्डूश्च कद्रूपाण्ड्वौ । न कद्रूपाण्ड्वौ अकद्रूपाण्ड्वौ तयोः, वेदाः प्रमाणमित्यादिवद्वैधिकरण्येऽपि विशेषणविशेष्यभावः । *कद्रूपाण्डूवर्जस्योवर्णान्तस्य एये तद्धिते परे लुक् स्यात् । कमण्डल्वा अपत्यं कामण्डलेय इति । एवं मद्रबाह्वा माद्रबाहेयः । शितिबाह्वाः, शैतिबाहेयः । जम्ब्वा जाम्बेयः । लेखाभ्रुवः लैखाभ्रेयः । अत्र परत्वादुवादेशो बाध्यते । अकद्रूपाण्ड्वोरिति किम् ? काद्रवेयः । पाण्डवेयः (उवर्णस्येति किम् ? वैमात्रेयः । एय इति किम् ? माण्डव्यः) ॥ †द्विस्वरेत्यादि । अत्र सूत्रम् "**द्विस्वरादनद्याः** (६।१।७१) । द्विस्वरात् ङ्याप्त्यूङन्तादनदीवाचिनोऽपत्ये एयण् स्यात् । दात्तेयः । गौप्तेयः । अनद्या इति किम् ?

१ वाहीकेषु बाधकः 'कखोपान्त्य' इतीयः । २ ननु प्राचीति क्रियताम्, देशाधिकारे सति किं पुनर्देशग्रहणेनेत्याह—एवकारेण सम्बद्धमिति तदनुवृत्तावेवकारोऽप्यनुवर्त्तेत तन्निवृत्त्यर्थं पुनर्ग्रहणमित्यर्थः ३ ननु प्राचीतिसूत्रकरणसामर्थ्यादेवकाररहित एव देश इत्यनुवर्त्तिष्यते । यदि ह्येवकारसंबद्धं देश इत्यनुवर्त्तिष्यते तदा प्राचीत्येदपि न कुर्यात् पूर्वेण सामान्येन सिद्धत्वात् । सत्यम् । प्राचीतिकृते सूत्रसामर्थ्यात् प्राचिकालेऽपि दुसंज्ञा स्यादित्यप्याशङ्का स्यादिति देशग्रहणम् । पूर्वसूत्रे सामान्ये देशे दुसंज्ञा, सामान्यमध्ये विशेषो त्रुडित एव, ततः किं वचनेनेत्याह—देश एवेति । ४ अन्यथा वाग्रहणं विनापि ह्युत्तरेण चानुकृष्टेभ्य एभ्यस्त्रिभ्योऽप्येयण् । अनेन त्वण् भवति । मण्डूकात्तु कथमपीञ् न स्यात् ।

सैत्र इति ङ्याप्त्यूङ इत्यस्यापवादः । "अदोर्नदीमानुषी०" (६।१।६७) इति तस्यापवादोऽयमिति । एवं सीताया अपत्यं सैतः । सन्ध्यायाः सान्ध्यः । वेणाया वैणः । रेवाया रैवः । शुद्धायाः शौद्धः । कुलायाः कौलः । मह्या माहः । सीतादयो नद्यः ॥ २६ ॥

इतोऽनिञः ॥ २७ ॥ [सि० ६।१।७२]

इञ्वर्जेदन्ताद्द्विस्वरादेयण् स्यात्, अपत्ये । नाभेयः । "शुभ्रादिभ्यः" (६।१।७३) । एयण् । शौभ्रेयः । गाङ्गेयः ॥ २७ ॥

"इतो०" । नाभेय इति । एवमत्रेरात्रेयः । अहेराहेयः । दुलेर्दौलेयः । बलेर्बालेयः । निधेर्नैधेयः । इत इति किम्? दाक्षिः । अनिञ इति किम्? दाक्षायणः । द्विस्वरादित्येव–मरीचेरपत्यं मारीचः । कथमजबस्तेरपत्यमाजबस्तेयः, शकन्धेः शाकन्धेयः, परिधेः पारिधेयः, शकुनेः शाकुनेयः, अतिथेरातिथेय इति? शुभ्रादित्वाद्भविष्यति । "**शुभ्रा०**" यथायोगमिञादीनामपवादः । शौभ्रेयः । शुभ्र, विष्टपुर, विष्टपर, ब्रह्मकृत, शतद्वार, शताहार, शालाथल, (शालायल?) टीक, शालूक, १० कृकलाश, प्रवाहण, भाण, भारत, भारम, कुदत्त, कर्पूर, इतर, अन्यतर, आलीढ, २० सुदत्त, सुदक्ष, तुद, अकशाप, वादन, शतल, शकल, (शक) शबल, खडूर कुशम्ब ३० शुक्र, विग्र, बीज, अश्व, बीजाश्व, अजिर, मवक्र, मखण्डु, मकष्टु, मघष्टु, ४० सृकण्डु, मृकण्डु, जिह्माशिन् अजबस्ति, शकन्धि, परिधि, अणीचि, कणीचि, शकुनि, अतिथि, ५० अनुदृष्टि, शलाकाभ्रू, लेखाभ्रू, रोहिणी, रुक्मिणी, किकशा, विवशा, गन्धपिङ्गला, षडोन्मत्ता, कुमारिका ६० कुबेरिका, अम्बिका, अशोका, श्वन्, गङ्गा, पाण्डु, विमातृ, विधवा, कद्रू, गोधा, ७० सुदामन् सुनामन् ७२ इति शुभ्रादयो द्वासप्ततिः ७२ । मवक्रान्तानामिञोऽपवाद एयण्, मखण्ड्वादीनां विमात्रन्तानामणः, विधवाया एरणः, कद्रूगोधयोश्चतुष्पादे यञः । सुदामन्सुनाम्नोरिञा शुभ्रस्य तु ञ्येन समावेशार्थः पाठः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।

अत्र विशेषास्त्वेवम् ॥ "**श्यामलक्षणाद्वासिष्ठे**" (६।१।७४) । श्यामेयो वाशिष्ठः, श्यामायनोऽन्यः । अश्वादित्वात् वृद्धे आयनञ्, अवृद्धे तु श्यामिः । लाक्षणेयो वासिष्ठः, लाक्षणिरन्यः ॥ "**विकर्णकुषीतकात्काश्यपे**" (६।१।७५) वैकर्णेयः काश्यपः, वैकर्णिरन्यः । कौषीतकेयः काश्यपः, कौषीतकिरन्यः ॥ "**भ्रुवो भ्रुव् च**" (६।१।७६) भ्रुवोऽपत्यं भ्रौवेयः ॥ २७ ॥

कल्याणादेरिन् चान्तस्य ॥ २८ ॥ [सि० ६।१।७७]

एभ्य एयण् स्यात्, अन्तस्य चेन् । काल्याणिनेयः । *क्वचिदुभयपदवृद्धिः । सौभागिनेयः । पारस्त्रैणेयः । "कुलटाया वा" (६।१।७८) अन्तस्येन् । कौलटिनेयः कौलटेयः । "चणकाण्णैरः स्त्रियां तु लुप्" (६।१।७९) । तस्य । चाटकैरः चटका ॥ २८ ॥

कल्या० । कल्याणादिभ्योऽपत्ये एयण्प्रत्ययः, इन् चान्तस्यादेशः स्यात् । कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी, जरती, बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री, अनुदृष्टि, अनुसृष्टि, इति कल्याणादयो द्वादश । परस्त्र्यन्तानां "ङ्याप्त्यूङः" (६।१।७०) इति, अनुदृष्टेः शुभ्रादित्वादेयण् सिद्ध एव, इनादेश एव विधीयते । अनुसृष्टेरुभयम् । *क्वचिदित्यादि । अत्र सूत्रपद्धतिरेवम्–"**हृद्भगसिन्धोः**" (७।४।२५) एतदन्तानां ञिणति तद्धिते पूर्वपदोत्तरपदस्य चादेः स्वरस्य वृद्धिः स्यात् । सुहृदः सुहृदयस्य वा इदं भावः कर्म वा "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यणि । युवाद्यणि वा सौहार्दम्, एवं

दौहार्दम् ॥ सुहृदो भावः कर्म वा राजादित्वात् ट्यणि सौहार्द्यम् । दौहार्द्यम् । बहुलाधिकारान्मित्रामित्रार्थयोः सुहृद्दुर्हृच्छब्दयोः सौहृदं दौर्हृदमित्यपि स्यात् । सुभगस्य भावः सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं सौभागिनेयः । दौर्भागिनेयः । एकपदत्वाण्णत्वम् । सक्तुप्रधानाः सिन्धवस्तेषु भवः साक्तुसैन्धवः । पानसैन्धवः लावणसैन्धवः माहासैन्धवः । सौरसैन्धवः । कच्छादित्वादण् । तत्र तदन्तविधेरपीष्टत्वात् । **"प्राचां नगरस्य"** (७।४।२६) प्राचां देशे वर्त्तमानस्य नगरान्तस्य शब्दस्य ञिणति तद्धिते उभयपदवृद्धिः स्यात् । सुह्मनगरे भवः सौह्मनागरः । पौण्डनागरः । वाज्र (वाजु. (व्राज) बृ. वृत्तौ) नागरः । वैराटनागरः । गैरिनागरः । प्राचामिति किम् ? उदीचां माडनगरः । **"अनुशतिकादीनाम्"** (७।४।२७) । एषां ञिणति तद्धिते उभयपदवृद्धिः स्यात् । अनुशतिकस्येदमानुशातिकम् । अनुशतिकस्यापत्यमानुशातिकिः । अनुशतिक, अनुहोड, अनुसंवत्सर, अनुसंवरण, अनुरहत्, अगारवेणु, असिहत्या, अस्यहत्या, अस्यहेति, (अश्वि(स्य) हत्य) अस्यहेतु, अनिषाद, अधेनु, कुरुषत, (कुरुरुत ?) कुरुपञ्चाल, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, वध्योग, प्रयोग, अभिगम, परस्त्री, पुष्करसद्, उदकशुद्ध, सूत्रनड, चतुर्विद्या, शातकुम्भ, सुखशयन, इत्यनुशतिकादयश्चतुस्त्रिंशत् ३४ । आकृतिगणोऽयम् । तेन राजपौरुष्यादयष्ट्यणन्ता अत्रैव पठ्यन्ते । राजपौरुष्यम् । पारिमाण्डल्यम् । प्रातिभाव्यम् । सार्ववैद्यम् । प्रत्ययान्तरे त्वादेरेव वृद्धिः । राजपुरुषायणिः (अवृद्धात् इत्यायनिञ्) **"देवतानामात्वादौ"** (७।४।२८) देवतार्थशब्दानामात्वादौ विषये ञिणति तद्धिते उभयपदवृद्धिः स्यात् । अग्निश्च विष्णुश्च देवता अस्य आग्नावैष्णवं सूक्तम् । ऐन्द्रापौष्णं हविः । आग्निमारुतं कर्म । आग्नीवारुणीमनड्वाहीमालभेत । आत्वादाविति किम् ? स्कन्दविशाखयोरिदं स्कान्दविशाखम् । ब्राह्मप्रजापत्यम् । "वेदसहश्रुतावायुदेवतानाम्" (३।२।४१) इत्यत आरभ्य "उषासोषस" (३।२।४६) इति यावदात्वादयः । **"आतो नेन्द्रवरुणस्य"** (७।४।२९) आकारान्तात्पूर्वपदात्परस्य इन्द्रस्य वरुणस्य त्वादिस्वरवृद्धिर्न स्यात् । अग्निश्च इन्द्रश्च अग्नेन्द्रौ । तौ देवता अस्य आग्नेन्द्रं सूक्तम् । सौमेन्द्रं हविः । ऐन्द्रावरुणम् । मैत्रावरुणं हविः । आत इति किम् ? आग्नीवारुणम् । "ईः षोमवरुणेऽग्ने" (३।२।४२) इतीकारः उत्तरपदस्येत्येव—ऐन्द्राग्नम् एकादश कपालं पुरोडाशं निर्वपेत् । ननु चेन्द्रस्याद्यः स्वरः सन्धिकार्येण ह्रियतेऽपरो "अवर्णेऽवर्णस्य" (७।४।६८) इत्यनेन, ततोऽस्वर एवेन्द्रशब्दस्ततः किं प्रतिषेधेन । सत्यम् । किन्त्वनेनैतत् ज्ञाप्यते—"बहिरङ्गमपि पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं भवति पश्चात्सन्धिकार्यम्", तेन पूर्वेषु कामशम इत्यादि सिद्धं भवति । अन्यथात्र यदि पूर्वं सन्धिः स्यात्तदा इकारे सन्धिनाहृते प्राग्ग्रामाणामित्युत्तरपदवृद्धिप्राप्तौ षुकारसम्बन्धिन उकारस्य वृद्धिः स्यादिति ॥ **"कुलटा०"** । आबन्तत्वादेयण् सिद्धः, आदेशार्थं वचनम् । अत एवादेशस्यैव विकल्पो नत्वेयणः । या तु कुलान्यटन्ती शीलं भिनत्ति ततः परत्वात् क्षुद्रालक्षण एरणेव—कौलटेर इति । कौलटेरोऽसतीसुतः । "स तु कौलटिनेयः स्याद्यो भिक्षुकसतीसुतः । द्वावप्येतौ कौलटेयौ०" इत्य**भिधानचिन्तामणौ** । **"चटका०"** । चटकादपत्यमात्रे णैरः प्रत्ययः स्यात् । स्त्रियां त्वपत्ये विहितस्य णैरस्य लुप् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् चटकस्य चटकाया वा अपत्यं पुमान् चाटकैरः, स्त्री तु चटका । चटकेति

---

१ ननु सुहृद्दुर्हृच्छब्दयोर्मित्रामित्रार्थयोरिति विशेषणं किमर्थं मित्रामित्रार्थयोरेव सुहृद्दुर्हृद्रूपसमासान्तविधानेनाव्यभिचारात् । सत्यम् । सुहृदयदुर्हृदयशब्दयोः क्रूराक्रूरार्थयोर्यदा 'तस्येदम्' इत्यणि 'हृदयस्य हृल्लास०' इत्यनेन हृदादेशस्तदापि सुहृद्दुर्हृच्छब्दौ स्त इति तद्व्यवच्छेदार्थं मित्रामित्रार्थयोरित्युक्तम् । २ न केवलं सिन्धु इत्यस्य केवलस्य कच्छादौ पाठात् केवलात्प्रत्ययः किंतु सिध्वन्तेति पाठात्तदन्तादपीत्यर्थः ।

जातिशब्दोऽस्त्येव, स्त्रियामपत्ये प्रत्ययाश्रवणार्थं लुब्वचनम् । अस्त्रियामित्येव सिद्धे प्रत्ययान्तरबाधनार्थं णैरविधानम् ॥ २८ ॥

क्षुद्राभ्य एरण् वा ॥ २९ ॥ [सि० ६।१।८०]

अङ्गहीना व्यभिचारिण्यो वा स्त्रियः क्षुद्रास्ताभ्य एरण् वा स्यात् । काणेरः काणेयः । दासेरः दासेयः । नाटेरः नाटेयः ॥ "गोधाया दुष्टे णारश्च" (६।१।८१) गौधारः गौधेरः । अदुष्टे तु गौधेयः । "भ्रातुर्व्यः" (६।१।८८) भ्रातृव्यः ॥ २९ ॥

"क्षुद्रा०" । व्यभिचारिण्य इति–अनियतपुंस्का इत्यर्थः । नाटेय इति–एवं कर्दनाया अपत्यं कार्दनेरः कार्दनेयः ॥ **"गोधा०"** । णारश्चेति चकारादेरण् । गोधाया दुष्टमपत्यं गौधारः गौधेरः; योऽहिना गोधायां जन्यते ॥ गौधेयोऽन्यः–शुभ्रादित्वादेयण् ।

इत्यादिशब्दानुवृत्तेः **"जण्टपण्टात्"** (६।१।८२) । आभ्यामपत्ये णारः । जाण्टारः । पाण्टारः । **कौमुद्यां** तु अनयोः स्थाने जडपण्डशब्दौ दृश्येते । जडस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः । केचित्तु पक्षस्यापत्यं पाक्षार इत्यपीच्छन्ति ॥ **"चतुष्पाद्भ्य एयञ्"** (६।१।८३) । अपत्ये । अणादीनामपवादः । कमण्डल्वा अपत्यं कामण्डलेयः । कमण्डलुशब्दश्चतुष्पाज्जातिविशेषे । शितिबाह्वाः शैतिबाहेयः । मद्रबाह्वा माद्रबाहेयः । जम्ब्वा, जाम्बेयः । शबलायाः शाबलेयः । बहुलाया बाहुलेयः । सुरभेः सौरभेयः ॥ **"गृष्ट्यादेः"** (६।१।८४) एभ्य एयञ्, अपत्ये । गृष्टेरपत्यं गार्ष्टेयः । चतुष्पाद्वाचिनो गृष्टिशब्दात्पूर्वेणैव सिद्धे अचतुष्पादार्थमुपादानम् । गृष्टि, हृष्टि, हलि, वालि, विश्रि, कुद्रि, अजबस्ति, मित्रयु इति गृष्ट्यादयोऽष्टौ । ञकारस्य ञित्कार्यार्थत्वान्मित्रयुशब्दस्यानेन एयञि "सारवैक्ष्वाक०" (७।४।३०) इति अयुलोपे ततो'ऽत इञि'ति इञि तस्य "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति लुपि मैत्रेयः पिता, मैत्रेयः पुत्र इति ॥ **"वाडवेयो वृषे"** (६।१।८५) । वृषो यो गर्भे बीजं निषिञ्चति । वडवाया वृषो वाडवेयः । अपत्येऽणेव–वाडवः । निपातनमेयणेयञोरुभयोरपि वृषे व्यवस्थापनार्थम् । अन्यथाऽन्यतरोऽपत्ये प्रसज्येत ॥ **"रेवत्यादेरिकण्"** (६।१।८६) । अपत्ये । रैवतिकः । आश्वपालिकः । रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली, वृकवञ्चिन्, वृकग्राह, कर्णग्राह, दण्डग्राह, कुक्कुटाक्ष, इति रेवत्यादयो नव । द्वारपाल्यन्तानामेयणोऽपवादः । यदि मानुषीनाम तदाऽणोपि । वृकवञ्चिनोऽणः शेषाणामिञः ॥ **"वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च"** (६।१।८७) वृद्धप्रत्ययान्तात्स्त्रीवाचिनः शब्दादपत्ये णः प्रत्ययो भवति । चकारादिकण् । क्षेपे गम्यमाने–पितुरसंविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य क्षेपः । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गः गार्गिको वा जाल्मः । "वृद्धाद्यूनि" (६।१।३०) इति यूनीमौ प्रत्ययौ । वृद्धग्रहणं किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेपे इति किम् ? गार्गेयो माणवकः । मातुः संविज्ञानार्थमिदमुच्यते ॥ **"भ्रातु०"** । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । यत्तु शत्रुरपि भ्रातृव्य उच्यते स उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्चोपचारनिमित्तम् ॥ २९ ॥

ईयः स्वसुश्च ॥ ३० ॥ [सि० ६।१।८९]

भ्रातुः स्वसुश्च ईयः । भ्रात्रीयः स्वस्रीयः ॥ ३० ॥

"ईय०" । भ्रातुरपत्यं भ्रात्रीयः । स्वसुरपत्यं स्वस्रीयः ॥ ३० ॥

---

१ 'दितेश्चैयण्वा' इत्यधिकारे यदि क्रियेत तदैयण् चतुष्पाद्भ्य इत्यधिकारे लेयञ् स्यादित्यर्थः ।

मातृपित्रादेर्डेयणीयणौ ॥ ३१ ॥ [सि० ६।१।९०]

मातृपितृपूर्वात्स्वसुरेतौ स्याताम् । मातृष्वसेयः मातृष्वस्रीयः । पैतृष्वसेयः पैतृष्वस्रीयः । "श्वशुराद्यः" (६।१।९१) श्वशुर्यः ॥ ३१ ॥

"मातृ०" । वचनभेदान्न यथासङ्ख्यम् । मातृपित्रादेः स्वस्रन्तस्य ग्रहणादिह न भवति । परममातृष्वसुरपत्यम् । परमपितृष्वसुरपत्यम् । मातृपितृशब्दयोर्ऋकारान्तयोर्निर्देशादिह न भवति । मातुःस्वस्रः मातुःष्वस्रः । पैतुःस्वस्रः पैतुःष्वस्रः । अत्र "अलुपि वा" (२।३।१९) इति विकल्पेन षत्वम् । **"श्वशु०"** । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । "सम्बन्धिनां सम्बन्धे" (७।४।१२१) इति इह न भवति–श्वशुरो नाम कश्चित्तस्यापत्यं श्वाशुरिः । **अयं श्वशुरशब्दो द्वितालव्य इति श्रीवल्लभकृताभिधानचिन्तामणिवृत्तौ, मध्यदन्त्य इत्यूष्मप्रभेदनाममालायाम्** ॥ ३१ ॥

जातौ राज्ञः ॥ ३२ ॥ [सि० ६।१।९२]

राज्ञोऽपत्ये यः स्यात् । जातौ गम्यमानायाम् ॥ ३२ ॥

"जातौ०" राजन् य इति स्थिते ॥ ३२ ॥ सूत्रम्—

अनोऽट्ये ये ॥ ३३ ॥ [सि० ७।४।५१]

अन्नन्तस्य ट्यवर्जे यादौ तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात् । राजन्यः, क्षत्रियजातिश्चेत् । "क्षत्रादियः" (६।१।९३) । तथा । क्षत्रियः । "मनोर्याणौ षश्चान्तः" (६।१।९४) । जातौ । मनुष्याः मानुषाः । "माणवः कुत्सायाम्" (६।१।९५) । मनोरपत्यं मूढं माणवः ॥ ३३ ॥

"अनो०" राजन्य इति । एवं सामनि साधुः सामन्यः । एवं वेमन्यः । मूर्द्धनि भवो मूर्द्धन्यः । अट्य इति किम् ? राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । अट्य इति पर्युदासनञा सानुबन्धट्यवर्जनादन्यस्मिन् सानुबन्धयेऽपि प्रतिषेधो भवति । तक्ष्णोऽपत्यं ताक्षण्यः (कुर्वादित्वात् ञ्यः) । अन इति किम् ? छत्रिषु साधुः छत्र्यः । क्षत्रियजातिश्चेदिति–अन्यराज्ञोऽपत्यं राजन इति । **"क्षत्रा०"** । तथेति–जातौ गम्यायामित्यर्थः । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियस्तज्जातीयश्चेत्, क्षात्रिरन्यः । **"मनो०"** । यश्च अण् च याणौ । एतत्सन्नियोगे मनुशब्दस्य षकारोऽन्तो भवति । मनोरपत्यानि मनुष्याः, मानुषा इति । जाताविति किम् ? मानवः । मानवाः (मानवीः प्रजाः पश्य) अत्र हि अपत्यमात्रं विवक्षितं न जातिस्तेन षोऽन्तो न भवति । वृद्धापत्यविवक्षायां तु लोहितादित्वाद्यञ्–मानव्यः । मानव्यौ । मनवः । मानव्यायनी । मनुष्यमानुषशब्दाभ्यां सत्यसति चापत्येऽर्थेऽनभिधानादपत्ये पुनरन्यः प्रत्ययो न भवति । **"माण०"** मनुशब्दादौत्सर्गिकेऽणि कुत्सायां गम्यायां नकारस्य णकारो निपात्यते ॥ ३३ ॥

कुलादीनः ॥ ३४ ॥ [सि० ६।१।९६]

कुलान्तात् केवलाच्च कुलादपत्ये ईनः । बहुकुलीनः; कुलीनः । "यैयकञावसमासे वा" (६।१।९७) । कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । समासे तु आढ्यकुलीनः । "दुष्कुलादेयण् वा" (६।१।९८) । दौष्कुलेयः दुष्कुलीनः । "महाकुलाद्वाऽञीनञौ" (६।१।९९) माहाकुलः । माहाकुलीनः । महाकुलीनः । "कुर्वादेर्ञ्यः" (६।१।१००) कौरव्याः । शाङ्कव्याः ॥ ३४ ॥

"कुला०" उत्तरसूत्रे समासे प्रतिषेधादिह कुलान्तः, केवलश्च गृह्यते । कुलीन इति–एवं ईषदपरिसमाप्तं कुलं बहुकुलम् तस्यापत्यं बहुकुलीनः । एषु 'अत इञः' (६।१।३१) "अदोरायनिः प्रायः" ३३

(६।१।११३) इत्यस्य चापवादः। (आढ्यकुलीनः राजकुलीनः–अत्र "अवृद्धाद्दोर्नवा" (६।१।११०) इत्यायनिञो"ऽत इञ"श्च)। "**यैय०**" यश्च एयकञ् च यैयकञौ । केवलात्कुलशब्दात्कुलान्ताच्च एतौ वा स्याताम्, न चेत्कुलशब्दः समासे वर्त्तते । ताभ्यां मुक्ते ईनश्च। कुल्य इत्यादि–एवं कुलान्तादपि–बहुकुल्यः, बाहुकुलेयकः, बहुकुलीनः आढ्यकुलीन इति। अत्र "अवृद्धाद्दोर्नवा" इत्यायनिञः "अत इञ"श्चापवादः। पूर्वसूत्रेण औत्सर्गिक ईन एव । "**दुष्कु०**" । पक्षे औत्सर्गिक ईनः। "**महा०**"। अञ्च ईनश्च अञीनञौ। महेत्याकारनिर्देशान्महतां कुलं महत्कुलम्, तस्यापत्यं महत्कुलीन इत्यत्र ईन एव। "**कुर्वा०**" । कौरव्य इति। अक्षत्रियवचनस्येह कुरोर्ग्रहणम् । क्षत्रियवचनात्तु "दुनादिकुर्वित्कोशलाजादाञ्ञ्यः" (६।१।११८) इति ञ्यः। अयं चानयोर्विशेषः–तस्य द्रिसंज्ञत्वाद्बहुषु लुप्, कुरवः; अस्य तु द्रिसंज्ञाया अभावात्कौरव्याः, ततो यूनि तिकादिपाठादायनिञ्, कौरव्यायणिः। अस्माच्च "अत इञ्" तस्य "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति लुप्। कौरव्यः। कुरुशब्दश्च तिकादिष्वपि पठ्यते। कौरवायणिः। उत्साद्यञ् तु ञ्यायनिञ्भ्यां च बाधितः । कुरुशब्दादपत्ये न भवति। (शङ्कु,) शाङ्कव्य इति–बहुषु शाङ्कव्याः इति। स्त्री शाङ्कव्या। लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यञि शाङ्कव्यः। बहुषु लुप् शङ्कवः। स्त्री शाङ्कव्यायनी॥ कुरु, शङ्कु, शकन्धु[1], शाकभू[2], पथकारिन्[3], मतिमत्[4], पितृमत्, पितृमन्तु[5], वाच्[6], हन्तृ[7], १० हृदिक, शलाका, कालाका[8], एरका[9], पदका[10], खदाका[11], केशिनी[12] मति[13], कवि[14], हन्ति[15], पिण्डी[16], २० ऐन्द्रजालि[17], धानुजि[18], वैराजकि[19], दामोष्णीषि[20], गाणकारि[21], कैशोरि[22], कापिञ्जलादि[23], गर्गर[24], हनू[25], मञ्जूष[26], ३० अविमारक[27], अजमारक, चफदक[28], कुट[29], कुटल[30], मुर[31], दभ्र, सूर्पणाय[32], श्यावनाय[33], श्यावरथ ४० श्याप्रथ, श्यावप्रथ, श्यापत्र, श्यापुत्र, सत्यंकार[34], वलभीकार, कर्णकार, पथिकार बृहतीकार वान्तवृक्ष[35] ५० आर्द्रवृक्ष[35], मूढ[36], शाक[37], इन, रथकार, नापित, तक्षन्, शुभ्र ५८ इति कुर्वादयोऽष्टापञ्चाशत्। अत्र हन्नन्तानां सामान्याणो हृदिकस्य तु वृष्ण्यणोऽपवादो ञ्यः। शलाकादीनां केशिन्यन्तानामेयणः। मानुषीनामत्वेऽणोऽपि। केशिनीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गपाठादेव पुंवद्भावो न भवति। कैशिन्यः[38]। पुंवद्भावे तु कैश्य इति स्यात्। पुंलिङ्गनिवृत्त्यर्थस्तु स पाठो न भवति। "गाथिविदथिकेशिपणिगणिनः" (७।४।५४) इत्यपत्येऽण्यन्त्यस्वरादेर्लुक्प्रतिषेधात्[39]। केशिन्शब्दाद्धि ञ्यविधानेऽण् न सम्भवत्येव। मतिकविहन्तिपिण्डीनामेयणः। ऐन्द्रजाल्यादीनां कापिञ्जलाद्यन्तानामायनणः। गर्गरादीनामिञः । तक्षन्शब्दस्य शिवाद्यणा समावेशार्थः पाठः, शुभ्रस्यैयणा॥

इत्यादिशब्दोपादानात् "**सम्राजः क्षत्रिये**" (६।१।१०१)। अपत्ये ञ्यः। सम्राजोऽपत्यं साम्राज्यः क्षत्रियश्चेत्, अन्यत्राणेव-साम्राजः। अन्ये साम्राजिरित्याहुस्तत्र सम्राट् बाह्वादिषु द्रष्टव्यः। "**सेना-**

१ शकानामन्धुरिव पृषोदरादित्वात् अलोपः। २ शाकेभ्यो भवति। ३ पन्थानं करोति। ४ मतिरस्यास्ति । ५ पितरि मन्तुः विप्रियं यस्य । ६ वक्तीत्येवंशीलः । ७ हन्ति तृच्। ८ कालमकति। ९ ईरयति 'कीचक'–इति। १० पद्यते 'कीचक'– इति पदका। ११ खदनं 'भिदादयः' खदां कायति। १२ केशा अस्याः सन्ति । १३ मन्यते । १४ कवते मन्यादित्वादिः। १५ वध्यात् हन्ति । १६ पिण्डते अच् गौरादित्वात् ङ्यां पिण्डी। १७ इन्द्रं जलति तस्यापत्यं। १८ धनोः राशेर्जातः त०। १९ विराजते त०। २० दामयुक्तमुष्णीषं यस्य त०। २१ गणान् करोति त०। २२ किशोरस्यापत्यम्। २३ कपिंजलानादत्ते त०। २४ गर्गं राति। २५ हन्ति 'पुत'– इति। २६ 'खलिफलि' इति मञ्जूषः। २७ अवीनामजानां मारकः २८ दकारो द्विः। २९ 'नाम्युपान्त्य'–इति के कुटः। ३० 'तृपिवपि'–इति कुटलः। ३१ 'ऋष्वजि'–इति। ३२ सूर्पं नयति कर्म्मणोऽण्। ३३ श्यावं पिङ्गलं नयति। श्यावः पिङ्गलो रथो यस्य । श्यायन्ते श्याः गामुकास्तैः प्रथते। श्यावैः पिङ्गलैः प्रथते। श्या गल्वरः पत्रं पुत्रो यस्य। ३४ सत्यं वलभीं कर्णान्पन्थानं बृहतीं करोति। ३५ वान्ता आर्द्रा वृक्षा यस्याम्। ३६ मुह्यति स्म। ३७ शकयते आराधयितुम्॥—नापितायनिरिति परत्वात् 'अवृद्धाद्दोर्नवा' इत्यपि॥ ३८ कैशिन्य इति। पुंवद्भावे तु कैश्य इति स्यात्, स्थिते तु 'अवर्णेवर्णस्य' इति स्वरादेशस्य स्थानित्वात् 'नोपदस्य'—इति न भवति॥ ३९ लुक्प्रतिषेधात् इति। अयमर्थः–केशिन् शब्दस्याणि अन्त्यस्वरादिलुकप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् यद्यस्मात् ञ्यः स्यात्॥

न्तकारुलक्ष्मणादिञ्श्च" (६।१।१०२) । चकारात् ञ्योऽपि । सेनान्त. हारिषेणिः हारिषेण्यः । कारु. तान्तुवायिः तान्तुवाय्यः । तौन्नवायिः तौन्नवाय्यः । वार्द्धकिः वार्द्धक्यः । कौम्भकारिः कौम्भकार्य्यः । रथकारनापिततक्षभ्यो ञ्य एव, कुर्वादिपाठात् । कुर्वादौ जातिवाचिन एव पाठाद्रथकारादिञपीति (एके) ॥ लक्ष्मण. लाक्ष्मणिः लाक्ष्मण्यः । ऋषिवृष्ण्यन्धककुरुभ्यः" (६।१।६१) अण्, ङ्याप्त्यूङन्तेभ्यस्त्वेयण्, परत्वादाभ्यां बाध्यते ॥ जातसेनिः जातसेन्यः । वैष्वक्सेनिः वैष्वक्सेन्यः । औग्रसेनिः औग्रसेन्यः । तन्तुवाय्या अपत्यं तान्तुवायिः तान्तुवाय्य इत्यादि । "**सुयाम्नः सौवीरेष्वायनिञ्**" (६।१।१०३) । सौवीरदेशे योऽर्थस्तस्मिन् वर्त्तमानात् सुयाम्नोऽपत्ये आयनिञ् स्यात् । सौयामायनिः । सौवीरेभ्योऽन्यत्र सौयामः । "**पाण्टाहृतिमिमताण्णश्च**" (६।१।१०४) । इञन्ताभ्यां पाण्टाहृतिशब्दान्मिमतशब्दाच्च सौवीरवर्त्तिभ्यामाभ्यामण् आयनिञ् च स्याताम् । पाण्टाहृतेरपत्यं युवा सौवीरगोत्रः पाण्टाहृतः । पाण्टाहृतायनिर्वा ॥ मिमतस्य मैमतः मैमतायनिर्वा ॥ सौवीरेष्वित्येव— पाण्टाहृतायनः "यञिञः" (६।१।५४) इति आयनण् । मैमतायनः । अत्र नडादित्वात् अनन्तरो मैमतिः । "**भागवित्तितार्णबिन्दवाऽकशापेयान्निन्दायामिकण्वा**" (६।१।१०५) । सौवीरेषु वृद्धे वर्त्तमानेभ्य एभ्यो यून्यपत्ये इकण्वा स्यात्, निन्दायां गम्यायाम् । भागवित्तेरपत्यं युवा निन्दितः भागवित्तिकः भागवित्तायनो वा जाल्मः । तार्णबिन्दविकः तार्णबिन्दविर्वा । आकशापेयिकः आकशापेयिर्वा । निन्दायामिति किम् ? अन्यत्र भागवित्तायनः तार्णबिन्दविः आकशापेयिरित्येव भवति । "**सौयामायनियामुन्दायनिवार्ष्यायणेरीयश्च वा**" (६।१।१०६) । एभ्य आयनिञन्तेभ्यः सौवीरेषु वृद्धे वर्त्तमानेभ्यो यून्यपत्ये ईयश्चकारादिकण् च प्रत्ययो वा स्यात्, ताभ्यां मुक्तेऽणूप्रत्ययः । निन्दायां गम्यायाम् । सुयाम्नोऽपत्यं सौयामायनिस्तस्यापत्यं युवा निन्दितः सौयामायनीयः सौयामायनिकः सौयामायनिर्वा अणो लुप् । यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिस्तिकादित्वादायनिञ् । तस्यापत्यं युवा निन्दितः यामुन्दायनीयः । यामुन्दायनिकः यामुन्दायनिर्वा । वृषस्यापत्यं वार्ष्यायणिः "दगुकोशल०" (६।१।१०८) इत्यादिसूत्रेण यकारादिरायनिञ् । तस्य वार्ष्यायणीयः वार्ष्यायणिकः वार्ष्यायणिर्वा । कश्चित्त्वन्येभ्योऽपीच्छति । तैकायनेरपत्यं युवा तैकायनीयः ॥ निन्दायामित्येव—अन्यत्र सौयामायनिः यामुन्दायनिः वार्ष्यायणिर्युवा अणेव । "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति तस्य लुप् ॥ "**तिकादेरायनिञ्**" (६।१।१०७) इञादेरपवादः । तैकायनिः । तिक, कितव, संज्ञा, बाल, शिखा (बालशिख ?) उरश, शाट्य, सैन्धव, यमुन्द, रूप्य, १० पूर्णिक ग्राम्य, नील, अमित्र, गोकक्ष्य, कुरु, देवर, दैवर, (धेवर) धैवर । २० । देवरथ, तैतिल, शैलाल, औरश, कौरव्य, भौरिकि, भौलिकि, चौपयत, चैतयत, चैटयत, ३० शैकयत, क्षैकयत (क्षैतयत ?) ध्वाज, वत, ध्वाजवत, चन्द्रमस्, शुभ, शुभ, गङ्ग, गङ्गा, वरेण्य, ४० वन्ध्या बिम्बा, अरद्ध, अरद्धा, आरद्ध, वह्यका, खल्य, लोमका, उदन्य, यज्ञ, ५० नीड, आरथ्य, लङ्कव, भीत, उतथ्य, सुयामन्, उखा, खल्वका, शल्यका, जाजल, ६० वसु, उरस्, ६२ इति तिकादयो द्वाषष्टिः ॥ शाट्यशब्दो यञन्तो ष्यणन्तो वा । शाट्यायनिः ॥ यञन्तादायनणेवेत्येके । शाट्यायनः ॥ औरशशब्देन क्षत्रियप्रत्ययान्तेन साहचर्यात् कौरव्यशब्दः क्षत्रियप्रत्ययान्त एवेह गृह्यते, अन्यस्मादिञेव । तस्य च "ञिदार्षादणिञोः" (६।१।१४०) इति लुप् । कौरव्यः पिता, कौरव्यः पुत्रः । आयनिञस्तु "अब्राह्मणात्" (६।१।१४१) इति प्राप्तापि लुप् न भवति, विधानसामर्थ्यात् । नहीञ आयनिञो वा लुपि कश्चिद्विशेषः । कौरव्यः पिता । कौरव्यायणिः पुत्रः ॥ "**दगुकोशलकर्मारच्छागवृषाद्याद्दिः**" (६।१।१०८) । एभ्यः पञ्चभ्योऽपत्ये यकारादिरायनिञ् स्यात् । दागव्यायनिः । कौशल्या-

यनिः । जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियात् "दुनादि०" (६।१।११८) इत्यादिना ञ्य एव—कौशल्य इति । कार्मार्यायणिः । छाग्यायनिः । वार्ष्यायणिः । **"द्विस्वरादणः"** (६।१।१०९) । द्विस्वरादणन्तादपत्ये आयनिञ् स्यात् । कर्तुरपत्यं कार्त्रस्तस्य कार्त्रायणिः, हर्तुर्हार्त्रायणिः, पोतुः पौत्रायणिः, । औत्सर्गिकोऽण् । यास्कायनिः, शिवाद्यण् । द्विस्वरादिति किम् ? औपगविः (अण इति किम् ? दाक्षेः दाक्षायणः । प्लाक्षेः प्लाक्षायणः) । वृद्धादेवायं विधिः । अवृद्धात्तूत्तरेण विकल्पः । अङ्गानां राजा आङ्गस्तस्य आङ्गिः आङ्गायनिर्वा । **"अवृद्धाद्दोर्नवा"** (६।१।११०) अवृद्धवाचिनो दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् वा स्यात् । आम्रगुप्तायनिः । आम्रगुप्तिः । पञ्चालानां राजा पाञ्चालस्तस्यापत्यं पाञ्चालायनिः । पाञ्चालिः । नापितस्यापत्यं नापितायनिः । नापित्यः । पक्षे नापितस्येञ् नास्ति तद्बाधनार्थं हि कुर्वादिषु तस्य पाठः । अवृद्धादिति किम् ? दाक्षेर्दाक्षायणः । दोरिति किम् ? अकम्पनस्यापत्यमाकम्पनिः । **"पुत्रान्तात्"** (६।१।१११) पुत्रशब्दान्ताद्दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ्प्रत्ययो वा स्यात् । गार्गीपुत्रायणिः । गार्गीपुत्रिः । पूर्वेणायनिञि सिद्धे वचनमिदमुत्तरसूत्रप्राप्तकागमाभावार्थम् । उत्तरेण च कागमोऽपि । ततो गार्गीपुत्रकायणिरिति तृतीयरूपं स्यात् । **"चर्मिवर्मिगारेटकार्कट्यकाकलंकावाकिनाच कश्चान्तोऽन्त्यस्वरात्"** (६।१।११२) एभ्यः सप्तभ्यः पुत्रान्ताच्च दुसंज्ञकादपत्ये आयनिञ् वा स्यात् । तत्सन्नियोगे चैषां कान्तः स्यात् । चार्मिकायणिः चार्मिणः । वार्मिकायणिः वार्मिणः । "संयोगादिनः" (७।४।५३) इति प्रतिषेधादणि अन्त्यस्वरादिलोपो न स्यात् । गारेटकायनिः गारेटिः । कर्कटस्यापत्यं कार्कट्यस्तस्यापत्यं कार्कट्यकायनिः कार्कट्यायनः । यदा त्वव्युत्पन्नः कार्कट्यशब्दस्तदा पक्षे इञेव कार्कट्यिः । काककायनिः काकिः । लाङ्कायनिः लाङ्कयः । लङ्कशब्दं केचिदकारान्तमिच्छन्ति; तन्मते लाङ्कायनिः लाङ्किः । वाकिनकायनिः वाकिनिः । पुत्रान्ताद्दोः, गार्गीपुत्रकायणिः गार्गीपुत्रिः । ककारस्यान्त्यस्वरात्परतो विधानं चर्मिवर्मिणो नकारलोपार्थम् । यद्येवं परादिरेव क्रियताम् । तथा सति प्रत्ययस्य व्यञ्जनादित्वात्पुंवद्भावो न सिद्ध्येत् । चर्मिण्या अपत्यं चार्मिकायणिः । **"अदोरायनिः प्रायः"** (६।१।११३) अदुसंज्ञकादपत्ये आयनिःप्रत्ययो वा स्यात्, प्रायः । ग्लुचुकायनिः ग्लौचुकिः । अहिचुम्बकायनिः आहिचुम्बकिः । त्रिपृष्टायनिः । त्रैपृष्टिः । श्रीविजयायनिः । श्रैविजयिः । अदोरिति किम् ? औपगविः । रामदत्तिः । रामदत्तायनिः पिता पुत्रश्च । आयनिञन्तादणो लुप् । प्रायोग्रहणात् क्वचिन्न स्यात् । दाक्षिः प्लाक्षिः ॥ ३४ ॥

राष्ट्रक्षत्रियात्सरूपाद्राजापत्ये द्रिरञ् ॥ ३५ ॥ [सि० ६।१।११४]

राष्ट्रक्षत्रियसरूपाच्छब्दाद्राष्ट्रार्थाद्राजार्थे क्षत्रियार्थाच्चापत्येऽञ् स्यात्, स च द्रिसंज्ञः ॥ ३५ ॥

"राष्ट्र०" । अत्र विकल्पो नास्ति (अपत्येऽनुवर्त्तमाने राजनीत्यधिकारस्य भणनात्) ॥ ३५ ॥

बहुष्वस्त्रियाम् ॥ ३६ ॥ [सि० ६।१।१२४]

बहुत्वे च द्रेरस्त्रियां लुक् । विदेहानां राजानोऽपत्यानि वा विदेहाः । स्त्रियस्तु वैदेह्यः । सरूपादिति किम् ? । सौराष्ट्रको राजा । एवं दाशरथिः ॥ ३६ ॥

"बहु०" । बहुष्विति द्र्यन्तस्य विशेषणं न निमित्तम् । तत्र हि पञ्चालानां निवासः पञ्चालनिवासः इत्यादौ । पञ्चाल अञ् आम् निवास इति स्थितेऽन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुप् बाधते इति बहुवचनस्य लुपि द्रेर्लुप् न स्यात् । विदेहा इति-एवमैक्ष्वाकः ऐक्ष्वाकौ इक्ष्वाकवः । पाञ्चालः पाञ्चालौ

पञ्चालाः । सौराष्ट्रक इति–अयं केवलं राष्ट्रवाची । न तु क्षत्रियस्वरूपः । एवं दाशरथिरिति । अयं हि केवलक्षत्रियवाची नतु राष्ट्रस्वरूपः ।

आदिशब्दात् **"गान्धारिसाल्वेयाभ्याम्"** (६।१।११५) गान्धारिसाल्वेयशब्दौ इञेयणन्तौ सरूपौ राष्ट्रक्षत्रियवचनौ । ताभ्यां प्राग्वत् द्रिसंज्ञोऽञ् स्यात् । दुलक्षणस्य ञ्यस्यापवादः (वचनभेदो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः) गान्धारीणां राजा गान्धारे राज्ञोऽपत्यं वा गान्धारः । गान्धारौ । गान्धारयः । बहुष्वञो लुप् । एवं सा[1]ल्वेयः । साल्वेयौ । साल्वेयाः । एकत्वद्वित्वयोस्त्वपत्यार्थविवक्षायां "अब्राह्मणात्" (६।१।१४१) इति लुप् न स्यात्, विधा[2]नसामर्थ्यात् । अन्यथा ञ्यविधावेवानयोः प्रतिषेधः क्रियेत, तथा च पूर्वेणै[3]वाऽञ् सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

पुरुमगधकलिङ्गशूरमसद्विस्वरादण् ॥ ३७ ॥ [सि० ६।१।११६]

पुर्वादिभ्यो द्विस्वरेभ्यश्चाण् द्रिः स्यात् । पौरवः । आङ्गो राजाऽपत्यं वा ॥ ३७ ॥

"पुरु०" । पौरव इति । पुरोरपत्यं पौरवः । पुरवः । मगधानां राजा मगधस्यापत्यं वा मागधः । मगधाः । एवं कालिङ्गः कलिङ्गाः । शौरमसः शूरमसाः । द्विस्वर. आङ्गः अङ्गाः । एवं वाङ्गः वङ्गाः । सौह्मः सुह्माः । पौण्ड्रः पुण्ड्राः । दारदः दरदः । द्विस्वरत्वेनैव सिद्धे पुरुग्रहणमराष्ट्रसरूपार्थम् । अस्ति राजा पुरुर्नाम न तु राष्ट्रम् । तस्यौत्सर्गिकेणैवाणा सिद्धे बहुषु लुबर्थमिदमण्विधानम् । अञैव सिद्धे अण्विधानं सङ्घाद्यण्बाधनार्थम् । तेनाकञ् भवति । पौरवकं मागधकं कालिङ्गकम्, शौरमसकम्, आङ्गकम्, वाङ्गकम् । अञन्ताद्धि गोत्रात् "–अञ्यञिञः" (६।३।१७२) इत्यण् बाधकः स्यात् ।

आदिशब्दात् **"साल्वांशप्रत्यग्रथकलकूटाऽश्मकादिञ्"** (६।१।११७) साल्वा नाम जनपदस्तदंशेभ्यः प्रत्यग्रथादिभ्यश्च इञिभ्यः सरूपेभ्यो यथार्हं राजन्यपत्ये द्रिरिञ् स्यात् । उदुम्बराणां राजा उदुम्बरस्यापत्यं वा औदुम्बरिः । "उदुम्ब[1]रास्ति[2]लखला मद्र[3]कारा यु[4]गन्धराः । भु[5]लिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वांशा इति कीर्त्तिताः ॥ १ ॥ अजमीढाजकुन्दबुधास्तूदुम्बरादिविशेषाः, तेऽपि साल्वांशा एव । प्रत्यग्रथादिग्रहणमसाल्वांशार्थम् ॥ ३७ ॥

दुनादिकुर्वित्कोशलाऽऽजादाञ्ञ्यः ॥ ३८ ॥ [सि० ६।१।११८]

दुसंज्ञेभ्यो नादेः कुरोरिदन्तेभ्यः कोशलाऽऽजादाभ्यां च द्रिर्ञ्यः स्यात् । आम्बष्ठ्यो राजाऽपत्यं वा । एवं नैषध्यः कौरव्यः आवन्त्यः कौशल्यः आजाद्यः ॥ "पाण्डोर्ड्यण्" (६।१।११९) पाण्ड्यः ॥ "शकादिभ्यो द्रेर्लुप्" (६।१।१२०) । शकः । यवनः ॥ ३८ ॥

इत्यपत्यप्रत्ययाधिकारः ।

"दुना०" आम्बष्ठानां राजा आम्बष्ठस्यापत्यं वा आम्बष्ठ्यः, आम्बष्ठाः । सौवीराणां सौवीरस्य वा सौवीर्यः सौवीराः । काम्बव्यः काम्बवाः । दार्व्यः दार्वाः । द्विस्वरलक्षणोऽण् परत्वादनेन बाध्यते । एवं दुसंज्ञकाः ॥ निषधानां निषधस्य वा नैषध्यः निषधाः । नैचक्यः निचकाः । नैप्यः नीपाः इत्यादि नादयः ॥ कुरूणां कुरोर्वा कौरव्यः कुरवः । अवन्तीनामवन्तेर्वा आवन्त्यः अवन्तयः । कौन्त्यः कुन्तयः । वासात्यः वसातयः । चैद्यः चेदयः । काश्यः काशयः इत्यादि इदन्ताः । कोशलानां कोश-

१ ननु गान्धार इत्यत्र लुबभावे फलमस्ति यतो लुप्ते गान्धारिरिति स्यात्, स्थिते तु गान्धारः; साल्वेय इत्यत्र तु किं फलम्? उच्यते । अत्रालुपि सङ्घादिविवक्षायामण् लुपि तु 'गोत्राददण्ड'—इत्यकञ् स्यात् । २ ननु दुलक्षणञ्यस्य बाधनेन विधानमिदं चरितार्थमिति कुतो विधानसामर्थ्यादित्युक्तमित्याह अन्य० । ३ अगान्धारिसाल्वेयदुनादिकुर्वित्कोशलाऽऽजादाञ्ञ्य इत्यनया युक्त्या प्रतिषेधे कृते राष्ट्रक्षत्रियादित्यनेनाञ् भविष्यतीत्यर्थः ।

लस्य वा कौशल्यः कोशलाः । अजादीनामजादस्य वा आजाद्यः आजादाः । एभ्य इति किम् ? कुमारी नाम जनपदः, क्षत्रिया च; ततो राजन्यपत्ये वाञेव—कौमारः । **"पाण्डो०"** । पाण्डुशब्दात्सरूपाद्यथार्हं राजापत्ये द्रिर्ड्यण् स्यात्, पाण्डूनां राजा पाण्डोरपत्यं वा पाण्ड्यः पाण्ड्यौ पाण्डवः । कथं पाण्डवाः यस्य दासाः ? तस्य क्षत्रियस्य राष्ट्रसरूपस्य य ईश्यो जनपदो यश्च तस्य क्षत्रियसरूपस्य राष्ट्रस्य ईशिता । क्षत्रियः स एव गृह्यते प्रत्यासत्तेः[1], अत्र तु कुरवो जनपदस्तस्य राजा पाण्डुरिति शिवाद्यण् भवति । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः, णकारो वृद्धिनिमित्तपुंवद्भावप्रतिषेधार्थः पाण्ड्याभार्यः । **"शकादि०"** शक इत्यादि-एवं जर्त्तः कम्बोजः चोलः केरलः आधारयः विधारयः उपधारयः अपधारयः मुरलः खसः । शकादयः प्रयोगगम्याः ।

इत्यादिशब्दग्रहणात् **"कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम्"** (६।१।१२१) । आभ्यां परस्य द्रेर्ञ्यस्य लुप् स्यात्, स्त्रियामभिधेयायाम् । कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्ती, एवमवन्ती । स्त्रियामिति किम् ? कौन्त्यः आवन्त्यः । प्रकृतस्य द्रेर्लुब्विज्ञानात् स्वार्थिकस्य ञ्यटोऽद्रिसंज्ञकस्य लुप् न स्यात्—कौन्ती । **"कुरोर्वा"** (६।१।१२२) । कुरोः परस्य द्रेर्ञ्यस्य स्त्रियां वा लुप् स्यात् । कुरोरपत्यं स्त्री कुरूः, कौरव्यायणी "कौरव्यमाण्डूकासुरेः" (२।४।७०) इति डायन् ॥ **"द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः"** (६।१।१२३) प्राच्यान् भर्गादींश्च वर्जयित्वाऽन्यस्मात्परस्याञोऽणश्च द्रेः स्त्रियां लुप् स्यात् । **अञ्.** शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी । एवमप्राच्या ॥ **अण्.** मद्री, दरद्, मत्सी । द्रेरिति किम् ? औत्सी औपगवी । द्रावनुवर्त्तमाने पुनर्द्रिग्रहणं भिन्नप्रकरणस्यापि द्रेर्लुबर्थम्-पर्शूः, रक्षाः, असुरी । पर्शु, रक्षस्, असुर, राष्ट्र इति राष्ट्रसरूपक्षत्रियवाचिनः । एषामपत्यं सङ्घः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षितः इत्यञणोः "शकादिभ्यो द्रेर्लुप्" इति लुपि पुनः पर्श्वादिलक्षणः स्वार्थिकोऽण्, तस्यापि स्त्रियामनेन लुप् । अञण इति किम् ? औदुम्बरी—साल्वांशत्वादिञ् । अप्राच्यभर्गादेरिति किम् ? पाञ्चाली वैदेही पैप्पली मागधी कालिङ्गी वैदर्भी आङ्गी वाङ्गी सौह्मी पौण्ड्री शौरमसी । पञ्चालादयः प्राच्या राष्ट्रसरूपाः क्षत्रियाः । **भर्गादि.** भार्गी । भर्ग, करूष, कलूश, केकय, कश्मीर, साल्व, सुस्थाल, उरश, यौधेय, शौक्रेय, शौभ्रेय, घार्त्तेय, धार्त्तेय, ज्यावानेय, त्रिगर्त्त, भरत, उशीनर, इति भर्गादिः । यौधेयादिज्यावानेयान्तानां स्वार्थिकस्याञो द्रेर्लुप्प्रतिषिध्यते । यौधेयीनां सङ्घादि यौधेयमिति सङ्घाद्यणर्थम् । लुपि हि सत्यामञन्त्वाभावात् सङ्घाद्यण् न स्यात् । प्रकृतस्य त्वञः प्रसङ्गाभावान्न प्रतिषेधः । भरतोशीनरशब्दावुत्सादिषु पठ्येते, तयोरिहोपादानात्सत्यप्यणपवादे चेत्यस्मिन् उत्साद्यञं बाधित्वा द्रिसंज्ञक एवाञ् भवतीति ज्ञाप्यते, तेन भरतानां राजानो भरता उशीनराणां उशीनरा इति राज्ञि विहितस्याञो "बहुष्वस्त्रियाम्" इति लुप् सिद्धा भवति । उत्साद्यञस्तु द्रिसंज्ञाया अभावान्न स्यात् । नापि "यञञो०" (६।१।१२६) इत्यादिना प्राप्तिः, राज्ञामगोत्रत्वात् ।

इत्यपत्यप्रत्ययानामधिकारः समर्थितः ।
मूले तु वर्णिकामात्रं वृत्तौ किमपि विस्तृतः ॥ ३८ ॥

पितृमातुर्व्यडुलं भ्रातरि ॥ ३९ ॥ [सि० ६।२।६२]

आभ्यां यथासङ्ख्यं भ्रातरि व्यडुलौ स्याताम् । पितृव्यः । मातुलः ॥ ३९ ॥

"पितृ०" । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

१ अयमर्थः–यदि राष्ट्रक्षत्रिययोरेकशब्दवाच्यता भवति, तदानीं ञ्यण् भवति ।

पित्रोर्डामहट् ॥ ४० ॥ [सि० ६।२।६३]

पितृमातृभ्यां मातापित्रोर्डामहट् स्यात् । पितामहः पितामही । मातामहः मातामही ॥ ४० ॥

"पित्रो०" माता च पिता च पितरौ तयोः पित्रोः । पितामह इति–पितुः पिता पितामहः । पितुर्माता पितामही । मातुः पिता मातामहः । मातुर्माता मातामही ॥ ४० ॥

रागाट्टो रक्ते ॥ ४१ ॥ [सि० ६।२।१]

येन कुसुम्भादिना वस्त्रादि रज्यते स रागस्तस्माट्टान्ताद्रक्तमित्यर्थेऽण् स्यात् । कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भं वस्त्रम् । "लाक्षारोचनादिकण्" (६।२।२) लाक्षिकः, रौचनिकः पटः ॥ ४१ ॥

"रागा०" । येनेत्यादि-शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः । टान्तादिति तृतीयान्तादित्यर्थः । कौसुम्भमिति-एवं काषायम् कौङ्कुमम् माञ्जिष्ठम् हारिद्रम् माहारजनम् । वाऽधिकारात् पक्षे वाक्यं समासश्च भवति–कुसुम्भेन रक्तम्, कुसुम्भरक्तमित्यादि । रागशब्देन प्रसिद्धा एव कुसुम्भादयो रागा गृह्यन्ते, तेनेह न भवति–कृष्णेन रक्तम्, लोहितेन पीतेन रक्तमिति; एते हि वर्णा द्रव्यवृत्तयो न तु रागाख्याः । कथं काषायौ गर्दभस्य कर्णौ, हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ? काषायाविव काषायौ हारिद्राविव हारिद्रौ इत्युपमानोपमेयभावेन तद्गुणाध्यारोपाद्भविष्यति । **"लाक्षा०"** । अणोऽपवाद इकण् ।

इत्यादिशब्दसम्बन्धात् **"शकलकर्दमाद्वा"** (६।२।३) । आभ्यां रागविशेषवाचिभ्यां टान्ताभ्यां रक्तार्थे इकण् वा स्यात् । शाकलिकं शाकलम् । कार्दमिकं कार्दमम् । **"नीलपीतादकम्"** (६।२।४) । आभ्यां रागविशेषवाचिभ्यां रक्तार्थे यथासङ्ख्यम् अ क इत्येतौ स्याताम् । नीलेन, लिङ्गविशिष्टग्रहणात् नील्या वा रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् । केचित्तु पीतकशब्दादप्यप्रत्ययमिच्छन्ति, पीतकेन कुसुम्भप्रथमनिर्यासेन रक्तं पीतकम् । गुणवचनत्वात् केन च सिद्धेऽणपवादार्थं वचनम् । **"उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे"** (६।२।५) उदितो गुरुर्यस्मिन् भे नक्षत्रे तद्वाचिनस्तृतीयान्ताद्युक्तेऽर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात्, स चेद्युक्तोऽर्थोऽब्दः संवत्सरः स्यात् । पुष्येण उदितगुरुणा युक्तं वर्षं पौषम्, अत्र च **"तिष्यपुष्ययोर्भाणि"** (२।४।९०) । तस्य नक्षत्रस्य सम्बन्ध्यण् भाण्, यो भादित्युल्लेखेन विधीयते । तिष्यपुष्ययोर्यकारस्य भाणि परतो लुक् स्यात् । एवं तैषं वर्षम्, पौषं तैषमहः, पौषी तैषी रात्रिः । **"चन्द्रयुक्तात्काले लुप्त्वऽप्रयुक्ते"** (६।२।६) । चन्द्रेण युक्तं यन्नक्षत्रं तद्वाचिनस्तृतीयान्ताद्युक्तेऽर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात् (चेद्युक्तोऽर्थः कालो भवति), अप्रयुक्ते तु कालवाचके शब्दे तस्य लुप् स्यात् । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तमहः पौषमहः पौषः कालः । लुप्त्वऽप्रयुक्ते-अद्य पुष्यः । पुष्ये पायसमश्नीयात् । **"द्वन्द्वादीयः"** (६।२।७) । चन्द्रयुक्तं यन्नक्षत्रं तद्द्वन्द्वात्तृतीयान्ताद्युक्ते काले ईयः स्यात् । राधानुराधाभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तं राधानुराधीयमहः । अद्य राधानुराधीयम् । एवं तिष्यपुनर्वसवीया रात्रिः । अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम् । **"श्रवणाऽश्वत्थान्नाम्न्यः"** (६।२।८) आभ्यां चन्द्रयुक्तनक्षत्रवाचिभ्यां तृतीयान्ताभ्यां युक्ते काले अकारः प्रत्ययः स्यात्, नाम्नि, प्रत्ययान्तं चेत्कालविशेषस्य नाम स्यात् । श्रवणेन चन्द्रयुक्तेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । अश्वत्था पौर्णमासी । सत्यप्यन्वर्थयोगे न कालमात्रमेवोच्यते, अपि तु कालविशेष एवेति नामत्वम् (नाम्नीति किम् ? श्रावणमह इत्यादि ।) ॥ ४१ ॥

---

१ उपलक्षणमिदमन्येषामपि वर्णानां वर्णान्तरापादनमिह रञ्जेरर्थः । २ ट इत्येकदेशेन समुदायोपलक्षणत्वात्तृतीया लभ्यते । ३ द्रव्येषु कुसुम्भादिषु वृत्तिर्येषां द्रव्याश्रयी गुण इति कृत्वा । ४ रज्यतेऽनेनेति रागशब्दव्युत्पत्तेरघटनात् । ५ अत्र अर्थेत्यस्याधारमेव न सामानाधिकरण्यम् । ६ इदं सूत्रं विनापि नीलपीतगुणयोगान्नीलं पीतं च, पीतात्तु स्वार्थिकेन कुत्सितार्थेन वा कपा पीतकमिति च सेत्स्यतीत्याशङ्का ।

षष्ठ्याः समूहे ॥ ४२ ॥ [सि० ६।२।९]

षष्ठ्यन्तात्समूहेऽणादयः स्युः । चाषम् । "**भिक्षादेः**" (६।२।१०) भैक्षं गार्भिणम् । *****गोत्रोक्षादिभ्योऽकञ्**–औपगवकम् । औक्षकम् । †"**केदाराण्ण्याकञौ**" कैदार्यं कैदारकम् । "**कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्**" (६।२।१४) कावचिकम् । हास्तिकम् । आपूपिकम् । कैदारिकम् । "**ब्राह्मणमाणववाडवाद्यः**" (६।२।१६) ब्राह्मण्यम् "**गणिकाया ण्यः**" (६।२।१७) गाणिक्यम् । "**केशाद्वा**" (६।२।१८) कैश्यं कैशिकम् । "**वाऽश्वादीयः**" (६।२।१९) अश्वीयं आश्वम् । "**पर्श्वाद् ड्वण्**" (६।२।२०) पर्शूनां समूहः पार्श्वम् ॥ ४२ ॥

"षष्ठ्या०" । गोत्रादिभ्योऽकञ् वक्ष्यते, अचित्तादिकण् [1]प्रतिपदं वक्ष्यते केदाराण्ण्यश्चेत्येवमादयः । ततोऽन्यदिहोदाहरणं द्रष्टव्यम् । चाषाणां समूहः चाषम् । एवं काकं बाकं शौकं भैक्षुकं बाडवम् । वनस्पतीनां समूहो वानस्पत्यम् स्त्रैणम् पौंस्नम् । पञ्चानां कुमारीणां समूहः पञ्चकुमारीत्यत्र तु समूहः[2] समाहार एव, स च समासार्थः, समासेनैव च गत इति तद्धितो नोत्पद्यते । यद्युत्पद्येत को दोषः स्यात् ? उत्पन्नस्यापि ह्यस्य "द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः" (६।१।२४) इति लुपा भवितव्यं तथा चाविशेषः । नैवम् । "ङ्यादेर्गौणस्य०" (२।४।९५) इत्यादिना ङीनिवृत्तिः[4] स्यात् "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्येवाणादिसिद्धौ समूहविवक्षायां तदपवादबाधनार्थो[5] योगः । "**भिक्षा०**" । भिक्षशब्दोऽकारान्तोऽपीत्येके । भिक्षा, गर्भिणी, युवति, क्षेत्र, करीष, अङ्गार, चर्मन्, वर्मन्, चर्मिन्, वर्मिन्, पद्धति, सहस्र, अथर्वन्, दक्षिणा, खण्डिक, युग, वरत्रा, युगवरत्रा, हल, बन्ध, हलाबन्ध (ली. ल. ?) औलुक्य इति भिक्षादयो द्वाविंशतिः । भिक्षादीनामचित्तेकणो बाधनार्थं वचनम्, औलुक्यशब्दस्य गोत्राकञो बाधनार्थः पाठः, युवतेरण् सिद्ध एव पुंवद्भावबाधनार्थस्तु पाठः, अन्ये तु युवतिशब्दं न पठन्ति तन्मते पुंवद्भावे सति युवतीनां समूहो यौवनमित्येव भवति । "सुरूपमतिनेपथ्यं कलाकुशलयौवनम् । यस्य पुण्यकृतः प्रेष्यं सफलं तस्य यौवनम्" ॥ १ ॥

आदिशब्दात् "**क्षुद्रकमालवात्सेनानाम्नि**" (६।२।११) क्षुद्रकमालवशब्दात्समूहेऽर्थेऽण् स्यात् । क्षुद्रकाश्च मालवाश्च क्षुद्रकमालवास्तेषां समूहः क्षौद्रकामालवी; एवं नामा काचित्सेना । गोत्राकञ्बाधनार्थं वचनम् । समूहाधिकारे हि तदन्तस्यापि ग्रहणम्–"धेनोरनञः" (६।२।१५) इति प्रतिषेधात् । *गोत्रेत्यादि–"**गोत्रोक्षवत्सोष्ट्रवृद्धाऽजोरभ्रमनुष्यराजराजन्यराजपुत्रादकञ्**" (६।२।१२) गोत्रप्रत्ययान्तेभ्य उक्षादिभ्यो दशभ्यश्च समूहेऽकञ् स्यात् । औपगवकमिति–एवं गार्गकं वात्सकं "तद्धितयस्वरेऽनाति" (२।४।९२) इति यलुक् । गार्ग्यायणकं वात्स्यायनकम् । औक्षकमिति-एवं वात्सकं औष्ट्रकं वार्द्धकं आजकं औरभ्रकं मानुष्यकं राजकं राजन्यकं "तद्धितयस्वरेऽनाती"ति यलोपे प्राप्ते सूत्रम्–"**न राजन्यमनुष्ययोरके**" (२।४।९४) अनयोर्यकारस्य अके परे लुग् न स्यात् । राजपुत्रकम् । † "**केदा०**" [अत्र "**केदाराण्ण्यश्च**" (६।२।१३) इति सूत्रम्] अचित्तेकणोऽपवादः । "**कव०**" । कवचिन् हस्तिन् इत्येताभ्यां अचित्तात्, चानुकृष्टात् केदाराच्च समूहे इकण् स्यात् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् हस्तिनां हस्तिनीनां वा समूहो हास्तिकम् । केदाराच्चैवं त्रैरूप्यम् ।

---

१ उक्षकवचिप्रभृतयः प्रतिपदोक्तत्वात् केदाराण्ण्यश्चेत्यादिषु द्रष्टव्या इति 'गोत्रादकम्' इत्यत्र न उक्ताः । २ द्वयोरप्येकार्थत्वात्समूह एव समाहार इत्यर्थः । ३ तद्धितलुकि सत्यामिति शेषः । ४ ईयादीनामित्यर्थः । ५ अन्यथा प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' इति न्यायात् समुदायस्यागोत्रत्वात् क्षौद्रकमालवकमिति न सिध्येत् ।

आदिशब्दात् **"धेनोरनञः"** (६।२।१५) धेनुशब्दात् समूहे इकण् स्यात्, न चेदस नञः परः स्यात् । धेनूनां समूहो धैनुकम् । अनञ इति–अधेनूनां समूह आधैनवम्–उत्सादित्वादञ् । अनञ इति निषेधेन तदन्तविधेर्ज्ञापितत्वात् ब्राह्मणराजन्यकं वानरहस्तिकं गौधेनुकम् । **"ब्राह्म०"** ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम् । एवं माणव्यं वाडव्यम् । **"गणि०"** गणिकानां समूहो गाणिक्यम् । ब्राह्मणादीनां यवचनं पुंवद्भावार्थम्–ब्राह्मणाः प्रकृता अस्यां यात्रायां "तयोः समूहवच्च बहुषु" (७।३।३) इति यः प्रत्ययः । ब्राह्मण्या यात्रा यस्य स ब्राह्मण्ययात्रः । वाडव्ययात्रः । ण्ये हि पुंवद्भावो न स्यात्, यथा गाणिक्यायात्रः । **"केशा०"** पक्षे अचित्तलक्षण इकण् । **"वाऽश्वा०"** पक्षे औत्सर्गिकोऽणु आश्वम् । **"पर्श्वा०"** पर्शूशब्दात् समूहे ड्वण् स्यात् । अचित्तेऽकणोपवादः । डित्वादन्त्यस्वरादिलोपः ।

आदिशब्दात् **"ईनोऽह्नः क्रतौ"** (६।२।२१) अहन्शब्दात्समूहे क्रतौ वाच्ये ईनः स्यात्, अह्नां समूहः अहीनः क्रतुः । क्रताविति किम्? आह्नमन्यत् श्वादिपाठादञ् । **"पृष्ठाद्यः"** (६।२।२२) समूहे क्रतौ वाच्ये पृष्ठानां समूहः पृष्ठ्यः क्रतुः । पृष्ठशब्दोऽहःपर्यायः । रथन्तरादि सामपर्याय इत्यन्ये । क्रतावित्येव–पार्ष्ठिकम् । **"चरणाद्धर्मवत्"** (६।२।२३) चरणं कठकालापादि तस्माद्यथा धर्मे प्रत्ययाः स्युः, तथा समूहेऽपि । वत् सर्वसादृश्यार्थस्तेन यकाभ्यः प्रकृतिभ्यो यः प्रत्ययो यथा धर्मे स्यात्ताभ्यः स प्रत्ययस्तथैवेहापि स्यादिति । यथा कठानां धर्मः काठकम्, कालापकं छान्दोग्यं औक्थिक्यं बाह्वृच्यं आथर्वणिकम् । तथा समूहेऽपि काठकमित्यादि ॥ ४२ ॥

गोरथवातात्त्रल्कट्यल्लूलम् ॥ ४३ ॥ [सि० ६।२।२४]

एभ्यस्त्रिभ्य एते त्रयः स्युः । लित्प्रत्ययान्तानां स्त्रीत्वम्–गोत्रा, रथकट्या । वातूलः ॥४३॥

"गोर०" । लित्प्रत्ययान्तानामिति "लिन्मिन्यनिण्यणिरुयुक्ता" इति लिङ्गानुशासनवचनात् । एतत्प्रत्ययान्तानां स्त्रीत्वम् । तत्र लित्प्रत्ययान्ता यथा. गोत्रा । मिप्रत्ययान्ता यथा. सूर्मिः–स्थूणा, अयःप्रतिमा च, वर्मिः वल्मीककृमिः । निप्रत्ययान्ता यथा. वेनिः–व्याधिः, केशरचनादि च । सोनिः सवनम् । अनिप्रत्ययान्ता यथा. अटनिर्धेनुः, प्रान्तः । कटनिः–शैलमेखला । धमनिः शिरा । णिप्रत्ययान्ता यथा. वाणिः–व्यूतिः, मूलं च । निश्रेणिः–अधिरोहणी, खर्जुरी च । अणिप्रत्ययान्ता यथा. सरणिः–पन्थाः, श्रेणिश्च । ग्रहणिः–कोष्ठस्थानम्, रोगविशेषश्च । करणिः सादृश्यम् । रुयुक्ताः क्तिक्यपूशप्रभृतय इति । वातूल इति ऊलप्रत्ययस्य लित्वाभावान्न स्त्रीत्वम् ॥ ४३ ॥

पाशादेश्च ल्यः ॥ ४४ ॥ [सि० ६।२।२५]

गवादिभ्यः पाशादेश्च ल्यः स्यात् ॥ ४४ ॥

"पाशा०" । पाशादिभ्यो गोरथवातशब्देभ्यश्च समूहे ल्यः स्यात् ॥ ४४ ॥

य्यक्ये ॥ ४५ ॥ [सि० १।२।२५]

ओदौतोः क्यवर्जे यादौ प्रत्ययेऽवावौ स्याताम् । गव्या वात्या पाश्या । "श्वादिभ्योऽञ्" (६।२।२६) शौवम् । "खलादिभ्यो लिन्" (६।२।२७) । खलिनी ऊकिनी । "ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्" (६।२।२८) ग्रामता ॥ ४५ ॥

॥ इति सामूहिकाः ॥

"य्यक्ये" । अक्य इति किम्? उपोयत औयत । पाश्येति-पाश तृण खल धूम अङ्गार पोटगल पिटक पिटाक शकट हल नल वन इति पाशादयो द्वादश १२ । भिक्षादिपाठादङ्गारहलशब्दाभ्यामणपि–

आङ्गारं हालं । लकारः स्त्रीत्वार्थः । "श्वादि०" शुनां समूहः शौवम् । एवं अह्नामाह्नम्, चक्रिणां चाक्रम्, दण्डिनां दाण्डम् । अणैव सिद्धे "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलोपार्थमत्रवचनम्, अणपवादबाधनार्थं च । श्वादयः प्रयोगगम्याः । "ग्राम०" सूत्रं स्पष्टम् । आदिशब्दात् "पुरुषात्कृतहितवधविकारे चैयञ्" (६।२।२९) । पुरुषशब्दात् कृतादिषु चतुर्ष्वर्थेषु, चकारात्समूहे च एयञ् स्यात् । कृतादौ यथार्हं विभक्तियोगः । पुरुषेण कृतः पौरुषेयो ग्रन्थः, पुरुषाय हितं पौरुषेयमर्हच्छासनम्, पुरुषस्य वधो विकारो वा पौरुषेयः, पुरुषाणां समूहः पौरुषेयम् ॥ ४५ ॥

विकारे ॥ ४६ ॥ [सि० ६।२।३०]

षष्ठ्यन्ताद्विकारेऽणादयः स्युः ॥ ४६ ॥

"विका०" । द्रव्यस्यावस्थान्तरं विकारः ॥ ४६ ॥

वाऽश्मनो विकारे ॥ ४७ ॥ [सि० ७।४।६३]

विकारार्थे तद्धितेऽश्मनोऽन्त्यस्वरादेर्वा लुक् । आश्मनः आश्मः । "त्रपुजतोः षोऽन्तश्च" (६।२।३३) त्रापुषं जातुषम् । "पयोद्रोर्यः" (६।२।३५) पयस्यं द्रव्यम् । "एकस्वरात्" (६।२।४८) मयट् । मृन्मयम् । "गोः पुरीषे" (६।२।५०) गोमयम् । "अपो यञ्वा" (६।२।५६) आप्यं अम्मयम् ॥ ४७ ॥

"वाऽश्म०" । स्पष्टम् । एवं भस्मनो विकारो भास्मनः । मृत्तिकाया मार्त्तिकः । अर्द्धस्य आर्द्धः । हलस्य हालः । सीरस्य सैरः । वेदीनां वैदः । वृजीनां वार्जः । त्रिगर्त्तानां त्रैगर्त्तः । रंहूनां रांहवः "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्येवाणादिसिद्धावर्द्धादिषु विकारेणापवादबाधनार्थं वचनम् ।

आदिशब्दात् "तालाद्धनुषि" (६।२।३२) । विकारेऽण् । दुलक्षणस्य मयटोऽपवादः । तालस्य विकारः तालं धनुः । धनुषीति किम् ? तालमयं काण्डम् । "त्रपु०" सूत्रं स्पष्टम् । "पयो०" पयसोऽणोपवादः । द्रोरेकस्वरमयटः । पयसो विकारः पयस्यम् । द्रोर्दारुणो विकारो द्रव्यम् ।

आदिशब्दात् "शम्या लः" (६।२।३४) शमीशब्दाद्विकारेऽवयवे चाण्, तत्सन्नियोगे चास्य लोऽन्तः । शम्या विकारोऽवयवो वा शामीलं भस्म, शामीली शाखा । "उष्ट्रादकञ्" (६।२।३६) विकारेऽवयवे च । उष्ट्रस्य उष्ट्र्या वा विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकं मांसम्, औष्ट्रिका जङ्घा । "उमोर्णाद्वा" (६।२।३७) विकारावयवयोरकञ् । उमा अतसी, तस्या विकारोऽवयवो वा औमकम् औमम् । ऊर्णाया विकारः और्णकः, और्णः कम्बलः । "एण्या एयञ्" (६।२।३८) विकारावयवयोः । अणोऽपवादः । ऐणेयं मांसम्, ऐणेयी जङ्घा । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंलिङ्गादणेव-ऐणं मांसम् । ऐणी जङ्घा । "कौशेयम्" (६।२।३९) कोशशब्दात् विकारे एयञ् निपात्यते । कोशस्य विकारः कौशेयं वस्त्रं सूत्रं वा । निपातनं रूढ्यर्थम्, तेन वस्त्रसूत्राभ्यामन्यत्र भस्मादौ न स्यात् । "परशव्याद्यलुक् च" (६।२।४०) परशवे इदं परशव्यम्, तस्माद्विकारेऽण् स्यात्, यकारस्य च लुक् । परशव्यस्यायसो विकारः पारशवम् । अण् सिद्ध एव, यलुगर्थं वचनम् । यग्रहणेन च सस्वरयकारलोपः स्यात्, तेनोत्तरसूत्रे "स्वरस्य परे प्राग्विधौ" (७।४।११०) इत्यस्यानुपस्थानाद्यलोपे "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इतीकारलोपः स्यात् । "कंसीयाञ्ञ्यः" (६।२।४१) कंसाय इदं कंसीयम्, "परिणामिनि तदर्थे" (७।१।४४) इति यः । कंसीयशब्दाद्विकारे ञ्यः स्यात्, तद्योगे य लुक् च । कंसीयस्य विकारः कांस्यम् । "हेमार्थान्माने" (६।२।४२) हेमवाचिशब्दात् माने विकारे वाच्येऽण्

स्यात् । द्रुमयटोऽपवादः । हाटकस्य विकारो हाटको निष्कः । हैमो निष्क इत्यत्र परत्वाद्धेमादिलक्षणोऽञेव । अर्थग्रहणं स्वरूपविधिव्युदासार्थम् । मान इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः । **"द्रोर्वयः"** (६।२।४३) मानविकारे । यस्यापवादः । द्रोर्विकारो द्रुवयं मानम् । "तुलाद्यैः पौतवं मानं द्रुवयं कुडवादिभिः" इति **अभिधानचिन्तामणौ । "मानात्क्रीतवत्** (६।२।४४) । मीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानं इयत्ता परिच्छित्तिहेतुः सङ्ख्यादिरुच्यते । मानवाचिनः शब्दाद्विकारे क्रीतवत्प्रत्ययविधिः स्यात् । यथा शतेन क्रीतं शत्यं शतिकम्, तथा शतस्य विकारः शत्यः शतिकः । एवं साहस्रः नैष्किकः । वत् सर्वविधिसादृश्यार्थः, तेन लुबादिकस्यापि अतिदेशो भवति-द्विशतः त्रिशतः द्विसहस्रः द्विसाहस्रः द्विनिष्कः द्विनैष्किकः । **"हेमादिभ्योऽञ्"** (६।२।४५) एभ्यो यथायोगं विकारेऽवयवे च नित्यमञ् स्यात् । हेम्नो विकारो हैमं शरासनम् । हैमी यष्टिः । हेमन्, रजत, उदुम्बर, नीवुदार, रोहीतक, बिभीतक, कण्डकार, गवीधुका, पाटली, श्यामाक, बार्हिण, इति हेमादय एकादश । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । हेम्नोऽण्बाधनार्थं अञ्वचनम्, अणि हि सति "अणि" (७।४।५२) इत्यन्त्यस्वरादेर्लुग्न स्यात् । पाटलीश्यामाकबार्हिणानां दुलक्षणस्य, शेषाणां तु वैकल्पिकस्य मयटो बाधनार्थम् । **"एक०"** एकस्वरान्नाम्नो यथासम्भवं भक्ष्याच्छादनवर्जिते विकारेऽवयवे च नित्यं मयट् स्यात् । मृन्मयमिति—एवं वाङ्मयं त्वङ्मयं स्रुङ्मयं गीर्मयं धूर्मयम् । **"गो०"** गोः पुरीषम् गोमयम् । यद्यपि पुरीषं विकारतया न प्रसिद्धं तथापि दोषधातुमलमूलं शरीरमिति विवक्षायां 'तात्स्थ्यात्तद्व्‍द्‍उपचार' इति गोः पुरीषं पयश्च विकारो भवति । एकस्वरादित्येव सिद्धे पुरीषे नियमार्थं वचनम् । **"अपो०"** अपां विकारः आप्यं अम्मयम् । एकस्वरमयटोऽपवादः ॥ ४७ ॥

ह्योगोदोहादीनञ् हियङ्गुश्चास्य ॥ ४८ ॥ [सि० ६।२।५५]

ह्योगोदोहशब्दाद्विकारे नाम्नीनञ्, प्रकृतेर्हियङ्गुरादेशश्च स्यात् । हैयङ्गवीनम्—नवनीतं घृतं वा ॥ ४८ ॥

"ह्योगो०" । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

प्राण्यौषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च ॥ ४९ ॥ [सि० ६।२।३१]

एभ्यो विकारेऽवयवे चाणादयः स्युः । कापोतं सक्थि मांसं वा । दौर्वं बैल्वं काण्डं भस्म वा ॥ ४९ ॥

"प्राण्यौ०" । एभ्योऽवयवे विकारे च यथार्हं प्रत्ययाः स्युः । तत्र कापोतं सक्थीति प्राणिनोऽवयवे, मांसमिति च विकारे । दौर्वं काण्डमिति औषधेरवयवे, भस्मेति च विकारे । बैल्वं काण्डमिति वृक्षस्यावयवे, भस्मेति च विकारे । प्राणिनश्चेतनावन्तः, औषधयः फलपाकान्ताः, वृक्षाः पुष्पवन्तः फलवन्तश्च । वृक्षविशेषत्वात् वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम्, प्राणिग्रहणेनैव चेतनावत्त्वेन वृक्षौषधिग्रहणे सिद्धे तदुपादानमिह शास्त्रे प्राणिग्रहणेन त्रसा एव गृह्यन्ते, न च स्थावरा, इति ज्ञापनार्थम् ॥ ४९ ॥

अभक्ष्याच्छादने वा मयट् ॥ ५० ॥ [सि० ६।२।४६]

भक्ष्याच्छादनवर्जे यथार्हं विकारावयवयोर्मयड्वा । भस्ममयं भासनम् । *निषेधे—मौद्गः सूपः । कार्पासः पटः । "लुब्बहुलं पुष्पमूले" (६।२।५७) "फले" (६।२।५८) वैकारिकस्य । मल्लिका पुष्पम् । विदारी मूलम् । आमलफलमित्यादि ।

॥ इति वैकारिकाः ॥

"अभक्ष्या०" । *निषेध इति—भक्ष्याच्छादनयोरित्यर्थः । भक्ष्याच्छादनयोर्मयडभावपक्षे च "तालाद्धनुषि" (६।२।३२) इत्यादिको विधिः सावकाशः । अयं च भस्ममयमित्यादौ । तत्रोभयप्राप्तौ परत्वादनेन मयट् भवति—तालमयं धनुः । त्रपुमयं जतुमयं शमीमयं पयोमयं द्रुमयं उष्ट्रमयं उमामयं ऊर्णामयं एणीमयं कोशमयं परशव्यमयं कंसीमयम् । एके तु तालाद्धनुषि द्रोः प्राणिवाचिभ्यश्च मयटं नेच्छन्ति ।

आदिशब्दसंसर्गात् **"शरदर्भकूदीतृणसोमबल्वजात्"** (६।२।४७) । एभ्यः षड्भ्योऽभक्ष्याच्छादनवर्जविकारावयवयोर्मयट् स्यात् । शरमयम् । **"दोरप्राणिनः"** (६।२।४९) । दुसंज्ञकादप्राणिवाचिनो यथायोगं भक्ष्याच्छादनवर्जविकारावयवयोर्मयट् स्यात् । अणोऽपवादः । आम्रमयं शालमयं शाकमयं काशमयं तन्मयं यन्मयम् । अप्राणिन इति किम् ? श्वाविधो विकारोऽवयवो वा शौवाविधम्, श्वाविन्मयम् । चाषं चाषमयम् । **"व्रीहेः पुरोडाशे"** (६।२।५१) । नित्यं मयट् । अणोऽपवादः । व्रीहिमयः पुरोडाशः । पुरोडाश इति किम् ? व्रैहः ओदनः, व्रैहं भस्म । **"तिलयवादनाम्नि"** (६।२।५२) आभ्यां विकारावयवयोर्मयट् स्यात्, अनाम्नि । अणोऽपवादः । तिलमयम् यवमयम् । अनाम्नीति किम् ? तैलम् । यवानां विकारो यावः स एव यावकः । **"पिष्टात्"** (६।२।५३) । विकारे मयट्, अनाम्नि । अणोऽपवादः । पिष्टमयम् । **"नाम्नि कः"** (६।२।५४) । पिष्टशब्दान्नाम्नि विकारे कः स्यात् । पिष्टस्य विकारः पिष्टिका । **"लुब्बहुलं पुष्पमूले"** इति—अस्यायमर्थः—विकारावयवयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य पुष्पे मूले विकारतयाऽवयवतया विवक्षिते बहुलं लुप् स्यात् । मल्लिकेति-मल्लिकाया विकारोऽवयवो वा पुष्पं मल्लिका । एवं यूथिका नवमालिका मालती; एष्वणो मयटो वा लुपि †**"ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगोणीसूच्योः"** (२।४।९५) । ङ्यादेः प्रत्ययस्य गौणस्याक्विबन्तस्य तद्धितलुकि लुग् भवति, गोणीसूचीसम्बन्धिनस्तु न स्यात् । पञ्चकुमार्यो देवताऽस्य पञ्चकुमारः, पञ्चभिर्धीवरीभिः क्रीतः पञ्चधीवा, पञ्चेन्द्राण्यो देवताऽस्य पञ्चेन्द्रः, पञ्चाग्निः; एषु ङीनिवृत्तौ तत्सन्नियोगशिष्टयोरागमादेशयोरपि निवृत्तिः । द्वे स्त्रियौ देवतेऽस्य अण् "द्विगोरनपत्ये०" (६।१।२४) इति लुप् द्विस्त्रः । पञ्चभिर्युवतिभिः क्रीतः पञ्चयुवा । एवं पञ्चखट्वः, पञ्चसखः । यदा सखिशब्दात् ङ्यां पञ्चभिः सखीभिः क्रीतः इति वाक्ये इकणो लोपेऽनेन ङीनिवृत्तिस्तदा "राजन्सखेः" (७।३।१०६) इति समासान्तः, यदा तु सखशब्दात्तदा ङीनिवृत्तौ सिद्धमेव । द्विपङ्गुः । कुवल्या विकारः फलं कुवलम् । एवं बदरम् आमलकम् । ङ्यादेरिति किम् ? पञ्चभिः प्रेयोभिः क्रीतः पञ्चप्रेयान् । गौणस्येति किम् ? अवन्तेरपत्यं स्त्री अवन्ती, एवं कुन्ती; "कुन्त्यवन्तेः स्त्रियाम्" (६।१।१२१) इत्यपत्यप्रत्ययलुप् । कुरूः—अत्र हि तद्धितलुकि कृते जातौ ङ्यूङावित्यगौणत्वम् । अक्विप इति किम् ? कुमारीमिच्छति कुमारीयतीति क्विप्, तस्य लोपे कुमारी । पञ्चकुमार्यो देवताऽस्य पञ्चकुमारी, एवं पञ्चेन्द्राणी पञ्चयुवती । तद्धितलुकीति किम् ? औपगवीत्वम् । कथं हरीतक्याः फलं (विकारो वा) हरीतकी, एवं कोशातकी; अत्र लुबन्तस्य स्त्रीत्वात् पुनर्गौरादिलक्षणो ङीः । अगोणीसूच्योरिति किम् ? पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पञ्चगोणिः । एवं पञ्चसूचिः ॥ †इति ङीप्रत्ययनिवृत्तौ लुबन्तस्य स्त्रीत्वात्पुनः स्त्रीप्रत्ययः । जातेर्जातिः । पाटल्याः पाटलाया वा पाटलं पाटला वा । यदाहुः—पुष्पे क्लीबेऽपि पाटला । पाटलीत्यपि । कुन्दम् सिन्दुवारम् कदम्बम् करवीरम् अशोकम् चम्पकम् कर्णिकारम् कोविदारम् । विदार्या मूलं विदारीति—एवं अंशुमती, (बृहती,) हरिद्रा माधवी मुस्ता । क्वचिन्न भवति—वरणस्य पुष्पाणि वारणानि । एरण्डस्य मूलानि ऐरण्डानि । बिल्वस्य बैल्वानि

क्वचिद्विकल्पः–शिरीषस्य पुष्पाणि शिरीषाणि, शैरीषाणि । ह्रीबेरस्य मूलानि ह्रीबेराणि, ह्रैबेराणि । क्वचित्पुष्पमूलाभ्यामन्यत्रापि भवति–आमलकस्य विकारो वृक्षः आमलकी । बदरी । व्रीहेर्विकारः स्तम्बो व्रीहिः । "फले" इत्यस्यायमर्थः–विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । आमलकमिति-आमलक्या विकारोऽवयवो वा फलमामलकम् । एवं बदर्या बदरं, कुवल्याः कुवलम्, भल्लातक्या भल्लातकम्, व्रीहिः यवः मुद्गः माषः गोधूमः निष्पावः तिलः कुलत्थः हरीतकी पिप्पली कोशातकी श्वेतपाकी अर्जुनपाकी कर्कटी नखरञ्ज(ज ?)नी शष्कण्डी दण्डी दोडी दाडी पथ्या अम्लिका चिञ्चा द्राक्षा ध्रुक्षा ध्वाङ्क्षा मृद्वीका कणा बला एला शाला काला गर्गरिका कण्टकारिका शेफालिका ओषधिः कर्कारुः । हरितक्यादिभ्यो लुपि प्रकृतिलिङ्गमेव । तत्र पूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुपि पुनः स एव स्त्रीप्रत्ययः । यद्यप्यामलकादीनि प्रकृत्यन्तराणि सन्ति, तथाप्यामलक्यादिभ्यः प्रत्ययश्रुतिनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।

अत्रायं विशेषः—"**प्लक्षादेरण्**" (६।२।५९) । फले विकारेऽवयवे च विवक्षिते । विधानसामर्थ्याच्चास्य लुप् न स्यात् । प्लाक्षं फलम् एवं नैयग्रोधम् । प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ, इङ्गुदी, वेणु, बृहती, सगु, सक्तु, क्रकतु इति नवकः प्लक्षादिः । "**जम्ब्वा वा**" (६।२।६०) । जम्बूशब्दाद्विकारेऽवयवे वा फले विवक्षिते अण्प्रत्ययो वा स्यात् । पक्षे यथाप्राप्तं प्रत्ययस्तस्य च लुप् । जम्ब्वा विकारोऽवयवो वा फलं जाम्बवम्, पक्षे जम्बूः जम्बु । लुपि स्त्रीनपुंसकते । "**न द्विरद्रुवयगोमयफलात्**" (६।२।६१) । द्रुवयं गोमयं फलं च वर्जयित्वाऽन्यस्मान्नाम्नो विकारावयवयोर्द्विः प्रत्ययो न स्यात् । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतः, कापोतस्य विकारोऽवयवो वेति "दोरप्राणिनः" (६।२।४९) इति मयट् न भवति । एवं बैल्वः ऐणेयः शामीलः औष्ट्रकः कांस्यः पारशवः । अद्रुवयगोमयफलादिति किम् ? द्रौवयं खण्डम् । गौमयं भस्म । कापित्थो रसः । कथं कपोतस्य मांसं कापोतम् तस्य विकारः कापोतो रसः, पलाशस्यावयवः पालाशी शाखा, तस्याऽवयवः पालाशी समित् इति ? विकारेऽपि प्रकृतिशब्दो वर्त्तते–मुद्गैः शालीन् भुङ्क्ते; मुद्गविकारैः शालिविकारानिति गम्यते । गोभिः सन्नद्धो वहति–गोविकारैश्चर्मभिरिति गम्यते । अवयवेऽप्यवयविशब्दो वर्त्तते–पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः । ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति । तत्र विकारवृत्तेः प्रकृतिशब्दादवयववृत्तेरवयविशब्दाच्च प्रत्ययो भवति । विकारविकारोऽपि वा विकार एव; अवयवावयवोऽप्यवयव इति । "**अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसम्**" (६।२।६४) । अविशब्दाद्दुग्धेऽर्थे सोढादयस्त्रयः प्रत्ययाः स्युः । अविसोढं अविदूसं अविमरीसम् ।

इति वैकारिकाः प्रत्ययाः ।

तदत्रास्ति १ तेषां निवासः २ तस्माददूरभवं ३ तेन निर्वृत्तं ४ चेत्यर्थचतुष्टयेऽणादयो मतुश्च यथार्हं देशे नाम्नि च वक्तव्याः । औदुम्बरं १ शैबं २ वैदिशं पुरं ३ कौशाम्बी पुरी ४ ॥ *उदुम्बरावती [1]मधुमान् ॥ "नडकुमुदवेतसमहिषाड्डित्" (६।२।७४) । मतुः । नड्वान् कुमुद्वान् ॥ "नडशादाद् ड्वलः" (६।२।७५) नड्वलम्, शाद्वलम् ॥ ५० ॥

इति चातुरर्थिकाः ॥

तदत्रास्तीत्यादिचातुरर्थिकप्रत्ययसङ्क्षेपस्तत्र "**तदत्रास्ति**" (६।२।७०) तदिति प्रथमान्तादत्रेति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, प्रथमान्तं चेदस्तीति स्यात् । अत्रापि इति [2]करणो विवक्षार्थोऽनुवर्त्तत एव, तेन प्रसिद्धे नाम्नि भूमादौ चार्थे भवति; अत एव चोभयप्राप्तौ परोऽपि मत्वर्थीयोऽनेन

१ कापोतं प्रति उत्तरं दत्वा पालाशीं प्रत्याह विकार एवेति । प्रकृतेरपीत्यर्थः । २ क्रियतेऽनेनार्थप्रतीतिरिति करणः शब्दः ।

बाध्यते। औदुम्बरमिति—उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति औदुम्बरं पुरम्। औदुम्बरो देशो पर्वतो वा॥ **तेषां निवासः, तस्मादूदूरभवमिति**—अत्र सूत्रम् **"निवासादूरभवे इति देशे नाम्नि"** (६।२।६९) षष्ठ्यन्तात् नाम्नो निवास अदूरभव इत्यनयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्। प्रत्ययान्तं चेद्देशस्य नाम स्यात्। इति शब्दो विवक्षार्थः, तेनानुवृत्ते व्यवहारमनुपतिते नाम्नि ज्ञेयं न सङ्गीते। निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः। शैबमिति—शिवीनां निवासः शैबं पुरम्। वैदिशमिति—विदिशाया नगर्या अदूरभवं वैदिशं नगरम्। वैदिशो जनपदः। एवं वरणा च असिश्च, एवंनाम्न्यौ नद्यौ तयोरदूरभवा वाराणसी पुरी। व्रीहिमत्या व्रैहिमतम्। यवमत्या यावमतम्। इह केचिदङ्गानां निवासः अङ्गाः। वङ्गाः, कलिङ्गाः, सुह्माः, मगधाः, पुण्ड्राः, कुरवः, पञ्चालाः, मत्स्याः। वरणानामदूरभवं वरणानाम नगरम्। शृङ्गशाल्मलीनां शृङ्गशाल्मयो ग्रामः। गोदयोर्ह्रदयोर्गोदौ ग्रामः। आलन्यायनपर्णानां आलन्यायनपर्णा ग्रामाः। शफण्ड्याः शफण्डी, जालपदाया जालपदा, मथुराया मथुरा, उज्जयन्या उज्जयनी, गयानां गया, उरशाया उरशा, तक्षशिलायास्तक्षशिला, कटुबदर्याः कटुबदरी। खलतिकस्य खलतिकं वनानीत्यादिषु प्रत्ययमुत्पाद्य लुपमारभन्ते, सत्यां च लुपि प्रकृतिवल्लिङ्गवचने च मन्यन्ते। तदयुक्तम्। अत्र हि प्रकृति[1]मात्रमेव देशनाम न प्रत्ययान्तम्, प्रत्ययान्तस्य च देशनामत्वे प्रत्ययो विधीयते इति न भवति। तस्य निवास इत्यादिविवक्षायां तु वाक्यमेव। प्रत्ययाभावाच्च लुबपि न वक्तव्या। [2]अङ्गवरणादीनां च क्षत्रियवृक्षादिवज्जनपदनगरादौ स्वत एव वृत्तिर्न प्रत्ययमयोगात्, लिङ्गसङ्ख्योपादानं च स्वगतमेवेति॥ **तेन निर्वृत्तं चेति** अत्र सूत्रम् **"तेन निर्वृत्ते च"** (६।२।७१) तेनेति तृतीयान्तान्निर्वृत्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, देशे नाम्नि। यदा अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्त्तरि करणे वा तृतीया। यदा त्वकर्मकविवक्षया कर्त्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ तृतीया। कौशाम्बीति—कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी। एवं ककन्देन काकन्दी। मकन्देन माकन्दी। सगरैः सागरः। सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा। चकारश्चतुर्णां योगानामुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः, तेनोत्तरे प्रत्यया यथायोगं चतुर्ष्वर्थेषु देशे नाम्नि च भवन्ति। *उदुम्बरावतीति—अत्र सूत्रम् **"नद्यां मतुः"** (६।२।७२) नद्यां देशे नाम्नि चातुरर्थिको मतुः स्यात्। अणोऽपवादः। उदुम्बरा अस्यां सन्ति उदुम्बरावती नदी। एवं मशकावती वीरणावती पुष्करावती इक्षुमती अमरावती इक्षुवती द्रुमवती शरावती इरावती **"अनजिरादिबहुस्वरशरादीनां मतौ"** (३।२।७८) अजिरादिवर्जितबहुस्वराणां शरादीनां च मतौ दीर्घः स्यात्। बहुस्वर. उदुम्बरावतीत्यादि शरादि. शरावतीत्यादि। एवं वंशावती। शुचीमति "नोर्म्यादिभ्यः" (२।१।९९) इति वत्वाभावः। वार्दावान्नामगिरिः[3]। वेटावान्नामगिरिः[4]। शर, वंश, शुचि, कुश, धूम, अहि, कपि, मुनि, मणि, वार्द, वेट इत्येकादश शरादयः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् तेन ऋषीवती मृगावती पद्मावती वातावती भोगावतीत्यादि सिद्धम्। बहुस्वरशरादीनामिति किम्? व्रीहिमती इक्षुमती द्रुमती मधुमती। बहुस्वरस्यानजिरादिविशेषणं किम्? अजिरवती, खदिरवती, स्थविरवती, पुलिनवती, मलयवती, हंसकारण्डवती, चक्रधारवती, चक्रवाकवती चक्रस्येव वाको वाग् यस्य स चक्रवाकः; अलङ्कारवती, शशाङ्कवती, हिरण्यवती, अजिरादिराकृतिगणः। नाम्नीत्येव—वलयवती कन्या शरवती तूणा॥ भगीरथेन निर्वृत्ता भागीरथी, भैमरथी, जाह्नवी, सौवास्तवी। अमत्त्वन्तान्येव भागीरथ्यादीनि

---

१ केवलैव प्रकृतिः प्रत्ययमन्तरेण देशनाम इत्यर्थः। २ स्वमतमेव द्रढयन्नाह। ३ वरं ददातीति 'आतो डः' इति डः, वार्दा मेघाः ते सन्त्यत्र मध्वादेः' इति मतुः। ४ वेटन्ति पक्षिभिः वेटा वृक्षास्ते सन्त्यत्र।

नदीनामानीति मतुर्न भवति । [1]मधुमानिति–अत्र सूत्रम् "**मध्वादेः**" (६।२।७३) । एभ्यश्चातुरर्थिको मतुर्देशे नाम्नि । अणोऽपवादः । अनद्यर्थ आरम्भः । एवं बिसवान् स्थाणुमान् । मधु, बिस, स्थाणु, ऋषि, इक्षु, वेणु, कर्कन्धु, कर्कन्धू, शमी, करीर, हिम, किसर, सार्प्पण, रुवत्, पार्दा, कीशरु, इष्टका, पार्दाकी, शरु, शुक्ति, आसुति, स्तुत्या, आसन्दी, शकली, वेट, पीडा, अक्षशिल, अक्षशिला, तक्षशिला, आमिषी इति मध्वादिः । "**नड०**" । (६।२।७४) सूत्रं स्पष्टम् । नड्वान् कुमुद्वान् इति–एवं वेतस्वान् । महिष्मान् देशः, तत्र भवा माहिष्मती नगरी । डित्त्वमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् । "**नड०**" (६।२।७५) आभ्यां डिद्वलः प्रत्ययः स्यात् । मत्वणाद्यपवादः ।

आदिशब्दोपादानात् "**शिखायाः**" (६।२।७६) अस्मात् वलः स्यात्, चातुरर्थिको देशे नाम्नि । अणोऽपवादः । पृथग्योगाड्डिदिति निवृत्तम् । शिखावलं नाम नगरम् । मतुप्रकरणे शिखाया वलचं वक्ष्यति तत् अदेशार्थं वचनम् । "**शिरीषादिककणौ**" (६।२।७७) । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषिकः, शैरीषकः । "**शर्कराया इकणीयाऽण् च**" (६।२।७८) । शर्कराशब्दात् इकण् ईय. अण्. चकारात् इक. कण्. इत्येते पञ्च प्रत्यया भवन्ति । शर्करा अस्मिन्देशे सन्ति शार्करिकः शर्करीयः शार्करः शर्करिकः शार्करकः । शिरीषाः[3] शर्करा इति प्रत्यययोगमन्तरेणापि देशे वृत्तिरिति पूर्ववत्प्रत्ययो न भवति । "**रोऽश्मादेः**" (६।२।७९) । अश्मरः, यूषरः । अश्मन्, यूष, ऊष, गूथ, (यूथ ?), मीन, गुद, दर्भ, कूट, गुहा, वृन्द, नग, कण्ड, गह्व, कन्द, पामन्, इत्यश्मादयोऽष्टादश । "**प्रेक्षादेरिन्**" (६।२।८०) प्रेक्षी, फलकी । प्रेक्षा, फलका, बन्धुका, धुवका, ध्रुवका, क्षिपका, कूप, पू (पु ?) क, धू (धु) क, इकट, कङ्कट, सङ्कट, मह, गर्त्त, न्यग्रोध, परिवाप, यवाष, हिरण्य इति प्रेक्षादयोऽष्टादश । "**तृणादेः सल्**" (६।२।८१) । तृणसा नदसा । तृण, नद, जन, पर्ण, वर्ण, अर्णस्, वरण, बिल, तुस, वन, पुल, इति तृणादय एकादश । "**काशादेरिलः**" (६।२।८२) । काशिलम् वाशिलम् । काश, वाश, अश्वत्थ, पलाश, पीयुक्षा, पाश, विश, तृण, नल, वन, नलवन कर्दम, कर्पूर, बर्बर बबूल (वर्तूल ?), शीपाल, कण्टक, गुहा, कपित्थ इति काशादय एकोनविंशतिः । "**अरीहणादेरकण्**" (६।२।८३) । आरीहणकम् । अरीहण, खण्ड, खण्डू, द्रुघण, किरण, खदिर, भगल, भलन्दन, उलुन्द, खावुरायण, १० खापुरायण खानुरायण, कौष्टायन, कौद्रायण, भास्त्रायण, त्रैगर्त्तायन, रैवत, रायस्पोष, विपथ, विपाश, २० उद्दण्ड, उदञ्चन, ऐडायन, जाम्बवत, जाम्बवत्, शिंशपा, वीरण, धौमतायन, यज्ञदत्त, सुयज्ञ ३० बधिर, बिल्व, जम्बू, साम्बुरायण, सौशायन, सौमायन, शाण्डिल्यायन, श्वित्रायणि, साम्बरायण, कश, ४० कृत्स्न, सुदर्शन ४२ इत्यरीहणादयो द्विचत्वारिंशत् । "**सुपन्थ्यादेर्ञ्यः**"[4] (६।२।८४) ।

१ 'कृष्यादिभ्यो वलच्' । २ न वाच्यं सामान्येनोत्तरेण देशेऽप्यदेशेपि भविष्यतीति यतोऽत्राणोपवाद इत्युक्तम् । ततश्चादेशे तस्य चरितार्थत्वात् देशे "निवासादूरभवे" इत्यादयः स्युः । ३ नन्वेवंविधान्यपि देशनामानि दृश्यन्ते तदर्थं प्रत्ययलुप् वक्तव्येत्याशङ्का । ४ सुपन्थ्यादिर्विचार्यते । शोभनः पन्थाः सुपन्थाः सुपन्थिन् गणपाठात् वले सुवन्थिन् । सङ्काशते अच् सङ्काशः । कं सुखं पीलति कम्पीलः । सुष्ठु पिपर्त्ति 'स्वरेभ्य इः' सुपरिः । 'यूसुक'–इति यूपः । 'गम्यमि–' इति 'उखनख'–इति वा अङ्गः । नाथति अच् नाथः । कूटति 'नाम्युपान्त्य–' इति के कुटः । कुट्यति अचि कूटः । माद्यन्तं प्रयुङ्क्ते माद्यते स्म मादितः । मार्जनं मर्शनं मर्षणं वा मृष्टिः । 'अगपुलाभ्याम्'–इति अगस्त्यः तस्यापत्य–मृष्यण् आगस्त्यः । शूरयतेऽच् शूरः । विरमति 'पुतपित्त'–इति यद्वा विरमतीति औणादिके तृप्रत्यये विरन्तरमाचष्टे णिजि विरन्तयति । अचि विरन्तः । विकरोति अचि विशिष्टौ करौ यस्य वा विकरः । नसते 'नसिवसि'–इति नासिका । प्रगदतीत्येवंशीलः प्रगदी । मां गदतीत्येवंशीलः 'ड्यापो बहुलं नाम्नि' इति ह्रस्वे मगदी । कटिं ददाति पाति वाति वा कटिदः । कटिपः । कटिवः । चुदण् 'द्वार'–इति चूदारः 'अगयङ्गि–' इति मदारः । मृजुमजशब्दे । मजति 'अग्यङ्गि' इति बहुवचनादार–इति वा मजारः । कमेः 'कोविद'–इति कोविदारः ॥

सौपन्थ्यं सौवन्थ्यम् । सुपथिन्शब्दस्यात एव निपातनात् पकारात्परो नागमः, पस्य च वा वकारः । साङ्काश्यम् काम्पील्यम् । सुपन्थिन्, सुवन्थिन्, सङ्काश, कम्पील, सुपरि, यूप, अश्मन्, अश्व, अङ्ग, नाथ, १० (कुण्ट ?), कुट, कूट, मादित, मृष्टि, आगस्त्य, शूर, विरन्त, विकर, नासिका, प्रगदिन्, २० मगदिन्, कदिद, कदिप, कटिव, चूदार, मदार, मजार, कोविदार, कश्मीर, शूरसेन, ३० कुम्भ, सीर, सुर, कसमल, अंस, नासा, रोमन्, लोमन्, तीर्थ, पुलिन, ४० मलिन, अगस्ति, सुपथिन्, दृश, नल, सकर्ण, कलिव, खडिव, गडिव, ४९ इति सुपन्थ्यादय एकोनपञ्चाशत् ॥ "**सुतङ्गमादेरिञ्**" (६।२।८५) । सौतङ्गमिः, मौनिवृत्तिः । सुतङ्गम, मुनिवित्त, विप्रवित्त, महावित्त महापुत्र शुक्रश्वेत, विग्र, श्वन्, अर्जुन, १० अजिर, गदिक, बीज, वापा, बीजवापा, कर्ण १६ इति सुतङ्गमादयः षोडश । "**बलादेर्यः**" (६।२।८६) । बल्यं, पुल्यं, बल, पुल, मुल, उल, कुल, दुल, नल, दल, उरल, लकुल, वन, इति बलादय एकादश । "**अहरादिभ्योऽञ्**" (६।२।८७) आह्नं लौमं तेन निर्वृत्तमित्यर्थेऽहःशब्दादेशे नाम्नि विहितोऽयमञ्, विशेषविहितत्वान्निर्वृत्त इति सामान्यविहितस्य कालेकणोऽपवादः । अहन्, लोमन्, वेमन्, गङ्गा, इत्यहरादिराकृतिगणः । "**सख्यादेरेयण्**" (६।२।८८) । साखेयः, साखिदत्तेयः । सखि, सखिदत्त, दत्त, अग्नि, अग्निदत्त, वादत्त(त्त ?), वायुदत्ता, गोपि(फि ?)ल, भल्ल, भल्लि, पाल, चक्र, १० चक्रवाक, छगल, अशोक, सीरक, सरक, वीर, सरस, समल, रोह, २० तमाल, कदल, करवीर, कुसी(शी ?), रक, सुरसा, सरस, सप्तल (सपूल ?), २७ इति सख्यादयः सप्तविंशतिः । "**पन्थ्यादेरायनण्**" (६।२।८९) । पान्थायनः–पथिन्शब्दस्य प्रत्ययोगे पकारात्परो नागमोऽत एव निपातनात् । पाक्षायणः । तौषायणः । पथिन्, पक्ष, तुष, अण्डक, वलिक, पाक, चित्र, चित्रा, अतिश्व, कुम्भ १०, सीरक, रोमन्, लोमन्, लोमक, हंसक, सकर्ण, सकर्णक, सरक, सहक, सरस, २० समल, अंशुक, कुण्ड, यमल, बिल, हस्त, हस्तिन् सिंहक २८ इति पन्थ्यादयोऽष्टाविंशतिः । "**कर्णादेरायनिञ्**" (६।२।९०) । कार्णायनिः; वासिष्ठायनिः । कर्ण, वसिष्ठ, अर्क, लुस, (अर्कलुस ?) द्रुपद, आनडुह्य, पाञ्चजन्य, स्फिग्, स्फिज, कुलिश, आकनीकुम्भ, जित्वन्, जिल, जैत्र, अण्डीवत्, जीवन्त इति कर्णादयः सप्तदश । "**उत्करादेरीयः**" (६।२।९१) । उत्करीयः सङ्करीयः । उत्कर, सङ्कर, सम्पर, सम्पल, सफर, सम्फल, सम्फुल, पिप्पल, मूल, पिप्पलमूल, १० अर्क, अश्मन्, सुवर्ण, सुपर्ण, पर्ण, सुपर्णपर्ण, हिरण्यपर्ण, इडा, अजिर, इडाजिर, २० अग्नि, तिक, कितव, आतप, अनेक, पलाश तिक कितव, वातपान, एकपलाश, अनेकपलाश, ३० अंशक, त्रैवण, पिचुक, अश्वत्थ, काश, कु(क्षु ?)द्रा, काशकु(क्षु ?)द्रा, भस्त्रा, विशाल, शाला, ४० अरण्य, अजिन, अरण्याजिन, जन्यजनक आजान (आर्जन ?) खण्डाजिन, चल्यण, उत्क्रोश, क्षान्ध, ५० खण्ड, खदिर, सूर्पणाय, श्यावनाय, नैवाकव, नितान्त, वृक्ष, नितान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, ६० इन्द्रवृक्ष, अग्निवृक्ष, मन्त्रणार्ह, अरीहण वातागर, विजिगीषा, संस्रव, रोहिद्वर्त्त, नीवापक, अणक, ७० विशात (निशांत ?) खलाजिन, (खल, जिन ?) वैराणक, अवरोहित, जन्य, इन्द्रवर्म्म, गर्त्त ७८ इति उत्करादयोऽष्टसप्ततिः । "**नडादेः कीयः**" (६।२।९२) नडकीयः । नड, प्लक्ष, बिल्व, वेणु, वेत्र, वेतस, त्रि, तक्षन्, इक्षुकाष्ठ, कपोत, कुञ्च, कुञ्चाशब्दस्यात एव गणपाठात् ह्रस्वत्वमिति नडादय एकादश । "**कृशाश्वादेरीयण्**" (६।२।९३) कार्शाश्वीयः आरिष्टीयः । कृशाश्व, अरिष्ट, अरिष्य, वेष्य, विशाल, रोमक, लोमक, रोमश, शवल, शिवल, कूट वर्तुल (चर्चुल ?), पूगर, शूकर, धूकर, पूकर, सदृश, सन्दृश, पुरग, पुरुगा (पुरगा, पूरवा ?), २० सुख, धूम, धूम्र, विनत, आविनत, विकूट्यी (विकुच्या) ?

अयस्, सायस्, इरस्, अरुश (उरस्?) ३० अरुष्य, ऐरास, इर, आस, मुद्गल, मौद्गल, मौद्गल्य, सुवर्चल, प्रतर, अजिन, ४० अभिजन, अवनत, विकुव्याङ्कुश, पराशर ४४ इति कृशाश्वादयश्चतुश्चत्वारिंशत् । **"ऋश्यादेः कः"** (६।२।९४) । ऋश्यकः, न्यग्रोधकः । ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निलीन, निवात, विनद्ध, सित, शित, नद्ध, निनद्ध, १० परिगूढ, उपगूढ, उत्तर, अश्मन्, उत्तराश्मन्, स्थूल, बाहु, स्थूलबाहु, खदिर, अरपु २० अरडु, (अरदु?), अनडुह, परिवंश, खडु (खण्ड), वीरण, कर्दम, शर्करा, निबन्ध, अशनि, खण्ड, ३ दण्ड, वेणु, परिवृत्त, वेश्मन्, अंशु ३५ इति ऋश्यादयः पञ्चत्रिंशत् ॥ **"वराहादेः कण्"** (६।२।९५) वाराहकम् पालाशकम् । वराह, पलाश, विनद्ध, निबद्ध, स्थूल, बाहु, स्थूलबाहु, खदिर, विदग्ध, विजग्ध, (विभग्न?) विभक्त, पिनद्ध, निमग्न, इति वराहादयस्त्रयोदश ॥ **"कुमुदादेरिकः"** (६।२।९६) कुमुदिकम् इक्कटिकम् बल्वजिकम् । केचिदमुं न पठन्ति बाल्वजः । कुमुद, इक्कट, निर्यास, कङ्कट, सङ्कट, गर्त्त, परिवाप, यवाष, कूप, विकङ्कत, १० बल्वज, अश्वत्थ, न्यग्रोध, बीज, दश, (शाल्मलि, मुनि, स्थल, ?) ग्राम, इति कुमुदादयः षोडश । **"अश्वत्थादेरिकण्"** (६।२।९७) आश्वत्थिकम्, कौमुदिकम् । अश्वत्थ, कुमुद, गोमठ, रथकार, दाश, ग्राम, घास, कुन्द, शाल्मलि, मुनि, स्थल, मुनिस्थल, कुट, मुचुकर्ण, मुचुकूर्णि, कुण्डल, शुचिकर्ण इत्यश्वत्थादयः सप्तदश । इतिकरणाद्यथा-दर्शनं प्रत्ययव्यवस्थायामर्थप्रकृत्युपादानं प्रपञ्चार्थम् ।

"इत्येवं दर्शिताः केचित् **प्रत्ययाश्चातुरर्थिकाः** । देशे नाम्नीति सर्वत्रानुसन्धेयं बुधैरिह" ॥१॥

"राष्ट्रेऽनङ्गादिभ्यः" (६।२।६५) राष्ट्रं जनपदः । षष्ठ्यन्तादङ्गादिवर्जान्नाम्नो राष्ट्रेऽभिधेये यथाविहितमण् स्यात् । शिबीनां राष्ट्रं शैबम् । उषुष्टानां औषुष्टम् गान्धारीणां गान्धारम् । अनङ्गादिभ्य इति किम्? अङ्गानां वङ्गानां राष्ट्रमिति वाक्यमेव । अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र (पुष्ट्र?) इत्यङ्गादयः प्रयोगगम्याः केचित्त्वङ्गादिनिषेधं नेच्छन्ति अङ्गानां राष्ट्रं आङ्गं वाङ्गमित्यादि "निवासादुरभवे०" (६।२।६९) इत्यत्र निवास इत्यभिधानादीशितव्ये राष्ट्रेऽयं विधिः । उभयथा हि राष्ट्रसम्बन्धः स्यात् । **राजन्यादिभ्योऽकञ्"** (६।२।६६) । राष्ट्रवाच्ये, अणपवादोऽयम् । राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकम् । राजन्य, दैवयात (तव?), देवयात, आवृत आत्रा(त्री?) तक, वात्रवं(व?), शालङ्कायन, बाभ्रव्य, जालन्धरायण, जानन्धरायण, १० कौन्ताल, आत्मकामेय, अम्बरीपुत्र, अम्ब-रीषपुत्र, बैल्वन (बैल्ववन?), शैलूष (शैलूषज?) उदुम्बर, औदुम्बर, तैतल, सम्प्रिय, २० दाक्षि, ऊर्णनाभ, ऊर्णनाभि, आर्जुनायन, विराट, मालव, त्रिगर्त्त २७ इति राजन्यादयः सप्तविंशतिः बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । **"वसातेर्वा"** (६।२।६७) । वसातीनां राष्ट्रं वासातकं वासातम् । **"भौरिक्यैषुकार्यादेर्विधभक्तम्"** (६।२।६८) । भौरिक्यादेर्विधः प्रत्ययः ऐषुकार्यादेश्च भक्तः प्रत्ययः स्याद्राष्ट्रे वाच्ये । अणोऽपवादः । भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविधं स्वभावान्नपुंसकता । भौरिकि, भौलिकि, चौपयत, चौदयत, चौटयत, चैकयत, सैकयत, क्षैतयत, काणेय, वालिकाज्य, वाणिजक इति भौरिक्यादय एकादश ११ ऐषुकारीणां राष्ट्रं ऐषुकारिभक्तम् । ऐषुकारि, सारस्या(सा?)यन चान्द्रायण, ताक्ष्यार्यण, द्व्याक्षायण, त्र्याक्ष्यायण, औलायन, सौवीर, दासमित्रि, दासमित्रायण, १० (सौ)द्रकायण, शयंड, शाण्ड, शायाण्ड, शायण्डायन, खादायन, गौलुकायन, विश्व, विश्वधेनव (वैश्वधेनव), वैश्वमाणव, २० वैश्वदेव (तुण्ड, देव?), तुण्डदेव, शायाण्डि(ण्डी?), शायण्डि-(ण्डी?), वायौविद, २७ इत्यैषुकार्यादयः सप्तविंशतिः ।

इति राष्ट्राधिकारः ।

"सास्य पौर्णमासी" (६।२।९८) इति शब्दो नाम्नीति चानुवर्त्तते, देशे इति निवृत्तम् । प्रथमान्तात्पौर्णमासीवाचिशब्दादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययान्तं चेन्नाम स्यात् । इति शब्दो विवक्षार्थस्तेन मासार्द्धमासयोरेव [1]संवत्सरपर्वणोः प्रत्ययः । संवत्सरेऽप्यन्ये । अस्येत्यवयवावयविसम्बन्धे षष्ठी । पौषी पौर्णमासी अस्य पौषो मासोऽर्द्धमासो वा । एवं माघः, वैशाखः, आषाढः इति । नाम्नीत्येव–पौषी पौर्णमासी अस्य पञ्चरात्रस्य (दशरात्रस्य भृतकमासस्य वा) इति वाक्यमेव । पौर्णमासीति–पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यामस्तीति "पूर्णमासोऽण्" (७।२।५५) इत्यण् । पूर्णमास इयमिति वा "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यण् पूर्णो मा मासो वाऽस्यां पूर्णमासा वा युक्तेति अत एव निपातनादण् । **"आग्रहायण्यश्वत्थादिकण्"** (६।२।९९) । आग्रहायणी मार्गशीर्षी पौर्णमासी । अस्य आग्रहायणिको मासोऽर्द्धमासो वा, मार्गशीर्ष इत्यर्थः । अश्वत्था आश्वयुजी पौर्णमासी । अस्य आश्वत्थिको मासोऽर्द्धमासो वा आश्विनमास इत्यर्थः । अन्ये तु अश्वत्थशब्दमप्रत्ययान्तं पौर्णमास्यामपि पुंलिङ्गमिच्छन्ति–अश्वत्थः पौर्णमासी । **"चैत्रीकार्त्तिकीफाल्गुनीश्रवणाद्वा"** (६।२।१००) । इकण् । पक्षे औत्सर्गिकोऽण् । चैत्री पौर्णमासी अस्य चैत्रिकश्चैत्रो वा मासोऽर्द्धमासो वा । एवं कार्त्तिक्याः कार्त्तिकिकः कार्त्तिकः; फाल्गुन्याः फाल्गुनिकः फाल्गुनः; श्रवणायाः श्रावणिकः श्रावणः ॥ ५० ॥

इति मासप्रकरणम् ।

देवता ॥ ५१ ॥ [सि० ६।२।१०१]

देवतार्थात्प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थेऽणादयः स्युः । जिनो देवता अस्येति जैनः ॥ ५१ ॥

"देव०" । सूत्रं स्पष्टम् ।

अत्रायं विशेषः–**"पैङ्गाक्षीपुत्रादेरीयः"** (६।१।१०२) । पैङ्गाक्षीपुत्रो देवताऽस्य पैङ्गाक्षीपुत्रीयं हविः । तार्णबिन्दवो देवतास्य तार्णबिन्दवीयं हविः । एवं पैङ्गीपुत्रीयम् । पैङ्गाक्षीपुत्रादयः प्रयोगगम्याः । **"शुक्रादियः"** (६।१।१०३) शुक्रो देवतास्य शुक्रियोऽध्यायः । **"शतरुद्रात्तौ"** (६।२।१०४) । ईय-इयौ प्रत्ययावित्यर्थः । शतसङ्ख्या रुद्राः शतरुद्रास्ते देवताऽस्य शतरुद्रीयं शतरुद्रियम् । शतं रुद्रा देवता अस्येति द्विगावपि विधानसामर्थ्याल्लुप् न भवति । **"अपोनपादपांनपातस्तृ चातः"** (६।२।१०५) । आभ्यां ईय-इयौ प्रत्ययौ स्तः, तत्सन्नियोगे चानयोराच्छब्दस्य तृ आदेशः स्यात् । अपोनपात् देवतास्य अपोनप्त्रीयं अपोनप्त्रियं अपान्नप्त्रीयं अपान्नप्त्रियम् । **"महेन्द्राद्वा"** (६।२।१०६) । ईय-इयौ । महेन्द्रो देवताऽस्य महेन्द्रीयं महेन्द्रियम्, पक्षेऽण् माहेन्द्रम् । **"कसोमाट्ट्यण्"** (६।२।१०७) । अणोऽपवादः । टकारो ङ्यर्थः । कः प्रजापतिर्देवताऽस्य कायं हविः । कायी इष्टिः । कशब्दं प्रति णित्त्वस्य वैयर्थ्यादालोपो न स्यात् । सोमो देवताऽस्य सौम्यं सूक्तं, हविः । सौमी ऋक् । **"द्यावापृथिवीशुनासीराग्नीषोममरुत्वद्वास्तोष्पतिगृहमेधादीययौ"** (६।२।१०८) । एभ्यः षड्भ्यः एतौ प्रत्ययौ स्तः । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ, ते देवते अस्य द्यावापृथिवीयं द्यावापृथिव्यं हविः । शुनश्च वायुः, सीरश्चादित्यः, शुनासीरौ; तौ देवता अस्य शुनासीरीयं शुनासीर्यम् । "**अन्ये** त्वेकमेव शुनासीरमिति इन्द्रस्य गुणमाहुः । तथा **चाश्वलायनः**–इन्द्रो वा शुनासीर इति । मन्त्रवर्णश्च–इन्द्रं शुनासीरमस्मिन् यज्ञे हवामहे" इति **मनोरमायाम्** । अग्निश्च सोमश्चाग्नीषोमौ तौ देवता अस्य अग्नीषोमीयं अग्नीषोम्यम् । **मरुत्वान्**

१ संवत्सरस्य वर्षस्य पर्वभूतो मासः सूर्याचन्द्रमसोः संश्लिष्य पुनः संश्लिष्टयोर्विश्लिष्य पुनर्विश्लिष्टयोर्वायौ तौ संश्लेषौ विश्लेषौ वा तयोरन्तरालकालः । अर्द्धमासश्च संश्लेषविश्लेषयोरन्तरमतो भृतकमासादेर्न भवति संवत्सरपर्वाभावात् ।

देवता अस्य मरुत्वतीयं मरुत्वत्यम् । वास्तोष्पतिः शक्रः, "वाचस्पतिवास्तोष्पतिदिवस्पतिदिवोदासम्" (३।२।३६) इत्यलुप्समासः । वास्तोष्पतिर्देवतास्य वास्तोष्पतीयम् वास्तोष्पत्यम् । गृहमेधशब्दोऽकारान्तः । गृहमेधो देवता अस्य गृहमेधीयं गृहमेध्यम् ॥ **"वाय्वृतुपित्रुषसो यः"** (६।२।१०९) । अणोऽपवादः । वायुर्देवताऽस्य वायव्यम् । एवं ऋतव्यम् पितृव्यम्, उषा देवतास्य उषस्यम् । "उषस्शब्दः स्त्रीलिङ्गो दिवो दुहितरं देवतां वक्ति" इति **मनोरमायाम्** ॥ **"महाराजप्रोष्ठपदादिकण्"** (६।२।११०) । आभ्यामिकण् स्यात् । अणोऽपवादः । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः, माहाराजिकी । प्रौष्ठपदिकः प्रौष्ठपदिकी । **"कालाद्भववत्"** (६।२।१११) । कालविशेषवाचिभ्यो यथा भवेऽर्थे प्रत्यया वक्ष्यन्ते तथा साऽस्य देवतेत्यर्थेऽपि स्युः । वत्सर्वसादृश्यार्थः, तेन याभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषेण ये प्रत्यया भवन्ति, तथैव ते इहापि भवन्ति । यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं हैमनं वासन्तं प्रावृषेण्यम्, तथा मासो देवताऽस्य मासिकमित्यादि तथैव ॥ **"आदेश्छन्दसः प्रगाथे"** (६।२।११२) (सेति प्रकृतिरस्येति प्रत्ययार्थश्चानुवर्तते । तयोर्यथाक्रमं विशेषणे आदेश्छन्दस इति प्रगाथे इति च) सेति प्रथमान्तादादिभूताच्छन्दसोऽस्येति षष्ठ्यर्थे प्रगाथेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रन्थनेन (प्रकृष्टरचनाविशेषेण) प्रकर्षगानेन वा (उच्चारविशेषेणेत्यर्थः) तिस्रः क्रियन्ते स मन्त्रविशेषः प्रगाथः । पङ्क्तिरादिरस्य प्रगाथस्य पाङ्क्तः प्रगाथः । एवमानुष्टुभः, जागतः ॥ **"योद्धृप्रयोजनाद्युद्धे"** (६।२।११३) । प्रथमान्ताद्योद्धृवाचिनः प्रयोजनवाचिनश्च अस्येति षष्ठ्यर्थे युद्धेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । विद्याधरा योद्धारोऽस्य युद्धस्य वैद्याधरं युद्धम् ॥ प्रवृत्तिसाध्यं फलं प्रयोजनम् । सुभद्रा प्रयोजनमस्य सौभद्रमेवं सौतारं युद्धम् । अत्र सुभद्रादिशब्दस्तत्प्राप्तौ वर्त्तते इति प्रयोजनम् । (योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? मासोऽस्य युद्धस्य । युद्ध इति किम् ? सुभद्राप्रयोजनमस्य वैरस्य) ॥ **"भावघञोऽस्यां णः"** (६।२।११४) । भावे यो घञ् तदन्तादस्यामिति स्त्रीलिङ्गे सप्तम्यर्थे णः स्यात् । प्रपातोऽस्यां तिथौ वर्त्तते इति प्रपाता । एवं दाण्डपाता, मौसलपाता भूमिः । स्त्रीलिङ्गग्रहणादिह न भवति—दण्डपातोऽस्मिन्दिवसे । इति करणानुवृत्तेः क्वचिन्न भवति—द्रोणपाकोऽस्यां स्थाल्याम् । केवलाच्च भावे घञन्तान्न भवति ॥ **"श्यैनम्पाता-तैलम्पाता"** (६।२।११५) श्येनतिलशब्दयोर्भावघञन्ते पातशब्दे परे मो न्तो निपात्यते, प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्धः । श्येनपातोऽस्यां वर्त्तते श्यैनम्पाता । तिलपातोऽस्यां वर्त्तते तैलम्पाता तिथिः क्रियाभूमिः क्रीडा वा ॥ **"प्रहरणात्क्रीडायां णः"** (६।२।११६) । (दण्डं) प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा । एवं मौष्टा पादा क्रीडा । यत्राद्रोहेण घातप्रतिघातौ स्यातां सा क्रीडा । "भावघञोऽस्यां णः" इत्यनन्तरो णो नानुवर्त्तते, क्रीडाया अर्थान्तरत्वात् । यथा "श्रवणाश्वत्थान्नाम्न्यः" (६।२।८) इत्यत्रोपात्तोऽप्रत्ययः "षष्ठ्याः समूहे" (६।२।९) इत्यत्र नानुवर्त्तते । (अन्यथा "भावघञोऽस्यां णः" इत्यतोऽधिकारायातेनैव सिद्ध्यति) ततो यथाविहितं प्रत्ययः स्यादिति वचनादणेव स्यादितीह पुनर्णग्रहणम् ॥ ५१ ॥

तद्वेत्त्यधीते ॥ ५२ ॥ [सि० ६।२।११७]

द्वितीयान्ताद्वेत्त्यधीते वेत्यर्थयोरणादयः स्युः । वैयाकरणः ॥ "न्यायादेरिकण्" (६।२।११८) नैयायिकः ॥ ५२ ॥

"तद्वे०" । वैयाकरण इति—एवं मौहूर्त्तः, औत्पातः, नैमित्तः । केचित्तु मुहूर्त्तनिमित्तशब्दौ न्यायादौ पठन्ति तन्मते मौहूर्त्तिकः, नैमित्तिकः । छन्दोऽधीते छान्दसः । नैरुक्तः । घटं वेत्ति पटं वेत्तीत्यादावनभिधानान्न भवति । केचित्तु वेदनाऽध्ययनयोरेकविषयतायामेवेच्छन्ति; तन्मते अग्निष्टोमं यज्ञं

वेत्तीत्यादावपि प्रत्ययो न स्यात्। "**न्याया०**" । न्याय, न्यास, लोकायित, पुनरुक्त, परिषद्, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, संहिता, पदे, पद, क्रम, सङ्घट, सङ्घटा, वृत्ति, सङ्ग्रह, आयुर्वेद, गण, गुण, स्वागम, इतिहास, पुराण, भारत, ब्रह्माण्ड, आख्यान, द्विपदा, ज्योतिष, गणित, अनिस्त, लक्ष्य, लक्षण, अनुलक्ष्य, सुलक्ष्य, वसन्त, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, प्रथम, चरम, प्रथमगुण, चरमगुण, अनुगुण, अथर्वन्, आथर्वण, इति न्यायादयः ४५ पञ्चचत्वारिंशत्।

अत्रादिशब्दसंसर्गात् "**पदकल्पलक्षणान्तक्रत्वाख्यानाख्यायिकात्**" (६।२।११९)। पदकल्पलक्षणान्तेभ्यः क्रत्वाख्यानाख्यायिकावाचिभ्यश्च वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकण् स्यात्। पदान्त. पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः, आनुपादिकः; बहुप्रत्ययपूर्वात्पदशब्दान्न भवत्यनभिधानात्। कल्पान्त. मातृकल्पिकः, पैतृकल्पिकः, पाराशरकल्पिकः, श्राद्धकल्पिकः। लक्षणान्त. गौलक्षणिकः, आश्वलक्षणिकः, हास्तिलक्षणिकः, आनुलक्षणिकः, सौलक्षणिकः लाक्षणिक इति न्यायादित्वात् सिद्धम्। क्रतु. आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, ज्यौतिष्टोमिकः, राजसूयिकः। आख्यान. अभिनयन् गायन् पठति यदेको ग्रान्थिकस्तदाख्यानम् (आख्यानशब्दस्य न्यायादिपाठादेव इकण्सिद्ध इत्यर्थप्रधानोऽयम्। एतत्साहचर्याच्च क्रत्वादीनामप्यर्थप्रधानानां ग्रहः)। [1]यावक्रीतिकः, यावक्रिकः प्रैयङ्गविकः, प्रैयङ्गुकः, आविमारिकः। आख्यायिका. बृहत्कथेति **बृहड्ढुण्ढिकायाम्**। वासवदत्तिकः सौमनोहारिकः॥ "**अकल्पात्सूत्रात्**" (६।२।१२०)। कल्पशब्दवर्जितात्परो यः सूत्रशब्दस्तदन्तादिकण् स्यात्। वार्त्तिकसूत्रिकः (वार्त्तिसूत्रिकः?), साङ्ग्रहसूत्रिकः। अकल्पादिति किम्? [2]सौत्रः। काल्पसौत्रः॥ "**अधर्मक्षत्रत्रिसंसर्गाङ्गाद्विद्यायाः**" (६।२।१२१)। धर्मादिवर्जितात्परो यो विद्याशब्दस्तदन्तादिकण् स्यात्। वायसविद्यिकः, सार्प्पविद्यिकः। अधर्मादेरिति किम्? वैद्यः। धार्म्मविद्यः, क्षात्रविद्यः, त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, तां वेत्त्यऽधीते वा त्रैविद्यः—अत्र त्रिविद्याशब्दस्य कर्मधारयस्यैव ग्रहणं न द्विगोः; तत्र लुपि सत्यामणिकणोर्विशेषाभावात्, त्रिविद्यः, सांसर्गविद्यः, आङ्गविद्यः॥ "**याज्ञिकौक्थिकलौकायितिकम्**" (६।२।१२२)। एते निपात्यन्ते। यज्ञशब्दात् याज्ञिक्यशब्दाच्चेकण् इक्यलोपश्च, यज्ञं याज्ञिक्यं वा वेत्त्यधीते वा याज्ञिकः॥ उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः। यज्ञायज्ञीयात् परेण यानि गीयन्ते न च तेषु वर्त्तमानात्प्रत्यय इष्यते किं तर्हि तद्व्याख्याने औक्थिक्ये उपचारेण वर्त्तमानात् उक्थमधीते ओक्थिकः; औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः। औक्थिक्यशब्दात्तु प्रत्ययो न भवत्यनभिधानात्। तस्मादपीच्छन्त्येके। औक्थिक्यमधीते औक्थिकः॥ लोकायतशब्दादिकण् यकाराकारस्येकारो निपात्यते—लोकायतं वेत्त्यधीते वा लौकायितिकः। लौकायतिका इति तु न्यायादिपाठात्सिद्धम्॥ "**अनुब्राह्मणादिन्**" (६।२।१२३)। ब्रह्मणा प्रोक्तो ग्रन्थो ब्राह्मणम्, ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्, सदृगर्थेऽव्ययीभावः। तद्वेत्त्यधीते वाऽनुब्राह्मणी, अनुब्राह्मणिनौ। मत्वर्थीयेनैवेना सिद्धे अनभिधानाच्च इकस्याप्रवृत्तावणुबाधनार्थमिनो विधानम्। "**शतषष्टेः पथ इकट्**" (६।२।१२४)। आभ्यां परस्य पथिन्शब्दस्य इकट् स्यात्। शतपथिकः, शतपथिकी। षष्टिपथिकः; षष्टिपथिकी। "**पदोत्तरपदेभ्य इकः**" (६।२।१२५)। पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात्पदशब्दात्पदोत्तरपदशब्दाच्च वेत्त्यधीते वेत्यर्थे इकः स्यात्। पूर्वपदिकः, उत्तरपदिकः। पूर्वपदिका, उत्तरपदिका। पदिकः, पदिका। पदोत्तरपदिकः, पदोत्तरपदिका। बहुवचनं सर्वभङ्गपरिग्रहार्थम्। "**पदक्रमशिक्षामीमांसासाम्नोऽकः**" (६।२।१२६)। एभ्यः पञ्चभ्योऽकः स्यात्। पदं वेत्त्यधीते वा

१ यवैः क्रीतं यवाः क्रीता अस्मिन्निति वा यवक्रीतमाख्यानम्। यवान् क्रीणातीति यवक्रीस्तमधिकृत्य कृतमाख्यानं 'अमोऽधिकृत्य' इत्यणि यावक्रम्, ततस्तद्वेत्त्यधीते वेतीकणि यावक्रिकः। २ अकल्पादिति पर्युदासेन पूर्वपदाभावे न भवति।

पदकः । एवं क्रमकः, शिक्षकः, मीमांसकः, सामकः । उपनिषच्छब्दादपीच्छति कश्चित्–उपनिषदकः । के सति शिक्षाका शिक्षिका शिक्षका । मीमांसाका मीमांसिका मीमांसकेति "इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे" (२।४।१०७) । इति रूपत्रयं स्यात् । शिक्षिका मीमांसिकेति चेष्यते तदर्थमकवचनम् ॥ **"ससर्वपूर्वाल्लुप्"** (६।२।१२७) । सपूर्वात्सर्वपूर्वाच्च वेत्त्यधीते वेत्यर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । सवार्त्तिकमधीते सवार्त्तिकः । ससङ्ग्रहः–अणो लुप् । सकल्पः, अत्रेकणः । सर्ववेदः, सर्वतन्त्रः–अत्राणः । सर्वविद्यः–अत्रेकणः । कथं द्विवेदः पञ्चव्याकरण इति ? "द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः" (६।१।२४) इति लुपि भविष्यति ॥ **"सङ्ख्याकात्सूत्रे"** (६।२।१२८) । सङ्ख्यायाः परो यः कः प्रत्ययो विहितस्तदन्तात्सूत्रे वर्त्तमानान्नाम्नो वेत्त्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति । अप्रोक्तार्थ आरम्भः (अन्यथोत्तरेणैव सिद्ध्यति) । अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य अष्टकं सूत्रम् । तद्विदन्त्यधीयते वा अष्टकाः पाणिनीयाः । आपिशलीयाः । त्रिकाः काशकृत्स्नाः । दशका उमास्वातीयाः । द्वादशका आर्हताः । सङ्ख्याग्रहणं किम् ? माहावार्त्तिकाः–महद्वार्त्तिकस्य सूत्रं विदन्त्यधीयते वा माहावार्त्तिकाः । कालापकाः । कादिति किम् ? चतुष्टयं सूत्रमधीयते चातुष्टयाः ॥ **"प्रोक्तात्"** (६।२।१२९) प्रोक्तार्थविहितः प्रत्यय उपचारात्प्रोक्त इत्युच्यते, तदन्तान्नाम्नो वेत्त्यधीते वेत्यर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । गोतमेन प्रोक्तं गौतमम्, तद्वेत्त्यधीते वा गौतमः । सुधर्मेण सुधर्मणा वा प्रोक्तं सौधर्मम्, सौधर्मणं वा; तद् वेत्त्यधीते सौधर्मः सौधर्म्मणः "द्विपदाद्धर्मादन्" (७।३।१४१) इत्यस्यैकेषां मते विकल्पः । एवं भाद्रबाहवः पाणिनीयः आपिशलः । अन्यत्र प्रत्ययस्य लुप्यलुपि अविशेषेऽपि स्त्रियां विशेषः–गौतमा सौधर्मा सौधर्मणा स्त्री अणो लुप्यणन्तत्वाभावाद् ङीर्न भवति । अत्र हि यस्यां स्त्रियां योऽणिविहितः स लुप्तः, यश्च विद्यते तस्य न सा स्त्री ॥ **"वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव"** (६।२।१३०) । प्रोक्तप्रत्ययान्तं वेदवाचि इन्नन्तं च ब्राह्मणवाचि भवति । अत्रैव वेत्त्यधीते वेत्येतद्विषय एव प्रयुज्यते, तेन स्वातन्त्र्यमुपाध्यन्तरयोगो वाक्यं च निवर्त्तते, वेत्त्यधीते वेत्यर्थरहितं न प्रयुज्यते इति स्वातन्त्र्यनिवृत्तिः । कठेन प्रोक्तं शोभनं वेदं विदन्त्यधीयते वेति विशेषणान्तरयोगोऽपि न स्यात् इत्यर्थः । वेद. कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठाः । एवं कलापिना कालापिना कलपेन कालापाः । मौदेन मौदाः । पैप्पलादः ततो "मौदादिभ्यः" (६।३।१८२) इतीयापवादोऽण् । ऋग्भिराभाति ऋगाभः, पृषोदरादित्वाद्गस्य चत्वे ऋचाभः; ततः प्रोक्ते शौनकादित्वाण्णिन् तदन्तादणो लुप् आर्चाभिनः । भाल्लविना भाल्लविनः । शाट्यायनिना शाट्यायनेन शाट्यायनिनः । ऐतरेयेण ऐतरेयिणः । भल्लवशब्दादिञन्तात्प्रोक्तार्थे पूर्ववण्णिनादयः । शटशब्दात् गर्गादियञन्तात् तिकाद्यायनिञ् । एके त्वयञन्तं तिकादौ पठन्ति, तन्मते "यञिञः" (६।१।५४) इत्यायनणि पूर्ववत् शौनकादित्वाण्णिनादौ शाट्यायनिनः । इतरस्यापत्यं शुभ्रादित्वादेयणि ऐतरेयः; ततः पूर्ववण्णिनादौ ऐतरेयिणः । इन्ग्रहणं किम् ? याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि "शकलादेर्यञः" (६।३।२७) इत्यञ् । सौलाभेन सौलाभानि "मौदादिभ्य" इत्यण् । याज्ञवल्क्यादीनि ब्राह्मणानीत्यनिनन्तस्य वेद इति नियमो निवर्त्तते । ब्राह्मणमिति किम् ? पिङ्गेन प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः । ब्राह्मणं वेद एव, तत्र वेद इत्येव सिद्धे अनिनन्तस्य नियमनिवृत्त्यर्थमिन्ब्राह्मणग्रहणम् ॥ प्रोक्तानुवर्त्तनं किमर्थम् ? ऋचः यजूंषि सामानि मन्त्राः वेदः । ऋगादयः शब्दा वेदवाचिनो भवन्ति, नतु प्रोक्तप्रत्ययान्ता इति । यदि प्रोक्तग्रहणं नानुवर्त्तेत तदत्रापि वेत्त्यधीते वेत्येतद्विषय एवेति प्रयोगनियमः प्रसज्येत, ततश्च ऋचस्तिष्ठन्तीत्यादि वक्तुं न लभ्येत ॥ आरम्भसामर्थ्यात् अवधारणे सिद्धे उभयावधारणार्थमेवकारः । प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यात्रैव वृत्तिर्नान्यत्र, तथात्र वृत्तिरेव न केवलस्य प्रोक्तप्रत्ययान्तस्यावस्थानम्, अन्यत्र त्वनियमात्कचित्स्वातन्त्र्यं भवति–अर्हता प्रोक्तं आर्हतं

शास्त्रम् । कचिदुपाध्यन्तरयोगः—आर्हतं महत्सुविहितमिति । कचिद्वाक्यम्—आर्हतमधीते । कचिद्वृत्तिः—आर्हत इति—अर्हता प्रोक्तं "तेन प्रोक्ते" (६।३।१८१) इत्यण् आर्हतं वेत्त्यधीते वाण् तस्य लुप् । इह पुंनर्नियमाद्युगपदेव विग्रहः—कठेन प्रोक्तमधीयते कठा इति ।

इति तद्वेत्त्यधीते इत्यधिकारः ।

"तेन छन्ने रथे" (६।२।१३१) । तृतीयान्तात् छन्ने रथेऽभिधेये यथाभिहितं प्रत्ययः स्यात्, वस्त्रेण छन्नो रथो वास्त्रः । एवं काम्बलः, चार्मणः, द्वैपेन चर्मणा द्वैपः, वैयाघ्रेण वैयाघ्रः, व्याघ्रस्य विकारः "प्राण्यौषधि०" (६।२।३१) इत्यण्, इदमर्थे त्वीयः स्यात् । छन्नः समन्ताद्वेष्टित उच्यते, तेन पुत्रैः परिवृतो रथ इत्यत्र न भवति । "पाण्डुकम्बलादिन्" (६।२।१३२) पाण्डुकम्बलेन छन्नः पाण्डुकम्बली रथः ।

इति छन्नरथाधिकारः ।

"दृष्टे साम्नि नाम्नि" (६।२।१३३) । तृतीयान्ताद्दृष्टं सामेत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, प्रत्ययान्तं चेत्साम्नो नाम स्यात् । क्रुञ्चेन दृष्टं साम क्रौञ्चम् । मृगीयुणा मार्गीयवम् । एवं मायूरम्, तैत्तिरम्, वासिष्ठम्, वैश्वामित्रम्, कालेयम्, आग्नेयम् । एवन्नामानि सामानि ॥ "गोत्रादङ्कवत्" (६।२।१३४) । गोत्रवाचिनस्तृतीयान्ताद्दृष्टं सामेत्यर्थे अङ्कवत् प्रत्ययः स्यात्, यथा तस्यायमङ्क इत्यत्रेदमर्थे प्रत्ययः स्यात्तथा दृष्टं सामेत्यर्थेऽपि । औपगवेन दृष्टं साम औपगवकम् । कापटवकम् । अङ्क इति विशेषोपादानेऽपि तस्येदमित्यर्थमात्रं परिगृह्यते ॥ "वामदेवाद्यः" (६।२।१३५) वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ॥ "डिद्वाऽण्" (६।२।१३६) दृष्टं सामेत्यर्थे योऽण् विहितः स डिद्वा भवति । उशनसा दृष्टं साम औशनसम्, औशनम् । "वा जाते द्विः" (६।२।१३७) । जात इत्यर्थे योऽण् द्विर्विहितः उत्सर्गतः प्राप्तोऽपवादेन बाधितः सन् पुनर्विहितः स डिद्वा स्यात् । शतभिषजि जातः शातभिषः शातभिषजः । शतं भिषजोऽस्याः शतभिषजा चन्द्रयुक्तया युक्तः कालोऽण्, "चन्द्रयुक्तात्काले०" (६।२।६) इत्यणो लुप् 'जाते' (६।३।९८) इत्यणो बाधको "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।१८०) इकण्, पुनस्तद्बाधको "भर्तुसन्ध्यादेरण्" (६।३।८९) । केचित्तु द्विर्डित्वमिच्छन्ति, तन्मते द्विर्डित्वात् द्विरन्त्यस्वरादिलोपे शातभ इत्यपि स्यात् । एवं पूर्वसूत्रेऽपि । औत्सम् (शं) साम । एवं च योगद्वयेऽपि त्रैरूप्यम् ।

इति दृष्टसामाधिकारः ।

"तत्रोद्धृते पात्रेभ्यः" (६।२।१३८) । तत्रेति सप्तम्यन्तात्पात्रवाचिन उद्धृत इत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । शरावेषु उद्धृतः ओदनः शारावः । माल्लकः । कार्प्परः । बहुवचनं पात्रविशेषपरिग्रहार्थम् । "स्थण्डिलात् शेते व्रती" (६।२।१३९) । अस्मात्सप्तम्यन्ताच्छेते इत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । योऽसौ शेते स चेद् व्रती स्यात् । तत्र शयनव्रतोऽन्यत्र शयनान्निवृत्त इत्यर्थः । स्थण्डिलं चत्वरम्, तत्रैव शेते स्थाण्डिलो भिक्षुः "स्थाण्डिलः स्थण्डिलशायी यः शेते स्थण्डिले व्रतात्" इत्यभिधानचिन्तामणौ ॥ ५२ ॥

संस्कृते भक्ष्ये ॥ ५३ ॥ [सि० ६।२।१४०]

सप्तम्यन्तादस्मिन्नर्थेऽणादयः स्युः । भ्राष्ट्राः अपूपाः । "शूलोखाद्यः" (६।२।१४१) शूल्यम् उख्यम् । "क्षीरादेयण्" (६।२।१४२) क्षैरेयी यवागूः ॥ ५३ ॥

"संस्कृ०" । संस्कृत इति प्रत्ययार्थस्तस्य भक्ष्य इति विशेषणम्, सप्तम्यन्तात् अस्मिन्नर्थे इति संस्कृते भक्ष्येऽर्थेऽणादय इति यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः । भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्राः अपूपाः । **"शूलो०"** । शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम् । उखायां संस्कृतं उख्यमन्नम् । **"क्षीरा०"** । क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी ।

आदिशब्दात् **"दध्न इकण्"** (६।२।१४३) । दध्नि संस्कृतं दाधिकम् । इकणधिकारे "संस्कृते" (६।४।३) इति वक्ष्यमाणसूत्रेण न सिद्ध्यतीत्येतद्विधानम्—दध्ना हि तत्संस्कृतम्, यस्य दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम् । इह दधि तु केवलमाधारभूतम्, द्रव्यान्तरेण तु लवणादिना संस्कारः क्रियते । **"वोदश्वितः"** (६।२।१४४) । उदकेन श्वयतीति उदश्वित् । अत एव निर्देशात् ध्वृदभावः । "रसायनमथाढ्याम्बू-दश्वित् श्वेतं समोदकम्" इति अस्मादिकण् वा । उदश्विति संस्कृतं औदश्वित्कम्, औदश्वितम् । **"क्वचित्"** (६।२।१४५) । अपत्यादिभ्योऽन्यत्राप्यर्थे क्वचिद्यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । रासनो रसः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । उलूखले क्षुण्ण औलूखलो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । अश्वैरुह्यते आश्वो रथः । सम्प्रति युज्यते साम्प्रतम्, साम्प्रतः ।

"शेषे" (६।३।१) इत्यधिकृत्य वक्ष्यमाणेषु "नद्यादेरेयण्" (६।३।२) इत्यादिसूत्रेषु एयण्-प्रभृतयः प्रत्ययाः शेषेष्वर्थेषु वक्ष्यन्ते, ततः प्रथमं बालानां सुखावबोधाय **शेषसंज्ञान्** कतिचिदर्थान् सङ्क्षेपेण निर्दिशति ॥ ५३ ॥

तत्र कृतलब्धक्रीतसम्भूते ॥ ५४ ॥ [सि० ६।३।९४]

सप्तम्यन्तादेष्वर्थेष्वणादयः एयणादयश्च प्रत्ययाः स्युः । स्रौघ्नः । दिश्यः मूर्धन्यः । "मध्यान्दिनण्णेया मोऽन्तश्च" (६।३।१२६) माध्यन्दिनः । माध्यमः । मध्यमीयः । "वर्गान्तात्" (६।३।१२८) ईयः कवर्गीयः । "अशब्दवर्गादीनयेयाः" भरतवर्गीणः । भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीयः ॥ ५४ ॥

"तत्र कृतलब्धक्रीतसम्भूते" अणादय एयणादयश्च सविशेषणा अनुवर्तन्ते । तत्रेति—सप्तम्यन्तात्कृतादिषु चतुर्ष्वर्थेषु यथायोगमणादय एयणादयश्च प्रत्ययाः स्युः । यदन्येनोत्पादितं तत्कृतम्, यत्प्रतिग्रहादिना प्राप्तं तल्लब्धम्, यन्मूल्येन स्वीकृतं तत्क्रीतम्, यत्सँम्भाव्यते सँम्माति वा तत्सँम्भूतम् । मथुरायां कृतो लब्धः क्रीतः सम्भूतो वा माथुरः पटः—अत्राण् । औत्सः—उत्साद्यञ् । बाह्यः बाहीकः "बहिषष्टीकण् च" (६।१।१६) । नादेयः—नद्यादित्वादेयण् । राष्ट्रियः—"राष्ट्रादियः" (६।३।३) ॥ ५४ ॥

कुशले ॥ ५५ ॥ [सि० ६।३।९५]

अस्मिन्नर्थे सप्तम्यन्ताद्यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । मथुरायां कुशलो माथुरः । **"पथोऽकः"** (६।३।९६) । सप्तम्यन्तात्पथिन्शब्दात् कुशलेऽर्थेऽकः स्यात् । अणोऽपवादः । पथि कुशलः पथकः । **"कोऽश्मादेः"** (६।३।९७) । सप्तम्यन्तेभ्योऽश्मादिभ्यः कुशलेऽर्थेऽकः स्यात् । अणादेरपवादः । अश्मनि कुशलः अश्मकः । अश्मादय उपचारात्तद्विषयायां क्रियायां वर्त्तमानाः

---

१ उत्पत्तिज्ञानं सम्भावना, तत्रोत्पद्यते तत्र घटते इत्यर्थः । २ प्रमाणानतिरेकेणावतिष्ठते । ३ सम्मात्यर्थे अकर्मकत्वाच्छी-ल्यादित्वात्सति कर्त्तरि क्तः, इतरे तु अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् कर्मणि क्तः ।

प्रत्ययमुत्पादयन्ति, तत्रैव कुशलार्थयोगात् । प्रत्ययान्तरकरणमिकारोकारान्तशब्दार्थम्, अन्यथा तेष्वऽनिष्टं रूपं स्यात्, अश्मन्, अशनि, आकर्ष, त्सरु, पिशाच, पिचण्ड, पाद, शकुनि, निचय, ह्लाद, ह्लाद इत्यश्मादय एकादश[3] ॥ ५५ ॥

जाते ॥ ५६ ॥ [सि० ६।३।९८]

सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । मथुरायां जातो माथुरः—अण् । औत्सः—अञ् । बाह्यः बाह्लीकः—ञ्यटीकणौ । कालेयः आग्नेयः—“कल्यग्नेरेयण्” (६।१।१७) एवं स्त्रैणः, पौंस्नः । तथा नद्यां जातो नादेयः राष्ट्रियः इत्यादि । स्वयमुत्पत्तिर्जातस्यार्थ, इति कृतादिभ्यो भेदः ।

सप्तम्यन्तत्वं प्रकृतिविशेषणं शेषार्थाधिकारे सर्वत्रानुवर्त्तनीयम् ।

“प्रावृष इकः” (६।३।९९) । एण्यस्यापवादः—प्रावृषि जातः प्रावृषिकः । **“नाम्नि शरदोऽकञ्”** (६।३।१००) । ऋत्वणोऽपवादः । शरदि जाताः शारदकाः दर्भाः, मुद्गाः । दर्भ-मुद्गविशेषाणामियं संज्ञा । **“सिन्ध्वऽपकारात्काऽणौ”** (६।३।१०१) । सिन्धौ जातः सिन्धुकः सैन्धवः । अपकरे कच्चवरे जातः अपकरकः आपकरः । नाम्नीत्यधिकारः “कालेद्देये ऋणे” (६।३।११३) इति सूत्रं यावत् । अन्ये तु नाम्नीत्यधिकारं नेच्छन्ति । **“पूर्वाह्णाऽपराह्णाऽऽर्द्रामूलप्रदोषाऽवस्करादकः”** (६।३।१०२) । जातेऽर्थे । इकणादेरपवादः । पूर्वाह्णे जातः पूर्वाह्णकः । अपराह्णकः । अत्रेकण्तनटोरपवादः ॥ आर्द्रकः मूलकः—अत्र भाणः । प्रदोषकः—अत्रेकणणोः । अवस्करकः—अत्रौत्सर्गिकाणः । नाम्नीत्येव—पौर्वाह्णिकम्, पूर्वाह्णेतनम्, अपराह्णिकम्, अपराह्णेतनम् । आर्द्रं मौलं प्रादोषिकं प्रादोषं आवस्करम् । केनैव सिद्धे अकविधानं आर्द्रिकेत्येवमर्थम्, अन्यथा खट्वाका खट्विका खट्वकेति वत् के रूपत्रयं स्यात् । **“पथः पन्थ च”** (६।३।१०३) । पथिन्शब्दात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थेऽकः स्यादस्य च पन्थादेशः । अणोऽपवादः । पथि जातः पन्थकः । **“अश्च वाऽमावास्यायाः”** (६।३।१०४) । अमावास्याशब्दात्सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थे अकारोऽकश्च प्रत्ययौ भवतः; नाम्नि । सन्ध्याद्यणोऽपवादः । अमावास्यायां जातः अमावास्यः, अमावास्यकः । नाम्नीत्येव—आमावास्यः । **“श्रविष्ठाऽषाढादीयण् च”** (६।३।१०५) । चकारादीयण्—अश्च; प्रत्ययौ स्याताम्, नाम्नि । भाणोऽपवादः । श्रविष्ठा धनिष्ठाः, ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालस्तासु जातः श्राविष्ठीयः, श्रविष्ठः । एवमषाढायामषाढयोरषाढासु वा जातः आषाढीयः अषाढः । अणमपीच्छन्त्यन्ये । **“फल्गुन्याष्टः”** (६।३।१०६) । नाम्नि । भाणोऽपवादः । फल्गुन्योर्जातः फल्गुनः, फल्गुनी स्त्री । अणमपीच्छन्त्यन्ये—फाल्गुनः टकारो ङ्यर्थः । **“बहुलाऽनुराधापुष्यार्थपुनर्वसुहस्तविशाखास्वातेर्लुप्”** (६।३।१०७) । एभ्यः सप्तभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः परस्य भाऽणो जातेऽर्थे लुप् स्यात्, नाम्नि । बहुलाः कृत्तिकाः, ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालो बहुलास्तासु जातो बहुलः—अत्राणो लुपि “ङ्यादेर्गौणस्य०” (२।४।९५) इत्यादिना आपोऽपि लुक् । एवमनुराधासु अनुराधः । “घञ्युपसर्गस्य बहुलम्” (३।२।८६) इति दीर्घे आनुराधास्तासु अनुराधः । पुष्यार्थे—पुष्ये पुष्यः । तिष्यः । सिद्ध्यः । पुनर्वसौ पुनर्वसुः ॥ हस्ते हस्तः । विशाखायां विशाखः । स्वातौ स्वातिः । **“चित्रारेवतीरोहिण्याः स्त्रियाम्”** (६।३।१०८) नाम्नि । चित्रायां जाता चित्रा पुत्री । रेवत्यां रेवती ।

---

१ ‘ननु पथोऽकः’ इत्यतोऽकेनैव साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं करणेनेति । २ ‘अवर्णेवर्णस्य’ इति प्रसङ्गात् । ३ मुद्रितबृहद्वृत्तौ जयनयावपि ।

रोहिण्यां रोहिणी । स्त्रियामिति किम् ? चैत्रः । रैवतः । रौहिणः । पुंस्येषां विकल्प इत्येके–तन्मते चित्रः रेवतः रोहिण इत्यपि भवति । **"बहुलमन्येभ्यः"** (६।३।१०९) । श्रविष्ठादिभ्यो येऽन्ये नक्षत्रशब्दास्तेभ्यः परस्य भाऽणो जातेऽर्थे बहुलं लुप् स्यात्, नाम्नि । अभिजिति जातः अभिजित्, आभिजितः । अश्वयुजि–अश्वयुक् आश्वयुजः । शतभिषजि–शतभिषक् शातभिषजः । शातभिषो "वा जाते द्विः" (६।२।१३७) इति विकल्पेनाणो डित्त्वादन्त्यस्वरादिलोपे शातभ इत्यपि । कृत्तिकासु–कृत्तिकः कार्त्तिकः । मृगशिरसि–मृगशिराः मार्गशीर्षः । एषु वा लोपः ॥ क्वचिन्नित्यम्–अश्विनीषु जातः अश्विनः, अश्विनी । राधः, राधा । श्रवणः, श्रवणा । उत्तरः, उत्तरा । क्वचिन्न भवति–मघासु माघः । अश्वत्थे आश्वत्थः । प्रोष्ठपदासु प्रोष्ठपादः । भद्रपादः । "प्रोष्ठभद्राज्जाते" (७।४।१३) इत्युत्तरपदवृद्धिः ॥ **"स्थानान्तगोशालखरशालात्"** (६।३।११०) । गोस्थाने जातो गोस्थानः । अश्वस्थाने जातः अश्वस्थानः । गोशाले गोशालः । खरशाले खरशालः । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् गोस्थान्यां गोस्थानः । गोशालायां गोशालः । खरशालः । "ङ्यादेर्गौणस्य०" इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुप् ॥ **"वत्सशालाद्वा"** (६।३।१११) । वत्सशालः, वात्सशालः ॥ **"सोदर्यसमानोदर्यौ"** (६।३।११२) । एतौ निपात्यौ । समानोदरे जातः सोदर्यः, समानोदर्यः । निपातनात्पक्षे समानस्य सभावः, तत एव जातार्थमात्रत्वेऽपि भ्रातृष्वेवाभिधानं न कृमिमलादिषु । नाम्नीत्यधिकाराद्वा ॥ ५६ ॥

इति जातार्थप्रकरणम् ।

भवे ॥ ५७ ॥ [सि० ६।३।१२३]

सप्तम्यन्तादस्मिन्नर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । सत्ता भवत्यर्थो गृह्यते, न जन्म, जात इत्यनेन गतार्थत्वात् । यथा स्रुघ्ने भवः स्रौघ्न इति स्रुघ्ने सन् वर्त्तमान इत्यर्थः । एवं औत्सः, नाद्येयः, राष्ट्रियः, पारावारीणः, ग्राम्यः, ग्रामीणः ॥ **"बिल्वकीयादेरीयस्य"** (२।४।९३) । नडादिषु बिल्वादयः पठ्यन्ते तेषु कीयप्रत्ययान्तानामिह निर्देशः । बिल्वकीयादीनां दशानामवयवस्य ईयस्य तद्धितयस्वरे लुक् स्यात्, बिल्वाः वेणवो वेत्राणि वेतसाः त्रयस्तक्षाण इक्षवः काष्ठानि कपोताः क्रुञ्चाः सन्त्यस्यामिति "नडाऽऽदेः कीयः" (६।२।९२), "तत आत्" (२।४।१८) इत्याप् बिल्वकीयाद्या नद्यस्तासु भवा इति भवार्थेऽणि अनेन ईयलोपे बैल्वकाः वैणुकाः वैत्रकाः वैतसकाः त्रैकाः ताक्षकाः ऐक्षुकाः काष्ठकाः कापोतकाः क्रौञ्चकाः ॥ ५७ ॥

दिगादिदेहांशाद्यः ॥ ५८ ॥ [सि० ६।३।१२४]

भवे । दिश्यः । मूर्द्धन्यः ॥ ५८ ॥

"दिगादि०" दिगादिभ्यो देहावयववाचिभ्यश्च भवेऽर्थे यः स्यात् । अणीयादेरपवादः । दिशि भवो दिश्यः । वर्ग्यः । अप्सव्यः–"अपो ययोनिमतिचरे" (३।२।२८) इति सप्तम्यलुप् । देहांश. मूर्द्धनि भवो मूर्द्धन्यः–"अनोऽट्ये ये" । (७।४।५१) इत्यनो लोपाभावः । दन्त्यः, कर्ण्यः, ओष्ठ्यः, पाण्यः, पद्यः, तालव्यः, मुख्यः, जघन्यः । देशान्तात्तदन्तादपीच्छन्त्येके–कण्ठतालव्यः, दन्तोष्ठ्यः ॥ दिश्, वर्ग, पूग, गण, यूथ, पक्ष, धाय्या, मित्र, धाय्यमित्र, मेधा, १० न्याय, (अन्तर ?) अन्तर्, पथिन्, रहस्, अलीक, उख, उखा, साक्षिन्, आदि, २० अन्त, मुख, जघन, मेघ, वंश, अनुवंश, देश, काल, वेश, आकाश, ३० अप् ३१ इति दिगादय एकत्रिंशत् । मुखजघनवंशानुवंशानामदेहांशार्थः पाठः । सेनाया यन्मुखं तत्र भवो मुख्यः । सेनाया यज्जघनं तत्र भवो जघन्यः । वंशो-

ऽन्वयस्तत्र भवो वंश्यः। एवमनुवंश्यः॥ **"नाम्न्युदकात्"** (६।३।१२५) उदक्या रजस्वला स्त्री। नाम्नीति किम्? औदको मत्स्यः।

"मध्याद्दिनणेया मोऽन्तश्च" (६।३।१२६) माध्यन्दिनः माध्यमः। मध्यमीयः। **"वर्गान्तात्"** (६।३।१२८)। ईयः। कवर्गीयः। *अशब्दवर्गादीनयेयाः। भरतवर्गीणः। भरतवर्ग्यः। भरतवर्गीयः॥

"मध्या०" मध्यशब्दात् दिनण्, ण, ईय, एते त्रयः प्रत्यया भवेऽर्थे स्युः; तद्योगे मागमश्च स्यात्। क्रमेणोदाहरणानि—मध्ये भवो माध्यन्दिनः, माध्यमः, मध्यमीय इति। अन्ये तु दिनं णितं नेच्छन्ति—मध्यन्दिनः॥ **"जिह्वामूलाऽङ्गुलेश्चेयः"** (६।३।१२७)। जिह्वामूले भवो जिह्वामूलीयः। अङ्गुलीयः। चकारेण मध्यशब्दानुकर्षणं मागमाभावार्थम्—मध्यीयः॥ **"वर्गा"**। वर्गान्तादित्येताव-त्सूत्रं स्पष्टम्। ईय इति वृत्त्यंशः। कवर्गीयः पवर्गीयो वर्णः॥ *अशब्दवर्गेत्यादि अत्र सूत्रम्—**"ईनयौ चाऽशब्दे"** (६।३।१२९) वर्गशब्दान्तात्सप्तम्यन्ताद्भवेऽर्थे ईन य इत्येतौ चकारादीयश्च प्रत्ययाः स्युः; अशब्दे—नचेत् भवार्थः शब्दो भवति। भरतवर्गीण इत्यादि। अशब्द इति किम्? अकवर्गीयः।

इत्यादिशब्दानुवर्त्तनात् **"दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यहेरेयण्"** (६।३।१३०) अणादीनामपवादः। दृतौ चर्मखल्वायां भवं दार्त्तेयं जलम्। कुक्षौ देहांशे भवः कौक्षेयो व्याधिः। देशार्थादपि परत्वादय-मेव न धूमाद्यकञ्; खड्गेऽप्ययमेव न तु कुलकुक्ष्याद्येयकञ् तस्य भवादन्यत्र जातादावर्थे चरितार्थत्वात्। असिं कौक्षेयमुद्यम्य। कलश्यां मन्थन्यां भवं कालशेयं तक्रम्। वस्तौ पुरीषनिर्गमरन्ध्रे भवं वास्तेयं पुरीषम्। अहौ भवमाहेयं विषम्॥ **"आस्तेयम्"**। (६।३।१३१)। अस्तिशब्दात्तिवन्तप्रतिरूप-कादव्ययाद्धनविद्यमानपर्यायात्तत्र भवे एयण् निपात्यते। असृग्शब्दस्य चास्त्यादेशश्च। अस्ति-धने 'वा' विद्यमाने वा असृजि वा भवमास्तेयम्॥ **"ग्रीवातोऽण् च"** (६।३।१३२)। ग्रीवाशब्दाद्भवेऽर्थेऽण् चकारादेयण् स्याताम्। देहांशयापवादः। ग्रीवायां ग्रीवासु भवं ग्रैवेयम्। ग्रीवाशब्दो यदा शिरोधम-नीवचनस्तदा तासां (बहुत्वात्) बहुवचनम्॥ **"चतुर्मासान्नाम्नि"** (६।३।१३३) अण्। चतुर्मासेषु भवा चातुर्मासी। आषाढी कार्त्तिकी फाल्गुनी च पौर्णमासी भण्यते। अत्र विधानसामर्थ्यात् "द्विगो-रनपत्ये०" (६।१।२४) इति प्रत्ययलुप् न स्यात्। नाम्नीति किम्? चतुर्मासेषु भवः चतुर्मासः—अत्र "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।८०) इतीकण्, तस्य लुप्॥ **"यज्ञे ञ्यः"** (६।३।१३४)। चतुर्मासशब्दात्तत्र भवे यज्ञे ञ्यः स्यात्। चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि यज्ञकर्माणि॥ **"गम्भीरपञ्चजनबहि-र्देवात्"** (६।३।१३५)। भवे ञ्यः स्यात्। अणाद्यपवादः। गम्भीरे भवो गाम्भीर्यः पाञ्चजन्यः। बाह्यः। दैव्यः। भवादन्यत्र गाम्भीरः। पाञ्चजनः, द्विगौ त्वणो लुपि पञ्चजनः। बाहीकः। दैवः। **ननु** "बहिषष्टीकण् च" (६।१।१६) इति सूत्रेण अस्य प्राग्जितीयेऽर्थे सिद्धिः, भवार्थोऽपि प्राग्जितीय एवेत्यत्र बहिःशब्दग्रहणं व्यर्थमिति चेत्? **नैवम्**—तत्र टीकण्साहचर्यात् ञ्योऽपि भवार्थवर्जित एव प्राग्जितीयेऽर्थे स्यादिति भवार्थेऽपि ञ्यविधानार्थं बहिर्ग्रहणम्,। टीकणश्च भवार्थवर्जनं स्वमते स्पष्टमेव, 'तत्र सूत्रे भवेऽर्थेऽपि बाहीक इति इत्येके' इति वचनात्, तथा "देवाद् यञ्" (६।१।२१) इति सूत्रेण यञैव प्राग्जितीयार्थेन सिद्धे अत्र देवग्रहणं स्त्रीलिङ्गरूपविशेषार्थम्। तथाहि "देवाद् यञ्" इति सूत्रेण यञञोर्दैव्यायनीति यञि अञि च देवीति रूपद्वयं स्यात्। मतान्तरेण भववर्जिते प्राग्जिती-येऽर्थे ञ्यस्यापि विधानात् दैव्या इत्यपि, भवार्थे त्वनेन सूत्रेण ञ्यविधानात् दैव्या इत्येव न तु दैव्या-यनीत्यादि॥ **"परिमुखाऽऽदेरव्ययीभावात्"** (६।३।१३६) परिमुख इत्यादिभ्योऽव्ययीभा-

वेभ्यस्तत्र भवे ञ्यः स्यात् । अणोऽपवादः । परितः सर्वतो भवं मुखं परिमुखम् । अत एव वचनादव्ययीभावः । वर्जनार्थो वा परिः–मुखात् परि परिमुखम्, "पर्यपाङ्वर्ज्ये" (३।१।३२) इत्यनेनाव्ययीभावः । परिमुखे भवः पारिमुख्यः । परिहनु. तत्र भवः पारिहनव्यः । पर्योष्ठ्यः । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम्, औपशाखम्, औपकुम्भम्, औपखलम्, आनुकुम्भम्, आनुकूलम्, आनुखलम् । अव्ययीभावादिति किम् ? परिग्लानो मुखाय परिमुखस्तत्र भवः पारिमुखः । परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ, पर्युलूखल, परिरथ, परिसिर, परिसीर, उपसीर, अनुसीर, उपस्थूण १०, उपस्थूल, उपकपाल, उपकलाप, अनुपथ, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुशीत, अनुमाष, अनुयव, अनुयूप, २० अनुवंश, अनुपद, २२ इति परिमुखादयो द्वाविंशतिः । अनुवंशाद्दिगादित्वाद्योऽपि–अनुवंश्यः । **"अन्तःपूर्वादिकण्"** (६।३।१३७) । अन्तःशब्दपूर्वादव्ययीभावाद्भवे इकण् स्यात् । अणोऽपवादः । अगारस्यान्तः अन्तरगारम्, तत्र भव आन्तरगारिकः, आन्तर्गेहिकः, आन्तर्वेश्मिकः, आन्तःपुरिकः, अव्ययीभावादित्येव–अन्तर्गतमगारस्य, अन्तःस्थं वा अगारं अन्तरगारम्, तत्र भवमान्तरगारम्, आन्तःपुरम्, आन्तःकरणम् ॥ **"पर्यनोर्ग्रामात्"** (६।३।१३८) । पर्यनुपूर्वग्रामशब्दान्तादव्ययीभावाद्भवे इकण् स्यात् । अणोऽपवादः । ग्रामात्परि परिग्रामम्, ग्रामस्य समीपमनुग्रामम्, तत्र भवः पारिग्रामिकः, आनुग्रामिकः । अव्ययीभावादित्येव–परितो ग्रामः परिग्रामस्तत्र भवः पारिग्रामः ॥ **"उपाज्जानुनीविकर्णात्प्रायेण"** (६।३।१३९) उपपूर्वजान्वादिशब्दान्तादव्ययीभावादिकण् स्यात्, प्रायेण । तत्र भवे (–यस्तत्र बाहुल्येन भवति, अन्यत्र च कदाचिद्भवति तस्मिन्नित्यर्थः) । जानुनः समीपमुपजानु, प्रायेणोपजानु भवति, अन्यत्र कदाचित्, औपजानुकः सेवकः । एवं (औपजानुकं शाटकम्,) औपनीविकं ग्रीवादाम, कार्षापणं वा । औपकर्णिकः सूचकः । प्रायेणेति किम् ? नित्यम्भवे मा भूत्–औपजानवं मांसम् (औपजानवं गड्डु,) जानुशब्दो देहावयवो नोपजानुशब्द इति दिगादिदेहांशादिति यो न स्यात् ॥ **"रूढावन्तःपुरादिकः"** (६।३।१४०) । एकपुरुषपरिग्रहे स्त्रीसमुदाये, उपचारात्तन्निवासेऽपि रूढावन्तःपुरशब्दादिकः स्यात् । अन्तःपुरे भवा अन्तःपुरिका स्त्री । रूढाविति किम् ? पुरस्यान्तर्गतम् [1]अन्तःपुरम् । यथान्तरङ्गुलो नख इति । तत्र भवः आन्तःपुरः । पुरस्यान्तरन्तःपुरमिति [2]अव्ययीभावादिकण् स्यात्, आन्तःपुरिक इति ॥ **"कर्णललाटात्कल्"** (६।३।१४१) । रूढौ–प्रकृतिप्रत्ययसमुदायश्चेत् क्वचिद्रूढो भवति । कर्णिका कर्णाभरणविशेषः, [3]पद्माद्यवयवश्च । ललाटिका–ललाटमण्डनम् । रूढावित्येव–कर्णे भवं कर्ण्यम्, ललाट्यम्; दिगादिदेहांशाद्यः । लकारः स्त्रीत्वार्थः ।

इति भवार्थप्रकरणम् ।

"तस्य व्याख्याने च ग्रन्थात्" (६।३।१४२) ग्रन्थः शब्दसन्दर्भः । स व्याख्यायते (अवयवशः कथ्यते) येन तद्व्याख्यानम् । तस्येति षष्ठ्यन्ताद्व्याख्यानेऽर्थे तत्रेति सप्तम्यन्ताच्च भवेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । चकारस्तत्र भवे इत्यस्यानुकर्षणार्थः । वाक्यार्थसमीपस्थश्चकारः । पूर्ववाक्यार्थं समुच्चिनोति । कृतां व्याख्यानं कृत्सु भवं वा कार्त्तम् । अत्र सूत्रे युगपदुभयोस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चेत्यर्थयोरुपादानं वक्ष्यमाणः सकलोऽप्यपवादविधिरनयोरर्थयोर्यथा स्यादित्येवमर्थम् । ननु

१ पुरस्य शरीरस्य अन्तर्गतं चित्तस्थं गृहस्य वाऽन्तर्गतम् । २ रूढाविति वचनात् अव्ययीभावादिति निवृत्तम्, अव्ययीभावे रूढेरसम्भवात् । अन्तःपुरमिति ह्यत्र राज्ञोऽन्तःपुरमिति राज्ञः स्त्रीवर्ग उच्यते नासावव्ययीभावार्थो भवति । अव्ययीभावो हि पूर्वपदार्थप्रधानोऽन्तरर्थप्रधान इति पूर्वेणेकणेव भवतीति । ३ कर्णे भवेति भवार्थस्तु व्युत्पत्तिमात्रम्, पद्मावयवस्य कर्णे अभावात् ।

च तस्य व्याख्यानेऽर्थे "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यनेनैव प्रत्ययविधिः सिद्धः; चकारानुकृष्टे तत्र भवेऽप्यर्थे पूर्वमेव प्रत्ययविधिरुक्तस्तत्किमनयोर्युगपदुपादानम्? **उच्यते**—वक्ष्यमाणः सकलोऽप्यपवादविधिरनयोरर्थयोर्यथा स्यादित्येवमर्थम्—उत्तरेणैकयोगत्वे चानुकृष्टत्वात्तत्र भव इत्यस्य ततः परं नानुवृत्तिः स्यात्, योगविभागे त्विहानुवृत्तिरनर्थिकेति द्वयोरुत्तरत्रानुवृत्तिर्भवति। उदाहरणोपन्यासस्त्वनुवादमात्रम्। यच्चोक्तम्—तस्य व्याख्यानेऽर्थे "तस्येदमि"त्यनेनैव प्रत्ययसिद्धिस्तदपि न। तथा सति इदमर्थोल्लेखानां भूयस्त्वादर्थानियमः स्यादिति ॥ **"प्रायो बहुस्वरादिकण्"** (६।३।१४३)। बहुस्वराद्ग्रन्थवाचिनस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे प्राय इकण् स्यात्। अणादेरपवादः। षत्वणत्वयोर्व्याख्यानम्, तत्र भवं वा, षात्वणत्विकम्। एवं नातानतिकम्; उदात्ताऽनुदात्तयोरेते [1]नतानतसंज्ञे। आत्मनेपदपरस्मैपदिकम्। आव्ययीभावतत्पुरुषिकम्। नामाख्यातिकम्। आख्यातिकम्, ब्राह्मणिकम्, प्राथमिकम्, आध्वरिकम्, । पौर[2]श्चरणिकम्—प्रायश्चित्तटीका। प्रायोवचनात् क्वचित् न भवति—सांहितम् प्रातिपदिकीयम् ॥ **"ऋगृद्द्विस्वरयागेभ्यः"** (६।३।१४४) ऋच् इत्येतस्मात् ऋकारान्तात् द्विस्वराद्यागशब्देभ्यश्च ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे इकण् स्यात्। अणादेरपवादः। ऋचां व्याख्यानमृक्षु भवं वा आर्चिकम्। ऋकारान्त. चतुर्षु होतृषु भव इत्यणो लुपि चतुर्होता ग्रन्थः, तस्य व्याख्यानं तत्र भवं वा चातुर्होतृकम्, एवं पाञ्चहोतृकम्। द्विस्वर. आङ्गिकम्, पौर्विकम्, सौत्रिकम्, तार्किकम्, नामिकम्। याग. आग्निष्टोमिकम्, राजसूयिकम्, वाजपेयिकम्, पाकयज्ञिकम्, नावयज्ञिकम्, पाञ्चौदनिकम्, दाशौदनिकम्। [3]ऋकारान्तयागयोर्ग्रहणं पूर्वस्यैव प्रपञ्चः। यागेभ्य इति बहुवचनं ससोमकानामग्निष्टोमादीनामसोमकानां पञ्चौदनादीनां च परिग्रहार्थम् ॥ **"ऋषेरध्याये"** (६।३।१४५) ऋषिशब्देभ्यो ग्रन्थवाचिभ्यस्तस्य व्याख्याने तत्र भवे चाध्यायेऽर्थे इकण् स्यात्। वसिष्ठस्य [4]ग्रन्थस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वासिष्ठिकोऽध्यायः। वैश्वामित्रिकोऽध्यायः। अध्याय इति किम्? वसिष्ठस्य व्याख्यानी, तत्र भवा वासिष्ठी ऋक्। "प्रायो बहुस्वरादि"ति प्रायोग्रहणादप्राप्तिकल्पनायां विध्यर्थम्, प्राप्तिकल्पनायामध्याय एवेति नियमार्थं[5] वचनम् ॥ **"पुरोडाशपौरोडाशादिकेकटौ"** (६।३।१४६) आभ्यामनयोरर्थयोरेतौ स्याताम्। अणीययोरिकणो वापवादः। पुरोडाशादणोऽपवादः। पौरोडाशशब्दात्तु "दोरीयः" (६।३।३२) इति प्राप्तस्य ईयस्यापवादः। इकण्प्राप्तिकल्पनायां तूभयोरपि इकणोऽपवादः। वचनभेदात्तु यथासङ्ख्याऽभावः। इकेकटोः स्त्रियां विशेषः—पुरोडाशाः पिष्टपिण्डास्तैः सह चरितो मन्त्रः पुरोडाशस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः पुरोडाशिका, पुरोडाशिकी; पुरोडाशानामयं तत्र भवो वा पौरोडाशस्तत्संस्कारको मन्त्रस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः, पौरोडाशिका, पौरोडाशिकी ॥ **"छन्दसो यः"** (६।३।१४७)। द्विस्वरेकणोऽपवादः। छन्दसो व्याख्यानस्तत्र भवो वा छन्दस्यः ॥ **"शिक्षादेश्चाण्"** (६।३।१४८)। इकणोऽपवादः। शिक्षाया व्याख्यानस्तत्र भवो वा शैक्षः आर्गयनः। छन्दस्. छान्दसः। एवं छन्दसो द्वैरूप्यम्। अण्ग्रहणमीयबाधनार्थम्, अन्यथात्राणोऽग्रहणे योऽन्येन बाधितो न प्राप्नोतीति न्यायात्प्रायो बहुस्वरादितीकणा बाधितो वास्तुविद्यादिशब्देभ्यो "दोरीय" इतीय एव स्यात् नत्वऽण्। नैयायः। वास्तुविद्यः। शिक्षा, ऋगयन, पद, व्याख्यान, पदव्याख्यान, छन्दोव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाष छन्दोविचिति

१ नतोऽनुदात्तः, अनतस्तूदात्तोऽल्पस्वरत्वान्नतस्य पूर्वनिपातः। २ पुरो विपाककालादर्वाक् चर्यते पुरश्चरणम् 'भुजिपत्यादिभ्यः' प्रायश्चित्तम्; तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि। ३ ऋगन्तानां यागवाचिनां च द्विस्वराणां द्विस्वरेत्यंशेन, बहुस्वराणां तु 'प्रायो बहुस्वरात्' इति सिद्ध्यति; एकस्वरास्तु न सम्भवन्त्येव तत्किमर्थमित्याह पू०—प्रायो बहुस्वरात् इत्यस्येत्यर्थः। ४ वसिष्ठादिसाहचर्यात् ग्रन्थोऽपि तथोच्यते। ५ प्रायोग्रहणस्य यादृच्छिकत्वात्।

छन्दोविचिती १० छन्दोविजिति, न्याय, पुनरुक्त, निरुक्त, व्याकरण, निगम, (निगमन ?) वास्तुविद्या, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, (त्रिविद्या, विद्या ?), उत्पात, २० उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त्त, निमित्त, उपनिषद्, ऋषि, यज्ञ, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, ३० इति शिक्षादयस्त्रिंशत् । बहुस्वराणामदुसंज्ञकानामुपादानम् प्रायोग्रहणस्यैव प्रपञ्चः । दुसंज्ञकानां तु ईयबाधनार्थमित्युक्तमेव ॥ ५८ ॥

इति भवार्थानुगतम् तस्य व्याख्यानप्रकरणम् ।

तत आगते ततः प्रभवति ॥ ५९ ॥

अनयोरर्थयोः पञ्चम्यन्तादणादयः स्युः । माथुरः पान्थः । हैमवती गङ्गा ॥ ५९ ॥

"**तत आगते**" (६।३।१४९) तत इति पञ्चम्यन्तादागतेऽर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः । एवं माथुरः, औत्सः, गव्यः, दैत्यः, बाह्यः, कालेयः, आग्नेयः, स्त्रैणः, पौंस्नः, नादेयः, राष्ट्रियः, ग्रामीणः, ग्राम्यः । मुख्यापादानपरिग्रहात् स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागतः इत्यत्र वृक्षमूलादमुख्यादपादानान्न स्यात् ।

आदिशब्दसंसर्गात् "**विद्यायोनिसम्बन्धादकञ्**" (६।३।१५०) । विद्याकृतो योनिकृतश्च सम्बन्धो येषां तद्वाचिभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्य आगतेऽर्थेऽकञ् स्यात् । अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वात् बाधते । विद्यासम्बन्धः—आचार्यादागतमाचार्यकम् । औपाध्यायकम्, शैष्यकम्, आर्त्विजकम् (आन्तेवासकम्) । योनिसम्बन्ध. पैतामहकम्, मातामहकम्, पैतृव्यकम्, मातुलकम् । "**पितुर्यो वा**" (६।३।१५१) इकणोऽपवादः । पितुरागतं पित्र्यम्, "ऋतो रस्तद्धिते" (१।२।२६) इति रत्वम् । "**ऋत इकण्**" (६।३।१५२) ऋकारान्ताद्विद्यायोनिसम्बन्धवाचिन आगतेऽर्थे इकण् स्यात् । अकञोऽपवादः । होतुरागतं हौतृकम्, पैतृकम्, प्राशास्तृकम् (शास्तृकम्) । योनिसम्बन्ध. मातृकम्, भ्रातृकम्, स्वास्तृकम्, दौहितृकम्, जामातृकम्, नानान्दृकम् । मातुरागता मातृकी विद्या-इकणन्तत्वाद् ङीप्रत्ययः । सर्वत्र च 'ऋवर्णोवर्णदोसिसुसशश्वदकस्मात्त इकस्येतो लुक्' (७।४।७१) इतीकण इकारस्य लुक् । "**आयस्थानात्**" (६।३।१५३) । स्वामिग्राह्यो भाग आयः, स यस्मिन्नुत्पद्यते तदाऽऽयस्थानम् । तद्वाचिन आगतेऽर्थे इकण् स्यात् । अणोऽपवादः । ईयं तु परत्वात् बाधते । एत्य तरन्त्यस्मिन्नित्यातरो नदीतीर्थम्, तत आगतं आतरिकम्, शौल्कशालिकम्, आपणिकम्, दौवारिकम् । आयस्थानत्वेनाप्रसिद्धादपि ताद्रूप्येण विवक्षिताद्भवतीति कश्चित्—स्रौघ्निकः । "**शुण्डिकादेरण्**" (६।३।१५४) इकणादेरपवादः । अणग्रहणं विस्पष्टार्थम्, यदि ह्यनेनाप्यायस्थानादिकण् तीर्थाद्धूमाद्यकञ् पर्णकृकणाभ्यां चैयः स्याद्वचनमिदमनर्थकं स्यात् । न चोदपानादिहाञ्यणि वा विशेषोऽस्तीति । यदा तु शुण्डिकादीनि सर्वाण्यायस्थानान्येव, तदा अकञीयबाधनार्थम् । शुण्डः. शुण्डा सुरा, ततो मत्वर्थीये शुण्डिकः शुण्डिका वा सुरापणः सुराविक्रयी चोच्यते । तत आगतं शौण्डिकम्, औदपानम्, कार्कणम् । शुण्डिका, उदपान, पर्ण, कृकण, उलप, तृण, तीर्थ, स्थण्डिल, उपल, उदक, भूमि, पिप्पल, इति शुण्डिकादयो द्वादश । "**गोत्रादङ्कवत्**" (६।३।१५५) । गोत्रवाचिनः शब्दादागतेऽर्थे अङ्क-

१ ननु यद्यणग्रहणं न क्रियते तदानीं 'आयस्थानात्–' इत्यादिभिरिकणादयः प्राप्नुवन्तीत्याह–यदीति । २ तैरेव सूत्रैरमीषां प्रत्ययानां सिद्धत्वात् । किञ्चानन्तर इकण् नानुवर्त्तते । अनायस्थानत्वे हि सूत्रारम्भात् आयस्थानशुण्डिकादिभ्यामित्येकयोगाकरणाच्च । तस्मात् विस्पष्टार्थमिति सूक्तम् । ३ अयमर्थः–यदा शुण्डिकादीनि सर्वाण्यप्यायस्थानान्येव तदा तीर्थाद्धूमाद्यकञः पर्णकृकणाभ्यामिति च ईयस्यापवादे आयस्थानादितीकणि प्राप्ते अयमारम्भ इत्यारम्भादिकणो निवृत्तेर्यथाप्राप्तमिति ततोऽकञीयौ प्राप्नुतः । अतस्तौ बाधित्वा ततोऽप्यणेव यथा स्यादित्येवमर्थमणग्रहणमित्यर्थः ।

वत्प्रत्ययः स्यात् । यथा भवति बिदानामङ्कः बैदः । गार्गः, दाक्षः, इति "सङ्घघोषाऽङ्क०" (६।३।१७२) इत्यादिनाण्, तथेहापि बिदेभ्य आगतं बैदम्, गार्गम्, दाक्षम् । अङ्कग्रहणेन "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यर्थसामान्यं लक्ष्यते, तेनाऽकञोऽप्यतिदेशः । अन्यथा सङ्घाद्यण एव स्यात् । तेन यथा भवति औपगवकः कापटवकः नाडायनकः गार्ग्यायणकः इति "गोत्राददण्ड०" (६।३।१६९) इत्यादिनाकञ्, तथेहापि औपगवेभ्य आगत औपगवकः । कापटवकः । नाडायनकः । गार्ग्यायणकः । एवं "रैवतिकाऽऽदेरीयः" (६।३।१७०) । रैवतिकेभ्य आगतं रैवतिकीयम् । "कौपिञ्जलहास्तिपदादण्" (६।३।१७१) कौपिञ्जलादागतं कौपिञ्जलं हास्तिपदम् । **"नृहेतुभ्यो रूप्यमयटौ वा"** (६।३।१५६) नृवाचिभ्यो हेतुवाचिभ्यश्च आगतेऽर्थे एतौ स्याताम् । पक्षे यथाप्राप्तम् । वचनभेदाद्यथासङ्ख्याऽभावः । हेतुः कारणम्, नृग्रहणमहेत्वर्थम् । देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम्, देवदत्तमयम्; पक्षे दैवदत्तम् । अत्रापादानपञ्चमी । हेतुः कारणम्, समादागतं समरूप्यम् सममयम्; पक्षे गहादिपाठादीयः समीयम् । पापमयम् पक्षे "दोरीयः" (६।३।३२) पापीयम् । अत्र हेतौ पञ्चमी । टकारो ङ्यर्थः—सममयी । बहुवचनं स्वरूपव्युदासार्थम् ।

॥ इति तत आगते इत्यधिकारः ॥

अथ ततः प्रभवत्यधिकारः ।

तत्र **"प्रभवति"** (६।३।१५७) इति सूत्रम् । अनयोरर्थयोरित्यादि स्पष्टम् । अत्रायमर्थः—पञ्चम्यन्तात्प्रथमं प्रकाशमानेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । प्रथममुपलभ्यमानता प्रभवः । अन्ये प्रभवति जायमान इत्याहुः । "जाते" (६।३।९८) इति भूते सप्तम्यन्तात्प्रत्ययः, अत्र तु पञ्चम्यन्ताद्वर्त्तमान इति विशेषः । हैमवती गङ्गेति—हिमवतः प्रभवति प्रथममुपलभ्यते इति । एवं दारदीसिन्धुः । काश्मीरीवितस्ता । काश्मीरशब्दाद् "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञोऽपवादः कच्छाद्यण् ।

अत्रादिशब्दोपादानात् । **"वैडूर्यः"** (६।३।१५८) विडूरशब्दात्प्रभवत्यर्थे ञ्यो निपात्यते । विडूरात्प्रभवति वैडूर्यो मणिः । विडूरग्रामे ह्ययं संस्क्रियमाणो मणितया ततः प्रथमं प्रभवति । वालवायात्तु पर्वतात्प्रभवन्नसौ न मणिः किन्तु पाषाणः । यदा तु जायमानतार्थः प्रभवशब्दस्तदा वालवायशब्दस्य ञ्यस्तत्सन्नियोगे विडूरादेशश्च निपात्यते । वालवायपर्याय एव वा विडूरशब्दः । प्रतिनियतविषयाश्च रूढय इति वैयाकरणानामेव [विडूरशब्दस्य वालवाये] प्रसिद्धिः [नान्येषाम्] । यथा जित्वरीशब्दस्य वाराणस्यां वणिजामेव । वालवायशब्दात्तु ईयप्रत्ययोऽनभिधानान्न भवति । **"त्यदादेर्मयट्"** (६।३।१५९) । प्रभवत्यर्थे तन्मयं तन्मयी ॥ ५९ ॥

॥ इति ततः प्रभवति इत्यधिकारः ॥

तस्येदम् ॥ ६० ॥ [सि० ६।३।१६०]

षष्ठ्यन्तादस्मिन्नर्थेऽणादयः स्युः । आर्षम् ॥ ६० ॥

"तस्येदम् ।" षष्ठ्यन्तादित्यादि—षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । आर्षमिति—ऋषीणामिदमार्षम् । एवं स्रौघ्नम् । माथुरम्, दैत्यम्, बार्हस्पत्यम्, कालेयम्, आग्नेयम्, औत्सम्, स्त्रैणम्, पौंस्नम्, गव्यम्, नादेयम्, राष्ट्रियम् । पारीणः, भावनीयः, श्यामगवीयः, पाटलीपुत्रकः प्राकारः । इह त्वनभिधानान्न भवति—देवदत्तस्यान्तरः, ग्रामस्य समीपम्, विंशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्च, तस्येति षष्ठ्यर्थमात्रमिदमिति षष्ठ्यर्थसम्बन्धिमात्रं च विवक्षितम् । यदन्यल्लिङ्गसङ्ख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकं तदविवक्षितम् ।

अत्रादिशब्दानुसन्धानात् "**हलसीरादिकण्**" (६।३।१६१)। अणोऽपवादः। हलस्येदं हालिकम्। एवं सैरिकम्। "**समिध आधाने टेन्यण्**" (६।३।१६२)। आधीयते समित् येन तदाधानम्। अणोऽपवादः। टकारो ङ्यर्थः। समिधामाधानो मन्त्रः सामिधेन्यो मन्त्रः। सामिधेनी ऋक्। पञ्चदश सामिधेन्यः। "**विवाहे द्वन्द्वादकल्**" (६।३।१६३)। अणोऽपवादः। लकारः स्त्रीत्वार्थः। अत्रिभरद्वाजानां विवाहः अत्रिभरद्वाजिका। वसिष्ठकाश्यपिका। भृग्वङ्गिरसिका। कुत्सकुशिकिका। गर्गभार्गविका। कुरुवृष्णिका। कुरुकाशिका। "**अदेवासुराऽऽदिभ्यो वैरे**" (६।३।१६४)। देवासुरादिवर्जिताद्द्वन्द्वाद्वैरे इदमर्थेऽकल् स्यात्। अणोऽपवादः। ईयं तु परत्वाद्बाधते। बाभ्रवशालङ्कायनानामिदं वैरं बाभ्रवशालङ्कायनिका। काकोलूकिका, श्वावराहिका, श्वशृगालिका, अहिनकुलिका। अदेवासुरादिभ्य इति किम्? दैवासुरम्, राक्षोऽसुरम्,। देवासुरादयः प्रयोगगम्याः। "**नटान्नृत्ते ञ्यः**" (६।३।१६५)। नटानामिदं नृत्तं नाट्यम्। "**छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचाच्च धर्माऽऽम्नायसङ्घे**" (६।३।१६६)। छन्दोगादिभ्यश्चतुर्भ्यो नटाच्च धर्मादौ इदमर्थे ञ्यः स्यात्। छन्दोगानां धर्म आम्नायः सङ्घो वा छान्दोग्यम्। औक्थिक्यम्। याज्ञिक्यम्। बाह्वृच्यम्। नाट्यम्। "**आथर्वणिकादणिक लुक् च**" (६।३।१६७)। अस्मादिदमर्थेऽण् इकलोपश्चास्य। अथर्वणा प्रोक्तं वेदं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः न्यायादित्वादिकण्, अतएव निपातनाद्गणपाठसामर्थ्याद्वा प्रोक्ताल्लुब् न भवति। आथर्वणिकानां धर्म आम्नायः सङ्घो वा आथर्वणः। चरणाकञि प्राप्ते वचनम्। "**चरणादकञ्**" (६।३।१६८)। चरणशब्दो वेदशाखावचनस्तद्योगात्तदध्यायिषु वर्त्तते, चरणवाचिनो धर्मादौ इदमर्थेऽकञ् स्यात्। अणोऽपवादः। ईयं तु परत्वाद्बाधते। कठानां धर्म आम्नायः सङ्घो वा काठकः। चरकानां चारककः। कालापानां कालापकः। पैप्पलादानां पैप्पलादकः। मौदानां मौदकः। आर्चाभिनामार्चाभकः। वाजसनेयिनां वाजसनेयकः। "**गोत्राददण्डमाणवशिष्ये**" (६।३।१६९)। गोत्रवाचिनो दण्डादिवर्जिते इदमर्थेऽकञ् स्यात्। अणोऽपवादः। ईयाञौ तु परत्वाद्बाधते। औपगवकम्, कापटवकम्, दाक्षकम्, प्लाक्षकम्, गार्गकम्, गार्ग्यायणकम् (ग्लौचुकायनकम्, म्लौचुकायनकम्) अदण्डमाणवशिष्य इति किम्? काण्व्यस्येमे काण्वाः—दण्डमाणवाः, शिष्या वा। एवं गौकक्षाः "शकलादेर्यञः" (६।३।२७) इत्यञ्। दाक्षेरिमे दाक्षाः प्लाक्षाः माहकाः "वृद्धेऽञः" (६।३।२८) इत्यञ्। दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवाः, आश्रमिणां रक्षापरिचरणार्थाः। शिष्या अध्ययनार्था अन्तेवासिनः। **रैवतिकादेरीयः**" (६।३।१७०)। अस्माद्गोत्रवाचिन इदमर्थे ईयः स्यात्। रैवतिकीयं शकटम्। रैवतिकीयः सङ्घादिः। रैवतिकीया दण्डमाणवशिष्याः। गौरग्रीवीयं शकटम्। गौरग्रीवीयः सङ्घादिः। गौरग्रीवीया दण्डमाणवशिष्याः॥ रैवतिक, गौरग्रीवि, स्वापिशिष्य, क्षैमधन्वि (क्षैमधृति इति मुद्रितबृहद्वृत्तौ), औदमेघि, औदवाहि, वैजवापि, इति रैवतिकादयः सप्त। "**कौपिञ्जलहास्तिपदादण्**" (६।३।१७१)। आभ्यां गोत्रवाचिभ्यामिदमर्थेऽण्। अकञादेरपवादः। कुपिञ्जलस्यापत्यं कौपिञ्जलः। हस्तिपादस्यापत्यं हास्तिपादः। अतो निपातनादेवाण् पादस्य च पद्भावः। तयोरिदं कौपिञ्जलं हास्तिपदं शकटम्। कौपिञ्जला हास्तिपदा दण्डमाणवशिष्याः। ननु यथाविहितमित्यण् सिद्ध एव, न चेयः प्राप्नोति, तदभीष्टौ हि रैवतिकादावेवैतौ पठ्येयाताम्, तथा अकञः प्राप्तौ वचनमनर्थकं स्यात् तथाप्यत्राण्ग्रहणाभावे दण्डमाणवशिष्येष्वकञर्थमेतत्स्यात्तत्र ह्यकञ् प्रतिषिद्ध इति। णित्वं ङ्यर्थं पुंवद्भावार्थं च-कौपिञ्जली स्थूणः। हास्तिपदी स्थूणः। "**सङ्घघोषाऽङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः**" (६।३।१७२) अञन्ताद्यञन्तादिञन्ताच्च गोत्रवाचिनः "तस्येदम्" इत्यर्थे सङ्घादावण् स्यात्। अकञोऽपवादः। अञ्, बिदानामयं वैदः सङ्घो

घोषाङ्को वा, वैदं लक्षणम् । यञ्. गर्गाणामयं गार्गः सङ्घादिः, गार्गं लक्षणम् । इञ्. दाक्षीणामयं दाक्षः सङ्घादिः, दाक्षं लक्षणम् (गोत्रादित्येव-सौतङ्गमीयः सङ्घादि) सङ्घादिष्विति किम् ? बिदानां गृहम् । अव्यञिञ इति किम् ? औपगवकः सङ्घादिः । लक्षणं लक्ष्यणस्यैव स्वम्, यथा शिखादि, अङ्कस्तु स्वामिकृतं गवादिस्थं स्वस्तिकादि चिह्नं नतु गवादीनां स्वमेवेति लक्षणाङ्कयोर्भेदः । **"शाकलादकञ्च"** (६।३।१७३) । शाकलशब्दात्सङ्घादावविदमर्थेऽण् अकञ् वा स्यात् । शाकल्येन प्रोक्तं विदन्त्यधीयते वा शाकलास्तेषां सङ्घादिः शाकलः शाकलकः । शाकलं शाकलकं लक्षणम् । **"गृहेऽग्नीधो रण् धश्च"** (६।३।१७४) । अग्नीध् ऋत्विग्विशेषस्तस्मादिदमर्थे गृहे रण् स्यात्, अन्तस्य च तृतीयबाधनार्थं धादेशः । अग्नीध इदमाग्नीध्रं गृहम् । **"रथात्साऽऽदेश्च वोढ्रङ्गे"** (६।३।१७५) नि[1]यमसूत्रमेतत् । रथात्केवलात्सपूर्वाच्च षष्ठ्यन्तादिदमर्थे यः प्रत्ययः स रथस्य वोढरि रथाङ्गे एव च स्यात् । रथस्यायं वोढा रथ्योऽश्वः । रथस्येदं रथ्यं चक्रम्, रथ्यं युगम् । सादि. द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः, त्रिरथः, "द्विगोरनपत्ये यस्व०" (६।१।२४) इत्यादिना यलुप् । अन्ये तु स्वरादेरेव लुपमिच्छन्ति, तन्मते द्विरथ्यः त्रिरथ्यः । परमरथस्येदं परमरथ्यम् । (उत्तमरथ्यम् । आश्वरथं चक्रम्) । वोढ्रङ्ग एवेति नियमादन्यत्र वाक्यमेव, न प्रत्ययः, रथस्येदं स्थानम् । **"यः"** (६।३।१७६) । रथात्केवलात्सादेश्च इदमर्थे यः स्यात् । अणादेरपवादः । रथस्यायं वोढा रथ्यः । द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः । त्रिरथः । रथ्यम्, परमरथ्यम्, काष्ठरथ्यं चक्रम् । **"पत्रपूर्वादञ्"** (६।३।१७७) पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्रथादिदमर्थेऽञ् स्यात् । यापवादः । अश्वरथस्येदं आश्वरथं चक्रम् । **"वाहनात्"** (६।३।१७८) । वाहनवाचिन इदमर्थेऽञ् स्यात् । अणाद्यपवादः । उष्ट्रस्यायं औष्ट्रः । रासभो हास्तो रथः । **"वाह्यपथ्युपकरणे"** (६।३।१७९) । नि[3]यमसूत्रमिदम् । वाहनाद्योऽयं प्रत्यय उक्तः स वाह्ये पथि उपकरण एव चेदमर्थे स्यान्नान्यत्र । अश्वस्यायमाश्वो रथः । आश्वः पन्थाः । आश्वं पल्ययनम् । आश्वी कशा । वाह्यपथ्युपकरण एवेति नियमादन्यत्र वाक्यमेव, न प्रत्ययः; अश्वानां घासः । **"वहेस्तुरिश्चाऽऽदिः"** (६।३।१८०) । वहेः परो यस्तृचस्तृनो वा तृशब्दस्तदन्तादिदमर्थेऽञ्प्रत्ययस्तृशब्दस्य चादिरिकारः स्यात् । संवोढुः सारथेरिदं सांवहित्रम् ॥ ६० ॥

तेन प्रोक्ते [सि० ६।३।१८१]
उपज्ञाते [सि० ६।३।१९१]
कृते ॥ ६१ ॥ [सि० ६।३।१९२]

तृतीयान्तादेष्वणादयः स्युः । भाद्रबाहवं शास्त्रम् । विनोपदेशमादौ ज्ञातं उपज्ञातम् ॥ ६१ ॥

"तेन०", उप०, कृते, इति सूत्रत्रयं स्पष्टम् । तृतीयान्तादिवृत्तिश्च कण्ठ्या । तत्र प्रकर्षेण व्याख्यातमध्यापितं वा प्रोक्तम्, न तु कृतम्, तत्र कृत इत्येव गतत्वात्तस्मिन्नर्थे तृतीयान्तान्नाम्नो यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युः । भाद्रबाहवं शास्त्रमिति—एवं भाद्रबाहवानि उत्तराध्ययनानि गणधरप्रत्येकबुद्धादिभिः कृतानि तेन व्याख्यातानीत्यर्थः । याज्ञवल्क्येन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि । पाणिनिना पाणि-

---

१ प्रत्ययस्तूत्तरेणैव । तर्ह्येक एव योगः क्रियेताम् ? नैवम् । रथात्सादेश्च वोढ्रङ्गे य इति कृते विधिसूत्रं स्यात्, ततश्च वोढ्रङ्ग इत्यस्य व्यावृत्तौ रथस्येदं स्थानमिति कृते अण् प्राप्येत । नियमे वाक्यमेव । २ आदिशब्दादीयञ्ययोः, ईये रासभ इति, ञ्ये औष्ट्रपतमिति द्रष्टव्यमिति । ३ यदि पूर्वेण सह एक योगं कुर्यात्तदानीं वाहनवाचिनो पथ्युपकरणे अत्रैवान्यत्र यथा प्राप्तमेव स्यात्, पृथग्योगे तु नियमार्थम् । ४ अत्र परे इकारागमे कर्त्तव्ये दृत्वादिशास्त्रमसत्, इकारागमे च कृते न प्राप्नोति ।

नीयम्। आपिशलिना आपिशलम्। काशकृत्स्निना काशकृत्स्नम्। उशनसा औशनसम्। बृहस्पतिना बार्हस्पत्यम्।

अत्रादिशब्दसन्निधानात् **"मौदाऽऽदिभ्यः"** (६।३।१८२)। एभ्यस्तेन प्रोक्ते यथाविहितं प्रत्ययः, सचापवादैर्बाधितोऽणेव—अपवादस्यैव भावे वचनानर्थक्यात्। मौदेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा मौदाः "वेदेन्ब्राह्मणमत्रैव" (६।२।१३०) इति नियमादत्र वेदित्रध्येतृविषय एवाण्। एवं पैप्पलादाः, जाजलाः। माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः। सौलभानि ब्राह्मणानि। मौदादयः प्रयोगगम्याः॥ **"कठाऽऽदिभ्यो वेदे लुप्"** (६।३।१८३) स चेत्प्रोक्तो वेदः स्यात्। कठेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा कठाः। चरकाः। कर्कराः। धेनुकण्ठाः। गोगडाः। "वेदेन् ब्राह्मणमत्रैवे"ति नियमाद्वेदित्रध्येत्रोरेव विषये प्रत्ययस्य लुप्। वेद इति किम्? चरकेण प्रोक्ता श्लोकाश्चारकाः। चरको वैशम्पायनः। कठादयः प्रयोगगम्याः॥ **"तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखादीयण्"** (६।३।१८४)। वेदे प्रोक्तार्थे। तित्तिरिणा प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा तैत्तिरीयाः। वारतन्तवीयाः। खाण्डिकीयाः। औखीयाः। अत्रापि "वेदेन् ब्राह्मणमत्रैवे"त्युपतिष्ठते॥ **"छगलिनो णेयिन्"** (६।३।१८५) प्रोक्ते वेदे। अणोऽपवादः। छगलिना प्रोक्तं वेदं विदन्ति अधीयते वा छागलेयिनः॥ **"शौनकाऽऽदिभ्यो णिन्"** (६।३।१८६)। प्रोक्ते वेदे। अणाद्यपवादः। शौनकेन प्रोक्तं वेदं विदन्त्यधीयते वा शौनकिनः। वेद इत्येव—शौनकीया शिक्षा। शौनक, शार्ङ्गरव, वाजसनेय, शापेय (काकेय?), शाफेय, शाष्पेय, शाष्फेय(ल्फेय?), स्कन्ध, स्कम्भ, देवदर्श, १० रज्जुभार, रज्जुतार, रज्जुकण्ठ दामकण्ठ, कठ, शाठ, कुशाठ, कुशाप, कुशायन, आश्वपचम, तलवकार, २१ पुरुषांश (स?)क, परुषांश (स?)क, हरिद्र, तुम्बरु, उपल (उपलप?), आलम्बि, पलिङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ३० ताण्ड्या, (ताण्ड्य?) श्यामायन, खादायन, कषायतल, स्तम्भ, ३६ इति शौनकादयः पञ्चत्रिंशत् (?) आकृतिगणोऽयम्, तेन भाल्लविना प्रोक्तं ब्राह्मणं विदन्त्यधीयते वा भाल्लविनः। शाट्यायनिनः। ऐतरेयिणः इत्यादि सिद्धम्। ब्राह्मणमपि वेद एव। "मन्त्रब्राह्मणं हि वेदः"॥ **"पुराणे कल्पे"** (६।३।१८७) तृतीयान्तात्प्रोक्तेऽर्थे णिन्प्रत्ययः स्यात्। अणाद्यपवादः। स चेत्प्रोक्तः पुराणः कल्पः स्यात्। पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पुराणः पैङ्गीकल्पः। तृणपिङ्गेन तार्णपिङ्गी कल्पः। अरुणपराजेन आरुणपराजी कल्पः। येऽपि पैङ्गिनं कल्पं विदन्त्यधीयते वा तेऽपि पैङ्गिनः, आरुणपराजिनः। प्रोक्ताद्धि लुबुक्तैव। पुराण इति किम्? आश्मरथः कल्पः। आश्मरथ्येन प्रोक्तः कल्प उत्तरकल्पेभ्य आरातीय इति श्रूयते॥ **"काश्यपकौशिकाद्वेदवच्च"** (६।३।१८८)। आभ्यां प्रोक्ते पुराणे कल्पे णिन् स्यात्। ईयापवादः। वेदवच्चास्मिन् कार्यं स्यात्। काश्यपेन प्रोक्तं पुराणं कल्पं विदन्त्यधीयते वा काश्यपिनः। कौशिकेन कौशिकिनः। काश्यपिनां धर्म आम्नायः सङ्घो वा काश्यपकः। कौशिकिनां कौशिककः। वेदवच्चेत्यतिदेशाद् "वेदेन् ब्राह्मणमत्रैवे"ति वेदित्रध्येतृविषयता "चरणादकञ्" (६।३।१६८) इत्यकञ् च भवति। कल्प इत्येव—काश्यपीया संहिता। पुराण इत्येव—इदानीन्तनेन गोत्रकाश्यपेन प्रोक्तः कल्पः काश्यपीयः। वेदवच्चेत्यतिदेशार्थं वचनम् (पुराणे कल्पे इत्यनेनैव सिद्धत्वात्)॥ **"शिलालिपाराशर्यान्नटभिक्षुसूत्रे"** (६।३।१८९)। शिलालिन्—पाराशर्य इत्येताभ्यां प्रोक्ते नटसूत्रे भिक्षुसूत्रे च णिन् स्यात्। अणपवादः। (शिलालिन्शब्दात्तेन प्रोक्ते, पाराशर्यात्तु शकलादेर्यञः)। वेदवच्चास्मिन् कार्यं स्यात्। नटानामध्ययनं नटसूत्रम्। भिक्षूणामध्ययनं भिक्षुसूत्रम्। शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते शैलालिनो नटाः। पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा

पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनां धर्म आम्नायः सङ्घो वा शैलालकम् । पाराशरकम् । अतिदेशाद्वेदित्रध्येतृविषयता चरणादकञ् च स्यात् ॥ **"कृशाश्वकर्मन्दादिन्"** (६।३।१९०) । नटभिक्षुसूत्रे, अणोऽपवादः । वेदवच्च कार्यम् । कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कृशाश्विनो नटाः । कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रं विदन्त्यधीयते वा कर्मन्दिनो भिक्षवः । अतिदेशादकञ्—कार्शाश्वकं कार्मन्दकम् । नटसूत्रे कापिलेयशब्दादपीच्छन्त्येके—कापिलेयिनो नटाः । कापिलेयक आम्नायः ।

इति प्रोक्ताधिकारः ॥

"उपज्ञाते" (६।३।१९१) । इति । विनोपदेशमित्यादि स्पष्टम्—यथा भद्रबाहुणोपज्ञातं भाद्रबाहवं शास्त्रम् । एवं पाणिनेन पाणिनिना वोपज्ञातं पाणिनीयम् ॥ **"कृते"** (६।३।१९२) । इति । तृतीयान्तात्कृते उत्पादितेऽर्थे यथाविहितमणादयः स्युः । यथा शिवेन कृतो ग्रन्थः शैवः । वाररुचानि वाक्यानि । जलूकेन जलूकया वा कृता जालूकाः श्लोकाः । जालुकिना जालुकाः श्लोकाः—अत्र "वृद्धेऽञः" (६।३।२८) इत्यञ् । सिद्धसेनीयः स्तवः । इष्टकाभिः कृतः प्रासाद ऐष्टकः । नारदेन कृतं नारदीयं गीतम् । मनसा कृता मानसी कन्या । तक्ष्णा कृतः प्रासाद इत्यादावनभिधानान्न भवति । कृते ग्रन्थ एवेच्छन्त्यन्ये ।

आदिशब्दसन्निधापिता विशेषास्त्वेवम्—**"नाम्नि मक्षिकाऽऽदिभ्यः"** (६।३।१९३) कृतेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं मधु । सरघाभिः सारघम् । गर्मुद्भिर्गार्मुतम् । नाम्नीति किम् ? मक्षिकाभिः कृतं शकृत् । वातपैः कृतं वातपमित्यत्राणन्तं नाम, नेयान्तमितीयो न स्यात् । मक्षिका, सरघा, गर्मुत्, नर्मुका, पुत्तिका, क्षुद्रा, भ्रमर, वटर, वातप, इति मक्षिकादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"कुलालाऽऽदेरकञ्"** (६।३।१९४) कृते नाम्नि । कुलालेन कृतं कौलालकम् । वारुटकम् । नाम्नीत्यभिधेयनियमार्थं तेन घटघटीशरावोदञ्चनान्ये(द्ये ?)व भाण्डं कौलालकम्, न यत्किञ्चित्कुलालकृतम् । शूर्पाद्येव (आदिशब्देन पिटकपटलिकापिच्छिकाद्येव) भाण्डं वारुटकं नान्यत् । एवमन्यत्राप्यभिधेयनियमः । कुलाल, वरुट, कर्मार, निषाद, चण्डाल, सेना, सिरन्ध्र, देवराजन्, देवराज, परिषद्, वधू, रु(भ)द्र, अनडुह्, ब्रह्मन्, कुम्भकार, अश्वपाक, रुद्र (रुरु ?) इति कुलालादयः सप्तदश ॥ **"सर्वचर्म्मण ईनेनञौ"** (६।३।१९५) नाम्नीत्यधिकारादभिधेयनियमः । सर्वश्चर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः सार्वचर्मीणः—अत्र सर्वशब्दस्य कृतापेक्षस्य चर्मशब्देनायोगेऽपि "नाम नाम्नै०" (३।१।१८) इति समासः ॥ **"उरसो याऽणौ"** (६।३।१८६) नाम्नि । उरसा कृतः उरस्यः औरसः ॥ **"छन्दस्यः"** (६।३।१९७) छन्दस्शब्दात् कृतेऽर्थे यो निपात्यते । नाम्नि । छन्दसा इच्छया कृतः छन्दस्यः, न तु प्रवचनेन गायत्र्यादिना वा । नाम्नीत्यधिकारादभिधेयव्यवस्था । निपातनात् क्वचिदन्यत्रापि भवति-ओँ श्रावयेति चतुरक्षरम् । अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम् । येयजामह इति पञ्चाक्षरम् । यजेति द्व्यक्षरम् । द्व्यक्षरो वषट्कारः । एष वै सप्तदशाक्षरः छन्दस्यो यज्ञमनुविहितः—अत्र स्वार्थे यः । यथानुष्टुबादिरक्षरसमूहश्छन्दस्तथैषां सप्तदशानामक्षराणां समूहः छन्दस्य उच्यते ॥ **"अमोऽधिकृत्य ग्रन्थे"** (६।३।१९८) । द्वितीयान्तादधिकृत्य ग्रन्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । अधिकृत्य प्रस्तुत्य उद्दिश्येत्यर्थः । तदपेक्षा द्वितीया । सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः । सुतारां सौतारः । भीमरथमधिकृत्य कृताख्यायिका भैमरथी । कथं वासवदत्तामधिकृत्य कृताख्यायिका वासवदत्ता, उर्वशी, सुमनोहरा, बलिबन्धनं, सीताहरणमिति ? उपचाराद्ग्रन्थे लाच्छब्दं भविष्यति ॥ **"ज्योतिषम्"** (६।३।१९९) । निपातोऽयम् । ज्योतींष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योति-

षम् ॥ **"शिशुक्रन्दाऽऽदिभ्य ईयः"** (६।३।२००) । शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शिशुक्रन्दीयः । यमसभीयः । इन्द्रजननीयः । प्रद्युम्नप्रत्यागमनीयः । प्रद्युम्नोदयनीयः । सीताहरणीयः । सीतान्वेषणीयः । (शिशुक्रन्दादयः) प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्याः । शिशुक्रन्दशब्दात्केचिन्नेच्छन्ति–शैशुक्रन्दम् । **"द्वन्द्वात्प्रायः"** (६।२।२०१) द्वन्द्वसमासादमोऽधिकृत्य ग्रन्थे प्राय ईयः स्यात् । अणोऽपवादः । वाक्यपदीयम् । द्रव्यपर्यायीयम् । शब्दार्थसम्बन्धीयम् । श्येनकपोतीयम् । प्राय इति किम् ? दैवासुरम् । राक्षोसुरम्, गौणमुख्यम् ॥ ६१ ॥

इति कृताधिकारः ॥

"साधुपुष्प्यत्पच्यमाने" ६।३।११७, "उप्ते" ६।३।११८ ॥ ६२ ॥

सप्तम्यन्तात्कालार्थादेष्वणादयः स्युः । शिशिरे साधु शैशिरं तैलम् । वसन्ते पुष्प्यन्ति पच्यन्ते उप्ता वा वासन्त्यो लताः ॥ ६२ ॥

***कृतादयः सप्तदशार्थाः शेषसंज्ञाः । दिङ्मात्रमेतत् ।**

"साधु०" "उप्ते" सप्तम्यन्तादित्यादि–अणादय इति–यथाविहितमणादय एयणादयश्च स्युरिति भावः । शैशिरं तैलमिति–एवं हेमन्ते साधु हैमनमनुलेपनं हैमन्तं हैमन्तिकम् । शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः । शैशिरा मुद्गाः । शरद्युप्ताः शारदा यवाः । हेमन्ते हैमनाः । ग्रैष्माः । नैदाघाः ॥

अत्रायं विशेषः–**"आश्वयुज्या अकञ्"** (६।३।११९) । आश्वयुजीशब्दादुप्तेऽर्थेऽकञ् स्यात् । इकणोऽपवादः । अश्विनीभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्ता आश्वयुजी पौर्णमासी । अश्विनीपर्यायोऽश्वयुक्शब्दः । आश्वयुज्यां कौमुद्यामुप्ता आश्वयुजका माषाः ॥ **"ग्रीष्मवसन्ताद्वा"** (६।३।१२०) । उप्तेऽर्थेऽकञ् । ऋत्वणोऽपवादः । ग्रैष्मकं ग्रैष्मं वासन्तकं वासन्तं धान्यम् । *कृतादय इत्यादि, **दिग्मात्रमेतत्** इति–एते सप्तदश त्वर्थाः प्रायः काव्यादिषु बहुप्रयुज्यमानतया प्रसिद्धा इति पृथग्नामग्राहं दर्शिताः ।

अन्येऽपि शेषार्थाः सन्ति ।

तथाहि **"व्याहरति मृगे"** (६।३।१२१) । सप्तम्यन्तात्कालवाचिनो व्याहरत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, व्याहरंश्चेन्मृगो भवति । निशायां व्याहरति नैशिकः नैशः शृगालः "निशाप्रदोषात्" (६।३।८३) इति इकण्वा ।

इति व्याहरतीत्यर्थाधिकारः ॥ १ ॥

"जयिनि च" (६।३।१२२) जयः प्रसहनमभ्यासः, सोऽस्यास्तीति जयी । सप्तम्यन्तात्कालवाचिनो जयिनि वाच्ये यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । निशासहचरितमध्ययनं निशा, तत्र जयी साभ्यासः नैशिकः नैशः । प्रादोषिकः प्रादोषः । वासन्तः । वार्षिकः । केवलकालविषयस्य जयस्यायोगान्निशादिसहचरिताध्ययनादिवृत्तयो निशादयः शब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति । चकारः कालादित्यनुकर्षणार्थः, तेन चानुकृष्टत्वान्नोत्तरत्रानुवर्त्तते ।

इति जयीत्यर्थाधिकारः ॥ २ ॥

"अभिनिष्क्रामति द्वारे" (६।३।२०२) । द्वितीयान्तादभिनिष्क्रामत्यभिनिर्गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, तच्चेदभिनिष्क्रामद्द्वारं भवति । स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति कन्यकुब्जद्वारं स्रौघ्नम् माथुरं नादेयं राष्ट्रियम् । करणभूतस्यापि द्वारस्याभिनिष्क्रमणक्रियायां स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथा साध्वसिश्छिनत्तीति । रचनाबहिर्भावे वा निष्कामिः, यथा गृहकोणो निष्क्रान्तः (रचनाया बहिर्निर्गत इत्यर्थः) ।

इति अभिनिष्क्रामतीत्यर्थाधिकारः ॥ ३ ॥

"गच्छति पथि दूते" (६।३।२०३)। द्वितीयान्ताद्गच्छत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्। स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः चेत्पन्था दूतो वा स्यात्। मथुरां गच्छति माथुरः पन्था दूतो वा। एवं नादेयः, राष्ट्रियः। पथिस्थेषु गच्छत्सु तद्धेतुः पन्था अपि गच्छतीत्युच्यते, मथुरादिप्राप्तिर्वा पथो गमनम्। पथि-दूत इति किम्? स्रुघ्नं गच्छति साधुः। पाटलीपुत्रं गच्छति नौः, पण्यं, वणिग् वा।

इति गच्छतीत्यर्थाधिकारः ॥ ४ ॥

"भजति" (६।३।१०४) द्वितीयान्ताद्भजत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। स्रुघ्नं भजति स्रौघ्नः। माथुरः। नादेयः। राष्ट्रियः ॥ **"महाराजादिकण्"** (६।३।२०५)। महाराजं भजति माहाराजिकः। **"अचित्तादेशकालात्"** (६।३।२०६) देशकालवर्जितं यदचित्तमचेतनं ततो भजत्यर्थे इकण् स्यात्। अणादेर्बाधकः। अपूपान् भजति आपूपिकः। शाष्कुलिकः। मौदकिकः। पायसिकः। अचित्तादिति किम्? दैवदत्तः। अदेशकालादिति किम्? स्रौघ्नः। हैमनः ॥ **"वासुदेवाऽर्जुनादकः"** (६।३।२०७)। ईयाकञोरपवादः। वासुदेवं भजति वासुदेवकः। यदा वासुदेवशब्दोऽक्षत्रियवचनः संज्ञाशब्दस्तदोत्तरेणाकञ् न प्राप्नोति किन्तु "दोरीयः" (६।३।३२) इतीयः स्यादिति तद्ग्रहणम्—अर्जुनं भजति अर्जुनकः, क्षत्रियत्वादुत्तरेणाकञ् स्यादिति अर्जुनग्रहणम्। केनैव सिद्धे अकविधानं वासुदेवीं भजति वासुदेवकः, अर्जुनीमर्जुनक इत्येवमर्थम् (कप्रत्यये 'ङ्यादीदूतः के' इति ह्रस्वत्वं स्यात्, अकप्रत्यये तु 'जातिश्च०' (३।२।५१) इति पुंवद्भवति)। **"गोत्रक्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः"** (६।३।२०८)। अणाद्यपवादः। गोत्र. ग्लुचुकायनिं भजति ग्लौचुकायनकः। औपगवकः। दाक्षकः। गार्गकः। गार्ग्यायणकः। क्षत्रियम्. नाकुलकः। साहदेवकः। दौर्योधनकः। दौःशासनकः। बहुवचनं क्षत्रियविशेषपरिग्रहार्थम्। प्राय इति किम्? पणिनोऽपत्यं पाणिनस्तं भजति पाणिनीयः। पौरवीयः। **"सरूपाद् द्रेः सर्वं राष्ट्रवत्"** (६।३।२०९)। "राष्ट्रक्षत्रियात्सरूपाद्राजापत्ये द्रिरञ्" (६।१।११४) इति प्रस्तुत्य सरूपाद्यो द्रिःप्रत्यय उक्तस्तदन्तस्य द्वितीयान्तस्य भजत्यर्थे सर्वं प्रकृतिः प्रत्ययश्च राष्ट्रवद्भवति। राष्ट्रवाचिनी या प्रकृतिर्वृजिप्रमुखा ततश्च यः प्रत्ययो "वृजिमद्राद्देशात्कः" (६।३।३८) इत्यादिना विहितस्तदुभयं वार्ज्य इत्यादेः सरूपस्य द्रिप्रत्ययान्तस्य भजतीत्यस्मिन्विषये भवतीत्यर्थः। वार्ज्यं वार्ज्यौ वृजीन् वा भजति वृजिकः। माद्रं माद्रौ मद्रान्वा भजति मद्रकः। अत्र कः प्रत्ययः ॥ पाण्ड्यं पाण्ड्यौ पाण्डून् वा भजति पाण्डवकः, आङ्गकः, वाङ्गकः, पाञ्चालकः, वैदेहकः, औदुम्बरकः, तैलखलकः, अत्र "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञ् ॥ कौरवकः कौरवः, यौगन्धरकः यौगन्धरः, अत्र "कुरुयुगन्धराद्वा" (६।३।५३) इति वाकञ् ॥ ऐक्ष्वाकः। अत्र "कोपान्त्याच्चाऽण्" (६।३।५६) इत्यण् ॥ सरूपादिति किम्? पौरवीयम्—अत्र पुरू राजा अनुखण्डो जनपद इति न सारूप्यम्, अत एव पुरुमगधेत्यादौ द्विस्वरत्वेऽणैव सिद्धे पुरुग्रहणमसरूपार्थं कृतम्। द्रेरिति किम्? पञ्चालान् ब्राह्मणान् भजति पाञ्चालः—अत्र "बहुविषयेभ्यः" इत्यकञ् न भवति। सर्वग्रहणं प्रकृत्यऽतिदेशार्थं तच्च वार्ज्यमाद्रपाण्ड्यकौरव्याः प्रयोजयन्ति; अन्यत्राऽविशेषात्।

इति भजतीत्यर्थाधिकारः ॥ ५ ॥

"टस्तुल्यदिशि" (६।३।२१०)। सहार्थतृतीयान्तात्तुल्यदिश्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्। तुल्या दिग् यस्य स तुल्यदिग्। सुदाम्ना एकदिग् सौदाम्नी विद्युत्। यस्यां दिशि गिरिस्तस्यां

१ तेन वृजिक मद्रक पाण्डवक इति सिद्धम् अन्यथा पाण्ड्यक इत्यादौ यकारश्रुतिः स्यात्। न वाच्यं 'तद्धितयस्वरे' इति यलोपप्राप्तिः अनापत्यत्वात् यकारस्य। २ आङ्गक इत्यादे लिखितापेक्षया एतदुक्तम्, यावता आवन्तक इत्यादावस्यैव विशेषः। अनापत्यत्वादावन्त्य इति स्थिते यलोपाप्रसङ्गात्।

विद्युदित्यर्थः । त्रिककुदा एकदिग् त्रैककुदी लङ्का । **"यश्चोरसः"** (६।३।२१२) चकारान्तसिः । उरसा एकदिक् उरस्तः उरस्यः ।

इति तुल्यदिगर्थाधिकारः ॥ ६ ॥

"कालाद्देये ऋणे" (६।३।११३) । तत्रेति वर्त्तते । तत्रेति सप्तम्यन्तात्कालविशेषवाचिनो देयेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, यद्देयं तदृणं चेत्स्यात् । नाम्नीति निवृत्तम् । मासे देयमृणं मासिकम्, आर्द्धमासिकम्, सांवत्सरिकम्, मासादिके गते देयमित्यर्थः । ऋण इति किम्? मासे देया भिक्षा (स्वातौ देयं स्वस्तिवाचनम्) ॥ **"कलाप्यश्वत्थयवबुसोमाव्यासैषमसोऽकः"** (६।३।११४) । एभ्यः पञ्चभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो देये ऋणेऽकः स्यात् । ईकणादेरपवादः । यस्मिन्काले मयूराः केदारा इक्षवः कलापिनो भवन्ति, स कालस्तत्साहचर्यात्कलापी, तत्र देयमृणं कलापकम् । यस्मिन्कालेऽश्वत्थाः फलन्ति स कालोऽश्वत्थफलसहचरितोऽश्वत्थस्तत्र देयमश्वत्थकम् । यस्मिन् काले यवबुसं भवति तत्र देयं यवबुसकम् । उमा व्यस्यन्ते (विक्षिप्यन्ते) यत्र स काल उमाव्यासस्तत्र देयं उमाव्यासकम् । ऐषमोऽस्मिन् संवत्सरे देयमृणमैषमकम्[1] । **"ग्रीष्माऽवरसमादकञ्"** (६।३।११५) । आभ्यां कालवाचिभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां देये ऋणेऽकञ् स्यात् । अणिकणोरपवादः । ञकारो वृद्ध्यर्थः । ग्रीष्मे देयं ग्रैष्मकम् । अवरासमा अवरसमा, समाया अवरत्वमित्यवरसमं वा । तत्रावरसमकं अपरसमादपीच्छन्त्येके—आपरसमकम् ॥ **"संवत्सराऽऽग्रहायण्या इकण् च"** (६।३।११६) । आभ्यां देये ऋणे इकण् चकारादकञ् च प्रत्ययौ भवतः । अणिकणोरपवादः । संवत्सराद्धि फले, पर्वणि च ऋणेऽण् प्राप्नोति । संवत्सरे देयमृणं फलं पर्व वा सांवत्सरिकं सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकं आग्रहायणकम् । वेत्यकृत्वा इकण् चेति विधानं "संवत्सरात्फलपर्वणोः" (६।३।९०) इत्यण्बाधनार्थम् ।

इति देयऋणाधिकारः ॥ ७ ॥

"सेर्निवासादस्य" (६।३।२१३) प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । यत्प्रथमान्तं निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो देश उच्यते । स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः । माथुरः । नादेयः । राष्ट्रियः ।

इति निवासाधिकारः ॥ ८ ॥

"आभिजनात्" (६।३।२१४) अभिजनाः पूर्वबान्धवाः, तेषामयमाभिजनः । प्रथमान्तादाभिजनान्निवासात्षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । स्रुघ्नोऽस्याभिजनो निवासः स्रौघ्नः । माथुरः । नादेयः । राष्ट्रियः ॥ **"शण्डिकाऽऽदेर्ण्यः"** (६।३।२१५) । अणाद्यपवादः । शण्डिक आभिजनो निवासोऽस्य शाण्डिक्यः । कौचवार्यः । शण्डिक, कूचवार, सर्वसेन, सर्वकेश, शङ्क, शाण्डिक (शक ?) शट, रक, चणक (चरण ?) शङ्कर, बोध, इति शण्डिकादय एकादश ॥ **"सिन्ध्वादेरञ्"** (६।३।२१६) । अणाद्यपवादः । सिन्धुराभिजनो निवासोऽस्य सैन्धवः । सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, कूलज, गन्धार, कश्मीर, सल्व, किष्किन्ध, गब्दिक, उरस्, दरद्, ग्रामणी, काण्डवरक इति सिन्ध्वादयः पञ्चदश । सल्वान्तेभ्यो नृनृस्थानाकञोऽपवादोऽञ् । शेषेभ्यो बहुविषयराष्ट्रलक्षणस्याकञो ग्रामणीकाण्डवरकाभ्यामीयस्य, तक्षशिलादिभ्यस्त्वञ् नोच्यते, उत्सर्गेणैव सिद्धत्वात् । (केचित्तक्षशिलादिभ्योऽञं ब्रुवते । तन्न । बाधकप्रत्ययान्तराप्राप्त्या 'प्राग्जितात्' इत्येव सिद्धत्वात् ॥ **"सलातुरा-**

---

१ आदिशब्दात् 'ऐषमो ह्यः श्वस्ते वा' इतित्यचूतनटौ । २ ऐषम इति सामान्यविशेषभावेन भूयः सप्तमी । एके तु विशेषाभावं मन्वानाः सप्तम्यर्थादपि प्रत्यय इति च व्याचख्युः ।

द्दीयण्" (६।३।२१७)। सलातुर आभिजनो निवासोऽस्य सालातुरीयः पाणिनिः ॥ "**तूदीवर्मत्या एयण्**" (६।३।२१८)। आभ्यामाभिजननिवासार्थाभ्यामस्येत्यर्थे एयण् स्यात्। तूदी वर्मती आभिजनो निवासोऽस्य तौदेयः वार्मतेयः। "**गिरेरीयोऽस्त्राऽऽजीवे**" (६।३।२१९)। गिरिर्य आभिजनो निवासस्तदभिधायिनः प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे ईयः स्यात्, अस्त्राजीवीत्यभिधेये। हृद्गोलः पर्वतः आभिजनो निवासोऽस्याऽस्त्राजीवस्य हृद्गोलीयः। भोजकटीयः। रोहितगिरीयः। अन्धश्मीयः। गिरेरिति किम्? साङ्काश्यकोऽस्त्राजीवः "प्रस्थपुरे" (६।३।४२) इत्यादिनाकञ्। अस्त्राजीव इति किम्? ऋक्षोदः पर्वतः आभिजनो निवासोऽस्य आर्क्षोदो ब्राह्मणः। पृथुः पर्वतः आभिजनो निवासोऽस्य पार्थवः।

इत्याभिजनाधिकारः ॥ ९ ॥

कृतादयः सप्तदश व्याहरत्यादयो नव। एवं सङ्कलिताः सर्वे शेषार्थाः विंशतिः सषट् ॥ १ ॥

†"**नद्यादेरेयण्**" (६।३।२)। शेषे। नद्या कृतादिर्नादेयः। वानेयः। "**राष्ट्रादियः**" (६।३।३)। राष्ट्रियः। शेषे इत्यधिकारादनुवर्त्तनीयम् ॥ "**दूरादेत्यः**" (६।३।४)। दूरेत्यः ॥ "**उत्तरादाहञ्**" (६।३।५) औत्तराहः ॥ "**पारावारादीनः**" (६।३।६) पारावारीणः ॥ "**व्यस्तव्यत्यस्तात्**" (६।३।७)। अपि। पारीणः। अवारीणः। अवारपारीणः। *अलङ्गामी-त्यर्थेऽप्येवम्–पारमलङ्गामी, पारीण इत्यादि। "**द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः**" (६।३।८)। दिव्यं प्राच्यमपाच्यमुदीच्यं प्रतीच्यम् ॥ "**ग्रामादीनञ्च**" (६।३।९)। ग्रामीणः ग्राम्यः ॥

"**नद्या०**"। शेषे इति। अधिकारोऽयम्। अपत्यादिभ्यः संस्कृतभक्ष्यपर्यन्तेभ्योऽन्योऽर्थः शेषः। वक्ष्यमाणशेषार्थान्तर्गते "तस्येदम्" (६।३।१६०) इत्यर्थे एयणादयो विधास्यन्ते। तस्येदंविशेषाश्चा-पत्यसमूहादयस्ततस्तेष्वपि[1] वक्ष्यमाणा एयणादयो मा भूवन्निति[2] शेषाधिकारः क्रियते। किञ्च[3] सर्वेषु प्राग्जितात् कृतादिषु वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः यथा स्युरनन्तरेणैवार्थनिर्देशेन कृतार्थता मा विज्ञायीति साक-ल्यार्थं शेषवचनम्। नादेय इति–एवं माहेयः वानेयः। वन्य इति तु "साधौ" (५।१।१५५) यः। शेष इति किम्? नदीनां समूहो नादिकम्। नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वनकौशाम्बी, वन-वासी, काशफरी, खादिरी, पूर्वनगर, पूर्वनगरी, पुर, वन, गिरि, (पुर्?) वनगिरि, पूर्वनगिरि, पावा, मावा, माल्वा, दार्वा, सेतकी, सैतवी, इति नद्यादयः पञ्चविंशतिः (?)।

इतः प्रभृति प्रकृतिविशेषोपादानमात्रेण प्रत्यया विधास्यन्ते कृतादयोऽर्था विभक्तयश्चोक्ता एवेति। "**राष्ट्रा०**" शेषे इति–प्राग्जितीये शेषेऽर्थे इत्यर्थः। राष्ट्रे कृतः (?) क्रीतः कुशलो जातो भवो वा राष्ट्रियः। शेष इत्येव–राष्ट्रस्यापत्यं राष्ट्रिः। "**दूरा०**"। स्पष्टम्। "**उत्त०**" औत्तराह इति–औत्तरा स्त्री चेत्। औत्तराहीति उत्तराहिशब्दाद् भवेऽर्थेऽणि। "**पारा०**" अवारः समुद्रः तस्य पारं परतटं राजदन्तादित्वात्पारावारः। पारावारे कृतादिः पारावारीणः। "**व्यस्त०** व्यस्तादिति पारशब्दात् अवारशब्दाच्च। व्यत्यस्तादिति पर्यस्तात् अवारपारशब्दादित्यर्थः। *अलङ्गामिनीत्यादि प्रकृतिप्रत्ययाविशे-षात् अशेषार्थेऽपि लाघवायाऽत्र निरूपितः। अत्र सूत्रम्–**पारावारं व्यस्तव्यत्यस्तं च**" (७।३।१०१) पारावारशब्दात्समस्ताद्व्यस्ताद्व्यत्यस्ताच्च निर्देशादेव द्वितीयान्तादलङ्गामिन्यर्थे ईनः स्यात्। पारीण इति–

---

† अस्य सूत्रस्यात्रोपन्यासकारणं सम्यग्न ज्ञायते–सम्पादकः। १ एयणादयश्च तस्येदमित्यर्थे विहितास्ततश्चापत्यसमूहा-दिष्वपि प्राप्नुवन्ति तद्विशेषत्वात्तेषाम्। २ अपत्यसमूहादिषु अन्यत्रोपयुक्तत्वात्तेषाम्। न केवलमपत्यादिषु एयणादीनां निवृत्तये शेषाधिकारः क्रियते, यावत्सर्वेषु कृतजातादिषु अस्येति षष्ठ्यर्थपर्यन्तेष्वेयणादीनां प्रवृत्त्यर्थश्चेत्याह–किञ्च०। ३ अयमर्थः–सन्निहितत्वात् कृतलब्धक्रीतादिष्वर्थेषु एयणादीनां प्रवृत्तेर्व्यवहितेष्वर्थेषु प्रवृत्तिर्न भविष्यतीत्येवं शङ्का मा भूदित्यर्थः।

एवं पारावारमलङ्गामी पारावारीणः इत्यादि । "द्युप्राग्०" द्यौश्च प्राक् च उदक् च प्रत्यक् च; तस्मात् दिव्शब्दात् प्रागादिभ्यश्चाव्ययानव्ययेभ्यः शेषेऽर्थे यः स्यात् । प्राचि प्राग् वा भवं प्राच्यम् । एवमपाच्यमुदीच्यं प्रतीच्यम् । दिग्देशवृत्तेः प्रागादेरयं यः, कालवृत्तेस्त्वव्ययात्परत्वात् "सायं०" (६। ३।८७) इत्यादिना तनट् । अनव्ययात्तु "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।८०) इति इकण् । प्राक्तनं प्राचिकमित्यादि । "ग्रामाद्०" चकारात् यः । ईनञो ञकारः "तद्धितः स्वरवृद्धिहेतु०" (३।२।५५) इति पुंवद्भावनिषेधार्थः । ग्रामीणा भार्या यस्य स ग्रामीणाभार्य इति ॥ ६२ ॥

कत्त्र्यादेश्चैयकञ् ॥ ६३ ॥ [सि० ६।३।१०]

कत्त्र्यादिभ्यो ग्रामाच्चैयकञ् । कात्त्रेयकः । ग्रामेयकः । "दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण्" (६।३।१३) दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ॥ ६३ ॥

"कत्त्र्या०" । कत्त्रि, पुष्कर, पुष्पल, पौदन, उम्पि, उम्भि, औम्भि, कुम्भी, कुण्डिना, नगर, महिष्मती, वर्मती, चर्मण्वती इति कत्त्र्यादयस्त्रयोदश । नगरशब्दो महिष्मत्यादिसाहचर्यात्संज्ञायामेयकञमुत्पादयति, अन्यत्राणमेव ।

अत्रादिशब्दसंसर्गात् "कुण्ड्यादिभ्यो यलुक् च" (६।३।११) । एभ्य एयकञ्, तत्सन्नियोगे चैषां यलुक् स्यात् । कौण्डेयकः । कौणेयकः । कुण्ड्या, कुण्या, उष्ण्या, (उक्ष्या), भाण्ड्या, ग्रामकुण्ड्या, तृण्या, वन्या, पल्या, पुल्या, मुल्या, इति कुण्ड्यादयो दश । "कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वाऽस्यलङ्कारे" (६।३।१२) कुल्यादिभ्यस्त्रिभ्यः श्वादिविशिष्टेऽर्थे एयकञ् स्यात् । अणोऽपवादः । कुले शुद्धान्वये भवो जातो वा कौलेयकः श्वा, कौलोऽन्यः । कौक्षेयकोऽसिः यः कङ्ककुक्षिनिर्जीर्णेनायसाकृतः, कौक्षोऽन्यः । ग्रैवेयकोऽलङ्कारः ग्रैवोऽन्यः । "दक्षिणा०" अणोऽपवादः । दाक्षिणात्य इति-दक्षिणा दिक् तस्यां भवो दाक्षिणात्यः; अथवा दक्षिणस्यां वसति "वा दक्षिणात् प्रथमासप्तम्या आ" (७।२।११९) इत्याप्रत्यये दक्षिणा, तत्र भवो दाक्षिणात्यः । पश्चात्पुरःशब्दसाहचर्याद्दक्षिणा इति दिक्शब्दोऽव्ययं वा गृह्यते, तेनेह न भवति—दक्षिणायां भवानि दाक्षिणानि जुहोति—अत्र दक्षिणाशब्दो गवादिवचनः । अव्ययादेवेच्छन्त्यन्ये । अनव्ययस्य दिग्वाचिनो दक्षिणाशब्दस्य दाक्षिणात्य इत्यत्र पुंवद्भावस्तु "कौण्डिन्याऽगस्त्ययोः कुण्डिनाऽगस्ती च" (६।१।१२७) इति सूत्रनिर्देशेन पुंवद्भावस्यानित्यत्वज्ञापनादिति "नृपः पुरस्थावगृहीतवर्त्मा('पुरस्थैः प्रतिबद्धवर्त्मा' इति निर्णयसागरमुद्रिते) पश्चात्तनैः कै(क ?)श्चन नुद्यमानः । यत्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम्" ॥ १ ॥ ॥ इति नैषधीये दशमसर्गे पद्यं ६ अत्र पश्चात्तनैरिति प्रयोगः प्रामादिकः ।

अत्रादिशब्दात् "वह्ल्यूर्दिपर्दिकापिश्याष्टायनण्" (६।३।१४) । वाल्हायनी । और्दायनी और्दायनः । पार्दायनः पार्दायनी । कापिशायनं मधु, कापिशायनी द्राक्षा । वह्लीति ऊष्मोपान्त्यः । केचिदत्र वकारं दीर्घान्तं पठन्ति ॥ "रङ्कोः प्राणिनि वा" (६।३।१५) । राङ्कवायणः, पक्षेऽण् राङ्कवो गौः । प्राणिनीति किम् ? राङ्कवः कम्बलः । मनुष्ये तु प्राणिन्यपि कच्छादिपाठात् "कच्छाऽऽदेर्नृनृस्थे" (६।३।५५) इति परत्वादकञेव राङ्कवको मनुष्यः ॥ ६३ ॥

क्वेहामात्रतसस्त्यच् ॥ ६४ ॥ [सि० ६।३।१६]

क्वेहामाभ्यस्त्रतस्प्रत्ययान्तेभ्यश्च त्यच् स्यात् । क्वत्यः, इहत्यः, अमात्यः, कुत्रत्यः, ततस्त्यः ॥ ६४ ॥

"क्वेहा०" "साकं सत्रा समं सार्द्धममा सहेति" वचनात् अमा सह भवः अमात्यः। आविश्शब्दादपि कश्चित् आविष्ट्यः। चकारस्त्यण्त्यचोः सामान्यग्रहणाविघातार्थः, अन्यथा निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्येत्युपस्थाने अस्यैवैकस्य त्यस्य ग्रहणे त्यणश्चाग्रहणे "स्वज्ञाऽजभस्त्राऽधातुत्ययकात्" (२।४।१०८) इति सूत्रेण दाक्षिणात्यिका इहत्यिकेत्युभयोरपि स्यात् (त्यण्)त्यचोः स्त्रियामापः स्थाने इत्वविकल्पनिषेधान्नित्यमित्वं न स्यादिति।

आदिशब्दोपादानात् "नेर्ध्रुवे" (६।३।१७)। निशब्दात् ध्रुवेऽर्थे त्यच् स्यात्। नित्यं ध्रुवम्। "निसो गते" (६।३।१८) निस्शब्दाद्गतेऽर्थे त्यच् स्यात्। निर्गतो वर्णाश्रमाभ्यां निष्ट्यश्चण्डालः।

"ऐषमो ह्यः श्वसो वा" (६।३।१९)। त्यच्। ऐषमस्त्यम् पक्षे।

"ऐषमो०" एभ्यः कालार्थेभ्यस्तनट् स्यात्। ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यं ह्यस्तनम्। *श्वस्त्यं श्वस्तनम्॥ ६४॥

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययात्॥ ६५॥ [सि० ६।३।८८]

"सायं०" सायं चिरं प्राह्णे प्रगे इत्येतेभ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यः शेषेऽर्थे तनट् स्यात्। साये भवं सायन्तनम्, चिरे भवं चिरन्तनम्, अत एव निर्देशान्मान्तत्वं निपात्यते। प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम्, अनयोरेकारान्तत्वम्। अव्यय. दिवातनम्, दोषातनम्, नक्तन्तनम्, पुनस्तनम्, प्रातस्तनम्, प्राक्तनम्। कालेभ्य इत्येव–स्वर्भवं सौवम्। सायञ्चिरंप्राह्णेप्रगे इत्यव्ययेभ्योऽव्ययादित्येव सिद्धे सायचिरप्राह्णप्रगशब्देभ्यस्तनड्विधानं कालेकणबाधनार्थम्। *श्वस्त्यमिति "श्वसस्ताऽऽदिः" (६।३।८४)। इति तिकणपि (तादिरिकण्) भवति, तेन त्रैरूप्यम्–श्वस्त्यं श्वस्तनं शौवस्तिकम्।

अत्रादिशब्दसंसर्गात् "कन्थाया इकण्" (६।३।२०)। शेषे। कान्थिकः। कन्था ग्रामविशेषः॥ "वर्णावकञ्" (६।३।२१) वर्णुर्नाम ह्रदः, तस्य समीपे देशोऽपि वर्णुस्तत्र या कन्था ततः शेषेऽर्थेऽकञ् स्यात्। इकणोऽपवादः। कान्थकः। "रूप्योत्तरपदाऽरण्यात् णः" (६।३।२२)। वृकरूप्ये भवः वार्करूप्यः वार्करूप्या। शैवरूप्यम्। आरण्या सुमनसः, पशवः। माणिरूप्ये जातो माणिरूप्यक इत्यत्र दुसंज्ञत्वेन परत्वात् "प्रस्थपुर०" (६।३।४३) इत्यादिना व्योपान्त्यलक्षणोऽकञेव। अन्तग्रहणेनैव सिद्धे उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिवृत्त्यर्थम्–बाहुरूप्यी। "दिक्पूर्वादनाम्नः" (६।३।२३)। असंज्ञाविषयाद्दिक्पूर्वाच्छेषेऽर्थे णः स्यात्। अणोऽपवादः। पौर्वशालः पौर्वशाला। आपरशालः आपरशाला। अनाम्न इति किम्? पूर्वेषु कामशमी नाम ग्रामस्तस्यां भवः पूर्वेषुकामशमः। "मद्रादञ्" (६।३।२४)। मद्रान्ताद्दिक्पूर्वाच्छेषेऽर्थेऽञ् स्यात्। पूर्वेषु मद्रेषु भवः पौर्वमद्रः, पौर्वमद्री। बहुत्वे "बहुविषयेभ्यः" (६।३।४५) इत्यकञ् प्राप्तस्तदपवादे "वृजिमद्राद्देशात्कः" (६।३।३८) इति के प्राप्तेऽञ्वचनम्। केवलादेव मद्रादकञ्कविधिरिति चेत्तर्हीदमेव ज्ञापकम् "सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्येति तदन्तविधेः"–तेन सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्द्धपाञ्चालकः, पूर्वपाञ्चालकः, अपरपाञ्चालकः, सुमागधकः, सर्वमागधकः, सुवृजिकः, समुद्रक इत्यादि सिद्धम्। "उदग्ग्रामाद्यकृल्लोम्नः" (६।३।२५)। याकृल्लोमः। उदग्ग्रामादिति किम्? अन्यस्मादणेव याकृल्लोमनः। "गौष्ठीतैकीनैकेतीगोमतीशूरसेनवाहीकरोमकपटच्चरात्" (६।३।२६)। एभ्योऽष्टाभ्योऽञ् स्यात्। गौष्ठः तैकः नैकेतः–एभ्यो वाहीकग्रामलक्षणयोर्णिकेकणोः सैकयाः कोपान्त्यलक्षणस्येयस्य चापवादः। गौमत–अस्मिन्नीञ्लक्षणस्याकञः। शौरसेनः–अत्र राष्ट्र-

कञः । वाहीकः रौमकः—अत्र दुंलक्षणेयस्य । पाटचरः—अत्र रोपान्त्यलक्षणस्याकञः । एके तु गौष्ठी स्थाने गोष्ठीं तैकीस्थाने तैकीं नैवीं च पठन्ति ॥ **"शकलादेर्यञः"** (६।३।२७) । यञन्तेभ्य एभ्योऽञ् स्यात् । ईयस्यापवादः । गर्गाद्यन्तर्गणः शकलादिः । शकलस्यापत्यं वृद्धं शाकल्यस्तस्य छात्राः शाकलाः । एवं काण्वाः, गौकक्षाः, वामरथाः । यञ इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शाकलस्तस्येदं शाकलीयम् । कण्वादागतः काण्वस्तस्य छात्रा काण्वीयाः । **"वृद्धेऽञः"** (६।३।२८) । वृद्धे यञ् इञ्विहितस्तदन्तादञ् स्यात् । ईयस्यापवादः । दक्षस्य वृद्धापत्यं दाक्षिः, तस्य छात्राः दाक्षाः । वृद्धेति किम् ? सुतङ्गमेन निर्वृत्ता सौतङ्गमी नगरी, तस्यां भवः सौतङ्गमीयः । शालङ्केरपत्यं युवा शालङ्किः "यञिञः" (६।१।५४) इत्यायनणः पैलादिपाठाल्लुप्, तस्य छात्राः शालङ्का इत्यत्र आयनणि लुप्ते यद्यपीञन्तं यूनि वर्त्तते तथापि इञ वृद्धे इत्यञेव भवति । **"न द्विस्वरात्प्राग्भरतात्"** (६।३।२९) । प्राच्यगोत्रवाचिनो भरतगोत्रवाचिनश्च नाम्नो वृद्धेञन्ताद्द्विस्वरादञ् न स्यात् । पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषेधः । प्राचः चैङ्कीयाः । पौष्पीयाः । चिङ्कपुष्पशब्दावाबन्तावपि तत्र बाह्वादित्वादिञ् । भरतात्. काशकाशीयाः वाशवाशीयाः । द्विस्वरादिति किम् ? पान्नागारे छात्राः पान्नागाराः । मान्थरषेणाः । प्राग्भरतादिति किम् ? दाक्षाः, प्लाक्षाः । प्राग्ग्रहणे भरतग्रहणं न स्यादिति स्वशब्देन ग्रहणम् ।

"भवतोरिकणीयसौ" (६।३।३०) । [1]क्वचिदिकस्येतो लुक्—भावत्कम् । भवदीयम् । **"परजनराज्ञोऽकीयः"** (६।३।३१) परकीयः । राजकीयः । **"दोरीयः"** (६।३।३२) देवदत्तीयः । तदीयः पाणिनीयम् । *ईयेऽन्यादोन्तः अन्यदीयम् ।

"भवतो०" इकण् ईयस् एतौ प्रत्ययौ ईयापवादौ । ईयसः सकारो "नाम सिदय्व्यञ्जने" (१।१।२१) इति पदत्वार्थः । भवतो ऋकारान्तस्य ग्रहणाच्छत्रन्तान्न भवति । भवत इदं भावत्कम् । [1]क्वचिदित्यादि अत्र सूत्रम् **"ऋवर्णोवर्णदोसिसुसशश्वदकस्मात्त इकस्येतो लुक्"** (७।४।७१) ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताद्दोसूशब्दादिसन्तादुसन्तात् शश्वदकस्माद्वर्जात्तकारान्ताच्च परस्य इकप्रत्ययसम्बन्धिन इकारस्य लुक् स्यात् । यथा मातुरागतं मातृकं, पैतृकं "ऋत इकण्" (६।३।१५२) । निषादकर्ष्वां भवः नैषादकर्षुकः, शाबरजम्बुकः "उवर्णादिकण्" (६।३।३९) । दोर्भ्यां तरति दौष्कः । इस्. सर्पिः पण्यमस्य सार्पिष्कः, बार्हिष्कः । उस्. धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः, याजुष्कः । उदश्विता संस्कृत ओदन औदश्वित्कः । शकृता संसृष्टः शाकृत्कः । शश्वदकस्मात्प्रतिषेधात् शश्वद्भवं शाश्वतिकं "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।८०) इतीकण् । आकस्मिकं अध्यात्मा (६।३।८७) दित्वादिकण् । प्रत्यययोरिसुसोर्ग्रहणादिह न भवति—आशिषा चरति आशिषिकः । वसेः क्विप् उस्, उषा चरति औषिकः । मथितं पण्यमस्य माथितिकः इत्यत्रापि तान्तत्वस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । भावत्कमिति—भवतो भवत्या वा इदं भावत्कं भावत्की भवदीया । **"परजन०"** एभ्यः शेषेऽर्थे अकीयः स्यात् । अकारः पुंवद्भावार्थः । राज्ञ इदं राजकीयः, "जातिश्च णि तद्धितयस्वरे" (३।२।५१) इति पुंवद्भावः—परकीयः । जानकीयः । स्वकीयं देवकीयमिति तु स्वकदेवकयोर्गहादित्वात्सिद्धम् । ये तु स्वदेवशब्दाभ्यामकीयमिच्छन्ति तेषां स्वस्येदं सौवम्, दैवमायुः, दैवी वागित्यादि न सिद्ध्यति । **"दोरी०"**

---

१ वाहीकशब्दस्य पुरुषवाचिनो 'दोरीयः' इत्यस्य देशवाचिनस्तु कखोपान्त्यस्यापवादः तदुभयमपि दुलक्षणस्येत्यनेन श्लिष्टनिर्देशेन सङ्गृहीतम् । यत उभाभ्यामपि दुसंज्ञायां विधानात् । रोमकस्य तु 'कखोपान्त्य' इत्यस्यैव । यतस्तस्य पुरुषवाचिनो दुसंज्ञा न. प्राप्नोति । देशवाचिनस्तु 'प्राग्देशे०' इति दुसंज्ञा । २ 'वृद्धाद्यूनि' इत्यत्र यूनोऽपि वृद्धसंज्ञाकार्यदर्शनादत्र इञन्तस्य वृद्धेऽपि वर्त्तनमित्याश्रयणे औपगवस्यापत्यं युवा औपगविस्तस्य छात्रा औपगवीयाः । एवं पाणिनीया इत्यादावपि स्यात् । अतो मुख्यत्वाद्वृद्धे एवेति व्याख्येयम् ।

अणऽपवादः । देवदत्तीय इति "संज्ञा दुर्वा" (६।१।६) इति दुसंज्ञा, तदीय इति "त्यदादिः" (६। १।७) इति दुसंज्ञा, पाणिनीयमिति "वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः" (६।१।८) इति दुसंज्ञा । एवं एणीपचनीयः, गोनर्दीयः, भोजकटीयः "प्राग्देशे" (६।१।१०) इति दुसंज्ञा । कथं श्रीमदीयमिति ? प्रमाद एवायं दुसंज्ञाभावात् । *ईयेत्यादि–"ईयकारके" (३।२।१२१) इति सूत्रेण दोऽन्तः ।

अत्रादिशब्दसान्निध्यात् "**उष्णादिभ्यः कालात्**" (६।३।३३) । उष्णकालीयः, बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् । "**व्यादिभ्यो णिकेकणौ**" (६।३।३४) । व्यादिभ्यः परो यः कालशब्दस्तदन्तादेतौ स्याताम् । उभयोः स्त्रियां विशेषः–वैकालिकः, वैकालिका, वैकालिकी । आनुकालिकः, आनुकालिका आनुकालिकी । ऐदङ्कालिकः ३ । धौमकालिकः ३ । आपत्कालिकः ३ । साम्पत्कालिकः ३ । कौपकालिकः ३ । कौधकालिकः ३ । और्ध्वकालिकः ३ । पौर्वकालिकः ३ । तात्कालिकः ३ । कौरकालिकः ३ । व्यादयः प्रयोगगम्याः ॥ "**काश्यादेः**" (६।३।३५) । णिकेकणौ । दोरिति वर्त्तते । काशिकः, काशिका, काशिकी । चैदिकः३ । दोरित्येव–देवदत्तं नाम वाहीकग्रामस्तत्र जातो दैवदत्तः; देवदत्तशब्दस्य प्राग्देशे एव दुसंज्ञा, न वाहीकेष्विति न भवति; नाप्युत्तरेण तत्रापि दोरित्यनुवर्त्तनात् । प्राग्ग्रामेषु तु काश्यादित्वाद्भवत्येव–दैवदत्तिका दैवदत्तिकी । येषां तु काश्यादीनां दुसंज्ञा न भवति तेषां पाठसामर्थ्याद्भवति । चेदीशब्दसाहचर्याच्च काशिशब्दो जनपद एव वर्त्तमान इमौ प्रत्ययावुत्पादयति नान्यत्र–काशीयाः छात्राः । काशि, चेदि, देवदत्त, सांयाति, सांवाह, अच्युत, मोदमान, श्वकुलाल १० शकुलाद, हस्तिकूर्षूकौ, नाम, हिरण्य, करण, हैहिरण्य, करणे, सिन्धुमित्र, सधमित्र, अरिन्दम, दाशमित्र, दासमित्र २० छागमित्र, दासग्राम, शौवावतान, गौवाशन, गौवासन, तारङ्गि, भारङ्गि, युवराज, उपराज, देवराज, ३० इति काश्यादयस्त्रिंशत् ॥ "**वाहीकेषु ग्रामात्**" (६।३।३६) । णिकेकणौ । कारन्तपिकः, कारन्तपिका कारन्तपिकी । शाकलिकः ३ । मान्थविकः ३ । आरात्कः ३ । सैपुरकः ३ । स्कौनगरिकः "एदोद्देश एवेयादौ" (६।१।९) इति दुसंज्ञा । नापितवास्तुक इत्यत्र "उवर्णादिकण्" इतीकण् । वातानुप्रस्थकः, नान्दीपुरकः, कौकुटीवहकः, दासरूप्यकः इत्येषु "प्रस्थपुरवहान्तयोपान्त्यधन्वार्थात्" (६।३।४३) इति परत्वादकञ् । सौसुकीय इत्यत्र कोपान्त्यलक्षण ईयोऽपवादाच्च भवति (कथं मौञ्जीयम् ? मौञ्जं नाम वाहीकावधिरन्यदीयो ग्रामो न वाहीकग्राम इत्येके, अन्ये तु दश द्वादश वा ग्रामा विशिष्टसन्निवेशावस्थाना मौञ्जं नामेति ग्रामसमूह एवायं न ग्रामः, नापि राष्ट्रम् ; येन राष्ट्रलक्षणोऽकञ् स्यात् इति मन्यन्ते । दोरित्येव–देवदत्तं नाम वाहीकग्रामः तत्र जातो दैवदत्तः) ॥ "**वोशीनरेषु**" (६।३।३७) उशीनरेषु जनपदेषु यो ग्रामस्तद्वाचिनो दुसंज्ञकाच्छेषेऽर्थे णिकेकणौ वा स्याताम् । आह्वजालिकः, आह्वजालिका आह्वजालिकी । सौदर्शनिकः ३ । पक्षे आह्वजालीयः, सौदर्शनीयः ॥ "**वृजिमद्राद्देशात्कः**" (६।३।३८) देशवाचिभ्यामाभ्यां शेषेऽर्थे कः स्यात् । राष्ट्राकञोऽपवादः । दोरिति निवृत्तम् । वृजिकः मद्रकः (सुसर्वार्द्धदिक्शब्देभ्यो जनपदवाचिनः प्रत्ययो भवति तत्र मद्रात् दिक्पूर्वपदात् 'मद्रादञ्' (६।३।२४) इत्यञ् विहितः शेषपूर्वपदात्त्वयं भवति) सुमद्रकः सर्वमद्रकः अर्द्धमद्रकः सुवृजिकः सर्ववृजिकः अर्द्धवृजिकः पूर्ववृजिकः अपरवृजिकः । देशादिति किम् ? मनुष्यवृत्तेर्वार्जः, माद्रः ॥ "**उवर्णादिकण्**" (६।३।३९) । उवर्णान्तादेशवाचिन इकण् स्यात् । अणोऽपवादः । परत्वादीयणिकेकणोऽपि बाधते । शबरजम्ब्वां भवः शाबरजम्बुकः । नैषादकर्षुकः । दाक्षिकर्षुकः । प्लाक्षिकर्षुकः । नापिकवास्तुर्वाहीकग्रामस्तत्र भवो नापितवास्तुकः । यस्तु प्राग्ग्रामस्तस्मादुत्तरेण भवति–आवृ(त्री ?)तमायौ भवः आवृ(त्री ?)तमायकः । जिह्नुषु जैह्नवक, इति परत्वाद्योपान्त्यलक्षणो राष्ट्रलक्षणश्चाकञ् । ऐक्ष्वाक इत्यत्र तु कोपान्त्यलक्ष-

णोऽण् । उवर्णादिति किम्? दैवदत्तः । देशादित्येव—पटोश्छात्राः पाटवाः ॥ **"दोरेव प्राचः"** (६।३।४०) शरावत्याः प्राच्यां दिशि प्राग्देशः । तद्वाचिन उवर्णान्ताद्दुसंज्ञकादेव इकण् स्यात् । आषाढजम्ब्वां भवः आषाढजम्बुकः । नापितवास्तुकः । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदं तेनेह न भवति—मल्लवास्तु प्राग्ग्रामः माल्लवास्तवः । एवकार इष्टावधारणार्थः—दोः प्राच एवेति नियमो मा भूत् ॥ **"ईतोऽकञ्"** (६।३।४१) ईकारान्तात् प्राग्देशवाचिनो दुसंज्ञकादकञ् स्यात् । ईयापवादः । काकन्द्यां भवः काकन्दकः । प्राच इति किम्? दात्तामित्र्यां भवः दात्तामै(मि?)त्रीयः ॥ **"रोपान्त्यात्"** (६।३।४२) प्राग्देशवाचिनो दुसंज्ञकाद्रेफोपान्त्यादकञ् स्यात् । ईयापवादः । पाटलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः ॥ **"प्रस्थपुरवहान्तयोपान्त्यधन्वार्थात्"** (६।३।४३) । दोर्देशादिति च वर्त्तते । एभ्योऽकञ् स्यात् । धन्वन्शब्दो मरुदेशवाची । प्रस्थान्त. मालाप्रस्थकः, शोणप्रस्थकः, काञ्चीप्रस्थकः, वातानुप्रस्थकः, वाणप्रस्थकः । पुरान्त. नान्दीपुरकः । कान्तीपुरकः (वार्त्तीपुरकः?) वहान्त. पैलुवहकः, फाल्गुनीवहकः, कौक्कुटीवहकः, कौकुचीवहकः । योपान्त्य. साङ्काश्यकः, काम्पील्यकः, माणिरूप्यकः, दासरूप्यकः, आत्रीतमायवकः । धन्ववाची. पारेधन्वा, आपारेधन्वा, 'नाम्नि' (३।१।९४) इति सः "अव्यञ्जनात्०" (३।२।१८) इति सप्तम्यलुप् । पारेधन्वनि भवः पारेधन्वकः । आ ईषत्पारं आपारं "आङल्पे" (३।१।४६) इति सः । आपारेधन्वेति पूर्ववत् । आपारेधन्वकः । ऐरावतकः । सुप्रचष्टे डे सुप्रख्येन निर्वृत्त इत्यणि सौप्रख्ये भवः सौप्रख्यीयः इति तु गहादित्वात् । एवं कामप्रस्थीयः । पुरग्रहणमप्राच्यार्थम् । प्राच्याद्धि रोपान्त्यत्वेनैव सिद्धम्, अत एवेह प्राच इति नानुवर्त्तते । ईयबाधनार्थं वचनम् ॥ **"राष्ट्रेभ्यः"** (६।३।४४) । देशेभ्यो दुसंज्ञकेभ्योऽकञ् स्यात् । ईयापवादः—अभिसारे भवः अभिसारकः । आदर्शे भवः आदर्शकः । औषुष्टश्यामायने राष्ट्रावधी अपि राष्ट्रे । औषुष्टे औषुष्टकः श्यामायनकः । बहुवचनमकञः प्रकृतिबहुत्वं द्योतयदपवादविषयेऽपि प्रापणार्थम्, तेनेहापि भवति—आभिसारगर्त्तकः; अत्र गर्त्तोत्तरपदलक्षण ईयो न भवति । राष्ट्रसमुदायो न राष्ट्रग्रहणेन गृह्यत इतीह न भवति—काशिकौशलीयः ॥ **"बहुविषयेभ्यः"** (६।३।४५) द्वोरिति निवृत्तम् (योगविभागात्) । अतः परं दोरदोश्च विधानम् । देशादिति तु वर्त्तते । राष्ट्रेभ्यो देशेभ्यो बहुत्वविषयेभ्योऽकञ् स्यात् । अणाद्यपवादः । अङ्गेषु जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । दार्वकः । काम्बकः । जिह्नुषु जैह्नवकः । आजमीढकः । आजकुन्दकः । कालञ्जरकः । वैकुलिकः । विषयग्रहणमनन्यत्र भावार्थम्, एतेन य एकत्वद्वित्वयोरपि वर्त्तते ततो मा भूत् । वर्त्तनी च वर्त्तनी च वर्त्तनी च वर्त्तन्यः; तासु भवो वार्त्तनः । बहुवचनमपवादविषयेऽपि प्रापणार्थम्—त्रिगर्त्तेषु त्रैगर्त्तकः (अत्र गर्त्तोत्तरपदलक्षण ईयो बाध्यते) ॥ **"धूमादेः"** (६।३।४६) । एभ्यो देशवाचिभ्योऽकञ् स्यात् । अणाद्यपवादः । धौमकः । धूम, षडण्ड, षडाण्ड, अवतण्ड, तण्डक, वतण्डव, शशादन, अर्जुन, आर्जुनाव, दाण्डायन, स्थली १० (दाण्डायनस्थली) मानकस्थली, आनकस्थली, माहकस्थली, मद्रकस्थली, माषकस्थली, घोषकस्थली, राजस्थली, अट्टस्थली, मानस्थली, माणवकस्थली, राजगृह, सत्रासाह, सात्रासाह, भक्ष्यादी, भक्ष्यली, भक्ष्याली, भद्राली, मद्रकुल, अंजीकुल, द्व्याहाव, २० त्र्याहाव, द्वियाहाव त्रियाहाव, संस्फीय, बर्बड, गर्त्त्य(र्त ?) वज्र्य, शकुन्ति, विनाड, इसकान्त, ४० विदेह, आनर्त्त, वादूर, खाडूर, माठर, पाठेय, पाथेय, घोष, घोषमित्र, शिष्य, ५० वणिय, पल्ली, अराज्ञी, आराज्ञी, धार्त्तराज्ञी, धार्त्तराष्ट्री, धार्त्तराष्ट्र, अवया, तीर्थकुक्षि, समुद्रकुक्षि, द्वीप, अन्तरीप, ६० अरुण, उज्जयनी, दक्षिणापथ, साकेत, ६४ इति धूमादयः चतुःषष्टिः । दाण्डायनस्थलीत्यादीनां दुसंज्ञकानामीकारान्तानां वा दूरखाड्डूरमाठराणां च पाठोऽप्राच्यार्थः । प्राच्यानां त्वीद्रोपान्त्यलक्षणोऽकञ् सिद्ध एव । विदेहानर्त्तयो राष्ट्रेऽकञ्

सिद्ध एव । सामर्थ्याद्देशार्थः पाठः । विदेहानामानर्त्तानां च क्षत्रियाणामिदं वैदेहकम् । आनर्त्तकम् । पाठेयपाथेययोर्योपान्त्यत्वादकञ् सिद्धोऽदेशार्थः पाठः । पठेः पठाया वाऽपत्यं पाठेयः तस्येदं पाठेयकम् ॥ "**सौवीरेषु कूलात्**" (६।३।४७) अकञ् । सौवीरदेशवाचिनः कुलशब्दादकञ् स्यात् । कौलकः सौवीरेषु; कौलोऽन्यत्र ॥ "**समुद्रान्नृनावोः**" (६।३।४८) अकञ् । सामुद्रको मनुष्यः । सामुद्रिका नौः । नृनावोरिति किम् ? सामुद्रं लवणम् ॥ "**अरण्यात्पथिन्यायाऽध्यायेभनरविहारे**" (६।३।५१) आरण्यकः पन्थाः, न्यायोऽध्याय इभो नरो विहारो वा । पथ्यादाविति किम् ? आरण्याः सुमनसः । "**गोमये वा**" (६।३।५२) आरण्यका गोमयाः, आरण्यानि गोमयानि । केचित्तु हस्तिन्यामपि विकल्पमिच्छन्ति—आरण्यिका आरण्या हस्तिनी । एके तु नरवर्जं पूर्वसूत्रे विकल्पमाहुः—आरण्यः आरण्यकः पन्थाः इत्यादि ॥ "**कुरुयुगन्धराद्वा**" (६।३।५३) । आभ्यां देशवाचिभ्यामकञ् स्यात् । कुरुषु भवः कौरवकः कौरवः, युगन्धरेषु यौगन्धरकः यौगन्धरः । राष्ट्रशब्दावेतौ बहुविषयौ च, तत्र युगन्धरात् "बहुविषयेभ्यः" इति नित्यमकञि प्राप्ते विकल्पः, कुरोस्त्वकञः कच्छाद्यणा बाधितस्य प्रतिप्रसवार्थं वचनम् । तथा च विकल्पः सिद्ध एव, युगन्धरार्था तु विभाषा । नृनृस्थयोस्तु कुरोः परत्वादकञेव—कौरवको मनुष्यः, कौरवकमस्य हसितम् ॥ "**साल्वाद्गोयवाग्वपत्तौ**" (६।३।५४) । साल्वादेशवाचिनो गवि यवाग्वां पत्तिवर्जिते मनुष्ये च शेषेऽर्थेऽकञ् स्यात् । साल्वको गौः । साल्विका यवागूः । साल्वको मनुष्यः । गोयवाग्वपत्ताविति किम् ? साल्वा व्रीहयः, साल्वः पत्तिः । राष्ट्रेभ्योऽकञि कच्छाद्यणा बाधिते गोयवागूग्रहणं प्रतिप्रसवार्थम्, अपत्तीति पत्तिप्रतिषेधात्तत्सदृशे मनुष्ये विधिः, तत्र चोत्तरेण सिद्ध एवाकञि नरि [1]नियमार्थमपत्तिग्रहणम् । एवं च गोयवाग्वोः पत्तिवर्जिते च मनुष्ये [2]मनुष्यस्थे च हसितादौ साल्वकः, अन्यत्र साल्व इति स्थितम् । अयं च विभागः [3]साल्वशब्दस्यादोरपि ज्ञेयः ॥ "**कच्छाऽऽदेर्नृनृस्थे**" (६।३।५५) कच्छादिभ्यो देशवाचिभ्यो नरि मनुष्ये नृस्थे च शेषेऽर्थेऽकञ् स्यात् । अणोऽपवादः (कोपान्त्याच्च इति सामान्येन प्राप्तस्य) । काच्छको मनुष्यः । काच्छकमस्य हसितं स्मितं जल्पितमीक्षितम् । काच्छिका चूला । सैन्धवको मनुष्यः, सैन्धवकमस्य हसितम्, सैन्धविका चूला । नृनृस्थ इति किम् ? काच्छो गौः, सैन्धवं लवणम्, कच्छ, सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, साल्व, कुरु, अनुषण्ड, अनूषण्ड कश्मीर, १० विजापक, द्वीप, अनूप, अजवाह, कुलूत, रङ्कु, गन्धार, साल्वेय, यौधेय, सस्थाल, २० सिन्ध्वन्त, २१ इति कच्छादय एकविंशतिः । कच्छादयो ये बहुविषया राष्ट्रशब्दास्तेभ्यो "बहुविषयेभ्य" (६।३।४५) इत्यकञ् सिद्ध एव, उत्तरेण त्वणा बाधो मा भूदिति पुनर्विधीयते । [4]वर्णुसिन्धुभ्याम् "उवर्णादिकण्" (६।३।३९) इतीकणि तदपवादे कच्छाद्यणि, कुरोः "कुरुयुगन्धराद्वा" (६।३।५३) इति विकल्पे, विजापकस्य कोपान्त्यलक्षणेऽणि प्राप्तेऽकञ्विधिः । अपरे कच्छमपि बहुविषयं राष्ट्रशब्दमाहुस्तदा पूर्वोक्तमेव पाठफलम् ॥ "**कोपान्त्याच्चाऽण्**" (६।३।५६) देशादित्येव वर्त्तते, न नृनृस्थ इति । कोपान्त्यात्कच्छादेश्च देशवाचिनः शेषेऽर्थेऽण् स्यात् । ईकणकञोरपवादः । कोपान्त्य. ऋषिका जनपदः तेषु जात आर्षिकः । महिषकेषु माहिषकः । अश्मकेषु आश्मकः । इक्ष्वाकुषु ऐक्ष्वाकः । कच्छादि. काच्छः,

---

१ नरि साल्वशब्दात् यद्यकञ् भवति, तदा अपत्तावेव न पत्तौ । २ ननु गोयवाग्वपत्तावित्युच्यमाने मनुष्यस्थः कथं न लभ्यते, नहि मनुष्यस्थः प्रहासादिर्गौर्यवागूरपत्तिर्वा भवति, न च पत्तेरन्यमात्रमपत्तिः, अपि तु मनुष्योऽन्यथा साल्वा व्रीहय इत्यत्राप्यकञ् प्राप्नोति, तथा च गोयवागूग्रहणमनर्थकं स्यात्तत्राप्यपत्तावित्येव सिद्धे । उच्यते । अपत्तिग्रहणं 'कच्छादेर्नृनृस्थे' इत्यकञि सिद्धे अपत्तेर्व्यावृत्त्यर्थं क्रियते न तु विध्यर्थम्, तेन यथा अपत्तौ मनुष्ये भवति तथा मनुष्यस्थेऽपि; ततः प्रत्ययस्याव्यावर्तितत्वात् । ३ उपलक्षणत्वादेकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद्वा । ४ 'उवर्णादिकण्' 'बहुविषयेभ्यः' इत्यनयोः ।

सैन्धवः, वार्णवः । अथाणग्रहणं किमर्थम् ? योऽन्येन बाधितो न प्राप्नोति तदर्थमिदं स्यात् स चाणेव, नचानन्तरोऽकञेव स्यादित्याशङ्कनीयम्, एवं हि पूर्वकमकञ्विधानमऽनर्थकं स्यात् । नैवम् । असत्यण्ग्रहणे इक्ष्वाकोरुवर्णलक्षण ईकण् स्यात्, स हि ततो राष्ट्राकञा बाधितः ॥ **"गर्त्तोत्तरपदादीयः"** (६।३।५७) अणोऽपवादः । श्वाविद्गर्त्तात्तु वाहीकग्रामलक्षणौ णिकेकणौ परत्वाद्बाधते । श्वाविद्गर्त्ते भवः श्वाविद्गर्त्तीयः । वृकगर्त्तीयः, शृगालगर्त्तीयः, रौहिद्गर्त्तीयः । आभिसारगर्त्तकः त्रैगर्त्तक इत्यत्राकञ् "राष्ट्रेभ्यः" (६।३।४४) "बहुविषयेभ्यः" इति बहुवचनसामर्थ्याद्भवतीत्युक्तम् । उत्तरपदग्रहणं बहुप्रत्ययपूर्वनिरासार्थम्—बाहुगर्त्तः । **"कटपूर्वात्प्राचः"** (६।३।५८) प्राच इति प्राग्देशवाचिन ईयः स्यात् । अणोऽपवादः । कटनगरीयः, कटग्रामीयः, कटघोषीयः, कटवर्त्तकीयः, कटपल्वलीयः । प्राच इति किम् ? काटनगरः । **"कखोपान्त्यकन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदाद्दोः"** (६।३।५९) । ककारखकारोपान्त्यात् कन्थाद्युत्तरपदाच्च देशवाचिनो दुसंज्ञकादीयः स्यात् । बाधक बाधनार्थ आरम्भः । कोपान्त्यात्कोपान्त्यलक्षणे णिप्राप्ते आरीहणकीयः, द्रौघणकीयः, आश्वत्थिकीयः, शाल्मलिकीयः, सौषुकीयः, आष्टकीयः ब्राह्मणकीयः बालकीयः । खोपान्त्यात् वाहीकग्रामलक्षणयोर्णिकेकणोः, कौटशिखीयः, (माहिशिखीयः,) अयोमुखीयः । कन्थापलदोत्तरपदान्तयोरेव, दाक्षिकन्थीयः, माहकिकन्थीयः, दाक्षिपलदीयः, माहकिपलदीयः । नगरोत्तरपदाद्रोपान्त्यलक्षणेऽकञि. दाक्षिनगरीयः माहकिनगरीयः । ग्रामह्रदोत्तरपदात् णिकेकणोरेव, दाक्षिग्रामीयः, माहकिग्रामीयः, दाक्षिह्रदीयः, माहकिह्रदीयः । दोरिति किम् ? आर्षिकः माडनगरः ॥ **"पर्वतात्"** (६।३।६०) ईयः । अणोऽपवादः । पर्वतीयो राजा, पुमान् ॥ **"अनरे वा"** (६।३।६१) । पर्वतीयानि पार्वतानि फलानि । अनर इति किम् ? पर्वतीयो मनुष्यः । **"पर्णकृकणाद्भारद्वाजात्"** (६।३।६२) । भारद्वाजदेशवाचिभ्यामाभ्यामीयः स्यात् । अणोऽपवादः । पर्णीयः, कृकणीयः । भारद्वाजादिति किम् ? पार्णः कार्कणः ॥ **"गहादिभ्यः"** (६।३।६३) । देशादिति वर्त्तते, तद्गहादीनां यथासम्भवं विशेषणम् । यथासम्भवं देशवाचिभ्यो गहादिभ्य ईयः स्यात् । गहीयः, अन्तःस्थीयः । गह, अन्तःस्थ, अन्तःस्था, सम, विषम, उत्तम, अङ्ग, मगध, शुक्लपद, पूर्वपक्ष, १० अपरपक्ष, कृष्णशकुन, अधमशाख, उत्तमशाख, समानशाख, एकशाख, समानग्राम, एकग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, २० इष्वग्र, दन्ताग्र, इष्वनीक, अवस्यन्द, कामप्रस्थ, सौप्रख्य, खाडायनि, काठेरणि काठेरिणि, लावेरणि, लावेरिणि, लावीरणि, शैशिरि, शौङ्गि, शौङ्गिशैशिरि, आसुरि, आहिंसि, आमित्रि व्याडि, ४० भौङ्गि, भौर्जि, (भौजि?), आध्यश्वि, आश्वत्थि, औद्राहमानि, औपबिन्दवि, आग्निशर्मि, (दैवशर्मि,) श्रौति, वाटारकि, वाल्मीकि, ५० क्षैमधृत्वि, उत्तर, अन्तर, मुखतस्, पार्श्वतस्, एकतस्, अनन्तर, आनृशंसि, साटि, सौमित्रि, ६० परपक्ष, स्वक, देवक इति गहादयस्त्रिषष्टिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ **"पृथिवीमध्यान्मध्यमश्चास्य"** (६।३।६४) । पृथिवीमध्यशब्दाद्देशवाचिन ईयः स्यात्, मध्यमादेशश्चास्य । पृथिवीमध्ये जातो भवो वा मध्यमीयः ॥ **"निवासाच्चरणेऽण्"** (६।३।६५) पृथिवीमध्यान्निवासभूतदेशवाचिनश्चरणे निवस्तरि शेषेऽर्थेऽण् स्यात्; मध्यमादेशश्चास्य । पृथिवीमध्यं निवास एषां चरणानां माध्यमाश्चरणः । त्रयः प्राच्यास्त्रय उदीच्यास्त्रयो माध्यमाः । निवासादिति

---

१ 'प्राग्जितात्' इति प्राप्तोऽन्येनाकञादिना बाधित इत्यर्थः । २ यदि हि वृत्तस्थे अन्यत्र वाकञेव स्यात् तदा किं पूर्वसूत्रेण । अनेनैव कच्छादिकोपान्त्याच्च इत्येवं रूपेण सिद्धत्वात् । ३ यत इक्ष्वाकोरिकणप्यनेनाकञा बाध्यमानो विद्यते एव, ततश्च सोऽप्यनेन स्यादिति । ४ 'दोरीयः' इति ईयस्य ये बाधकाः कोपान्त्याच्चेत्येवमादयस्तेषां बाधनं बाधस्तदर्थोऽयमारभ्यत इत्यर्थः । एतदेव कोपान्त्यादित्यादिना स्पष्टयन्नुदाहरति ।

किम्? पृथिवीमध्यादागतो मध्यमीयः कठः। चरण इति किम्? पृथिवीमध्यं निवासोऽस्य मध्यमीयः शूद्रः॥ **"वेणुकादिभ्य ईयण्"** (६।३।६६)। यथायोगं देशवाचिभ्यः। वैणुकीयः, चैत्रकीयः, औत्तरपदीयः, औत्तरीयः, औत्तरकीयः, प्रास्थीयः, माध्यमकीयः, प्रास्थकीयः, माध्यमिकीयः, नैपुणकीयः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम्।

"वा युष्मदस्मदोऽञीनञौ युष्माकास्माकौ चास्यैकत्वे तु तवकममकम्" (६।३।६७)। **यौष्माकः यौष्माकी स्त्री। यौष्माकीणः यौष्माकीणा। युष्मदीयः॥ आस्माकः आस्माकीनः अस्मदीयः॥ तावकम्, मामकम्, तावकीनम्, मामकीनम्, त्वदीयम्, मदीयम्।**

"वा युष्मदस्मदो" (देशादिति निवृत्तम्) अनयोः शेषेऽर्थे एतौ प्रत्ययौ युष्माक अस्माक इत्येतौ चानयोरादेशौ स्याताम्, एकत्वे च तवकममकावादेशौ। आदेशौ प्रति यथासङ्ख्यं नास्तिवचनभेदात्। युष्माकमयं युवयोर्वा यौष्माकः यौष्माकी स्त्रीति "अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (२।४।२०) इति ङीः। एवं यौष्माकीणः। अस्माकमयं अस्माकः, आस्माकीनः। एकत्वे तु तवायं तावकः तावकीनः, ममायं मामकः मामकीनः। स्त्री तु तावकी तावकीना, मामकी मामकीना। पक्षे त्यदादित्वेन दुसंज्ञत्वादीयः–युष्मदीयः, त्वदीयः।

अत्राविशब्दात् **"द्वीपादनुसमुद्रं ण्यः"** (६।३।६८)। समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्वाचिनो ण्यः स्यात्। कच्छाद्यऽकञ्ऽणोरपवादः। द्वैप्यो मनुष्यः, द्वैप्यमस्य हसितम्। अनुसमुद्रमिति किम्? अनुनदि यो द्वीपस्तस्मात्–द्वैपको व्यासः, द्वैपकमस्य हसितं द्वैपम्॥ **"अर्द्धाद्यः"** (६।३।६९) अर्द्ध्यम्॥ **"सपूर्वादिकण्"** (६।३।७०) सपूर्वपदादर्द्धशब्दादिकण् स्यात्। पौष्करार्द्धिकः, वैजयार्द्धिकः, बालेयार्द्धिकः, गौतमार्द्धिकः, क्षैत्रार्द्धिकः, यौवनार्द्धिकः॥ **"दिक्पूर्वात्तौ"** (६।३।७१)। दिक्पूर्वपदादर्द्धशब्दात्तौ य–इकण्प्रत्ययौ स्याताम्। पूर्वार्ध्यम् पौर्वार्द्धिकम्। दक्षिणार्ध्यम् दाक्षिणार्द्धिकम्। पश्चार्ध्यम् पाश्चार्द्धिकम्॥ **"ग्रामराष्ट्रांशाद्णिकणौ"** (६।३।७२) ग्रामराष्ट्रैकदेशवाचिनोऽर्द्धशब्दाद्दिक्पूर्वादण्–इकण् इत्येतौ प्रत्ययौ स्याताम्। यापवादौ। ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वार्द्धे भवः पौर्वार्द्धः पौर्वार्द्धिकः। दाक्षिणार्द्धः दाक्षिणार्द्धिकः॥ **"पराऽवराऽधमोत्तमादेर्यः"** (६।३।७३) एतत्पूर्वपदादर्द्धशब्दाद्यः स्यात्। इकणोऽपवादः। परार्द्ध्यम्, अवरार्द्ध्यम्, अधमार्द्ध्यम्, उत्तमार्द्ध्यम्। परावरयोर्दिक्शब्दत्वेऽपि परत्वादयमेव यः (न केवलं परावरयोर्यथाक्रमं शत्रवधर्मार्थयोरनेन प्रत्यय इत्यपेरर्थः)॥ ६५॥

अमोन्ताऽवोऽधसः॥ ६६॥ [सि० ६।३।७४]

अन्तादवसधस्भ्यां चामः स्यात्॥ ६६॥

"अमो०" अमस्याकारादित्वमवोधसोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थम्॥ ६६॥

प्रायोऽव्ययस्य॥ ६७॥ [सि० ७।४।६५]

तद्धिते परेऽव्ययस्यान्त्यस्वरादेः प्रायो लुक्। अन्तमः अधमः॥ "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" (६।३।७५) **पश्चिमः॥ "मध्यान्मः"** (६।३।७६) **मध्यमः॥ "अध्यात्माऽऽदिभ्य इकण्"** (६।३।७८) **आध्यात्मिकम्। आधिदैविकम्॥ ६७॥**

"प्रायो०" । अव्ययस्यापदसंज्ञकस्य तद्धिते परेऽन्त्यस्वरादेः प्रायो लुप् भवति । यथा स्वर्भवः सौवः । बहिर्जातो बाह्यः, बाहीकः । सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । "वर्षाकालेभ्यः" (६।३।८०) इतीकण् । [1]अनभिधानादव्ययलक्षणस्तनट् न भवति–पौनःपुन्यम् । उपरिष्टादागतः औपरिष्टः । परत आगतः पारतः । [2]ऐकैकश्यम् । प्रायोग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् तेनेह न भवति–[3]आरातीयः, आश्वतिकः, शाश्वतः, पार्थक्यम् । अपदस्येत्येव–कंयुः शंयुः अहंयुः । **"पश्चादा०"** पश्चिम इति–एवमादिमः अन्तिमः अग्रिमः । आद्यन्ताभ्यां भवादन्यत्रार्थे विधिः, भवे तु परत्वाद्दिगादिय एव । **"मध्या०"** मध्यम इति–भवे दिनणादय उक्तास्ततोऽन्यत्र शेषेऽयं विधिः ।

अत्रायं विशेषः–**"मध्ये उत्कर्षाऽपकर्षयोरः"** (६।३।७७) उत्कर्षापकर्षयोर्मध्ये वर्त्तमानान्मध्यशब्दाच्छेषेऽर्थे अप्रत्ययः स्यात् । मापवादः । नात्युत्कृष्टो नात्यपकृष्टो मध्यपरिणामो मध्यो वैयाकरणः । मध्या गुणाः । मध्या स्त्री । नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यप्रमाणं मध्यं काष्ठम् । नातिस्थूलो नातिकृशो मध्यः कायः । [4]यद्यपि मध्यशब्दो मध्यपरिणामवर्त्तिन्यपि वर्त्तते तथाप्यवस्थावस्थावतोः स्याद्वादाद्भेदविवक्षायामवस्थावाचिप्रकृतेरवस्थावति प्रत्ययार्थे पूर्वेण मो मा भूदिति वचनम् । **"अध्या०"** । अध्यात्मं भवं आध्यात्मिकम् । अधिदेवे भवं आधिदैविकम् । एवमाधिभौतिकम् । अनुशतिकादित्वादनयोरुभयपदवृद्धिः । और्ध्वदमिकः और्ध्वदेहिकः और्ध्वन्दमिकः और्ध्वन्देहिकः–अतएव पाठादूर्ध्वस्य दमदेहयोर्वा मोऽन्तः । केचिदूर्ध्वदमोर्ध्वदेहशब्दावनुशतिकादिषु पठन्त उभयपदवृद्धिमिच्छन्ति–और्ध्वदामिकः, और्ध्वदैहिकः । ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकः–अत्र "सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके" (५।३।१२) इति ज्ञापकादुत्तरपदस्यैव वृद्धिः । अकस्माद्धेतुशून्यः कालः तत्र भवमाकस्मिकम् । अमुष्मिन् परलोके भवमामुष्मिकम् । एवमामुत्रिकम् । पारत्रिकम् । इह भवमैहिकम् । शैषिकम् । पाठसामर्थ्यात्सप्तम्या अलुप् । अध्यात्मादयः प्रयोगगम्याः ॥ ६७ ॥

समानपूर्वलोकोत्तरपदात् ॥ ६८ ॥ [सि० ६।३।७९]

समानपूर्वपदेभ्यो लोकोत्तरपदेभ्यश्चेकण् स्यात् । सामानग्रामिकः पारलौकिकः ॥ ६८ ॥

"समान०" समानग्रामे कृतो भवो वा सामानग्रामिकः । सामानदेशिकः । इहलोके कृतो भवो वा ऐहलौकिकः । पारलौकिकः । सार्वलौकिकः । योगद्वयेऽपि भवार्थ एव प्रत्यय इत्यन्ये ॥ ६८ ॥

वर्षाकालेभ्यः ॥ ६९ ॥ [सि० ६।३।८०]

वर्षाशब्दात्कालविशेषाच्चेकण् स्यात् । वार्षिकः मासिकः । *क्वचिद्वा–[1]नैशिकः नैशः "चिरपरुत्परारेस्त्नः" (६।३।८५) वा चिरत्नं चिरन्तनमित्यादि । "पुरो नः" (६।३।८६) पुराणं पुरातनम् । "पूर्वाह्णाऽपराह्णात्तनट्" (६।३।८७) वा । सप्तम्या अलुप्–पूर्वाह्णेतनः । पौर्वाह्णिकः । "भर्तुसन्ध्याऽऽदेरण्" (६।३।८९) आश्विनः ग्रैष्मः सान्ध्यः ॥ ६९ ॥

---

१ अथाव्ययसमुदायोऽव्ययग्रहणेन गृह्यते इति सायंचिरम्- इति सायंप्रातरादिभ्यस्तनट् कस्मान्न भवति, इत्याह–अनभि० । २ एकमेकं ददाति एकशब्दस्यामन्तस्य वीप्सायां द्वित्वं 'लुप्चादावेक'–इत्यमो लुपि 'बह्वल्पार्थात्' इति कारके प्शस् । एकैकशो भावः ट्यण् । ३ 'भवार्थे' दोरीयः । 'वर्षाकालेभ्यः' इतीकण् 'भर्त्तुसन्ध्यादेरण्' । ४ नन्वाधाराधेययोरभेदविवक्षया मध्यवर्त्तिकाष्ठाद्यपि मध्यशब्देनोच्यते तत्किमनेनेत्याशङ्का ।

"वर्षा०" अणपवादः । दोरीयमपि परत्वाद्बाधते । वर्षासु भवो वार्षिकः "ऋतोर्वृद्धिमद्विधावयवेभ्यः" इति न्यायसूत्रम्–ऋतोर्ञ्णित्प्रत्ययस्तदवयवादेर्ऋत्वन्तादपि स्यात्–पूर्ववार्षिकः[1] अपरवार्षिकः "अंशादृतोः" (७।४।१४) इत्युत्तरपदवृद्धिः । एवमुत्तरत्रापि । मासिक इति–वर्षाग्रहणमृत्वण्बाधनार्थम् । कालशब्दः[2] कालविशेषवाची–भर्त्तुसन्ध्यादेरित्यत्र सन्ध्यादिग्रहणात् । स्वरूपग्रहणे हि काललक्षणेकण्बाधकं सन्ध्यादिग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुवचनं तु यथाकथंचित्[3]कालवृत्तिभ्यः प्रत्ययप्रापणार्थम् (निशासहचरितमध्ययनं निशा, प्रदोषसहचरितं प्रदोषः, तत्र जयी नैशिकः प्रादोषिकः) कदम्बपुष्पसहचरितः कालः कदम्बपुष्पम् । व्रीहिपलालसहचरितः कालो व्रीहिपलालम्, तत्र देयमृणं कादम्बपुष्पिकं व्रैहिपलालिकम् ॥ कालशब्दाच्च कालार्थादकालार्थाच्च कालतः । अकालादपि[4] कालार्थात् कालेभ्य इति "यो[5] विधिः" ॥ १ ॥ एवं "**शरदः श्राद्धे कर्म्मणि**" (६।३।८१) । ऋत्वणोऽपवादः । शारदिकं श्राद्धं कर्म पितृकार्यम् । श्राद्धे कर्मणीति किम् ? शारदं विरेचनम् । *क्वचिद्वेति–"**नवा रोगातपे**" (६।३।८२) । ऋत्वणोऽपवादः । शारदिकः शारदो रोगः, आतपो वा । रोगातप इति किम् ? शारदं दधि ॥ नैशिक इति–"**निशाप्रदोषात्**" (६।३।८३) । निशासहचरितमध्ययनं निशा, प्रदोषसहचरितमध्ययनं प्रदोषस्तत्र जयी नैशिकः नैशः प्रादोषिकः प्रादोषः ॥

"**चिर०**" एभ्यः कालवाचिभ्यः शेषेऽर्थे त्नः स्यात् । चिरे भवं चिरत्नम्, एवं परुद्भवं परुत्नम्, परारित्नम् । पक्षे चिरतनं परुत्तनं परारितनमिति । परुत्परारिभ्यां विकल्पं नेच्छन्त्यन्ये । परारेस्त्ने रिलोप इत्येके–परात्नः । केचित्परुत्परार्योस्तनट्यन्त्यस्वरात्परं स्वागममिच्छन्ति–परुन्तनम्, परारिंतनम् । "**पुरो०**" पुराशब्दात्कालवाचिनोऽव्ययाच्छेषेऽर्थे नः स्यात् । पुरा भवं पुराणम् पुरातनमिति ॥ "**पूर्वा०**" "वर्षाकालेभ्य" इति नित्यमिकणि प्राप्ते विकल्पः, तेन पक्षे सोऽपि भवति "अतोऽह्नस्य" (२।३।७३) इति णत्वम्, पूर्वाह्णे भवो जातो वा पूर्वाह्णेतनः पूर्वाह्णतनः । एवमपराह्णेतनः अपराह्णतनः । "कालात्तन०" (३।२।२४) इत्यादिना वा सप्तम्या अलुप् । पूर्वाह्णे जयी पूर्वाह्णतनः अपराह्णतनः–अत्र जयिनिं वाच्ये तत्र व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् नित्यं सप्तम्या लुप् । पक्षे पौर्वाह्णिकः आपराह्णिकः । टकारो ङ्यर्थः–पूर्वाह्णेतनी अपराह्णेतनी । "**भर्त्तु०**" भं नक्षत्रम्, तद्वाचिभ्य ऋतुवाचिभ्यः सन्ध्यादिभ्यश्च कालवाचिभ्योऽण् स्यात् । इकणोऽपवादः । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तः कालः पुष्यः, पुष्ये भवः पौषः । एवं तैषः, आश्विनः, रौहिणः, स्वातौ सौवातः । ऋतु. ग्रैष्मः, शैशिरः, वासन्तः; ऋतोर्वृद्धिमद्विधाविति–पूर्वग्रैष्मः, अपरशैशिरः, "अंशादृतोः" (७।४।१४) इत्युत्तरपदवृद्धिः । सन्ध्यादिः. सान्ध्यः, सान्धिवेलः, आमावास्यः । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादमावस्याशब्दादपि भवति–आमावस्यः । अणूग्रहणं स्वाति-राधा-आर्द्रा-पौर्णमासीभ्य ईयबाधनार्थम् । यथाविहितमित्युच्यमाने "दोरीयः" (६।३।३२) इति ईयः प्राप्नोति । कालेभ्य इत्येव–स्वातेरिदमुदयस्थानं स्वातीयम् । एवं राधीयम्, आर्द्रीयम् । सन्ध्या, सन्धिवेला, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पञ्चदशी, पौर्णमासी, प्रतिपद्, शश्वत्, इति सन्ध्यादयो नव । "ऋवर्णोवर्णात्" (७।४।७१) इति सूत्रेऽशश्वत्प्रतिषेधाच्छश्वच्छब्दादिकणपि शाश्वतं शाश्वतिकम् ।

—१ पूर्वाश्च ता वर्षाश्च 'पूर्वापरप्रथम'–इति समासः । पूर्वासु वर्षासु भव इति तद्धितविषये 'दिगधिकम्'–इत्यनेन वा । वर्षाणां पूर्वत्वमिति 'पूर्वापराधर' इत्यादिना तत्पुरुषो वा 'अंशादृतोः' इत्युत्तरपदवृद्धिः । विशेषविहितत्वात्परत्वाच्चानेन दिक्पूर्वात्–इति बाध्यते । २ गृह्यत इति शेषः । मासाद्यपेक्षया कालशब्दोऽपि कालविशेषवाची, तेन कालिक इत्यपि । ३ यथाकथंचित् गुणवृत्त्या मुख्यवृत्त्या वा ये काले वर्त्तन्ते इत्यर्थः । ४ अकालशब्दश्च यदा कालमुपलक्षणीकृत्य काले वर्त्तते गुणवृत्त्यैव, तदा कालशब्दात् कालार्थात् प्रत्ययो भवति यथादर्शितात् कदम्बपुष्पादेः । ५ कालेभ्य इत्यंशेन यो विधिः स तस्माद्भवतीति ।

आदिशब्दात् "संवत्सरात्फलपर्वणोः" (६।३।९०) अस्मात्फले पर्वणि च शेषेऽर्थेऽण् स्यात् । सांवत्सरं फलं पर्व वा । फलपर्वणोरिति किम् ? सांवत्सरिकं श्राद्धम् ॥ ६९ ॥

हेमन्ताद्वा तो लुक् च ॥ ७० ॥ [सि० ६।३।९१]

अस्माद्वाण् तद्योगे तलुक् च वा । हैमनं हैमन्तं हैमन्तिकम् ॥ "प्रावृष एण्यः" (६।३।९२) शेषे । प्रावृषेण्यः । *जाते त्विकः–प्रावृषिकः ॥ ७० ॥

॥ पूर्णः शेषाधिकारः । अणोऽप्यवधिः पूर्णः ॥

"हेम०" । हेमन्तशब्दादृतुवाचिनः शेषेऽर्थेऽण् वा स्यात्, तद्योगे च तकारस्य लुप् वा स्यात्, नित्यमृत्वणिप्राप्ते विभाषेयम्, तथा च त्रैरूप्यम्, तदन्तविधिना पूर्वहैमनम्, "अंशादृतोः" (७।४।१४) इत्युत्तरपदवृद्धिः । **"प्रावृ०"** । ऋत्वणोऽपवादः । प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः । *जाते त्विक इति–परत्वादिति शेषः । एण्य इति प्रत्यये मूर्द्धन्यो णकारो [1]निर्निमित्तकः प्रावृषेण्ययतीति क्विपि प्रावृषेण् इति मूर्द्धन्यार्थः ।

अत्रायं विशेषः–**"स्थामाजिनान्ताल्लुप्"** (६।३।९३) । स्थामन्शब्दान्तादजिनान्ताच्च परस्य शैषिकस्य प्रत्ययस्य लुप् स्यात् । अश्वत्थामनि जातो भवो वा अश्वत्थामा "अः स्थाम्नः" (६।१।२२) इति प्रागृजितीयेऽर्थे उत्पन्नस्य अप्रत्ययस्यानेन लुप् स्यात्; । ततश्च "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलुप् न भवति सिंहाजिने जातो भवो वा सिंहाजिनः, उलाजिनः, वृकाजिनः । भवार्थस्यैव लुपमिच्छन्त्यन्ये, तन्मते अश्वत्थाम्नोऽयं तत आगतो वा आश्वत्थामः । एवं सैंहाजिनः, वार्काजिन इत्यादौ प्रत्ययलुप् न भवति ।

शेषार्था दर्शिताः पूर्वं येऽत्र तत्र कृतादयः । सप्रत्ययाः प्रकृतयस्तेषामेता निरूपिताः ॥ १ ॥

तथा चाह पूर्णः शेषाधिकार इति, अणोऽप्यवधिः पूर्ण इति ।

***जितादिष्वर्थेषु यथायोगमिकणादयो वक्तव्याः । अक्षैर्जित आक्षिकः । दध्ना संस्कृतं संसृष्टं वा दाधिकम् । उडुपेन तरति औडुपिकः नाविकः । हस्तिना चरति हास्तिकः । वेतनेन जीवति वैतनिकः । क्रयिकः । मीनान् हन्ति मैनिकः । परदारान् गच्छति पारदारिकः । सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः । प्रभूतं ब्रूते प्राभूतिकः । सेनां समवैति सैनिकः । धर्मं चरति धार्मिकः । आधर्मिकः । अपूपाः पण्यमस्य आपूपिकः । नृत्तं शिल्पमस्य नार्त्तिकः । असिः प्रहरणमस्य आसिकः । (नास्तिकास्तिकादयो निपात्याः)**

अथ **इकण्** अधिकरिष्यते, वक्ष्यमाणार्थेषु अपवादं मुक्त्वा इकण् भवतीत्यर्थः । इकणर्थान् संक्षेपेणाह–*जितादिष्विति । **आक्षिक** इति–अत्र सूत्रम् **"तेन जितजयद्दीव्यत्खनत्सु"** (६।४।२) । तेनेति तृतीयान्ताज्जिताद्यर्थचतुष्टये इकण् स्यात् । अक्षैर्जितः अक्षैर्जयति अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः, शालाकिकः । अभ्र्या खनति आभ्रिकः, कौद्दालिकः; अभ्री काष्ठमयी तीक्ष्णाग्रा । "अभ्रिस्तु काष्ठकुद्दालः" इति कोषः । इह तेनेति करणे तृतीया ज्ञेया, तेन हेतुकर्त्रादितृतीयान्तादिकण् न स्यात्–देवदत्तेन जितं धनेन जितमिति । अभ्र्या खनन्नङ्गुल्या खनति–अत्र मुख्यः करणभावोऽभ्र्या एव नाङ्गुलेरित्यङ्गुलिशब्दान्न भवति । जयदादिषु त्रिषु कालो न [2]विवक्षितः जिते तु विवक्षितः । बहुवचनं पृथगर्थताविभक्त्यर्थम् ॥

---

१ ननु 'रषृवर्णे'–इत्यनेन मूर्द्धन्यार्थं इति । अन्यथा नलोपरूपे परे कार्ये 'णषम'–इति णत्वस्यासत्त्वादन्त्यत्वाच्च 'रषृवर्णे'–इत्यप्रवृत्तौ 'नाम्नो नोऽनह्नः' इति नलोपेऽनिष्टं रूपं स्यात् । २ कर्त्ता तु विवक्षितोऽत एव जयद्ग्रहणे सत्यपि कर्मण्यपि इकण्-

तेनेति तृतीयान्तादिति–तृतीयान्ता प्रकृतिः "तं प्रत्यनोर्लोमेपकूलात्" (६।४।२८) इति सूत्रं यावत् अनुवर्तनीया ।

दाधिकमिति । "**संस्कृते**" (६।४।३) । इकण् । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । उपाध्यायेन संस्कृतः औपाध्यायिकः शिष्यः । विद्यया संस्कृतो वैद्यिकः ।

अत्रायमपवादः–"**कुलत्थकोपान्त्यादण्**" (६।४।४) । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । अन्ये तु सकाराक्रान्तथकारान्तकुलस्थशब्दात्प्रत्ययं मन्यन्ते–कौलस्थः । कोपान्त्य. तित्तिरिकेण तित्तिरीकाभिर्वा संस्कृतं तैत्तिरीकम् । दर्दुरूकेण दार्दुरूकम् । मण्डूकेन माण्डूकम् । **अन्ये** तु कवर्गोपान्त्यादपीच्छन्ति–मौद्गम्, सारघम् । "**संसृष्टे**" (५।४।५) ऽप्येवम् । मिश्रणमात्रं संसर्ग इति पूर्वोक्तात्संस्कृताद्भेदः । दध्ना संसृष्टं दाधिकम् । शार्ङ्गवेरिकम् । पैप्पलिकम् । वैषिका भिक्षा । आशुचिकमन्नम् । अत्र विशेषाः–"**लवणादः**" (६।४।६) । लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः (शाकः, लवणा यवागूः) । लवणशब्दो द्रव्यवाची गुणवाची च । तत्र द्रव्यवाची प्रत्ययं प्रयोजयति न गुणवाची, गुणेन विश्लेषपूर्वकस्य संसर्गस्यासंभवात् ॥ "**चूर्णमुद्गाभ्यामिनणौ**" (६।४।७) । चूर्णैः संसृष्टाश्चूर्णिनोऽपूपाः, मुद्गैः संसृष्टा मौद्गी यवागूः ॥ "**व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते**" (६।४।८) व्यञ्जनशब्दो रूढितः सूपादौ वर्त्तते । उपसिक्तमिति यद्भोजनार्थमुपादीयते भोज्यादि तदुच्यते न स्थाल्यादि । सूपेनोपसिक्तः सौपिको, दाधिक ओदनः । घार्त्तिकं तैलिकं शाकम् । व्यञ्जनेभ्य इति किम्? उदकेनोपसिक्तः ओदनः । उपसिक्ते इति किम्? सूपेन संसृष्टा स्थाली । उपसिक्तं संसृष्टमेव तत्र "संसृष्टे" इत्येव सिद्धे नियमार्थं वचनम्–व्यञ्जनैस्संसृष्टे उपसिक्त एव उपसिक्ते च व्यञ्जनैरेव । बहुवचनं स्वरूपविधेर्निरासार्थम् ॥

औडुपिक इति–"**तरति**" (६।४।९) । तृतीयान्तादस्मिन्नर्थे इकण् स्यात् । काण्डप्लविकः (शारप्लविकः गौरपुच्छिका ॥ "**नौद्विस्वरादिकः**" (६।४।१०) । नौशब्दाद्विस्वराच्च नाम्नस्तृतीयान्तात्तरत्यर्थे इकः प्रत्ययो भवति । नाविकः । द्विस्वर. घटिकः, प्लविकः दृतिकः बाहुकः बाहुका । **हास्तिक** इति–"**चरति**" (६।४।११) तृतीयान्तादस्मिन्नर्थे इकण् । चरतिरिह गत्यर्थो भक्ष्यर्थश्च गृह्यते । गत्यर्थे. शाकटिकः, घाण्टिकः, आकर्षिकः आकर्षः सुवर्णनिकषोपल औषधपेषणपाषाणश्च । भक्ष्यर्थे. दध्ना चरति दाधिकः शार्ङ्गवेरिकः ।

आदिशब्दात् "**पर्पादेरिकट्**" (६।४।१२) तृतीयान्तेभ्यः एभ्यश्चरत्यर्थे इकट् स्यात् । पर्पेण चरति पर्पिकः पर्पिकी । पर्प, (अश्व, ?) अश्वत्थ, रथ, अर्घ्य, व्याल, व्यास, इति पर्पादयः षट् ॥ "**पदिकः**" (६।४।१३) पादशब्दात्तेन चरत्यर्थे इकट् स्यात्, अस्य पद्भावश्च निपात्यते । पादाभ्यां चरति पदिकः ॥ "**श्वगणाद्वा**" (६।४।१४) अस्मादिकट् स्यात्, वा । श्वगणेन चरति श्वगणिकः, श्वगणिकी; पक्षे इकण्–श्वागणिकः; एषु द्वारादेः (७।४।६) इति वकारात् प्रागौकारे प्राप्तेऽपवादसूत्रम्–**श्वादेरिति** (७।४।१०) श्वन् शब्द आदिरवयवो यस्य तस्य श्वादेर्नाम्न इति इकारादौ ञ्णिति तद्धिते परे वः प्रागौकारो न भवति । श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः । श्वाशीर्षिः, श्वादंष्ट्रिः । एवं श्वागणिकः,

---

प्रत्ययार्थे जितग्रहणम् । अयमर्थः–जयतीत्युक्ते जयति जेष्यति अजैषीदिति लभ्यते किं जितग्रहणेन । उच्यते । भूते कर्मण्यपि वाच्ये यथास्यादित्येवमर्थम् । विवक्षित इति अतीतः कालः ।

१ सरघाभिः कृतं 'नाम्नि मक्षिकाभ्यः' इत्यण् । सारघेन मधुना संस्कृतः । २ अत्र संसृष्टः शाकादिभक्ष्यं विवक्षितम् । अन्यथा 'व्यञ्जनेभ्य उपसिक्ते' इति नियमः स्यात् । ३ मात्रान्नभोज्यार्थं पश्चाद्भावनायामभक्ष्यत्वादतोऽनियमः । ४ सूपेन संसृष्टा स्थालीत्यनुपसिक्ते संसृष्टे प्रत्ययो न भवतीति प्रत्ययार्थव्यवस्था । ५ उदकेनोपसिक्त ओदन इत्युदकाद्व्यञ्जनान्न भवतीति प्रकृतिव्यवस्था ।

श्वायूथिकः । आदिग्रहणं किम्? श्वभिश्चरति शौविकः । इतीति किम्? श्वहानस्येदं शौवहानम्, शौवभस्त्रम् । श्वदंष्ट्राया विकारः शौवदंष्ट्रो मणिः । **"इञः"** (७।४।११) श्वादेरिञ्प्रत्ययान्तस्य ञ्णिति तद्धिते परे वकारात्प्रागौकारो न भवति । श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम्, श्वाकर्णम् । इकारादौ निमित्ते उच्यमानः पूर्वेण प्रतिषेध इञन्तस्य प्रत्ययान्तरे न भवतीति वचनम् । **"पदस्यानिति वा"** (७।४।१२) पदशब्दान्तस्य श्वादेरिकारादिवर्जिते ञ्णिति तद्धिते वकारात्प्रागौकारो वा भवति । शुन इव पदमस्य श्वापदम्, तस्य विकारः श्वापदं शौवापदम् । अनितीति किम्? श्वापदेन चरति श्वापदिकः । श्वन्शब्दस्य द्वारादिषु पाठात्तत्र तदादिविधेर्ज्ञापितत्वान्नित्यमौकारागमे प्राप्ते विकल्पः । **वैतनिक**–इति **"वेतनादेर्जीवति"** (६।४।१५) एभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो जीवत्यर्थे इकण् स्यात् । वेतन, वाह, अर्द्धवाह, धनुस्, दण्ड, धनुर्दण्ड, जाल, वेश, उपवेश, प्रेषण १० भृति, उपवेश, उपस्था, उपास्ति, उपस्थान, सुख, शय्या, सुखशय्या, शक्ति, उपनिषद् २० उपनिजस्तस्पिज (?) उपरिजन, स्फिज, स्फिग, वाल, पुतचाल, उपदेश, पाद, उपहस्त २८ इति वेतनादयोऽष्टाविंशतिः । **क्रयिक** इति–**"व्यस्ताच्च क्रयविक्रयादिकः"** (६।४।१६) । क्रयविक्रयशब्दात्समस्ताद्व्यस्ताच्च तेन जीवत्यर्थे इकः स्यात् । क्रयविक्रयेण जीवति क्रयविक्रयिकः । एवं क्रयिकः, विक्रयिकः ॥

अत्रादिशब्दसंनिधानात् **"वस्नात्"** (६।४।१७) । अस्मात्तेन जीवत्यर्थे इकः स्यात् । वस्नं मूल्यम्, तेन जीवति वस्निकः ॥ **"आयुधादीयश्च"** (६।४।१८) । चकारादिकः । आयुधेन जीवति आयुधीयः आयुधिकः आयुधिका । आयुधादिकेकणोः स्त्रियां विशेषः । (नन्वायुधादीयो वेति क्रियतां पक्षे इकणापि सेत्स्यतीत्याशङ्का) ॥ **"व्रातादीनञ्"** (६।४।१९) व्रातशब्दात्तेन जीवत्यर्थे ईनञ् स्यात् । नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघा व्रातास्तत्साहचर्यात्तत्कर्मापि व्रातं तेन जीवति (व्रातीनः ।) 'व्रातीनाः सङ्घजीविनः' इत्यभिधानचिन्तामणौ । ञकारो वृद्ध्यर्थस्तेन "तद्धितः स्वरवृद्धि०" (३।२।५५) इत्यादिना पुंवद्भावो न स्यात्–व्रातीनाभार्यः । **मैनिक** इति–**"पक्षिमत्स्यमृगार्थाद् घ्नति"** (६।४।३१) । द्वितीयान्तेभ्य एभ्यो घ्नत्यर्थे इकण् स्यात् । पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः । मात्सिकः, मार्गिकः । अर्थग्रहणात्पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यश्च भवति–शाकुनिकः, मायूरिकः, तैत्तिरिकः, मैनिकः, शाफरिकः, शाकुलिकः, हारिणिकः, सौकरिकः । अथ अजिह्मान् हन्ति अनिमिषान् हन्तीत्यत्र कस्मान्न भवति? नैतन्मत्स्येत्यस्य स्वरूपं (मत्स्यशब्दोऽयं न भवति) न विशेषो न पर्यायः, अपि त्वसाधारणं विशेषणं यथा जिह्मगा भुजगाः, अनिमिषा देवा इति । **"परिपन्थात्तिष्ठति च"** (६।४।३२) । अस्माद्द्वितीयान्तात्तिष्ठति घ्नति चार्थे इकण् स्यात् । परिपन्थं तिष्ठति हन्ति वा पारिपन्थिकश्चौरः; अत एव निर्देशात्परिपथशब्दस्य इकणोऽन्यत्रापि परिपन्थादेशः, तेन परिपन्थं[3] गच्छति पश्यतीत्याद्यपि भवति । **"परिपथात्"** (६।४।३३) । अस्माद्द्वितीयान्तात्तिष्ठत्यर्थे इकण् स्यात् । परि वर्जने सर्वतो भावे वा । पथः परि सर्वतः पन्थानं परिपथं तिष्ठति पारिपथिकः–पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । **"अवृद्धेर्गृह्णाति गर्ह्ये"** (६।४।३४) । द्वितीयान्ताद्वृद्धिशब्दाद्गृह्णात्यर्थे इकण् स्यात् । यो गृह्णाति स चेदन्यायेन ग्रहणाद्गर्ह्यः स्यात् । द्विगुणं गृह्णाति द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः ॥ वृधुषी[4]

१ यः किल पर्यायशब्दः स व्युत्पत्तिमन्तरेणापि तावन्तमर्थं गमयत्ययं तु व्युत्पत्त्यपेक्ष एव गमयति । २ यत्रापि अजिह्मादिशब्देभ्यो मत्स्यादिप्रतीतिस्तत्राप्यसाधारणविशेषणत्वेनैव न पर्यायत्वेन । ३ पथः परिशब्दो वर्जनार्थस्तदा 'पर्यपाभ्यां वर्ज्ये' इति पञ्चमी 'पर्यपाङ्बहि०' इति समासः । यदा तु परितः पन्थानमिति सर्वतोऽर्थः परिः, तदा 'सर्वोभयाभिपरिणा तसा' इति द्वितीया । सूत्रसामर्थ्यादव्ययीभावः 'ऋक्पूःपथ्यऽपोत्' । ४ प्रयुक्तं धनं पुष्णातीति प्रयुक्तधनपोषी तस्य पृषोदरादित्वात् वृधुषीशब्द आदेशः ।

वृद्धिं गृह्णाति वार्धुषिकः; । अल्पं दत्त्वा प्रभूतं गृह्णन् अन्यायकारी निन्द्यते । अवृद्धेरिति किम् ? वृद्धिं गृह्णातीति वाक्यमेव । गर्ह्ये इति किम् ? दत्तं गृह्णाति ॥ **"कुसीदादिकट्"** (६।४।३५) । कुसीदं वृद्धिस्तदर्थं द्रव्यमपि कुसीदम्, तं गृह्णातीति कुसीदिकः । कुसीदिकी–टकारो ङ्यर्थः ॥ **"दशैकादशादिकश्च"** (६।४।३६) । द्वितीयान्ताद्दशैकादशशब्दाद्गर्ह्ये गृह्णात्यर्थे इकश्चकारादिकट् च स्याताम् । दशभिरेकादश दशैकादशाः, तान् गृह्णाति दशैकादशिकः, दशैकादशिका दशैकादशिकी । अत एव निपातनादऽकारान्तत्वम्, तच्च वाक्ये प्रयोगार्थम्–दशैकादशान् गृह्णाति । अन्ये दशैकादश गृह्णातीति विगृह्णन्ति, तदपि 'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्तीति' न्यायादुपपद्यते । **"अर्थपदपदोत्तरपदललामप्रतिकण्ठात्"** (६।४।३७) । गर्ह्ये इति निवृत्तम् । अर्थात्, पदात्, पदशब्द उत्तरपदं यस्य तस्मात् ललामप्रतिकण्ठाभ्यां च गृह्णात्यर्थे इकण् स्यात् । अर्थं गृह्णाति आर्थिकः । पादिकः । पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः । लालामिकः । प्रातिकण्ठिकः । अव्ययीभावसमासाश्रयणादिह न भवति–प्रतिगतः कण्ठं प्रतिकण्ठस्तं गृह्णाति । उत्तरपदग्रहणात् बहुप्रत्ययपूर्वान्न भवति–बहुपदं गृह्णाति । **पारदारिक** इति–**"परदारादिभ्यो गच्छति"** (६।४।३८) । एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो गच्छत्यर्थे इकण् स्यात् । परदारान् गच्छति पारदारिकः । एवं गौरुदारिकः, गौरुतल्पिकः । सभर्तृकां गच्छति साभर्तृकः, भ्रातृजायिकः । परदारादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"प्रतिपथादिकश्च"** (६।४।३९) । चकाराद्यथाप्राप्त इकण् । पन्थानं पन्थानं प्रति पथोऽभिमुखमिति वा प्रतिपथम्, तद्गच्छति प्रतिपथिकः प्रातिपथिको वा ॥ **"माथोत्तरपदपदव्याक्रन्दाद्धावति"** (६।४।४०) । माथोत्तरपदात् पदव्याक्रन्दाभ्यां द्वितीयान्तेभ्यो धावत्यर्थे इकण् स्यात् । दण्डमाथं धावति दाण्डमाथिकः । माथशब्दः पथिपर्यायः । दण्ड इव माथो दण्डमाथः [मथ्यते अवगाह्यते पादैः घञि माथः । दण्ड इव माथ "उपमानं सामान्यैरे"वेति नियमादप्राप्तोऽपि 'मयूरव्यंसक' इति सः] ऋजुमार्ग उच्यते । पदवीं धावति पादविकः । आक्रन्दति यत्र स देश आक्रन्दः, आक्रन्द्यत इति वा आक्रन्दः आर्त्तायनं शरणमुच्यते । आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः । उत्तरपदग्रहणाद्बहुप्रत्ययपूर्वान्न भवति–बाहुमाथं धावति । **"पश्चात्यनुपदात्"** (६।४।४१) । पश्चादर्थे वर्त्तमानादनुपदशब्दाद्धावत्यर्थे इकण् स्यात् । पदस्य पश्चादनुपदम्, अनुपदं धावति आनुपदिकः–प्रत्यासत्त्या धावतीत्यर्थः ॥ **सौस्नातिक** इति–**"सुस्नातादिभ्यः पृच्छति"** (६।४।४२) । एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पृच्छत्यर्थे इकण् स्यात् । सुस्नातं पृच्छति सौस्नातिकः । सौखरात्रिकः, सौखशायनिकः, सौख्यशाय्यिकः । सुस्नातादयः प्रयोगगम्याः । **प्राभूतिक** इति–**"प्रभूतादिभ्यो ब्रुवति"** (६।४।४३) । एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो ब्रुवत्यर्थे इकण् स्यात् । प्रभूतं ब्रूते प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः, वैपुलिकः, वैचित्रिकः, नैपुणिकः । क्रियाविशेषणादयमिष्यते, तेनेह न भवति–प्रभूतमर्थं ब्रूते पर्याप्तमर्थं ब्रूते इति । क्वचिदक्रियाविशेषणादपि–स्वर्गमनं ब्रूते सौवर्गमनिकः । स्वागतिकः । सौवस्तिकः [स्वस्तीति ब्रूते व्युत्पत्तिपक्षे 'य्वः पदान्तात्' इति, अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'द्वारादेः' इत्यौत्] प्रभूतादयः प्रयोगगम्याः । **"माशब्द इत्यादिभ्यः"** (६।४।४४) । इति शब्दो वाक्यपरामर्शार्थः । मा शब्द इति ब्रूते माशब्दिकः–मा शब्दः क्रियतामिति ब्रूत इत्यर्थः । कार्यः शब्द इति ब्रूते कार्यशब्दिकः । नित्यः शब्द इति ब्रूते नैत्यशब्दिकः । माशब्द इत्यादयः प्रयोगगम्याः । वाक्यात्प्रत्ययविधानार्थं वचनम् [पूर्वेण हि पदात्प्रत्यय इत्यर्थः] । **"शाब्दिकदार्दुरिकलालाटिककौक्कुटिकम्"** (६।४।४५) । एते यथास्वं प्रसिद्धेऽर्थे इकणन्ता निपात्यन्ते । शब्दं करोति शाब्दिकः (यः कश्चिच्छब्दं करोति न स सर्वः शाब्दिकः किं तर्हि) यः शब्दं जानाति वैयाकरणः स एवाविनष्टं शब्दमुच्चारयन् शाब्दिक उच्यते । दर्दुरो घटो वादित्रं च तत्र वादित्रं कुर्वन् दार्दुरिक

उच्यते । ललाटं पश्यति लालाटिकः—ललाटदर्शनेन दूरावस्थानं लक्ष्यते तेन च कार्येष्वनुपस्थानम् । यः सेवको दृष्टं स्वामिनो ललाटमिति दूरतो याति नतु कार्ये उपतिष्ठते स एवमुच्यते । ललाटमेव वा कोपप्रसादलक्षणाय यः पश्यति स एवमिति । कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातो लक्ष्यते, तेन च देशस्याल्पता । यो हि भिक्षुरविक्षिप्तदृष्टिः पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षी गच्छति स एवमुच्यते । यो वा तथाविधमात्मानमतथाविधोऽपि संदर्शयति सोऽपि कौक्कुटिकः । दाम्भिकचेष्टा वा मिथ्या शौचादिः कुक्कुटी, तामाचरन् कौक्कुटिकः । हृदयावयवो वा कुक्कुटी तां पश्यति कौक्कुटिको भिक्षुः, निभृत इत्यर्थः । तदेतत्सर्वं निपातनाल्लभ्यते ॥ **सैनिक** इति—"**समूहार्थात्समवेते**" (६।४।४६) द्वितीयान्तेभ्यः समूहवाचिभ्यः समवेते तादात्म्यात्तदेकदेशीभूतेऽर्थे इकण् स्यात् । समूहं समवैति सामूहिकः । सामाजिकः, सांसदिकः, सामवायिक; गौष्ठिकः । तदेकदेशीभावमनुभवन्नेवमुच्यते । [1]समवेत्यापगते तु समवेतशब्दो न वर्त्तते यथा सुप्तोत्थिते सुप्तशब्द इति तत्र न भवति ॥ "**पर्षदो ण्यः**" (६।४।४७) । समवेते । पर्षदं समवैति पार्षद्यः । परिषच्छब्दादपीच्छन्त्यन्ये ॥ "**सेनाया वा**" (६।४।४८) सेनाशब्दाद्द्वितीयान्तात्समवेतेऽर्थे ण्यः स्यात् । सेनां समवैति सैन्यः—पक्षे "समूहार्थात्समवेते" इतीकण् सैनिकः । सेनैव सैन्यमिति भेषजादित्वात्स्वार्थे ट्यण् ॥ **धार्मिक**—इति "**धर्माधर्माच्चरति**" (६।४।४९) । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां चरत्यर्थे इकण् स्यात् । चरतिस्तात्पर्येणानुष्ठाने । धर्मं चरति धार्मिकः । आधर्मिकः ॥

आदिशब्दात् "**षष्ठ्या धर्म्ये**" (६।४।५०) । षष्ठ्यन्ताद्धर्म्येऽर्थे इकण् स्यात् । धर्मो न्यायोऽनुवृत्त आचारस्तस्मादनपेतं धर्म्यम् । शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम् । आपणिकम्, गौल्मिकम्, आतरिकम् । "**ऋन्नरादेरण्**" (६।४।५१) । ऋकारान्तेभ्यो नरादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो धर्म्येऽर्थे अण् स्यात् । नुर्धर्म्यं नारम् । स्त्रियां नारी । मातुर्मात्रम् । पितुः पैत्रम् । शास्तुः शास्त्रम् । विकर्तुर्वैकत्रम् । होतुर्हौत्रम् । पोतुः पौत्रम् । उद्गातुः औद्गात्रम् । नरादि. नरस्य धर्म्यं नारम्, स्त्रियां नारी । नृशब्देनैव रूपद्वये सिद्धे नरशब्दादिकण् माभूदिति तद्ग्रहणम् । महिष्या माहिषम् । नर, महिषी, प्रजावती, प्रजापति, विलेपिका, प्रलेपिका, अनुलेपिका, वर्णक, पेषिका, (वर्णकपेषिका ।) मणिपाली, पुरोहित, अनुचारक, अनुवाक, यजमान, होतृयजमान, १५ इति नरादयः पञ्चदश । "**विभाजयितृ विशसितुर्णीड्लुक् च**" (६।४।५२) आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां धर्म्येऽर्थे अण् स्यात्, तत्संनियोगे च वि[2]भाजयि[3]तुर्णिलुक्, विशसितुश्चेड् लुक् स्यात् । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्, विशसितुर्वैशस्त्रम् ॥ "**अवक्रये**" (६।४।५३) येनेच्छानियमितेन द्रव्येण कियन्तमपि कालमापणाद्यवक्रीयते सोऽवक्रयो ([4]भोगनिर्वेशो) भाटकमिति । षष्ठ्यन्तादवक्रयेऽर्थे इकण् स्यात् । आपणस्यावक्रयः आपणिकः । आतरिकः । लोकपीडया धर्मातिक्रमेणाप्यवक्रयो भवतीत्ययं धर्म्याद्भिद्यते ॥ **आपूपिक** इति—"**तदस्य पण्यम्**" (६।४।५४) तदिति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, प्रथमान्तं चेत्पण्यं विक्रेयं भवति । पण्यार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति पण्यशब्दस्याप्रयोगः । एवं मौदकिकः, शाष्कुलिकः लावणिकः ॥ "**किशरादेरिकट्**" (६।४।५५) । एभ्यस्तदस्य पण्यमित्यस्मिन्नर्थे इकट् स्यात् । किशरः पण्यमस्य किशरिकः । किशरिकी । किशर, तगर, स्थगर, उशीर, हरिद्रा, (हरद्रु,)

---

१ कैश्चिदत्र प्रत्ययलोपःकृतः ततः स्वमते कथमित्याह—सम० । २ विपूर्वो भजण्, ततो णिच् तृच् विभाजयितृ । ३ नन्वत्र इड्लोप एव विधीयतां किं णिलोपेन, विभाजयितृ इत्यत्रापि इट्लोपे णिचा सस्वरत्वे वैभाजित्रमिति सिध्यति ? नैवम् । णिलोपाभावे गुणः स्यात्ततोऽनिष्टं रूपं स्यात् । णिलोपे तु इटो धातुत्वाभावात् गुणो न भवतीति सिध्यति । ४ भुज्यते इति भोगो गृहादि, निर्विश्यते अनेन व्यञ्जनाद् घञि निर्वेशः, ततः षष्ठीसमासः ।

हरिद्रुपर्णी, गुग्गुलु, गुग्गुल, नलद, इति किशरादयो गन्धद्रव्यविशेषवचनाः ॥ **"शलालुनो वा"** (६।४।५६)। अस्माद्गन्धविशेषवाचिन इकट् वा। शलालु पण्यमस्य शलालुकः, शलालुकी। पक्षे इकण्–शालालुकी ॥ **नार्त्तिक** इति–**"शिल्पम्"**[1] (६।४।५७)। तदस्येति वर्त्तते। प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, प्रथमान्तं चेच्छिल्पं स्यात्। एवं गीतं गैतिकः, वादनं वादनिकः। मृदङ्गो मृदङ्ग-वादनं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः। एवं पाणविकः, मौरजिकः, वैणिकः। मृदङ्गादिशब्दा वादनार्थवृत्तयः प्रत्ययमुत्पादयन्ति न[2] द्रव्यवृत्तयः। उत्पादनार्थवृत्तिभ्यस्त्वनभिधानान्न भवति, अत एव कु[3]म्भकारादावभिधेये मृ[4]दङ्गकरणादिभ्य एव प्रत्ययः। मृदङ्गकरणं शिल्पमस्य मार्दङ्गकरणिकः, वैणाकरणिकः। मृदङ्गवादनादिभ्योऽप्यनभिधानान्न भवति। शिल्पार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति शिल्पशब्दस्याप्रयोगः ॥ **"मड्डुकझर्झराद्वाऽण्"** (६।४।५८)। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः। झार्झरः। पक्षे इकण् माड्डुकिकः, झार्झरिकः ॥ **"शीलम्"** (६।४।५९)। प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, प्रथमान्तं चेच्छीलं स्यात्। अपूपा अपूपभक्षणं शीलमस्य आपूपिकः। ताम्बूलिकः। परुषवचनं शीलमस्य पारुषिकः। एवमाक्रोशिकः ॥ मृदङ्गादिवदपूपादयः शब्दाः क्रियावृत्तयः प्रत्ययमुत्पादयन्ति। शीलार्थो वृत्तावन्तर्भूत इति शीलशब्दस्याप्रयोगः ॥ **"अ[5]ङ्स्थाच्छत्रादेरञ्"** (६।४।६०) अङ्प्रत्ययान्तात्तिष्ठतेश्छत्रादिभ्यश्च तस्य शीलमित्यर्थेऽञ् स्यात्। आस्था शीलमस्य आस्थः। सांस्थः, आवस्थः, सामास्थः, वैयवस्थः, नैष्ठः, वैष्ठः; "उपसर्गादातः" (५।३।११०) इत्यङ्। आन्तस्थः भिदादित्वादङ्। छत्रादि. छत्रं शीलमस्य छात्रः। छत्रशब्देन गुरुकार्येष्ववहितस्य शिष्यस्य छत्रक्रियातुल्या गुरुच्छिद्राच्छादनाऽपायरक्षणादिका क्रियोच्यते। उपचारात् शिष्यो हि छत्रवद्गुरुछिद्रावरणादिप्रवृत्तश्छात्र इत्युच्यते। अ[6]भ्यासापेक्षाऽपि क्रिया शीलमित्युच्यते, यथा शीलिता विद्या इति। चुराशीलः चौरः। तपःशीलस्तापसः। कर्मशीलः कार्मः। स्त्रियाम्–छात्री चौरी तापसी ॥ छत्र, चुरा, तपस्, कर्मन्, शिक्षा, चुं[7]क्षा, चिक्षा[8], भक्षा, भिक्षा, तितिक्षा, १० बुभुक्षा, विश्वधा, उदस्थान, उपस्थान, पुरोडा, कृषि, मन्द्र, सत्य, अनृत, विशिख, २० विशिखा, प्ररोह, २२ इति छत्रादयो द्वाविंशतिः २२। **"तूष्णीकः"** (६।४।६१)। निपातोऽयम्। तूष्णींभावः शीलमस्य तूष्णीकः–कःप्रत्ययो मकारलोपश्च निपातनात् ॥ **असिक** इति–**"प्रहरणम्"** (६।४।६२)। प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, प्रथमान्तं चेत्प्रहरणं स्यात्। एवं प्रासिकः, चाक्रिकः, मौष्टिकः, धानुष्कः, मौद्गरिकः, मौसलिकः। "चरती"त्यत्र व्या[9]पारसाधनात्प्रत्ययो यथाश्वेन चरति। शिल्पमित्यत्र तु विज्ञानातिशये यथा नृत्तं शिल्पमस्येति। अनेन तु व्या[10]पाराभावेऽपि परिज्ञानमात्रे प्रत्ययः ॥

अत्रायं विशेषः–**"परश्वधाद्वाऽण्"** (६।४।६३)। परश्वधः प्रहरणमस्य पारश्वधः, पक्षे इकण्–पारश्वधिकः ॥ **"शक्तियष्टे[11]ष्टीकण्"** (६।४।६४)। शक्तिः प्रहरणमस्य शाक्तीकः, शाक्तीकी।

---

१ आदिशब्दात् व्याकरणकरणादि शिल्पमस्येति वैयाकरणिकादयः। २ द्रव्यस्य शिल्पायोगात्तद्विषयायाः क्रियायाः शिल्पत्वमिति वादनार्थवृत्तय इत्युक्तम्। ३ केषुचिद्ग्रामेषु मृन्मया मदङ्गा भवन्ति, तेषु कुम्भकारादुत्पत्तिः। ४ न तु मृदङ्गादिशब्दादित्यर्थः। ५ अङ् चासौ स्थाश्च। छत्रम् आदिर्यस्य; अङ्स्थाश्च छत्रादिश्च तस्मात्। अन्तर्मध्ये स्थानं भिदाद्यङि 'व्यत्यये लुग्वा' इति रलोपः। अन्तस्थानं वा अन्तस्था शीलमस्य। ६ शीलं हि प्राणिनां स्वभावः, छात्रस्य तु न स्वभाव इत्याशङ्क्योक्तम्। ७ चुक्षिः सौत्रो निर्मलीकरणे चुक्षा शौचम्। ८ चिक्षेति–केचित् शिक्षीत्यस्य स्थाने चिक्षीति पठन्ति। धात्वन्तरं चिक्षिः। चिक्षा शिक्षेत्यर्थः। ९ व्यापाश्चरणरूपः साध्यते येन तस्मात्, अयमर्थः–चरत्यर्थे व्यापारं साधयन्नेव शब्दः प्रत्ययमुत्पादयति। १० प्रहरणस्य हि व्यापारः परप्रहरणरूपः, तस्याभावेऽपि प्रहरणाभावेऽपीत्यर्थः। विज्ञानातिशयश्च प्रहारवैचक्षण्यं तदभावेऽपि तन्मात्रेऽपीत्यर्थः। ११ ननु टिकणिति मात्रालघुः प्रत्ययो विधीयताम्, एवमपि कृते शाक्तीकादयः सेत्स्यन्ति। न वाच्यम् 'अवर्णेवर्णस्य'–इत्यस्य प्रसङ्गः, यतष्टकारो हि ङ्यर्थः। स तु इकण्द्वारा सिद्धः इत्यधिकस्य टकारस्यैतदेव फलं

याष्टीकः याष्टीकी । शाक्तिक इति तु शक्त्या जीवतीति वेतनादितीकण् ॥ **"वेष्ट्यादिभ्यः"** (६।४।६५) । एभ्यष्टीकण् वा । पक्षे "प्रहरण"मितीकण् । इष्टिः प्रहरणमस्य ऐष्टीकः ऐष्टीकी, पक्षे ऐष्टिकः । ईषा प्रहरणमस्य ऐषीकः ३ । एवं कम्पनं प्रहरणमस्य काम्पनीकः ३ । अम्भः प्रहरणमस्य आम्भसीकः ३ । दण्डः प्रहरणमस्य दाण्डीकः ३ । इष्ट्यादयः प्रयोगगम्याः ॥ **नास्तिकास्तिकाद्य** इति [अत्र सूत्रम्—**"नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्"** (६।४।६६)] निपातनं रूढ्यर्थम् , । नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य नास्तिकः । अस्ति परलोकादिकमिति मतिरस्य आस्तिकः । नास्त्यस्तिशब्दौ तिवादिप्रतिरूपके अव्यये (तयोश्च परतः प्रथमैकवचनम्) । निपातनादेव वा तदिति प्रथमाधिकारेऽपि आख्यातान्नास्तीति पदसमुदायाच्च प्रत्ययः । **आदिशब्दात्** दैष्टिकमिति—दिष्टं दैवं तत्प्रमाणमिति मतिरस्य, दिष्टा वा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य दैष्टिकः ॥

आदिशब्दसंसर्गात् **"वृत्तोऽपपाठोऽनुयोगे"** (६।४।६७) । प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात् , प्रथमान्तं चेदनुयोगविषये वृत्तोऽपपाठो भवति । अनुयोगः परीक्षा । एकमन्यदपपाठोऽनुयोगे वृत्तमस्य ऐकान्यिकः । द्वैयन्यिकः, त्रैयन्यिकः । सङ्ख्यान्यशब्दयोस्तद्धिते विषयभूते समासस्ततस्तद्धितः । वृत्तोऽपपाठोऽनुयोग इत्यस्य तु वृत्तावन्तर्भावादप्रयोगः । अन्यत्वं चापपाठस्य सम्यक्पाठापेक्षम् । वृत्त इति किम् ? वर्त्तमाने वर्त्स्यति च न भवति । अपपाठ इति किम् ? एकमन्यदस्य दुःखमनुयोगे वृत्तम् । जयोऽस्यानुयोगे वृत्तः । अनुयोग इति किम् ? स्वैराध्ययने माभूत् । अन्ये त्वपपाठादन्यत्राप्यध्ययनमात्रे प्रत्ययमिच्छन्ति—एकं रूपमध्ययने वृत्तमस्य ऐकरूपिकः । ऐकग्रन्थिकः ॥ **"बहुस्वरपूर्वादिकः"** (६।४।६८) । तथा । एकादशान्यपपाठरूपाण्यऽनुयोगेऽस्य वृत्तानि एकादशान्यिकः । एवं द्वादशान्यिकः। एकादशान्यिका स्त्री । अत्राप्यन्ये पूर्ववदन्यत्रापीच्छन्ति—द्वादशरूपाण्यध्ययनेऽस्य वृत्तानि द्वादशरूपिकः ॥ **"भक्ष्यं हितमस्मै"** (६।४।६९) प्रथमान्ताच्चतुर्थ्यर्थे इकण् स्यात् , प्रथमान्तं चेद्भक्ष्यं हितं भवति । अपूपा भक्ष्यं हितमस्मै आपूपिकः । हितार्थो भक्षणक्रियावृत्तावन्तर्भवति ॥ **"नियुक्तं दीयते"** (६।४।७०) प्रथमान्ताच्चतुर्थ्यर्थे इकण् स्यात् , प्रथमान्तं चेन्नियुक्तमव्यभिचारेण नित्यं वा दीयते । अग्रभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिकः आम्रफलिकः, मांसिकः, आपूपिकः, ग्रामिकः, आग्रहारिकः । अस्मै इत्येव—रजकस्य वस्त्रं नित्यं दीयते ॥ **"श्राणामांसौदनादिको वा"** (६।४।७१) । आभ्यामुक्तार्थे इको वा स्यात् । श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते श्राणिकः पथ्याशी, श्राणिका । पक्षे इकण् श्राणिकी । एवं मांसौदनिकः, मांसौदनिका, इकणपि—मांसौदनिकी । इकेकणोः स्त्रियां विशेषः । अन्ये त्विकं नेच्छन्ति ॥ **"भक्तौदनाद्वाणिकट्"** (६।४।७२) । आभ्यां यथासंख्यमणिकट्प्रत्ययौ स्याताम् , तस्मै नियुक्तं दीयते इति विषये । भक्तमस्मै नियुक्तं दीयते भाक्तः । ओदनिकः ओदनिकी । पक्षे इकण् भाक्तिकः औदनिकः ॥ ओदनशब्दादिकणं नेच्छन्त्यन्ये ॥ **"नवयज्ञादयोऽस्मिन् वर्त्तन्ते"** (६।४।७३) । प्रथमान्तेभ्य एभ्यो वर्त्तन्ते इत्युपाधिभ्यः सप्तम्यर्थे इकण् स्यात् । नव यज्ञा अस्मिन् वर्त्तन्ते नावयज्ञिकः । पाकयज्ञिकः । नवयज्ञादयः प्रयोगगम्याः ॥७०॥

भावादिमः ॥ ७१ ॥ [सि० ६।४।२१]

भावप्रत्ययान्तान्निर्वृत्ते इमः स्यात् । सेकिमं फलम् ॥ ७१ ॥

"भावा०" सेकिममिति—सेकेन निर्वृत्तमिति । एवं पाकिमं त्यागिमं रोगिमं कुट्टिमं संमूर्च्छिमम् ।

यत् 'अवर्णेवर्णस्य'-इति इलोपं बाधित्वा 'समानानां'-इति दीर्घेन टिकणि कृतेऽपि शाक्तीकादयो भवन्ति । परमुत्तरत्र आम्भसीक इति सिद्ध्यर्थं टीकण्करणम् ।

अत्रादिशब्दात् **"निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः"** (६।४।२०) । तृतीयान्तेभ्य एभ्यो निर्वृत्ते इकण् स्यात् । अक्षद्यूतेन निर्वृत्तमाक्षद्यूतिकं वैरम् । जाङ्घाप्रहृतिकम् । अक्षद्यूत, जङ्घाप्रहत, जङ्घापहृत, जङ्घाप्रहार, पादस्वेद, पादस्वेदन, कण्टकमर्द, कण्टकमर्दन, शर्करामर्दन, गत, आगत, गतागत, यात, उपयात, यातोपयात, गतानुगत, अनुगत, इत्यक्षद्यूतादयः सप्तदश ॥ **"याचितापमित्यात्कण्"** (६।४।२२) । आभ्यां निर्वृत्ते कण् स्यात् । याचितेन याञ्चया निर्वृत्तं याचितकम् । अपमित्येति यबन्तम्, अपमित्य प्रतिदानेन निर्वृत्तमापमित्यकम् ॥ **"हरत्युत्सङ्गादेः"** (६।४।२३) । तृतीयान्तेभ्य एभ्यो हरत्यर्थे इकण् स्यात् । उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग उत्तुप, (उत्रुप, ?) (उडुप, ?) उडुप, उत्पुत, उत्पुट, पिटक, पिटाक, इत्युत्सङ्गादयोऽष्टौ । **"भस्त्रादेरिकट्"** (६।४।२४) । एभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो हरत्यर्थे इकट् स्यात् । भस्त्रिकः, भस्त्रिकी । भस्त्रा, भरट, भरण, शीर्षभार, शीर्षेभार, अङ्गभार, अङ्गेभार, अंसभार, अंसेभार, इति भस्त्रादयो नव । **"विवधवीवधाद्वा"** (६।४।२५) । इकट्, हरत्यर्थे । विवधेन वीवधेन वा हरति विवधिकः विवधिकी, वीवधिकः वीवधिकी । पक्षे इकण्–वैवधिकः । विवधवीवधशब्दौ समानार्थौ पथि पर्याहारे च वर्त्तते ॥ **"कुटिलिकाया अण्"** (६।४।२६) । अस्मात्तृतीयान्तात् हरत्यर्थेऽण् स्यात् । कुटिलिकाशब्देनाग्रेवक्रा लोहादिमयी अङ्गारकर्षणी यष्टिर्वा कुटिला गतिर्वा पलालोत्क्षेपणोऽग्रेवक्रो दण्डो वा परिव्राजकोपकरणविशेषो वा चौराणां नौगृहाद्यारोहणार्थं दामाग्रबद्ध आयसोऽर्द्धांकुशो वोच्यते । कुटिलिकया हरत्यङ्गारान् कौटिलिकः कर्मारः । तया हरति व्याधं कौटिलिको मृगः । तया हरति पलालं कौटिलिकः कर्षकः । तया हरति पुष्पाणि कौटिलिकः परिव्राजकः । तया हरति नावं कौटिलिकश्चौरः ॥ **"ओजःसहोऽम्भसो वर्त्तते"** (६।४।२७) । एभ्यस्तृतीयान्तेभ्यो वर्त्तते इत्यर्थे इकण् स्यात् । वृत्तिरात्मयापना चेष्टा वा । ओजसा बलेन वर्त्तते औजसिकः । सहसा प्रहसनेन पराभिभवेन वा साहसिकः । अम्भसा जलेन आम्भसिकः ॥ **"तं प्रत्यनोर्लोमेपकूलात्"** (६।४।२८) । (तेनेति निवृत्तम्) प्रत्यनुभ्यां परो यो लोमशब्द ईपशब्दः कूलशब्दश्च तदन्ताद्द्वितीयान्ताद्वर्त्तते इत्यर्थे इकण् स्यात् । प्रतिलोमं अनुलोमं, प्रतीपं अन्वीपं, प्रतिकूलं अनुकूलं, वर्त्तते इति प्रातिलोमिकः आनुलोमिकः, प्रातीपिकः आन्वीपिकः, प्रातिकूलिकः आनुकूलिकः । अकर्मकस्यापि वृत्तेर्योगे प्रतिलोमादेः क्रियाविशेषणत्वाद्द्वितीयान्तत्वम् ॥ **"परेर्मुखपार्श्वात्"** (६।४।२९) परिपूर्वो यो मुखशब्दः पार्श्वशब्दश्च तदन्तात् क्रियाविशेषणात् वर्त्तते इत्यर्थे इकण् स्यात् । परिर्वर्जने सर्वतोभावे वा । स्वामिनो मुखं वर्जयित्वा वर्त्तमानोऽथवा यतो यतः स्वामिमुखं ततस्ततो वर्त्तमानः पारिमुखिकः सेवकः । एवं पारिपार्श्विकः ॥ **"रक्षदुञ्छतोः"** (६।४।३०) । द्वितीयान्तादनयोरर्थयोरिकण् स्यात् । समाजं रक्षति सामाजिकः । सामवायिकः, नागरिकः । बदराण्युञ्छति उच्चिनोति बादरिकः ॥ **दौवारिक** इति–**"तत्र नियुक्ते"** (६।४।७४) । सप्तम्यन्तान्नियुक्तेऽर्थे इकण् स्यात्, नियुक्तोऽधिकृतो व्यापारित इत्यर्थः । प्रागुक्तस्य नियुक्तमित्यस्य क्रियाविशेषणरूपस्याव्यभिचारो नित्यमिति चार्थः, प्रकृत्यर्थविशेषणं चायं प्रत्ययार्थश्चायं नियुक्त इति । शुल्कशालायां नियुक्तः शौल्कशालिकः । आपणिकः । आतरिकः । आक्षपाटलिक इति ॥ ७१ ॥

द्वारादेः ॥ ७२ ॥ [सि० ७।४।६]

एषां य्वोः प्रागैदौतौ स्याताम् । द्वारे नियुक्तो दौवारिकः । निकटे वसति नैकटिकः । समाने तीर्थे वसति सतीर्थ्यः । पन्थानं याति पथिकः पान्थः । अह्ना निर्वृत्तमाह्निकमित्यादि ॥ ७२ ॥

"द्वारा०" । अयमर्थः—एषां द्वारादीनां यौ य्वौ तयोः समीपस्य स्वरेष्वादेः स्वरस्य तत्प्राप्तौ वृद्धिप्रसङ्गे ताभ्यामेव प्राक् ऐदौतौ स्याताम्, ञ्णिति तद्धिते परे । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः । स्वर्भवः सौवः "प्रायोऽव्ययस्य" (७।४।६५) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः ॥ स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः, अव्युत्पन्नोऽयम् । सुपूर्वस्य तु पूर्वेणैव सिद्धम् ॥ एवमग्रेऽपि—स्वादुमृदोऽपत्यं सौवादुमृदः । व्यल्कसे भवो वैयल्कसः । श्वो भवः शौवस्तिकः "श्वस्तादिः" (६।३।८३) इति तिकण् । शुन इदं शौवनं मांसम् । स्फ्यकृतस्यापत्यं स्फैयकृतः, ऋष्यण् । स्वस्येदं सौवम् । स्वाध्यायेन जयति सौवाध्यायिकः "तेन जित०" (६।४।२) इत्यादिनेकण् । स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः—अध्यात्मादित्वादिकण् 'श्वादेः' इति प्रतिषेधाद्वारादिपूर्वाणामपि भवति—द्वारपालस्यापत्यं दौवारपालिः "अत इञ्" (६।१।३१) । द्वारपाल्याः अपत्यं दौवारपालिकः "रेवत्यादेरिकण्" (६।१।८६) । स्वराध्याये भवः सौवराध्यायिकः । स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः, प्रभूतादित्वादिकण् । श्वादंष्ट्रायां भवः शौवादंष्ट्रो मणिः । शौवभस्त्रः (य्वोः समीपस्य वृद्धिप्राप्ताविति विज्ञानात् वैयल्कस इत्यत्र वकारात्प्रागौकारो न भवति) । स्वपाठेनैव सिद्धे स्वाध्यायस्वग्रामपाठात् स्वापतेयं स्वाजन्यमित्यादौ न भवति । द्वार, स्वर, स्वर्, स्वस्ति, स्वादुमृद्, व्यल्कस, श्वस्, श्वन्, स्फ्यकृत, स्व, स्वाध्याय, स्वग्राम, इति द्वारादयो द्वादश ॥ **"न्यग्रोधस्य केवलस्य"** (७।४।७) तथा । न्यग्रोधस्य विकारो नैयग्रोधो दण्डः । नैयग्रोधः कषायः । केवलस्येति किम्? न्यग्रोधमूले भवाः न्यग्रोधमूलाः शालयः । इदमपि (न केवलं 'श्वादेः' इति निषेधः किन्तु केवलग्रहणमपीत्यर्थः) द्वारादीनां तदादिविधेर्ज्ञापकम् । [1]न्यग्रोहतीति न्यग्रोध इति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैवेति अव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थं वचनम् ॥ **"न्यक्रोर्वा"** (७।४।८) । न्यङ्क्रोरिदं नैयङ्कवं न्याङ्कवम् । **"न ञस्वाङ्गादेः"** (७।४।९) ञप्रत्ययान्तस्य स्वाङ्गादेश्च ञ्णिति तद्धिते परे य्वः प्रागैदौतौ न स्याताम् । ञ—व्यावक्रोशी व्यावलेखी व्यावचर्ची व्यावहासी व्यात्युक्षी, "व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः' (५।३।११६) इति ञः, ततो "नित्यं ञञितोऽण्" (७।३।५८) इत्यण् । स्वाङ्गादि, स्वङ्गस्यापत्यं स्वाङ्गिः । स्वागतमित्याह स्वागतिकः । स्वध्वरेण चरति स्वाध्वरिकः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । व्यायामः प्रयोजनमस्याः व्यायामिकी विद्या । स्वंग, व्यंग, व्यड, स्वागत, स्वध्वर, व्यवहार, व्यायाम इति स्वाङ्गादयः सप्त ॥

अथ प्रकृतम् **"अगारान्तादिकः"** (६।४।७५) । तत्र नियुक्तेऽर्थे । देवागारे नियुक्तो देवागारिकः, देवागारिका । एवं भाण्डागारिकः २, आयुधागारिकः २, कोष्ठागारिकः, कोष्ठागारिका ॥ **"अदेशकालादध्यायिनि"** (६।४।७६) । अध्ययनस्य प्रतिषिद्धौ यौ देशकालौ तद्वाचिनः सप्तम्यन्तादध्यायिन्यर्थे इकण् स्यात् । अदेश. अशुचावध्यायी आशुचिकः । श्मशानेऽध्यायी श्माशानिकः । श्माशानाभ्यासिकः । अकाल. सान्ध्यिकः । उल्कापातिकः । आनध्यायिकः ॥ **नैकटिक** इति **"निकटादिषु वसति"** (६।४।७७) । एभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् स्यात्, निकटे वसति नैकटिकः । आरण्यकेन भिक्षुणा ग्रामात्क्रोशे वस्तव्यमिति यस्य शास्त्रितो वासः स एवोच्यते, तदर्थ एव च तत्रेत्यधिकारे सप्तमीनिर्देशः । वृक्षमूले वार्क्षमूलिकः, श्माशानिकः, आभ्यवकाशिकः, आवसथिकः । निकटादयः प्रयोगगम्याः ।

---

1 अयमर्थः—यदा व्युत्पत्तिपक्ष आश्रीयते तदा न्यक्शब्दसाधनकाले या निशब्दात् प्रथमा तदपेक्षया निसंबन्धिन इकारस्य पदान्तत्वात् तत्स्थानप्रादुर्भावात्, यस्यापि पदान्तत्वे 'य्वः पदान्तात्' इत्यनेनैवैदागमे सिद्धे सतीदं सूत्रं नियमार्थम् । अव्युत्पत्तिपक्षे तु यस्यापदान्तत्वात् 'य्वः पदान्तात्' इति न सिध्यतीति विध्यर्थम् ।

अत्र विशेषः **"सतीर्थ्यः"** (६।४।७८) निपातोऽयम्, समाने तीर्थे वसति सतीर्थ्यः। तीर्थमिह गुरुरुच्यते ॥ **"प्रस्तारसंस्थानतदन्तकठिनान्तेभ्यो [1]व्यवहरति"** (६।४।७९)। प्रस्तार-संस्थान इत्येताभ्यां एतदन्ताभ्यां कठिनान्ताच्च व्यवहरत्यर्थे इकण् स्यात्। व्यवहरतिरिह क्रियातत्त्वे क्रियाया अविपरीतस्वभावे–यथा लौकिको व्यवहार इति। प्रस्तारे व्यवहरति प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः। तदन्त. कांस्यप्रस्तारिकः, लौहप्रस्तारिकः, गौसंस्थानिकः, आश्वसंस्थानिकः। कठिनान्त. वांशकठिनिकः' वार्ध्रकठिनिकः। कठिनं तापसभाजनं पीठं वा। बहुवचनं कठिनान्तेति स्वरूपग्रहणव्युदासार्थं रूढ्यर्थं च (रूढिश्च तापसभाजनेत्यादि तेन कठिने कठोरे न)। प्रस्तारसंस्थानतदन्तेभ्यो नेच्छन्त्यन्ये ॥ **"सङ्ख्यादेश्चार्हदलुचः"** (६।४।८०)। आ अर्हदर्थादित ऊर्ध्वं या प्रकृतिरुपादास्यते तस्याः केवलायास्तदन्तायाश्च सङ्ख्यापूर्वाया वक्ष्यमाणः प्रत्ययः स्यादिति ज्ञेयम्। न चेत्सा लुगन्ता स्यात्। चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः। द्वे चन्द्रायणे चरति द्वैचन्द्रायणिकः। सङ्ख्यादेरिति किम्? परमपारायणमधीते। (चकारः केवलार्थः)। आर्हदित्यत्राकारोऽभिविधौ, तेनार्हदर्थेऽपि भवति–द्वे सहस्रे द्विसहस्रं वार्हति द्विसाहस्रः। अलुच इति किम्? द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम् अत्र "शूर्पाद्वाञ्" (६।४।१३७) इत्यञ् "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इति लुप्। द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकं। पुनरपि शूर्पाद्वा-ञित्यञ् न भवति ॥ **"गोदानादीनां ब्रह्मचर्ये"** (६।४।८१)। एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो ब्रह्मचर्ये इकण् स्यात्। गोदानस्य ब्रह्मचर्यं गौदानिकम् (आदित्यव्रतानामादित्यव्रतिकम्। महानाम्नीनां माहानाम्निकम्)। येभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् दृश्यते, ते गोदानादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"चन्द्रायणं च चरति"** (६।४।८२) चन्द्रायणशब्दाद्द्वितीयान्ताद्गोदानादिभ्यश्च द्वितीयान्तेभ्यश्चरतीत्यर्थे इकण् स्यात्। चन्द्रायणं चरति चान्द्रायणिकः। गौदानिकः। महानाम्न्यो ऋचस्तत्साहचर्यात्तासां व्रतमपि महानाम्न्यः, महानाम्नीव्रतं चरति माहानाम्निकः ॥ **"देवव्रतादीन् डिन्"** (६।४।८३)। एभ्यो (निर्देशादेव) द्वितीयान्तेभ्यश्चरत्यर्थे डिन् स्यात्। देवव्रतं चरति देवव्रती। महाव्रती। एते प्रयोगगम्याः। डित्करणं उत्तरत्र सफलम् ॥ **"डकश्चाष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणाम्"** (६।४।८४)। वर्षसंबन्धिनोऽष्टाचत्वारिंशच्छब्दाद्व्रतवृत्तेर्द्वितीयान्ताच्चरतीत्यर्थे डकडिनौ स्याताम्। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षसहितं व्रतमष्टचत्वारिंशत्, तच्चरति अष्टाचत्वारिंशकः। अष्टचत्वारिंशी। **"चातुर्मास्यं तौ य लुक् च"** (६।४।८५) अस्माद्व्रतवृत्तेर्द्वितीयान्ताच्चरत्यर्थे डकडिनौ स्यातां, यलोपश्च स्यात्। चतुर्षु मासेषु भवानि "यज्ञे ञ्यः" (६।३।१३४) इति ञ्ये चातुर्मास्यानि नाम यज्ञाः, तत्सहचरितानि व्रतानि चरति चातुर्मासकः चातुर्मासी ॥ **"क्रोशयोजनपूर्वाच्छतायोजनाच्चाऽभिगमार्हे"** (६।४।८६) क्रोशपूर्वाद्योजनपूर्वाच्च शताद्योजनाच्च (निर्देशादेव) पञ्चम्यन्तादभिगमार्हेऽर्थे इकण् स्यात्। क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिको मुनिः। एवं यौजनशतिकः यौजनिकः। **"तद्यात्येभ्यः"** (६।४।८७)। द्वितीयान्तेभ्य एभ्यो यातीत्यर्थे इकण्। क्रोशशतं याति क्रौशशतिको दूतः। एवं यौजनशतिकः यौजनिकः। **पथिक** इति–**"पथ इकट्"** (६।४।८८) अस्माद्द्वितीयान्ताद्यातीत्यर्थे इकट् स्यात्। पन्थानं याति पथिकः, पथिकी। द्वौ पन्थानौ याति द्विपथिकः। कटमकृत्वा इकट्वचनं परत्वात्समासान्ते कृतेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ **पान्थ** इति–**"नित्यं णः पन्थश्च"** (६।४।८९) नित्यमिति प्रत्ययार्थविशेषणम्। अस्माद्द्वितीयान्तान्नित्यं यातीत्यर्थे णः स्यात्, पन्थादेशश्चास्य। नित्यं पन्थानं याति पान्थः, पान्था स्त्री। द्वौ पन्थानौ याति द्वैपन्थः, द्वैपन्था ॥

---

१ व्यवहरतिरयमस्ति विनिमये–यथा शतं व्यवहरति शतस्य व्यवहरति इति। अस्ति विवादे यथा व्यवहारे पराजित इति। अस्ति विक्षेपे यथा शलाकां व्यवहरति। अस्ति क्रियातत्त्वे–यथा लौकिको व्यवहार इति। अत्र क्रियातत्त्वरूपस्यार्थस्य ग्रहणं प्रत्ययान्तादविपरीतस्वरूपक्रियानुष्ठातुः प्रतिपत्त्यर्थम्।

आदिशब्दोपादानात् **"शङ्कूत्तरकान्ताराजवारिस्थलजङ्गलादेस्तेनाहृते च"** (६।४।९०)। एतत्सप्तपूर्वात्तृतीयान्तात्पथिन्शब्दादाहृते याति चार्थे इकण् स्यात् । शङ्कुपथेनाहृतो याति वा शाङ्कुपथिकः । एवं औत्तरपथिकः, कान्तारपथिकः, आजपथिकः, वारिपथिकः, स्थालपथिकः, जाङ्गलपथिकः ॥ **"स्थलादेर्मधुकमरिचेऽण्"** (६।४।९१) । स्थलपूर्वात्पथिन्नन्तात्तृतीयान्तादाहृतेऽर्थेऽण् स्यात्, तच्चेदाहृतं मधुकं मरिचं वा स्यात् । स्थालपथम्, अन्यत् स्थालपथिकम् । **"तुरायणपारायणं यजमानाऽधीयाने"** (६।४।९२) । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यामनयोरर्थयोरिकण् स्यात् । तुरायणं नाम यज्ञस्तं यजते तौरायणिकः । पारायणमधीते पारायणिकः । **"संशयं प्राप्ते ज्ञेये"** (६।४।९३) । द्वितीयान्तादस्मात्प्राप्ते इकण् स्यात्, स चेत्प्राप्तोऽर्थो ज्ञेयः स्यात् । संशयं प्राप्तः सांशयिकः । सांशयिकोऽयमूर्ध्वो न जाने स्थाणुरुत पुरुषो वेति । ज्ञेय इति किम्? संशयितरि माभूत्-सोऽपि संशयं प्राप्तो भवति, तस्य तत्र भावात् ॥ **"तस्मै योगादेः शक्ते"** (६।४।९४) । एभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यः शक्तेऽर्थे इकण् स्यात् । योगाय शक्तः यौगिकः । योग, सन्ताप, सन्नाह, सङ्ग्राम, संयोग, संपराय, सङ्घात, सम्पाद, सम्पादन, सङ्क्रम, १० सम्पेष, संवेश, सम्मोहन, निष्पेष, निःसर्ग, निर्घोष, निसर्ग, विसर्ग, उपसर्ग, प्रवास, २० उपवास, सक्तु, मांस, ओदन, मांसौदन, सक्तुमांसौदन, २६ इति योगादयः षड्विंशतिः ॥ **"योगकर्मभ्यां योऽकञौ"** (६।४।९५) । आभ्यां चतुर्थ्यन्ताभ्यां शक्तेऽर्थे यथाक्रमं एतौ स्याताम् । योगाय शक्तो योग्यः । कर्मणे शक्तं कार्मुकम् । एवं योगशब्दस्य द्वैरूप्यम् ॥ **"यज्ञानां दक्षिणायाम्"** (६।४।९६) । एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्योऽस्मिन्नर्थे इकण् स्यात् । यज्ञकर्मकृतां वेतनादानं दक्षिणा । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी । वाजपेयिकी, राजसूयिकी, नावयज्ञिकी, पाञ्चौदनिकी, ऐकादशाहिकी, द्वादशाहिकी, द्वैवाजकोपेयिकी । बहुवचनं स्वरूपविधिव्युदासार्थम् ॥ **"तेषु देये"** (६।४।९७) । सप्तम्यन्तेभ्यो यज्ञेभ्यो देये इकण् स्यात् । अग्निष्टोमे देयं आग्निष्टोमिकं भक्तम् ॥ **"काले कार्ये च भववत्"** (६।४।९८) । सप्तम्यन्तात्कालवाचिनो देये कार्ये च भववत्प्रत्ययाः स्युः । वत्सर्वसादृश्यार्थः, ततो याभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषेण भवेऽर्थे प्रत्ययाः स्युस्ताभ्यस्तेन विशेषेण देये कार्ये चार्थे त एव प्रत्ययाः स्युः । यथा वर्षासु भवं वार्षिकम्, मासिकम्, नैशं नैशिकम्, चिरत्नं चिरन्तनम्, हैमन्तं हैमनम् । एवं वर्षासु देयं कार्यं वा वार्षिकमित्यादि । प्रत्ययस्य भावोऽत्रातिदिश्यते नाभाव इति द्विगोः परस्य लुप् न भवति । द्वयोर्मासयोर्देयं कार्यं वा द्वैमासिकम् ॥ **"व्युष्टादिष्वण्"** (६।४।९९) । एभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो देये कार्ये चार्थेऽण् स्यात् । व्युष्टे देयं कार्यं वा वैयुष्टम्, नैत्यम् । व्युष्टसाहचर्यान्नित्यशब्दः कालवाची गृह्यते, ततः "कालाध्वनोः" (२।२।४२) इति सप्तम्यपवादेन द्वितीया, नित्यं देयं कार्यं चेति द्वितीयान्तादेव प्रत्ययः । अन्ये तु सप्तम्यन्तादपीच्छन्ति–नित्ये विषुवति षड्भिश्चराचरैः मुहूर्तैरनाक्रम्यमाणे देयं कार्यं वा नैत्यम् । व्युष्ट, नित्य, निष्क्रमण, प्रवेशन, तीर्थ, संग्राम, संघात, अग्निपद, पीलुमूल, प्रवास, उपवास, इति व्युष्टादय एकादश । बहुवचनादाकृतिगणोऽयम् ॥ **"यथाकथाचाण्णः"** (६।४।१००) । यथाकथाचशब्दोऽव्ययसमुदायोऽनादरेणेत्यर्थे, तस्माद्देये कार्ये णः स्यात् । यथाकथाच दीयते याथाकथाचम् । याथाकथाचा दक्षिणा ॥ **"तेन हस्ताद्यः"** (६।४।१०१) तृतीयान्तात् हस्तात् देये कार्ये चार्थे यः स्यात् । हस्तेन देयं कार्यं वा हस्त्यम् ॥ **"शोभमाने"** (६।४।१०२) तृतीयान्तादस्मिन् अर्थे इकण् स्यात् । कर्णवेष्टकाभ्यां शोभते कार्णवेष्टकिकं मुखम् । असमर्थनञ्समासोऽप्यत्र स्यात्–कर्णवेष्टकाभ्यां न शोभते अकार्णवेष्टकिकम् ॥ **"कर्मवेषाद्यः"** (६।४।१०३) । आभ्यां तृतीयान्ताभ्यामुक्तेऽर्थे यः स्यात् । कर्मणा शोभते कार्मण्यं शौर्यम् । वेषेण शोभते वेष्यो नटः ।

प्राग्वन्नञ्समासोऽपि–अकर्मण्यः, अवेष्यः । केचिद्वेषस्थाने वेशं पठन्ति–वेश्या नर्त्तकी ॥ **"कालात्परिजय्यलभ्यकार्यसुकरे"** (६।४।१०४) । तृतीयान्तात्कालविशेषादेषु चतुःष्वर्थेषु इकण् स्यात् । तत्र परितो जेतुं शक्यं परिजय्यम् । शक्ते कृत्यः, लभ्यकार्ययोः शक्तेऽर्हे वा । अकृच्छ्रेण क्रियते यत्तत्सुकरम् । मासेन परिजय्यो मासिको व्याधिः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः ॥ **"आह्निकमिति"–"निर्वृत्ते"** (६।४।१०५) । तृतीयान्तात्कालान्निर्वृत्तेऽर्थे इकण् स्यात् । अह्ना निर्वृत्तं आह्निकम् । एवं मासिकं सांवत्सरिकम् ।

इत्यादिशब्दनिर्देशाच्च **"तं भाविभूते"** (६।४।१०६) । द्वितीयान्तात्कालाद्भाविनि भूते चार्थे इकण् स्यात् । स्वसत्ता व्याप्स्यमानः कालो भावी, व्याप्तो भूतः । मासं भावी मासिकः उत्सवः । मासं भूतो मासिको व्याधिः ॥ **"तस्मै भृताऽधीष्टे च"** (६।४।१०७) । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तात्कालात् भृतेऽधीष्टे चार्थे इकण् स्यात् । भृतो वेतनेन क्रीतः । अधीष्टः सत्कृत्य व्यापारितः । मासाय भृतः मासिकः किङ्करः–मासं कर्मणे भृत इत्यर्थः । मासाय अधीष्टः मासिक उपाध्यायः–मासमध्ययनायाधीष्ट इत्यर्थः । एवं वार्षिक इत्यादि । चकारोऽनन्तरोक्तसूत्रत्रयस्याप्युत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः ॥ **"षण्मासाद्वयसि ण्येकौ"** (६।४।१०८) । अस्माद्वयसि गम्येऽनन्तरोक्तसूत्रत्रयविषये ण्येकौ स्याताम् । षड्भिर्मासैर्निर्वृत्तः, षण्मासान् भावी, भूतो वा, षड्भ्यो मासेभ्यो भृतोऽधीष्टो वा, षाण्मास्यः, षाण्मासिकः । अवयसीति किम्? षण्मासान् भूतः षण्मास्यः–"षण्मासाद्यण्णिकण्" (६।४।११५) इति यः ॥ **"समाया ईनः"** (६।४।१०९) । समाशब्दान्निर्वृत्ताद्यर्थपञ्चकविषये ईनः स्यात् । समया निर्वृत्तः, समां भूतो भावी वा, समायै भृतोऽधीष्टो वा समीनः । **"रात्र्यहः संवत्सराच्च द्विगोर्वा"** (६।४।११०) । रात्र्यादित्रयान्तात्समासान्ताच्च द्विगोर्निर्वृत्तादिपञ्चकविषये ईनो वा स्यात् । द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तो द्वे रात्री भूतो भावी वा, द्वाभ्यां रात्रिभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्विरात्रीणः । एवं द्व्यहीनः, द्विसंवत्सरीणः, द्विसमीनः । पक्षे इकण्–द्वैरात्रिकः, द्वैयह्निकः ॥ द्वैयह्निक इति तु द्व्यहश्शब्दात् समाहारद्विगोरिकणि भवति । द्विसांवत्सरिकः–"मानसंवत्सर०" (७।४।१९) इत्यादिनोत्तरपदवृद्धिः । द्वैसमिकः । रात्र्यन्तादहरन्ताच्च परमपि समासान्तं[1] बाधित्वा[2]ऽनवकाशत्वादीन एव भवति, तथा च समासान्तसन्नियोगे उच्यमानः "सर्वांशसङ्ख्याऽव्ययात्" (७।३।११८) इत्यह्नादेशो न भवति । समासान्तात्पूर्वेण नित्ये प्राप्ते शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पः ॥ **"वर्षादश्च वा"** (६।४।१११) । कालवाचिवर्षशब्दान्ताद्विगोः प्रागुक्तपञ्चकविषयेऽकारश्चकारादीनश्च वा स्यात्, पक्षे इकण् । एवं त्रैरूप्यम् । द्वाभ्यां वर्षाभ्यां निर्वृत्तो द्वौ वर्षौ द्वे वर्षे वा भूतो भावी वा, द्वाभ्यां वर्षाभ्यां भृतोऽधीष्टो वा द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः "सङ्ख्याधिकाभ्यां वर्षस्याभाविनि" (७।४।१८) इत्युत्तरपदवृद्धिः । भाविनि तु प्रतिषेधात् द्वैवर्षिकः ॥ **"प्राणिनि भूते"** (६।४।११२) कालवाचिवर्षशब्दान्ताद्विगोर्भूते अः स्यात्, स चेद्भूतः प्राणी स्यात् । द्वे वर्षे भूतो द्विवर्षो दारकः । त्रिवर्षो वत्सः । प्राणिनीति किम्? द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः सरकः । भूत इति किम्? शेषेष्वर्थेषु पूर्वेण विकल्प एव । एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थो विधिः । **"मासाद्वयसि यः"** (६।४।११३) । मासान्ताद्विगोर्भूतेऽर्थे यः स्यात्, वयसि गम्ये । द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः । वयसीति किम्? द्वैमासिको व्याधिः । **"ईनश्च"** (६।४।११४) । द्विगोरिति निवृत्तं योगविभागात् । मासशब्दात्

---

१ रात्रिशब्दात् 'सङ्ख्यातैक'–इत्यनेन प्राप्तम्, अहस्तु 'सर्वांश०' इत्यनेन । २ अन्यथा रात्र्यन्ताहरन्ताभावान्न भवति । एकदेशेऽप्यपि नोपतिष्ठते, न्यायानामनित्यत्वात् ।

भूतेऽर्थे ईनञ् चकाराद्यश्च स्यात्, वयसि गम्ये । मासं भूतो मासीनो मास्यो दारकः । ञकारो वृद्धिहेतुत्वेन पुंवद्भावाभावार्थः—मासीना स्वसाऽस्य मासीनास्वसृकः । "**षण्मासाद्ययणिकण्**" (६।४।११५) । अस्माद्भूतेऽर्थे एते स्युः, वयसि गम्ये । षण्मासात् भूतः षण्मास्यः । "**सोऽस्य ब्रह्मचर्यतद्वतोः**" (६।४।११६) प्रथमान्तात्कालवाचिनः षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, तच्चेद्ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारी वा स्यात् । मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्द्धमासिकम्, सांवत्सरिकम् । मासोऽस्य ब्रह्मचारिणो मासिको ब्रह्मचारी (मासं ब्रह्मचर्यमस्येत्यर्थः) "**प्रयोजनम्**" (६।४।११७) । प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात्, तच्चेत्प्रयोजनं स्यात् । प्रयोजनं प्रयोजकं प्रवर्त्तकं जनकमुत्पादकम् । जिनमहः प्रयोजनमस्य जैनमहिकम्, दैपोत्सविकं गानम् । "**एकागाराच्चौरे**" (६।४।११८) । एकमगारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः, ऐकागारिकी । चौरे नियमनात् एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति वाक्यमेव ॥ "**चूडादिभ्योऽण्**" (६।४।११९) । प्रागुक्तार्थे । चूडा प्रयोजनमस्य चौडं श्राद्धम् (चूला चौलम् । उपनयनम् औपनयनम् । श्रद्धा श्राद्धम्) । एते प्रयोगगम्याः । "**विशाखाषाढान्मन्थदण्डे**" (६।४।१२०) । आभ्यामुक्तार्थेऽण् स्यात्, यथाक्रमं मन्थे दण्डे चाभिधेये । मन्थो विलोडनं दण्डो वा, विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढा आषाढे आषाढाः प्रयोजनमस्य आषाढो दण्डः ॥ "**उत्थापनादेरीयः**" (६।४।१२१) यथोक्तार्थे । उत्थापनं प्रयोजनमस्य उत्थापनीयः । उत्थापन, उपस्थापन, अनुप्रवचन, अनुवाचन, अनुवदन, अनुवादन, अनुपान, अनुवासन, आरम्भण, समारम्भण, इत्युत्थापनादयो दश ॥ "**विशिरुहिपदिपूरिसमापेरनात्सपूर्वपदात्**" (६।४।१२२) । अनप्रत्ययान्तेभ्य एभ्यः पञ्चभ्यः सपूर्वपदेभ्यो यथोक्तार्थे ईयः स्यात् । गृहप्रवेशनं प्रयोजनमस्य गृहप्रवेशनीयं गानमुत्सवादिकं वा, एवं संवेशनीयम् । प्रासादारोहणीयम्, आरोहणीयम्, अश्वप्रपदनीयम्, प्रपापूरणीयम्, अङ्गसमीपनीयम्, व्याकरणसमीपनीयम् ॥ "**स्वर्गस्वस्तिवाचनादिभ्यो यलुपौ**" (६।४।१२३) । स्वर्गादिभ्यः स्वस्तिवाचनादिभ्यश्चोक्तार्थे यथासङ्ख्यं यप्रत्ययो लुप् च स्याताम् । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम्, यशस्यम्, आयुष्यम्, काम्यम्, धन्यम्, स्वस्तिवाचनादिभ्य इकणो लुप्—स्वस्तिवाचनं प्रयोजनमस्य स्वस्तिवाचनम्, शान्तिवाचनम्, । एते उभयेऽपि प्रयोगगम्याः । गणद्वयोपादानाद्वचनभेदेऽपि यथासङ्ख्यम् ॥ "**समयात्प्राप्तः**" (६।४।१२४) । सोऽस्येत्यनुवर्त्तते । अस्मात्प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकण् स्यात् । स चेत्प्रथमान्तः प्राप्तः स्यात् । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकं कार्यम्, उपनतकालमित्यर्थः ॥ "**ऋत्वादिभ्योऽण्**" (६।४।१२५) । उक्तार्थे । ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्त्तवं पुष्पम् । उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम् [उपोषितपारणके यद्भक्ष्यद्रव्यं तदौपवस्त्रम् । यद्वैदिकम्—'माषाण्मधुमसूरांश्च वर्जयेदौपवस्त्रके' पुरुषस्तूपवस्ता] । एते प्रयोगगम्याः ॥ "**कालाद्यः**" (६।४।१२६) । उक्तार्थे । कालः प्राप्तोऽस्य काल्यो मेघः ॥ "**दीर्घः**" (६।४।१२७) । स चेत्कालो दीर्घः स्यात्तदास्मादुक्तार्थे इकण् स्यात् । दीर्घः कालोऽस्य कालिकमृणम् । कालिकी संपत् । योगविभागादधिकृत इकण् ॥ "**आकालिकमिकश्चाद्यन्ते**" (६।४।१२८) । इकान्तमिकणान्तं चैतन्निपात्यते । आकालशब्दाद्भवत्यर्थे एतौ स्यातामित्यर्थः । आदिरेव यद्यन्तः स्यात्—यस्मिन्काले यत्प्रवृत्तमनध्यायादि, तस्मिन्नेव काले प्रत्यावृत्ते यदि तदुपरमेत । उत्पत्तिक्षण एव वा यद्विनश्यति तस्यादिरेवान्तः स्यात् । आकालं भवति आकालिकोऽनध्यायः—पूर्वेद्युर्यस्मिन्काले तृतीये चतुर्थे वा यामे प्रवृत्तः, पुनरपरेद्युरपि आ तस्मात्कालाद्भवन्नाकालिकोऽनध्याय उच्यते (आकालिका आकालिकी वा वृष्टिः) । इकेकणोः स्त्रियां विशेषः । आकालिका आकालिकी वा विद्युत्—आजन्मकालमेव भवन्ती जन्मानन्तरविनाशिनीत्यर्थः । एवं द्वेधाप्यादिरेवान्तो भवति । निपातनमाद्यन्ते चेति द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थम्, अथवा

निपातनस्येष्टविषयत्वादाद्यन्तयोर्वर्त्तमानात्समानकालात्प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकेकणौ, अस्य चाकालादेशः समानकालावाद्यन्तावस्याऽकालिकोऽनध्यायः । आकालिकी आकालिका विद्युत् । समानकालता चाद्यन्तयोः प्राग्वद्वेदितव्या ॥ ७२ ॥

मूल्यैः क्रीते ॥ ७३ ॥ [सि० ६।४।१५०]

मूल्यार्थाद्वृत्तान्तात्क्रीतेऽर्थे इकणादयः स्युः । प्रास्थिकम् ॥ ७३ ॥

"मूल्यैः०" । पदान्तादिति तृतीयान्तादित्यर्थः । प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकं इति–एवं सप्तत्या साप्ततिकं आशीतिकं नैष्किकं पाणिकं पादिकं त्रिंशकं विंशकं शत्यं शतिकम् । मूल्यैरिति किम् ? देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम् । वृत्तौ सङ्ख्याविशेषानवगमाद्द्विवचनबहुवचनान्तान्न भवति–प्रस्थाभ्यां प्रस्थैर्वा क्रीतमिति । यत्र तु सङ्ख्याविशेषावगमे प्रमाणमस्ति तत्र भवत्येव–द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, द्वाभ्यां प्रस्थाभ्यां क्रीतं द्विप्रस्थम्, यथा वा मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषिकम् । नह्येकेन मुद्गेन माषेण वा क्रयः सम्भवति ॥

आदिशब्दोपादानात् **"तस्य वापे"** (६।४।१५१) । षष्ठ्यन्ताद्वापेऽर्थे यथाविधि इकणादयः स्युः । उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम्, प्रस्थस्य वापः प्रास्थिकम्, द्रौणिकम्, मौद्गिकम्, शत्यम्, शतिकम्, खारीकम् । **"वातपित्तश्लेष्मसन्निपाताच्छमनकोपने"** (६।४।१५२) । एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः शमने कोपने चार्थे इकण् स्यात् । शाम्यति येन तच्छमनम्, कुप्यति येन तत्कोपनम्, वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम् । पैत्तिकं श्लैष्मिकं सान्निपातिकम् । पथ्यमपथ्यं वा द्रव्याद्येवमभिधीयते, प्रकरणात्तु विशेषगतिः । **"हेतौ संयोगोत्पाते"** (६।४।१५३) षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, योऽसौ हेतुः स चेत् संयोग उत्पातो वा स्यात् । हेतुर्निमित्तम्, संयोगः संबन्धः । प्राणिनां शुभाशुभसूचको महाभूतपरिणाम उत्पातः । शतस्य हेतुरीश्वरसंयोगः शत्यः, शतिकः, साहस्रः । सोमग्रहणस्य हेतुरुत्पातः सौमग्रहणिको भूमिकम्पः । सांग्रामिकमिन्द्रधनुः । सौभिक्षिकः परिवेषः । शतस्य हेतुर्दक्षिणाक्षिस्पन्दनं शत्यं शतिकम् । साहस्रम् । **"पुत्राद्येयौ"** (६।४।१५४) पुत्रस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा पुत्र्यः, पुत्रीयः । **"द्विस्वरब्रह्मवर्चसाद्योऽसङ्ख्यापरिमाणाश्वादेः"** (६।४।१५५) । सङ्ख्यापरिमाणाश्वादिवर्जाद्द्विस्वरान्नाम्नो ब्रह्मवर्चसशब्दाच्च षष्ठ्यन्ताद्धेतावर्थे यः स्यात्, स चेद्धेतुः संयोग उत्पातो वा स्यात् । इकणादीनामपवादः । धनस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा धन्यः । यशस्यः, आयुष्यः, वात्या विद्युत् । ब्रह्मवर्चसस्य हेतुः संयोग उत्पातो वा ब्रह्मवर्चस्यः । कथं गोर्हेतुः संयोग उत्पातो वा गव्यः द्विस्वराभावात् ? उच्यते "गोः स्वरे यः" (६।१।२७) इति भवति । ब्रह्मवर्चसग्रहणमद्विस्वरार्थम् । सङ्ख्यादिवर्जनं किम् ? पञ्चानां हेतुः संयोग उत्पातो वा पञ्चकः । प्रास्थिकः । खारीकः । "ऊर्ध्वं मानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात् सङ्ख्या-बाह्या तु सर्वतः" ॥ १ ॥ एवं आश्विकः, गाणिकः । अश्व, गण, वसु, वस्त्र, ऊर्णा, उमा, भङ्गा, वर्षा, (अश्मन् ?) इत्यश्वादयोऽष्टौ ॥ **"पृथिवीसर्वभूमेरीशज्ञातयोश्चाञ्"** (६।४।१५६) । आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां ईशज्ञातयोरर्थयोस्तस्य हेतुः संयोग उत्पात इत्यस्मिन् विषये चाञ् स्यात् । ईशः स्वामी । पृथिव्या ईशः पार्थिवः, सर्वभूमेः सार्वभौमः, सर्वभूमेरनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । पृथिव्या ज्ञातः पार्थिवः–कर्त्तरि षष्ठीसंबन्धविवक्षायां वा । एवं सार्वभौमः । पृथिव्या हेतुः संयोग उत्पातो वा पार्थिवः । एवं सार्वभौमः । ईशज्ञातयोरिति द्विवचनं हेतुविशेषणत्वशङ्काव्यवच्छेदार्थम् । (हेतुविशेषणत्वे संयोग उत्पात ईशज्ञातेत्यर्थचतुष्टयं विज्ञायते ततश्च स तद्धेतुः संयोग उत्पात ईशो ज्ञातो वा भवतीत्यर्थः स्यात्) । **"लोकसर्वलोकात् ज्ञाते"** (६।४।१५७) । औत्सर्गिक इकण् स्यात् ।

लोकस्य ज्ञातः लौकिकः । एवं सार्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः ॥ **"तदत्रास्मै वा वृद्ध्यायलाभोपदाशुल्कं देयम्"** (६।४।१५८) । प्रथमान्तात्सप्तम्यर्थे चतुर्थ्यर्थे वा यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, यत्प्रथमान्तं तच्चेत् वृद्ध्यादिकं स्यात् ॥ तत्र अधमर्णेनोत्तमर्णाय गृहीतधनातिरिक्तं देयं वृद्धिः । ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भाग आयः । पटादीनामुपादानमूल्यातिरिक्तं प्राप्तं द्रव्यं लाभः । उपदा उत्कोचः, लंच उत्कोट इति यावत् । वणिजां रक्षानिर्वेशो राजभागः शुल्कम् ॥ पञ्चास्मिन् शते वृद्धिः पञ्चकं शतम् । पञ्चास्मिन् ग्रामे आयः पञ्चको ग्रामः । पञ्चास्मिन् पटे लाभः पञ्चकः पटः । पञ्चास्मिन् व्यवहारे उपदा पञ्चको व्यवहारः । पञ्चास्मिन् शते शुल्कं पञ्चकं शतम् । एवं शत्यं शतिकम् ॥ पञ्चास्मै देवदत्ताय वृद्ध्यादिकं देयं पञ्चको देवदत्तः । एवं शत्यः शतिकः साहस्रः प्रास्थिकः ॥ वृद्ध्यादिग्रहणं किम् ? पञ्च मूल्यमस्मिन्नस्मै वा दीयते ॥ **"पूरणार्द्धादिकः"** (६।४।१५९) पूरणप्रत्ययान्तादर्द्धशब्दाच्च प्रथमान्तादस्मिन्नस्मै वा दीयते इत्यर्थयोरिकः प्रत्ययः स्यात्, यत्प्रथमान्तं तद्वृद्ध्यादि चेद्भवति । इकणिकटोरपवादः (पूरणप्रत्ययान्तेभ्य पूर्वेणेकण्, अर्द्धात्तु 'कंसार्द्धात्' इतीकट्) । द्वितीयमस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादिकं देयं द्वितीयिकः । तृतीयिकः, पञ्चिकः, षष्ठिकः अर्द्धं. अर्द्धिकः, अर्द्धिका स्त्री । अर्द्धशब्दो रूपकार्द्धे रूढः ॥ **"भागाद्येकौ"** (६।४।१६०) । तथैव । इकणोऽपवादौ । भागोऽस्मिन्नस्मै वा वृद्ध्यादीनामन्यतमं देयं भाग्यः, भागिकः, भागिका स्त्री । भागशब्दोऽपि रूपकार्द्धस्य वाचकः ॥ **"तं पचति द्रोणाद्वाऽञ्"** (६।४।१६१) । द्वितीयान्ताद्द्रोणशब्दात्पचत्यर्थेऽञ् वा स्यात्, पक्षे इकण् । द्रोणं पचति द्रौणः, द्रौणिकः, द्रौणी, द्रौणिकी, स्थाली गृहिणी वा । द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणी "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इत्यञिकणोर्लुप् । **"सम्भवदवहरतोश्च"** (६।४।१६२) । द्वितीयान्तात्पचत्यर्थे सम्भवदवहरतोश्चार्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकेण धारणं सम्भवः, अतिरेकेणावहारः । प्रस्थं पचति सम्भवति अवहरति वा प्रास्थिकः कटाहः । प्रास्थिकी स्थाली । एवं खारीकः । सम्भवतिरकर्मकः सकर्मकश्च[1] सम्भवति, तत्र सकर्मक इह ग्राह्यः—सम्भवत्यवगृह्णातीत्यर्थः । चकारः पचतः सम्भवदवहरतोः समुच्चयार्थस्तेनोत्तरत्रार्थत्रयस्यानुवृत्तिः ॥ **"पात्राचिताढकादीनो वा"** (६।४।१६३) । एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः पचत्सम्भवदवहरत्स्वर्थेषु ईनः स्यात्—पात्रं पचति सम्भवति अवहरति वा पात्रीणः । पक्षे इकण्—पात्रिकः । पात्रीणा । पात्रिकी स्थाली । आचितीना आचितिकी । आढकीना आढकिकी । पात्रादयस्त्रयोऽपि परिमाणवाचिनः शब्दाः ॥ **"द्विगोरीनेकटौ वा"** (६।४।१६४) पात्राद्यन्ताद्द्विगोर्द्वितीयान्तात्पचदाद्यर्थत्रये इनेकटौ वा स्याताम् । पक्षे इकण्, तस्य च "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इति लुप्, नानयोर्विधानसामर्थ्यात् । द्वे पात्रे पचति सम्भवत्यवहरति वा द्विपात्रीणः द्विपात्रिकः द्विपात्रः; द्विपात्रीणा द्विपात्रिकी द्विपात्री । द्व्याचितीना द्व्याचितिका द्व्याचिता । आचितान्तात् ङीर्न भवति—अविस्ताचितकम्बल्यादिति प्रतिषेधात्—द्व्याढकीना, द्व्याढकिकी, द्व्याढकी । टकारो ङ्यर्थः[2] । **"कुलिजाद्वा लुप् च"** (६।४।१६५) । कुलिजान्ताद्द्विगोर्द्वितीयान्तात्पचदाद्यर्थत्रये ईनेकटौ वा स्याताम्; पक्षे इकण्, तस्य लुप् वा स्यात्; तेन चातूरूप्यं सम्पद्यते । द्वे कुलिजे पचति सम्भवत्यवहरति वा द्विकुलिजीना, द्विकुलिजिकी; पक्षे द्विकुलिजी, द्वैकुलिजिकी । लुपि "परिमाणे०" (२।३।२३) इत्यादिना ङीः । अन्ये तु लुप् विकल्पं न मन्यन्ते, तन्मते त्रैरूप्यमेव ॥ **"वंशादेर्भाराद्धरद्वह-**

---

१ यथा प्रस्थोऽत्र सम्भवति माति नातिरिच्यत इति अकर्म्मकः । प्रस्थमयं सम्भवत्यवगृह्णाति, न निर्वमति नातिरेचयतीति सकर्मकः । २ नञाकर्षणार्थः, तेन चानुकृष्टमित्यस्याप्रवृत्तिः ।

दावहत्सु" (६।४।१६६) । वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्ताद्द्वितीयान्तान्नाम्नो हरति वहति आवहति चार्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । वंशभारं हरति वहति आवहति वा वांशभारिकः ॥ अपरोऽर्थः–भारभूतेभ्यो वंशेभ्यो हरदादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । भारभूतान्वंशान्हरति वहति आवहति वा वांशिकः । कौटिकः । वाल्वजिकः ॥ भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति । हरतिर्देशान्तरप्रापणे चौर्ये वा; वहतिरुत्क्षिप्यधारणे; आवहतिरुपादने । वंश, कुट, कुटज, वल्वज, मूल, स्थूणा, अक्ष, अश्मन्, इक्षु, खट्वा, श्लक्ष्ण, इति वंशादय एकादश ॥ "द्रव्यवस्नात्केकम्" (६।४।१६७) द्रव्यवस्नाभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां वहदादिषु त्रिष्वर्थेषु यथासङ्ख्यं केकौ प्रत्ययौ स्याताम् । द्रव्यं हरति वहति आवहति वा द्रव्यकः । एवं वस्निकः ॥ "सोऽस्य भृतिवस्नांशम्" (६।४।१६८) । स इति प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितमिकणादयः स्युर्यत्प्रथमान्तं तच्चेद् भृतिर्वस्नमंशो वा भवति । तत्र भृतिर्वेतनम्, वस्नो नियतकालक्रयमूल्यम्, अंशो भागः । पञ्चास्य भृतिः पञ्चकः कर्मकरः । पञ्चास्य वस्नं पञ्चकः पटः । पञ्चास्यांशाः पञ्चकं नगरम् ॥ एवं सप्तकः, अष्टकः, शत्यः, शतिकः, साहस्रः, प्रास्थिकः ॥ ७३ ॥

मानम् ॥ ७४ ॥ [सि० ६।३।१६९]

अस्मात्प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे इकणादयः स्युः । द्रोणो मानमस्य द्रौणिको राशिः ॥ ७४ ॥

"मानम्" अस्मादिति मानवाचिनः । मीयते येन तन्मानं प्रस्थद्रोणादि, संख्यापि च । द्रोणो मानमस्य द्रौणिको राशिरिति–एवं प्रास्थिकः, खारीकः, खारीशतिकः खारीसाहस्रिकः । वर्षशतं वर्षसहस्रं मानमस्य वार्षशतिको वार्षसाहस्रिको देवदत्तः । पञ्च लोहितानि पञ्च लोहिन्यो वा मानमस्य पाञ्चलोहितिकम्, पाञ्चकलायिकम्, अनयोः संज्ञाशब्दत्वात् "अनाम्न्यद्विः प्लुब्०" (६।४।१४१) इति लुब् न भवति । मासो वर्षं मानमस्येत्यादौ तु प्रत्ययो न स्यात्–मानग्रहणेन कालस्याग्रहणात्तदपि "मानसंवत्सरस्य०" (७।४।१९) इत्यादौ मानग्रहणे सत्यपि संवत्सरग्रहणात् ॥

अत्रादिशब्दग्रहणात् "जीवितस्य सन्" (६।४।१७०) । जीवितस्य यन्मानं ततः प्रागुक्तार्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, स च सन्, तस्य "अनाम्न्यद्विःप्लुबि"ति लुप् प्राप्ता न भवतीत्यर्थः । षष्टिर्जीवितमानमस्य षाष्टिकः । साप्ततिकः, वार्षशतिकः, वार्षसाहस्रिकः । द्वे षष्टी जीवितमानमस्य द्विषाष्टिकः, त्रिषाष्टिकः, द्विवार्षशतिकः, द्विवार्षसाहस्रिकः । वृत्तौ वर्षशब्दलोपात्षष्ठ्यादयो जीवितमानं भवति–यथा शतायुर्वै पुरुष इति ॥ प्रास्थिक इत्यादौ व्रीह्यादय एव मेयास्त एव प्रत्ययार्थोऽत्र तु जीवितं मेयम्, पुरुषस्तु प्रत्ययार्थ इति "मानमिति" सूत्रेण न सिद्ध्यतीति वचनं लुबभावार्थं च ॥ "सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्रपाठे" (६।४।१७१) । सङ्ख्यावाचिनः प्रथमान्तादस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, यत्तदस्येति निर्दिष्टम्, तच्चेत्सङ्घः सूत्रं पाठो वा स्यात् । सङ्घः प्राणिनां समूहः । सूत्रं शास्त्रग्रन्थः । पाठोऽधीतिरध्ययनम् । पञ्च गावो मानमस्य पञ्चकः सङ्घः । सप्तकः ॥ अष्टावध्याया मानमस्य अष्टकं पाणिनीयं सूत्रम् । दशकं वैयाघ्रपदीयम् । शतकं निदानम् । अष्टौ रूपाणि वारा मानमस्याष्टकः पाठोऽधीतः–"सङ्ख्याडतेः०" (६।४।१३०) इति कः । सङ्घादाविति किम् ? पञ्च वर्णा मानमस्य पञ्चतयं पदम् । इदं न सङ्घो न सूत्रं न पाठ इति को न भवति, अपि तु तयडेव । एवं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, पञ्चादीनां सङ्ख्येयानामवयवतया सङ्घादेर्मानत्वान्मानमित्यनेनैव सिद्ध्यति, परत्वात्तु तयट् प्राप्नोति, तद्बाधनार्थं वचनम् । न चातिप्रसङ्गः–[सङ्घे वाच्ये क एवेति] अभेदरूपापन्ने सङ्घादौ तयटो बाधनार्थमिदम् । भेदरूपापन्ने तु तयडेव–चतुष्टये ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा इति ।

स्याद्वादात्तु भेदाभेदसम्भव इति ॥ "नाम्नि" (६।४।१७२) । सङ्ख्यावाचिनस्तदस्य मानमित्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्, समुदायश्चेन्नाम भवति । पञ्चेति सङ्ख्या मानमेषां पञ्चकाः शकुनयः । त्रिकाः शालङ्कायनाः । सप्तका ब्रह्मवृक्षाः । अष्टका राजर्षयः । योगविभागात्संज्ञायां पञ्चैव पञ्चकास्त्रय एव त्रिका इति स्वार्थ एव वा प्रत्ययः स्यात् ॥ ७४ ॥

विंशत्यादयः ॥ ७५ ॥ [सि० ६।४।१७३]

एते निपात्यन्ते । द्वौ दशतौ मानमेषां विंशतिः । एवं त्रिंशदादयः । "पञ्चद्दशद्वर्गे" वा (६।४।१७५) । पञ्चद्दशत्पञ्चको दशको वा वर्गः ॥ ७५ ॥

"विंश०" । एते निपात्यन्ते इति—नाम्नि विषये, तदस्य मानमित्यर्थे इति शेषः । विंशतिरिति सङ्ख्येयविवक्षया विंशतिर्घटाः, सङ्ख्यानविवक्षया विंशतिर्घटानामिति । द्वेर्दशदर्थे विंभावः शतिश्च प्रत्ययः । एवं त्रिंशदादय इति—त्रयो दशतो मानमेषां सङ्ख्येयानामस्य वा सङ्ख्यानस्य त्रिंशत् । एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । "आ दशभ्यः सङ्ख्या सङ्ख्येय एव, विंशतेः प्रभृति च सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्याने चेति त्रेस्त्रिंभावः शत्प्रत्ययः । चतुरश्चत्वारिंभावः शत्प्रत्ययः—चत्वारो दशतो मानमेषामिति चत्वारिंशत् । पञ्चन आत्वं च, पञ्च दशतो मानमेषां पञ्चाशत् । षषस्तिः षष् च, षट् दशतो मानमेषां षष्टिः । सप्तनस्तिः सप्त दशतो मानमेषां सप्ततिः । अष्टनोऽशीश्च, अष्ट दशतो मानमेषामशीतिः । नवनस्तिः, नव दशतो मानमेषां नवतिः । दशनः शभावस्तश्च प्रत्ययः, दश दशतो मानमेषां सङ्ख्येयानामस्य वा सङ्ख्यानस्य शतं घटा घटानां वा । एवं दश शतानि मानमेषां सङ्ख्येयानामस्य वा सङ्ख्यानस्य सहस्रम् । एवं दशसहस्राण्ययुतम् । दशायुतानि नियुतम् । दश नियुतानि प्रयुतम् । दश प्रयुतान्यऽर्बुदम् । दशार्बुदानि न्यर्बुदम् । बहुवचनाल्लक्षकोटिखर्वनिखर्वादयो भवन्ति [दशायुतानि लक्षम्, दश प्रयुतानि कोटिः, दशाब्जानि खर्वम्, दश खर्वाणि निखर्वम्,] । यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम् । लिङ्गसङ्ख्यानियमश्च विंशत्याद्याशतादिति सिद्धः ॥

अत्रादिशब्दोपादानात् "त्रैंशं चात्वारिंशम्" (६।४।१७४) नाम्नि विषये एतौ डण्प्रत्ययान्तौ निपात्येते । त्रिंशदध्याया मानमेषां त्रैंशानि, चात्वारिंशानि कानिचिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते । "पञ्च०" तदस्य मानमित्यस्मिन्विषये वर्गे अभिधेये डत्प्रत्ययान्तौ तौ वा निपात्येते, पक्षे को भवति । पञ्च मानमस्य पञ्चत् पञ्चको वा वर्गः । एवं दशत् दशको वा वर्गः ॥

आदिशब्दात् "स्तोमे डट्" (६।४।१७६) सङ्ख्यावाचिनः प्रथमान्तात्तदस्य मानमिति विषये स्तोमेऽभिधेये डट् स्यात् । ऋगादीनां समूहः स्तोमः । पञ्चदश ऋचो मानमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एवं पञ्चविंशः । त्रिंशः । पञ्चदशी पङ्क्तिः । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः । टकारो ङ्यर्थः ॥ ७५ ॥

तमर्हति ॥ ७६ ॥ [सि० ६।४।१७७]

द्वितीयान्तादर्हत्यर्थे इकणादयः स्युः । विषमर्हति वैषिकः । नित्यं *छेदमर्हति छैदिकः । विरागस्य विरङ्गादेशे वैरङ्गिकः । "(दण्डादेर्यः)" (६।४।१७८) । दण्डमर्हतीति दण्ड्यः । अर्घ्यः । क्रीतादयश्चत्वार आर्हदर्थाः—"त्रिंशद्विंशतेर्डकोऽसंज्ञायामार्हदर्थे" (६।४।१२९) त्रिंशता क्रीतो यावत्रिंशतमर्हति त्रिंशकः । "विंशतेस्तेर्डिति" (७।४।६७) । लुक् । विंशकः पटः ॥ ७६ ॥

"तम०" । वैषिक इति–एवं श्वैतच्छत्रिकः, वास्त्रिकः, वास्त्रयुगिकः । भोजनमर्हति पानमर्हतीत्यादावनभिधानान्न भवति । *छेदमित्यादि "छेदादेर्नित्यम्" (६।४।१८२) । नित्यमित्यर्हतीत्यस्य विशेषणम् । एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो नित्यमर्हत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात् । छैदिक इति–एवं भैदिकः । छेद, भेद, द्रोह, दोह, नर्त्त, गोनर्त्त, कर्ष, विकर्ष, प्रकर्ष, विप्रकर्ष, प्रयोग, (विप्रयोग ?) सम्प्रयोग, प्रेक्षण, संप्रयोगप्रेक्षण (?) संप्रश्न, विप्रश्न, इति छेदादयः षोडश ॥ वैरङ्गिक इति–"**विरागाद्विरङ्गश्च**" (६।४।१८३) अस्माद्द्वितीयान्तान्नित्यमर्हत्यर्थे इकण्, विरङ्गादेशश्च । नित्यं विरागमर्हति वैरङ्गिक इति ॥ "**शीर्षच्छेदाद्यो वा**" (६।४।१८४) । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः शैर्षच्छेदिकः ॥ "**दण्डा०**" एभ्यो द्वितीयान्तेभ्योऽर्हत्यर्थे यः स्यात् । दण्ड्यः ।

आदिशब्दात् "**यज्ञादियः**" (६।४।१७९) । अस्मादर्हत्यर्थे इयः स्यात् । यज्ञमर्हति यज्ञियो देशः, यजमानो वा । यज्ञो नाम क्रियासमुदायः, कश्चित्तदभिव्यङ्ग्यं चाऽपूर्वम् । (वा पूर्वम् ?) इत्याहुः । "**पात्रात्तौ**" (६।४।१८०) । ताविति य इय प्रत्ययौ । पात्रमर्हति पात्र्यः पात्रियः । "**दक्षिणाकडङ्गरस्थालीबिलादीययौ**" (६।४।१८१) । एभ्यस्त्रिभ्योऽर्हत्यर्थे एतौ स्याताम् । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो दक्षिण्यो गुरुः । कडङ्गरीयः कडङ्गर्यो गौः, कडङ्गरं माषादिकाष्ठम् । स्थालीबिलीयाः स्थालीबिल्यास्तण्डुलाः, पाकार्हा इत्यर्थः । "**शालीनकौपीनार्त्विजीनम्**" (६।४।१८५) । एते त्रयोऽर्हत्यर्थे ईनञ्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शालाप्रवेशनमर्हति, ईनञ्, प्रवेशनशब्दस्य च लुक्, शालीनोऽधृष्टपर्यायः । कूपप्रवेशनमर्हति कौपीनः, कौपीनशब्दः पापकर्मणि गोपनीयपायूपस्थे तदावरणे च चीवरखण्डे वर्त्तते [उपस्थशब्देन सर्ववस्तूनां मध्यभागोऽभिधीयते इति गुह्यप्रतिपत्त्यर्थं गोपनीयग्रहणम्] । ऋत्विक्शब्दात् ऋत्विक्कर्मशब्दाद्वा ईनञ्, कर्मशब्दलोपश्च निपात्यः, ऋत्विजमर्हति आर्त्विजीनो यजमानः; ऋत्विक्कर्मार्हति आर्त्विजीनः–ऋत्विगेव । *क्रीतादयश्चत्वार इति–उपलक्षणमात्रमेतत्, अन्यथा तेन "मूल्यैः क्रीते" (६।४।१५०) इत्यस्मादारभ्य "तमर्हती"ति सूत्रं यावत् येऽर्थाः "तस्य वापे" (६।४।१५१) "तं पचतिद्रोणा०" (६।४।१६१) इत्यादयस्ते सर्वेऽप्यार्हदर्था ज्ञेयाः । प्रकृतिप्रत्ययविभक्त्यादिनियमस्तु यथासूत्रं ज्ञेयः । "**त्रिंशा०**" आभ्यामार्हदर्थे डकः स्यात्, कापवादः । असंज्ञायामिति किम् ? त्रिंशत्कम् ॥ "**विंशा०**" । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ७६ ॥

सङ्ख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः ॥ ७७ ॥ [सि० ६।४।१३०]

शदन्तत्यन्तष्ट्यन्तवर्जसङ्ख्याया डतेस्त्रिंशद्विंशतिभ्यां चार्हदर्थे कः स्यात् । द्विकं त्रिंशत्कं विंशतिकं कतिकं यावत्कम् । *डतेः पृथग्ग्रहणं त्यन्तप्राप्तनिषेधपरिहाराय । अशत्तिष्टेरिति किम् ? चात्वारिंशत्कम् । साप्ततिकम् । षाष्टिकम् । "**सहस्रशतमानादण्**" (६।४।१३६) । आर्हदर्थे । साहस्रः । शातमानः ॥ ७७ ॥

"सङ्ख्या०" । द्वाभ्यां त्रिंशता विंशत्या कतिभिर्यावद्भिः क्रीतं द्विकमित्यादि । कतियावतोः, "डत्यतु सङ्ख्यावत्" (१।१।३९) इति सङ्ख्यात्वम्, *डतेः पृथग्ग्रहणमित्युपलक्षणम्, तेन अशत्तिष्टेरिति प्रतिषेधे प्राप्ते डतित्रिंशद्विंशतीनामुपादानमित्यपि ज्ञेयम् । चात्वारिंशत्कमिति–एवं पाञ्चाशत्कम्, साप्ततिकम् इति–आशीतिकं, नावतिकं, षाष्टिकम् ॥

आदिशब्दात् "**शतात्केवलादतस्मिन्येकौ**" (६।४।१३१) । अस्मादेतौ स्याताम्, अतस्मिन्–स चेदर्थो वस्तुतः प्रकृत्यर्थादभिन्नो न भवति । शतेन क्रीतं शत्यं शतिकम् । केवलादिति किम् ?

द्युत्तरशतं द्विशतम्, तेन क्रीतं द्विशतकम्। सङ्ख्यादेश्चार्हदलुच इति प्राप्नोति। अतस्मिन्निति किम्? शतं मानमस्य शतकं स्तोत्रम्—अत्रहि प्रकृत्यर्थ एव श्लोकाध्यायशतं प्रत्ययान्तेनाभिधीयते इति, अन्यस्मिंस्तु शते भवत्येव—शतेन क्रीतं शाटकशतं शत्यं शतिकम्॥ **"वातोरिकः"** (६।४।१३२)। अत्वन्तसङ्ख्याया आर्हदर्थे इकः स्यात्, वा। यावता क्रीतं यावतिकं यावत्कम्। तावतिकं तावत्कम्। विधानसामर्थ्यान्नेकरलोपः। **"कार्षापणादिकट् प्रतिश्चास्य वा"** (६।४।१३३)। आर्हदर्थे अस्मादिकट्, अस्य च कार्षापणस्य प्रति इत्यादेशो वा स्यात्। कार्षापणिकं कार्षापणिकी, प्रतिकम् प्रतिकी। चकार आदेशस्य प्रत्ययसन्नियोगशिष्टत्वार्थः, अत एव द्विगोर्लुपि प्रकृत्यादेशो न स्यात्—द्विकार्षापणम्। अस्येति स्थानिप्रतिपत्त्यर्थम्, अन्यथा प्रतिः प्रत्ययान्तरं विज्ञायेत। टकारो ङ्यर्थः। **"अर्द्धात्पलकंसकर्षात्"** (६।४।१३४)। अर्द्धपूर्वात्पलादित्रयादार्हदर्थे इकट् स्यात्। अर्द्धपलिकं अर्द्धपलिकी, अर्द्धकंसिकं २, अर्द्धकर्षिकं २॥ **"कंसार्द्धात्"** (६।४।१३५)। आभ्यामार्हदर्थे इकट् स्यात्। कंसिकं कंसिकी, आर्द्धिकं २। **"सहस्र०"**। अत्रमकृत्वाणिविधानं "नवाण" (६।४।१४२) इत्येवमर्थम्।

अत्र विशेषास्त्वेवम्। **"सूर्पाद्वाऽञ्"** (६।४।१३७)। आर्हदर्थे। इकणोऽपवादः। शौर्पं शौर्पिकम्। शूर्पेण मानविशेषेण क्रीतमित्यर्थः। **"वसनात्"** (६।४।१३८)। अस्मादञ् स्यात्। वसनेन क्रीतं वासनम्। **"विंशतिकात्"** (६।४।१३९)। प्राग्वत्। विंशतिर्मानमस्य विंशतिकम्, तेन क्रीतं वैंशतिकम्। योगविभाग उत्तरार्थः॥ **"द्विगोरीनः"** (६।४।१४०) विंशतिकान्ताद्द्विगोरार्हदर्थे ईनः स्यात्। अञोऽपवादः। विधानसामर्थ्यादस्य लुप् न स्यात्। द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतं द्विविंशतिकीनम्। अध्यर्द्धेन विंशतिकेन क्रीतं अध्यर्द्धविंशतिकीनम्। अर्द्धपञ्चमेन विंशतिकेन क्रीतं अर्द्धपञ्चमविंशतिकीनम्।

अध्यर्द्धार्द्धपञ्चमशब्दयोः सङ्ख्यावद्भावेनात्र द्विगुप्राप्तिस्तत्र च सूत्रपद्धतिरेवम्—**"कसमासेऽध्यर्द्धः"** (१।१।४१)। कप्रत्यये समासे च विधेये अध्यर्द्धशब्दः सङ्ख्यावत् स्यात्। अध्यर्द्धेन क्रीतं अध्यर्द्धकम् "सङ्ख्याडतेः०" इति कः। अध्यर्द्धेन सूर्पेण क्रीतं अध्यर्द्धसूर्पम्—अत्र सङ्ख्यापूर्वत्वेन द्विगुत्वे "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४१) इतीकणो लुप्। कसमास इति किम्? सङ्ख्यादिप्रत्ययविधौ न भवति॥ **"अर्द्धपूर्वपदः पूरणः"** (१।१।४२)। समास एव पूर्वपदोत्तरपदव्यवस्था, ततोऽर्द्धपूर्वपदः पूरणप्रत्ययान्तः शब्दः के प्रत्यये समासे च विधातव्ये सङ्ख्यावत्स्यात्। अर्द्धपञ्चमकम् अर्द्धपञ्चमसूर्पम्॥७७॥

अनाम्न्यऽद्विः प्लुप्॥ ७८॥ [सि० ६।४।१४१]

द्विगोरार्हदर्थे जातस्य प्रत्ययस्य प्लुप् स्यात्, न तु द्विः, अनाम्नि। द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतो द्विकंसः॥ ७८॥

॥ इत्यार्हदर्थावधिः ॥

"अना०"। द्विकंस इति—द्वाभ्यां कंसाभ्यां द्विकंस्या वा क्रीतो द्विकंसः एवं त्रिकंसः अध्यर्द्धकंसः अर्द्धपञ्चमकंसः द्विसूर्पः। अद्विरिति किम्? द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतं द्विसूर्पम् अञ् लुप्, द्विसूर्पेण क्रीतं द्विसौर्पिकमत्रेकणो क्रीते लुब् न स्यात्। अनाम्नीति किम्? पञ्च लोहिन्यः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम् "जातिश्च णि०" (३।२।५१) इत्यादिना पुंवद्भावः। पञ्च कलायाः परिमाणमस्य पाञ्चकालायिकम्। परिमाणविशेषनाम्नी एते, अत एव "मानसंवत्सर०" (७।४।१९) इत्यादिना नोत्तरपदवृद्धिः। लुपः पित्वात् पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः पञ्चगर्गः इत्यत्रेकणो लुपि "क्यङ्मानिपित्तद्धिते"

(३।२।५०) इति पुंवद्भावः । सङ्ख्यान्ताद्विगोर्लुपं नेच्छन्त्येके—द्वाभ्यां षष्टिभ्यां क्रीतं द्विषाष्टिकम् त्रिषाष्टिकमिति ॥

अत्र विशेषास्त्वेवम्—"**नवाणः**" (६।४।१४२)। द्विगोः परस्यार्हदर्थस्याणः पिलुप् वा स्यादद्विः। द्वाभ्यां सहस्राभ्यां क्रीतं द्विसहस्रं द्विसाहस्रम्। अण इति किम्? द्वौ द्रोणौ पचति द्विद्रोणः "तं पचति द्रोणाद्वाऽञ्" (६।४।१६१) इत्यञ्, तस्य "अनाम्न्यद्विः प्लुप्" इति नित्यं लुप्॥ "**सुवर्णकार्षापणात्**" (६।४।१४३)। तदन्ताद्विगोरार्हदर्थविहितप्रत्ययस्य प्रागवल्लुब् वा स्यात्, न तु द्विः। द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णं द्विसौवर्णिकम्। द्विकार्षापणिकम्, द्विप्रतिकम्, द्विकार्षापणम्। "**द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात्**" (६।४।१४४)। एभ्यः परौ यौ निष्कविस्तौ तदन्ताद्विगोरार्हदर्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुप् वा स्यात्, न त्वद्विः। द्विनिष्कं द्विनैष्किकम्, त्रिनिष्कं त्रिनैष्किकम्, बहुनिष्कं बहुनैष्किकम्। द्विविस्तं द्विवैस्तिकम्, त्रिविस्तं त्रिवैस्तिकम् बहुविस्तं बहुवैस्तिकम्॥ "**शताद्यः**" (६।४।१४५)। शतान्ताद्विगोरार्हदर्थे यो वा स्यात्; पक्षे सङ्ख्यालक्षणः कस्तस्य लुप् स्यादस्य तु विधानसामर्थ्यान्न स्यात्। द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतं द्विशत्यं द्विशतम्, अध्यर्द्धशत्यं अध्यर्द्धशतम्, अर्द्धषष्ठशत्यं अर्द्धषष्ठशतम्॥ "**शाणात्**" (६।४।१४६) शाणान्ताद्विगोरार्हदर्थे यो वा स्यात्, पक्षे इकण् तस्य लुप्। अस्य तु विधानसामर्थ्यान्न। पञ्चशाणम्। योगविभाग उत्तरार्थः॥ "**द्वित्र्यादेर्याऽण् वा**" (६।४।१४७) द्वित्रिपूर्वो यः शाणशब्दस्तदन्ताद्विगोरार्हदर्थे याणौ वा स्याताम्, वाग्रहणमुत्तरत्र वानिवृत्त्यर्थम्। द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतं द्विशाण्यं द्वैशाणम्, पक्षे इकण् तस्य लुप्—द्विशाणम्, एवं त्रैरूप्यम्॥ "**पणपादमाषाद्यः**" (६।४।१४८) एतदन्ताद्विगोरार्हदर्थे यः स्याद्विधानसामर्थ्याच्चास्य न लुप्। द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतं द्विपण्यम्, द्विपाद्यम्, द्विमाष्यम्। माषपणसाहचर्यात्पादः परिमाणं गृह्यते, न प्राण्यङ्गम्, तेन "हिमहतिकाषिये पद्" (३।२।९६) इति पद्भावो न भवति—तत्र प्राण्यङ्गस्यैव ग्रहणात्। यद्वा पादसम्बन्धी यकारस्तत्र गृह्यते, अयं तु द्विगुसम्बन्धीति न भवति॥ "**खारीकाकणीभ्यः कच्**" (६।४।१४९) एतदन्ताद्विगोर्बहुवचनात्केवलाभ्यां खारीकाकणीभ्यां चार्हदर्थे कच् स्याद्विधानसामर्थ्याच्चास्य न लुप्। द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतं द्विखारीकम् द्विकाकणीकम्। खार्या क्रीतं खारीकं काकणीकम्। चकारो "न कचि" (२।४।१०५) इति प्रतिषेधार्थः॥ ७८॥

प्रत्ययस्यैव**मिकणो**ऽधिकारः पूर्णतामितः। **यप्रत्ययो**ऽथाधिकृतो विशेषविषयं विना॥ १॥

वहति रथयुगप्रासङ्गात्॥ ७९॥ [सि० ७।१।२]

एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो वहत्यर्थे यः स्यात्। रथं वहति रथ्यः॥ "धुरो यैयण्" (७।१।३)। धुर्यः धौरेयः॥ "वामाद्यादेरीनः" (७।१।४) वामधुरीणः॥ "हलसीरादिकण्" (७।१।६) हालिकः सैरिकः॥ "शकटादण्" (७।१।१) शाकटः॥ *हृद्यधर्म्यपथ्यादयः साधवः॥ "नौविषेण तार्यवध्ये" (७।१।१२)। नाव्या नदी। विष्यः शत्रुः॥ "न्यायार्थादनपेते" (७।१।१३)। यः। न्यायादनपेतं न्याय्यम्। अर्थ्यम्॥ ७९॥

"वह०"। रथ्य इति—एवं द्वौ रथौ वहति द्विरथ्यः, युगं वहति युग्यः, कालविशेषं युगं वहति मनुष्य इत्यादौ त्वनभिधानान्न भवति। "कुप्यभिद्य" (५।१।३९) दिनिपातनादेव युग्य इति सिद्धे इदमर्थविवक्षयासणूबाधनार्थं युगग्रहणम्, यो हि युगं वहति स युगसंबन्धी भवतीति। प्रसज्यते इति प्रासङ्गः, वत्सानां दमनकाले यत्काष्ठं स्कन्धे आसज्यते तद्वहति स प्रासङ्ग्यः। यत्वन्यत्प्रसङ्गादागतं

प्रासङ्गमिति तद्वहतीत्यत्रानभिधानान्न भवति । **ननु** यो रथं वहति स रथस्य वोढा भवति, तत्र "रथात्सादेश्च वोढ्रङ्गे" (६।३।१७५) "यः" (६।३।१७६) इत्येव सिद्धम्, तत्किं रथग्रहणेन ? **सत्यमलुबर्थं** तु तस्य ग्रहणम्, तेन हि ये विधीयमाने "द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुबद्विः" (६।१।२४) इति लुपा भवितव्यम्—द्वयो रथयोर्वोढा द्विरथः । अनेन तु विधीयमाने न भवति—अप्राग्जितीयत्वात् । एवं च द्विगौ रूपद्वयं भवति ॥ **"धुरो०"** द्वितीयान्ताद्धुर्शब्दाद्वहत्यर्थे येयणौ स्याताम् । एयण् वेत्यकृत्वा यग्रहणमिदमर्थविवक्षायां वहत्यर्थेऽण्बाधनार्थम् । यो हि यद्वहति स तस्य संबन्धी भवतीति । कश्चित्तु यट्—एयकणावपीच्छति, तन्मते धुर्यः । स्त्रियां टित्वात् ङीः—धुरी । धौरेयकः ॥ **"वामा०"** । वामादिपूर्वाद्धुरन्ताद्द्वितीयान्ताद्वहत्यर्थे ईनः स्यात् । वामा धूर्वामधुरा, समासान्तादाप्; तां वहति वामधुरीणः । सर्वधुरीणः, उत्तरधुरीणः, दक्षिणधुरीणः । वामादयः प्रयोगगम्याः । सर्वधुर्य इत्यत्र यप्रत्ययोऽपीति कश्चित् । धुरीण इति केवलादपीन इत्यन्यः ॥ **अत्रायं विशेषः "अश्चैकादेः"** (७।४।५) । एकादेर्धुरन्ताद्वहत्यर्थे अः स्यात्, चकारादीनश्च । एका एकस्य वा धूः एकधुरा । एकधूरस्मिन्नेकधुरम्, तां तद्वा वहति एकधुरः एकधुरीणः ॥ **"हल०"** द्वितीयान्ताद्वहत्यर्थे इति वर्त्तते । हलं वहति हालिकः । एवं सैरिकः ॥ **"शक०"** शकटं वहति शाकटो गौः । **ननु** च "तस्येदम्" (६।३।१६०) इति शकटादण् "हलसीरादिकण्" इति हलसीराभ्यामिकण् च सिद्ध एव, यो हि यद्वहति स तस्य संबन्धीति ? **सत्यम्**—रथवदेव तदन्तार्थमुपादानम्, तेनात्रापि द्विगौ द्वैरूप्यं भवति—द्वयोः शकटयोः हलयोः सीरयोर्वा वोढा द्विशकटः द्विहलः द्विसीरः । द्वे शकटे हले सीरे वा वहति द्वैशकटः द्वैहलिकः द्वैसीरिकः । अन्ये तु शकटहलसीरेभ्य इदमर्थविवक्षायां प्रत्ययमिच्छन्ति, न वहत्यर्थे; तन्मते द्विशकट इत्येव भवति । हलसीराभ्यां तु तदन्तविधिं नेच्छन्त्येव ।

अत्रादिशब्दसंसर्गात् **"विध्यत्यऽनन्येन"** (७।१।८) । द्वितीयान्ताद्विध्यत्यर्थे यः स्यात्, स चेद्विध्यन्नात्मनोऽनन्येन करणेन विध्यति । पादौ विध्यन्ति पद्याः शर्कराः । ऊरव्याः कण्टकाः । उरस्या वाताः । अनन्येनेति किम् ? चौरं विध्यति चैत्रः—अत्र हि चैत्रश्चौरं विध्यन् धनुरादिना विध्यति । शर्करादयस्तु न करणेन विध्यन्ति । यच्च मुखतैक्ष्ण्यादिकरणम्, तत्तेषामात्मनो नान्यत् ॥ **"धनगणाल्लब्धरि"** (७।१।९) । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां लब्धर्यर्थे यः स्यात् । धनं लब्धा धन्यः, गणं लब्धा गण्यः । लब्धेति तृन्नन्तम् ॥ **"णोऽन्नात्"** (७।१।१०) प्राग्वत् । अन्नं लब्धा आन्नः ॥ *हृद्यपद्यादयः साधव इति—**"हृद्यपद्यतुल्यमूल्यवश्यपथ्यवयस्यधेनुष्यागार्हपत्यजन्यधर्म्यम्"** (७।१।११) । एते शब्दा यथास्वमर्थविशेषेषु यान्ता निपात्यन्ते । हृदयात्षष्ठ्यन्तात्प्रियेऽर्थे बन्धने वशीकरणमन्त्रे च हृद्य इति निपात्यते,—हृदयस्य प्रियो हृद्यो देश इति, हृदयस्य बन्धनो हृद्यो वशीकरणमन्त्रः, "हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये" (३।२।९४) इति हृदादेशः, निपातनस्य रूढ्यर्थत्वात् हृदयस्य प्रियः पुत्र इत्यादौ न स्यात् । पदशब्दात्प्रथमान्तात् दृश्यत्वोपाधिकादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यः स्यात्; पदमस्मिन् दृश्यं पद्यः कर्दमः—नातिद्रवो नातिशुष्को यत्र प्रतिबिम्बोत्पत्त्या पदं दृश्यते । तुलाशब्दात्सम्मितेऽर्थे यः स्यात्; तुलया सम्मितं तुल्यं भाण्डम्; निपातनं रूढ्यर्थम्, तेन न तुलासम्मित एवोच्यते किन्तु सदृशार्थोऽपि तुल्यशब्दः—गिरिणा तुल्यो हस्ती ॥ मूलात्प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे यः स्यात्, तच्च यद्युत्पाटनयोग्यं भवति, मूलमेषामुत्पाट्यं मूल्या मुद्गाः । तृतीयान्ताच्चानाम्ये समे च—मूलेनानाम्यं मूल्यम्, मूलं पटाद्युत्पत्तिकारणम्, तेनानाम्यं यत्तत्पटादेर्विक्रयात्प्राप्यते सुवर्णादि तन्मूल्यम्, मूलेन समो मूल्यः पटः, उपादानेन समानफल इत्यर्थः । वशशब्दाद्द्वितीयान्ताद्गतेऽर्थे यः स्यात्, वशङ्गतो

वश्यो गौर्विधेयः, इच्छानुवर्तीति यावत्; निपातनं रूढ्यर्थं तेनेह न भवति–वशङ्गतः इच्छां प्राप्तः; अभिप्रेतं गत इत्यर्थः। पथिन्शब्दादनपेते यः; पथोऽनपेतं पथ्यं ओदनादि, निपातनादिह न भवति–पथोऽनपेतं शकटादि। वयःशब्दात्तृतीयान्तात्तुल्येऽर्थे यः, वयसा तुल्यो वयस्यः सखा; निपातनादिह न भवति–वयसा तुल्यः शत्रुः। धेनुशब्दाद्विशिष्टायां धेनौ यः षोऽन्तश्च धेनुष्या, या गोमता गोपालायाधमर्णेन चोत्तमर्णाय आ ऋणप्रदानाद्दोहार्थं धेनुर्दीयते सा धेनुरेव धेनुष्या; पीतदुग्धेति यस्याः प्रसिद्धिः 'पीतदुग्धा धेनुष्ये'ति वचनात्। गृहपतिशब्दात्तृतीयान्तात्संयुक्तेऽर्थे ञ्यः, गृहपतिना संयुक्तो गार्हपत्योऽग्निविशेषः, निपातनादन्यत्र न भवति। जनीशब्दाद्वधूवाचिनो द्वितीयान्ताद्वहत्सु अभिधेयेषु जनशब्दाच्च षष्ठ्यन्ताज्जल्पेऽर्थे यः, जनीं वहन्ति जन्याः, जामातुर्वयस्याः, जनस्य जल्पो जन्यः; निपातनादन्यत्र न भवति। धर्मशब्दात्तृतीयान्तात्प्राप्येऽर्थे पञ्चम्यन्ताच्चानपेते यः; धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्; धर्मादनपेतं च धर्म्यम्, यद्धर्ममनुवर्त्तते। **"नौवि०"**। आभ्यां तृतीयान्ताभ्यामनयोरर्थयोर्यः स्यात्। नावा तार्या नाव्या नदी। विषेण वध्यो विष्यः शत्रुरिति॥ **"न्याय०"** आभ्यां पञ्चम्यन्ताभ्यामनपेतेऽर्थे यः स्यात्॥

आदिशब्दात् **"मतमदस्य करणे"** (७।१।१४) आभ्यां षष्ठ्यन्ताभ्यां करणेऽर्थे यः स्यात्। इष्टं साम्यं ज्ञानं मतिर्वा मतशब्देनोच्यते। मतस्य करणं मत्यम्। मदस्य करणं मद्यम्॥ ७९॥

तत्र साधौ॥ ८०॥ [सि० ७।१।१५]

सप्तम्यन्तात्साधौ यः स्यात्। सभ्यः॥ "पर्षदो ण्यणौ" (७।१।१८)। साधौ। पार्षद्यः पार्षदः। पारिषद्यः पारिषदः॥ "सर्वजनाण्ण्येनञौ" (७।१।१९)। साधौ। सार्वजन्यः सार्वजनीनः। *पथ्यादेरेयण्–पाथेयम्। आतिथेयी॥ "ण्योऽतिथेः" (७।१।२४)। आतिथ्यम्॥ ८०॥

"तत्र०"। साधुः प्रवीणो योग्य उपकारको वा। सभ्य इति–एवं सामान्यः, कर्मण्यः, शरण्य इत्यादि। अत्रेदं ज्ञेयम्–**"तद्धितयस्वरेऽनाति"** (२।४।९२) व्यञ्जनात्परस्यापत्यस्य यस्य यकारादावाकारादिवर्जितस्वरादौ च तद्धिते लुक् स्यात्। गार्ग्ये साधुर्गार्ग्यः। गार्ग्यस्यापत्यं गार्गीयः। अनातीति किम्? गार्ग्यायणः॥ **"पर्ष०"** पर्षदि साधुः पार्षद्यः, पार्षदः॥ परिषदोऽपीच्छन्त्यन्ये–पारिषद्यः पारिषदः॥ **"सर्व०"** स्पष्टम्॥ **आदिशब्दात् "प्रतिजनादेरीनञ्"** (७।१।२०)। प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः। इदंयुगे साधुः ऐदंयुगीनः। प्रतिजन, अनुजन, विश्वजन, पाञ्चजन, महाजन, इदंयुग, संयुग, समयुग, परयुग, परकुल, परस्यकुल, अमुष्यकुल, इति प्रतिजनादयो द्वादश॥ **"कथादेरिकण्"** (७।१।२१)। काथिकः। कथा, विकथा, विश्वकथा, संकथा, वितण्डा, जनेवाद, जनवाद, जनोवाद, भृशोवाद, जनभृशोवाद, वृत्ति, संग्रह, गुण, गण, आयुर्वेद, गुड, कुल्माष, गुल्मास, इक्षु सक्तु, वेणु, अपूप, मांसौदन, मांस, ओदन, संघात, संवाह, प्रवास, निवास, उपवास, इति कथादयोऽष्टाविंशतिः। *पथ्यादेरिति–**"पथ्यतिथिवसतिस्वपतेरेयण्"** (७।१।१६)। एभ्यः साधौ एयण् स्यात्। पथि साधौ पाथेयम्, आतिथेयम्, वासतेयम्। स्वापतेयम्। आतिथेयी रात्रिः॥ एवं **"भक्ताण्णः"** (७।१।१७)। भक्ते साधुः भाक्तः शालिः।

इति साध्वधिकारः।

आदिशब्दात् **"देवतान्तात्तदर्थे"** (७।१।२२)। अर्थाच्चतुर्थ्यन्ताद्यः प्रत्ययः । अग्निदेवतायै इदं अग्निदेवत्यम् । देवता नाम देयस्य हविरादेः प्रतिगृहीता स्वामी संप्रदानमुच्यते । **"पाद्यार्घ्ये"** (७।१।२३)। एतौ निपात्यौ । पादार्थमुदकं पाद्यम्—निपातनात्पादस्य पद्भावः । अर्घो मूल्यं पूजनं वा, अर्घार्थं रत्नमर्घ्यम् ॥ **"ण्यो०"** अतिथ्यर्थमातिथ्यम् ।

॥ इति तदर्थाधिकारः ॥

"सादेश्चातदः" (७।१।२५)। अधिकारसूत्रमेतत्, इत आरभ्य "तद्" (७।१।५०) इति सूत्रम् यावद्योऽवधिः स केवलस्य सादेश्च ज्ञेयः ॥ **"हलस्य कर्षे"** (७।१।२६)। षष्ठ्यन्तात्केवलात्सादेश्च हलात्कर्षेऽर्थे यः स्यात् । हलस्य कर्षो हल्या हल्यो वा । द्वयोर्हिहल्या, परमहल्या, बहुहल्यः । यत्र हलं कृष्टं (गतमित्यर्थः) स मार्गः कर्षः । कृष्यत इति कर्षः क्षेत्रमित्यन्ये ॥ **"सीतया सङ्गते"** (७।१।२७)। सीत्यम् । द्वाभ्यां सीताभ्यां द्विसीत्यम् । "गोदारणं हलमीषासीते तद्दण्डपद्धती" इति वचनात् सीतानाम हलपद्धतिः ।

एवं यप्रत्ययस्यात्राधिकारः पूर्णतां गतः । ईयोऽथाधिकृतो ज्ञेयो विशेषविषयं विना ॥ १ ॥
स चाधिकार ईयस्य आतदोऽर्थेषु भाव्यताम् । तस्मै हिते, तदर्थे चेत्यादयस्ते तु वस्तुतः ॥ २ ॥

"हविरन्नभेदापूपादेर्यो वा" (७।१।२९)। हविर्भेदेभ्योऽपूपादिभ्यश्चातदर्थेषु यो वा स्यात् । ईयापवादः । हविर्भेद. आमिक्षायै इदं दधि आमिक्ष्यमामिक्षीयम् । पुरोडाशाय इमे पुरोडाश्याः पुरोडाशीयास्तंडुलाः । हविस्शब्दात्तु परत्वाद्युगादिपाठान्नित्यमेव यः । अन्नभेद. ओदनाय इमे ओदन्या ओदनीयास्तण्डुलाः । कृसरायै कृसर्याः कृसरीयाः, सुरायै सुर्याः सुरीयाः । अपूपादि. अपूपायेदमपूप्यमपूपीयम् । सादेश्चेत्यधिकारात्तदन्तादपि—यवापूप्यं यवापूपीयम् । उवर्णान्तात्तु हविरन्नभेदात्परत्वान्नित्यमेव यः—चरव्यास्तंडुलाः, सक्तव्या धानाः । अपूप, तण्डुल, ओदन, पृथुक, अभ्यूष, अभ्योष, अवोष, किण्व, मुसल, कटक, १० शकट, कर्णवेष्टक, ईर्गल, इल्लर, (इल्वल ?) इल्ल (?) लक (?) स्थूणा, यूप, सूप, दीप, प्रदीप, २० अश्वपत्र (आश्वपत्र ?) २२ इत्यपूपादयो द्वाविंशतिः (२० ?) अपूपादिषु येऽन्नभेदा अपूपादयस्तेषां केनचिदाकारसादृश्येनार्थान्तरवृत्तौ प्रत्ययार्थमुपादानम्, केचित्तु अपूपादिपठितान्नभेदव्यतिरिक्तानामन्नभेदानां तदन्तविधिं नेच्छन्ति । यवसुरीयम्, यो न भवति ॥ **"उवर्णयुगादेर्यः"** (७।१।३०)। ईयापवादः । शङ्कवे इदं शङ्कव्यं दारु । पिचव्यः कर्पासः । परशव्यमयः । युगाय हितं युगार्थं युगोऽस्य स्यादिति वा युग्यम् । हविष्यम् । सादेश्चेत्यधिकारात् सुयुग्यम् । युग, हविस्, अष्टका, बर्हिस्, मेधा, स्रुच्, बीज, कूप, क्षर, अक्षर, खद, स्खद, विष, दाश, खर, असुर, दर, अध्वन्, गो, १९ इति युगादय एकोनविंशतिः । "गोः स्वरे यः" (६।१।२७) इति सिद्धे गोग्रहणं तदन्तार्थम्—सुगव्यम् । इदं यग्रहणं बाधकबाधनार्थम्—सनङ्गवे इदं सनङ्गव्यं चर्म, अत्र, हि परत्वात् "चर्मण्यञ्" (७।१।४५) प्राप्नोति ॥ **"नाभेर्नभ्चाऽदेहांशात्"** (७।१।३१)। नाभ्यै नाभये वा हितं नभ्यमञ्जनम् । नभ्योऽक्षः । नाभये इदं नभ्यं दारु । अरकमध्यवर्त्ती अक्षधारणश्चक्रावयवो नाभिस्तदर्थं नभ्यम् । यत्तु अरकगण्डरहितं चक्रमेककाष्ठं (पाषाणानयनशकटस्य-

---

१ आमिश्रितं क्षीरं काञ्जिकेन यस्यां सा आमिश्रितक्षीरा, गतार्थत्वात्काञ्जिकशब्दस्य लोपः । पृषोदरादित्वादामिक्षादेशः । २ अपूपाकारं चर्माद्यपूपमित्येवम् । ३ कोऽर्थः । ये अपूपादिषु पठिता अन्नभेदास्तेषां तदन्तानां विधिर्भवति । अन्नभेदवाचिना तु अपूपादिष्वपठितानां तदन्तविधिर्न भवतीत्यर्थः ।

रहङ्क इति प्रसिद्धस्य) तत्र न नाभिरिति तदर्थे नभ्यमित्युपचारात् । नभ्यो वृक्ष इत्यादौ नाभ्यर्थे ताच्छब्द्यान्नभ्यत्वम् इन्द्रार्थस्थूणावत् । अदेहांशादिति किम् ? नाभ्यं तैलमत्र नभादेशो न भवति, यस्तु "प्राण्यङ्ग०" (७।१।३७) इत्यादिना स्यात् । **"न चोधसः"** (७।१।३२) । ऊधसो यः स्यान्नकारश्चान्तादेशः । ईयापवादः । ऊधसे इदं ऊधन्यम् । **"शुनो वश्चोदूत्"** (७।१।३३) । श्वन्शब्दात् यः स्यात्, वकारश्च उकार ऊकाररूपो भवति । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः । शुने हितं शुन्यम्, शून्यम् । नाभ्यादीनां युगादिपाठेऽपि शक्यो यः प्रत्ययः, आदेशार्थास्तु योगाः । **"कम्बलान्नाम्नि"** (७।१।३४) ईयापवादो यः । कम्बलोऽस्य स्यात् कम्बल्यं परिमाणम्, ऊर्णापलशतमुच्यते, अशीतिशतमित्यन्ये, षट्षष्टिशतमित्यपरे । नाम्नीति किम् ? कम्बलीया ऊर्णाः ॥ ८० ॥

तस्मै हिते ॥ ८१ ॥ [सि० ७।१।३५]

चतुर्थ्यन्ताद्धिते ईयः स्यात् । वत्सीयः । *प्राण्यङ्गादिभ्यो यः–दन्त्यम् ॥ ८१ ॥

"तस्मै०" हित उपकारकः । वत्सीय इति–एवं मात्रीयः, करभीयः, पित्रीयः, आमिक्ष्यः आमिक्षीयः, ओदन्यः ओदनीयः, अपूप्यः अपूपीयः, हविष्यः, युग्यः, वत्सेभ्यो न हितः अवत्सीयः ।

विशेषश्चात्र–**"न राजाचार्यब्राह्मणवृष्णः"** (७।१।३६) । वृषन्शब्दस्य षष्ठ्येकवचने वृष्ण इति । एभ्यो हितार्थप्रत्ययो न स्यात् । राज्ञे हितः, एवमाचार्याय ब्राह्मणाय वृष्णे हित इति वाक्यमेव स्यात् ॥ *प्राण्यङ्गादिभ्य इति–**"प्राण्यङ्गरथखलतिलयववृषब्रह्ममाषाद्यः"** (७।१।३७) । प्राण्यङ्गेभ्यो रथादिभ्यश्च सप्तभ्यश्चतुर्थ्यन्तेभ्यो हितेऽर्थे यः स्यात् । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् । एवं कर्ण्यं चक्षुष्यम् । रथाय हिता रथ्या भूमिः । खल्यमग्निरक्षणम् । तिल्यो वायुः । यव्यस्तुषारः । वृष्यं क्षीरपाणम् । ब्रह्मण्यो देशः । माष्यो वातः । स्वादेश्चेत्यधिकारात् राजदन्त्यम् ।

आदिशब्दात् **"अव्यजात् थ्यप्"** (७।१।३८) अविभ्यो हितमविथ्यम् । अजेभ्यो हितमजथ्यम् । पकारः पुंवद्भावार्थः । अजाभ्यो हिता अजथ्या (पित्करणसामर्थ्यात् 'स्वाङ्गान्ङी०' इत्यनेन निषिद्धोऽपि 'क्यङ्मानि०' इत्यनेन पुंवद्भावः) यूतिः । **"चरकमाणवादीनञ्"** (७।१।३९) । चरकेभ्यो हितः चारकीणः । माणवीनः ॥ ८१ ॥

भोगोत्तरपदात्मभ्यामीनः ॥ ८२ ॥ [सि० ७।१।४०]

भोगोत्तरपदेभ्य आत्मनश्च हिते ईनः स्यात् । मातृभोगीणः ॥ "ईनेऽध्वात्मनोः" (७।४।४८) अन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात्–आत्मनीनः ॥ ८२ ॥

"भोगो०" मातृभोगाय हितो मातृभोगीणः । एवं पितृभोगीणः ॥ ग्रामणिभोगीनः । सेनानिभोगीनः । आचार्यभोगीनः । क्षुभ्नादिषु पाठान्न णत्वम् । "ईन०" "नोऽपदस्य तद्धिते" (७।४।६१) इति प्राप्तोऽन्त्यस्वरादिलोपोऽनेन निषिध्यते । आत्मने हितः आत्मनीनः ॥ ८२ ॥

पञ्चसर्वविश्वाज्जनात्कर्मधारये ॥ ८३ ॥ [सि० ७।१।४१]

पञ्चादिपूर्वाज्जनान्तात्कर्मधारयाद्धिते ईनः स्यात् । पञ्चजनीनः । विश्वजनीनः ॥ "सर्वाण्णो वा" (७।१।४२) । सार्वः सर्वीयः ॥ ८३ ॥ इति हिताधिकारः ॥

"पञ्च०" पञ्चादिषराजनात्कर्मधारये वर्त्तमानात्तस्मै हिते ईनः स्यात् । पञ्चजनेभ्यः पञ्चजनाय हितः पञ्चजनीनः । रथकारपञ्चमस्य चातुर्वर्णस्य पञ्चजन इति संज्ञाः "संख्या समाहारे" (३।१।२८) इति कर्मधारयः । कर्मधारय इति किम् ? पञ्चानां जनः पञ्चजनस्तस्मै हितः पञ्चजनीय इत्यादि ॥ अत्रायं विशेषः–"**महत्सर्वादिकण्**" (७।१।४२) आभ्यां परो यो जनशब्दस्तदन्तात्कर्मधारये हिते इकण् स्यात् । महते जनाय हितः माहाजनिकः । सर्वस्मै जनाय हितः सार्वजनिकः । पूर्वेण ईनोऽपीत्यस्य द्वैरूप्यम् ॥ "**सर्वा०**" । स्पष्टम् । "**येऽवर्णे**" (३।२।१००) । नासिकाशब्दस्य ये प्रत्यये परे वर्णादन्यस्मिन्नभिधेये नसित्यादेशः स्यात् । नासिकायै हितं तत्र भवं वा नस्यम् । य इति किम् ? नासिक्यं नगरम् । चातुरर्थिकोऽयम् ञ्यः । निरनुबन्धग्रहणे हि न सानुबन्धग्रहणमिति । अवर्ण इति किम् ? नासिक्यो वर्णः ॥ "**शिरसः शीर्षन्**" (३।२।१०१) ये प्रत्यये परे । शिरसि भवः शीर्षण्यः स्वरः । शिरसे हितं शीर्षण्यं तैलम् । य इत्येव–शिरस्तः निरनुबन्धग्रहणात् शिर इच्छति शिरस्यतीत्यत्र न भवति, शिरस इति चादेशेन संबध्यते, न प्रत्ययेन, तेन हास्तिशीर्षिरित्यादौ समास-संबन्धिन्यपि तद्धिते उत्तरसूत्रेण शीर्षादेशो भवति ॥ "**केशे वा**" (३।२।१०२) केशविषये ये परे शिरसः शीर्षन्वा । शीर्षण्याः शिरस्या वा केशाः ॥ इल्वलास्तु मृगशीर्षस्य शिरस्त्यास्तारका इति प्रयोगदर्शनात् केचित् केशादन्यत्रापि विकल्पमिच्छन्ति, शाखादियप्रत्यये चादेशं नेच्छन्ति–शिरस-स्तुल्यः शिरस्यः "शाखादेर्यः" (७।१।११४) ॥ "**शीर्षः स्वरे तद्धिते**" (३।२।१०३) । स्वरादौ तद्धिते परे शिरसः शीर्ष इत्यादेशो भवति । हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिः । मृगशिरसा चन्द्रयुक्तेन युक्ता मार्गशीर्षी पौर्णमासी । स्थूलशिरस इदं स्थौलशैर्षम् । शिरसि कृतं शैर्षम्, शिरसा तरति शैर्षिकः । स्वर इति किम् ? शिरस्कल्पः । तद्धित इति किम् ? शिरसे शीर्षशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्येति प्रयोगात्, अनेनैव सिद्धे उक्तविषये शिरसः प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।

इति हितार्थप्रत्ययाधिकारः संपूर्णश्चेति मंगलम् ।

अत्रेत्यादिशब्दसंबन्धात् "**परिणामिनि तदर्थे**" (७।१।४४) । तद्भावः परिणामः, सोऽस्यास्ति (इति) परिणामि द्रव्यमुच्यते । चतुर्थ्यन्तात्तदर्थे चतुर्थ्यन्तार्थार्थे परिणामिनि द्रव्ये कारणेऽभिधेये यथा-धिकृतं प्रत्ययः स्यात् । अङ्गारेभ्य इमानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि–अङ्गारार्थानीत्यर्थः । एवं प्राकारीयाः इष्टकाः, शङ्कव्यं दारु, आमिक्ष्यमामिक्षीयं दधीत्यादि । परिणामिनीति किम् ? उदकाय कूपः । तदर्थे इति किम् ? मूत्राय यवागूः । यवाग्वादि मूत्रतया परिणमति न तु तदर्थम् । अथवा तदर्थे इति चतुर्थीविशेषणम् (पूर्वं हि तदर्थे इति परिणामिशब्दस्य विशेषणम्) तदर्थे या चतुर्थी तदन्तात्प्रत्ययः, इह तु संपद्यतौ चतुर्थीति न भवति । तस्मै इत्येव–सक्तूनां धानाः, धानानां यवाः, अत्र सत्यपि तादर्थ्ये संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी-यथा गुरोरिदं गुर्वर्थमिति, भवति च सतोऽप्यविवक्षाऽनुदरा कन्ये-त्यादिवत् ॥ "**चर्मण्यञ्**" (७।१।४५) । प्रागुक्तार्थे । वध्र्यैदं वार्ध्रं चर्म । एवं वरत्रायै वारत्रम् । हलबन्धाय हालबन्धम् । सनङ्गव्यमित्यत्र "उवर्णयुगादेः०" (७।१।३०) इति य एव, सनङ्गुश्चर्मवि-कारः ॥ "**ऋषभोपानहाञ्ञ्यः**" (७।१।४६) उक्तार्थे । ऋषभायायमार्षभ्यो वत्सः । औपानह्यो मुञ्जः । औपानह्यं काष्ठम् । औपानह्यं चर्मेति चर्मण्यपि परिणामिनि परत्वादयमेव ॥ "**छदिर्बलेरेयण्**" (७।१।४७) उक्तार्थे । छदिषे इमानि छादिषेयाणि तृणानि । बलये इमे बालेयास्तण्डुलाः । चर्मण्यपि परत्वादयमेव–च्छादिषेयं चर्म ॥ "**परिखाऽस्य स्यात्**" (७।१।४८) परिखाशब्दान्निर्देशादेव प्रथमान्तादस्येति षष्ठ्यर्थे परिणामिन्येयण् स्यात्, या सा परिखा सा चेत्स्यादिति योग्यतया सम्भाव्यते ।

परिखा आसामिष्टकानां स्यादिति पारिखेय्य इष्टकाः । स्यादिति संभावने सप्तमी–इष्टकानां बहुत्वेन संभाव्यते, एतत् परिखाऽऽसां स्यादिति ॥ "अत्र च" (७।१।४९) प्रथमान्तात्परिखाशब्दात्सप्तम्यर्थे एयण् स्यात्, सा चेत्परिखा स्यादिति संभाव्यते । परिखाऽस्यां स्यादिति संभाविता पारिखेयी भूमिः । योगविभागात्परिणामिनीत्यत्र नानुवर्त्तते । चकार उत्तरसूत्रे षष्ठ्यर्थे परिणामिनि स्यादिति संभाविते; सप्तम्यर्थे चापरिणामिनि स्यादित्येवं संभाविते यथाधिकृतं प्रत्ययः स्यादित्यर्थद्वयानुवृत्त्यर्थः ॥ "तद्" (७।१।५०) प्रथमान्तात्परिणामिनि षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथाधिकृतं प्रत्ययः स्यात्, प्रथमान्तं चेत्संभावितं स्यात् । प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादीयं दारु । परशव्यमयः । प्रासादोऽस्मिन्देशे स्यात् प्रासादीयो देशः । प्रासादीया भूमिः ॥ ८३ ॥

ईयस्य पूर्णोऽवधिः ।

अपत्यादिषूक्तार्थेषु "प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ् स्नञ्" (६।१।२५) । स्त्रैणं पौंस्नम् ।

"प्राग्व०" प्राग्वतो येऽर्थास्तेष्वनिदम्यणपवादे च आभ्यामेतौ स्याताम् । स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः, पौंस्नः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्, पौंस्नम् । स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्, पौंस्नम् । स्त्रीणामियं स्त्रैणी, पौंस्नी । स्त्रीणां निमित्तं संयोग उत्पातो वा स्त्रैणः, पौंस्नः । स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम्, पौंस्नम् । प्राग्वत इति किम् ? स्त्रिया अर्हं कुलम्, स्त्रिया तुल्यं वर्त्तत इति स्त्रीवत्, पुंवत् । ञकारो ञित्कार्यार्थः ॥

त्वे वा ॥ ८४ ॥ [सि० ६।१।२६]

त्वविषये त्वेतौ वा । स्त्रैणं स्त्रीत्वम् । पौंस्नं पुंस्त्वम् ॥ ८४ ॥

"त्व०" । त्वविषय इति वक्ष्यमाणस्वरूपे भावे इत्यर्थः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम्, । पुंसो भावः पौंस्नं पुंस्त्वम् । किञ्च "त्वे" (२।४।१००) । ङ्याबन्तस्य त्वे प्रत्यये परे बहुलं ह्रस्वः स्यात् । रोहिण्या भावो रोहिणित्वं रोहिणीत्वम् । अजत्वं अजात्वं वा ॥ ८४ ॥

भावे त्वतल् ॥ ८५ ॥ [सि० ७।१।५५]

षष्ठ्यन्ताद्भावेऽभिधेये त्वतलौ स्याताम् । शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं भावः । गोत्वं गोता ॥ ८५ ॥

"भावे०" । भवतोऽस्माद[1]ऽभिधानप्रत्ययाविति भावः, शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं द्रव्यसंसर्गी भेदको गुणः । यदाहुः–"यस्य गुणस्य हि भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति," तत्र "जातिगुणाज्जातिगुणे, समासकृत्तद्धितात्तु संबन्धे । डित्थादेः स्वे रूपे, त्वतलादीनां विधिर्भवति" ॥ १ ॥ तत्र जातिवचनेभ्यो जातौ. गोः शब्दस्य भावो गोत्वं गोता–अत्र गोशब्दजातिर्भावः । गोरर्थस्य भावो गोत्वं गोता–अत्र गवार्थजातिर्भावः । शुक्लस्य गुणस्य भावः शुक्लत्वं शुक्लतेत्यत्र शुक्लगुणजातिः । एवं रूपत्वरसत्वमित्यादिषु रूपादिगुणजातिः । कत्वं खत्वमिति भिन्नवर्णव्यक्तिसमवेता जातिः । कवर्गत्वं चवर्गत्वमिति ककारादिवर्गव्यक्तिसमवेता जातिः संहतिः ॥ गुणशब्देभ्यो गुणे शुक्लस्य भावः शुक्लत्वं शुक्लता–अत्र शुक्लो गुणो भावः । एवं शुक्लतरत्वं शुक्लतमत्वमिति स एव प्रकृष्टः । अणुत्वं महत्त्वमिति परिमाणलक्षणो गुणः । एकत्वं द्वित्वमिति सङ्ख्यालक्षणो गुणः । पृथक्त्वं नानात्वमिति भेदलक्षणः । उच्चैस्त्वं नीचैस्त्वमित्युच्छ्रयादिलक्षणः । वृत्तौ पृथगादिशब्दाः [2]पृथग्भूताद्यर्थे सत्त्वे वर्त्तते इति प्रत्ययः,

---

१ यद्यपि पूर्वं ज्ञानं पश्चाच्छब्द इति क्रमस्तथापि स्वराद्यदन्तत्वादभिधानस्य 'लघ्वक्षर०' पूर्वनिपात एवमाह । २ ननु पृथगादिशब्दानामव्ययानामसत्त्ववाचित्वात्कथमत्र भावप्रत्ययः, नह्यसत्त्वादसत्त्वे प्रत्ययः, भावो ह्यसंत्त्वरूप इत्याशङ्का ।

विग्रहस्तु पृथग्भूतस्य भाव इत्यादि । पट्वादयोऽपि गुणा एवेति पटुत्वं मृदुत्वं तीक्ष्णत्वमित्यादिष्वपि गुणो भावः । समासात्संबन्धे भावप्रत्ययः. राजपुरुषत्वं चित्रगुत्वमत्र स्वस्वामिसंबन्धो भावः । कृतेऽपि संबन्धे भावप्रत्ययः. पाचकत्वं कार्यत्वमित्यादौ क्रियाकारकसंबन्धो भावः । तद्धितात्संबन्धे. औपगवत्वं दण्डित्वं विषाणित्वम्—अत्रोपगुदण्डादिसंबन्धः । डि[1]त्थादेः स्वरूपे. डित्थादेस्तु यदृच्छाशब्दादन्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्यासम्भवात्तस्मिन्नेव स्वरूपे डित्थादिशब्दवाच्यतया [2]अध्यवसितभेदे[3]ऽव्यतिरिक्तेऽपि व्यतिरिक्त इव [4]शब्दप्रत्ययबलात् बुद्ध्यावगृहीते धर्मे प्रत्ययः । डित्थस्य भावः डित्थत्वम्, डवित्थत्वम् । एवं गोजातेर्भावो गोत्वं गोतेति गो[5]शब्दस्य स्वरूपम् । शुक्लजातेर्भावः शुक्लत्वं शुक्लतेति शुक्लशब्दस्य स्वरूपम् । गवादयो हि यदा जातिमात्रवाचिनस्तदा तेषां शब्दस्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, तथा ह्यर्थजातौ [6]शब्दार्थयोरभेदेन शब्दस्वरूपमध्यवस्यते, यो गोशब्दः स एवार्थ इति । एवं देवदत्तत्वं चन्द्रत्वं सूर्यत्वं दिक्त्वं आकाशत्वं अभावत्वमिति स्वरूपमेवोच्यते । एके तु यदृच्छाशब्देषु शब्दस्वरूपं संज्ञासंज्ञिसंबन्धो वा प्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यन्ते । अन्ये तु डित्थत्वं देवदत्तत्वमिति [7]वयोऽवस्थाभेदभिन्नव्यक्तिसमवेतं सामान्यम्, चन्द्रत्वं सूर्यत्वमिति कालावस्थाभेदभिन्नव्यक्तिसमवेतसामान्यम्, दिक्त्वमाकाशत्वमभावत्वमिति [8]उपचरितभेदव्यक्तिसमवेतं सामान्यं प्रत्ययार्थ इति वदन्तोऽत्रापि जातिमेव त्वतलादिप्रत्ययप्रवृत्तिनिमित्तमभिदधति । यच्चापि समासकृत्तद्धितेषु भावप्रत्ययेन संबन्धाभिधानम्, तदपि रूढ्यभिन्नरूपाव्यभिचरितसंबन्धेभ्योऽन्यत्र—गौरखरत्वम्, लोहितशालित्वम्, सप्तपर्णत्वम्, धवखदिरत्वमित्यादिभ्यः समासेभ्यः; कुम्भकारत्वं तन्तुवायत्वं पङ्कजत्वमित्यादिभ्यः कृद्भ्यः; हस्तित्वं मानुषत्वं क्षत्रियत्वं राजन्यत्वमित्यादिभ्यस्तद्धितेभ्यश्च भावप्रत्ययो रूढ्या जातिमभिधत्ते, एषां जातिवाचित्वेनैव रूढत्वात् । एवमन्येष्वप्येतादृशेषु । अभिन्नरूपास्तु तद्धितान्ता एव लुबादिभिः सम्भवन्ति,—गर्गत्वं पञ्चालत्वमिति—अत्र [9]गर्गादयः शब्दा यञञोर्लुपि यद्यपि तद्धितान्तास्तथापि मूलप्रकृत्या सह [10]सहविवक्षायाभिन्नरूपत्वात् प्रत्ययोत्पत्तिहेतुः संबन्धो न्यग्भूत इत्यभिन्नशब्दाभिधेयतैव

१ डित्थादेस्तस्मिन्नेव स्वरूपे धर्मे प्रत्ययो भवति । कथंभूतात् डित्थादेर्यदृच्छाशब्दादत एवान्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्यासंभवात् । २ ननु यदि स्वरूप एव प्रत्ययो भवति तर्हि डित्थस्य भाव इति वाक्ये भावशब्दोपादानं न प्राप्नोति, यतो डित्थशब्देनापि स्वरूपमभिधीयते, भावशब्देनापि तदेवोच्यते तत्कथं भावशब्दोपादानमित्याह—अध्यवसितभेदे, कोऽर्थोऽध्यवसित आरोपितो भेदो यस्य स्वरूपस्य तदध्यवसितभेदं तत्र कया डित्थशब्दवाच्यतया डित्थशब्देन वाच्यत्वेन कोऽर्थो डित्थशब्दस्य यदेव स्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं तदेवाश्रित्य डित्थशब्दः प्रवृत्त इत्यर्थः, ततो डित्थशब्दवाच्यतया कृत्वा अध्यवसितभेदे आरोपितभेदे, कोऽर्थः स्वरूपमेव विशेष्यं विशेषणं चात्र यतो भावो वर्तत इति विशेषणं कस्य डित्थस्य । इदं च विशेष्यम् । नहि डित्थशब्दाद्व्यतिरिक्तं किञ्चिद्भावशब्देनाभिधीयते, अपि तर्हि तदेव परमध्यवसितभेदात्तदेव विशेष्यं विशेषणं च भवति । ३ किं विशिष्टेऽध्यवसितभेदे० क इव यथा शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यत्राव्यतिरिक्तेऽपि वस्तुनि व्यतिरिक्ते प्रत्ययो जायते तथाऽत्रापि । ४ परं कस्मादित्याह—श० बुद्ध्यावगृहीते शब्देन कृत्वा प्रत्ययो ज्ञानं तद्बलात् । ५ अत्रैव प्रस्तावे गोजतेर्भावो गोत्वं गोतेति गोशब्दस्य स्वरूपमित्युक्तम् । ततश्च गो० कोऽर्थो गोजातेः स्वरूपमिति हि किलात्रार्थः ।' ६ ननु गोशब्दस्य स्वरूपमित्युक्तम् गोजातेः स्वरूपमिति कथं लभ्यत इत्याह—श० जातिलक्षणोऽर्थस्ततो जातिलक्षणेनार्थेन गोशब्दस्याभेदः, य एव गोशब्दः स एव जातिलक्षणोऽर्थ इति, अत एव शब्दस्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं कोऽर्थो गोशब्दस्य स्वरूपं जातिस्तदेव प्रवृत्तिनिमित्तम् । ७ नित्यमेकमनेकवृत्तिसामान्यमित्यनेकवृत्तित्वज्ञापनायाह—व० वयो बाल्ययौवनवार्धकलक्षणमिति, मान्द्यकार्श्यलम्बकर्णादयो भेदा अवस्थाः, एवमुत्तरेषु भावना कार्या । ८ आकाशदिशोरेकत्वादुपचार आश्रीयते । ९ आदिशब्दादुपचारो गृह्यते, यदा गर्गशब्देन गर्गं उपचारात्तदपत्यानि वा अभिधीयन्ते तदापि भावप्रत्ययान्तस्य जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तम् । ननु उपचारे आश्रिते समासकृत्तद्धितात्तु सम्बन्ध इति लक्षणस्य प्रवृत्तिरेव नास्ति, तत्कथमादिशब्देनोपचारो गृह्यते । यतस्तद्धितप्रत्ययान्तोऽपि तदा गर्गशब्दो नास्ति । उच्यते । तद्धितप्रत्ययान्तत्वं योग्यता व्याख्यातव्यं ततो योग्यतयाऽत्राप्यस्ति । १० युगपद्विवक्षायामित्यर्थः । सा च कथमित्युच्यते गर्गशब्देनापि सोऽप्यभिधीयते, गर्गस्यापत्यानि गर्गाश्चेत्यनया विवक्षया, स एवेतिकृत्वाऽभिन्नस्वरूपत्वम् ।

भावप्रत्ययात्प्रतीयत्ते न संबन्धः । अथ पञ्चालशब्दाद्युगपदपत्यजनपदाभिधायिनो भावप्रत्ययेन किमभिधीयते ? प्रवृत्तिनिमित्तसंघातः यथा धवखदिरत्वमिति जातिसंहतिः । एतेनाऽक्षत्वं पादत्वं माषत्वमित्यादीन्यपि व्याख्यातानि । अव्यभिचरितसंबन्धास्तु प्रायः कृत्स्वेव भवन्ति । सतो भावः सत्त्वम् सत्ता विद्यमानता । अत्र हि जातावेव भावप्रत्ययः, न हि सद्वस्तु सत्तासंबन्धस्य व्यभिचरतीति सत्तासंबन्धानपेक्षणान्न संबन्धे; पाचक इत्यादौ तु संबन्धस्य कादाचित्कत्वात्तदपेक्षः पाचकादिशब्दः स्वार्थमभिधत्ते इति ततः संबन्धे प्रत्ययो युक्तस्तस्मात्सत्सु विद्यमानेषु च पदार्थेषु नित्यसमवायिनी शब्द-प्रवृत्तिः सत्तैव भावप्रत्ययवाच्या, न तु सत्सत्तयोः संबन्धः कश्चिदिति । ततः स्थितमेतत् रूढ्या-दिभ्योऽन्यत्रैव कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वप्रत्ययेनेति । "[४]त्वे वा" (६।१।२६) इति वच-नात्स्त्रीपुंसाभ्यां पक्षे नञ्स्नञावपि भवतः–स्त्रीत्वं स्त्रीता स्त्रैणम् । पुंस्त्वं पुंस्ता पौंस्नमिति । तल्प्रत्यये लकारः स्त्रीत्वार्थः । त्वान्तं तु "आत्वात्वादिः समूहज" इति वचनान्नपुंसकम् ॥ अत्राधिकारसूत्रं त्वेवम्–**"प्राक्त्वादगडुलादेः"** (७।१।५६) (त्वतलित्यनुवर्त्तते) "ब्रह्मणस्त्वः" (७।१।७७) इति सूत्रे यस्त्वशब्दस्तस्मात्प्राक् च त्वतलावधिकृतौ ज्ञेयौ, गडुलादीन् वर्जयित्वा । अपवादैः समावे-शार्थः कर्मणि विधानार्थश्चाधिकारः । अगडुलादेरिति किम् ? गाडुल्यम्, कामंडलवम् । एतेषु च त्वतलौ नानुवर्त्तेते । गडुल विशस्त दायाद बालिश संवादिन् बहुभाषिन् शीर्षघातिन् शीर्षघातिन् कमण्डलु; इति गडुलादयो नव । एषु कमण्डलोः "य्वृवर्णाल्लघ्वादेः" (७।१।६९) इत्यण्, शेषेभ्यस्तु राजा-देराकृतिगणत्वात् ट्यण् । गडुलादेरपि केचिदिच्छन्ति–गडुलत्वं गडुलता ॥ ८५ ॥

नञ्तत्पुरुषादबुधादेः ॥ ८६ ॥ [सि० ७।१।५७]

अबुधादिवर्जादस्मात्त्वतलावेव स्याताम् । अशुक्लत्वं अशुक्लता । अबुधादेरिति किम् ? आबुध्यं आचतुर्यम् । *"पृथ्वादेरिमन्वा" (७।१।५८) । भावे ॥ पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढस्य ऋतो रः इमनि णीष्ठेयस्सु च परेषु ॥ ८६ ॥

"नञ्० । अबुधादीत्यादि, अयं भावः–बुधाद्यन्तवर्जात् नञ्तत्पुरुषात् त्वतलौ स्याताम् । प्राक्त्वा-द्यमप्यधिकारः ष्यणादिबाधनार्थं ज्ञेय इति । अशुक्लत्वमशुक्लतेत्यादौ वर्णलक्षणष्यणबाधया त्वतला-वेव । अशौक्ल्यमकार्ष्ण्यमिति ट्यणन्तेन समासः, समासात्तु ट्यणि नञो वृद्धिः प्रसज्यते । एवमपति-त्वमपतिता–अत्र पत्यन्तलक्षणट्यणबाधः । अनाधिपत्यमगाणपत्यमिति प्रत्ययान्तेन समासः । अरा-जत्वमराजता–अत्र राजान्तलक्षणट्यणबाधः । अनाधिराज्यम्, अयौवराज्यमिति तु प्राग्वत् । अमू-र्खत्वममूर्खता–अत्र गुणाङ्गलक्षणट्यणबाधः । अमौर्ख्यमजाड्यमिति प्राग्वत् । अस्थविरत्वमस्थविरता–अत्र वयोलक्षणाणबाधः । अस्थावरमिति प्राग्वत् । अहायनत्वमहायनता–अत्र हायनान्तलक्षणाण्-बाधः । अद्वैहायनमिति प्राग्वत् । अपटुत्वं अपटुता–अत्र य्वृवर्णलक्षणाणबाधः । अपाठवमलाघव-मिति प्राग्वत् । अरमणीयत्वमरमणीयता–अत्र योपान्त्यलक्षणाकञ्बाधः । अरामणीयकमकामनी-

---

१ युगपदभिधायित्वं च कथमित्युच्यते पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः, द्वितीयपञ्चालशब्दस्तु प्रत्ययरहितो जनपदवाची, ततः पञ्चालाश्च पञ्चालाश्चेत्येकशेषे । कृते युगपदभिधानं भवति । २ अपत्यजनपदरूपः । ३ अक्षशब्देनेन्द्रियपाशबिभीतकादीन्यु-च्यन्ते । पादशब्देन चरणकिरणश्लोकचतुर्थांशप्रत्यन्तपर्वताः, माषशब्देन धान्यविशेषदशार्द्धगुञ्जवृक्षविशेषा उच्यन्ते, तत एकशेषे त्वप्रत्ययः । ननु यथा धवखदिरत्वमिति दृष्टान्त उक्तस्ततश्चात्र जातिसंहतिर्वाच्या कथं भवति, यतः समासकृत्तद्धितात्तु सम्बन्ध इति लक्षणसम्बन्ध एव प्रवृत्तिनिमित्तं प्राप्नोति । उच्यते । प्रायिकमेतत् ज्ञातव्यम्, ततो द्वन्द्वेऽपि सम्बन्धो नाभिधीयते किन्तु जातिसंहतिरेवोच्यते । ४ 'प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ् स्नञ्' इत्यस्मादग्रेतनेन सूत्रेणेत्यर्थः ।

यकमिति प्राग्वत् प्रत्ययान्तेन समासः । नञ्तत्पुरुषादिति किम् ? न विद्यते पतिरस्य अपतिर्ग्रामस्तस्य भावः कर्म वा आपत्यमाराज्यमाहायनमारमणीयकमित्येव स्यात् । बुधाद्यन्तात्तु नञ्तत्पुरुषादत् त्यणादयः स्युः । तथा चाह—अबुधस्य भावः कर्म वा आबुद्ध्यमाचतुर्यम् । बुध, चतुर, संगत, लवण, वडक, तरस, (चण्ड, कतु, रस ?) लस, यथा, तथा, यथातथ १० यथापुर, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, संवादिन्, संवेशिन्, संभाषिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन्, समस्थ, विषमस्थ, २० पुरस्थ, परमस्थ, मध्यस्थ, मध्यमस्थ दुःपुरुष, कापुरुष, विशाल, २७ इति बुधादयः सप्तविंशतिः । एभ्यो नञ्तत्पुरुषेभ्यो राजादित्वात् त्यण् । गडुलविशस्तदायादानामपि पाठं केचिदिच्छन्ति । अन्ये तु बुधादीनामष्टानामेव प्रतिषेधमिच्छन्ति । एषामेव च विकल्पमपरे । अथ त्यणन्तानां बुधादीनां नञ्समासः स्यात् (न वा ?) बुधस्य भावः कर्म वा बौध्यम्, न बौध्यमबौध्यमिति भवतीत्येके । नेत्येके ॥ **"त्वते गुणः"** (३।२।५९) । परतः त्र्यनूङ्गुणवचनशब्दस्त्वत इत्येतयोः पुंवद्भवति । पट्व्या भावः—पटुत्वमिति । एवमेन्या भाव एतत्वम् २, श्येन्या श्येतत्वं २ । त्वत इति किम् ? पट्वीरूप्यं पट्वीमयम् । गुण इति किम् ? कठीत्वं कठीता, दत्तात्वं दत्ताता, कर्त्रीत्वं कर्त्रीता केचित्तु जातिसंज्ञावर्जितस्य विशेषणमात्रस्य पुंवद्भावमिच्छन्ति—पाचिकायाः भावः पाचकत्वं २ । मद्रिकाया मद्रिकत्वं २ । गुणद्वारेण गुणिनि वर्त्तमानो गुणवचनो गृह्यते, गुणमात्रवृत्तेरस्त्रीलिङ्गत्वात्पुंवद्भावाप्राप्ते अनुकूलं वर्त्तते "तं प्रत्यनोर्लोम०" (६।४।२८) इति इकण्, तत आनुकूलिक्या भाव आनुकूलित्वं २ । आक्षिक्या आक्षिकत्वं २ । द्वितीयाया द्वितीयत्वं २ । पञ्चम्याः पञ्चमत्वं २ । माथुर्याः माथुरत्वम् २ । स्रौघ्न्याः स्रौघ्नत्वं २ । चन्द्रमुख्याश्चन्द्रमुखत्वं २ । सुकेश्याः सुकेशत्वं २ । "सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वमिथ्यापवादममृजन्वननिम्नगानाम्" । तथा रसवत्या धूसवत्त्वम्, भुवस्तृणवत्त्वम्, शालाया दण्डित्वमित्यादौ पुंवद्भावः । तलि युक्त्या "देवात्तल (७।२।१६२) इति तलि देव एव देवतेत्यत्र नामग्रहणेति न्यायाद्देवीशब्दादपि तलि देवतेति सिद्धम् । ऐश्वर्यादिगुणाभिधायकत्वाद्देवीशब्दोऽपि गुणवचनः । जातिवाचित्वे तु देव्येव देवीता, देव्या भावो देवीत्वम् । **"पृथ्वा०"** प्राक्त्वादित्यधिकाराच्च त्वतलौ । वावचनाद्यश्चाणादिः प्राप्नोति, सोऽपि भवति । अत्रोपयोगि सूत्रम्, **"पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढस्य ऋतो रः"** (७।४।३९) स्पष्टम् ॥ ८६ ॥ पुनरपि प्रकृतोपयोगिसूत्रम् ।

त्र्यन्त्यस्वरादेः ॥ ८७ ॥ [सि० ७।४।४३]

तुरन्त्यस्वरादेश्चेमनि ण्यादौ च लुक् स्यात् । प्रथिमा ॥ ८७ ॥

"त्र्यन्त्य०" तुरिति तृप्रत्ययस्य अन्त्यस्वरादेश्चावयवस्य इमनि णीष्ठेयस्सु च लुग् भवति । कर्तृमन्तमाचष्टे करयति, करिष्ठः, करीयान् । कर्त्तारमाचष्टे करयति । मातयति भ्रातयतीत्यत्र त्वनर्थकत्वात् (अनर्थकत्वं चास्याव्युत्पन्नत्वात्, तृप्रत्ययश्च वर्णानुपूर्वीविज्ञानार्थः) तृशब्दस्य न भवति । प्रकृते तु पृथोर्भावः प्रथिमेति सिद्धम् । एवं पटिमा, लघिमा । विमनसो भावो विमनिमा । सन्मनसो भावः सन्मनिमा । दृढादित्वादिमन् । विन्मतोर्लुपि अनेकस्वरस्यान्त्यस्वरादेर्लुपं विकल्पेनेच्छन्त्येके, लुगभावपक्षे णौ गुणं चेच्छन्ति । पयस्विनमाचष्टे पययति, पयसयति, पयिष्ठः पयसिष्ठः, पयीयान् पयसीयान् । वसुमन्तमाचष्टे वसयति, वसिष्ठः, वसविष्ठः, वसीयान्, वसवीयान् । अत्र विशेषोऽयम्—**"नैकस्वरस्य"** (७।४।४४) एकस्वरस्य योऽन्त्यस्वरादिरवयवस्तस्य इमनि ण्यादौ लुक् न स्यात् । स्रजयति स्रजिष्ठः स्रजीयान् । अथ "पृथ्वादेरिमन्वा" (७।१।५८) इत्यत्र निर्दिष्टाः पृथ्वादयश्चेमे—पृथु, मृदु, पटु, महि, तनु, लघु, बहु, साधु, आशु, उरु, १० गुरु, खण्ड, पाण्डु, (बहुल,

चण्ड, खण्ड, ?) अकिञ्चन, बाल, होड, पाक, वत्स, मन्द, स्वादु, २० ऋजु, वृष, कुदु (कटु कुटु ?) ह्रस्व, दीर्घ क्षिप्र, प्रिय, महत्, अणु, ३० चारु, वक्र, वृद्ध, काल, तृप्त, (तृप्र ?) इति पृथ्वादयः पञ्चत्रिंशत् (?) ॥ ८७ ॥ अत्रैव प्रत्ययान्तरमाह—

य्वृवर्णाल्लघ्वादेः ॥ ८८ ॥ [सि० ७।१।६९]

लघुरादिः समीपे येषाम् इ–उ–ऋवर्णानां तदन्तेभ्यो भावे कर्मणि चाण् स्यात् । पार्थिवम् । त्वतल्रूपे चाधिकारादनुवर्त्तनीये । पृथुत्वम् । पृथुता । म्रदिमा । मार्दवम् ॥ ८८ ॥

"य्वृ०" । लघुरादिः समीपे इति–अत्र आदिग्रहणं समीपमात्रार्थं तेन तितउ इत्यत्राव्यवहिते शुच्यादौ चैकवर्णव्यवहिते लघुनि भवति । कर्मणि चेति–"पतिराजान्त०" (७।१।६०) इति सूत्रात् कर्मणि चेत्यनुवर्त्तते । ततोऽयमण्प्रत्ययः कर्मणि भावे चेत्यर्थद्वये स्यादिति । पृथोर्भावः कर्म वा पार्थवमिति सिद्धम् ॥ त्वतल्रूपे चेत्यादि स्पष्टम् । इउऋवर्णान्तानामुदाहरणान्येवम्–शुचेर्भावः कर्म वा शौचं शुचित्वं शुचिता । शकुनेः शाकुनं मुनेर्मौनं सम्मतेः साम्मतम् । कवेर्भावः कर्म वा काव्यमिति तु राजादिपाठात् । नखरजन्या नाखरजनं हरीतक्या हारीतकम् । तितउनस्तैतवं पटोः पाटवं लघोर्लाघवं वध्वा वाधवं पितुः पैत्रम् । केचित्तु कृशानोः कार्शानवं अरत्नेरारत्नं आरातेराराततमित्यादिष्वपीच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं लघ्वादेरिति प्रकृतेर्विशेषणं न य्वृवर्णस्येति व्याख्येयम् । तन्मते साम्मतमिति न भवति ॥ ८८ ॥

अथेमनि प्रत्यये केषांचिदादेशविशेषानभिधातुमाह ।

प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घवृद्धवृन्दारकस्येमनि च प्रास्थास्फावर-गरबंहत्रपद्राघवर्षवृन्दम् ॥ ८९ ॥ [सि० ७।४।३८]

प्रियादीनां दशानां यथासम्भवमिमनि णीष्ठेयसुषु च प्रादयो दशादेशा भवन्ति । प्रियस्य भावः प्रेमा प्रियत्वम् प्रियता । स्थेमा २, स्फेमा २, वरिमा २, गरिमा २, बंहिमा २, त्रपिमा २, द्राघिमा २, वर्षिमा २, वृन्दिमा २ ॥ ८९ ॥

"प्रिय०" । सूत्रं कण्ठ्यम्, वृत्तिश्च स्पष्टा । स्थेमेत्यादौ द्विकेनांकेन त्वतल्रूपे सर्वत्रानुवर्त्तनीये, स्थिरत्वं स्थिरतेत्यादि ॥ अत्र स्फिरशब्दस्यावर्णत्वादपृथ्वादित्वाद्दृढादित्वाच्च नेमन्प्रत्ययः, ततश्च स्फिरत्वं स्फिरता विस्तीर्णत्वमित्यर्थः । णीष्ठेयसुषु तु स्फादेशे स्फापयति स्फेष्ठः स्फेयान् ॥ 'स्थविरपि-ठिरस्फिराजिरादयः" (उणा० ४१७) । एते किदिरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, स्फायतेर्डिच्च स्फिरः स्फारः वृद्धिश्च । 'तृपौच् प्रीतौ' च तृप्रम्–मेघान्तधर्म आज्यं काष्ठं पापं दुःखं च । 'ऋज्यजि०' (उणा० ३८८) । इत्यादिना किद्रःप्रत्ययान्तोऽयं सिद्ध्यति ॥ ८९ ॥

भूर्लुक्चेवर्णस्य ॥ ९० ॥ [सि० ७।४।४१]

बहोरीयसाविम्नि च भूः स्याल्लुक् चानयोरिवर्णस्य । (भूयान्) भूमा ॥ ९० ॥

"भू०" सवृत्तिकं सूत्रं स्पष्टम् । भूमेति–बहुत्वं बहुतेत्यप्यनुवर्त्तनीयम् ॥ ९० ॥

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्रस्यान्तस्थादेर्गुणश्च नामिनः ॥ ९१ ॥ [सि० ७।४।४२]

एषां षण्णामिम्नि ण्यादौ चान्तस्थादेरवयवस्य लुग्, नामिनश्च गुणः । स्थविमा २, दविमा २, ह्रसिमा २, क्षेपिमा २, क्षोदिमा २ ॥ ९१ ॥

"स्थूल०" सूत्रवृत्ती स्पष्टे ॥ ९१ ॥ पुनरपि भावेऽर्थे प्रत्ययान्तरमाह–

वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा ॥ ९२ ॥ [सि० ७।१।५९]

वर्णविशेषेभ्यो दृढादिभ्यश्च भावे ट्यण् इमन् च वा । शौक्ल्यं शुक्लिमा २ । दार्ढ्यं द्रढिमा २ ॥ ९२ ॥

"वर्ण०" । वर्णविशेषेभ्य इति–वर्णविशेषाः शुक्लादयः । इमन्च वेति–वावचनाद्यथाप्राप्तं प्राप्नोति, सोऽपि भवति । अधिकारप्राप्तौ च त्वतलौ । ततो य्वृवर्णान्तस्य पाञ्चरूप्यम् । शितेर्भावः शैत्यं, शितिमा, शितित्वं शितिता, शैतम् । ट्यणष्टित्वं ङ्यर्थम्, तेन आर्हन्त्यमित्यत्र ङ्यां आर्हन्ती । एवमौचिती, याथाकामी, सामग्री, शैली, पारिख्याती, आनुपूर्व्वी । दृढ, वृढ, परिवृढ, कृश, भृश, चुक्र, शुक्र, आम्र, ताम्र, अम्ल १० लवण, शीत, उष्ण, तृष्णा, जड, बधिर, मूक, मूर्ख, पण्डित, मधुर, २० वियात, विलात, विमनस्, विशारद, विमति, सम्मति, सम्मनस्, २७ इति दृढादयः सप्तविंशतिः । बहुवचनादाकृतिगणोऽयम्–तेन स्थैर्यं स्थेमेत्याद्यपि सिद्धम् ॥ ९२ ॥

पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च ॥ ९३ ॥ [सि० ७।१।६०]

पत्यन्तेभ्यो राजान्तेभ्यो गुणः प्रवृत्तिनिमित्तं येषां तेभ्यो राजादिभ्यश्च भावे कर्मणि च ट्यण् स्यात् । अधिपतेर्भावः कर्म वा आधिपत्यम् २, आधिराज्यं २, मौढ्यं २, राज्यं २, काव्यं २, सौभाग्यं २ । भावे कर्मणि च इत्यनुवर्त्तनीयमधिकारात् ॥ ९३ ॥

"पति०" गुणः प्रवृत्तिनिमित्तमिति–[द्रव्याश्रयी गुणः, गुणोऽङ्गं निमित्तं येषां प्रवृत्तौ ते गुणाङ्गाः] गुणद्वारेण ये गुणिनि वर्त्तन्ते न तु गुणवचना एवेति । राजन्, कवि, ब्राह्मण, माणव, दण्डमाणव, वाडव, चौर, धूर्त्त, आराधय, विराधय, उपराधय, अपिराधय, अनृशंस, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, चौक्ष, सुस्थ, विश्वस्त, २० विफल, विशस्य, पुरोहित, ग्रामिक, खण्डिक, दण्डिक, कर्मिक, चर्मिक, वर्मिक, शिलिक, ३० सूतक, अजिनिक, अञ्जनिक, अञ्जलिक, छत्रिक, सूचक, सुहित, बाल, मन्द, होड ४० राजादयश्चत्वारिंशत् ४० बहुवचनादाकृतिगणः ॥ ९३ ॥

---

१ द्रव्याणामेवाश्रय एवास्यास्तीति, ततो द्रव्यमेवाश्रयो यस्येति जातेर्व्यवच्छेदः । अयं चैवकारोऽन्ययोगं व्यवच्छेदयति । नहि जातिर्द्रव्यमेवाश्रयति, किंतु गुणमपि इति जातिर्गुणो न भवति । आश्रय एवेति किमुक्तं भवति, केवलो गुणो न भवति किन्तु द्रव्यमेवाश्रयति, अनेन चायोगव्यवच्छेदः, तेनोत्क्षेपणावक्षेपणेति या तार्किकाणां क्रियी, तस्यापि गुणसंज्ञा न भवति, यत्तस्या आश्रय एव नास्ति । २ नहि मूढो गुणोऽपि भण्यते किन्तु मोहगुणद्वारेण गुणिन्येव वर्त्तते । अतो गुणोऽङ्गं प्रवृत्तिनिमित्तमस्यापि विद्यते इति गुणाङ्गः, न तु गुणवचनाः । गुणवचना हि पूर्वं गुणे पश्चाद् गुणिनि वर्त्तन्ते, एतावता रूपादीनां व्युदासः । ३ आङ्पूर्वाद्राधेः ण्यन्तादत एव निपातनात् शः, एवमुत्तरत्रयेऽपि । ४ नृन् शंसत्यण्, ततो नञा योगः । ५ चुक्षा शीलमस्य 'अक्स्था'–इत्यन् ।

अर्हतस्तोन्त् च ॥ ९४ ॥ [सि० ७।१।६१]

असात् ट्यण्, तस्य न्तादेशः । आर्हन्त्यं २ । "सहायाद्वा" (७।४।६२) । ट्यण् । साहाय्यम् ॥ ९४ ॥

"अर्ह०" । अरिहननात् रजोहननात् रहस्याभावाच्च अर्हन् पृषोदरादित्वात्; यद्वा चतुस्त्रिंशतमतिशयान् सुरेन्द्रादिकृतां पूजां चार्हतीत्यर्हन् । आर्हन्त्यमार्हन्ती अर्हत्त्वमर्हत्ता । "ट्यण् कर्त्रनटौ क्वचित्" इति लिङ्गानुशासनवचनात् ट्यणप्रत्ययान्तं नाम लक्ष्यानुसारेण स्त्रीक्लीबलिङ्गम् *औचित्यं औचिती, याथाकाम्यं याथाकामी, वैदग्ध्यं वैदग्धी, मैत्र्यं मैत्री, आनुपूर्व्यं आनुपूर्वी, चातुर्यं चातुरी, सामग्र्यं सामग्री । टित्त्वात् ङीः, "व्यञ्जनात्तद्धितस्य" (२।४।८८) इति यलुक् । "सहा०" ॥ ९४ ॥ वावचनात् पक्षे सूत्रमाह ।

योपान्त्याद्गुरूपोत्तमादसुप्रख्यादकञ् ॥ ९५ ॥ [सि० ७।१।७२]

त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमं तत्समीपमुपोत्तमं तद्गुरुर्यस्य तस्माद्योपान्त्यात्सुप्रख्यवर्जादकञ् स्यात् । साहायकं २ । रामणीयकं २ । "चौरादेः" (७।१।७३) । अकञ् । चौरिका चौरकं चौर्यम् । "सखिवणिग्दूताद्यः" (७।१।६३) सख्यं २ । वणिज्या वाणिज्यम् २ । दूत्यं दौत्यं २ । स्तेनान्न लुक् च" (७।१।६४) । स्तेनाद्यो वा न लुक् ये । स्तेयं स्तैन्यं २ । "कपिज्ञातेरेयण्" (७।१।६५) कापेयम् । "प्राणिजातिवयोऽर्थादञ्" (७।१।६६) । आश्वं २ । कौमारं २ ॥ "युवादेरण्" (७।१।६७) । यौवनं २ । स्थाविरं २ । "पुरुषहृदयादसमासे" (७।१।७७) अण् । पौरुषम् २ ॥ ९५ ॥

"योपा०" तद्गुरुर्यस्येति गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । आचार्यकम् । गुरुग्रहणं हि दीर्घपरिग्रहार्थं संयोगपरिग्रहार्थं च । रामणीयकमिति–एवं दार्शनीयकम् २ । पानीयकं २ । औपाध्यायकं । अत्र सर्वत्र द्विकेनाङ्केन त्वतलूरूपे अनुवर्त्तनीये । सुप्रख्यवर्जनात् सौप्रख्यम् २, गुणाङ्गत्वात् ट्यण् । सूत्रम् "चौरा०" । एभ्यो भावे कर्मणि चाऽकञ् स्यात् । चौरस्य भावः कर्म वा चौरिका चौरकम् २ । धौर्त्तिका धौर्त्तकम् । मानोज्ञकम् । प्रैयरूपकम् । चौर, धूर्त्त, युवन्, ग्राम, पुत्र, (ग्रामपुत्र) ग्रामसाण्ड, ग्रामसण्ड, ग्रामकुमार, ग्रामकुल, ग्रामकुलाल, १० आमुष्यपुत्र, अमुष्यकुल, शरपत्र, शारपत्र, मनोज्ञ, प्रियरूप, अदोरूप, अभिरूप, बहुल, मेधाविन्, २० कल्याण, आढ्य, सुकुमार, छान्दस, छात्र, श्रोत्रिय, विश्वदेव, ग्रामिक, कुलपुत्र, सारपुत्र, ३० वृद्ध, अवश्यम्, ३२ इति चौरादयो द्वात्रिंशत् । अत्र मनोज्ञादीनामकञन्तानां नपुंसकत्वमेव । पूर्वेषां तु "चौराद्यमनोज्ञाद्यकञिति' स्त्रीनपुंसकते । चौर्यं धौर्त्यं ग्रामिक्यमिति राजादित्वात् ट्यणपि ॥ **"द्वन्द्वाल्लित्"** (७।१।७४) द्वन्द्वसमासान्तस्य भावे कर्मणि चाकञ् स्यात् (स च लित्, त्वतलौ च) लित्करणं स्त्रीत्वार्थम् । गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका, शैष्योपाध्यायिका, कौत्सकुशिकिका, विश्व पक्षी, ना च नरः, वित्रोर्भावः कर्म वा वैत्रिका, अत्र "वृवर्णाल्लघ्वादेः" (७।१।६९) इत्यणि प्राप्ते परत्वादकञ् । एवं भारतबाहुबलिका, गोपालपशुपालत्वं गोपालपशुपालता । **"गोत्रचरणात् श्लाघात्याकारप्राप्त्यवगमे"** (७।१।७५) आभ्यां श्लाघादिषु

विषयभूतेषु भावे कर्मणि च लिदकञ् स्यात् । श्लाघा विकत्थनम्, अत्याकारः पराधिक्षेपः, विषयभावः पुनः श्लाघादीनां क्रियारूपाणां भावकर्मणी प्रति साध्यत्वात् । गोत्रमपत्यं प्रवराध्यायपठितं च । चरणं शाखानिमित्तं कठादि । गार्ग्यस्य भावः कर्म वा गार्गिका, एवं काठिका; तया श्लाघते, विकत्थते, अत्याकुरुते, परं अधिक्षिपति; गार्गिकां काठिकां प्राप्तवान्, अधिगतवान्, एवमवगतवान्, ज्ञातवान्, गार्ग्यत्वेन गार्ग्यतया श्लाघते इत्यादि । **"होत्राभ्य ईयः"** (७।१।७६) होत्राशब्द ऋत्विग् (विशेष) वचनः । ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यो भावे कर्मणि च ईयः स्यात् । मैत्रावरुणस्य भावः कर्म वा मैत्रावरुणीयं मैत्रावरुणत्वं २ । अग्नीधः अग्नीधीयं २ । नेष्टुर्नेष्टीयं २ । पोतुः पौत्रीयं २ । ब्राह्मणाच्छंसिनो ब्राह्मणाच्छंसीयं २ । हूयते आभिरिति होत्रा, ऋच इत्येके । तान्येवोदाहरणानि । मैत्रावरुणादयस्तु ऋग्वचनाः । बहुवचनं स्वरूपविधिव्युदासार्थम् ॥ **"ब्रह्मणस्त्वः"** (७।१।७७) ऋत्विग्वाचिनोऽस्माद्भावे कर्मणि च त्वः स्यात् । ईयापवादः । ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम् । होत्राधिकारात् ब्राह्मणपर्यायाज्जातिवाचिनोऽस्मात्तलपि–ब्रह्मत्वं ब्रह्मता । **"सखि०"** "मृगव्यचव्ये च वणिज्यवीर्येति लिङ्गानुशासनवचनात् वणिज्या वणिज्यमिति स्त्रीनपुंसकत्वम् । एवं दूत्या दूत्यम् । राजादेराकृतिगणत्वात् ट्यणि वाणिज्यं दौत्यम् ॥ **"स्ते०"** ये इति–नलुक् च यप्रत्यये पर एव भवति नान्यत्र । स्तेनत्वं स्तेनता । राजादिदर्शनात् ट्यणपि स्तैन्यमिति । **"कपि०"** कापेयमिति–एवं ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयं २ । कपेरिकारान्तत्वात् "य्वृवर्णात्" इत्यणि प्राप्ते ज्ञातेश्च प्राणिजातित्वादञि प्राप्ते वचनम् । **"प्राणि०"** आश्वमिति–एवं द्वीपिनो द्वैपं हस्तिनो हास्तं अञि "नोऽपदस्य०" (७।४।६१) इत्यन्त्यस्वरादिलुप् । कौमारमिति–एवं कैशोरं शावं बार्करं कालभम् । प्राणिग्रहणात् तृणत्वमित्यादौ, जातिग्रहणात् देवदत्तत्वमित्यादावञ् न स्यात् ॥ **"युवा०"** लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् यूनो युवतेर्भावः कर्म वा यौवनम्, चौरादिपाठाद्यौवनिकेत्यपि भवति । युवन्, स्थविर, यजमान, कुतुक, श्रमण, श्रमणक, श्रवण, कमण्डलुक, कुस्त्री, दुःस्त्री, १० सुस्त्री, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृत्, दुर्हृत्, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिव्राजक, सब्रह्मचारिन्, २० अनृशंस, चपल, कुशल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ, उद्गातृ, उन्नेतृ, प्रशास्तृ, ३० प्रतिहर्तृ, होतृ, पोतृ, भ्रातृ, भर्तृ, रथगणक, पत्तिगणक, सुष्टु, दुष्टु, अध्वर्यु, ४० कर्तृ, मिथुन, कुलीन, सहस्, (सहस्र ?) कण्डक, कितव, इति युवादयः षट्चत्वारिंशत् ४६ । स्थविरश्रमणपिशुननिपुणकुशलचपल–अनृशंसेभ्यो राजादिदर्शनात् ट्यणपि भवति । स्थावर्यं श्रामण्यमित्यादि । पूर्वत्राणि द्वैपादि न सिद्ध्यति अणीत्यन्त्यस्वरलोपनिषेधात्, इह त्वञि यौवनादि न सिद्ध्यति अन्त्यस्वरादिलोप-

---

१ न विशेषणेषु यतो विशेषणानि न घटन्ते, कुत इति चेत् ? उच्यते–भाव इति शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिह गृह्यते । गार्गिका इत्यादिषु न श्लाघादयः प्रवृत्तिनिमित्तान्यपि तर्हि गर्गत्वमिति । कर्म इति च क्रिया गृह्यते, अतः क्रिया क्रियाविशेषणं न संभवतीति श्लाघादिषु विषयभूतेष्विति व्याख्यातम् । २ भावकर्मभ्यां कर्तृभ्यां श्लाघादयो यत्र साध्यन्ते इति तात्पर्यम् । विषयभाव इत्यादिना श्लाघादीनां भावकर्मणी प्रति विषयमाह, एषां च भावकर्मणी प्रति विषयत्वं भावकर्मसाध्यत्वात्, क्रियारूपत्वाच्च तेषां भावकर्मणी प्रति साध्यत्वमुपपद्यत एव, भावकर्मणोः सत्त्वात्मनोस्तत्र कारकत्वोपपत्तेरिति श्लाघादीनां कारके भावे कर्म्मणि च प्रत्यय इत्यर्थः, अयमर्थः–श्लाघाद्या हि क्रियाः, ताश्च कारकैरेव साध्याः, कारकाणि चात्र भावकर्मरूपाण्येवेति तैः साध्यत्वम् । ३ प्रवरमाद्यं गोत्रं तस्याध्यायस्तत्र पठितं यद्गोत्रं तदप्यभिधीयते, एतेन किमुक्तं भवति, द्विविधमिह गोत्रं गृह्यते, तेन मित्रयोर्भावः कर्म वेति कृते मैत्रेयिकेत्यत्र प्रयोजनम् । ४ स्त्रीलिङ्गोऽपि सन् ऋत्विजः प्राह । ५ ईयेत्युपलक्षणं तलोऽप्ययमपवादः । अन्यथा ईयस्यैव प्रतिषेधे ब्रह्मणो नेति सूत्रं कुर्यात् । ६ न केवलं 'भावे त्वतल्' इत्यनेन त्वः किन्तु तलपि, अयमर्थः–ऋत्विग्वचनस्य ब्राह्मणवचनस्य च त्वप्रत्ययः समानः, तेन जातिवचनस्य तलपि भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चेदं तेन ब्रह्मणो भावः कर्म वा प्राणिजात्यञि ब्राह्ममित्यपि ॥ ७ यद्यपि कपिशब्दस्य प्राणिजातित्वं तथापि विशेषत्वात् 'य्वृवर्ण०' इत्यणि प्राप्ते ।

प्राप्तेः इत्यणोरुपादानम् । **"हायनान्तात्"** (७।१।६८) हायनान्तेभ्यो भावे कर्मणि चाण् स्यात् । द्वैहायनं २ । त्रैहायनं २ । अत्रावयोवचनत्वात् "चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि" (२।३।७४) इति णत्वं न भवति । वयसि तु पूर्वेणाञ्–त्रैहायनं चातुर्हायणम् । **"पुरु०"** (७।१।७०) स्पष्टम् ॥ ९५ ॥ अत्रोपयोगि सूत्रमाह ।

हृदयस्य हृल्लासलेखाण्ये ॥ ९६ ॥ [सि० ३।२।९४]

लासादिषु हृदयस्य हृत्स्यात् । हार्दम् २ । समासे तु सुपुरुषत्वम् परमहृदयत्वम् ॥ ९६ ॥

इति भावकर्माधिकारः ।

"हृद०" लासश्च लेखा च अण् च यश्च लासलेखाण्यं तस्मिन् । एषु हृदयस्य हृद् स्यात् । असमास इति किम् ? परमपौरुषम्, परमहार्दमित्यादि मा भूत्; अत एव निषेधात्सापेक्षादपि भावप्रत्ययो विज्ञायते, तेन काकस्य कार्ष्ण्यम्, बलाकायाः शौक्ल्यमित्यादि सिद्धम् । पौरुषमिति प्राणिजात्यञ्यपि सिद्धम्, समासविषये प्रतिषेधार्थं पुरुषोपादानम् । आदिशब्दात् **"श्रोत्रियाद्यलुक् च"** (७।१।७१) श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम् श्रोत्रियत्वम् । इतिशब्दः समाप्तौ । भावकर्माधिकारः समाप्त इति ॥ ९६ ॥

शाकटादयो यथार्हं क्षेत्रे वाच्याः । इक्षुशाकटं शाकशाकिनम् । व्रैहेयम् । मौद्गीनम् । यव्यं यवक्यं षष्टिक्यम् ॥ "पील्वादेः कुणः पाके" (७।१।८७) ॥ "कर्णादेर्मूले जाहः" (७।१।८८) ॥ "पक्षात्तिः" (७।१।८९) । मूले ॥ "हिमादेलुः सहे" (७।१।९०) ॥ "बलवातादूलः" (७।१।९१) ॥ "शीतोष्णतृप्रादालुरसहे" (७।१।९२) । तृप्रं दुःखम् ॥

शाकटादय इत्यादि । अत्र सूत्रम् **"शाकटशाकिनौ क्षेत्रे"** (७।१।७८) । तस्येति वर्त्तते । क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्तिभूमिः । षष्ठ्यन्तात्क्षेत्रेऽर्थे एतौ स्याताम् । इक्षूणां क्षेत्रं इक्षुशाकटम्, शाकानां क्षेत्रं शाकशाकिनम् ॥ व्रैहेयमिति– **"व्रीहिशालेरेयण्"** (७।१।८०) । व्रैहेयम् । शालेयम् ॥ मौद्गीनमिति– **"धान्येभ्य ईनञ्"** (७।१।७९) । कौलत्थीनम्, मौद्गीनम् । यव्यमिति– **"यवयवकषष्टिकाद्यः"** (७।१।८१) । यवक्यमिति–यव विशेषा एव यवकाः । षष्टिरात्रेण पच्यमानाः व्रीहयः षष्टिकाः, अत एव निर्देशात् एभ्यस्त्रिभ्यः क्षेत्रेऽर्थे यो वा पक्षे ईनञ् । **"वाणुमाषात्"** (७।१।८२) । पक्षे इनञ् । अणूनां क्षेत्रमणव्यम्, आणवीनम् । माष्यं माषीणम् ॥ **"वोमाभङ्गातिलात्"** (७।१।८३) । उमा अतसी, भङ्गा शणम्, द्वे अपि धान्ये । एवं उम्यं औमीनम् । भङ्ग्यं भाङ्गीनम् । तिल्यं तैलीनम् ।

इति क्षेत्रप्रकरणम् ।

अत्रादिशब्दात् **"अलाब्वाश्च कटो रजसि"** (७।१।८४) । षष्ठ्यन्तात् अलाबूशब्दात् उमादिभ्यश्च रजस्यर्थे कटः प्रत्ययः स्यात् । अलाब्वा रजः अलाबूकटम्, उमाकटम्, भङ्गाकटम्, तिलकटम् ॥ **"अह्ना गम्येऽश्वादीनञ्"** (७।१।८५) षष्ठ्यन्तादश्वादेकेनाह्ना गम्येऽर्थे ईनञ् स्यात् । अश्वस्यैकेनाह्ना गम्यः, आश्वीनोऽध्वा ॥ **"कुलाज्जल्पे"** (७।१।८६) । ईनञ् । कुलस्य जल्पः कौलीनम् ॥ **"पील्वादेरिति षट्सूत्री स्पष्टा ।** पीलूनां पाकः पीलुकुणः । पीलु, कर्कन्धु, शमी, करीर, बदर, कुवल, अश्वत्थ, खदिर, इति पील्वादयोऽष्टौ ॥ कर्णादेरिति–कर्णस्य मूलं कर्णजाहम् । कर्ण, अक्षि, आस्य, वक्त्र, नख, मुख, केश, दन्त, ओष्ठ, भ्रू, १० शृङ्ग, पाद, गुल्फ, पुष्प, फल, १५ इति कर्णादयः पञ्चदश ॥ पक्षस्य मूलं पक्षतिः । हिमस्य सहः हिमं सहमानः हिमेलुः । बलस्य सहः बलं सहमानः बलूलः । एवं वातूलः । शीतस्यासहः शीतमसहमानः शीतालुः, एवमुष्णालुः तृप्रालुः ॥

आदिशब्दात् **"यथामुखसम्मुखादीनस्तद्दृश्यतेऽस्मिन्"** (७।१।९३) आभ्यां प्रथमान्ताभ्यां सप्तम्यर्थे ईनः स्यात्, प्रथमान्तं चेद्दृश्यते इति भवति । यथामुखं दृश्यतेऽस्मिन् यथामुखीनः आदर्शादिः । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखं प्रतिबिम्बमुच्यते, अत एव निपातनात् "यथाऽथा" (३।१।४१) इति प्रतिषेधेऽप्यव्ययीभावः । समं मुखं सम्मुखं समं मुखमस्यानेन वा सम्मुखं प्रतिबिम्बमेव, अत एव निपातनात् समशब्दस्यान्तलोपः । सम्मुखं दृश्यतेऽस्मिन्निति सम्मुखीनः यथामुखीनः सीताया इति । सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणामिति तु उपमानात् ।

सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रशरावं व्याप्नोति ॥ ९७ ॥ [सि० ७।१।९४]

सर्वशब्दपूर्वेभ्य एभ्यः षड्भ्यो व्याप्नोतीत्यर्थे ईनः स्यात् । सर्वपथीनो रथः । सर्वाङ्गीणं शम् । सर्वकर्मीणो ना । सर्वपत्रीणो यन्ता । सर्वपात्रीणं सर्वशरावीणं घृतम् । *अलङ्गामिन्यध्वनोऽमन्ताद्येनौ वाच्यौ–अध्वन्यः अध्वनीनः †समांसमीनसाप्तपदीनादयः साधवः ॥ ❀क्वचित्स्वार्थे ईनः–अषडक्षीणो मन्त्रः । अलङ्कर्मीणोऽलम्पुरुषीणो ना ॥ ९७ ॥

"सर्वा०" । एभ्यः षड्भ्यः इति–द्वितीयान्तेभ्य इति शेषः । सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनः । सर्वपथान् व्याप्नोति सर्वपथीनमुदकम् । सर्वाणि कर्माणि व्याप्नोति सर्वकर्मीणो ना पुमान् । यन्ता सारथिः ।

आदिशब्दात् **"आप्रपदम्"** (७।१।९५) । प्रगतं पदं प्रपदं पदाग्रमित्यर्थः । अथवा प्रवृद्धं पदं प्रपदम् । पदस्योपरिष्टात् संस्था खलुको गुल्फ इति यावत् । आङ् मर्यादायामभिविधौ वा । आ प्रपदात् आप्रपदम्, "पर्यपाङ्" (३।१।३२) इत्यादिनाव्ययीभावः । अस्माद्द्वितीयान्ताद्व्याप्नोतीत्यर्थे ईनः स्यात् । आप्रपदं व्याप्नोति न तदतिवर्त्तते यः स आप्रपदीनः पटः–अनेन पटस्य प्रमाणमाख्यायते ॥ **"अनुपदं बद्धा"** (७।१।९६) । द्वितीयान्तादनुपदशब्दाद्बद्धा इत्यर्थे ईनः स्यात् । [1]अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपानत्–पदप्रमाणेत्यर्थः । अनुपदमिति "दैर्घ्येऽनुः" (३।१।३४) इत्यव्ययीभावः ॥ **"अयानयं नेयः"** (७।१।९७) अस्माद्द्वितीयान्तान्नेय इत्यर्थे ईनः स्यात् । [2]अयानयं नेयः अयानयीनः शारः–फलकशिरसि स्थितः उच्यते । अयः प्रदक्षिणं गमनम्, अनयः प्रसव्यं वामम् । शारिद्यूते हि केचिच्छाराः प्रदक्षिणं गच्छन्ति केचित्प्रसव्यम्, तेषां गतिरयसहितोऽनयोऽयानय इत्युच्यते । [3]यस्मिन् परशारैः पदानामप्रवेशः तदुभयं नेयः अयानयीन इति [4]रूढिः । अथवा अयः शुभं दैवम्, अनयो अशुभम्, शुभाद्दैवादपवर्त्ततेऽशुभं दैवं यस्मिन् कर्मणि तदयानयं शान्तिकर्म्म चतुःशरणप्रतिपत्तिरनाघातघोषणं देवगुरुपूजा तपो दानं ब्रह्मचर्यादिनियमस्तद्यो नेयः कारयितव्यः सोऽयानयीन ईश्वर इति ॥ **"सर्वान्नमत्ति"** (७।१।९८) सर्वप्रकारमन्नं सर्वान्नं तदत्ति सर्वान्नीनः भिक्षुः । नियमरहितः । सर्वशब्दः प्रकारकार्त्स्न्ये ॥ **परोवरीणपरम्परीणपुत्रपौत्रीणम्"** (७।१।९९) । एते त्रयोऽनुभवत्यर्थे ईनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । परावरशब्दाद्द्वितीयान्तादीनः अवरशब्दाकारस्योत्वं निपातनात्; परांश्चावरांश्चानुभवति परोवरीणः । पारोवर्यमित्यत्रातीतक्रमवाचि परोवरमिति शब्दान्तरमिति **"सूरयः"** । [यदि प्रत्ययसन्नियोगे ओत्वम्, तत्कथमत्र तदभावे इत्याशङ्का] । "कथं पारोवर्यवदिति

---

१ पदं लक्ष्यीकृत्यायतं बन्धनमिति क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया भेदोपचाराद् बद्धेत्युच्यते । २ कर्म्मणि द्वितीया । यद्यपि नेयशब्देन कर्म्माभिधीयते, तथापि अयानयशब्दाद्द्वितीया भवत्येव–द्विकर्मकत्वात् । शार इत्येतदेव हि कर्म्माभिहितं नेतरत् । ३ दक्षिणगमने वामगमने च परशारा बाधिता भवन्ति । तस्मिन् परशारैः कर्तृभिः पदानां गृहकाणां कर्मभूतानां स्वशारैर्बद्धत्वात् अप्रवेशः । ४ प्रदक्षिणाप्रसव्यगामी च शारो नीयमानो न सर्वोऽयानयीन इत्युच्यते, अपि तु कश्चिदेवेति । अयमर्थः–यत्र फलके अक्षैर्दीव्यन्ति, तस्य यच्छिरोभूतं स्थानं कितवानां प्रसिद्धम्, तत्रस्थ एव शारोऽयानयीनः ।

असाधुरेवायम् । खप्रत्ययसन्नियोगेनैव परोवरेति निपातनात्" इति **सिद्धान्तकौमुद्याम्** । परपरतरशब्दादीनः, परम्परभावश्च; परान् परतरांश्चानुभवति परम्परीणः । मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीत्यत्र परम्पराशब्दस्त्वाबन्तो बाहुल्यार्थः प्रकृत्यन्तरम् । पुत्रांश्च पौत्रांश्चानुभवति पुत्रपौत्रीणः ॥ **"यथाकामानुकामात्यन्तं गामिनि"** (७।१।१००) । एभ्यस्त्रिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यो गामिन्यर्थे ईनः स्यात् । यथाकामं गामी यथाकामीनः । एवमनुकामीनः यथेच्छंगामीत्यर्थः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः—भृशं गन्तेत्यर्थः ॥ **"पारावारं व्यस्तव्यत्यस्तं च"** (७।१।१०१) । समस्तव्यस्तव्यत्यस्ताद्द्वितीयान्तात्पारावारशब्दाद्गामिन्यर्थे ईनः स्यात् । पारावारं गामी पारावारीणः, पारीणः; अवारीणः, अवारपारीणः ॥ **"अनुग्वलम्"** (७।१।१०२) अस्माद्द्वितीयान्तादलङ्गामिन्यर्थे ईनः स्यात् । गवां पश्चादनुगुः ॥ "विभक्तिसमीप०" (३।१।३९) इत्यादिनाव्ययीभावः अनुगु (तद्) अलं पर्याप्तं गामी अनुगवीनो गोपालकः ॥ *अलमित्यादि फक्किका स्पष्टा । अत्र सूत्रम्—**"अध्वानं येनौ"** (७।१।१०३) द्वितीयान्तादध्वन्शब्दात् अलङ्गामिन्यर्थे एतौ स्याताम् । अध्वानमलङ्गामी अध्वन्यः, अध्वनीनः "ईनेऽध्वात्मनोः" (७।४।४८) इत्यन्त्यस्वराद्यलुक् ।

आदिशब्दात् **"अभ्यमित्रमीयश्च"** (७।१।१०४) अस्माद्द्वितीयान्तादीयश्चकाराद्येनौ च स्युः । अमित्रस्याभिमुखमभ्यमित्रं तदलङ्गामी अभ्यमित्रीयः अभ्यमित्र्यः अभ्यमित्रीणः ॥ [1]समांसमीनेत्यादि **"समांसमीनाद्यश्वीनाद्यप्रातीनागवीनसाप्तपदीनम्"** (७।१।१०५) । एष्वन्त्य ईनञ्प्रत्ययान्तः, शेषा ईनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । समांसमीनेति समां समामिति वीप्साद्वितीयान्तात्समुदायाद्गर्भं धारयतीत्यर्थे ईनः, पूर्वपदविभक्तेश्चालुप् । समां समां गर्भं धारयति समांसमीना गौः; समामिति "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" (२।२।४२) इति द्वितीया । अन्ये समायां समायां विजायते गर्भं विमुञ्चति समांसमीनेति पूर्वपदस्य यलोपः, शेषविभक्त्यावयवस्यालुक्, उत्तरपदस्य च विभक्तेर्लुक्, व्याप्त्यभावाच्चाधिकरणे सप्तमीत्याहुः । समांसमीना तु सा, या प्रतिवर्षं विजायते । प्रयोगोऽपि—"समांसमीना रसवत्युदारा समांसमीना रसधेनवश्च । पुरन्दरस्याविषयो यदि स्यात्पुरन्दरस्यापि पदं न किञ्चित्" ॥ १ ॥ खप्रत्ययानुत्पत्तौ यलोपो वा वक्तव्यः समां विजायते समायां समायां इति **सिद्धान्तकौमुद्याम्** । अद्यश्वःशब्दयोर्वार्थे समासः, विजनिष्यमाणेऽर्थे विजननस्य प्रत्यासत्तौ गम्यायामीनः । अद्य श्वो वा विजनिष्यमाणा अद्यश्वीना गौः—आसन्नप्रसवेत्यर्थः । अन्ये तु प्रत्यासत्तौ गम्यायां भविष्यत्यर्थे प्रत्ययमाहुः—अद्यश्वो वा भविष्यति अद्यश्वीनो लाभः । एवमद्यप्रातःशब्दादीनः—अद्यप्रातीना गौः, अद्यप्रातीनो लाभः ॥ आगोप्रतिदानशब्दात्कारिण्यर्थे ईनः, प्रतिदानस्य च लुक्; आगोप्रतिदानं कारी आगवीनः कर्मकरः—गवा भृतो य आ तस्या गोः प्रत्यर्पणात्कर्म करोति स आगवीनः । रूढिशब्दोऽयं यत्किञ्चिदादाय आ तस्य प्रतिदानात् कर्मकर एवमुच्यते इत्येके । अन्ये तु आ गोः प्राप्तेः कर्मकारी आगवीन इत्याहुः ॥ सप्तपदशब्दात्तृतीयान्तादवाप्येऽर्थे ईनञ्, यदवाप्यं तत्सख्यं सखा वा यदि स्यात्, सप्तभिः पदैरवाप्यं साप्तपदीनं सख्यम्, साप्तपदीनः सखा । *क्वचित्स्वार्थे इत्यादि; अत्र सूत्रम्—**"अषडक्षाशितंग्वलङ्कर्मालम्पुरुषादीनः"** (७।१।१०६) । एभ्यश्चतुर्भ्यः स्वार्थे ईनः स्यात् । अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन् अषडक्षीणो मन्त्रः; "सक्थ्यक्ष्ण०" (७।३।१२६) इति टान्तादीनः । द्वाभ्यां क्रियते इत्यर्थः ॥ (अषडक्षीणा क्रीडा—द्वाभ्यां साध्यते इत्यर्थः) अषडक्षीणः कन्दुकः येन द्वौ क्रीडतः ॥ अदृश्यानि षडक्षीण्यस्य अषडक्षीणश्चैत्रः, पितुः पितामहस्य पुत्रस्य चादृष्टोच्यते ॥ इन्द्रियपर्यायो वाऽक्षशब्दः अविद्यमानानि षडक्षाण्यस्याषडक्षीणोऽमनस्को

१ ननु समायाः कथं व्याप्तिरेकदेशे एव गर्भग्रहणात् । सत्यम् । अवयवे समुदायोपचारात् ।

विना विचारेण प्रवर्त्तत इत्यर्थः । आशिता गावोऽस्मिन् आशितङ्गु अस्मादेव निपातनात् पूर्वपदस्य मोन्तः; तत ईनः, आशितङ्गवीनमरण्यम् । अलं कर्मणे अलं पुरुषाय "प्रात्यवपरि०" (३।१।४७) इत्यादिना समासः, तत ईनः । राजाधीनमिति तु शौण्डादित्वात्सप्तमीसमासः । अस्ति चाधीनशब्दः 'अस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम्' इति प्रयोगात् (वाक्यं हि वक्तर्यधीनं भवति इति, तदेतत्प्रयोक्तर्यधीनं भवतीति) ॥ ९७ ॥

अदिक्स्त्रियां वाञ्चः ॥ ९८ ॥ [सि० ७।१।१०७]

अञ्चन्तात्स्वार्थे ईनो वा स्यात् । प्राचीनं प्राक् । प्राचीना प्राची शाखा । अदिक्स्त्रियामिति किम्? प्राची दिक् ॥ ९८ ॥

"अदि[1]०" । अञ्चन्तात्स्वार्थे ईनः स्यात्, न चेत् स दिशि स्त्रियां वर्त्तते । प्राचीनं प्रागिति—एवं प्रत्यक् प्रतीचीनम्, उदक् उदीचीनम्, अवाक् अवाचीनम्, सम्यङ् समीचीनः । प्राची दिगिति—अत्र दिग्ग्रहणं किम्? प्राचीना शाखा, अवाचीना ब्राह्मणी । स्त्रीग्रहणं किम्? प्राक् प्राचीनं रमणीयम् । दिश्यपि लुबन्तं स्वभावात् न[2]पुंसकम् । "वाद्यात्" (६।१।११) इति विकल्पे लब्धे वाग्रहणं पूर्वत्र नि[3]त्यार्थम् ॥ ९८ ॥

इति ईनप्रत्ययाधिकारः ।

तस्य तुल्ये कः संज्ञाप्रतिकृत्योः ॥ ९९ ॥ [सि० ७।१।१०८]

षष्ठ्यन्तात्तुल्येऽर्थेऽनयोर्गम्ययोः कः स्यात् । अश्वकः ॥ "शाखादेर्यः" (७।१।११४) शाख्यः । मुख्यः । "कुशाग्रादीयः" (७।१।११८) । कुशाग्रीया मतिः ॥ "कालतालीयादयः" (७।१।११७) । तुल्ये साधवः । *विप्रभृतिभ्यः शालशङ्कटादयः । विशालं विशङ्कटम् ॥ ९९ ॥

"तस्य०" । अनयोर्गम्ययोरिति, संज्ञायां प्रतिकृतौ वा गम्यायामित्यर्थः । अश्वस्य तुल्यः अश्वकः । उष्ट्रकः । अश्वादिसदृशस्य [4]संज्ञा एताः । प्रतिकृतिः काष्ठादिमयं प्रतिच्छन्दकम् । अश्वकं रूपम्, अश्विका प्रतिमा (अश्वकानि रूपाणि । तुल्य इति किम्? [5]इन्द्रदेवः । एवन्नामा कश्चित् । नात्र सादृश्यम् । संज्ञाप्रतिकृत्योरिति किम्? गो[6]स्तुल्यो गव्यः) । संज्ञाग्रहणमप्रतिकृत्यर्थम् । एके त्वाहुः—तुल्यमात्रे कप्रत्ययः—शिव इव शिवकः ।

अत्रायं विशेषः—**"न नृपूजार्थध्वजचित्रे"** (७।१।१०९) । नरि मनुष्ये पूजार्थे ध्वजे चित्रे च चित्रकर्मणि अभिधेये को न स्यात् । त[7]त्र सोऽयमित्येवाभिसम्बन्धः । संज्ञाप्रकृत्योरिति य[9]थासम्भवं प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । नृ. चञ्चा—तृणमयः पुरुषः, यः क्षेत्ररक्षणाय क्रियते । चञ्चातुल्यः पुरुषः चञ्चा । एवं वध्रिका, खरकुटी । पूजार्थ. अर्हन्, शिवः, स्कन्दः; पूजनार्थाः प्रतिकृतय उच्यन्ते । ध्वज.

1 प्रसज्योऽयं नञ् दिग्लक्षणा स्त्री चेन्न भवतीति नतु अदिग्लक्षणायां स्त्रियामिति पर्युदासस्तेन पुंक्लीबयोरपि भवति । ननु दिशः स्त्रीत्वमव्यभिचारि तत्किमत्र स्त्रीग्रहणेनेत्याह स्त्रीग्रहणमिति । स्त्रीलिङ्गरहितायां दिश्यञ्चत्यन्तवाच्यायां प्रत्युदाहरति प्राक्-प्राचीनं रमणीयमित्यादि । 2 प्रागिति धालुबन्तम् । अव्ययत्वाल्लिङ्गायोग्यं, प्राचीनं च स्वार्थिकान्तत्वात् तद्वत्, तथापि स्वभावान्नपुंसकम् । अन्यथा अभेदे अलिङ्गत्वम् भेदे तु स्त्रीलिङ्गत्वं स्यात् । 3 'अषडक्ष'—इत्यत्र सूत्रे वाक्यं त्वलौकिकम् । 4 एवन्नामानः पशुविशेषाः, न तु प्रतिबिम्बानि । 5 षष्ठ्यन्तादभेदे इन्द्रदेवस्य सम्बन्धी इन्द्रदेवः । इन्द्रदेव इत्युक्तेऽपि संज्ञा प्रतीयत इति न व्यङ्गविकलता । 6 नहि गोक इति कप्रत्ययान्तेन संज्ञा प्रतीयते । 7 निषेधे सतीत्यर्थः । 8 चञ्चातुल्यः पुरुषोऽभेदोपचारेण चञ्चा । अतश्चञ्चापुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यम् । तथा चान्यैरिव प्रत्ययस्य लुप् न वक्तव्या । 9 मनुष्ये संज्ञायां पूजार्थादिषु प्रतिकृतौ प्राप्तिः ।

गरुडः, सिंहः, तालः; एते ध्वजाः । चित्र. दुर्योधनः, भीमसेनः; एते चित्राणि ॥ **"अपण्ये जीवने"** (७।१।११०) जीवन्त्यनेनेति जीवनम्, पण्यं विक्रेतव्यम्, ततोऽपण्ये जीवने को न स्यात्। वासुदेवः शिवः स्कन्दः; देवलकानां जीविकार्थाः प्रतिकृतयः । अपण्य इति किम् ? हस्तिकान् विक्रीणीते । जीवन इति किम् ? क्रीडने निषेधो मा भूत्–हस्तिकः ॥ **"देवपथादिभ्यः"** (७।१।१११) एभ्यः संज्ञाप्रतिकृत्योः को न स्यात् । देवपथस्य तुल्यः देवपथः । देवपथ, हंसपथ, अजपथ, चारिपथ, राजपथ, शतपथ, शङ्कुपथ, (स्थलपथ) सिन्धुपथ, उष्ट्रग्रीवा, वामरज्जु, (हंस ?) हस्त, इन्द्र, दण्ड, (पथ्य ?) पुष्प, मत्स्य १६ इति देवपथादयः षोडश । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । पूर्वयोगापवादस्यैव प्रपञ्चः ॥ **"वस्तेरेयञ्"** (७।१।११२) तस्य तुल्ये । संज्ञाप्रतिकृत्योरिति तु निवृत्तम् (प्रत्ययान्तरोपादानात्) । वस्तेस्तुल्या वास्तेयी प्रणाली ॥ **"शिलाया एयच"** (७।१।११३) । चकारादेयञपि । शिलायास्तुल्यं शिलेयं दधि शिलेयी इष्टका । शैलेयं दधि शैलेयी इष्टका । एयच इत्यत्र चकार "अणञेयेकण्०" (२।४।२०) इति एयस्य सामान्यग्रहणाविघातार्थः अन्यथा ह्रस्वैव स्यात् । अन्ये तु द्रव्यशब्दवद् (यथा द्रोर्भव्ये इति तुल्यार्थे ये द्रव्यशब्दो नियतं लिङ्गमाह, एवं शिलेयमिति ।) यजन्तं स्त्रियां नास्तीत्याहुः ॥ **"शाखा०"** । एभ्यस्तस्य तुल्ये यः स्यात् । पुरुषस्कन्धस्य वृक्षस्कन्धस्य वा तिर्यक् प्रसृतमङ्गं शाखेत्युच्यते । (तद्यथा शाखा पार्श्वायता तथा) कुलस्य यः पार्श्वायतोऽङ्गभूतः स शाखायास्तुल्यः शाख्यः । मुख्यः, जघन्यः । शाखा, मुख, जघन, स्कन्द, स्कन्ध, मेघ, शृङ्ग, चरण, शरण, उरस्, शिरस्, अग्र, इति शाखादयो द्वादश १२ ॥ **"द्रोर्भव्ये"** (७।१।११५) । यः । विशिष्टेष्टपरिणामेन भवतीति भव्यमभिप्रेतानामर्थानां पात्रम् । द्रोस्तुल्यः द्रव्यमयमाणवकः । द्रव्यं कार्षापणम्, यथा द्रु अग्रन्थि अजिह्मं दारु उपकल्प्यमानं विशिष्टेष्टरूपं भवति, तथा माणवकोऽपि विनीयमानो विद्यालक्ष्म्यादिभाजनं भवतीति द्रव्यमुच्यते । कार्षापणमपि विनियुज्यमानं विशिष्टमाल्याद्युपभोगफलं भवतीति द्रव्यमुच्यते । द्रुरिव द्रव्यं राजपुत्रः । यथा द्रुमः पुष्पफलादिभिरर्थिनः कृतार्थयति एवमन्योऽपि यः सोऽपि द्रव्यमुच्यते । भव्य इति किम् ? द्रुतुल्यो न चेतयते ॥ **"कुशा०"** कुशाग्रस्य तुल्यं कुशाग्रीयं शस्त्रम् । तदाकारत्वात् । कुशाग्रीया मतिः तीक्ष्णत्वात् ॥ **"काक०"** एते ईयप्रत्ययान्तास्तस्य तुल्ये निपात्यन्ते । काकश्च तालश्च काकतालम्; यथा कथंचिद्व्रजतः काकस्य निपतता तालेनातर्कितोपस्थितश्चित्रीयमाणः संयोगो लक्षणयोच्यते, तत्तुल्यं काकतालीयम् । एवं खलतिबिल्वीयम्, अन्धकश्च वर्त्तिका च अन्धकवर्त्तिकम्–अत्रान्धकस्य वर्त्तिकाया उपर्यतर्कितः पादन्यास उच्यते । अन्धकस्य बाहूत्क्षेपे वर्त्तिकायाः करेनिलयनं वा तत्तुल्यमन्धकवर्त्तकीयम् । अजया पादेनावकिरत्यात्मवधाय कृपाणस्य दर्शनमजाकृपाणम्, तत्तुल्यमजाकृपाणीयम् । एवंविधचित्रीकरणविषयाः काकतालीयादयः । निपातनं रूढ्यर्थम् । बहुवचनादन्येऽपि अर्द्धजरतीयघुणाक्षरीयादयो ज्ञेयाः ॥ **"शर्करादेरण्"** (७।१।११८) तुल्ये । शर्करायास्तुल्यं शार्करं दधि–मधुरत्वात् । शार्करी मृत्तिका–कठिनत्वात् । शर्करः, कपालिका, ककम्बाष्टिका (कम्बाष्टिका) गोपुच्छ, गोलोमन्, पुण्डरीक, शतपत्र, नराची, नकुल, सिकता, कपाटिका इति शर्करादय एकादश ॥

अत्रादिशब्दस्मरणात् **"अः सपत्न्याः"** (७।१।११९) तुल्ये । सपत्न्यास्तुल्यः सपत्नः ॥ **"एकशालाया इकः"** (७।१।१२०) । तुल्ये । एकशालायास्तुल्यमेकशालिकम् । **"गोण्यादेश्चेकण्"** (७।१।१२१) । गोण्यादिभ्य एकशालायाश्च तुल्ये इकण् स्यात् । गोण्यास्तुल्यं गौणिकम् । एकशालाया ऐकशालिकम् । गोणी, अङ्गुली, भरुजा, बभ्रु, वल्गु, मण्डर, मण्डल, शष्कुली, हरि, मण्डु,

१० कपि, भरु, खल, उदश्वित्, तरस्, कुलिश, मुनि, रुरु; १८ इति गोण्यादयोऽष्टादश ॥ **"कर्क-लोहिताट्टीकण् च"** (७।१।१२२) आभ्यां तुल्ये टीकण् स्यात्, चकारादिकण् च । शुक्लोऽश्वः कर्कः। तस्य तुल्यः कार्कीकः कार्किकः। लौहितीकः लौहितिकः। स्फटिकादिः ॥ अलोहितवर्णोऽप्युपाश्रयवशाद्यस्तथावभासते स एवमुच्यते। टकारो ङ्यर्थः—कार्कीकी, लौहितीकी ॥

इति तस्य तुल्यप्रकरणम्।

*विप्रभृतिभ्य इति, अत्र सूत्रपद्धतिरेवम्—। **'वेर्विस्तृते शालशङ्कटौ"** (७।१।१२३) विशालः, विशङ्कटः, विस्तृत इत्यर्थः ॥ **"कटः"** (७।१।१२४) वेरित्यनुवर्त्तते । विकटः—विस्तृत एव ॥ **"सम्प्रोन्नेः सङ्कीर्णप्रकाशाधिकसमीपे"** (७।१।१२५)। एभ्यश्चतुर्भ्य एषु चतुःष्वर्थेषु कटप्रत्ययः स्यात्। सङ्कटः। प्रकटः। उत्कटः। निकटः ॥ **"अवात्कुटारश्चावनते"** (७।१।१२६) अवशब्दादवनतेऽर्थे कुटारश्चकारात् कटश्च प्रत्ययः स्यात् । अवकुटारः, अवकुटः; अवनत इत्यर्थः ॥ **"नासानतितद्वतोष्टीटनाटभ्रटम्"** (७।१।१२७)। अवशब्दान्नासानतौ तद्वति च वाच्ये एते त्रयः प्रत्ययाः स्युः। नासानतौ। नासाया नमनं अवटीटं अवनाटं अवभ्रटम्। सा नासा नतिर्विद्यते यस्मिन् स तद्वान् नासा पुरुषः। अपकृष्टो वार्थः—तत्र अवटीटा अवनाटा अवभ्रटा नासा। अवटीटः अवनाटः अवभ्रटः पुरुषः । अवटीटं अवनाटं अवभ्रटं ब्रह्मदेयम् । अपकृष्टमपि हि वस्तु दृष्ट्वा लोको नासिकां नामयति ॥ **"नेरिनपिटकाश्चिक्चिचिकश्चास्य"** (७।१।१२८)। निशब्दान्नासानतौ तद्वति चाभिधेये एते त्रयः प्रत्ययाः स्युस्तत्सन्नियोगे च नेर्यथासङ्ख्यं चिक्-चि-चिक् इत्येते आदेशाः स्युः। चिकिनं चिपिटं चिक्कम्, नासिकानमनम् । चिकिना चिपिटा चिक्का नासिका। चिकिनः चिपिटः चिक्कः पुरुषः। बहुवचनं रूढ्यर्थम्। तेनाप्रकृष्टेऽर्थे ब्रह्मदेयलक्षणे चिकितमित्यादयो न भवन्ति ॥ **"बिडबिरीसौ नीरन्ध्रे च"** (७।१।१२९) निशब्दान्नीरन्ध्रेऽर्थे नासिकानतितद्वतोश्च एतौ स्याताम्। निबिडा निबिरीसाः केशाः नीरन्ध्रा इत्यर्थः ॥ निबिडं निबिरीसं वस्त्रम्। नासिकाया नमनं (शब्दान्तरेण निशब्दस्यार्थकथनम्) निबिडं निबिरीसम्। निबिडा निबिरीसा नासिका। निबिडो निबिरीसो मैत्रः। विधानसामर्थ्यात्षत्वं न भवति ॥ **"क्लिन्नाल्लश्चक्षुषि चिल् पिल् चुल् चास्य"** (७।१।१३०) क्लिन्नशब्दाच्चक्षुषि वाच्ये लः स्यात्, अस्य चैते त्रय आदेशाः स्युः । चिल्लं पिल्लं चुल्लं चक्षुः। तद्योगात् पुरुषोऽपि चिल्लः पिल्लः चुल्लः ॥ **"उपत्यकाधित्यके"** (७।१।१३१) उपाधिशब्दाभ्यां पर्वतस्यासन्नायामधिरूढायां च भूमौ त्यको निपात्यते । उपत्यका अधित्यका क्षिपकादित्वादित्वाभावः। स्वभावतः स्त्रीलिङ्गावेतौ । पुंलिङ्गावपीति कश्चित्—उपत्यको देशः, अधित्यकः पन्थाः। निपातनं रूढ्यर्थम् ॥ **"अवेः सङ्घातविस्तारे कटपटम्"** (७।१।१३२) षष्ठ्यन्तादविशब्दाद्यथासङ्ख्यं सङ्घाते विस्तारे चार्थे कटपटौ स्याताम् । अवीनां सङ्घातः अविकटः । अवीनां विस्तारः अविपटः। सङ्घाते सामूहिकानां विस्तारे ऐदमर्थिकानां चापवादः ॥ **"पशुभ्यः स्थाने गोष्ठः"** (७।१।१३३) षष्ठ्यन्तेभ्यः पशुनामभ्यः स्थाने वाच्ये गोष्ठः प्रत्ययः स्यात्। गवां स्थानं गोगोष्ठम् अश्वगोष्ठम् ॥ **"द्वित्वे गोयुगः"** (७।१।१३४) पशुभ्य इति वर्त्तते । द्वित्वेऽर्थे गोयुगः प्रत्ययः स्यात्। गवोर्द्वित्वं गोगोयुगम्, अश्वगोयुगम् ॥ **"षट्त्वे षड्गवः"** (७।१।१३५)। प्रत्यय इति शेषः। अश्वानां षट्त्वं अश्वषड्गवम् ॥ त्रयोऽपि प्रयोगा इदमर्थापवादाः ॥ **"तिलादिभ्यः स्नेहे तैलः"** (७।१।१३६) एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः स्नेहेऽर्थे तैलप्रत्ययः स्यात्। तिलानां स्नेहो विकारस्तिलतैलम्। सर्षपतैलं इङ्गुदीतैलं एरण्डतैलम् ॥ **"तत्र घटते कर्म्मणष्ठः"** (७।१।१३७) सप्तम्यन्तात्कर्मन्शब्दात् घटते इत्यर्थे ठः स्यात्। कर्मणि घटते कर्मठः ॥ ९९ ॥

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥ १०० ॥ [सि० ७।१।१३८]

एभ्यः सञ्जातार्थेभ्यः षष्ठ्यर्थे इतः स्यात् । तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितं नभः । पुष्पितः तरुः ॥ १०० ॥

"तद्०" एभ्य इति प्रथमान्तेभ्य इति ज्ञेयम् । यत्प्रथमान्तं सञ्जातं चेत्तद्भवति । पुष्पाणि सञ्जातान्यस्य पुष्पित इति । तारका, पुष्प, कर्णक, ऋजीष, मूत्र, पुरीष, निष्क्रमण, उच्चार, विचार, प्रचार, १० आराल, कुड्मल, कुसुम, मुकुल, वकुल, स्तबक, पल्लव, किशलय, वेश, वेग, २० निद्रा, तन्द्रा, श्रद्धा, बुभुक्षा, पिपासा, अभ्र, श्वभ्र, रोग, अङ्गारक, अङ्गार, ३०, पर्णक, द्रोह, सुख, दुःख, उत्कण्ठा, भर, तरङ्ग, व्याधि, व्रण, कण्डूक, ४० कण्टक, मञ्जरी, कोरक, अङ्कुर, हस्तक, पुलक, रोमाञ्च, हर्ष, उत्कर्ष, गर्व, ५० कल्लोल, शृङ्गार, अन्धकार, कन्दल, शैवल, कुतूहल, कुवलय, कलङ्क, कज्जल, कर्दम, ६० सीमन्त, राग, क्षुध्, तृष्, ज्वर, गर, दोह, शास्त्र, पण्डा, मुकुर, ७० मुद्रा, गर्ध, फल, तिलक, चन्द्रक, इति तारकादयः पञ्चसप्ततिः ॥ बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥

अत्रायं विशेषः–"**गर्भादप्राणिनि**" (७।१।१३९) । गर्भशब्दात्तदस्य सञ्जातमित्यर्थे इतः स्यात्, स चेत् षष्ठ्यर्थः प्राणी न स्यात् । गर्भः सञ्जातोऽस्य गर्भितो व्रीहिः । अप्राणिनीति किम् ? गर्भः सञ्जातोऽस्या दास्या इति वाक्यमेव ॥ १०० ॥

प्रमाणान्मात्रट् ॥ १०१ ॥ [सि० ७।१।१४०]

"प्रमाणान्मात्रट्" (७।१।१४०) षष्ठ्यर्थे) । आयामः प्रमाणम् । जानु प्रमाणमस्य जानुमात्रं जलम् । तावन्मात्री भूः ॥ १०१ ॥

"**प्रमा०**" प्रथमान्तात्प्रमाणवाचिनः षष्ठ्यर्थे मात्रट् स्यात् । आयाम इति आयामं मानं प्रमाणं तद्विविधम्–ऊर्ध्वमानं तिर्यग्मानं च । तत्राद्यं जानुमात्रं जलमिति । एवं जानुमात्री खातेत्यपि । द्वितीयं रज्जुमात्री भूमिरिति । टकारो ङ्यर्थः ॥ १०१ ॥

वोर्ध्वं दघ्नट्द्वयसट् ॥ १०२ ॥ [सि० ७।१।१४२]

ऊर्ध्वप्रमाणादेतौ वा । जानुदघ्नं जानुद्वयसं जानुमात्रं जलम् । "हस्तिपुरुषाद्वाण्" (७।१।१४१) प्रमाणे ॥ १०२ ॥

"वोर्ध्वं०" सूत्रं स्पष्टम् । "**हस्ति०**" वाग्रहणमण्मात्रटोरबाधनार्थम्, तेन पुरुषहस्तिनोश्चातूरूप्यं सिद्धम् ॥ १०२ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रम् ।

संयोगादिनः ॥ १०३ ॥ [सि० ७।४।५३]

संयोगात्परस्येनोऽण्यन्त्यस्वरादेर्लुग् न स्यात् । हास्तिनम् ॥ हस्तिमात्रं हस्तिदघ्नं हस्तिद्वयसम् । पौरुषं ३ ॥ "इदं किमोऽतुरिय्-किय्-चास्य" (७।१।१४८) माने । इदं मानमस्येयान् कियान् पटः । "यत्तदेतदो डावादिः" (७।१।१४९) । अतुः । यावान् तावान् एतावान् ॥ १०३ ॥

"संयो०" स्पष्टम् ॥

अत्र विशेषाश्चैवम्–"**मानादसंशये लुप्**" (७।१।१४३) प्रमाणादिति वर्त्तते । य शब्दो हस्तवितस्त्यादिवत्साक्षादेव मानवाची न तु रज्वादिवल्लक्षणया तन्मानम्, तस्मात्प्रमाणवाचिनः प्रस्तु-

तस्य मात्रडादेरसंशये गम्यमाने लुप् स्यात् । हस्तः प्रमाणमस्य हस्तः । वितस्तिः पटः ॥ शमश्चतुर्विंशतिरङ्गुलानि । असंशय इति किम् ? शमः प्रमाणमस्य स्यात् शममात्रम् । केचित्तु मानमात्रान्मात्रटं तस्यासंशये लुप्विकल्पं चेच्छन्ति—प्रस्थः प्रस्थमात्रो वा व्रीहिः; हस्तो हस्तमात्रं वा काष्ठम् । पलं पलमात्रं वा सुवर्णम् । शतं शतमात्रा वा वृषाः ॥ **"द्विगोः संशये च"** (७।१।१४४) । मानादिति वर्त्तते । तेन च मीयतेऽनेनेति मानमिति प्रमाणं परिमाणमुन्मानमुपचरितमनुपचरितं सङ्ख्या चेह गृह्यते "ऊर्ध्वं मानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्, सङ्ख्या बाह्या तु सर्वतः" ॥ १ ॥ ततश्च मानान्ताद्विगोरसंशये च प्रस्तुतप्रत्ययस्य लुप् स्यात् । द्वौ शमौ प्रमाणमस्य स्यादिति वा द्विशमः । द्विहस्तः, द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । द्विकाण्डी रज्जुः—"काण्डात्प्रमाणादक्षेत्रे" (२।४।२४) इति प्रत्ययलुपि ङीः । "पुरुषाद्वा" (२।४।२५) इति विकल्पेन ङीः द्विपुरुषी द्विपुरुषा खाता । द्विहस्तिनी त्रिहस्तिनी । एवं द्वौ प्रस्थौ मानमस्य स्यादिति वा द्विप्रस्थः । एवं द्विपलम्, द्विशतः । अन्ये तु रूढप्रमाणान्तादेव द्विगोरिच्छन्ति, तन्मते द्विप्रस्थमात्रं द्विपलमात्रं द्विशतमात्रं स्यादित्यादौ लुब् न स्यात् ।

आदिशब्दात् **"मात्रट्"** (७।१।१४५) । मानात् संशय इति वर्त्तते । प्रस्थो मानमस्य स्यात् प्रस्थमात्रं धान्यम्, प्रस्थमात्रा व्रीहयः । कुडवमात्रम्, पलमात्रम्, पञ्चमात्राः, दिष्टिमात्रम् । मात्रदघ्नद्वयसानि नामान्यपि सन्ति, अनुबन्धासञ्जनार्थं तु प्रत्ययविधानम्; तेन च स्त्रियां विशेषः । **"शन्-शद्विंशतेः"** (७।१।१४६) । एभ्यो मानवृत्तिभ्यः संशये गम्ये मात्रट् स्यात् । डिनोऽपवादः । दश मानमेषां स्यात् दशमात्राः । त्रिंशन्मात्राः, विंशतिमात्राः ॥ **"डिन्"** (७।१।१४७) । संशय इति निवृत्तम् । सङ्ख्यामानवृत्तेः प्रागुक्तशनादित्रयात् डिन् स्यात् । पञ्चदशाहोरात्रा मानमस्य पञ्चदशी पक्षः । पञ्चदशिनौ, पञ्चदशिनः पक्षाः । एवं त्रिंशी मासः त्रिंशिनौ त्रिंशिनः । त्रयस्त्रिंशिनो देवविशेषाः । विंशिनो भवनेन्द्राः ॥ **"इदं०"** प्रथमान्तादिदम्शब्दात्किम्शब्दाच्च षष्ठ्यर्थे मेये अतुः स्यात् । उकारो दीर्घत्वाद्यर्थ इत् । तत्सन्नियोगे चानयोरियू—कियू इत्यादेशौ स्याताम् ॥ **"यत्त०"** अत्र डावादिरित्येतदन्तं सूत्रम्, अतुरित्येतावान् वृत्त्यंशः । तस्य च यदादिभ्यस्त्रिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः षष्ठ्यर्थे मेये डावादिरतुः स्यादित्यर्थः । यावानिति यत्प्रमाणमस्य यावान् । ननु मात्रडादयोऽपि दृश्यन्ते, इदं प्रमाणमस्य इदंमात्रं किंमात्रं यन्मात्रं तन्मात्रं एतन्मात्रं यद्दघ्नं यद्द्वयसं इत्यादि । सत्यम् । स्वविषये मानविशेषे प्रमाणे मात्रडादयो भवन्त्येव, मानसामान्ये तु अतुरेवेति विभागः ॥ १०३ ॥

यत्तत्किमः सङ्ख्याया डतिर्वा ॥ १०४ ॥ [सि० ७।१।१५०]

सङ्ख्यारूपमानवाचिभ्यः एभ्यः सङ्ख्येये डतिर्वा स्यात् । यति यावन्तः । तति तावन्तः । कति कियन्तः ॥ १०४ ॥

"यत्त०" । वेति—पक्षे यथाविहितोऽतुः । या सङ्ख्या मानमेषां यति यावन्तः । मानादिति सङ्ख्याया विशेषणं किम् ? क्षेपे मा भूत् । का सङ्ख्या एषां दशानाम् ॥ १०४ ॥

अवयवात्तयट् ॥ १०५ ॥ [सि० ७।१।१५१]

अवयववृत्तेः सङ्ख्यार्थादवयविनि तयट् स्यात् । पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयो यमः । चतुष्टयी गतिः ॥ "द्वित्रिभ्यामयड् वा" (७।१।१५२) । अवयवे । द्वयं द्वितयम् । त्रयं त्रितयम् ॥ १०५ ॥

"अव०" "द्वित्रि०" सूत्रद्वयं स्पष्टम् । किन्तु अवयवा अवयविनि सम्बद्धा इति सामर्थ्यादवयवी प्रत्ययार्थ इति विज्ञायते । त्रयाणि पानानि यथा तथा पिबेदित्यत्र तु देशकालादिभेदेन समुदायाभिधानाद्बहुवचनम् । द्वये पदार्था जीवा अजीवाश्चेत्यत्र तु जीवाजीवतया द्वैराश्योपादानाद्बहूनामपि द्वाववयवौ भवतः । कथमुभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः, उभयी दृष्टिरिति । उभयशब्दः सर्वादिषूभयडिति पठ्यमानः शब्दान्तरमेव विज्ञेयम् । तथा चास्य "नेमार्द्ध" (१।४।१०) इत्यादिना जस इकार विकल्पो न स्यात् ॥

आदिशब्दसंसर्गात् **"द्व्यादेर्गुणान्मूल्यक्रेये मयट्"** (७।१।१५३) । द्व्यादेः सङ्ख्याशब्दाद्गुणवृत्तेः प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे मयट् स्यात्, स चेत्सङ्ख्याशब्दो मूल्ये क्रेये वा वर्त्तते । यवानां द्वौ गुणौ मूल्यमस्योदश्वितः क्रेयस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम् । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् ॥ उदश्वितो द्वौ गुणौ क्रेयावेषां यवानां द्विमया यवा उदश्वितः । एवं त्रिमयाः चतुर्मयाः । द्व्यादिपदस्य सापेक्षस्यापि नित्यसापेक्षत्वेन गमकत्वाद्वृत्तिः ॥ अथवा मूल्यक्रेय इति प्रत्ययार्थविशेषणम्, द्व्यादेः सङ्ख्याशब्दाद्गुणवृत्तेः प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे मयट् स्यात्, स चेत्षष्ठ्यर्थो मूल्यं क्रेयं वा भवति । द्वौ गुणावेषां मूल्यभूतानां यवानामुदश्वितः द्विमया यवा उदश्वितो मूल्यम् । द्वौ गुणावस्योदश्वितः क्रेयभूतस्य द्विमयमुदश्विद्यवानां क्रेयम्–त्रिमयं चतुर्मयम् ।

अधिकं तत्सङ्ख्यमस्मिन् शतसहस्रे शतिशद्दशान्ताया डः ॥ १०६ ॥ [सि० ७।१।१५४]

शतिशद्दन्तायाः सङ्ख्यायास्तच्छतादिसङ्ख्यं वस्त्वधिकमित्यर्थे शतसहस्रयोर्डः स्यात् । विंशतिर्योजनानामधिकास्मिन्निति विंशं त्रिंशं द्वादशं योजनशतं योजनसहस्रं वा ॥ १०६ ॥

"अधि०" । तच्छतादिसङ्ख्यं वस्त्वधिकमिति किम् ? विंशतिर्दण्डानां अधिका अस्मिन् योजनशते–अत्र शतादिसङ्ख्यं वस्तु योजनात्मकं अधिकं तु दण्डात्मकमिति न भवति । तत्सङ्ख्यमिति च यदेव सङ्ख्यायते शतसहस्रादिना योजनादिकं तज्जातीयमेव यद्यधिकं स्यात्तदा भवतीत्यर्थः ॥ १०६ ॥

सङ्ख्यापूरणे डट् ॥ १०७ ॥ [सि० ७।१।१५५]

सङ्ख्या पूर्यते येन तस्मिन्नर्थे सङ्ख्याया डट् स्यात् । द्वादशानां सङ्ख्यापूरणः द्वादशः । "विंशत्यादेर्वा तमट्" (७।१।१५६) । पूरणे । विंशतितमः । सहस्रतमः । शततमः । "षष्ट्यादेरसङ्ख्यादेः" (७।१।१५८) । तमट् । षष्टितमः । सङ्ख्यादेस्तु डट् । द्विसप्ततः ॥ १०७ ॥

"सङ्ख्या०" सङ्ख्याया इति सङ्ख्यावाचिशब्दात् पूरणोक्तिसामर्थ्यात् षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययो विज्ञायते । द्वादश इति । प्रत्ययस्य टित्वात् स्त्रियां द्वादशी तिथिः । **"विंश०"** वावचनात् पक्षे डट् । विंशतितमः विंश इति । स्त्रियां विंशतितमी विंशी स्त्री । विंशत्यादयश्च अष्टपञ्चाशत्पर्यन्ता ज्ञेयाः–अष्टपञ्चाशतः सङ्ख्यापूरणः अष्टपञ्चाशत्तमः अष्टपञ्चाशः ॥ **"शतादिमासार्द्धमाससंवत्सरात्"** (७।१।१५७) । शतादिभ्यः सङ्ख्याशब्देभ्यः मासादिभ्यश्च त्रिभ्यः पूरणे तमट् स्यात् । शतस्य पूरणं शततमः । एकशततमः ॥ षष्ट्यादेरित्येव सिद्धे शतादिग्रहणं सङ्ख्याद्यर्थम्, ततोऽयमपि डिद्विकल्पापवादः ॥ **"षष्ट्या०"** । नास्ति सङ्ख्या आदिरवयवो येषां तेभ्यः षष्ट्यादिभ्यः पूरणे तमट् स्यात्, विकल्पापवादः । षष्टितम इत्यादि । एवं सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति किम् ? एकषष्टितमः, एकषष्टः । विंशत्यादेरिति विकल्प एव ॥ १०७ ॥

नो मट् ॥ १०८ ॥ [सि० ७।१।१५९]

नान्तायाः सङ्ख्यायाः पूरणे मट् स्यात् । पञ्चमः । सङ्ख्यादेस्तु डः । षोडशः ॥ १०८ ॥

"नो मट्" । असङ्ख्यादेर्नान्तायाः सङ्ख्यायाः पूरणे मट् स्यात् । डटोऽपवादः ॥ १०८ ॥

पित्तिथट् बहुगणपूगसङ्घात् ॥ १०९ ॥ [सि० ७।१।१६०]

एभ्यस्तिथट् स्यात् ॥ "अतोरिथट्" (७।१।१६१) । पूरणे । तौ च पितौ । बहुतिथः ॥१०९॥

"पित्ति०" । "बहुगणं भेदे" (१।१।४०) इति बहुगणयोः सङ्ख्यात्वम्, पूगसङ्घयोस्तु न । ततोऽत्र सङ्ख्याविशेषणं यथासम्भवं ज्ञेयम् । बहूनां सङ्ख्यापूरणो बहुतिथः । एवं गणस्य सङ्ख्यापूरणः गणतिथः, पूगतिथः, सङ्घतिथः । "अतो०" सूत्रं स्पष्टम् । एतयोः पित्त्वे फलं दर्शयति ॥ १०९ ॥

क्यङ्मानिपित्तद्धिते ॥ ११० ॥ [सि० ३।२।५०]

एषु त्रिष्वनूङ् परतः स्त्री पुंवत्स्यात् । बह्वीनां सङ्ख्यापूरणी बहुतिथी । *यावतिथः । यावतिथी । "षट्कतिकतिपयात् थट्" (७।१।१६२) । पूरणे । षष्ठः कतिथः कतिपयथः । "चतुरः" (७।१।१६३) । थट् । चतुर्थः । "येयौ चलुक् च" (७।१।१६४) । चतुरः । तुर्यः । तुरीयः । "द्वेस्तीयः" (७।१।१६५) । द्वितीयः ॥ ११० ॥

"क्य०" एषु त्रिष्विति क्यङि प्रत्यये, मानिनिशब्दे चोत्तरपदे, पिति तद्धिते च प्रत्यये, परतः स्त्रीलिङ्गशब्दोऽनूङ् पुंवद्भवति । क्रमेणोदाहरणानि–क्यङ्. श्येनीवाचरति श्येतायते । मानिन्. दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी अयमस्याः, दर्शनीयमानिनीयमस्याः, मानिन्ग्रहणमस्त्युत्तरपदार्थमसमानाधिकरणार्थं च । दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनीति तु सामानाधिकरण्ये पूर्वेणैव भवति । अथ पित्तद्धिताः; थ्यप्. अजायै हितं अजथ्यं यूथम्; पित्तिथट्. बह्वीनां पूरणी बहुतिथी ष्चरट्. भूतपूर्वा-पट्वी पटुचरी; पित्तस्. बह्वीभ्यो बहुतः; त्रप्. बह्वीषु बहुत्र; प्शस्. बह्वीभ्यो देहि बहुशो देहि; पाशप्. निन्द्या दर्शनीया दर्शनीयपाशा; तमप्तरपौ; इयमासामतिशयेन पक्वा पक्वतमा, इयमनयोरतिशयेन पक्वा पक्वतरा; रूपप्. प्रशस्ता दर्शनीया दर्शनीयरूपा; कल्पप्. ईषदसमाप्ता दर्शनीया दर्शनीयकल्पा; देश्यप्. दर्शनीयदेश्या; कप्. कुत्सिता (ह्रस्वा) दर्शनीया दर्शनीयका; कुत्सिता दरत् दौरदिका; कथं पक्विका मृद्विका "ङ्यादीदूतः के" (२।४।१०४) इत्यत्र ङीग्रहणं पुंवद्भावबाधनार्थमित्युक्तम्, तेनात्र ह्रस्वो भवति । पञ्चभिर्गार्गीभिर्गार्ग्यायणीभिर्वा क्रीतः पञ्चगर्गः–अत्रेकणो"ऽनाम्न्यद्विः प्लुप्" (६।४।१४७) इति लुपः पित्त्वात्पुंस्त्वम् ॥

अत्रादिशब्दोपादानात् **"जातिश्च णितद्धितयस्वरे"** (३।२।५१) । अन्या परतः स्त्रीजातिश्च णिप्रत्यये यकारादौ स्वरादौ च तद्धिते विषयभूते उत्पत्स्यमाने तद्विवक्षायामेव पुंवद्भवति; अनूङ् । णि. पट्वीमाचष्टे पैटयति एवमेतयति लघयति । तद्धितय. एन्यां साधुः एत्यः, श्येत्यः, एन्या भाव

---

१ अत्र 'स्वाङ्गाद् ङीर्जातिश्च'. इति निषेधेऽपि पित्करणात् पुंवद्भावः । २ अत्रासन्देहार्थमिकारो न कृतः, तथाहि किमत्र पुंवद्भावे सति 'अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्' इत्यनेन इकारः, यद्वाऽकृतेऽपि पुंवद्भावे 'स्वज्ञाजभस्त्रा–' इत्यनेनाप एव स्थाने, इति पुंवद्भावाभावयोर्न विशेषप्रतीतिः स्यात् । ३ दरदां राज्ञी 'पुरुमगध'–इत्यण् । यदा त्वपत्यार्थेऽण्, तदा 'स्वाङ्गाद् ङी' इति गोत्रं चरणैः सहेति जातित्वे पुंवद्भावप्रतिषेधः स्यात् । अथेदृशे वाक्ये कृतेऽण् न प्राप्नोति, यतो राज्यभिधेये उक्तः । अत्र तु स्त्रीत्वविशिष्टेऽस्तीति न प्राप्नोति । उच्यते । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापीति । ४ णिजि पुंवद्भावे 'नामिनोऽकलिहलेः' इति वृद्धौ अन्त्यस्वरादिलोपे । यद्यत्र वृद्धिमकृत्वैव उकारस्यैव लोपं विदध्यात् ततोऽपीपटदित्यादौ समानलोपादित्वं न स्यात् ॥

ऐत्र्यम्, शैत्यम्। तद्धितस्वर. भवत्या इदं भावत्कम्, भवदीयम्, इयमासामतिशयेन पट्वी पटिष्ठा पटीयसी॥ जातितद्धितय.। दरदोऽपत्यं स्त्री अण् लुप् दरद् तस्यां साधुः दारद्यः (एवम्, औशिज्यः) पुंवद्भावादणो लुब् निवर्त्तते। तद्धितस्वर. गार्ग्यायण्याः कुत्सितमपत्यं गार्ग्यैः[3], गार्गिकः। हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्। जातिग्रहणं जातिलक्षणप्रतिषेधनिवृत्त्यर्थम्; सति तस्मिंश्चकारोऽन्यार्थः। जाति. परतः स्त्री अन्या च परतः स्त्री पुंवद्भवतीत्यर्थः। अकृते हि चकारे जातेरेव पुंवद्भावः स्यात्। कथं यौवतम्? भिक्षादौ युवतीति स्त्रीलिङ्गपाठात्। कौण्डिन्य इति तु "कौण्डिण्यागस्त्ययोः०" (६।१।१२७) इति निर्देशेन[4] पुंवद्भावस्यानित्यत्वात्। अत[5] एव च मानाय्य[6] इत्यत्रापि न भवति। सापत्न[7] इत्यपि "सपत्न्यादौ" (२।४।५०) इति सूत्रे सपत्नीति समुदायनिपातनात्, अत एव सपत्नीभार्य इत्यत्रापि न भवति (सपत्नस्यायं[8] सापत्न इति वा भविष्यति)। तद्धितस्वर इति विषयसप्तम्याश्रयणं किम्? पट्व्या भावः पौटवम्, अत्र प्रत्ययोत्पत्तेः पूर्वमेव पुंवद्भावे लघ्वादित्वात् "य्वृवर्णाल्लघ्वादेः" (७।१।६९) इत्यण् भवति। परसप्तमीसमाश्रयणे तु पट्वीशब्दस्य लघ्वादित्वाभावादण् न स्यादिति॥ **"एयेऽग्नायी"** (३।२।५२) पुंवत्स्यात्। अग्नाय्या अपत्यं आग्नेयः "कल्यग्नेरेयण्" (६।१।१७)। अग्नायी देवताऽस्य आग्नेयः स्थालीपाकः। पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम्, तेन श्यैनेयः[11], रौहिणेयः[12], इत्यादौ पूर्वेणापि पुंवद्भावो न स्यात्॥ *यावतिथ इति यावतां यावतीनां सङ्ख्यापूरणः यावतिथः "यत्तदेतदो डावादिः" (७।१।१४९) अतुरित्यतुप्रत्ययः॥ **"षट्क०"** एभ्यस्त्रिभ्यः पूरणे थट् स च पित्। षण्णां पूरणः षष्ठः षष्ठी। कतीनां पूरणः कतिथः कतिथी। कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी "षष्ठी वाऽनादरे" (२।२।१०८) "चतुर्थी" (२।२।५३) इत्यादिना सूत्रनिर्देशात् थटि "नामसिदय्व्यञ्जने" (१।१।२१) इति पदत्वं न भवति॥ **"चतु०"** (चतुर्णां पूरणः चतुर्थः) चतसृणां सङ्ख्यापूरणी चतुर्थी। योगविभाग उत्तरार्थः। **"येयौ०"**। चलुक् इति—चतुर्शब्दस्येत्यर्थः॥

"द्वेस्तीयः"। (७।१।१६५)। द्वितीयः॥ **"त्रेस्तृ च"** (७।१।१६६)। त्रेस्तीयस्तृत्वं चास्य। तृतीयः॥

"द्वेस्त०" "त्रे०"। द्वे अपि सूत्रे स्पष्टे॥ ११०॥

पूर्वमनेन सादेश्चेन्॥ १११॥ [सि० ७।१।१६७]

द्वितीयान्तात्सपूर्वात् केवलाच्च पूर्वशब्दात्तृतीयार्थे इन् स्यात्। कृतं पूर्वमनेन कृतपूर्वी कटम्, पीतपूर्वी पयः॥ १११॥

---

१ 'वर्णदृढादिभ्यः' ष्यण्। २ वशक्० वष्टि न्यायं वशेः कित् इज् 'वशेरयङि' य्वृत्, उशिजोऽपत्यं 'पुरुषमगध'–इत्यण् 'द्रेरञ'–लोपः। उशिजि साधुः। ३ 'वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णेकणौ' ततः पुंवत्त्वे 'तद्धितयस्वरेऽना'. इति यलोपः। ४ गर्गादित्वाद् यञि, पुंवद्भावे तु 'नोऽपदस्य'–इत्यन्त्यस्वरादिलोपे कौण्ड्य इति स्यात्। ५ अनित्यत्वादेवेत्यर्थः ६ मनोर्भार्या 'मनोरौ च वा' ङी ऐश्च। मनाय्या अपत्यं 'गर्गादेर्यञ्' मानाय्यः। ७ सपत्न्या अपत्यं 'शिवादेरण्' सापत्नः। ननु मनायीशब्दस्य गर्गादिपाठात् स्वयमेव न भविष्यति, यथा यौवतमित्यत्र भिक्षादिपाठात्स्त्रीलिङ्गस्य युवतिशब्दस्य पुंवद्भावो न भवति एवमत्रापि। उच्यते। गर्गादिगणेऽणेकणोः प्राप्तावस्य पाठ इति तत्राप्युक्तम्, ततश्च पुंवद्भावः प्राप्नोति स मा भूदिति कौण्डिन्यनिर्देशात्पुंवद्भावो न भवतीत्युक्तम्। ८ सपत्नशब्दश्च सपत्न्यास्तुल्यः 'अः सपत्न्याः' ण औणादिको वा। ९ अत्र ष्यण्विषये पुंवद्भावस्ततोऽण्। १० विपरीतनियमस्तु न भवति प्रतिषेधाधिकारेऽऽग्नाय्यनेये इत्यकरणात्। अत्रैव वा आग्नेय इत्यनिपातनात्। विपरीतनियमे हि अग्नाय्यै हितः 'तस्मै हिते' इतीये 'जातिश्च'–इत्यनेनापि पुंवत् न स्यात्, ततश्चाग्नायीय इति स्यात्; स्थिते त्वग्नीय इत्येव भवति। ११ 'द्विस्वरादनद्याः'। १२ 'ङ्याप्त्यूङः' इति एयण्।

"पूर्व०" द्वितीयान्तादिति, अत्रायमभिप्रायः–पूर्वमिति क्रियाविशेषणान्निर्देशादेव द्वितीयान्तात्केवलात्सादेः सपूर्वाच्चानेनेति तृतीयार्थे कर्त्तरि इन् स्यात् । केवलात्. पूर्वमनेन पूर्वी, पूर्विणौ, पूर्विणः । अनेनेति कर्तृपदं कृतं भुक्तमित्यादिकां काञ्चित् क्रियामपेक्षते, क्रियां विना कर्तुरभावात्; विशेषावगमस्तु अर्थात्प्रकरणाच्छब्दान्तरसन्निधेर्वा स्यात् । पूर्वी कटम्, पूर्वी ओदनम्, पूर्वी पयः । सादेः. कृतं पूर्वमनेन कृतपूर्वी कटं भुक्तं पूर्वमनेन भुक्तपूर्वी ओदनम्, पीतं पूर्वमनेन पीतपूर्वी पयः, कृतपूर्वादिसमासात्प्रत्ययः क्तान्तं येनैव समानाधिकरणम्, तस्यैव कर्मतां वक्ति; न च वृत्तौ क्तान्तं कटादिना समानाधिकरणमिति कटादिगतं कर्मानुक्तमित्यतो द्वितीया ॥ १११ ॥

इष्टादेः ॥ ११२ ॥ [सि० ७।१।१६८]

एभ्यः प्रथमान्तेभ्यस्तृतीयार्थे कर्त्तरि इन् स्यात् । इष्टो यज्ञोऽनेन इष्टी यज्ञे । अधीतस्तर्कोऽनेन अधीती तर्के ॥ ११२ ॥

"इष्टा०" । इष्टी यज्ञे इत्यादौ "व्याप्ये क्तेनः" (२।२।९९) इति कर्मणि सप्तमी । इष्ट, पूर्त्त उपपादित, उपसादित, उपासित, निगदित, परिगदित, निकटित, सङ्कलित; परिकलित, १० संरक्षित, परिरक्षित, अर्चित, अगणित, अवगणित, अवकीर्ण, अवमुक्त, आयुक्त, गृहीत, अधीत, २० आम्नात, श्रुत, आसेवित, अवधारित, अवकल्पित, (कृत ?) निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, ३० अनुगुणित, अनुगणित, (गणित ?) परिगणित, अनुपठित, निपठित, पठित, व्याकुलित, उद्गृहीत, कथित, ४० निकथित, निषादित, इति इष्टादयो द्विचत्वारिंशत् ॥ ४२ ॥

अत्रादिशब्दसंसर्गात् **"श्राद्धमद्यभुक्तमिकेनौ"** (७।१।१६९) । प्रथमान्तात् श्राद्धशब्दादद्यभुक्तमित्युपाधिकात्तृतीयार्थे कर्त्तरि इक इन् इत्येतौ स्याताम् । श्राद्धशब्दः कर्मवाची तत्साधने द्रव्ये वर्त्तित्वा प्रत्ययमुत्पादयति–श्राद्धमनेनाद्य भुक्तं श्राद्धिकः, श्राद्धी । अद्यग्रहणादद्य भुक्ते श्राद्धे श्वश्राद्धिकः, श्राद्धी इति न भवति ॥ **"अनुपद्यन्वेष्टा"** (७।१।१७०) । अनुपदीति इन्नन्तं निपात्यते, अन्वेष्टा चेत्प्रत्ययार्थः स्यात्, अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् ॥ **"दाण्डाजिनिकायःशूलिकपार्श्वकम्"** (७।१।१७१) । एषु आद्यौ द्वौ इकणप्रत्ययान्तौ, तृतीयश्च कप्रत्ययान्तो निपात्यते; यो मिथ्याव्रती परप्रसादार्थं दण्डाजिनमुपादायार्थानन्विच्छति स दाम्भिको दाण्डाजिनिक उच्यते । निपातनं रूढ्यर्थम्, तेन शैवभागवतादौ न भवति ॥ तीक्ष्ण उपायो यः शूलसाम्यादयःशूलम्, तेनान्वेष्टा आयःशूलिकः । यो मृदुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णोपायेनान्विच्छति राभसिकः स एवमुच्यते ॥ केचिदाभ्यामिकमेवाहुः–दण्डाजिनिकः दण्डाजिनिका । अयःशूलिकः अयःशूलिका ॥ पार्श्वमनृजुरुपायो लञ्चादिस्तेनान्वेष्टा पार्श्विकः । ऋजूपायेनान्वेष्टव्यानर्थाननृजुनोपायेन योऽन्विच्छति स पार्श्वक उच्यते । यस्तु राज्ञः पार्श्वेनार्थानन्विच्छति स राजपुरुषस्तत्र न भवति ॥ **"क्षेत्रेऽन्यस्मिन्नाश्ये इयः"** (७।१।१७२) । अन्योपाधिकात् क्षेत्रात् नाश्ये इयः स्यात् । क्षेत्रियो व्याधिः–अन्यस्मिन् क्षेत्रे जन्मान्तरशरीरे नाश्योऽसाध्य इत्यर्थः । क्षेत्रियं विषम्, तद्धि स्वशरीरादन्यस्मिन्क्षेत्रे परशरीरे सङ्क्रमय्य किंचिन्नाश्यं (चिकित्स्यं) भवति । क्षेत्रियानि तृणानि. तानि हि सस्यक्षेत्रेऽन्यस्मिन्नुत्पन्नानि नाश्यान्युत्पाद्यानि भवन्ति । क्षेत्रियः पारदारिकः स हि अन्यस्मिन् क्षेत्रे परदारेषु वर्त्तमानो नाश्यो निग्राह्यो भवति; दाराः क्षेत्रम् ॥ **"छन्दोऽधीते श्रोत्रश्च वा"** (७।१।१७३) । द्वितीयान्तात् छन्दस्शब्दात् अधीते इत्यर्थे इयस्तद्योगे चास्य श्रोत्रादेशः स्यात् ॥ छन्दोऽधीते श्रोत्रियः; पक्षे "तद्वेत्त्यधीते" (६।२।११७) इत्यण् छान्दसः ॥ **"इन्द्रियम्"** (७।१।१७४) । इन्द्रशब्दादियः प्रत्ययो निपात्यते । निपातनं रूढ्य-

र्थम्, तेन यथायोगमर्थकल्पना—इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गं इन्द्रियं चक्षुराद्युच्यते; तेन हि करणेनात्मानुमीयते नाकर्तृकं करणमिति । इन्द्रेण दृष्टमिन्द्रियम्—आत्मा हि चक्षुरादीनि दृष्ट्वा स्वविषयं नियुङ्क्ते । इन्द्रेण सृष्टमिन्द्रियम्—आत्मकृतेन हि शुभाशुभेन कर्मणा तथाविधविषयोपभोगायास्य चक्षुरादीनि भवन्ति । इन्द्रेण जुष्टमिन्द्रियम्, तद्द्वारेणास्य विज्ञानोत्पादानात् । इन्द्रेण दत्तमिन्द्रियम्, विषयग्रहणाय विषयेभ्यः समर्पणात् । इन्द्रस्यावरणक्षयोपशमसाधनमिन्द्रियम् । एवं सति सम्भवेऽन्यापि व्युत्पत्तिः कार्या ॥ ११२ ॥

तेन वित्ते चञ्चुचणौ ॥ ११३ ॥ [सि० ७।१।१७५]

तृतीयान्तात् ख्याते एतौ स्याताम् । विद्याचञ्चुः । केशचणः ॥ ११३ ॥

"तेन०" विद्याचञ्चुरिति विद्यया विख्यातः ।

अत्राप्यादिशब्दसान्निध्यात् **कप्रत्ययप्रकरणं** सन्निधीयते; तथाहि—"**पूरणाद्ग्रन्थस्य ग्राहके को लुक्चाऽस्य**" (७।१।१७६) । तृतीयान्तात्पूरणप्रत्ययान्ताद्ग्रन्थस्य ग्राहकेऽर्थे कः स्यात्, तत्सन्नियोगे च पूरणप्रत्ययस्य लुक् । द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थस्य ग्राहकः द्विकः । त्रिकः, चतुष्कः, पञ्चकः, षट्को वैयाकरणः । ग्रन्थस्येति किम् ? पञ्चमेन दिनेन शत्रूणां ग्राहकः ॥ "**ग्रहणाद्वा**" (७।१।१७७) । ग्रन्थस्येति पूरणादिति च वर्त्तते । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणं रूपादि । ग्रन्थस्य ग्रहणाद्ग्रहणे वर्त्तमानात् पूरणप्रत्ययान्तान्नाम्नः कः प्रत्ययः स्यात्, स्वार्थे प्रकृत्यर्थे एवार्थान्तरानिर्देशात्, तत्सन्नियोगे च पूरणप्रत्ययस्य वा लुक् ॥ वेति लुकैव सम्बद्ध्यते न प्रत्ययेन । पक्षे प्रत्ययानुत्पत्तेर्महाविभाषयैव सिद्धत्वात् ॥ द्वितीयमेव द्विकं ग्रन्थग्रहणमस्य, द्वितीयकं ग्रन्थग्रहणमस्य । एवं त्रिकं व्याकरणस्य ग्रहणम्, तृतीयकं व्याकरणस्य ग्रहणम् । चतुष्कं चतुर्थकम्, पञ्चकं पञ्चमकम् । ग्रन्थस्येत्येव—द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्य ॥ "**सस्याद्गुणात्परिजाते**" (७।१।१७८) । गुणवाचिनस्तृतीयान्तात्सस्यशब्दात् परिजातेऽर्थे कः स्यात् । परिः सर्वतो भावे; जनिः सम्पत्तौ । सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः—यः सर्वतो गुणैः सम्पन्नो न यस्य किञ्चिदपि वैगुण्यमस्ति स एवमुच्यते । एवं सस्यको देशः, सस्यको वत्सः, सस्यकं सीधु । सस्यको मणिः—रूढिशब्दश्चायं मणिविषये [गुणेन परिजातोऽस्तु वा, मा वा, समुदायप्रसिद्ध्या तु मणिविशेषस्य संज्ञा] । सस्यकः खड्गः—सर्वतः, सारेण सम्बद्धः । गुणादिति किम् ? धान्यवचनान्मा भूत्—सस्येन परिजातं क्षेत्रम् ॥ "**धनहिरण्ये कामे**" (७।१।१७९) । आभ्यां सप्तम्यन्ताभ्यां कामेऽभिलाषेऽर्थे कः स्यात् । धने कामो धनकश्चैत्रस्य । हिरण्यको मैत्रस्य ॥ "**स्वाङ्गेषु सक्ते**" (७।१।१८०) । सप्तम्यन्तेभ्यः स्वाङ्गवाचिभ्यः सक्ते तत्परेऽर्थे कः स्यात् । केशेषु सक्तः केशकः । नखकः । दन्तकः ॥ केशादिरचनायां प्रसक्त एवमुच्यते । बहुवचनात्स्वाङ्गसमुदायादपि—केशनखकः । "**उदरे त्विकणाद्यूने**" (७।१।१८१) । उदरशब्दात्सप्तम्यन्तात्सक्तेऽर्थे इकण् स्यात्, सक्तश्चेदाद्यूनः स्यात् । उदरे सक्त औदरिकः आद्यूनः, अविजिगीषुर्यो बुभुक्षयात्यंतं पीड्यते । औदरिकी स्त्री । तुशब्दः सर्वसूत्रशेषतामस्य कथयति तेन काधिकारो न बाध्यते ॥ "**अंशं हारिणि**" (७।१।१८२) । द्वितीयान्तादंशशब्दात् हारिण्यर्थे कः स्यात् । अंशं हारी अंशको दायादः । हारीत्यावश्यके णिन् [अवश्यं हरिष्यति णिन् । 'एष्यदृणेनः' इति षष्ठ्या निषेधः । शीलार्थे तु षष्ठी स्यात्] ॥ "**तन्त्रादचिरोद्धृते**" (७।१।१८३) । तथा । तन्त्रात्पटवानोपकरणादचिरोत्तीर्णः तन्त्रकः पटः—प्रत्यग्र इत्यर्थः ॥ "**ब्राह्मणान्नाम्नि**" (७।१।१८४) । तथा । सदाचारब्राह्मणेभ्योऽचिरोद्धृतस्तदानीमेव पृथक्कृतो ब्राह्मणको नाम देशः । तत्रायुधजीविनः काण्डस्पृष्टा नाम ब्राह्मणा भवन्ति । आयुध-

जीवी ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्ये ॥ **"उष्णात्"** (७।१।१८५) । अचिरोद्धृतेऽर्थे कः स्यात् । उष्णाद्ग्नेरचिरोद्धृता उष्णिका यवागूः । अल्पान्ना पेया विलेपिकेति यावत् ॥ उष्णकुण्डान्निःसृता नदीति केचित् ॥ **"शीताच्च कारिणि"** (७।१।१८६) । शीतादुष्णाच्च द्वितीयान्तात्कारिण्यर्थे कः स्यात्, नाम्नि । शीतं मन्दं करोति शीतकोऽलसः । उष्णं क्षिप्रं करोति उष्णको दक्षः; नाम्नीत्यनुवृत्तेः शीतोष्णशब्दाविह मान्द्यशीघ्रवचनौ गृह्येते, न स्पर्शवचनौ । क्रियाविशेषणाद्द्वितीया, कारीत्यावश्यके णिन् ॥ **"अधेरारूढे"** (७।१।१८७) । अधिशब्दादारूढेऽर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे कः स्यात् । आरूढः शब्दः कर्त्तरि कर्मणि च क्तप्रत्यये सिद्धः । तत्र यदा कर्त्तरि तदा अधिको द्रोणः खार्याः खार्यामिति च भवति "अधिकेन भूयसस्ते" (२।२।१११) पञ्चमीसप्तम्यौ । यदा तु कर्मणि तदा तु अधिका खारी द्रोणेनेति भवति "तृतीयाल्पीयसः" (२।२।११२) ॥ **"अनोः कमितरि"** (७।१।१८८) । कः स्यात्, समुदायेन चेत्कमिता गम्यते । अनुकामयते अनुकः ॥ **"अभेरीश्च वा"** (७।१।१८९) । अभिशब्दात्कः, ईकारश्चास्य वा स्यात्, समुदायेन चेत्कमिता गम्यते । अभिकामयते अभीकः अभिकः । **"सोऽस्य मुख्यः"** (७।१।१९०) । प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे कः स्यात्, यत्प्रथमान्तं स चेन्मुख्यः (प्रधानं ग्रामणीः) स्यात् । देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः सङ्घः । जिनदत्तो मुख्य एषां जिनदत्तकाः ॥ **"शृङ्खलकः करभे"** (७।१।१९१) । निपात्यते । शृङ्खलं बन्धनमस्य शृङ्खलकः करभशिशुः करभाणां काष्ठमयं पादबन्धनं शृङ्खलम् । वयःशब्दश्चायम्, शृङ्खलं भवतु वा मा भूत् ॥ **"उदुत्सोरुन्मनसि"** (७।१।१९२) । उद् उत्सु इत्येताभ्यामुन्मनसि अभिधेये कः स्यात् । उद्गतं मनोऽस्य उत्कः । उत्सु गतं मनोऽस्य उत्सुकः । "उत्कस्तूत्सुक उन्मना" इति कोषवचनात् ॥ **"कालहेतुफलाद्रोगे"** (७।१।१९३) स इति प्रथमान्तेभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो हेतुवाचिभ्यः फलवाचिभ्यश्च षष्ठ्यर्थश्चेद्रोगः स्यात् । द्वितीयो दिवसोऽस्याविर्भावाय द्वितीयकस्तृतीयको ज्वरः । सततः कालोऽस्य सततको ज्वरः । हेतु. विषपुष्पं हेतुरस्य विषपुष्पकः । काशपुष्पकः । पर्वतको रोगः ॥ फल. शीतं फलं कार्यमस्य शीतक उष्णको ज्वरः ॥ **"प्रायोऽन्नमस्मिन्नाम्नि"** (७।१।१९४) । प्रथमान्तात्सप्तम्यर्थे नाम्नि विषये कः स्यात्, प्रथमान्तं चेदन्नं प्रायः प्रायेण भवति । प्रायशब्दोऽत्राऽन्नसमानाधिकरणो नियतलिङ्गसङ्ख्यः । प्रायोऽकृत्स्नबहुत्वम् । गुडापूपाः प्रायेण प्रायो वाऽन्नमस्यां गुडापूपिका पौर्णमासी ॥ **"कुल्मासादण्"** (७।१।१९५) उक्तार्थे । कुल्मासाः प्रायेण प्रायो वान्नमस्यां कौल्मासी पौर्णमासी । कुल्माष इति मूर्द्धन्योपान्त्योऽप्यस्ति ॥ **"वटकादिन्"** (७।१।१९६) उक्तार्थे । वटकिनी पौर्णमासी ॥ **"साक्षाद् द्रष्टा"** (७।१।१९७) । साक्षाच्छब्दाद्द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन् स्यात्, नाम्नि । साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । साक्षिणौ, साक्षिणः ॥ "प्रायोऽव्ययस्य" (७।४।६५) इत्यन्त्यस्वरादिलोपः ॥ ११३ ॥

अथ मत्वर्थीयाधिकारो निरूप्यते ।

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुः ॥ ११४ ॥ [सि० ७।२।१]

प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे वा मतुः स्यात् । प्रथमान्तं चेदस्तीत्युच्यते । गावोऽस्य सन्ति गोमान् ॥ ११४ ॥

१ अतः कारणान्निर्देशादेव पञ्चम्यन्तेभ्य इति न लभ्यते । ननु कालस्यापि रोगकारणत्वाद्धेतुग्रहणेनैव तद्ग्रहणे सिद्धे किं कालग्रहणेन । न । अन्यतो भवतोऽपि रोगस्यायमस्य काल इति रोगाधिकरणभूतस्य कालस्यासम्बन्धित्वे विज्ञायमानेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । २ अनव्ययं पुंल्लिङ्ग एकवचनान्तोऽदन्तश्च पूर्वस्तु सान्तोऽव्ययत्वादलिङ्गश्च ।

"तद०" गोमानिति षष्ठ्यर्थोदाहरणम्, सप्तम्यर्थोदाहरणं तु वृक्षा अस्मिन् सन्ति वृक्षवान् पर्वत इति । अस्ति. धनमस्यास्ति अस्तिमान्; स्वस्ति आरोग्यमस्यास्ति स्वस्तिमान् । अत्रास्तिस्वस्ती अव्ययौ धनारोग्यवचनौ अस्तीति च [1]सामान्याभिधायि । विशेषास्तेश्च सामान्यास्तिना सामानाधिकरण्यमुपपद्यत एव । तदस्या[2]स्तीत्यत्र वर्त्तमानकालग्रहणाद्वर्त्तमानसत्तायां प्रत्ययो न भूतभविष्यत्सत्तायाम्, तेन गावोऽस्यासन् भवितार इत्यत्र न मतुः । **ननु** कथं तर्हि गोमानासीन् गोमान् भवितेत्यत्र गवाग्रे मतुः ? अत्रापि गावोऽस्यासन् गावोऽस्यास्य भवितार इत्यर्थस्यैव प्रतीयमानत्वात् । **नैवम्** । गोमानासीदित्यादौ गावोऽस्य सन्तीत्येतादृशोऽयमासीदिति गोमत्सत्तायां भूतभविष्यत्कालता, गोसत्तायां तु वर्त्तमानकालतोक्तिरेव । **ननु** तर्हि गोसत्तायां भूतभविष्यत्कालताप्रतीतिः कथमिति चेत् ? "[3]धातोः संबन्धे प्रत्ययाः" (५।४।४१) इति ग्रहणात् चित्रा गावोऽस्य स चित्रगुः [4]शबलगुरित्यत्र बहुव्रीहिणैव मत्वर्थस्योक्तत्वान्मतुर्भवति । एवं पूर्वशालः अपरशालः पञ्चगुः दशगुरित्यत्राप्यस्तीति पदस्यापेक्षं तद्धितद्विगुं द्वैमातुर इत्यादौ सावकाशं बाधित्वास्तिपदनिरपेक्षत्वादन्तरङ्गेण बहुव्रीहिणैव भवता उक्तार्थत्वान्मतुर्न भवति । तदस्यास्त्यस्मिन्निितीत्यत्रेतिशब्दो विवक्षार्थस्तेन "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेति विवक्षायां प्रायो मत्वादयो मताः" ॥ १ ॥ भूम्नि. गोमान्, यवमान् । निन्दायाम्. [5]शङ्खोदकी, ककुदावर्त्ती । प्रशंसायाम्. रूपवती शीलवती कन्या । नित्ययोगे. क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने, बलवान्मल्लः । संसर्गे. दण्डी छत्री । प्रायिकमेतद्भूमादिदर्शनम्, सत्तामात्रेऽपि प्रत्यया दृश्यन्ते—व्याघ्रवान् पर्वतः, स्पर्शादिवन्तः पुद्गलाः, गन्धवती पृथिवीत्यादि । मत्वर्थीयान्मत्वर्थीयः सरूपो न स्यात्—गोमन्तोऽत्र सन्तीत्यत्र मतुर्न स्यात् । दण्डिका अत्र सन्तीत्यत्र इको न स्यात् । विरूपस्तु भवत्येव—दण्डिमती शाला, हस्तिमती उपत्यका । विरूपो मत्वर्थीयः [6]समानायां वृत्तौ न भवति । दण्ड एषामस्तीति दण्डिकाः दण्डिनः । दण्डिका दण्डिन अस्य सन्ति दण्डिनोऽस्य सन्तीति इन्मतू न भवतः । "शैषिकाच्छैषिको नेष्टः, सरूपः प्रत्ययः क्वचित् । [7]समानवृत्तौ मत्वर्थान्मत्वर्थीयोऽपि नेष्यते" ॥ १ ॥ क्वचिदिति समानायामसमानायां च वृत्तौ यथा शालायां भवः शालीयः इत्यत्र पुनः शालीये भवः शालीयस्यायं वेति ईयो न भवति । विरूपस्तु भवति—अहिच्छत्रे भवः आहिच्छत्रस्तत्र भव आहिच्छत्रीयः । तथा [8]असंज्ञाभूतात् [9]कर्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवति । वीरपुरुषा अस्मिन् ग्रामे सन्ति वीरपुरु-

---

यदा अस्तिशब्दो धनार्थस्तदाऽस्तिमानित्युपपद्यते । यदा तु विद्यमानार्थस्तदा कथं द्वयोरेकार्थत्वादित्याह—सा० अस्तीति क्रियापदं सामान्यात्राधायि सामान्येनास्तित्वमात्रप्रतिपादनात्, प्रकृतिभूतस्य त्वव्ययस्य विशेषाभिधायित्वं विद्यमानत्वरूपविशेषस्याभिधानात् । २ यद्यपि सूत्रे लिङ्गं सङ्ख्या कालश्चातन्त्राणि तथापीह सूत्रे वर्त्तमानकालस्यैव प्राधान्यमस्तीतिपदोपादानादन्यथा किमनेन । न खलु पदार्थः सत्तां व्यभिचरति, ततः सत्तायां निसर्गसिद्धायां यत्पुनरस्तीतिग्रहणं तद्वर्त्तमानकालार्थम् । ३ अनेन सूत्रेणायथाकालमपि प्रत्यया भवन्तीत्यर्थः । तेन प्रत्ययस्य वर्त्तमानकालत्वेपि भूतभविष्यत्कालतावगमः । ४ शबलशब्दाद्वर्णवाचिनो गौरादित्वात् ङ्यां शबल्यो गावोऽस्य सन्तीत्येवं कार्यम् । यदा तु शबलशब्दो गवि वर्त्तते तदा गौरादित्वाभावादपि सति 'तद्धिताककोपान्त्य—' इत्यनेन आख्याद्वारेण पुंवत्त्वनिषेधात् शबला गुरित्येव स्यात् । ५ शङ्खोदककुदावर्त्तौ द्वे अपि अश्वस्यापलक्षणे । ६ अत्र एषामस्येति च उभयत्रापि षष्ठ्याः सद्भावात् समाना वृत्तिः । ७ पूर्वार्द्धे यत्सरूप इति पदं तदुत्तरार्द्धेऽपि योज्यम्, ततोऽयमर्थः—न केवलं सरूपो मत्वर्थीयो मत्वर्थीयात्समानवृत्तौ न भवति, मत्वर्थीयोऽपीत्यत्रापिशब्दाद्विरूपोऽपि इति । विषमवृत्तौ सरूपो मत्वर्थीयो न भवतीति तु कारिकाया न सञ्जगृहे । अथवा पूर्वार्द्धात्सरूप इति नाधिक्रियते किं तु मत्वर्थीयोपि नेष्यत इति सामान्येन भणनात् सरूपो विरूपश्च नेष्यत इत्येव व्याख्यायते । अपिशब्दस्तु शैषिकापेक्षया समुच्चये व्याख्येयः । ८ द्विविधः कर्मधारयः—संज्ञाभूतोऽसंज्ञाभूतश्च । तत्र संज्ञाभूतो यः समुदायप्रसिद्ध्या प्रवर्त्तते यथा गौरखरादयः । असंज्ञाभूतो योऽवयवार्थयोगेन प्रवर्त्तते न पृथक्समुदायप्रसिद्ध्या यथा वीरपुरुषादिः । ९ उपलक्षणमिदं यत्कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवतीति । यावता नञ्तत्पुरुषादपि बहुव्रीहिणैव भाव्यम्—यथा अघोषा इति । अत्र हि न घोषोऽघोषः, सोऽस्यास्तीति कृते बहुव्रीहिरेव न मतुः । यत्र त्वर्थविशेषो मत्वर्थीयेनाभिधीयते तत्र नञ्तत्पुरुषादप्यसौ भवति यथा नर-

षको ग्रामः–अत्र बहुव्रीहिरेव । संज्ञायास्तु भवत्येव–गौरखरवदरण्यम्, कृष्णसर्प्पवान्वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः । ऐकगविकः सर्वधनीत्यादिकं तु "एकादेः कर्मधारयात्" (७।२।५८) इत्याद्यारम्भसामर्थ्याद्भवति [अत्राप्यसंज्ञाभूतः कर्मधारयोऽस्तीत्यभिप्रायः] । तथा गुणे गुणिनि च ये गुणशब्दा वर्तन्ते तेभ्यो मत्वर्थीयो न भवति, शुक्लो वर्णोऽस्यास्ति शुक्लः । तिक्तो रसोऽस्यास्ति तिक्तः । प्रत्ययं विनाप्येषां तदभिधानसामर्थ्यात् । ये तु गुणमात्रवाचिनस्तेभ्यो भवत्येव–रूपवान् रसवान् शौक्ल्यवान् काष्र्ण्यवान् । इति ॥ ११४ ॥ अत्रोपयोगिसूत्रम्—

मावर्णान्तोपान्त्यापञ्चमवर्गान्मतोर्मो वः ॥ ११५ ॥ [सि० २।१।९४]

मावर्णौ प्रत्येकमन्तोपान्त्यौ यस्य तस्मात्पञ्चमवर्जवर्गान्ताच्च मतोर्मो वः स्यात् । किमत्रास्तीति किंवान् । वृक्षवान् ॥ ११५ ॥

"माव०" मश्च अवर्णश्च मावर्णौ, अन्तश्च उपान्त्यश्च अन्तोपान्त्यौ, (मावर्णौ अन्तोपान्त्यौ) यस्य स मावर्णान्तोपान्त्यः, नास्ति पञ्चमो यस्मिन् स अपञ्चमः, अपञ्चमश्चासौ वर्गश्च अपञ्चमवर्गः, अपञ्चमवर्गोऽन्ते यस्य स अपञ्चमवर्गान्तः, मावर्णान्तोपान्त्यश्च अपञ्चमवर्गान्तश्च मावर्णान्तोपान्त्यापञ्चमवर्गं तस्मात् । तथा च स्पष्टयति–मावर्णौ प्रत्येकमित्यादि । मकारान्तात्. किंवान् इदंवान् शंवान् । मकारोपान्त्यात्. शमीवान् लक्ष्मीवान् ॥ अवर्णान्तात्. वृक्षवान् मालावान् । अवर्णोपान्त्यात्. अहर्वान् सुगुण्वान् पयस्वान् भास्वान् ॥ अपञ्चमवर्गान्तात्. मरुत्वान् विद्युत्वान् उदश्वित्वान् समिद्वान् । मावर्णान्तेत्यादि किम् ? अग्निमान् वायुमान् नृमान् । नृमतोऽपत्यं नार्मत इत्यत्र तु वृद्धेर्बहिरङ्गत्वान्न स्यात् [तद्धितापेक्षत्वेन वृद्धिर्बहिरङ्गा, तदनपेक्षं तु वत्वमन्तरङ्गमिति] ॥ ११५ ॥ अत्रापवादमाह ।

नोर्म्यादिभ्यः ॥ ११६ ॥ [सि० २।१।९९]

एभ्यो मतोर्मो वो न स्यात् । ऊर्मिमान् । †उदन्वान् जलाधारे ॥ ११६ ॥

"नोर्म्या०" (२।१।९९) ऊर्म्मि दल्मि भूमि तिमि क्रिमि (५) एभ्यो मोपान्त्यत्वात्प्राप्ते, यवकुञ्चा (द्राक्षा ?) ध्वांक्षा वासा (४) एभ्योऽवर्णान्तत्वात्प्राप्ते, हरित् गरुत्, ध्वजित् ककुद् (४) एभ्योऽपञ्चमवर्गान्तत्वात्प्राप्ते, ज्योतिष्मती महिष्मान् गोमती कान्तिमती शिम्बिमती हरिमती (वासमती इक्षुमती ?) चारुमती बन्धुमती मधुमती बिन्दुमती इन्दुमती द्रुमती वसुमती अंशुमती श्रुमती हनूमान् सानुमती भानुमती ॥ १८ ॥ एभ्यो "नाम्नि" (२।४।१२) इति प्राप्ते प्रतिषेधः । ऊर्म्यादय एकत्रिंशत् । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन सति निमित्ते यस्य मतोर्वत्वं न दृश्यते स ऊर्म्यादिषु द्रष्टव्यः । †उदन्वान् जलाधारे चेति; अत्र सूत्रम्–"**उदन्वानब्धौ च**" (२।१।९७) । आपो धीयन्तेऽस्मिन्निति अब्धिः । अब्धौ नाम्नि चायं निपातः । उदन्वान् घटो मेघः–यत्रोदकं धीयते स एवमुच्यते । उदन्वान् समुद्रः । उदन्वान् ऋषिर्यस्य औदन्वतः पुत्रः । उदन्वान् आश्रमः, अन्यत्र उदकवान् घटः । अत्र घटस्य उदकसम्बन्धमात्रं विवक्षितं न दधातीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

वन्ति चक्राणीति । अत्र हि नञ्तत्पुरुषेण चक्रेष्वरकाभावः सामान्येनोच्यते । मत्वर्थीयेन त्वत्यन्तं मूलतोऽप्यरकाभाव इति यावत् । तथा यद्यप्यसंज्ञाभूतात्कर्मधारयान्मत्वर्थीयो न भवतीत्युक्तम्, तथापि प्रायेण दृश्यते–यथा बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त इति । अत्र हि बिसकिसलयच्छेदाश्च ते पाथेयं चेति कर्म्मधारये सति मतुरिति वल्लभेन निश्चिक्ये ॥

राजन्वान् सुराज्ञि ॥ ११७ ॥ [सि० २।१।९८]

सुराजकेऽर्थे राजन्वान् । *संज्ञायां †चर्मण्वत्यादयश्च साधवः । "नावादेरिकः" (७।२।३) नाविकः । 卐 मत्वन्तं च रूपं सर्वत्राधिकारादनुवर्त्तनीयम् । नौमान् । "शिखादिभ्य इन्" (७।२।४) । शिखी, माली । "व्रीह्यादिभ्यस्तौ" (७।२।५) । व्रीहिकः, व्रीही ॥ ११७ ॥

"राज०" सुराजकेऽर्थे इति; शोभनो राजा यस्य तस्मिन्नभिधेये इत्यर्थः । राजन्वती पृथ्वी । राजन्वत्यः प्रजाः । अन्यत्र राजवान् देशः ॥ *संज्ञायामिति–"नाम्नि" (२।१।९५) । संज्ञायां विषये मतोर्मकारस्य वकारः स्यात् । अहीवती कपीवती मणीवती मुनीवती ऋषीवती एता नद्यः "नद्यां मतुः" (६।२।७२) इति चातुरर्थिको मतुः । आसन्दीवान् ग्रामः ॥ †चर्मण्वत्यादयश्चेति. "चर्मण्वत्यष्ठीवत्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वत्" (२।१।९६) इति सूत्रम्–अत्र चर्मन्शब्दस्य मतौ चर्मण्वती नाम नदी–अत्र नलोपाभावो णत्वं च निपातनात् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ अस्थिशब्दस्य अष्ठीभावः अष्ठीवान् जङ्घोरुसन्धिः । चक्रशब्दस्य चक्रीवान् खरः । कक्ष्या [कक्षे भवा कक्षाय हिता वा कक्षे साधुर्वा 'दिगादिदेहांशाद्यः' इत्यादिभिर्ये कक्ष्या ब्रह्मणः सादृश्यमुद्योगश्चेत्यर्थः] शब्दस्य कक्षीवान्नाम ऋषिः । लवणशब्दस्य रुमणूभावः रुमण्वान् नाम पर्वतः । अन्ये तु रुमन्निति प्रकृत्यन्तरं मन्यन्ते । "नावा०" नौरस्यास्मिन् वाऽस्तीति नाविकः, नौमान् । कुमारिकः कुमारीमान् । यवखदिकः यवखदावान् । नौकुमारीभ्यामिनं केचिद्[1]आहुः–नावी कुमारी । नौ, कुमारी, यवखदा[2], सभाकरण, इति नावादयः षट् (?) ॥ 卐 मत्वन्तं चेत्यादि, अत्र सूत्रम्–"आयात्[3]" (७।२।२) "गुणादिभ्यो यः" (७।२।५३) "रूपात्प्रशस्ताहतात्" (७।२।५४) इत्येतद्यप्रत्ययावधि याः प्रकृतयो निर्देक्ष्यन्ते ताभ्यो मतुः स्याद्यथोक्तार्थे । आयादित्यभिविधावाङ् । अपवादैर्बाधो मा भूदिति वचनम्, तेन यथाभिधान[4]मुत्तरत्र मतुरपि भवति । "शिखा०" शिखा, शाला, माला, मेखला, शाखा, वीणा, संज्ञा, वडवा, अष्टका, बलाका, १० पताका, कर्मन्, वर्मन्, चर्मन्, बल, उत्साह, उद्दास, उद्भास, उल, मुल, २० मूल, आयाम, व्यायाम, प्रयाम, आरोह, अवरोह, परिणाह, शृङ्ग, वृन्द, गदा, ३० निचुल, मुकुल, कुल (कूल ?) फल, अल, मान, मनीषा, व्रत, धन्वन्, चूडा, ४० केका, दंष्ट्रा, सूना, घृणा, करुणा, जरा, आयास, स्तबक, उपयाम, उद्यम, ५० । इति शिखादयः पञ्चाशत् । बहुवचनादाकृतिगणः । [5]केचित्तु वडवा अष्टका कर्मन् वर्मन् चर्मन् इत्येतेभ्य इकमपीच्छन्ति । "व्रीह्या०" तौ इति–इकेनौ इत्यर्थः । व्रीहयोऽस्यास्मिन्वा सन्ति–व्रीहिकः, व्रीही व्रीहिमान् । मायिकः मायी मायावान् मायावी । व्रीह्यादयः प्रयोगगम्याः ॥ ११७ ॥

अतोऽनेकस्वरात् ॥ ११८ ॥ [सि० ७।२।६]

अदन्तादनेकस्वरादिकेनौ स्याताम् । धनिकः धनी । *इलेनाणशनरादयो यथायोगं मत्वर्थे वाच्याः–तुन्दिलः फेनिलः शृङ्गिणः ज्योत्स्नी प्राज्ञः श्राद्धः लोमशः पामनः मधुरम् मरुत्तः ॥ ११८ ॥

ते ह्यनयोः शिखादौ पाठमिच्छन्ति । २ खदनं भिदाद्यङ् यवानां खदा यवखदा यवाभ्योषः । ३ आकुमारीमानित्यादिप्रयोगेषु यथाक्रमं 'नावादेरिकः' व्रीह्यादिभ्यस्तौ 'अतोऽनेकस्वरात्' 'अशिरसोऽशीर्षश्च' 'बलवातदन्तललाटादूलः' 'प्राण्यङ्गादातोलः' 'सिध्मादिक्षुद्रजन्तुरुग्भ्यः' 'गोः' 'गुणादिभ्यो यः' इत्यादि सूत्रविहितप्रत्ययविषये पक्षे आयादित्यनेन मतुर्विधीयते । ४ 'कालाज्जटा'–इत्यादिभिः कैश्चित्सूत्रैरर्थविशेषे प्रत्ययोऽभिहितः, स च मतुना न गम्यते इति तदर्थप्रतिपादनाय तत्सूत्रविहित एव प्रत्ययो भवति न तु मतुरित्याशयः । ५ ते ह्येतान् व्रीह्यादौ पठन्ति ।

"अतो०" धनिकः धनी (धनवान्)। एवं दण्डिकः दण्डी (दण्डवान्)। छत्रिकः छत्री (छत्रवान्)। अत इति किम्? खट्वावान् मालावान्। अनेकस्वरादिति किम्? खवान्। स्ववान्। अभिधानार्थस्येति शब्दस्यानुवृत्तेः कृदन्तादिकेनौ न भवतः—राप्यवान् हव्यवान्। एवं लाप्य, लव्य, कृत्य, भृत्य, कारक, हारक, कुम्भकार, धान्य, माय, हिंस्र, ईश्वर, पाक, स्नेह एभ्यो मतुरेव नत्विकेनौ। कार्य, हार्य, गृह, दात्र, पात्र, भोग, तर, विजय, संयम, स्थान; एभ्यो भवतः—कार्यिकः कार्यीत्यादि। व्याघ्र, सिंह, वृक्ष, प्लक्ष, द्रव्य, क्रव्य, सस्य, धान्य, माल्य, पुण्य, सत्य, अपत्य, धन इत्यादिजातिशब्देभ्यो मतुरेव; नत्विकेनौ। व्याघ्रवानित्यादि॥ क्वचिद्भवतः—तण्डुलिकः तण्डुली, कर्प्पटिकः कर्प्पटी॥ धनादुत्तमर्णे भवतः—धनिकः धनी। सप्तम्यर्थे न भवतः—दण्डोऽस्मिन्नस्ति दण्डवद्गृहम्, वीरवान् ग्राम इति मतुरेव। क्वचिद्भवतः—खलिनी शाद्वलिनी भूमिः। रसरूपगन्धस्पर्शशब्दस्नेहेभ्यो गुणवाचिभ्यो न भवतः। क्वचिद्भवतः—रसिको नटः, रसी इक्षुः। रूपिको दारकः, रूपिणी स्त्री [रूपिष्ववधेः। रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि]। स्पर्शिको वायुः, गन्धिकः, गन्धी। तत्सर्वं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थेन इतिशब्देन सिद्धम्॥

अत्रायं विशेषः—**"अशिरसोऽशीर्षश्च"** (७।२।७)। अस्मादिकेनौ मतुश्च स्युस्तत्सन्नियोगेऽस्यायमादेशश्च स्यात्। अशीर्षिकः अशीर्षी अशीर्षवान्। इकेनोः "शीर्षः स्वरे तद्धिते" (३।२।१०३) इति शीर्षादेशो विद्यते एव, मतौ त्वशिरसोऽशीर्षादेशोऽनेन विधीयते॥ **"अर्थार्थान्ताद्भावात्"** (७।२।८)। भाववाचिनोऽर्थशब्दादर्थान्ताच्च शब्दान्मत्वर्थे इकेनौ स्याताम्। नियमार्थमिदम्, उभयथा चायं नियमो वाक्यभेदेन क्रियते—भाववाचिन एवेतौ, भाववाचिनश्चैतावेवेति। 'अर्थणि उपयाचने' अर्थनमर्थः सोऽस्यास्तीत्यर्थिकः; अर्थी; याचकः। प्रतीपमर्थनं प्रत्यर्थः, सोऽस्यास्तीति प्रत्यर्थिकः, प्रत्यर्थी। इकेनावेवेति नियमादतो मतुर्न स्यात्। भावादेवेति नियमाद्द्रव्यवाचिनोऽस्मान्मतुरेव नैतौ। अर्थो हिरण्यादिरस्तीत्यर्थवान्॥

अथाल्पमतिशिष्यानुग्रहाय मत्वर्थीयप्रत्ययान् फक्किकया सङ्गृह्णाति—***इलेत्यादि**—इलश्च इनश्च अण् च णश्च शश्च नश्च रश्च इलेनाण्णशनरमादिर्येषां ते इलेनाण्णशनरादय इति। अत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायादादिशब्दः प्रत्येकं योज्यते इलादय इनादय इत्यादि। तत्र इलप्रत्यये सूत्रपद्धतिरेवम्—**"व्रीह्यर्थतुन्दादेरिलश्च"** (७।२।९)। मत्वर्थे इति सर्वत्र ज्ञेयम्। मतुश्च सर्वत्र ज्ञेयः॥ अत्र चकारादिकेनौ। व्रीह्यर्थ. कलमिलः कलमिकः कलमी कलमवान्। शालिलः शालिकः शाली शालिमान्। व्रीहिशब्दस्य व्रीह्यर्थत्वेऽपि पूर्वत्रोपादानादिलो न स्यात्, अन्यथा तत्रोपादानमनर्थकं स्यात्। स्यादित्येके। व्रीहिलः। तुन्दादि. तुन्दिलः तुन्दिकः तुन्दी तुन्दवान्। तुन्द उदर पिचण्ड यव व्रह पङ्क गुहा कला काक इति तुन्दादयो नव। मूले तु तुन्दिल इत्युदाहरणं दिग्मात्रमेवमन्यत्रापि सर्वत्र ज्ञेयम्॥ **"स्वाङ्गाद्विवृद्धात्ते"** (७।२।१०)। ते इति अनन्तरोक्ता इल-इक-इन्-प्रत्यया मतुश्च स्युः। विवृद्धौ महान्तौ कर्णावस्य स्तः—कर्णिलः कर्णिकः कर्णी कर्णवान्। ओष्ठिलः ओष्ठिकः ओष्ठी ओष्ठवान्। विवृद्धादिति किम्? अन्यत्रेलो न स्यादतोऽनेकस्वरादितीकेन्मतव एव स्युः॥ **"वृन्दादारकः"** (७।२।११)। वृन्दारकः वृन्दवान्। शिखादित्वाद्वृन्दी॥ **"शृङ्गात्"** (७।२।१२)।

---

१ अत्र स्वामित्वाविवक्षणात् 'स्वामिन्नीशे' इति न मिन्। २ यदा तु कस्यचिद्रूपं रस इत्यादि नाम भवति तदा भवत्येव। ३ सङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणीति। ४ व्रीह्यादिभ्यस्तावित्यत्र। ननु तर्हि अर्थग्रहणाभावेऽपि व्रीहिशब्दोपादानेऽपि व्रीह्यर्थग्रहणे लब्धे किमर्थग्रहणेन। न। प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थत्वादर्थग्रहणस्य।

तथा । शृङ्गारकः, शृङ्गवान् । शिखादित्वात् शृङ्गी ॥ **इनेति. "फलबर्हाच्चेनः"** (७।२।१३) । फलबर्हाभ्यां शृङ्गाच्च इनः स्यात् । फलिनः फलवान्, एवं बर्हिणः २ । शृङ्गिणः २ । शिखादित्वात् फली बर्ही ॥ **आदिशब्दात् "मलादीमसश्च"** (७।२।१४) । चकारादिनोऽपि । मलीमसः मलिनः मलवान् ॥ **अणिति. "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्"** (७।२।३४) । ज्योत्स्ना अस्मिन्नस्ति ज्यौत्स्नः पक्षः । ज्यौत्स्नी रात्रिः । तामिस्राणि गुहामुखानि । वैसर्पो व्याधिः । वैपादिकं कुष्ठम् । कौतुपं गृहम् । कौण्डलो युवा । तापसः पाखण्डी । साहस्रो देवदत्तः । मतौ ज्योत्स्नावानित्यादि । तापस इति रूढिशब्दो रूढिविषये च मतुर्न स्यात् । कुण्डली सहस्री चेति शिखादित्वात् । ज्योत्स्नादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"सिकताशर्करात्"** (७।२।३५) । आभ्यामण् मतुश्च । सैकतः सिकतावान् । शार्करः २ ॥ **"इलश्च देशे"** (७।२।३६) । चकारादण् मतुश्च । सिकतिलः सैकतः सिकतावान् देशः । शर्करिलः शार्करः २ देशः । सिकता शर्करा देश इत्यभेदोपचारात् ॥ **आदिशब्दात् "द्युद्रोर्मः"** (७।२।३७) । द्यु इति दिवः कृतोकारस्य निर्देशः । द्रुशब्द उकारान्तोऽहःपर्यायः प्रकृत्यन्तरं वा । आभ्यां मः स्यात् । द्यौर्द्युर्वाऽस्यास्मिन्वास्तीति द्युमः । द्रूणि दारूण्यस्यास्मिन्वा सन्तीति द्रुमः । अनयो रूढिशब्दत्वान्मतुर्न स्यात्, अन्यत्र मतुरेव–द्युमान् द्रुमान् ॥ **"काण्डाण्डभाण्डादीरः"** (७।२।३८) । काण्डीरः २ । आण्डीरः २ । भाण्डीरः २ । आण्डौ मुष्कौ ॥ **णश्चेति–"प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तेर्णः"** (७।२।३३) । प्राज्ञः प्रज्ञावान्, स्त्री तु प्राज्ञा । श्राद्धा, आर्चा, वार्त्ता । प्राज्ञीति तु स्वार्थिकाणन्तात् ङीः ॥ **शेति–"लोमपिच्छादेः शेलम्"** (७।२।२८) । लोमादिभ्यः पिच्छादिभ्यश्च यथासङ्ख्यं श–इल इत्येतौ स्याताम् । लोमशः २ । पिच्छिलः २ । उरसिलः २ । लोमन्, रोमन्, बभ्रु, वल्गु, हरि, कपि, मुनि, गिरि, ऊरु, कर्क, इति लोमादयो दश ॥ पिच्छ, उरस्, ध्रुवका, ध्रुवका, पक्ष, चूर्ण । इति पिच्छादयः षट् ॥ **नेति–"नोऽङ्गादेः"** (७।२।२९) । अङ्गान्यस्याः सन्तीत्यङ्गना, रूढिशब्दोऽयम्; कल्याणाङ्गी स्त्री उच्यते । अन्यत्र अङ्गवती ॥ अङ्ग, पामन्, वामन्, हेमन्, श्लेष्मन्, सामन्, वर्ष्मन्, शाकिन्, पलालिन्, पलाशिन्, ऊष्मन्, कद्रु, बलि, इत्यङ्गादयस्त्रयोदश ॥ योगविभाग उत्तरार्थः ॥ **"शाकीपलालीदर्द्र्वा ह्रस्वश्च"** (७।२।३०) । एभ्यो नस्तत्सन्नियोगे चैषां ह्रस्वोऽन्तादेशः । महच्छाकम् शाकसमूहो वा शाकी । महत्पलालं पलालक्षोदो वा पलाली । दर्द्रूमान् दर्द्रू नाम व्याधिः । शाकिनः शाकीमान् । पलालिनः पलालीमान् । दर्द्रूणः दर्द्रूमान् । केचित्तु शाकीपलाल्योर्ह्रस्वत्वं नेच्छन्ति–शाकीनः पलालीनः ॥ **"विष्वचो विषुश्च"** (७।२।३१) । अस्मात् नः, अस्य च विषु इत्ययमादेशः स्यात् । विषु अञ्चतीति विष्वग् । विष्वञ्चो रश्मयो विष्वग्गतानि वास्य सन्तीति विषुणः सूर्यो वायुर्वा । विषुशब्दो निपातो नानात्वे वर्त्तते । विष्वगित्यखण्डमव्ययं वा । मकारसन्नियोगे आदेशविधानान्मतौ विष्वग्वानिति । विषुमानहोरात्रविभागं इति तु विषुर्नाम मुहूर्त्तस्तस्माद्भवति । **रेति–"मध्वादिभ्यो रः"** (७।२।२६) । मधुरो रसः । अत्र मधुशब्दः स्वादुत्वे गुणत्वे गुणसामान्ये वर्त्तते । मधुरं मधु । मधुरं क्षीरमत्र गुणे क्षौद्रादिद्रव्यवृत्तेस्तु मतुरेव । इतिशब्दानुवृत्तेः मधुमान् घट इति । एवं खं महत्कण्ठविवरमस्यास्तीति खरः गर्दभः, अन्यः खवान् । एवं सर्वत्रापि । मुखं सर्वस्मिन् वक्तव्येऽस्यास्तीति मुखरो वाचालः । कुञ्जावस्य स्तः कुञ्जरो हस्ती, कुञ्जशब्दोऽत्र हनुपर्यायः । नगरं पुरम् । ऊषरं क्षेत्रम् । मुष्करः पशुः । शुषिरं शुषिमत्काष्ठम् । कण्डूरः कण्डूमान् । पाण्डुरः पाण्डुमान् । पांशुरः पांशुमान् । मध्वादयः प्रयोगगम्याः ॥ **आदिशब्दात् "कृष्यादिभ्यो बलच्"** (७।२।२७) । कृषीबलः कुटुम्बी, कृषिस्क्षेत्रम् । आसुतीबलः, कल्पबलः, आसुतिमान् । परिषद्बलः २ । पर्षद्बलः । परिषद्बलं तीर्थं पङ्किलमित्यर्थः । परिषद्वत् रजस्वला स्त्री । रजस्वान् ग्रामः ।

केचित्तु रजस्वलो देशः, रजस्वला भूमिः, रजस्वान्, रजस्वतीति सर्वत्राविशेषेण वृत्तिमिच्छन्ति । दन्तावलो नाम राजा हस्ती च । शिखावलं नगरम् । शिखावलो मयूरः । शिखावला स्थूणा । दन्तवान् शिखावानन्यः । पितृबलः पितृमान् । एवं मातृबलः, भ्रातृबलः, उत्साहबलः, पुत्रबलः, उत्सङ्गबलः ॥ "**बलच्यपित्रादेः**" (३।२।८२) । बलच्प्रत्यये पित्रादिवर्जितानां स्वरान्तानां दीर्घः स्यात् । आसुतिः सुरा, सा अस्यास्तीत्यासूतीबलः । अपित्रादेरिति–पित्रादयश्चत्वारः । पितृबल इत्यादि । चकारः किम् ? उत्तरपदे मा भूत्–कायबलं नागबलम् । प्रत्ययाप्रत्यययोरिति न्यायस्त्वनित्यत्वान्नोपतिष्ठते । कृष्यादयः प्रयोगगम्याः ॥ **मरुत्त** इति–अथात्र सूत्रम् "**मरुत्पर्वणस्तः**" (७।२।१५) इति । मरुत्तः पर्वतः । मतौ मरुत्वान् पर्ववान् ॥ ११८ ॥

ननु मरुत्वानित्यत्र "धुटस्तृतीयः" (२।१।७६) इति तस्य दत्वं कुतो न स्यादित्यत आह—

नस्तं मत्वर्थे ॥ ११९ ॥ [सि० १।१।२३]

सान्तं तान्तं च नाम मत्वर्थे परे पदं न स्यात् । मरुत्वान् । "बलवातदन्तललाटादूलः" (७।२।१९) । बलूलः ॥ "प्राण्यङ्गादातो लः" (७।२।२०) । चूडालः ॥ "सिध्मादिक्षुद्रजन्तुरुग्भ्यः" (७।२।२१) । अपि । सिध्मलः । यूकालः । मूर्च्छालः ॥ "प्रज्ञापर्णोदकफेनाल्लेलौ" (७।२।२२) । प्रज्ञालः प्रज्ञिलः ॥ "वाच आलाटौ" (७।२।२४) । क्षेपे । वाचालः वाचाटः ॥ "ग्मिन्" (७।२।२५) । वाचः । वाग्मी ॥ "लक्ष्म्या अनः" (७।२।३२) । लक्ष्मणः ॥ "कच्छ्वा डुरः" (७।२।३९) कच्छुरः ॥ "दन्तादुन्नतात्" (७।२।४०) । उन्नता दन्ता अस्य सन्ति दन्तुरः ॥ "कृपाहृदयादालुः" (७।२।४२) । कृपालुः ॥ ११९ ॥

"नस्तं०" सूत्रं स्पष्टम् । ततः पदत्वाभावान्नात्र तकारस्य दकारः । आदिशब्दोपादानात् "**वलिवटितुण्डेर्भः**" (७।२।१६) । वलिभः; अङ्गादित्वान्ने वलिनः । वटिभः; तुण्डिभः; सिध्मादित्वाल्ले तुण्डिलः (मतुश्च–वलिवान्) प्रवृद्धा नाभिस्तुण्डिः । "**ऊर्णाहंशुभमो युस्**" (७।२।१७) । युस्-प्रत्यये परे ऊर्णादिशब्दस्य "नाम सिदय्०" (१।१।२१) इति पदसंज्ञायां "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इत्याकारलोपो न भवति तत्रापदस्येत्युक्तत्वात् ऊर्णायुः–उरभ्रः । अहंयु अहंकारी । शुभंयुः कल्याणबुद्धिः ॥ "**कंशंभ्यां युस्तियस्तुतवभम्**" (७।२।१८) कंशंभ्यामेते सप्त प्रत्ययाः स्युः । कंयुः शंयुः, कन्तिः, शन्तिः, कंयः शंयः, कन्तुः शन्तुः, कन्तः शन्तः, कंवः शंवः, कम्भः शम्भः, युस्-यसोः सकारो "नामसिदय्व्यञ्जने" (१।१।२१) इति पदत्वार्थस्तेन "तौ मुमौ व्यञ्जने स्वौ" (१।३।१४) इत्यनुस्वारानुनासिकौ सिद्धौ–कंयुः कँय्युः । अथ बालोपकाराय प्रसिद्धप्रयोगापवादकानि कतिचित् सूत्राणि साक्षान्निर्दिशति ॥ "**बल०**" सूत्रं स्पष्टम् ॥ **प्राण्यं०** । आकारान्तात्प्राण्यङ्गवाचिनो लः स्यात् । चूडाल इति । एवं जङ्घालः शिखालः । प्राण्यङ्गादिति किम् ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? इच्छावान् । कर्णिकाल इत्यत्र कर्णिकाशब्दः प्राण्यङ्गस्यैव वाचक इत्याहुः [न तु कर्णाभरणस्येत्यर्थः] । "**सिध्मा०**" सिध्मादेर्गणात् क्षुद्रजन्तुवाचिभ्यो रुग्वाचिभ्यश्च लः स्यात् । सिध्मानि त्वक्कुष्ठाण्यस्य सन्ति सिध्मलः । एवं वध्र्मलः अङ्गादित्वान्ने वध्र्मनः । पार्ष्णीधमनीशब्दौ दीर्घान्तावेव पठ्येते–पार्ष्णीलः धमनीलः । ह्रस्वान्ताभ्यां तु मतुरेव पार्ष्णिमान् धमनिमान् । यूकाल इति–एवं मक्षिकालः । आ नकुलात् क्षुद्रजन्तुः । रुग्भ्य इति बहुवचनं स्वरूपनिषेधार्थम्–मूर्च्छाल इति, एवं विचर्चिकालः । सिध्म वध्र्मन् गडु तुण्डि मणि नाभि बीज निष्पाद निष्पद् निष्प ॥ १० ॥ पांशु हनु

पर्शु पार्ष्णी धमनी सक्तु मांस पत्र वात पित्त ॥ २० ॥ श्लेष्मन् पार्श्व कर्ण सक्थि स्नेह शीत कृष्ण श्याम पिङ्ग पक्ष्मन् ॥ ३० ॥ पृथु मृदु मञ्जु वटु कण्डू ॥ ३५ ॥ इति सिध्मादयः पञ्चत्रिंशत्। कथं वत्सलः स्नेहवान् अंसलो बलवान्? नात्र कश्चित् वत्साद्यर्थोऽस्तीति पेशलकुशलादिवदेतौ व्युत्पादनीयौ, सिध्मादिषु वा पठनीयौ। **"प्रज्ञा०"** (७।२।२२) सूत्रं स्पष्टम्। **"वाचः"** ग्मिनोऽपवादोऽयम्, क्षेपे इति यो निस्सारं बहु भाषते स एवं क्षिप्यते। मतुना क्षेपो न गम्यते इति क्षेपे मतुर्न भवति॥ एवं **"कालाजटाघाटात् क्षेपे"** (७।२।२३)। लेलौ स्याताम्। कालालः कालिलः इमं डोपान्त्यं केचित्पठन्ति–काडालः काडिलः॥ जटालः जटिलः। घाटालः घाटिलः। क्षेमे मतुर्न स्यात्–अन्यत्र कालावान्॥ **"ग्मिन्"** गकारः "प्रत्यये च" (१।३।२) इत्यनुनासिकनिवृत्त्यर्थः॥ **"लक्ष्म्या०"** "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इतीकारलोपे लक्ष्मणः। मतौ लक्ष्मीवान्। **"कच्छ्वा०"** **"दन्ता०"** सूत्रद्वयं स्पष्टम्॥ **"कृपा०"**। विकल्पानुवृत्त्या कृपालुः कृपावान्। हृदयालुः हृदयिकः हृदयी हृदयवान्॥ **आदिशब्दात् "केशाद्वः"** (७।२।४३)। केशवः केशिकः केशी केशवान्। केशव इति रूढिशब्दोऽपि विष्णुवाची। **मण्यादिभ्यः"** (७।२।४४)। एभ्यो वः स्यात्। योगविभागाद्वेति निवृत्तम्। मणिवः मणिमान्; सिध्मादिपाठान्मणिलः। हिरण्यवः हिरण्यवान् बिम्बावम्, कुरावम्, कुरबावम्, "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" (३।२।८६) इति बाहुलकाद् दीर्घः। राजीवं इष्टकावम्, गाण्डिवम्, (गाण्डीवम्), अजकावम्, बिम्बावमित्यादयो रूढिशब्दास्तत्र मतुर्न स्यात्। अन्यत्र तु स्यादेव–बिम्बवानित्यादि। मणि, हिरण्य, बिम्ब, कुरर, कुरव, राजी, इष्टका, गाण्डि, गाण्डी, अजका, इति मण्यादयः प्रयोगगम्याः॥ ११९॥

अभ्रादिभ्यः॥ १२०॥ [सि० ७।२।४६]

एभ्यो मत्वर्थे अः स्यात्। अभ्रं नभः। अर्शसो मैत्रः॥ १२०॥

"अभ्रा०"। अभ्राण्यस्मिन्सन्ति अभ्रं नभः अर्शांस्यस्य सन्ति अर्शसो मैत्रः। एवमुरसः उरस्वान्। अभ्र अर्शस् उरस् उरभ्र (?) तुन्द चतुर पलित जटा घाटा कर्दम॥ १०॥ काम वेला (बल?) घटा आम्ल लवण॥ १५॥ इत्यभ्रादयः पञ्चदश। बहुवचनादाकृतिगणः॥ **आदिशब्दात् "हीनात्स्वाङ्गादः"** (७।२।४५)। खण्डः कर्णोऽस्यास्ति कर्णः। छिन्ना नासिकास्यास्ति नासिकः। हीनादिति किम्? अन्यत्र कर्णवानित्याद्येव स्यात्॥ १२०॥

अस्तपोमायामेधास्रजो विन्॥ १२१॥ [सि० ७।२।४७]

असन्तात्तपःप्रभृतिभ्यश्च विन् स्यात्। वर्चस्वी, तपस्वी। मायावी, व्रीह्यादित्वान्मायिकः, मायी। मेधावी। "मेधारथान्नवेरः" (७।२।४१)। मेधिरः रथिरः रथिकः॥ स्रग्वी॥१२१॥

"अस्०" असन्तत्वेनैव सिद्धे तपसो ग्रहणं ज्योत्स्नाद्यणा बाधो मा भूदित्यर्थम्। **"मेधा०"**। आभ्यामिरः स्यात्। नवेत्युक्तेर्यथाप्राप्तमिकेनौ मतुश्च। मेधिरः मेधावान्। विन्नपि–मेधावी। रथिरः रथिकः रथी रथवान्। स्रग्वी स्रग्वान्॥ १२१॥

---

१ यथा पेशं लाति कुशं लाति इत्येवमनयोर्व्युत्पत्तिरेवं वत्सलांसलयोरपि। औणादिकौ वा मनोज्ञमेधाविवाचिनौ। २ न केवलं यस्य केशाः सन्ति स केशवः, किन्तु विष्णुरपि।

आमयाद्दीर्घश्च ॥ १२२ ॥ [सि० ७।२।४८]

असाद्विन्प्रत्ययः स्यात्, दीर्घश्चास्य । आमयावी ॥ "स्वान्मिन्नीशे" (७।२।४९)। दीर्घश्च । स्वामी । "गोः" (७।२।५०) । गोमी । "ऊर्जो विन्वलावस् चान्तः" (७।२।५१) । ऊर्जस्वी ऊर्जस्वलः ऊर्ग्वान् ॥ १२२ ॥

"आम०"। सूत्रं स्पष्टम् । "**स्वा०**" ईशे इति ईशे वाच्ये । स्वमस्यास्तीति स्वामी, अन्यस्तु स्ववान् ॥ "**गोः**" । अस्मात् मिन् स्यात् । तथा च कोषः—"गोमान् गोमी गवीश्वरे" । पूज्य एव मिनमिच्छन्त्यन्ये । "**ऊर्जो०**" ऊर्ज्शब्दात् विन्—वल इत्येतौ स्याताम्, तत्सन्नियोगे चास्य अस् अन्तो भवति । ऊर्जस्वी ऊर्जस्वलः, मतुश्च ऊर्ग्वान् । ऊर्जस्वानिति तु ऊर्जयतेर[1]ऽस्प्रत्ययान्तस्य मतौ रूपम् । **आदि-शब्दात् "तमिस्रार्णवज्योत्स्नाः"** (७।२।५२) । एते निपात्याः । तमस्शब्दात् रः, उपान्त्यस्येत्वं च—तमोऽत्रास्ति तमिस्रा रात्रिः । तमिस्रं तमःसमूहः । तमिस्रा गुहा । अर्णसो वः, अन्त्यलोपश्च—अर्णवः समुद्रः । ज्योतिस्शब्दात् नप्रत्यय उपान्त्यलोपश्च—ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभा, अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः, निपातनस्येष्टविषयत्वात् ॥ "**गुणादिभ्यो यः**" (७।२।५३) । गुण्यः पुमान्, हिम्यः पर्वतः; मतौ गुणवान् हिमवानिति । गुणीति तु शिखादित्वात् । गुणादयः प्रयोगगम्याः ॥ "**रूपात्प्रशस्ताहतात्**" (७।२।५४) । प्रशस्तोपाधिकादाहतोपाधिकाच्च रूपात् यः स्यात् । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः । निघातिकाताडनादीनारादिषु यद्रूपमुत्पद्यते तदाहतं रूप्यम्, अन्यत्र रूपवान् । प्रशंसायां मतुरपि—रूपवती स्त्री । आहते तु न, इतिशब्दानुवृत्तेः रूपिणी कन्या । रूपिको दारकः इति व्रीह्यादित्वाद्भवति । आयादित्यस्य पूर्णोऽवधिः, अतः परं मतुर्नास्ति ॥ "**पूर्णमासोऽण्**" (७।२।५५) । पूर्णमाःशब्दान्मत्वर्थेऽण् स्यात् । पूर्णो माश्चन्द्रोऽस्यामस्ति पौर्णमासी ॥

अतः समासान्मत्वर्थीयान् दर्शयति ॥ १२२ ॥

सर्वादेरिन् ॥ १२३ ॥ [सि० ७।२।५९]

सर्वादेरदन्तात्कर्मधारयादिन् स्यात् । सर्वधनी ॥ १२३ ॥

"सर्वा०" । सूत्रं स्पष्टम् । सर्वधनीति सर्वं धनं तदस्यास्ति सर्वधनी । एवं सर्वबीजी सर्वकेशी नटः । **आदिशब्दाद् "गोपूर्वादत इकण्"** (७।२।५६) । मत्वादीनामपवादः । गौशतिकः गौसहस्रिकः । अत इति किम् ? गोविंशतिमान् । केचित्तु गवादेरनकारान्तादपीच्छन्ति—गवां समूहो गोत्रा सा विद्यतेऽस्य गौत्रिकः । गावो वयांसि चास्य सन्ति गौवयसिकः ॥ "**निष्कादेः शतसहस्रात्**" (७।२।५७) । नैष्कशतिकः नैष्कसहस्रिकः । निष्कादेरिति किम् ? शती, सहस्री । आदिग्रहणात् सुवर्णनिष्कशतमस्यास्तीत्यत्र न भवति ॥ "**एकादेः कर्मधारयात्**" (७।२।५८) । इकण् । एको गौरेकगवः सोऽस्यास्त्यैकगविकः । ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः ॥ कर्मधारयादिति किम् ? एकस्य गौरेकगवः सोऽस्यास्तीत्यत्र न भवेत् । अत इत्येव—एकविंशतिरस्यास्तीत्यत्र न स्यात् । एकद्रव्यवत्त्वादिति तु एकेन तु द्रव्यवत्त्वमिति समासे भवति [ऊनार्थपूर्वाद्यैः" (३।१।६७) इत्यनेन] ॥ "**प्राणिस्थादस्वाङ्गाद्द्वन्द्वरुग्निन्द्यात्**" (७।२।६०) । प्राणिस्थोऽस्वाङ्गवाची अकारान्तो यो द्वन्द्वः समासो

---

[1] यद्येवं ऊर्जयतेरसन्तस्यास्तपोमायेत्यनेन असन्तत्वाद्विन् सिद्ध एव, किमत्र सूत्रे ऊर्ज्शब्दाद्विन्विधानेन । सत्यम् । असन्तस्य ऊर्जयतेर्नियत एव प्रयोग इति ततोऽनेन विन्विधानम्, एतच्च ऊर्ज्शब्दाद्विन्विधानेनैव ज्ञाप्यते ।

यश्च रुग्वाची निन्द्यवाची च शब्दस्तस्मान्मत्वर्थे इन् स्यात्। "सर्वादेरिन्" इति सूत्रात् इन् अनुवर्त्तते। द्वन्द्व. कटकवलयिनी शङ्खनूपुरिणी। रुक्. कुष्ठी, किलासी। निन्द्य. ककुदावर्ती, काकतालुकी। प्राणिस्थादिति किम्? पुष्पफलवान् वृक्षः। अस्वाङ्गादिति किम्? स्तनकेशवती। अत इत्येव—चित्रकललाटिकावती। "अतोऽनेकस्वरात्" (७।२।६) इत्येव सिद्धे इकादिबाधनार्थं वचनम्॥ १२३॥

वातातीसारपिशाचात् कश्चान्तः॥ १२४॥ [सि० ७।२।६१]

एभ्यस्त्रिभ्य इन् कोऽन्तश्च। वातकी॥ १२४॥॥ इति मत्वर्थीयाः॥

"वाता०"। वातो रोगोऽस्यास्तीति वातकी। एवमतीसारकी पिशाचकी। वातातीसारयोः पूर्वेणैन् सिद्ध एव कार्थं वचनम्। पिशाचस्य तूभयार्थम्॥ **"पूरणाद्वयसि"** (७।२।६२)। पूरणप्रत्ययान्ताद्वयसि गम्ये इन्नेव स्यात्। पञ्चमो मासः संवत्सरो वाऽस्यास्तीति पञ्चमी बालकः। दशमी करभः॥ **"सुखादेः"** (७।२।६३)। एभ्यो मत्वर्थे इन्नेव स्यात्। सुखी। दुःखी॥ सुख, दुःख, तृप्र, कृच्छ्र, अस्र, अलीक, कृपण, सोढ, प्रतीप, प्रणय, (हस्त?) हल, अस्र, कक्ष, शील, इत्येके। इति सुखादयश्चतुर्दश॥ १४॥ **"मालायाः क्षेपे"** (७।२।६४)। इन्नेव। माली। क्षेप इति किम्? मालावान्। मालाशब्दः शिखादिस्ततः क्षेपे मतुनिवृत्त्यर्थं वचनम्॥ **"धर्म्मशीलवर्णान्तात्"** (७।२।६५)। इन्नेव। मुनिधर्मी। यतिशीली। ब्राह्मणवर्णी। **"बाहूर्वादेर्बलात्"** (७।२।६६)। बाहु—उरुपूर्वात् बलान्तात् इन्नेव। बाहुबली। उरुबली॥ **"मन्माब्जादेर्नाम्नि"** (७।२।६७)। मन्नन्तेभ्यो मान्तेभ्योऽब्जादिभ्यश्च मत्वर्थे इन्नेव स्यात्, नाम्नि। मन्नन्त. दामिनी सामिनी प्रथिमिनी महिमिनी धर्मिणी कर्मिणी। मान्त. प्रथमिनी भामिनी कामिनी यामिनी सोमिनी। अब्जादि. अब्जिनी, कमलिनी। अब्ज कमल सरोरुह सरोज अम्भोज राजीव अरविन्द पङ्कज पुटक नालीक मृणाल बिस (तामरस)। यवास इत्यब्जादयस्त्रयोदश॥ १३॥ **"हस्तदन्तकराज्जातौ"** (७।२।६८)। एभ्यो मत्वर्थे इन्नेव, जातौ वाच्यायाम्। हस्ती दन्ती करी। जाताविति किम्? अन्यत्र हस्तवान्॥ **"वर्णाद्ब्रह्मचारिणि"** (७।२।६९)। इन्। वर्णशब्दो ब्रह्मचर्यपर्यायः, सोऽस्यास्ति वर्णी ब्रह्मचारीत्यर्थः। अन्ये तु वर्णशब्दो ब्राह्मणादिवर्णवचनः, तत्र ब्रह्मचारीत्यनेन शूद्रव्यवच्छेदः क्रियते इति मन्यन्ते। तेन त्रैवर्णिको वर्णीत्युच्यते। स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति न शूद्र इति॥ **"पुष्करादेर्देशे"** (७।२।७०) एभ्यो देशेऽभिधेये इन्नेव। पुष्करिणी। पद्मिनी॥ पुष्कर पद्म उत्पल तमाल कुमुद कैरव नल कपित्थ बिस मृणाल॥ १०॥ कर्दम शालूक विबर्ह करीष शिरीष यवास यवाष यव माष हिरण्य॥ २०॥ तट तरङ्ग कल्लोल॥ २३॥ इति पुष्करादयस्त्रयोविंशतिः॥ कुमुद्वती सरसी। कुमुद्वान् ह्रदः। नड्वान् नड्वलमिति तु "नडकुमुद०" (६।२।७४) इत्यादिना चातुरर्थिकेन मतुना भवितव्यम्॥ **"सूक्तसाम्नोरीयः"** (७।२।७१)। सूक्ते सामनि चाभिधेये मत्वर्थे ईयः स्यात्। मत्वादीनामपवादः। अच्छावाक् शब्दोऽत्र सूक्तेऽस्ति अच्छावाकीयम्, मैत्रावरुणीयम्। साम्नि. यज्ञायज्ञीयम्, अशनापिपासीयम्, वारतन्तवीयम् साम। अस्यवामीयम्, कयानश्चित्रीयं सामेत्यादौ सूक्तसामस्थानामनुकार्याणामखण्डा एवास्यवामादयोऽनुकरणशब्दाः, नात्र विभक्तिरिति लुब् न भवति, अत एव [1]प्रथमान्ततापि न विरुद्ध्यते। सूक्तसाम्नी ग्रन्थविशेषौ॥ **"लुब्वाऽध्यायानुवाके"** (७।२।७२)। अध्याये अनुवाके चाभिधेये य ईयस्तस्य लुब्वा स्यात्, अत एव लुब्व-

---

१ यत एवामी अखण्डा अनुकरणशब्दा अत एव तेनैवानुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वान्नामत्वे सति प्रथमान्ततापयविरुद्धैवेत्यर्थः।

चनादध्यायानुवाकयोरीयोऽनुमीयते । एतावपि ग्रन्थविशेषौ । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वाऽस्ति इति गर्दभाण्डो गर्दभाण्डीयोऽध्यायोऽनुवाको वा । एवं दीर्घजीवितः दीर्घजीवितीयः । द्रुमपुष्पः द्रुमपुष्पीयः ॥ **"विमुक्तादेरण्"** (७।२।७३) । अध्यायानुवाकयोर्वाच्ययोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवाके वाऽस्ति वैमुक्तः । विमुक्त देवासुर रक्षोसुर उपसद् उपसद परिसारक (सदसत्?) वसु मरुत् सत्वत् सत्वन्तु ॥ १० ॥ दशार्ह वयस् हविर्द्धान महित्री (अस्यहत्य?) सोमापूषन् इडा इला अग्नाविष्णू उर्वशी ॥ २० ॥ दशार्ण, वसुमन्तु पत्नीवन्तु बर्हवन्तु वृत्रहन् पतत्रिन् ॥ ३० ॥ सुपर्ण ॥ ३१ ॥ इति विमुक्तादय एकत्रिंशत् ॥ **"घोषदादेरकः"** (७।२।७४) । तयोर्वाच्ययोः । घोषत्शब्दोऽस्मिन्नस्ति घोषदकः । घोषद् गोषद् इषेत्वा मातरिश्वन् देवस्यत्वा पत्वा देवीराप कृष्णोस्य खरेष्ठा ॥ १० ॥ देविंधिया रक्षोहण अञ्जन प्रतूर्त उशान कृशानु सहस्रशीर्षन्, वाचस्पति, स्वाहा, प्राण ॥ २० ॥ इति घोषादयो विंशतिः ॥ **इति मत्वर्थीया इति** ॥ १२४ ॥

मत्वर्थीयप्रत्ययानां दिग्मात्रमिति दर्शितम् । तत्त्वप्रकाशिकादिभ्यो विशेषः शेष उह्यताम् ॥

अथ मयट्प्रत्ययं सङ्क्षेपेण निर्दिशति ।

***प्राचुर्यप्राधान्यादिषु यथार्हं मयड्वाच्यः–अपूपमयं पर्व ॥ "प्रकारे जातीयर्" (७।२।७५)। महाजातीयः ॥ "भूतपूर्वे प्चरट्" (७।२।७८) । पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । भूतपूर्वा । आढ्या आढ्यचरी ॥ "निन्द्ये पाशप्" (७।३।४) । छान्दसपाशः ॥ "प्रकृष्टे तमप्" (७।३।५) । अयमेषां प्रकृष्टः शुक्लः शुक्लतमः ।**

*प्राचुर्यप्राधान्येत्यादि, अत्रैवं सूत्रपद्धतिः–**"प्रकृते मयट्"** (७।३।१) । प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतं प्रकृतम्, प्रकृतेऽर्थे वर्त्तमानान्नाम्नः स्वार्थे मयट् स्यात् । अन्नं प्रकृतं अन्नमयम् घृतमयम् । टकारो ङ्यर्थः । यवागूमयी । [1]अतिवर्त्तन्तेऽपि स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानीति यवागूः प्रकृता यवागूमयम् एवमुत्तरत्रापि । अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् अपूपमयम् ॥ **"अस्मिन्"** (७।३।२) । प्रकृतेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नोऽस्मिन्निति सप्तम्यर्थे मयट् स्यात् । अन्नं प्रकृतमस्मिन् अन्नमयं भोजनम् । अपूपमयं पर्व । वटकमयी यात्रा ॥ **"तयोः समूहवच्च बहुषु"** (७।३।३) । तयोरिति प्रकृते इति अस्मिन् इति चेति पूर्वोक्तयोर्द्वयोर्बहुषु वर्त्तमानान्नाम्नः समूहवत्प्रत्ययो भवति, चकारान्मयट् स्यात् । अपूपाः प्रकृता अस्मिन् आपूपिकम् अपूपमयं पर्व, मौदकिकी मोदकमयी पूजा, "कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्" (६।२।१४) । धेनुकम् धेनुमयम् "धेनोरनञः" (६।२।१५) । गणिकाः प्रकृता अस्यां यात्रायां गाणिक्या गणिकामयी–"गणिकाया ण्यः" (६।२।१७) । अश्वीया अश्वमयी यात्रा "वाऽश्वादीयः" (६।२।१९) ॥ **"प्रकारे०"** तदस्येत्यनुवर्त्तते । प्रथमान्तात्षष्ठ्यर्थे जातीयर् स्यात् । यत्तत्प्रथमान्तं स चेत्प्रकारो भवति । सामान्यस्य भिद्यमानस्य यो विशेषो विशेषान्तरानुप्रवृत्तः स प्रकारः । पटुः प्रकारोऽस्य पटुजातीयः । नानाभूतः प्रकारोऽस्य नानाजातीयः । एवंप्रकारोऽस्य एवंजातीयः । अस्येति षष्ठ्यर्थे विधानात्प्रकारवति जातीयर् विज्ञायते । ततः प्रकारमात्रवाचिप्रथमान्तादपि जातीयर् भवति–यथाजातीयः कथंजातीयः । रित्करणं 'रिति'(३।२।५८)इत्यत्र विशेषणार्थम् । महाजातीय इति महान् प्रकारोऽस्य "जातीयैकार्थेऽच्वेः" (३।२।७०) इति डाप्रत्यये रूपसिद्धिः ॥ अत्रायं विशेषः–

1 इहान्नमयमित्यादिषु युक्तमन्नादेर्नपुंसकत्वात् प्रत्ययस्यापि तत्रैव वृत्तिरिति । यवागूमयीति युक्तमेव प्रकृत्यर्थस्य स्त्रीत्वात् प्रत्ययस्य स्वार्थिकस्य तत्रैव स्त्रियां वृत्तेः; यवागूमयमिति त्वयुक्तम्–यवाग्वर्थस्य स्त्रीत्वात् स्वार्थिकस्य प्रत्ययस्यापि तत्रैव वृत्तेर्नपुंसकत्वायोगादित्याशङ्का ।

"कोऽण्वादे" (७।२।७६)। उक्तार्थे। जातीयरोऽपवादः। अणुः प्रकारोऽस्य अणुकः पटः एवं स्थूलकः पटः। अणुका माषाः; स्थूलका माषाः। माषकं हिरण्यम्। अणु स्थूल माष इषु इक्षु वाद्य तिल काल तिलकाल पत्र ॥ १० ॥ मूल (पत्रमूल, पर्णमूल ?) कुमारीपुत्र कुमारीश्वशुर मणि बृहत् चञ्चत् इन्द्र (?) एरण्ड पुण्ड्र ॥ १९ ॥ इत्यऽण्वादय एकोनविंशतिः ॥ **"जीर्णगोमूत्रावदातसुरायवकृष्णाच्छाल्याच्छादनसुराहिव्रीहितिले"** (७।२।७७)। जीर्णादिभ्यः षड्भ्यो यथाक्रमं शाल्यादि षट्सु वाच्येषु प्रकारे कः स्यात्। जीर्णः प्रकार एषां जीर्णकाः शालयः। गोमूत्रप्रकारं[1] गोमूत्रकं गोमूत्रवर्णमाच्छादनम्। अवदातप्रकारा अवदातिका सुरा। सुराप्रकारः सुरावर्णः सुरकोऽहिः। यवप्रकारा यवका व्रीहयः। कृष्णप्रकाराः कृष्णकास्तिलाः ॥ **"भूत०"**। अतः परं प्रायः स्वार्थिका प्रत्ययास्[2]तत्रोपाधिः प्रकृतेर्विज्ञेयः स प्रत्ययस्य द्योत्यो भवति। टकारो ङ्यर्थः। पकारः पुंवद्भावार्थस्तथा चोदाहरति—आढ्यचरीति। भूतशब्दो वर्त्तमानेऽप्यस्ति, पूर्वशब्दो दिगादावपीति। अतिक्रान्तकालप्रतिपत्त्यर्थमुभयोरुपादानं। [3]प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य भूतपूर्वत्वेऽयं प्रत्यय इतीह न भवति. अर्जुनो माहिष्मत्यां भूतपूर्व इति ॥ अत्रायं **विशेषः—"गोष्ठादीनञ्"** (७।२।७९)। उक्तार्थे। गोष्ठो भूतपूर्वो गोष्ठीनो देशः। "गोस्थानं गोष्ठमेतत्तु गोष्ठीनं भूतपूर्वकम्" इति कोषः। **"षष्ठ्या रूप्य-प्चरट्"** (७।२।८०)। षष्ठ्यन्ताद्भूतपूर्वेऽर्थे एतौ स्याताम्। भूतपूर्व इतीह [4]प्रत्ययार्थः। देवदत्तस्य भूतपूर्वो देवदत्तरूप्यो गौः। देवदत्तचरः ॥ प्चरटित्यत्र पकारटकारौ पुंवद्भावङीप्रत्ययार्थौ—[5]देवदत्तचरी गौः ॥ **"निन्द्ये०"**। स्वार्थे इति सर्वत्र ज्ञेयम्। निन्द्यः छान्दसः छान्दसपाशः। प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामयमिष्यते, तेनेह न भवति—वैयाकरणश्चौरः, नह्यत्र चौर्येण वैयाकरणत्वं कुत्स्यते किं तर्हि शीलमिति। 'पकारः पुंवद्भावार्थः। कुत्सिता कुमारी कुमारपाशा। अथेह वयोवचनत्वात्पुनर्ङीः कस्मान्न भवति ? उच्यते—कुमारादयो हि वयोवचना न कुमारपाशादयः। [6]निन्दावचना हि ते इति न भवति ॥ **"प्रकृ०"**। प्रकृष्टे इति प्रकर्षवत्यर्थे वर्त्तमानान्नाम्नस्तमप् स्यात्। प्रकर्षोऽतिशयः, स च गुणक्रिययोरेव न जातिद्रव्ययोः। शुक्लतम इति—सर्वे इमे शुक्ला अयमेषां प्रकृष्टः शुक्लतमः। एवं आढ्यतमः, कारकतमः। जातिद्रव्यवाचिभ्योऽपि गुणक्रियाप्रकर्षविवक्षायां स्यात्। गौरयं यः [7]सुसन्नहनः शकटं वहति—गोतमोऽयं यः सुलक्षणः शकटं सीरं च वहति। गोतमेयं या [8]समां समां विजायते [9]स्त्रीवत्सा च। [10]द्रव्यान्तरसमवायिना च प्रकृष्टेन गुणेन कृत्वा प्रकृष्टे द्रव्ये [11]तद्वतः प्रत्ययो भवति। अतिशयेन सूक्ष्माणि वस्त्राण्यस्य सूक्ष्मवस्त्रतमः। प्रकर्षप्रत्ययान्ताच्च प्रकर्षस्यापि प्रकर्षविवक्षायां प्रत्ययः स्यात्। यथा युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः [12]कुरूणाम्। [13]तरबन्तात्तु तरप् न स्यादनभिधानात्। [14]तथा यथा पूर्व-

---

१ अर्थकथनमिदम्, वाक्यं तु गोमूत्रं प्रकारोऽस्येत्येवं कार्यम्। एवमवदातप्रकारेत्यादिष्वपि ज्ञेयम्। २ तत्र तेषु स्वार्थिकप्रत्ययेषु प्रक्रान्तेषु उपाधिर्विशेषणं भूतपूर्वादिप्रकृतेरेव सकाशादवसीयते केवलं प्रत्ययेन द्योत्यते न तूच्यते। ३ अत्र हि नार्जुनत्वस्यार्जुनशब्दाभिधेयस्य भूतपूर्वत्वम् नहि अर्जुनो माहिष्मत्यामर्जुनत्वेन भूतपूर्व इत्यत्र विवक्षा, अपि तु राजत्वेनेत्यत्र न भवति। ४ प्रकृत्यर्थस्तु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धः सर्वविभक्त्यन्तत्वात्। ५ देवदत्ताया भूतपूर्वा, असंज्ञाशब्दोऽयमन्यथा 'तद्धिताकक'—इति निषेधः स्यात्। ६ ननु पाशपः प्रत्ययस्य स्वार्थे उत्पन्नत्वात्, कुमारपाशादयोऽपि वयोवचना इति प्राप्नोति। सत्यम्। यत्र केवलवयोवाचित्वं तत्रैव ङीः, गौणमुख्ययोरिति न्यायात् कुमारपाशादयस्तु निन्दाविशिष्टवयोवाचिन इति। ७ सुसम्बद्ध इत्यर्थः। ८ अत्र 'कालाध्वभाव' इत्याधारस्य कर्मत्वे द्वितीयान्तस्य वीप्सायां द्वित्वम्। ९ स्त्री वत्सा यस्याः सा तथा, सवत्सेत्युच्यमाने सह वत्सेन वत्सया वा वर्त्तते इति संशयः स्यात्, तन्निरासाय स्त्रीवत्सेत्युक्तम्। १० देवदत्तरूपात् द्रव्यादन्यद्द्रव्यं वस्त्रादि, तत्र समवायी यो गुणः सूक्ष्मत्वादिः तेन। ११ प्रकृष्टगुणवद्द्रव्यवतश्चैत्रादेः, परमार्थवृत्त्याऽस्यैव प्रकर्ष इत्यर्थः। १२ कुरोरपत्यानि 'दुनादि'—इति ञ्यः। 'बहुष्वस्त्रियाम्' इति तस्य लुप्। १३ द्वयोः शुक्लतरयोर्मध्ये प्रकृष्टः शुक्लतर इति विग्रहे सतीति ज्ञेयम्। १४ अनभिधानादित्यर्थः।

पदातिशये पूर्वपदाद्बहुव्रीहेर्वा आतिशायिकः प्रत्ययः स्यात्–सूक्ष्मतमवस्त्रः सूक्ष्मवस्त्रतमो वेति । उत्तरपदातिशये तु उत्तरपदादेव बह्वाढ्यकतम इति । बहव आढ्यतमा यत्र बह्वाढ्यतमकः[1] । केचित्तु[2] पूर्वपदातिशयेऽपि बहुव्रीहेरेव प्रत्ययमिच्छन्ति–द्वयोः प्रकर्षे तरपो विधानाद्बहूनां प्रकर्षेऽयं विधिः । ननु कथं[3] तर्हि आढ्यं नगरं आढ्यतमोऽयम् नगरे इति ? अत्रोच्यते–एकस्मिन्नपि निर्दिष्टे समुदाये तदन्तर्गतावयवान्तरापेक्षया प्रकर्षे भवति । पकारः पुंवद्भावार्थः । शुक्लतमा शाटी ॥ अत्रायं विशेषः–"वान्तमान्तितमान्तितोऽन्तियान्तिषत्" (७।४।३१) । एते पञ्च तमबादिप्रत्ययान्ता वा निपात्यन्ते । अयमेषामतिशयेनान्तिकः अन्तमः, पक्षे अन्तिकतमः । अत्रान्तिकशब्दस्य तमप्प्रत्यये तिकशब्दलोपो "नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुट्परे" (१।३।८) इति सँकाराभावश्च[4] निपात्यते–अयमेषामतिशयेनान्तिकः अन्तितमः–अत्र कलोपः, पक्षे अन्तिकतमः । अन्तिकादागच्छति अन्तित आगच्छति–अत्रापादानलक्षणे तसौ कशब्दलोपः, पक्षे अन्तिकतः । अन्तिके साधुः अन्तियः–अत्र यप्रत्यये कलोपः, इकारस्य च लोपाभावः, पक्षे अन्तिक्यः । अन्तिके सीदति अन्तिषत् अत्र सदिति क्विबन्ते कलोपः, सस्य षत्वञ्च; पक्षे अन्तिकसद् । अत्र सूत्रम् ।

द्वयोर्विभज्ये च तरप् ॥ १२५ ॥ [सि० ७।३।६]

द्वयोर्मध्ये प्रकृष्टे विभज्ये च तरप् स्यात् । इयं पट्वी, इयं पट्वी, इयमनयोः प्रकृष्टा पट्वी पटुतरा । स्रौघ्नेभ्यो माथुरा आढ्यतराः ॥ "क्वचित्" (७।३।७) । स्वार्थे यथालक्ष्यं तरप् । अभिन्नतरकम् ॥ १२५ ॥

"द्वयो०" द्वयोरिति–द्वयोस्तद्गुणयोरर्थयोर्मध्ये[5] यः प्रकृष्टस्तस्मिन्विषये विभज्ये विभक्तव्ये च प्रकर्षेऽर्थे वर्त्तमानान्नाम्नस्तरप् स्यात्, तमपोऽपवादः, पकारः पुंवद्भावार्थः, तथाचोदाहरति–पटुतरेति । एवं पाचकतरः प्राग्वत् । गोतरो यः शकटं सीरं च वहति, गोतरा या समांसमां विजायते स्त्रीवत्सा च । दन्ताश्च औष्ठौ च दन्तौष्ठम्, दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः–अत्र यद्यपि विग्रहे बहुत्वं प्रतीयते तथापि समाहारेऽवयवौ स्वार्थमात्रं दन्तत्वादिलक्षणमऽभेदैकत्वसङ्ख्यायोग्युपाददाते[6] न सङ्ख्याभेदमिति द्वयोरेव प्रकर्षः । यदा पुनरितरेतरयोगस्तदा बह्वर्थप्रकर्ष इति तमबेव भवति । अस्माकं च देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः–अत्रास्माकमित्येकस्यैव "अविशेषणे द्वौ चास्मदः" (२।२।१२२) इति बहुवद्भावः । परुद्भवान्पटुरासीत् पटुतर ऐषमः–अत्रैकस्यापि पँर्यायार्थार्प्पणया[7] द्वित्वमिति द्वयोरेव प्रकर्षः । स्रौघ्नेभ्यो माथुरा आढ्यतरा इति विभज्ये प्रकृष्टे उदाहरणम् । स्रौघ्नेषु माथुराणामप्रवेशाद्विभागः, विभज्यस्य च विशेषणमप्याढ्याद्यर्थः प्रकृष्टं विभज्यं भवति ततः प्रत्ययः । साँङ्काश्यकानां[8] पाटलिपुत्रकाणां च पाटलिपुत्रका आढ्यतमा इत्यत्र राश्यपेक्षया द्वित्वेऽपिशब्देन बहुत्वोपादानात्तरप् न स्यात् । विँभज्यग्रहणमद्वित्वार्थम्[9] ॥ "क्वचित्" अभिन्नमेव अभिन्नतरकम् । एवं उच्चैरेवोच्चैस्तराम् । क्वचिद्ग्रहणं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् ॥ १२५ ॥

---

१ प्रयोगे बहुव्रीहिज्ञापनाय कच् दर्शितः । २ तन्मते सूक्ष्मतमवस्त्रा इति प्रयोगो न भवति । ३ यदि बहूनां प्रकर्षेऽयं विधिस्तर्हि प्रधानतमोऽयं ग्राम इत्यत्र ग्रामपुरुषयोर्द्वयोः प्रकर्षे न प्राप्नोतीति कथमर्थः, उत्तरं तु सुगममेव । ४ 'नामसिदय्व्यञ्जने' इति पदत्वात्सकारः प्राप्तः । ५ स विवक्षितः समानो गुणो ययोरिति विग्रहः । ६ न विद्यते भेदो यस्याः सा अभेदा, अभेदा चासावेकत्वसङ्ख्या च । यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः । अविभागेन वर्त्तन्ते तां सङ्ख्यां तादृशीं विदुः ॥ १ ॥ चैत्रेण चैत्राभ्यां चैत्रैर्वा भूयत इत्यत्र या सङ्ख्या सा अभेदैकत्वसङ्ख्येति । ७ पर्यायेषु पटुपटुतरादिषु अर्थस्य विशेषस्य चैत्रादेरर्प्पणा ढौकनम् । ८ प्रकर्षद्वारेण विभज्यद्वारेणापि न भवति, षष्ठ्यन्तपदाभ्यां समुदायस्याभिन्नस्यैव प्रतिपादनात्, न त्वन्याप्यपायप्रतिपादिका पञ्चम्यस्ति अपि तु चकारेणाविभागः प्रतीयते । ९ ननु द्वयोरित्युक्तेऽपि अत्र न भविष्यति किं विभज्यग्रहणेनेत्याह वि०–विभज्ये इत्यसति द्वयोरेव प्रकृष्टे स्यात् । ततश्चासत्यपि हि द्वित्वे विभज्ये यथास्यादित्येवमर्थम् ।

किन्त्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम् ॥ १२६ ॥ [सि० ७।३।८]

किमस्त्याद्यन्तादेदन्तादव्ययाच्च परयोस्तमप्तरपोरन्तस्याम् स्यात्, न चेत्तौ सत्त्वे द्रव्ये वर्त्तेते। किन्तमाम्, किन्तराम्। अयमेषां प्रकृष्टं पचति पचतितमाम्। अयमनयोः प्रकृष्टं पचति पचतितराम्। पूर्वाह्णेतराम् २। अतितराम् २ भुङ्क्ते। असत्त्वे किम्? किन्तरं दारु ॥ १२६ ॥

"किन्त्या०" किन्तरामिति–इदमनयोरतिशयेन किंपचति किन्तरां पचति। किन्तमामिति–इदमेषामतिशयेन किंपचति किंतमां पचति। अयमनयोरिति–अस्मादेव वचनात्त्याद्यन्तादपि द्व्यर्थप्रकर्षे तरप् बह्वर्थप्रकर्षे च तमप् भवति। पूर्वाह्णेतरामिति–द्विकेन तमप्प्रत्ययरूपम्। एवमपराह्णेतराम् २। प्राह्णेतराम् २। प्रगेतराम् २। अग्रेतराम् २। अग्रेशब्दोऽपि कालवाची। एग्रहणात्काले सत्त्वेऽप्याम् भवति नान्यस्मादेदन्ताभावात्। [1]अथवा विभक्त्यर्थौ न द्रव्यम्। तत्प्रकर्षेऽत्र तरप्तमपौ। शोभनो हेशब्दो यस्य स सुहेतर इत्यत्रानभिधानान्न भवति। क्रियाशब्देभ्यश्च. जयतीति विचि जेः, जेतर इत्यादि। अव्यय. अभितरामिति–एवमतितरां २। सुतरां २। नितरां २। उच्चैस्तराम् २। किन्तरं दार्विति–एवं उच्चैस्तरं २। उत्तरः। उत्तमः ॥ १२६ ॥

गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू ॥ १२७ ॥ [सि० ७।३।९]

गुणप्रवृत्तिहेतुकात्तमप्तरपोर्विषये यथासङ्ख्यमेतौ वा स्याताम्। अयमेषां प्रकृष्टः पटुः पटिष्ठः पटुतमः। अयमनयोः प्रकृष्टः पटुः पटीयान् पटुतरः। "प्रशस्यस्य श्रः" (७।४।३४)। णीष्ठेयस्सु। प्रकृष्टः प्रशस्यः श्रेष्ठः श्रेयान् ॥ *वृद्धप्रशस्ययोर्ज्यः। ज्येष्ठः ॥ "ज्यायान्" (७।४।३६) अयमीयसौ साधुः ॥ "अल्पयूनोः कन्वाः" (७।४।३३)। कनिष्ठः २ अल्पिष्ठः २ यविष्ठः २ ॥ "बाढान्तिकयोः साधनेदौ" (७।४।३७)। ण्यादिषु प्रकृष्टो बाढः साधिष्ठः साधीयान्। प्रकृष्टोऽन्तिको नेदिष्ठः नेदीयान् ॥ *प्रियस्थिरेत्यादिना †प्रियादीनां प्राद्यादेशे प्रकृष्टः प्रियः प्रेष्ठः प्रेयान्। स्थेष्ठः स्थेयान् ॥ "बहोर्णीष्ठे भूय्" (७।४।४०)। भूयिष्ठः। ईयसौ ॥ "भूर्लुक्चेवर्णस्य" (७।४।४१)। भूयान्। †स्थूलदूरेत्यादिना स्थूलादीनामन्तस्थादिलोपे नामिनो गुणे च स्थविष्ठः स्थवीयान्। दविष्ठः दवीयान् ॥ "विन्मतोर्णीष्ठेयसौ लुप्" (७।४।३२)। प्रकृष्टः स्रग्वी स्रजिष्ठः। एवं त्वचिष्ठः ॥ १२७ ॥

"गुणा०"। गुणप्रवृत्तिहेतुकादिति–यः शब्दो गुणमभिधाय द्रव्ये वर्त्तते तस्मादित्यर्थः। यथासङ्ख्यमेतौ इति–इष्ठेयसू। तमबर्थे इष्ठः, तरबर्थे च ईयसुः; पक्षे यथाप्राप्तं तरप्तमपावपि; तथैवोदाहरति–अयमेषामित्यादि। एवं लघिष्ठः लघुतमः लघीयान् लघुतरः। एवं गरिष्ठः २। गरीयान् २। विभज्यार्थतरब्विषयेऽपि माथुरेभ्यः पाटलिपुत्रकाः पटीयांसः पटुतराः। गुणग्रहणं किम्? गोतमः गोतरः पाचकतमः पाचकतरः–अत्र जातिक्रियाङ्गत्वान्न भवति। अङ्गग्रहणं किम्? शुक्लतमम्। शुक्लतरं रूपम्–अत्र हि गुण एव वृत्तिर्न तदुपसर्जने [स गुण उपसर्जनं यत्र तत्र] द्रव्ये इति न भवति। ईयसोरुकार उदित्कार्यार्थः–पटीयसी ॥ "प्रशस्य०"। णीष्ठेयसुषु इति–णौ प्रशस्यमाचष्टे श्रयति श्रेष्ठः इति; अयमेषां प्रकृष्टः प्रशस्यः श्रेष्ठः अयमनयोः प्रकृष्टः प्रशस्यः श्रेयान्। *वृद्धप्रशस्य-

---

१ नामप्रस्तावात् 'त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप्' इति वचनाच्च नाम्न एव प्राप्नुत इत्याशयः। २ यद्यपि पूर्वाह्णोऽपराह्ण इति कालः सत्त्वमत्र नामार्थः, तथापि विभक्त्यर्थौ याऽधिकरणशक्तिर्न सा आधेयपरतन्त्रा इति तस्या असत्त्वात्तत्र प्रत्यय इति।

योज्यं इति, अत्र सूत्रम्—**"वृद्धस्य च ज्यः"** (७।४।३५) । णीष्ठेयसुषु ॥ **"ज्या०"** । अयमीयसौ साधुरिति—पूर्वसूत्रे विहितात् ज्यादेशात्परस्य ईयसोरीकारस्याकारादेशो निपात्यते अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यो वृद्धो वा ज्यायान्, ज्यायसी ॥ **"अल्प०"** । अनयोर्णीष्ठेयसुषु कन्वा स्यात् । अल्पं युवानं वा आचष्टे कनयति अयमेषामनयोरतिशयेनाल्पो युवा वा कनिष्ठः कनीयान्; पक्षे अल्पयति अल्पिष्ठः अल्पीयान्, यवयति यविष्ठः यवीयान् ॥ **"बाढा०"** । णौ । बाढं अन्तिकं वा आचष्टे साधयति, नेदयति । *इमन्प्रत्ययाधिकारे सूत्राणामुक्तत्वादत्र स्मरयति *प्रियेत्यादि वार्त्तिकम्—प्रेष्ठः प्रेयान् इति णौ प्रापयति । एवं स्थिरस्य स्थापयति स्थेष्ठः स्थेयान् । स्फिरस्य स्फापयति स्फेष्ठः स्फेयान् । उरोर्वर, उरुमाचष्टे वरयति, प्रकृष्ट उरुर्वरिष्ठो वरीयान् । गुरोर्गर, गरयति गरिष्ठः गरीयान् । बहुलस्य बंह, बंहयति बंहिष्ठः बंहीयान् । तृप्रस्य त्रप्, त्रपयति त्रपिष्ठः त्रपीयान् । दीर्घस्य द्राघ, द्राघयति द्राघिष्ठः द्राघीयान् । वृद्धस्य वर्ष, वर्षयति वर्षिष्ठः वर्षीयान् । वृन्दारकस्य वृन्द, वृन्दयति वृन्दिष्ठः वृन्दीयान् । वरादीनामकार उच्चारणार्थः । कश्चित्तु करोत्यर्थे णौ प्राद्यादेशं नेच्छति तन्मते प्रिययति स्थिरयतीत्यादि ॥ **"पृथुमृदु"** इत्यादि वार्त्तिकम् [पृष्ठ ४२८ पङ्क्ति १९] प्रकृष्टः पृथुः प्रथिष्ठः प्रथीयान् । एवं म्रदयति म्रदिष्ठः म्रदीयान् । भ्रशयति भ्रशिष्ठः भ्रशीयान् । क्रशयति क्रशिष्ठः क्रशीयान् । द्रढयति द्रढिष्ठः द्रढीयान् । परिव्रढयति परिव्रढिष्ठः परिव्रढीयान् । केचित्तु वृढशब्दस्यापीच्छन्ति व्रढिमा व्रढिष्ठः व्रढीयान् ॥ **"बहो०"** बहुशब्दस्य णीष्ठयोः परयोः भूय् इत्ययमादेशः स्यात्, भूभावापवादः । बहुमाचष्टे भूययति प्रकृष्टो बहुर्भूयिष्ठः । बहोराख्यानं भूयनम् । णौ केचिद्विकल्पमाहुः—भूययति भूयनम्, पक्षे बहयति बहनम् । बहोर्णौ भाविति कश्चित्—भावयति ॥ ईयसावित्यादि—अत्र सूत्रम् **"भूर्लुक्चेवर्णस्य"** (७।४।४१) अस्यार्थः—बहुशब्दस्य ईयसाविमनि च परे भू इत्यादेशो भवति, अनयोश्चेवर्णस्य लुग् भवति—भूयान् भूयांसौ भूयांसः भू ऊ इत्यूकारप्रश्लेषादवादेशो न भवति । इवर्णस्येति किम्? सर्वस्य मा भूत् ।**"स्थूलदूर०"** (७।४।४२) इत्यादि कण्ठ्यम् । स्थविष्ठः इत्यादि—णौ तु स्थवयति । दवयतीति—एवं यवयति यविष्ठः यवीयान् । ह्रसयति ह्रसिष्ठः ह्रसीयान् । क्षेपयति क्षेपिष्ठः क्षेपीयान् । क्षोदिष्ठः क्षोदीयान् । उत्तरेण "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (७।४।४३) अन्त्यस्वरलोपेऽनेनार्थादन्तस्थाया लोपे सिद्धेऽन्तस्थादेरिति वचनं येन नाप्राप्ते इति न्यायेनान्त्यस्वरलोपं बाधित्वाऽनेनान्तस्थाया लोपो मा भूदित्येवमर्थम् ॥ **"विन्म०"** णौ । स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति । स्रजिष्ठ इति—अयमेषां स्रग्विणां प्रकृष्टः स्रग्वी स्रजिष्ठः । अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान् । एवं त्वग्वन्तमाचष्टे त्वचयति, अयमेषां प्रकृष्टस्त्वग्वान् त्वचिष्ठः । अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान् त्वचीयान् । अत एव वचनादगुणाङ्गादपीष्ठेयसू । निर्दिश्यमानत्वात्प्रत्ययमात्रस्य लुप् । एवं कर्तृमन्तमाचष्टे इति णौ "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (७।४।४३) इति तृप्रत्ययलोपे अनेन मतुलोपे करयति अयमेषामतिशयेन कर्तृमान् करिष्ठः करीयान् ॥ १२७ ॥

इत्यातिशायिकप्रत्ययप्रकरणम् ।

त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप् ॥ १२८ ॥ [सि० ७।३।१०]

त्याद्यन्तान्नाम्नश्च प्रशस्ते रूपप् स्यात्, पचतिरूपम् वैयाकरणरूपः ॥ *तरबादिषु क्वचिद् ह्रस्वपुंवद्भावौ वा वक्तव्यौ—पचन्तितरां पचत्तरां पचन्तीतराम् ॥ १२८ ॥

"त्यादे०" प्रशस्ते इति—प्रशस्तेऽर्थे वर्त्तमानादित्यर्थः । पचतिरूपमिति—एवं पचतोरूपम्, पचन्तिरूपम् । त्याद्यन्तानां क्रियाप्रधानत्वात्तस्याश्च साध्यत्वेन लिङ्गसङ्ख्याभ्यामयोगात् रूपबन्तस्यौत्सर्गिकमेकवचनं नपुंसकलिङ्गं च भवति । वैयाकरणरूप इति प्रकृते प्रवृत्तिनिमित्तस्य वैस्पष्ट्यम्, परिपूर्णता वा

प्राशस्त्यं तेनात्रापि स्यात्–वृषलरूपोऽयमपि पलाण्डुना सुरां पिबेत् । दस्युरूपोऽयमप्यक्ष्णोरञ्जनं हरेत् । पटुतमरूपः । पटुतररूपः । पकारः पुंवद्भावार्थः–दर्शनीयरूपा ॥ *तरबादिष्विति अत्र सूत्रम्–"**ऋदुदित्तरतमरूपकल्पब्रुवचेलड्गोत्रमतहते वा ह्रस्वश्च** (३।२।६३) । ऋदित् उदिच्च परतः स्त्रीलिङ्गस्तरादिषु प्रत्ययेषु, ब्रुवादिषु च स्त्र्येकार्थेषु ह्रस्वाऽन्तः पुंवच्च वा स्यात् । पचन्तितरा पचत्तरा पचन्तीतरा । पचन्तितमा पचत्तमा पचन्तीतमा । श्रेयसितमा श्रेयस्तमा श्रेयसीतमा । विदुषितमा विद्वत्तमा विदुषीतमा ॥ रूप. पचन्तिरूपा ३ । सर्वत्र ह्रस्वपुंवद्भावोभयाभावैस्त्रैरूप्यं ज्ञेयम्–श्रेयसिरूपा ३ । विदुषिरूपा ३ ॥ कल्प. पचन्तिकल्पा ३ । श्रेयसिकल्पा ३ । विदुषिकल्पा ३ । पचन्ती चासौ ब्रुवा च पचन्तिब्रुवा ३ । विदुषिब्रुवा ३ । चेलट्. 'चेलत् वसने' चेलति गुणानिति लिहाद्यच्, टिवचनं ङ्यर्थम् । पचन्ती चासौ चेली च पचन्तिचेली ३ । श्रेयसिचेली ३ । विदुषिचेली ३ ॥ अहं पचामीत्येवं रूपां गां त्रायते इति गोत्रा "आतो ड०" (५।१।७६) इति डः । पचन्ती चासौ गोत्रा च पचन्तिगोत्रा ३ । श्रेयसिगोत्रा ३ । विदुषिगोत्रा ३ । मत. मन्यतेः सत्यर्थे "ज्ञानेच्छा०" (५।२।९२) इत्यादिना क्तः, पचन्ती चासौ मता च पचन्तिमता ३ । श्रेयसिमता ३ । विदुषिमता । विद्वन्मता विदुषीमता । हत. पचन्ती चासौ हता च पचन्तिहता ३ । श्रेयसिहता ३ । विदुषिहता ३ । एवमन्ये ऋदुदितो ज्ञेयाः–सुदतितरा सुदत्तरा सुदतीतरेत्यादि । ब्रुवादयः कुत्साशब्दाः "निन्द्यं कुत्सनै०" (३।१।१००) इति समासः । ऋदुदिदिति किम्? कुमारितरा किशोरितमा । "ङ्यः" इति सूत्रेण ह्रस्वः । एकार्थे इत्येव–पचन्त्या हता पचन्तीहता । तरबादिष्विति किम्? पचन्तीपाशा । विद्वद्वृन्दारिका ॥ "**ङ्यः**" (३।२।६४) । ङ्यन्तस्य परतः स्त्रीलिङ्गस्य तरादिषु चतुर्षु प्रत्ययेषु ब्रुवादिषु पञ्चसूत्तरपदेष्वेकार्थेषु ह्रस्वः स्यात् । गौरितरा गौरितमा । नर्त्तकिरूपा । कुमारिकल्पा । ब्राह्मणिब्रुवा । गार्गिचेली । ब्राह्मणिगोत्रा । गार्गिगोत्रा । गार्गिमता । गौरिहता । दर्शनीयतरा, विद्वद्वृन्दारिकेत्यादौ पुंवद्भावः सावकाशः, नर्त्तकिरूपेत्यादौ तु कोपान्त्यत्वात्पुंवद्भावप्रतिषेधादयं विधिः, गौरितरेत्यादौ तूभयप्राप्तौ "स्पर्द्धे" (७।४।११९) पर इति परत्वादयमेव विधिर्यथाप्राप्तं पुंवद्भावं बाधते । ङ्य इति किम्? मद्रिकातरा । परतः स्त्रिया इत्येव–बदरीतरा आमलकीतरा । "नवैकस्वराणाम्" (३।२।६६) इत्युत्तरत्र वचनादनेकस्वरस्यैवायं विधिः ॥ **भोगवद्गौरिमतोर्नाम्नि**" (३।२।६५) । संज्ञायां वर्त्तमानयोरनयोर्ङ्यप्रत्ययस्य तरादिषु, ब्रुवादिषु च ह्रस्वः स्यात् । भोगवतितमा । गौरिमतिब्रुवा । नाम्नीति किम्? भोगावतितरा ३–प्राग्वत्त्रैरूप्यम् ॥ "**नवैकस्वराणाम्**" (३।२।६६) । बहुवचनात्परतः स्त्रीति निवृत्तम् । सामान्येन तु विधानम् । स्त्र्येकार्थे इत्यनुवर्त्तते । एकस्वरस्य ङ्यन्तस्य तरादिषु, ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु स्त्र्येकार्थेषु ह्रस्वो वा स्यात् । स्त्रितरा स्त्रीतरा । ज्ञस्य भार्या ज्ञी, ज्ञितमा ज्ञीतमा । अस्यापत्यं स्त्री ई, इरूपा ईरूपा । कस्य भार्या की, किकल्पा कीकल्पा । ज्ञिब्रुवा ज्ञीब्रुवा । इचेली ईचेली । किगोत्रा कीगोत्रा । स्त्रिमता स्त्रीमता । स्त्रिहता स्त्रीहता । एकस्वराणामिति किम्? कुटीतमा । ङ्य इत्येव–श्रीतरा श्रीतमा । एकार्थ इत्येव स्त्रिया हता स्त्रीहता । नित्यदितामनेकस्वराणामपीच्छन्त्येके, तन्मते आमलकितरा बदरितरा कुवलिरूपा लक्ष्मिकल्पा तन्त्रितरेत्याद्यपि भवति ॥ "**ऊङः**" (३।२।६७) । ऊङन्तस्य तरादिषु, ब्रुवादिषु चोत्तरपदेषु स्त्र्येकार्थेषु वा ह्रस्वः स्यात् । ब्रह्मबन्धुतरा ब्रह्मबन्धूतरा । वामोरुतरा वामोरूतरा । मद्रबाहुरूपा मद्रबाहूरूपा । कमण्डलुकल्पा कमण्डलूकल्पा । कद्रुब्रुवा कद्रूब्रुवा । पङ्गुचेली पङ्गूचेली । श्वश्रुगोत्रा श्वश्रूगोत्रा । कुरुमता कुरूमता । भीरुहता भीरूहता । एकार्थ इत्येव–भीर्वा हता भीरूहता ॥ पटुतमरूपः पटुतररूपः । पकारः पुंवद्भावार्थः–दर्शनीयरूपा ॥ १२८ ॥

अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पप् देश्यप् देशीयर् ॥ १२९ ॥ [सि० ७।३।११]

तमबाद्यन्तवर्जात्त्याद्यन्तान्नाम्नश्च किञ्चिदूनेऽमी त्रयः स्युः । पचतिकल्पं पचतिदेश्यं पचतिदेशीयम् । पटुकल्पा पटुदेश्या पटुदेशीया ॥ **"नाम्नः प्राग्बहुर्वा"** (७।३।१२) । किञ्चिदूने । बहुपटुः, पटुकल्पः । *कुत्सिताल्पाज्ञातादिषु यथार्हं कबादयो वाच्याः । अश्वकः । [1]अनुकम्पायां पुत्रक एहकि ॥ **"एकादाकिन् चाऽसहाये"** (७।३।२७) एकाकी एककः ॥ १२९ ॥

अत० । किञ्चिदूने इति—पदार्थानां सम्पूर्णता समाप्तिः, सा किञ्चिदूना ईषदसमाप्तिस्तद्विशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात्त्याद्यन्तान्नाम्नश्चामी त्रयः प्रत्ययाः स्युः । पचतिकल्पमित्यादि—एवं पचतः कल्पं ३ । पचन्तिकल्पं ३ । पक्ष्यतिकल्पं ३ । अपाक्षीत्कल्पं ३ । पूर्ववन्नपुंसकत्वैकत्वे । इदमेव त्यादिग्रहणं ज्ञापकम्, शेषस्तद्धितो नाम्न एव भवतीति । पटुकल्पेति—ईषदसमाप्ता पट्वी पटुकल्पा ३, प्रत्ययस्य पित्त्वात् पुंवद्भावः । एवं कारककल्पः ३ । कृतकल्पं भुक्तदेश्यं पीतदेशीयम् । ईषदसमाप्तो गुडो गुडकल्पा द्राक्षा ३ । चन्द्रकल्पं मुखम्, तैलकल्पा प्रसन्ना । गुडादिधर्माणां माधुर्यादीनां द्राक्षादिष्वीदसमाप्तत्वेनेषदसमाप्ता द्राक्षादय एवमुच्यन्ते । कल्पबाद्यन्तमुपमेये वर्त्तमानमुपमेयलिङ्गसङ्ख्यम् । बहुप्रत्ययपूर्वं तु प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्यम् । स्वभावात् शब्दशक्तिरेषा यदुत स्वार्थिकाः केचित्प्रकृतिलिङ्गान्यतिवर्त्तन्ते, यथा कुटीरः शुण्डारः शमीरुः शमीरः दैवतं औपयिकं औषधं वाचिकमिति । केचित्तु नातिवर्त्तन्ते—यावकः मणिकः बृहतिका मृत्तिका कासूतरी गोणीतरी व्यावक्रोशी व्यावहासीति । अतमबादेरिति किम् ? यदा प्रकर्षादिविशिष्टस्येषदसमाप्तिविवक्षा भवति, तदा तमबादिभ्यः कल्पबादयः प्राप्नुवन्त्यतस्ते मा भूवन् । यदा त्वीषदसमाप्तस्य प्रकर्षादयो विवक्ष्यन्ते, तदा कल्पबाद्यन्तेभ्यस्तमबादयो भवन्त्येव । पटुकल्पतमः ३ । पकारौ पुंवद्भावार्थौ । दर्शनीयकल्पा । केचिद्देश्यं पितं नेच्छन्ति, तन्मते दर्शनीया देश्येत्येव भवति । देशीयरिति रेफो "रिति" (३।२।५८) इत्यत्र विशेषणार्थः—पञ्चमदेशीया ॥ **"नाम्न:०"** किञ्चिदूने इति—ईषदसमाप्तेऽर्थे वर्त्तमानान्नाम्नो बहुप्रत्ययः स्यात्, स च प्राक् पुरस्तादेव न परस्तात् । बहुपटुरिति—एवं बहुभुक्तम्, बहुपीतम्, बहुगुडा द्राक्षा, बहुतैलं प्रसन्ना, बहुपयो यवागूः, बहुचन्द्रो मुखम्, नामग्रहणं त्याद्यन्तनिवृत्त्यर्थम्, त्याद्यन्तेषु सावकाशाः कल्पबादयो बहुना मा बाधिषतेति वावचनम्, तेन पक्षे तेऽपि भवन्ति ॥ अत्र विशेषश्चायम्—**"न तमबादिः कपोऽच्छिन्नादिभ्यः"** (७।३।१३) । छिन्नादीन्वर्जयित्वान्यस्माद्यः कप्प्रत्ययस्तदन्तात्तमबादिर्न स्यात् । एषामनयोर्वायं प्रकृष्टः पटुक इत्येव । प्रकर्षादिमतः कुत्सितत्वादिविवक्षायां तमबाद्यन्तेभ्यः कप् भवत्येव—प्रकृष्टः पटुः कुत्सितः पटुतमकः । (अयमनयोः) पटुतरकः । पटुकल्पकः । पटुदेश्यकः । पटुदेशीयकः । अच्छिन्नादिभ्य इति किम् ? कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा च्छिन्नश्छिन्नकः । प्रकृष्टः च्छिन्नकः च्छिन्नकतमः । छिन्नकतरः छिन्नकरूपः । छिन्नककल्पः ३ । छिन्नादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"अनत्यन्ते"** (७।३।१४) । अनत्यन्तेऽर्थे यः कप् तदन्तात्तमबादिर्न स्यात् । छिन्नाद्यर्थं वचनम् । अनत्यन्तं छिन्नं छिन्नकम् । भिन्नकम् । प्रकृष्टं छिन्नकं भिन्नकमित्येव । यदा तु प्रकर्षवतोऽनत्यन्तविशिष्टविवक्षा, तदा तमबाद्यन्तात् "क्तात्तमबादेश्चाऽनत्यन्ते" (७।३।५६) इति कप् भवत्येव । छिन्नकतमकं भिन्नकतमकम् ।

अथ कबादिस्वार्थिकप्रत्ययप्रकरणं सङ्क्षेपेण सङ्गृह्णाति—कुत्सितेत्यादि वार्त्तिकम् । अथात्र सूत्राणि—**"प्रागित्यात्कप्"** (७।३।२८) नित्यशब्दसङ्कीर्त्तनात् प्राग् येऽर्थास्तेषु द्योत्येषु कप्प्रत्ययोऽधिकृतो ज्ञेयः । (कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वा अश्वः अश्वकः । गर्दभकः) । पकारः पुंवद्भावार्थः । कुत्सिता दरद्दरदिका । प्राग् नित्यादित्यवध्यर्थम्, अन्यथापवादबाधितो नोत्तरत्रानुवर्त्तेत । परतोऽपि चानुवर्त्तते ॥

"कुत्सिताल्पाज्ञाते" (७।३।३३)। कुत्सितं निन्दितम्, अल्पं महत्प्रतियोगि, अज्ञातं प्रकृत्युपात्तधर्मव्यतिरेकेण केनचित्स्वत्वादिना धर्मेणानिश्चितम्, सर्वथा त्वज्ञाते प्रयोगायोगात्। अश्वक इति–कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वाऽश्वोऽश्वकः। कुत्सादीनां भेदोपपत्तेः कुत्सादिभ्योऽपि कुत्सितादौ प्रत्ययः स्यात्–कुत्सितकः अल्पकः अज्ञातकः प्रकृष्टतर इत्यादौ प्रकर्षभेदे तरबादिवत्॥ अनुकम्पायामिति, अत्र सूत्रम्–**"अनुकम्पातद्युक्तनीत्योः"** (७।३।३४)। अनुकम्पा कारुण्येन परस्यानुग्रहः। तया युक्ता नीतिः सामादिप्रयोगस्तत्रानुकम्पायां सामदामे एव, न भेददण्डौ; तयोरनुकम्पाया अयोगात्। अनुकम्पायां तद्युक्तायां नीतौ च गम्यायां यथायोगं कबादयः स्युः। अनुकम्पा तन्नीतिश्च प्रयोक्तृधर्मौ ज्ञेयौ। पुत्रकः, बालकः, वत्सकः, बुभुक्षितकः, ज्वरितकः, शनकैः, तूष्णीकाम्, स्वपितकि, स्वपिषकि, जल्पतकि, एहकि। अनुकम्पमान एवं प्रयुङ्क्ते पुत्रक एहकि उत्सङ्गे उपविश, कर्दमकेनासि दिग्धकः, कण्टकस्ते लग्नकः, वत्सक तूष्णीकां तिष्ठ, ओदनं भोज्यसे हन्त, ते गुडकाः हन्त, ते धानकाः अद्धकि, अत्र उपविश असि तिष्ठ ओदनं भोक्ष्यसे हन्त ते इत्येतेष्वनभिधानान्न भवति। यत्र त्वनभिधानं तत्र भवति। नक त्वकं पुत्रकं पश्यसकि। असकौ काकको वृक्षके उच्चकैः प्रणिलीयते। अनुकम्पायां प्रत्यासत्तेरनुकम्प्यमानादेव स्यात्, नान्यस्मादुत्सङ्गादेस्ततोऽपि यथा स्यादिति तद्युक्तनीतिग्रहणम्॥ **आदिशब्दात्** **"अजातेर्नृनाम्नो बहुस्वरादियेकेलं वा"** (७।३।३५)। तद्युक्तनीलाविति न वर्त्तते। अनुकम्प्यादेव प्रत्ययविधानात्। बहुस्वरान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां गम्यायां इय-इक-इल इत्येते प्रत्ययाः स्युः। अजातेः–न चेन्मनुष्यनाम जातिशब्दो भवति। अनुकम्पितो देवदत्तो देवियः देविकः देविलः। वावचनात् कबपि. देवदत्तकः। अजातेरिति किम्? महिषकः वराहकः शरभकः सूकरकः, गर्दभकः; एते जातिशब्दा मनुष्यनामानि च। अजातेरिति प्रायिको निषेध इत्यन्ये। व्याघ्रिलः सिंहिलः इति हि दृश्यते। तन्मते बहुस्वरादित्यपि प्रायिकम्॥ **"वोपादेरडाकौ च"** (७।३।३६)। उपपूर्वादजातिरूपान्मनुष्यनाम्नो बहुस्वरादनुकम्पायामड-अक, चकारात्प्रागुक्तास्त्रयश्चेति पञ्च स्युः। अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः उपकः उपियः उपिकः उपिलः। वावचनात् पक्षे कबपि–उपेन्द्रदत्तकः॥ **"ऋवर्णोवर्णात् स्वरादेरादेर्लुक् प्रकृत्या च"** (७।३।३७)। ऋवर्णान्तादुवर्णान्ताच्च परस्यानुकम्पायां विहितस्य स्वरादेः प्रत्ययस्यादेर्लुक् स्यात्, तच्च ऋवर्णोवर्णान्तं लुकि प्रकृत्या तिष्ठति, न विकारमापद्यते। अनुकम्पितो मातृदत्तः मातृयः मातृकः मातृलः। एवं पितृयः पितृलः पितृकः। अनुकम्पितो वायुदत्तः वायुयः वायुकः वायुलः। प्रकृतिभावाद्रेफाऽवादेशौ ['ऋतो रस्तद्धिते' (१।२।२६)] इति, अपदान्ते वर्त्तमानस्य "अस्वयम्भुवोव्" (७।४।७०) इति च न स्याताम्॥ **"लुक्युत्तरपदस्य कप्न्"** (७।३।३८)। नृनाम्नो यदुत्तरं पदं तस्य "ते लुग्वा" (३।२।१०८) इति लुकि सति ततः कप्न्प्रत्ययः स्यात्। अनुकम्पायां गम्यायाम्। कबादीनामपवादः–देवदत्तो देवः–अत्र ते लुग्वेत्युत्तरपदलोपः। अनुकम्पितो देवो देवकः। पकारः पुंवद्भावार्थः। नकार "इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे" (२।४।१०७) इत्यत्र पर्युदासार्थः–अनुकम्पिता देवी देवका–अत्र कप्नि सति पित्त्वात्पुंवद्भावे नित्त्वादाप्परेऽपि ककारे इत्वं न भवति। उत्तरपदस्येति किम्? देवदत्ता दत्ता–अत्र "ते लुग्वेति" पूर्वपदस्य लुक्। अनुकम्पिता दत्ता दत्तिका–पूर्वेण कप्॥ **लुक् चाऽजिनान्तात्"** (७।३।३९)। अजिनशब्दान्तान्नृनाम्नोऽनुकम्पायां कप्, तत्सन्नियोगे उत्तरपदस्य च लुक् स्यात्। अनुकम्पितो व्याघ्राजिनो व्याघ्रमहाजिनो वा नाम मनुष्यो व्याघ्रकः। एवं सिंहकः शरभकः। अनुकम्पिता व्याघ्राजिना व्याघ्रमहाजिना वा व्याघ्रकाः, "आतो नेन्द्रवरुणस्य" (७।४।२९) इति ज्ञापकादकृतसन्धेरेवोत्तरपदस्य लुक्॥ **"षड्वर्जैकस्वरपूर्वपदस्य स्वरे"** (७।३।४०) षट्शब्दवर्जमेकस्वरं पूर्वपदं यस्य तत्सम्बन्धिन उत्तरपदस्यानुकम्पायां

विहिते स्वरादौ प्रत्यये लुक् स्यात्, उत्तरसूत्रस्यापवादः । अनुकम्पितो वागाशीर्वाग्दत्तो वागाशीर्दत्तो वा वाचियः, वाचिकः वाचिलः । षड्वर्जैकस्वरपूर्वपदस्येति किम् ? अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः०, उत्तरेण लुक् । षड्वर्जेति किम् ? अनुकम्पितः षडङ्गुलिः षडियः षडिकः षडिलः—अत्रोत्तरेण द्वितीयस्वरादूर्ध्वं लोपः । तथा च "अवर्णेवर्णस्य" (७।४।६८) इत्यलुचः स्थानिवद्भावात्पदत्वस्यानिवृत्तेस्तृतीयत्वं न निवर्त्तते । षड्वर्जनादेव च पदत्वे सन्धिविधावप्यलुकः स्थानित्वनिषेधो न भवति । स्वर इति किम् ? वागाशीकः ॥ **"द्वितीयात्स्वरादूर्द्ध्वम्"** (७।३।४१) । अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयात् स्वरादूर्द्ध्वं शब्दस्वरूपस्य लुक् स्यात् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः देवियः देविलः । एवं उपडः ५ । पितृयः ३ । वायुयः ३ । ऊर्द्ध्वग्रहणं सर्वलोपार्थम् ॥ **"सन्ध्यक्षरात्तेन"** (७।३।४२) । अनुकम्पायां विहिते स्वरादौ प्रत्यये परतः प्रकृतेर्द्वितीयात्सन्ध्यक्षररूपात्स्वरादूर्द्ध्वं शब्दस्य तेन द्वितीयेन सन्ध्यक्षरेण सह लुक् स्यात् । अनुकम्पितः कुबेरदत्तः कुबियः कुबिकः कुबिलः । अनुकम्पितः कहोडः कहियः कहिकः कहिलः । एवं लहोडः लहियः ३ । कपोतरोमा कपियः ३ । अमोघः अमोघदत्तः अमोघजिह्वा वा अमियः ३ । सन्ध्यक्षरादिति किम् ? अनुकम्पितो गुरुदत्तः गुरुयः गुरुकः गुरुलः ॥ **शेवलाद्यादेस्तृतीयात्"** (७।३।४३) । शेवलादिपूर्वपदस्य नृनाम्नोऽनुकम्पाविहिते स्वरादौ प्रत्यये परे तृतीयात्स्वरादूर्द्ध्वं लुक् स्यात् । अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलियः शेवलिकः शेवलिलः । एवं सुपरिदत्तः सुपरियः ३ । विशालदत्तो विशालियः ३ । वरुणदत्तो वरुणियः ३ । अर्यमदत्तः अर्यमियः ३ । अत्राप्यकृतसन्धेरेव लोपः—शेवलेन्द्रदत्तोऽनुकम्पितः शेवलिक इति यथा स्यात्, शेवयिक इति मा भूत् ॥ केचित्तु विशाखिल कुमारिल इत्यत्रापीच्छन्ति ॥ **"क्वचित्तुर्यात्"** (७।३।४४) यथालक्ष्यम्, अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः बृहस्पतिशर्मा वा बृहस्पतियः ३ । एवं प्रजापतियः ३ । अकृतसन्धेरेव लुगिति प्रजापत्याशीर्दत्तोऽनुकम्पितः प्रजापतिक इत्येव स्यान्न तु प्रजापत्यिक इति । क्वचिद्ग्रहणादिह न स्यात्—अनुकम्पित उपेन्द्रदत्तः उपडः उपकः उपियः ॥ **"पूर्वपदस्य वा"** (७।३।४५) अनुकम्पाविहिते स्वरादौ प्रत्यये पूर्वपदस्य लुग्वा स्यात् । अनुकम्पितो देवदत्तः दत्तियः ३ । वावचनाद्यथाप्राप्तं देवियः ३ । "द्वितीयात्स्वरादूर्द्ध्वम्" (७।३।४१) इति लुक् ॥ **"ह्रस्वे"** (७।३।४६) [१]दीर्घप्रतियोगि ह्रस्वम्, ह्रस्वेऽर्थे वर्त्तमानाच्छब्दरूपाद्यथायोगं कबादयः स्युः । ह्रस्वः पटः पटकः । ह्रस्वं पचति पचतिकः । ह्रस्वकालयोगात्क्रिया ह्रस्वेत्युच्यते । ह्रस्वाः सर्वे सर्वके । विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः, तूष्णीकाम् । संज्ञायामपि ह्रस्वत्वयोगात् कप्, स ह्रस्व इत्येव सिद्धः[२] । वंशकः, वेणुकः, नरकः, ललकः, वरकः ॥ **"कुटीशुण्डाद्रः"** (७।३।४७) ह्रस्वे । कपोऽपवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः, शुण्डारः । केचित्तु कुटीस्थाने कुदीं पठन्ति कुदीरः ॥ **"शम्या रुरौ"** (७।३।४८) तथा । ह्रस्वा शमी शमीरुः शमीरः ॥ **"कुत्वा डुपः"** (७।३।४९) कुतूशब्दाद्ध्रस्वे डुपः स्यात् । ह्रस्वा कुतूः कुतुपः । कुतूश्चर्ममयं स्नेहपात्रं "कुतुपस्तु तदल्पकम्" इति कोषः ॥ **"कासूगोणीभ्यां तरट्"** (७।३।५०) उक्तार्थे स्यात् । ह्रस्वा कासूः कासूतरी, गोणीतरी । पुंलिङ्गमपि दृश्यते—कासूतरः गोणीतरः । कासूः शक्तिर्नामायुधम् । गोणी धान्यावपनम् ॥ **"वत्सोक्षाश्वर्षभाद् ह्रासे पित्"** (७।३।५१) शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य स्वार्थस्य ह्रासे गम्ये एभ्यश्चतुर्भ्यस्तरट् स्यात्, स च पित् । ह्रसितो वत्सो वत्सतरः । वत्सः प्रथमवयस्को गौस्तस्य ह्रासो द्वितीयवयःप्राप्तिः । ह्रसित उक्षा उक्षतरः, उक्षा द्वितीयवयास्तरुणस्तस्य ह्रासस्तृतीयवयःप्राप्तिः । ह्रसितोऽ-

१ लोहादिकं ह्रस्वं च महच्च सम्भवतीति महत्प्रतियोगीति 'अल्पे' इति न सिध्यति । २ ये हि संज्ञायां कप्प्रत्ययं विदधति तेऽपि ह्रस्वलोपाधिकायां संज्ञायामिति व्याख्यानयन्तीति संज्ञायामप्यनेनैव कप् सिद्ध इत्यर्थः ।

श्वोऽश्वतरः, अश्वेनाश्वायां जातोऽश्वस्तस्य ह्रासो गर्दभपितृकता । आशुगमनाद्वाश्वस्तस्य ह्रासो गमने मन्दता । सर्वथाऽश्वतरशब्दो जातिशब्दः । ह्रसित ऋषभ ऋषभतरः, ऋषभोऽनड्वान् बलीयान् तस्य ह्रासो भारवहने मन्दशक्तिता । प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य ह्रासे भवति, इह मा भूत्–कृशो वत्सो वत्सतर इति । पित्करणं पुंवद्भावार्थम्, ह्रसिता वत्सा वत्सतरी ॥ **"यावादिभ्यः कः"** (७।३।१५) । स्वार्थे । याव एव यावकः । याव मणि अवि अस्थि लात्र पात्र पीत स्तब्ध ज्ञात अज्ञात १० पुण्य नित्य सत्वत् दशार्ह वयस् चन्द्र जानु भूत भिक्षु ॥ १९ ॥ इति यावादय एकोनविंशति बहुवचनादाकृतिगणः, तेनाभिन्नतरकं बहुतरकमित्यादि सिद्धम् ॥ **"कुमारीक्रीडनेयसोः"** (७।३।१६) । कुमारीणां यानि क्रीडनानि तद्वाचिभ्य ईयसुप्रत्ययान्तेभ्यश्च स्वार्थे कः स्यात् । कन्दुरेव कन्दुकः, उत्कण्टकः । श्रेयानेव श्रेयस्कः ज्यायस्कः ॥ **"लोहितान्मणौ"** (७।३।१७) । कः । लोहित एव लोहितको मणिः । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् लोहिन्येव लोहिनिका मणिः । लोहितैव लोहितिका मणिः । मणेर्विशेषणमेतदित्येके । नामधेयमित्यन्ये । वाधिकारान्न भवत्यपि–लोहितो मणिः । मणाविति किम् ? लोहिता गौः ॥ **"रक्ताऽनित्यवर्णयोः"** (७।३।१८) । लाक्षादिना रक्ते अनित्ये च वर्णे वर्त्तमानाल्लोहितशब्दात्कः स्यात् । रक्ते–लोहित एव लोहितकः पटः । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् लोहिनिका लोहितिका शाटी ॥ अनित्यवर्णे. लोहितकमक्षि कोपेन, लोहिनिका २ कन्या कोपेन । वाधिकारान्न भवत्यपि–लोहिता लोहिनी वा कन्या कोपेन । नित्योऽपि रक्तो वर्णोऽस्ति यथा कृमिरागादिरक्ते पट इति रक्तग्रहणम् । अनित्यग्रहणं किम् ? लोहितः, इन्द्रगोपकः । [1]सत्येवाश्रयद्रव्ये योऽपयाति स इहानित्य उच्यते; अन्यथा रक्तग्रहणस्याऽनर्थक्यात् । वर्णग्रहणं द्रव्यनिवृत्त्यर्थम् । असति वर्णग्रहणे क्षीणामार्चवे द्रव्ये स्यात् । तद्धि सत्येवाश्रये स्त्रियां कदाचिन्न भवति [लोहितशब्दवाच्यं च] ॥ **"कालात्"** (७।३।१९) । उक्तार्थयोः कः । कज्जलादिना रक्तः काल एव कालकः पटः । अनित्यवर्णे. कालकं मुखं वैलक्ष्येण । वाधिकारान्न भवत्यपि–कालः पटः, कालं मुखम् ॥ **"शीतोष्णाऽऽहतौ"** (७।३।२०) । कः । शीत एव शीतकः; उष्णक ऋतुः । ऋताविति किम् ? शीतो वायुः ॥ **"लूनवियातात्पशौ"** (७।३।२१) । कः । लून एव लूनको वियातको धृष्टः पशुः । पशाविति किम् ? लूनो यवः, वियातो बटुः । विहानशब्दादपीच्छन्त्येके–विहानकः पशुः, विहान एवान्यत्र ॥ **"स्नाताद्वेदसमाप्तौ"** (७।३।२२) । कः । वेदं समाप्य स्नातः स्नातको द्विजः, अन्यत्र तीर्थे स्नातः ॥ **"तनुपुत्राणुबृहतीशून्यात् सूत्रकृत्रिमनिपुणाच्छादनरिक्ते"** (७।३।२३) । एभ्यः पञ्चभ्य एषु पञ्चस्वर्थेषु वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थे कः स्यात् । तनुकं सूत्रम्, भङ्गादिमयं कल्पादि च । कृत्रिमः पुत्रः पुत्रकः काष्ठादिमयः । निपुणो निष्णातोऽणुः अणुकः । बृहतिका आच्छादनविशेषः, [2]प्रत्ययमन्तरेणार्थानवगमान्नित्य एवायं विधिः । धनप्रज्ञादिना शून्य एव शून्यको रिक्तश्चेत्, अन्यत्र शुने हितं शुन्यम् । अन्ये तु सूत्रादयोऽर्थाः प्रत्ययं विना न प्रतीयन्ते इति तद्विषये तन्वादिभ्यो नित्य एव प्रत्ययविधिरिति मन्यन्ते । एवं पूर्वसूत्रेऽपि ॥ **"भागेऽष्टमाञ्ञः"** (७।३।२४) । अष्टम एव आष्टमो भागः, अन्यत्र अष्टम एव ॥ **"षष्ठात्"** (७।३।२५) तथा । षष्ठ एव षाष्ठो भागः । अन्यत्र षष्ठ एव ॥ **"माने कश्च"** (७।३।२६) । मीयते येन तन्मानम्, तस्मिन् माने भागे वर्त्तमानात् षष्ठशब्दात्कश्चकारात् ञश्च प्रत्ययः स्यात्, वा । षष्ठ एव षष्ठकः षाष्ठो भागः, मानं चेत् । मान इति किम् ? षाष्ठो भागोऽन्यः ॥ **"एका०"** (७।३।२७) । असहायार्थवाचिन एकशब्दादाकिन्,

---

१ इन्द्रगोपकाभावे लोहितत्वनिवृत्तावपि नानित्यत्वमपि । २ आच्छादनरूपस्यार्थस्यानवगमात् ।

चकारात् कश्च स्यात् । एक एव एकाकी एककः । असहाय इति किम् ? एके आचार्याः । एको द्वौ बहवः ॥ १२९ ॥

त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक् ॥ १३० ॥ [सि० ७।३।२९]

त्याद्यन्तात्सर्वादेश्चान्त्यस्वरात्पूर्वोऽक् स्यात्, कुत्सितादिषु । पचतकि, सर्वके इति ॥ १३० ॥

"त्यादि०" अन्त्यस्वरादिति, अयमर्थः–त्याद्यन्तस्य सर्वादीनां च स्वरेषु स्वराणां मध्ये योऽन्त्यः स्वरः तस्मात्पूर्वोऽक् स्यात् । "प्रागुनित्यात्कपो" (७।३।३८)ऽपवादोऽयमक् । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा पचति पचतकि । एवं पचतकः पचन्तकि । कुत्सितात्पाज्ञाताः सर्वे सर्वके, एवं विश्वके । सर्वकस्मै । यकत्पिता । तकत्पिता । त्वकत्पिता । मकत्पिता ॥ परमसर्वके. तदन्तस्यापि सर्वादित्वात् ॥ स्वरेष्वन्त्यादिति किम् ? त्याद्यन्तात्सर्वादेश्च पूर्वं मा भूत् । पूर्व इति किम् ? परो मा भूत् ॥ १३० ॥

युष्मदस्मदोऽसोभादिस्यादेः ॥ १३१ ॥ [सि० ७।३।३०]

सकारादि–ओकारादि–भकारादिवर्जितस्याद्यन्तयोर्युष्मदस्मदोरन्त्यस्वरादेः पूर्वोऽक् स्यात् । त्वयका मयका । सकारादिवर्जनात्–युष्मकासु अस्मकासु, युवकयोः आवकयोः, युवकाभ्याम् आवकाभ्याम् ॥ १३१ ॥

"युष्म०" सकारादीत्यादि, युष्मदस्मदोः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वस्यापवादः । त्वयका मयकेति–एवं त्वयकि मयकि, युष्माककं अस्माककम्, परमत्वयका परममयका । युष्मदस्मद इति किम् ? तकया, यकया, सर्वकेण, इमकेन, भवकन्तौ, भवकन्तः । केचिद्भवच्छब्दस्यापि स्याद्यन्तस्यान्त्यस्वरात् पूर्वमकमिच्छन्ति; तन्मते भवतका भवतके भवतकीत्यपि भवति । सकारादिवर्जनादिति, सकारादि-ओकारादि-भकारादि-स्याद्यन्तयोस्तु युष्मदस्मदोरेवान्त्यस्वरात्पूर्वोऽक् स्यादित्यर्थः । युष्मकास्विति–एवमस्मकासु, युवकयोः आवकयोः, युवकाभ्यामावकाभ्याम्, युष्मकाभिः अस्मकाभिः ॥ १३१ ॥

अव्ययस्य कोद् च ॥ १३२ ॥ [सि० ७।३।३१]

अस्यान्त्यस्वरात्पूर्वोऽक्, तद्योगे कोद् च । कुत्सिताद्युच्चैरुच्चकैः । धिक् धकिद् । "वैकाद्‌द्वयोर्निर्धार्ये डतरः" (७।३।५२) । एकतर एकको वा भवतोः कठः पटुः ॥ १३२ ॥

"अव्य०" अस्येति–प्राङ्नित्याद्येऽर्थास्तेषु द्योत्येष्वव्ययस्यान्त्यस्वरात्पूर्वमक् स्यात्तत्सन्नियोगे यत्ककारान्तमव्ययं तस्य दकारोऽन्तादेशो भवति । कपोऽपवादः । कुत्सितादीति, कुत्सितमल्पमज्ञातं वोच्चैः उच्चकैः । एवं नीचैस् नीचकैः । धिक् धकिदिति । एवं हिरुक् हिरकुद् । पृथक् पृथकद् । चकारोऽन्वाचये, तेन सर्वस्याव्ययस्याक् भवति । ककारान्तस्य त्वक् दोऽन्तादेशश्च । योगविभागस्त्वादेर्दादेशाभावार्थः । 'शकुंट् शक्तौ' यङ्लुप् दिव्, अशाशक्; अकि अशाशकक् ॥ **आदिशब्दात् "तूष्णीकाम्"** (७।३।३२) । तूष्णीमोऽव्ययस्य मकारात्पूर्वं का इत्यागमो निपात्यते प्राङ् नित्यात् । अकोऽपवादः । कुत्सितमल्पमज्ञातं वा तूष्णीं तूष्णीकामास्ते । **"वैका०"** । समुदायादेकदेशो जातिगुणक्रियासंज्ञाद्रव्यैर्निष्कृष्य बुद्ध्या पृथक्क्रियमाणो निर्द्धार्यः । द्वयोर्मध्ये निर्द्धार्येऽर्थे वर्त्तमानादेकशब्दात् डतरो वा स्यात् । कठः पटुरिति–एवं गन्ता देवदत्तो दण्डीति क्रमेण जातिगुणक्रियासंज्ञाद्रव्यैर्बुद्ध्या पृथक्क्रियमाणोदाहरणानि । वावचनमगर्थम्, तथा च उदाहृतम्; एकक इति–महावाधिकारान्न भवत्यपि । एको भवतोः कठः पटुरिति । द्वयोरिति किम् ? एकोऽस्मिन् ग्रामे प्रधानम् । निर्द्धार्य इति किम् ? एकोऽनयोर्ग्रामयोः स्वामी ॥ १३२ ॥

यत्तत्किमन्यात् ॥ १३३ ॥ [सि० ७।३।५३]

एभ्यो द्वयोरेकस्मिन्निर्धार्ये डतरः स्यात् । यतरो भवतोः कठादिस्ततर आगच्छेत् ॥ १३३ ॥

"यत्त०" महाबाधिकारात्प्रत्ययो न भवत्यपि–यो भवतोः पटुः स आगच्छतु । द्वयोरित्येव–योऽस्मिन्ग्रामे प्रधानं स आगच्छतु । निर्द्धार्य इत्येव–योऽनयोर्ग्रामयोः स्वामी स आगच्छतु ॥ १३३ ॥

बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा ॥ १३४ ॥ [सि० ७।३।५४]

यदादिभ्यो बहूनां मध्ये निर्धार्यार्थेभ्यः प्रश्ने डतमो डतरश्च वा स्यात् । यतमो यतरो वा भवतां कठादिस्ततमस्ततरो वा यातु । एवं कतमः कतरः । अन्यतमः अन्यतरः । पक्षे यको यो वेत्यादि ॥ "वैकात्" (७।३।५५) । तमप्तथा–एकतमः एककः एको वा भवतां कठादिः । "प्रायोऽतोर्द्वयसट्मात्रट्" (७।२।१५५) । स्वार्थे–यावदेव यावद्द्वयसम् । यावन्मात्रम् ॥१३४॥

"बहू०" । कतम इति, प्रमाणान्तरात्प्रतिपत्तौ बहूनामप्रयोगेऽपि भवति–यथा बहुष्वासीनेषु कश्चित्कञ्चित् पृच्छति कतमो देवदत्तः ? अन्यतम इति । "शुचिवल्कवीतवपुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवत ।" इति **किरातार्जुनीये ।** वृद्धस्तु व्याधितो वा राजा मातृबन्धुकुल्यगुणवत्सामन्तानामन्यतमेन क्षेत्रे बीजमुत्पादयेत् । वावचनमगर्थम्, तथैवाह–पक्षे यको यो वेत्यादि । अत्रादिशब्दात् यको भवतां कठादिः सक आगच्छतु । अन्यक एषां कालापः । किमस्तु साकः कादेश उक्तः । महाबाधिकारात्प्रत्ययो न भवत्यपि–यो भवतां कठादिः स आगच्छतु । बहूनामिति किम् ? योऽस्मिन् ग्रामे कठः स आगच्छतु । प्रश्न इति किम् ? क्षेपे मा भूत्–को भवतां कठादिः, कुत्सित इत्यर्थः । प्रश्नग्रहणं किमो विशेषणम्, नान्यस्य, असम्भवात् । अन्ये त्वाहुः–यत्तत्किंभ्यो जातावेव डतमः, डतरस्तु बहूनां निर्द्धार्ये किम एव, न यत्तद्भ्याम्, स च जातावेव; अन्यशब्दादपि बहुविषये डतम एव न तु डतरः, डतरडतमौ च निर्द्धार्येऽन्यशब्दात् नित्यावेव नाक्, नापि केवलस्य प्रयोगः । एके त्वविशेषणेत्यत्राभिधानमनुसर्त्तव्यम् । "**वैका०**" डतमस्तथेति–एकशब्दाद्बहूनामेकस्मिन्निर्द्धार्येऽर्थे वर्त्तमानात् डतमो वा स्यात् । एकतमो भवतां कठादिरिति, कठः पटुर्गन्ता देवदत्तो दण्डी । वावचनादक्–एककः । महाबाधिकाराश्च भवत्यपि–एको भवतां कठः । पृथग्योगो डतरनिवृत्त्यर्थः ॥ आदिशब्दसंसर्गात् "**क्तात्तमबादेश्चानत्यन्ते**" (७।३।५६) । क्तान्तात्केवलात्तमबाद्यन्ताच्चानत्यन्तेऽर्थे वर्त्तमानात्कप् स्यात् । क्रियायाः स्वेनाश्रयेण साकल्येनानभिसंबन्धोऽनत्यन्तता । अनत्यन्तं भिन्नं भिन्नकम्, छिन्नकम्, भिन्निका घटी, छिन्निका रज्जुः, तमबाद्यन्तात् क्तात्, अनत्यन्तं भिन्नतमं भिन्नतमकम्, एवं भिन्नतरकम्, भिन्नकल्पकम्, तमबाद्यन्तेषु क्तान्तता नास्तीति तमबादिग्रहणम् । असमासस्तमबादेरित्यत्रापि क्तादित्यस्य सम्बन्धार्थस्तेनेह न भवति–अनत्यन्तं शुक्लं शुक्लतमम् ॥ "**न सामिवचने**" (७।३।५७) । सामि अर्द्धः । सामिवचने उपपदे अनत्यन्तेऽर्थे वर्त्तमानात् क्तान्तात् केवलात्तमबाद्यन्ताच्च कप् न स्यात् । सामि अनत्यन्तं भिन्नम् । एवं कृतं भुक्तं पीतं भिन्नतमं भिन्नतरम् । वचनग्रहणं पर्यायार्थम्, अर्द्धमनत्यन्तं भिन्नम्, एवं नेमं शकलमित्यादि । अन्ये तु समास एवोदाहरन्ति–सामिकृतं अर्द्धकृतमिति । ननु साम्यादिभिरेवानत्यन्ततताया अभिहितत्वादुक्तार्थत्वेन कप् न प्राप्नोतीति व्यर्थः प्रतिषेधः । उच्यते । साम्यादिभिः समुच्चयविषयक्रियाया एवानत्यन्तता प्रतीयते न स्वविषये, तत्रानत्यन्तविवक्षायां कप् प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनम् ॥ "**नित्यं ञञिनोऽण्**" (७।३।५८) । ञञिन इत्येतत्प्रत्ययान्तात् स्वार्थे नित्यमण् स्यात् । नित्यग्रहणान्महाविभाषा निवृत्ता । व्यावक्रोशी व्यावलेखी व्यावहासी

वर्त्तते । विन्. साङ्कौटिनं सांराविणम् । साम्मार्जिनम् । **"विसारिणो मत्स्ये"** (७।३।५९) । स्वार्थेऽण् । विसरतीति विसारी—ग्रहादित्वात् णिन् मत्स्यश्चेत्, वैसारिणः । मत्स्य इति किम्, विसारी देवदत्तः ॥ **"पूगादमुख्यकाञ्ञ्यो द्रिः"** (७।३।६०) । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगास्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यः स्यात्, स च द्रिसंज्ञः; न चेत्पूगवाचिनाम "सोऽस्य मुख्य" (७।१।१९०) इति विहितं कप्रत्ययान्तं भवति—लोहध्वजाः पूगाः । लौहध्वज्यः लौहध्वज्यौ लोहध्वजाः । शैब्यः शैब्यौ शिबयः । वातक्यः वातक्यौ वातकाः । द्रित्वात् "बहुष्वस्त्रियाम्" (६।१।१२४) लुप् । अमुख्यकादिति किम् ? देवदत्तो मुख्योऽस्य देवदत्तकः पूगः ॥ **"व्रातादस्त्रियाम्"** (७।३।६१) । नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः सङ्घा व्राताः । व्रातजीविनोऽस्त्रियां वर्त्तमानात् स्वार्थे ञ्यः स्यात्, स च द्रिः । कापोतपाक्यः कापोतपाक्यौ कपोतपाकाः । अस्त्रियामिति किम् ? कपोतपाका व्रीहिमता स्त्री ॥ **"शस्त्रजीविसङ्घाञ्ञ्यड् वा"** (७।३।६२) । शस्त्रजीविनां यः सङ्घस्तद्वाचिनः स्वार्थे ञ्यड् वा स्यात्, स च द्रिः । शबराः शस्त्रजीविसङ्घः, शाबर्यः शाबर्यौ शबराः । पौलिन्द्यः पौलिन्द्यौ पुलिन्दाः । कुन्तेरपत्यं बहवो माणवकाः कुन्तयः, ते शस्त्रजीविसङ्घः, कौन्त्यः कौन्त्यौ कुन्तयः । पक्षे शबरः पुलिन्दः । शस्त्रजीविग्रहणं किम् ? मल्लाः सङ्घः । मल्लः मल्लौ मल्लाः । सङ्घादिति किम् ? सम्राट् । वागुरः वागुरौ वागुराः । नैते श्रेणिबद्धा इति न सङ्घः । टकारो ङ्यर्थः—शाबरी पौलिन्दी कौन्ती ॥ **"वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्येभ्यः"** (७।३।६३) । वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घो ब्राह्मणराजन्यवर्जितस्तद्वाचिनः स्वार्थे नित्यं ञ्यट् स्यात्, स च द्रिः । कुण्डीविशाः शस्त्रजीविसङ्घः, कौण्डीविश्यः कौण्डीविश्यौ कुण्डीविशाः । क्षौद्रक्यः क्षौद्रक्यौ क्षुद्रकाः । मालव्यः मालव्यौ मालवाः । वाहीकेष्विति किम् ? शबरः शबरौ, पुलिन्दः पुलिन्दौ । अब्राह्मणराजन्येभ्य इति किम् ? गौपालिः गौपाली; शालङ्कायनः शालङ्कायनौ, राजन्यः राजन्यौ, काम्बव्यः काम्बव्यौ । स्त्रियां राजन्या काम्बव्या । ञ्यटि तु ङीः स्यात् । ब्राह्मणप्रतिषेधे ब्राह्मणविशेषप्रतिषेधः, नहि ब्राह्मणशब्दवाच्यो वाहीकेषु शस्त्रजीविसङ्घोऽस्ति । राजन्ये तु स्वरूपस्य विशेषस्य च प्रतिषेधः तदर्थमेव बहुवचनम् ॥ **"वृकाट्टेण्यण्"** (७।३।६४) । अस्माच्छस्त्रजीविसङ्घादयं स्यात् स्वार्थे, स च द्रिः । वार्केण्यः वार्केण्यौ वृकाः । टकारो ङ्यर्थः—वार्केणी स्त्री । शस्त्रजीविसङ्घादित्येव—कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव । वाहीकत्वे नित्यं अवाहीकत्वे तु विकल्पेन ञ्यटि प्राप्ते वचनम् । एवमुत्तरसूत्रत्रयमपि ॥ **"यौधेयादेरञ्"** (७।३।६५) । एभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिभ्योऽञ् स्यात्, स च द्रिः । युधाया अपत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसङ्घः, यौधेयः यौधेयौ यौधेयाः । एवं शौभ्रेयः शौक्रेयः धार्त्तेयः ज्यावनेयः । अञ्वचनं "सङ्घघोषाङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः" (६।३।१७२) इत्यणर्थम्, तेन यौधेयस्य सङ्घादियौधेय इति भवति । ननु यौधेयादयः सङ्घवचनाः कथं गोत्रे भवन्ति । उच्यते । भर्गाद्यन्तर्गणो यौधेयादिस्तत्र येऽपत्यप्रत्ययान्तास्ते गोत्रं भवन्ति औपगवादिवत् । अपत्यं हि गोत्रमपत्यप्रत्ययान्ताच्च स्वार्थिकोऽप्यपत्यग्रहणेन गृह्यते । अत्र चेदमेवाञ्वचनं लिङ्गम् ॥ **"पर्श्वादेरण्"** (७।३।६६) । प्राग्वत् । पर्शोरपत्यं बहवो माणवकाः पर्शवः—द्विस्वरत्वादण् लुप्, ते शस्त्रजीविसङ्घः; पार्शवः पार्शवौ पर्शवः । राक्षसः राक्षसौ रक्षांसि । स्त्रियां तु "द्रेरञणोऽप्राच्यभर्गादेः" (६।१।१२३) इति लुप् पर्शूः । अणो लुपि "उतो प्राणिन०" (२।४।७३) इत्यूङ् । पर्शु रक्षस् असुर वह्लिक वयस् मरुत् सत्त्वन् सत्त्वन्तु, दशार्ह, पिशाच, अशनि, कार्षापण इति पर्श्वादयो द्वादश ॥ १२ ॥ **"दामन्यादेरीयः"** (७।३।६७) । प्राग्वत् । दमनस्यापत्यं बहवः कुमारास्ते शस्त्रजीविसङ्घः, दामनीयः दामनीयौ दामनयः । औलपीयः औलपीयौ औलपयः । दामनि औलपि औपलि वैजवापि औदकि आच्युतन्ति काकन्दि काकन्दकि

ककुन्दि काकुन्दकि ॥ १० ॥ शत्रुन्तपि सार्वसेनि बिन्दु तुलभा मौञ्जायन औदमेघि औपबिन्दि सावित्रीपुत्र (कौण्ठोपरथ कौण्डोपरथ ?) कौण्ठारथ ॥ २० ॥ दाण्डकि क्रौष्टकि जालमानि जारमाणि ब्रह्मगुप्त ब्राह्मगुप्त जानकि इति दामन्यादयः सप्तदश ॥ **"श्रुमच्छमीवच्छिखावच्छालावदूर्णावद्विदभृदभिजितो गोत्रेऽणो यञ्"** (७।३।६८) । शस्त्रजीविसङ्घादिति निवृत्तम् । एभ्यः सप्तभ्यो गोत्रेभ्यो गोत्रे योऽण्, तदन्तेभ्यः स्वार्थे यञ् स्यात्, स च द्रिः । श्रुमतोऽपत्यमण् तदन्ताद्यञ्—श्रौमत्यः श्रौमत्यौ श्रौमताः । श्रीमच्छब्दादपि केचिदिच्छन्ति—श्रैमत्यः श्रैमत्यौ श्रैमताः । शामीवत्यः २ शामीवताः । शैखावत्यः २ शैखावताः । शालावत्यः २ शालावताः । और्णावत्यः २ और्णावताः । वैदभृत्यः २ वैदभृताः । आभिजित्यः २ आभिजिताः । गोत्रग्रहणं किम् ? श्रुमत इदं श्रौमतम् । आभिजितो मुहूर्त्तः । अपत्यप्रत्ययान्तात्स्वार्थिकोऽपत्य एव वर्त्तते इति तदाश्रयः प्रत्ययो भवति । श्रौमत्यस्यापत्यं युवा श्रौमत्यायनः; अत्र "यञिञः" (६।१।५४) इत्यायनण् । श्रौमत्यस्यायं श्रौमतकः "गोत्राददण्ड०" (६।३।१६९) इत्यादिनाकञ् । श्रौमतानां समूहः श्रौमतकम्—गोत्रोक्ष०" (६।२।१२) इत्यादिनाकञ् । श्रौमत्यस्य सङ्घादि श्रौमतम्—अत्र "सङ्घघोषाङ्कलक्षणेऽञ्यञिञः" (६।३।१७२) इत्यण् ॥ **"प्रायो०"** (७।२।१५५) । अतुप्रत्ययान्तात् स्वार्थे एतौ स्याताम् । यावन्मात्रमिति—एवं तावद्द्वयसम्, तावन्मात्रम्, एतावद्द्वयसम्, एतावन्मात्रम्, कियद्द्वयसम्, कियन्मात्रम् । प्रायोग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥ १३४ ॥

तीयाट्टीकण् न विद्या चेत् ॥ १३५ ॥ [सि० ७।२।१५३]

तीयान्तात् स्वार्थे टीकण् वा स्यात् । द्वैतीयीकं तार्तीयीकी । विद्या तु द्वितीया ॥ "वर्णाऽव्ययात्स्वरूपे कारः" (७।२।१५६) । ककारः ॥ "राद्रेफः" (७।२।१५७) । रेफः ॥ "नामरूपभागाद्धेयः" (७।२।१५८) नामधेयम् ॥ "देवात्तल्" (७।२।१६२) । देवता ॥ "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" (७।२।१६४) । भैषज्यम् ॥ "प्रज्ञादिभ्योऽण्" (७।२।१६५) प्राज्ञः वाणिजः ॥ "वाच इकण्" (७।२।१६८) । सन्दिष्टे । वाचिकम् । "उपायाद्ध्रस्वश्च" (७।२।१७०) *उपायादिकण्, ह्रस्वश्चास्य । औपयिकम् । "विनयादिभ्यः" (७।२।१६९) । इकण् वा भवति । वैनयिकम् । इति तद्धितदिग्मात्रम् ॥ १३५ ॥

॥ इति श्रीमहोपाध्यायश्रीकीर्त्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणिविरचितायां हैमलघुप्रक्रियायां प्रथमवृत्तिः समाप्ता ॥

॥ हैमलघुप्रक्रियाव्याकरणे पूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

"तीया०" । द्वितीयमेव द्वैतीयीकं कुलम् । तृतीयैव तार्त्तीयीकी शाटी । एवं द्वैतीयीकः पुमान् । तीयान्तस्य यदि विद्याभिधेया भवति तदायं न स्यात्, तथा चाह—विद्या तु द्वितीयेति । टकारो ङ्यर्थः । णकारो वृद्ध्यर्थः । मुखतीयः पार्श्वतीय इत्यादौ तीयस्यानर्थकत्वान्न स्यादिति ॥ आदिशब्दात् **"निष्फले तिलात्पिञ्जपेजौ"** (७।३।१५४) । निष्फलस्तिलस्तिलपिञ्जः तिलपेजः । **"वर्णा०"** वर्णेभ्योऽव्ययेभ्यश्च स्वरूपार्थवृत्तिभ्यः स्वार्थे कारः प्रत्ययो भवति । अकारः इकारः ककारः खकारः । ककारादिष्वकार उच्चारणार्थः । अव्यय. ॐकारः स्वाहाकारः स्वधाकारः वषट्कारः हन्तकारः नमस्कारः चकारः इतिकारः हुङ्कारः फुत्कारः पूत्कारः सीत्कारः सूत्कारः । **ननु** यथा हुङ्कृतिः शत्कृतिः सुत्कृतं सीत्कृतमिति भवन्ति, तथा कारशब्देन घञन्तेन समासे ओङ्कारादयो भविष्यन्ति । **सत्यम् ।**

किंतु ओङ्कारमुच्चारयति वषट्कारमभिधत्ते हुङ्कारं करोतीत्यादि न सिद्ध्यति । स्वरूप इति किम् ? अः विष्णुः, इः कामः, कः ब्रह्मा, खं आकाशम्, ब्रह्म; वषडिन्द्राय, स्वाहा अग्नये, स्वधा पितृभ्यः, इत्यर्थपरतायां न भवति । प्रायोऽनुवृत्तेरन्यत्रापि भवति—मन एव मनस्कारः, अहमेवाहङ्कारः । **"रा०"** र-शब्दात् स्वरूपे स्वार्थे एफः, प्रायो वचनाद्रकार इत्यपि ॥ आदिशब्दात् **"मर्त्तादिभ्यो यः"** (७।२।१५९) । स्वार्थे । मर्त्त एव मर्त्त्यः । सूर एव सूर्यः । एवं क्षेम्यः, यविष्यः, भाग्यम् अपराध्यम् रव्यम् लव्यम् । मर्त्तादयः प्रयोगगम्याः ॥ **"नवादीनतनत्नं च नू चास्य"** (७।२।१६०) । नवशब्दात् स्वार्थे ईन-तन-त्नाः चकाराद्यश्च प्रत्यया वा स्युस्तत्सन्नियोगे च नवशब्दस्य नू इत्यादेशः स्यात् । नवमेव नवीनं नूतनं नूत्नं नव्यम् ॥ **"प्रात्पुराणे नश्च"** (७।२।१६१) । प्रशब्दात्पुराणेऽर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे नः स्यात्, चकारादीन-तन-त्नाश्च । प्रगतं कालेनेति प्रशब्देन पुराणमुच्यते । प्रणं प्रीणं प्रतनं प्रत्नम् ॥ **"नाम०"** नामन्-रूप-भाग इत्येतेभ्यः स्वार्थे धेयः स्यात्—नामैव नामधेयम्, रूपमेव रूपधेयम्, भाग एव भागधेयम् ॥ **"देवात्तल्"** (७।२।१६२) । स्वार्थे । देव एव देवता, लित्करणं ङ्यर्थम् ॥ **"भेष०"** भेषजमेव भैषज्यम् । अनन्त एव आनन्त्यम् । आवसथ एव आवसथ्यम् । इतिह एव ऐतिह्यम्, इतिहेति निपातसमुदाय उपदेशपारम्पर्ये वर्त्तते । चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्, चातुराश्रम्यम् । चत्वारो वेदाश्चतस्रो विद्या वा चातुर्वैद्यम्, एवं त्रैवैद्यम् । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः—त्रैलोक्यं ऐकभाव्यं द्वैभाव्यं त्रैभाव्यं आन्यभाव्यं सार्ववैद्यं षाड्गुण्यं सार्वलौक्यम् । शीलमेव शैलीयमाचार्यस्य । भैषज्यानन्त्यावसथ्यैतिह्यशब्दा यदि स्त्रियां स्युस्तदाजादिषु द्रष्टव्याः । भैषजादयः शिष्टप्रयोगगम्याः ॥ **"प्रज्ञा०"** । प्रज्ञ इत्यादिभ्यः स्वार्थेऽण् स्यात् । प्रजानातीति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः । प्राज्ञी कन्या । प्रज्ञास्या अस्तीति णे प्राज्ञा कन्या । वणिगेव वाणिजः । प्रज्ञ वणिज् उशिज् प्रत्यक्ष विद्वस् विदत् विदन्त द्विद्वत् षोडत् विद्या मनस् ॥ १० ॥ जुह्वत् चिकीर्षत् (चिकीर्षति ?) वसु मरुत् (वसुमत् ?) सत्त्वस् सत्त्वंतु (सन्वतु ?) सर्व दशार्ह कुब्ज वयस् ॥ २० ॥ रक्षस् असुर शत्रु चोर योध चक्षुस् पिशाच अशनि कर्षापण देवता ॥ ३० ॥ बन्धु अनुजा वर अनुषुक् चतुष्प्रास्य रक्षोघ्न वियात विकृत विकृति व्याकृत वरिवस्कृत ॥ ४० ॥ अग्रायण अग्रहायण संपतन मधुप द्विता चण्डाल गायत्री उष्णिह् अनुष्टुभ् बृहती पङ्क्ति ॥ ५० ॥ त्रिष्टुभ् जगती ॥ ५२ ॥ इति प्रज्ञादयो द्विपञ्चाशत् ॥ बहुवचनादाकृतिगणः—तेनाग्नीध्री आग्नीध्रा वा शाला । साधारणी साधारणा वा भूमिरित्यादि सिद्धम् ॥ आदिशब्दात् **"श्रोत्रौषधिकृष्णाच्छरीरभेषजमृगे"** (७।२।१६६) । श्रोत्रादिभ्यस्त्रिभ्यः शरीरादिष्वर्थेषु वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थेऽण् वा स्यात् । श्रोत्राच्छरीरे—श्रोत्रमेव श्रौत्रं शरीरम्, श्रोत्रमन्यत् । ओषधेर्भेषजे ओषधिरेव औषधं भेषजम्, ओषधिरेवान्या । कृष्णान्मृगे. कृष्ण एव कार्ष्णो मृगः कृष्ण एवान्यः ॥ **"कर्म्मणः सन्दिष्टे"** (७।२।१६७) अन्येनान्योऽन्यस्मै यदाह त्वयेदं कर्त्तव्यमिति तत्सन्दिष्टं कर्म, कर्मैव कार्मणं करोति, सन्दिष्टं कर्म करोतीत्यर्थः । वशीकरणमपि वृद्धपरम्परोपदेशात् क्रियते इति कार्मणमुच्यते । सन्दिष्ट इति किम् ? कर्म करोति । सत्यपि महावाधिकारे विशिष्टोऽर्थः प्रत्ययमन्तरेण न प्रतीयत इत्यस्मिन्विषये नित्य एव प्रत्ययः ॥ **"वाच०"** । सन्दिष्टे इति—अन्येनान्योऽन्यस्मै यामाह सा सन्दिष्टा वाक्, वागेव वाचिकम् । अत्रापि पूर्ववन्नित्यो विधिः ॥ **"उपा०"** । अस्मादिकण् तत्सन्नियोगे चास्य ह्रस्वः । उपाय एव औपयिकम् ॥ **"विनया०"** । स्वार्थे । विनय एव वैनयिकम् । विनय समय समाय कथञ्चित् अकस्मात् उपचार व्यवहार समाचार सम्प्रदान समुत्कर्ष ॥ १० ॥ सङ्गति सङ्ग्राम समूह विशेष अव्यय अत्यय अनुगादिन् इति विनयादयः सप्तदश ॥ १७ ॥ बहुवचनादाकृतिगणः ॥ **"मृदस्तिकः"** (७।२।१७१) । मृच्छब्दात् स्वार्थे तिकः स्यात् । मृदेव मृत्तिका ॥

"सस्नौ प्रशस्ते" (७।२।१७२)। प्रशस्तेऽर्थे वर्त्तमानान्मृच्छब्दात् सस्नौ वा स्याताम्। रूपप्रत्ययापवादः। प्रशस्ता मृत् मृत्सा मृत्स्ना। केचिद्रूपमिच्छन्ति प्रशस्ता मृद् मृद्रूपा॥

'स्वार्थिकाः प्रत्ययाः केचिदेवं लेशेन दर्शिताः। लभते तद्धितस्यान्तं कश्छेकोऽप्युदधेरिव॥ १॥

अत्र च ग्रन्थकारो 'विनयादिभ्य' इति सूत्रनिर्देशेन विनयस्य सर्वगुणप्रधानत्वान्महामङ्गलं स्वनामसङ्केतितं च विनयशब्दं निर्दिशन् तद्धितस्य, तत्समाप्तिसमाप्तायाः प्रथमवृत्तेश्च पर्यन्तमङ्गलं प्रक्रियाग्रन्थस्य च मध्यमङ्गलं रचितवान्। तच्च शास्त्रस्य स्थैर्याद्यर्थम्—तथाहुः—श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्या विशेषावश्यकाऽपरपर्याये महाभाष्ये।

तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए अ सत्थस्स। पढमं सत्थत्थाविग्घपारगमणाय निद्दिट्ठं॥ १॥

तस्सेवय थेरत्थं मज्झिमयं अन्तिमंपि तस्सेव। अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥२॥

प्रथममङ्गलं तावच्छास्त्रार्थस्याविघ्नेन पारगमनाय, शास्त्रस्य स्थैर्यार्थं मध्यमङ्गलम् निर्दिष्टम्, शिष्यप्रशिष्यादिवंशे शास्त्रार्थस्याव्यवच्छेदनिमित्तं चरममङ्गलमिति। तच्च वक्ष्यते इति॥ १३५॥

यां शिष्योद्धुतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः।
तस्यां शासितसाधुशब्दसरणौ स्वोपज्ञसत्प्रक्रिया-
वृत्तौ तद्धित एष सद्धितपटुः सम्पूर्णतामाश्रयत्॥ १॥ श्रीरस्तु॥

॥ सम्पादककृता प्रशस्तिः॥

卐 **विजयन्तु तपोगच्छनभोमणयः श्रीविजयदानसूरीन्द्राः** 卐



आत्मारामेतिख्यातानां विजयानन्दसूरीणाम्। पञ्चनददेशजन्मा चारित्रविजयोऽन्तिषत्॥ १॥
यो गुरुचर्यारसिकश्चारित्रगुणभूषितः। ऋजुतादिगुणख्यातो निस्पृहानां शिरोमणिः॥ २॥
द्वावप्यमू गुरुशिष्यौ भूतपूर्वकढूण्ढकौ। शुद्धं धर्मं प्रपेदाते संविज्ञगुरुसन्निधौ॥ ३॥
इतश्च—जोधराजस्य सत्पुत्रो नवलाकुक्षिहंसकः। अचलदासाभिधानः, चाणोद्ग्रामभूषणः॥ ४॥
चारित्रविजयर्षीणां पार्श्वे दीक्षां ललौ मुदा। श्रीजामनगरे रम्ये सौराष्ट्रमुखमण्डने॥ ५॥
यस्य दृष्टिः सुधावृष्टिः सर्वकार्यप्रसाधिनी। अमीविजयनामानं नमामि तं गुरुं मुदा॥ ६॥
मरुदेशोद्भवेनापि येन मेघायितं सदा। धर्मोपदेशधाराभिस्तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ ७॥
पाषाणसदृशं शिष्यं द्रव्यदेवं विधाय माम्। प्राप्तः स्वर्गिपदं पाल्यां यस्तस्मै गुरवे नमः॥ ८॥
साधिकवर्षमात्रेऽपि ग्रन्थस्यास्य प्रकाशनम्। यत्प्रभावेन सम्पूर्णम्, तं गुरुं हि नमेन्न कः?॥ ९॥
वृद्धस्तपस्वी गीतार्थो मुनिगणसुशासकः। विजयतु सिद्धिसूरीन्द्रो मम सुप्रतिदायकः॥ १०॥
मोहमय्यां लालबागे श्रीमत्पार्श्वप्रसादतः। प्रारब्धं पूर्तिमगमत् मोतिशाहस्य मन्दिरे॥ ११॥
ऋषभदेवाधिष्ठिते भायखलाशुभस्थले। उपधानपूर्त्त्यवसरे पार्श्वजन्मसुवासरे॥ १२॥
गुणभक्तिभावभरितो लाभमाणिक्यसत्कृतः। मुनिसमुदयो विजयते गुरुगौरवशंसकः॥ १३॥
पंन्यासमोतिविजया मूलचन्द्रप्रशिष्यकाः। तेषां शिष्यः सुसान्निध्यः श्रीसुमतिविजयाभिधः॥ १४॥
मोहनहीरालालौ संघवीजीवानगीनकौ। यथायोगमकुर्वन्, साहाय्यमपि श्रावकाः॥ १५॥
विरचितेयं प्रशस्तिः पंन्यासपदधारिणा। क्षमाविजयगणिना सम्पूर्त्तिहर्षसूचिका॥ १६॥

---

१ पाली (मारवाड) २ प्रातःस्मरणीयश्रीविजयदानसूरीश्वरराज्ये पूनमचन्द गोमाजी बेडानिवासिकारापिते वि० संवत् १९९२। ३ पोसवदि दशमी। ४-५-६ विजयोत्तरपदा मम सतीर्थ्याः। ७-८ विजयोत्तरपदौ मम शिष्यौ। ९ श्रीमुक्तिविजयगणिनः।